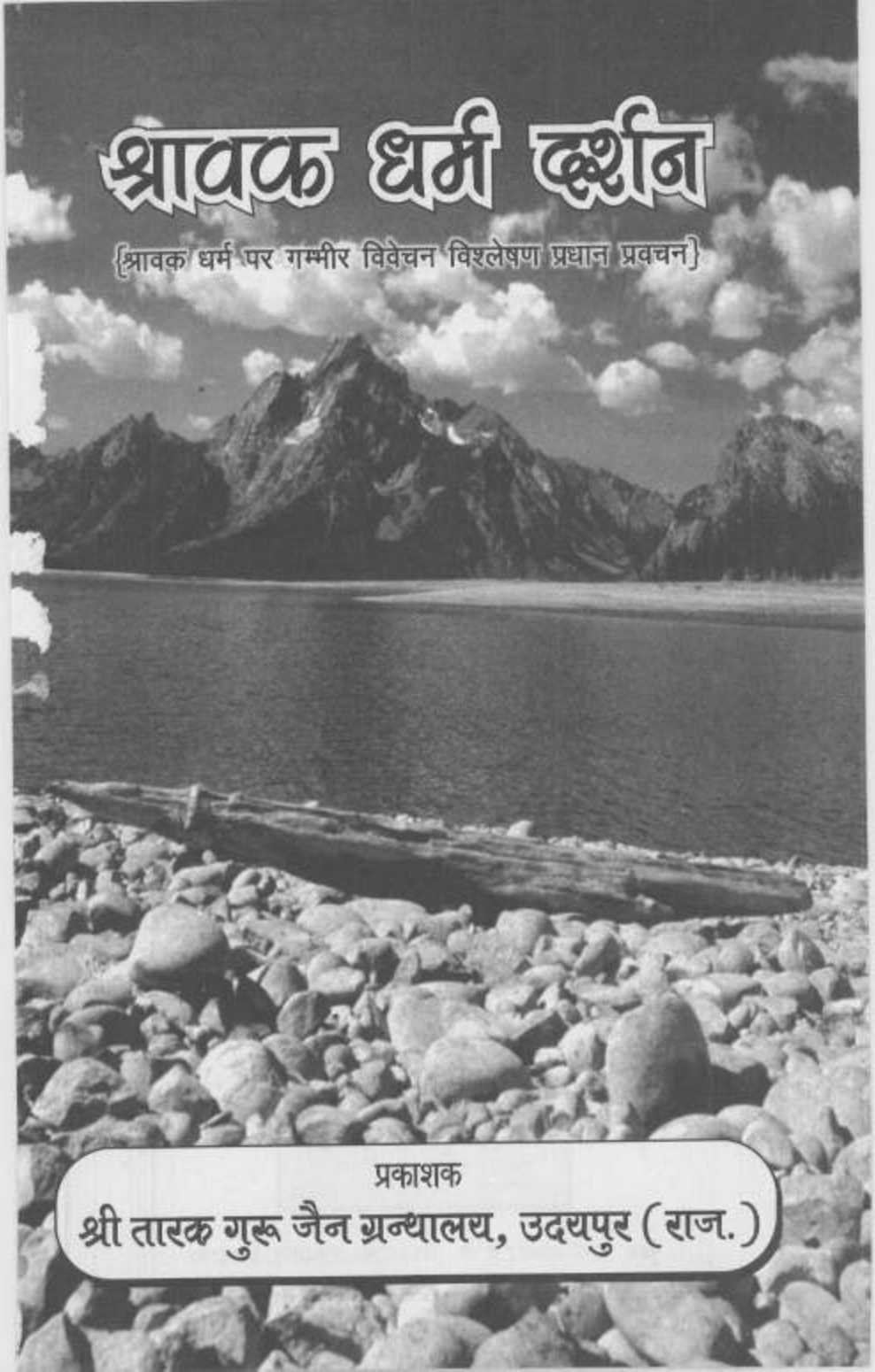

श्रावक धर्म दर्शन
{श्रावक धर्म पर गम्भीर विवेचन विश्लेषण प्रधान प्रवचन}
प्रकाशक
श्री तारक गुरू जैन ग्रन्थालय, उदयपुर (राज.)

श्री तारक गुरू जैन ग्रन्थालय का 100 वाँ पुष्प

साधना के शिखर उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म.
की 94 वीं जन्म जयन्ति पर प्रकाशित

पुस्तक
श्रावक धर्म दर्शन

विषय
श्रावक धर्म पर गम्भीर विवेचन
विश्लेषण प्रधान प्रवचन

प्रवचनकार
साधना के शिखर पुरुष
उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म.

सम्पादक
आचार्य सम्राट पूज्य
श्री देवेन्द्र मुनि जी म.

संयोजिका
महासती श्री पुष्पवती जी म.

सम्प्रेरक
द्वीपेन्द्र मुनि
पुष्पेन्द्र मुनि

प्रथम प्रवेश
अक्टूबर 1978

द्वितीय प्रवेश
अक्टूबर 2003

मूल्य
150/-

प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
गुरु पुष्कर मार्ग (शास्त्री सर्किल)
उदयपुर (राज.) 313 001 ✆ 2413518

मुद्रक : चौधरी ऑफसेट प्रा. लि. फोन - 0294-2584071, 2485784



प्रकाशकीय

अपने चिन्तनशील, प्रबुद्ध पाठकों के कर-कमलों में **'श्रावकधर्म-दर्शन'** ग्रन्थ अर्पित करते हुए सात्त्विक गौरव की अनुभूति होती है। श्रावकधर्म पर अतीत काल में मूर्धन्य मनीषियों ने संस्कृत और प्राकृत भाषा में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। किन्तु राष्ट्रभाषा हिन्दी में श्रावकधर्म पर विस्तार से विश्लेषण करने वाला कोई भी प्रामाणिक ग्रन्थ अब तक नहीं है। हमें परम् आह्लाद है कि परम् श्रद्धेय सद्गुरूवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज ने श्रावकधर्म के प्रत्येक पहलू पर गहराई से अनुचिन्तन किया है, प्रत्येक विषय के तलछट तक पहुँचकर रूपक और दृष्टान्तों के माध्यम से विषय को सरल और सरस बनाया है, जिसे पढ़ते समय उपन्यास कि-सी सरसता और काव्य कि-सी मधुरता का सहज आभास होता है। आधुनिक युग के अनेक ज्वलन्त प्रश्नों का तात्त्विक दृष्टि से इसमें समाधान किया है।



भौतिकवाद की चकाचौंध में पले–पुसे लोग व्रत–ग्रहण करने से कतराते हैं। गुरूदेवश्री ने विस्तार से व्रत–ग्रहण की महत्ता पर विश्लेषण करते हुए इस बात पर बल दिया है कि जीवन के लिए व्रत की कितनी उपयोगिता व आवश्यकता है। व्रत के पवन से ही जीवन का पुष्प खिलता है, महकता है। बिना व्रत का जीवन बिना तट की नदी के सदृश है। गुरूदेवश्री के प्रवचनों व लेखों में यह विशेषता है कि न तो पढ़ते हुए पाठक ऊबते हैं और न श्रोता ही बोर होते हैं। वे अपने प्रवचनों में ऐसी चुटकियाँ लेते हैं कि श्रोता हस–हस के लोट–पोट हो जाता है और लिखते समय भी उनकी वह विशेषता प्रत्येक पृष्ट पर निहारी जा सकती है।

गुरूदेवश्री के इन प्रवचनों का संपादन किया है उनके **प्रधान अन्तेवासी साहित्य मनीषी, कलम कलाधर आचार्य सम्राट श्री देवेन्द्र मुनि जी म. सा.** ने। गुरू के विचारों को एक शिष्य जिस रूप में व्यक्त कर सकता है उतना दूसरा व्यक्ति नहीं कर सकता। गुरूदेव श्री के प्रवचनों का यह अभिनव ग्रन्थ पूर्व ग्रन्थों की तरह ही लोकप्रिय हुआ और प्रथम संस्करण शीघ्र समाप्त हो गया। साध्वी रत्न महासती श्री पुष्पवती जी. म., की पावन प्रेरणा से ही हम अब इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित कर रहे हैं।

चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरू जैन ग्रन्थालय
उदयपुर

सम्पादकीय

जैन मनीषियों ने साधना के सम्बन्ध में गहराई से अनुचिन्तन किया है। उन्होंने योग्यता के अनुसार साधकों को दो भागों में विभक्त किया है—श्रावक और श्रमण। श्रमण की साधना उत्कृष्ट होती है। पर श्रावक की साधना उतनी उत्कृष्ट नहीं होती। श्रमण सांसारिक प्रपंचों से अलग-थलग रहकर आरम्भ-परिग्रह से मुक्त होकर साधना करता है। किन्तु श्रावक गृहस्थाश्रम में रहकर साधना करता है।

"आगार" का अर्थ घर है। घर के प्रपंचमय जीवन में रहकर जो साधना की जाती है, वह आगारधर्म की साधना है। श्रावक श्रद्धापूर्वक गुरुजनों से निर्ग्रन्थ प्रवचन को श्रवण करता है। इसलिए वह **"श्राद्ध"** या **"श्रावक"** है। वह श्रमण वर्ग की उपासना करने में तल्लीन रहता है। इसलिए वह **'श्रमणोपासक'** या **'उपासक'** के नाम से अभिहित किया जाता है। वह एक देश से अणुव्रतों को धारण करता है, इसलिए 'अणुव्रती' 'देशव्रती' 'देशविरत' 'देश संयमी' और 'देश संयति' के नाम से भी संबोधित किया जाता है।

श्वेताम्बर आगम साहित्य में

जैन आगम साहित्य ज्ञान-विज्ञान का अक्षय कोष है। जीवन-जगत्, आत्मा-परमात्मा, पुद्गल, आदि के सम्बन्ध में अत्यधिक विस्तार के साथ उसमें विश्लेषण किया गया है। श्रमण जीवन के सम्बन्ध में भी वहाँ पर विस्तार से उट्टंकन हुआ है, क्योंकि जैन संस्कृति में श्रमण जीवन का अत्यधिक महत्त्व रहा है। श्रमण श्रमण-संस्कृति का प्राण-तत्त्व है, अतः श्रमण जीवन के सम्बन्ध में अनेक आगमों में विचार चर्चा की गई है। उसकी आचार-संहिता पर प्रकाश डाला गया है। जितना श्रमण जीवन के सम्बन्ध में चिन्तन हुआ है उतना श्रावक जीवन के सम्बन्ध में चिन्तन नहीं हुआ। क्योंकि जैन संस्कृति का यह वज्र आघोष रहा कि श्रमण जीवन ही साधक का लक्ष्य है। यदि साधक उतनी उत्कृष्ट साधना नहीं कर पाता है तो वह गृहस्थाश्रम में रहकर व्रतों का पालन कर सकता है। वैदिक परम्परा की तरह जैनधर्म ने गृहस्थधर्म को प्रमुख धर्म नहीं माना। आनन्द श्रावक ने व्रत ग्रहण करते समय श्रमण भगवान महा-

वीर से कहा—भगवन् ! मुझे निर्ग्रन्थधर्म पर अपार श्रद्धा है। आपश्री के पावन उपदेश को श्रवण कर अनेक राजा, युवराजा, इभ्यसेठ, सेनापति, सार्थवाह मुण्डित होकर गृहस्थाश्रम का परित्याग कर श्रमण बने है, पर मैं श्रमण बनने में समर्थ नहीं हूँ।[1] अतः गृहस्थ धर्म को स्वीकार करता हूँ। तात्पर्य यह है कि जैन श्रमणोपासक गृहस्थाश्रम में रहना अपनी कमजोरी मानता है, पर उसे वैदिक परम्परा की तरह आदर्श नहीं मानता। यही कारण है कि श्रमण संस्कृति का रुझान श्रमणधर्म की ओर विशेष रहा है। तथापि आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार से उपासकों के जीवन के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। और वह चिन्तन इतना महत्त्व पूर्ण है कि उसके पश्चात् निर्मित ग्रन्थों में उस पर विस्तार से विश्लेषण हुआ है। हम सर्वप्रथम आगम साहित्य में यत्र-तत्र आये हुए श्रावकधर्म के सम्बन्ध में चिन्तन को प्रस्तुत करेंगे और उसके पश्चात् उसी चिन्तन पर आधृत स्वतन्त्र ग्रन्थों का परिचय देंगे।

आचारांगसूत्र—आगम साहित्य में इसका स्थान प्रथम है। इस आगम में आचार का जो विश्लेषण हुआ वह श्रमण जीवन को संलक्ष्य में रखकर हुआ है, गृहस्थ के जीवन के सम्बन्ध में किंचित् मात्र भी प्रकाश नहीं डाला गया है, इसी तरह **सूत्रकृतांगसूत्र** में भी श्रमणों से सम्बन्धित विषयों पर ही चिन्तन किया है।

स्थानांगसूत्र—यह सूत्र किसी एक विषय पर नहीं लिखा हुआ है। यह कोश शैली में लिखा हुआ आगमरत्न है। इस आगम में अनेक स्थलों पर श्रावक धर्म के सम्बन्ध में चिन्तन सूत्र बिखरे पड़े हैं। सर्वप्रथम जहाँ धर्म पर चिन्तन किया गया है वहाँ पर धर्म को दो भागों में विभक्त किया[2]—१. आगारधर्म और २. अनगार धर्म। आगार धर्म गृहस्थों का है, श्रमणोपासक का है। श्रमणोपासक तीन मनोरथों[3] का चिन्तन करता है।

(१) कब मैं अल्प या बहुत परिग्रह का परित्याग करूंगा ?

(२) कब मैं मुण्डित होकर आगार से अनागारत्व में प्रव्रजित होऊंगा ?

(३) कब मैं अपश्चिम मरणांतिक संलेखना की आराधना से युक्त होकर, भक्तपान का परित्याग कर प्रायोपगमन अनशन कर मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ विहरण करूंगा ?

श्रमणोपासक के चार प्रकार[4] बताये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) कुछ रात्रिक श्रमणोपासक महाकर्मा, महाक्रिय, अनातापी (अतपस्वी) और असमित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले नहीं होते।

---

१. उपासकदशांग १-१४ —श्रमणी विद्यापीठ प्रकाशन
२. स्थानांग सूत्र, ४ स्था० सू० २७२
३. स्थानांग ३—४६७
४. स्थानांगसूत्र—४ स्था० सू० ३२८

(२) कुछ रात्निक श्रमणोपासक अल्पकर्मा, अल्पक्रिय, आतापी और शमित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले होते हैं।

(३) कुछ अवमरात्निक श्रमणोपासक महाकर्मा, महाक्रिय, अनातापी और अशमित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले नहीं होते।

(४) कुछ अवमरात्निक श्रमणोपासक अल्पकर्मा, अल्पक्रिय, आतापी और शमित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले होते हैं।

इसी प्रकार श्रमणोपासिका के सम्बन्ध में भी चार बातें बताई गई हैं। आगे चलकर श्रद्धा और वृत्ति के आधार पर श्रमणोपासकों के चार प्रकार बताये हैं। जिन श्रमणोपासकों के अन्तर्मानस में श्रमणों के प्रति अत्यन्त वात्सल्य होता है उन श्रमणोपासकों की तुलना माता-पिता के साथ की गई है। वे तत्त्वचर्चा और जीवन-निर्वाह आदि के प्रसंगों में **माता-पिता** के समान वात्सल्य का परिचय देते हैं। जिन श्रमणोपासकों के अन्तर्मानस में वात्सल्य और उग्रता दोनों होती है उनकी तुलना भाई के साथ की गई है। वे श्रमणोपासक तत्त्वचर्चा आदि के प्रसंगों में कठोरतापूर्ण व्यवहार भी करते हैं, पर जीवन-निर्वाह का प्रसंग आने पर उनके हृदय में वात्सल्य का पयोधि उछालें मारने लगता है। जिन श्रमणोपासकों के अन्तर्मानस में श्रमणों के प्रति सापेक्ष प्रीति होती है उनकी तुलना सामान्य **मित्र** से की गई है, यदि सामान्य मित्र से किसी कारणवश प्रीति नष्ट हो जाय तो वे मित्र जो अनुकूलता के समय वात्सल्य का प्रदर्शन करते थे वे प्रतिकूल स्थिति में श्रमणों की उपेक्षा करते हैं। कितने ही श्रमणोपासकों के अन्तर्मानस में ईर्ष्या की आग जलती रहती है, वे ईर्ष्या के वशीभूत होकर श्रमणों के दोष ही देखते रहते हैं। उनकी तुलना **सौत** से की गई है वे किसी भी प्रकार से श्रमणों का हित-चिंतन नहीं करते।[५]

श्रमणोपासकों की योग्यता और अयोग्यता को संलक्ष्य में रखकर श्रमणोपासकों के चार विभाग किये हैं। कितने ही श्रमणोपासक **दर्पण** के समान निर्मल होते हैं, वे श्रमण के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वनिरूपण को यथार्थ रूप से ग्रहण करते हैं, उनमें उन तत्त्वों का यथार्थ प्रतिबिंब गिरता है। कितने ही श्रमणोपासकों का तत्त्वबोध अनवस्थित होता है, वे किसी भी निश्चित विचारबिन्दु पर अवस्थित नहीं होते, उनकी तुलना **ध्वजा** से की गई है। कितने ही श्रमणोपासकों का अन्तर्मानस शुष्क और नीरस होता है, उनमें किसी भी प्रकार का लचीलापन नहीं होता, उनमें एक प्रकार का आग्रह होता है, वे किसी के सत्य-तथ्य को स्वीकार नहीं कर सकते। उनकी तुलना **स्थाणु** से की गई है। वे स्थाणु की तरह होते हैं, उनमें सरसता का अभाव होता है।

---

५. चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता तं जहा—
अम्मपिति समाणे, भातिसमाणे, मित्तसमाणे सवत्तिसमाणे।
—स्थानांग० ४-४-४३०

कितने ही श्रमणोपासकों का अन्तर्मानस कदाग्रह से ग्रस्त होता है। यदि श्रमण हित-बुद्धि से उसके कदाग्रह को छुड़वाने का उपदेश देते हैं तो वह उपदेश देने वाले श्रमण को ही दुर्वचन कहता है। उसकी तुलना कांटे से की गई है। जैसे कांटा जिस वस्त्र से लगता है उस वस्त्र को फाड़ देता है, जो कांटे को निकालता है उस हाथ को भी बींध देता है, वैसे ही वह श्रमणोपासक होता है।[६]

स्थानांग के पाँचवें स्थान में पाँच अणुव्रतों का वर्णन है, वहाँ केवल पाँच अणुव्रतों के नाम गिनाये गये हैं; जैसे—स्थूलप्राणातिपातविरमण, स्थूलमृषावाद विरमण, स्थूलअदत्तादानविरमण, स्वदारसन्तोष, इच्छापरिमाण[७]। इस प्रकार स्थानांगसूत्र में श्रमणोपासक के जीवन से संबंधित बिखरा हुआ चिन्तन है।

समवायांगसूत्र भी स्थानांग की तरह कोश-शैली में लिखा हुआ है। उसमें श्रावकों के ११ प्रतिमाओं[८] का उल्लेख हैं—(१) दर्शन श्रावक, (२) कृत व्रतकर्म (३) कृत सामायिक, (४) पौषधोपवास निरत, (५) दिन में ब्रह्मचर्य का पालन और रात्रि में मैथुन सेवन का परिमाण (६) दिन और रात्रि में ब्रह्मचर्य का पालन, अस्नान, रात्रि-भोजन-विरति, कच्छ परिधान परित्याग, मुकुट त्याग, (७) सचित्त परित्याग, (८) आरंभ परित्याग, (९) प्रेष्य परित्याग, (१०) उद्दिष्ट भक्त परित्याग, और (११) श्रमणभूत।

भगवतीसूत्र सभी आगमों में विराट्काय आगम है। उसमें ३६,००० प्रश्नोत्तर हैं। विविध विषयों पर उसमें चिन्तन किया गया है। यद्यपि उसमें श्रावकधर्म पर कोई स्वतन्त्र अध्याय नहीं है, किन्तु कुछ विशिष्ट प्रसंग हैं जो श्रावक जीवन की महत्ता पर प्रकाश डालते हैं। तुंगिया नगरी के श्रावकों के आदर्श जीवन का अंकन करते हुए कहा है—कि वे स्वभाव से बहुत उदार, दीन व असहायों के लिए आधार-स्तंभ के रूप में थे। तत्त्व के गंभीर ज्ञाता थे। उनका पवित्र जीवन जन-जन के लिए आदर्श था।[९]

भगवती के सातवें शतक में मद्दुक श्रमणोपासक का वर्णन है। वह राजगृह का रहने वाला था। वह जैनदर्शन का मर्मज्ञ विद्वान था। एक बार कालोदाई, शैलोदाई, सेवालुदाई, उदक, नामोदक, अन्नपाल, शैवाल, संखपाल, सुहस्ती और गाथापति आदि अन्यतीर्थिक मद्दुक के पास आये। उन्होंने कहा—"श्रमण भगवान

---

६. चात्तरि समणोवासगा पण्णत्ता। तं जहा—
अदाग समाणे, पडागसमाणे, खाणु समाणे, खटकंटयसमाणे।
स्थानांग ४—४ ३१

७. स्थानांग ५—१—२

८. समवायांग ११—५

९. भगवती सूत्र—द्वितीय शतक

महावीर पंच अस्तिकायों का प्रतिपादन करते हैं; उनमें एक को जीव और चार को अजीव कहते हैं। षट्द्रव्य की दृष्टि से एक को रूपी और पाँच को अरूपी कहते हैं। इस सम्बन्ध में तुम्हारा क्या विचार है, हम उसे जानना चाहते हैं। जो भी तुम्हारे पास अस्तिकाय को सिद्ध करने के लिए प्रमाण हो वह प्रस्तुत करो।"

मद्दुक ने कहा—"अस्तिकाय के कार्यों से ही इसका अनुमान किया जा सकता है। संसार के कितने ही पदार्थ दृश्य होते हैं, कितने ही अदृश्य होते हैं, जो अनुभव, अनुमान और कार्य से जाने जा सकते हैं।"

अन्य तीर्थिकों ने उपहास करते हुए कहा—"तुम किस प्रकार के श्रमणोपासक हो, जो अपने धर्माचार्य के कहे हुए द्रव्यों को न जानते हो, न देखते हो, तथापि उसे मानते हो!"

मद्दुक ने कहा—"मैं आपसे जानना चाहता हूँ कि सनसनाता हुआ पवन चल रहा है, क्या आप उसे देखते है? उसका रंग रूप कैसा है?"

अन्यतीर्थिकों ने कहा—"हवा सूक्ष्म होने से हम उसके रूप को नहीं देख पाते।"

मद्दुक ने कहा—"सुगंध और दुर्गंध जिसका आप अनुभव करते हैं, क्या उसके रूप-रंग को देखते हैं? इसी तरह अरणि काष्ठ में अग्नि रहती है, क्या वह अग्नि आपको दिखाई देती है? देवगण जो दिखाई नहीं देते हैं क्या उन्हें आप नहीं मानते? जो पदार्थ दिखाई न देते हों उन्हें आप अमान्य करेंगे तो आपको अतीत काल की वंश-परम्परा को भी अमान्य करना होगा।"

अन्यतीर्थिक मद्दुक के अकाट्य तर्कों का उत्तर न दे सके। उसके गंभीर ज्ञान की श्रमण भगवान महावीर ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की। एक श्रमणोपासक तत्त्वों का कितना गंभीर ज्ञाता होता था जो अन्यतीर्थिकों को शास्त्रार्थ में परास्त कर देता था—यह इस प्रसंग से स्पष्ट होता है।[१०]

बारहवें शतक में भगवान महावीर के परम भक्त शंख और पोखली श्रावकों का वर्णन है जो श्रावस्ती के निवासी थे, जिन्होंने सामूहिक रूप से खा-पीकर पाक्षिक पौषध किया था। और प्रस्तुत शतक में ही जयन्ती श्रमणोपासिका का उल्लेख है। उसके मकानों में श्रमण और श्रमणियाँ ठहरती थीं, इसीलिए वह "शय्यातर" के रूप में विश्रुत थीं।[११] वह तत्त्वों के मर्म की ज्ञाता थी, उसने भगवान महावीर से अनेक जिज्ञासाएँ प्रस्तुत कीं, उसकी जिज्ञासाएँ जीवन और दर्शन से सम्बन्धित थीं। एक श्राविका का उस युग में तत्त्वविद होना एक आश्चर्य है। जिस युग में "**न स्त्री-शद्रौ वेदमधीयेताम्**" की मान्यताएँ थीं उस युग में तत्त्वों का गंभीर रहस्य जानना

---

१०. भगवतीसूत्र ७।१०

११. भगवतीसूत्र शतक १२—उ० दूसरा

और उसके सम्बन्ध में भगवान महावीर से विचारचर्चा करना उसके साहस का स्पष्ट द्योतक है।

भगवतीसूत्र में कार्तिक श्रेष्ठी के द्वारा एक सौ बार पाँचवीं प्रतिमा धारण करने का वर्णन आया है। इस तरह भगवती में प्रसंगानुसार श्रावक जीवन पर चिन्तन किया गया है। उनका आदर्श जीवन जन-जन के लिए प्रेरणादायी है। पर श्रावकों के व्रत और प्रतिमाओं पर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन नहीं किया गया है।

ज्ञातासूत्र में कथाओं के माध्यम से जीवन और दर्शन के गंभीर रहस्य सुलझाये गये हैं। किन्तु उसमें भी पृथक् रूप से श्रावकधर्म के सम्बन्ध में विश्लेषण नहीं किया गया है।

उपासकदशांगसूत्र में भगवान महावीरकालीन दस श्रावकों का वर्णन है। वे ये हैं—आनन्द, कामदेव, चुलिनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकोलिक, शकडालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता और शालिनीपिता। इनमें सर्वप्रथम आनंद श्रावक है। उन्होंने भगवान महावीर के पावन प्रवचनों को सुनकर श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये। बारह व्रतों के नाम अतिचारों के नाम, ११ प्रतिमाओं का उल्लेख और जीवन की सान्ध्यवेला में संलेखना करने का वर्णन है।[१२] प्रस्तुत आगम में श्रमणोपासकों की कठोर परीक्षाएँ भी बताई गई हैं और वे उन सभी परीक्षाओं में पूर्ण रूप से खरे उतरे हैं।

अन्तकृद्दशांगसूत्र[१३] में सुदर्शन श्रेष्ठी का वर्णन है। वह श्रमणोपासक था। जीवाजीव का परिज्ञाता था। उसके व्रत ग्रहण करने का उल्लेख प्रस्तुत आगम में नहीं है, तथापि एक श्रावक की जिनधर्म के प्रति कितनी गहरी निष्ठा है, उसका सजीव चित्रण इसमें है। भगवान महावीर राजगृह नगर के बाहर पधारे हुए हैं। अर्जुनमाली जो महाकाल के रूप में नगर के बाहर घूम रहा है। किन्तु मृत्यु से भी भयभीत न होकर सुदर्शन भगवान के दर्शन के लिए चल पड़ता है। सुदर्शन की गहरी निष्ठा का इसमें चित्रण हुआ है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र[१४] में श्रावकधर्म की दृष्टि से कोई वर्णन नहीं है। तथापि हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह पर चिन्तन कर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। श्रावकों के अणुव्रतों के सही स्वरूप को समझने के लिए प्रस्तुत वर्णन सर्चलाइट के समान उपयोगी है।

---

१२ उपासकदशांगसूत्र—अ० १, सूत्र १४ से ७५
—प्रकाशक : श्रमणी विद्यापीठ, घाटकोपर, बंबई

१३ अंतकृ० तीसरा अध्ययन

१४ प्रश्नव्याकरण सूत्र, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

विपाकसूत्र[१५] के द्वितीय श्रुतस्कंध में सुबाहुकुमार का वर्णन है। वह श्रावक के द्वादश व्रत ग्रहण करता है। तथा भद्रनन्दी सुजात आदि कुमार भी।

राजप्रश्नीयसूत्र[१६] में राजा प्रदेशी जो उस युग का एक अद्भुत विज्ञान-प्रेमी और तार्किक था, जिसका जीवन पहले बहुत क्रूर था, उसके हाथ रक्त से सने हुए रहते थे। केशी श्रमण के सत्संग से उसके जीवन का रंग बदल जाता है। एक दिन वही क्रूर हृदय शासक दयालु श्रावक बन जाता है। और इतना शान्त, विरक्त बन जाता है कि महारानी के द्वारा जहर देने पर भी उसके अन्तर्मानस में तनिक मात्र भी रोष नहीं जगता। एक श्रावक का जीवन साधना की दृष्टि से कितना उत्कृष्ट हो सकता है, उसका स्पष्ट चित्र इसमें आया है।

उत्तराध्ययनसूत्र में गृहस्थ के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा नहीं है, पर जो गृहस्थ जीवन को हेय समझते हैं और कहते हैं कि गृहस्थ का जीवन पाप की कालिमा से लिप्त है, उसका प्रत्येक आचरण पापमय है, किन्तु भगवान् महावीर गृहस्थ श्रावकों को 'श्रमणभूत'[१७] शब्द से सम्बोधित करते हैं। उत्तराध्ययन में स्पष्ट कहा है—"कुछ भिक्षुओं की अपेक्षा गृहस्थ संयम की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं और गृहस्थ दशा में रहते हुए भी साधक सुव्रत हो जाता है।"[१८]

दशाश्रुतस्कंध के छठे उद्देशक में उपासक की ११ प्रतिमाओं का नाम सहित उल्लेख किया गया है।[१९]

आवश्यकसूत्र[२०] में षडावश्यक की चर्चा करते हुए सम्यक्त्व के साथ १२ व्रतों के अतिचारों का वर्णन किया गया है और साथ ही संलेखना के अतिचारों का भी वर्णन है।

इस प्रकार आगम साहित्य में श्रमणोपासकों के सम्बन्ध में यत्र-तत्र चिन्तन किया गया है। आगम साहित्य के व्याख्या-साहित्य, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और टीका ग्रंथों में भी स्थान-स्थान पर श्रावकाचार के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। विस्तार भय से उन सभी के सम्बन्ध में मैं यहाँ चिन्तन नहीं कर रहा हूँ।

आगम और उसके व्याख्या साहित्य के पश्चात् श्वेताम्बर विज्ञों ने श्रावकाचार

---

१५ विपाकसूत्र—द्वितीय श्रुतस्कंध—१ से १० अध्ययन तक
१६ राजप्र० द्वितीय विभाग, राजा प्रदेशी अधिकार।
१७ समवायांग ११।
१८ उत्तराध्ययन ५-२०।
१९ दशाश्रुत० छठी दशा—सू० १-२, गा० नि० ११
२० आवश्यक०—छठा आव०
दसवैयालियसुत्तं, उत्तराध्ययनसुत्तं, आवश्य सुत्तं
संपादक—मुनिश्री पुण्यविजयजी, महावीर विद्यालय, बंबई

पर अत्यधिक विस्तार से लिखा है। दिगम्बर विज्ञ भी पीछे नहीं रहे हैं। मूर्धन्य मनीषियों का अभिमत है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर विज्ञों द्वारा लिखा हुआ श्रावकाचार का साहित्य एक लाख श्लोक से भी अधिक परिमाण वाला है। हम यहाँ पर अब पहले श्वेताम्बर ग्रन्थों का परिचय देंगे और उसके पश्चात् दिगम्बर ग्रन्थों का, जिससे प्रबुद्ध पाठकों को ज्ञात हो सके कि जैनाचार्यों ने श्रावकाचार पर कितना लिखा है।

श्वेताम्बर परम्परा में

आचार्य उमास्वाति—आचार्य उमास्वाति का जैनदर्शन में अनूठा स्थान रहा है। **"तत्त्वार्थसूत्र"** उनकी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। जैन तत्त्वज्ञान, आचार, भूगोल, खगोल, आत्मविद्या, पदार्थ विज्ञान, कर्मशास्त्र प्रभृति अनेक विषयों पर उसमें सुन्दर निरूपण है। तत्त्वार्थ सूत्र के सातवें अध्याय में बहुत ही संक्षेप में श्रावकों के व्रत, उनके अतिचार, तथा संलेखना के ५ अतिचार का प्रतिपादन किया है। किन्तु श्रावक की ११ प्रतिमाओं का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र में नहीं हुआ है।

उमास्वाति की दूसरी कृति **'श्रावक प्रज्ञप्ति'** है। इस ग्रन्थ में चार सौ तीन गाथाएँ हैं। भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में लिखा गया है। इस पर आचार्य हरिभद्र ने टीका लिखी। ग्रन्थ के प्रारंभ में ही "श्रावक" शब्द पर चिन्तन करते हुए आचार्य ने लिखा—**"जो सम्यग्दृष्टि साधुओं के पास उत्कृष्ट समाचारी श्रवण करता है वह "श्रावक" है।**[२१] उसके पश्चात् ग्रन्थ में श्रावक के द्वादशव्रतों का निरूपण है।

आचार्य उमास्वाति, पं० सुखलालजी के अभिमतानुसार वि० सं० पहली शताब्दी और तीसरी शताब्दी के बीच में रहे।

आचार्य हरिभद्र जो वि० सं० नौवीं शताब्दी के थे, **"धर्मबिन्दु प्रकरण"**[२२] के रचयिता हैं। इस ग्रंथ में श्रमण और श्रावक धर्म की विवेचना की गई है। श्रावक बनने के पूर्व मार्गानुसारी के ३५ गुणों की आवश्यकता है। उन ३५ गुणों का सर्व प्रथम निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है। ये गुण जीवन को निर्मल, पवित्र और व्यावहारिक बनाते हैं।

---

२१ (क) संमत्त दंसणाई पइदिअहं जइजणा सुणेई य।
सामायारी परमं जो खलु, तं सावगं वित्ति।

—श्रावक प्रज्ञप्ति—गाथा ६

(ख) मूल गाथाओं का गुजराती अनुवाद टीका सहित; प्रकाशक : वकील केशवलाल प्रेमचंद सं०. १९६१।

(ग) गुजराती भावानुवाद—ज्ञान प्रचारक मंडल, बंबई, सं० १९६७

२२ आगमोदय समिति, बंबई, १९२४

आचार्य हरिभद्र की दूसरी कृति "**श्रावकधर्मविधि प्रकरण**" है।[२३] यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में निबद्ध है। इसमें १२० गाथाएँ है। इस पर मानदेव सूरि ने टीका रची है।

सुविहित आचार्य जिनेश्वर, जो ११वीं शताब्दी के थे, "**षट्स्थान प्रकरण**"[२४] के रचयिता है। उन्होंने १०४ प्राकृत गाथाओं में इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। इस ग्रंथ का दूसरा नाम "**श्रावक वक्तव्यता**" है। प्रस्तुत ग्रन्थ में वृत्तपरिकर्मत्व, शीलवत्व, गुणवत्त्व ऋजुव्यवहार, गुरुशुश्रूषा और प्रवचन कौशल्य इन छः स्थानों का वर्णन है। श्रावक के जीवन में ये छः गुण अँगड़ाइयाँ लेते हैं। इन षट्स्थानकों के क्रमशः चार, छः, पाँच चार, तीन और छः पाँच प्रभेद किये हैं। आचार्य जिनप्रति के शिष्य उपाध्याय जिनपाल ने वि० सं० १२६२ में १४६४ श्लोक परिमित भाष्य भी लिखा है।[२५]

देवेन्द्र सूरि जो १४वीं सदी के थे, "**श्राद्धदिनकृत्यसूत्र**"[२६] के रचयिता हैं। इन्होंने इस ग्रन्थ में ३४३ मूल गाथाएँ लिखी और स्वयं ने ही १२८३० श्लोक परिमित टीका लिखी। यह २८ द्वारों में विभक्त है। गुजराती अनुवादकर्त्ता ने इसे अज्ञात लेखक की कृति माना है, पर आधुनिक शोध से इसके कर्ता देवेन्द्र सूरि थे, यह सिद्ध हुआ है।

जिनेश्वर सूरि ने वि० सं० १३१३ में "**श्रावकधर्मविधि**"[२७] ग्रन्थ की रचना की। यह मूल ग्रन्थ २४२ श्लोकों में निर्मित है। उपाध्याय लक्ष्मीतिलक ने १५१३३ श्लोक परिमाण सविस्तृत टीका लिखी जो अभी तक अप्रकाशित है।

जिनमण्डलगणी ने जो १५वीं शताब्दी के हैं, "**श्राद्धगुण विवरण**"[२८] ग्रन्थ

---

२३ श्री आत्मानंद सभा, भावनगर सं० १९८० संपा० आगम प्रभावक मुनिपुण्यविजय जी गुरु चतुर्विजय।

२४ जिनदत्त सूरि जैन भण्डार सं० १९७९

२५ देखिए : "जैन साहित्य का बृहत् इतिहास"—भाग चौथा, सं० डा० मोहनलाल मेहता, सन् १९६८, पृष्ठ १८४; प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्याश्रम संस्थान, वाराणसी।

२६ गुजराती भाषांतरप्रकाशक—श्री जैनधर्म प्रचारक सभा, भावनगर सं०—१७८६ टीकायुक्त ऋषभदेव केसरीमल संस्थान, रतलाम सं०—१९९४-९५—दो भागों में प्रकाशित।

२७ देखिए (क) जिनवाणी—श्रावक धर्म अंक—१९७०, पृ० ४५, अगरचंद नाहटा
(ख) जैन सत्य प्रकाश

२८ मुनि सोहनविजय, का हिन्दी अनुवाद

की रचना की। उन्होंने इस ग्रंथ के प्रारंभ में 'श्रावक' शब्द की व्युत्पत्ति देकर आचार्य हरिभद्र के द्वारा प्रतिपादित ३५ मार्गानुसारी गुणों को सम्यक् प्रकार से समझाने के लिए भिन्न-भिन्न कथाएँ दी हैं जिससे सहजतया वे गुण हृदयंगम हो सकें।

१५वीं सदी के आचार्य रत्नशेखर सूरि "**श्राद्ध विधि**"[२९] ग्रंथ के रचयिता हैं। उन्होंने वि० सं० १५०६ में "**विधि कौमुदि**" नामक वृत्ति का निर्माण किया जिस वृत्ति के श्लोक ६७६१ हैं। टीका में अनेक कथाएँ हैं। ग्रंथ के प्रारंभ में श्रावक के लिए चार गुण आवश्यक माने हैं—भद्रप्रकृति, विशिष्ट निपुणमति, न्यायमार्गीय वृत्ति और दृढ़निजप्रतिज्ञास्थिति। प्रस्तुत ग्रन्थ में छः द्वार हैं—दिनकृत्य, रात्रिकृत्य, पर्वकृत्य, चातुर्मासिक कृत्य, वर्षकृत्य और जन्मकृत्य। प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रावक के योग्य २१ गुणों का भी वर्णन किया है। वे गुण इस प्रकार हैं—अक्षुद्र, स्वरूपवान्, प्रकृतिसौम्य, लोकप्रिय, अक्रूर, भीरु, अशठ, सदाक्षिण्य, लज्जालु, दयालु, मध्यस्थ, गुणानुरागी, सत्कथा, सुपक्षयुक्त, सुदीर्घदर्शी, विशेषज्ञ, वृद्धानुरागी, विनीत, कृतज्ञ, परहितकारी और लब्धलक्ष्य। प्रस्तुत ग्रंथ में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप की दृष्टि से श्रावक पर चिंतन करते हुए भावनिक्षेप में श्रावक के तीन प्रकार बताए हैं—दर्शन श्रावक, व्रतश्रावक और उत्तरगुण श्रावक। इस ग्रंथ में बारह व्रतों के भंगों की संख्या १३,८४,१२,२७,२०२ है। श्रावक शब्द पर चिन्तन करते हुए लेखक ने लिखा है—जो दान, शील, तप व भाव की आराधना करता हुआ शुभ योगों से अष्ट प्रकार के कर्म निर्जरित करता है, श्रमणों के सन्निकट सम्यक् समाचारी का श्रवण कर उसी प्रकार आचरण करने का प्रयत्न करता है वह श्रावक है।[३०] तथा पूर्वकृत बद्धकर्मों को साधना से न्यून कर और प्रतिपल-प्रतिक्षण प्रत्याख्यान का आराधन करने में तल्लीन रहे वह श्रावक है।[३१] जो नौ तत्त्वों पर प्रीति रखकर सिद्धान्त का श्रवण करता है, आत्मस्वरूप का चिंतन करता है, निरन्तर पाप से विरत रहकर श्रमणों की सेवा करता है, वह श्रावक है।[३२]

अन्य भी अनेक ग्रन्थ हैं। प्राचीन कई ग्रन्थों में श्रावक के द्वादश व्रतों पर

---

२९ वृत्ति—हिन्दी अनुवाद सहित संपादक—तिलक विजय पंजाबी। प्रकाशक—श्री आत्मतिलक ग्रंथ सोसाइटी, पूना, सन् १९२५

३० "श्रृणंति यस्य पापानि पूर्वबद्धाचनेकशः।
आवृतश्च व्रतैर्नित्यं श्रावकः सोऽभिधीयते" ॥१॥

३१ "समत्त दंसणाई पइदिअहं जई जणासुणे इ य।
सामायारी परमं जो खलु तं सावगं वित्ति ॥२॥

३२ "श्रद्धालुतां श्राति पदार्थ चिंतता, हताति पालेषु वपत्यनासं।
किरत्यपुण्यानि सुसाधु सेवनादतोपि तं श्रावक माहुरुत्तमा, ॥३॥

कथाओं के माध्यम से विश्लेषण किया है। **देवभद्र सूरि ने 'कथा-कोश' में, देवगुप्त सूरि** ने **'नवपदप्रकरण सटीका'** में, **आचार्य हेमचन्द्र** ने **'योग-शास्त्र'** में तथा अन्य अनेक श्वेताम्बर आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में कहीं विस्तार से और कहीं संक्षेप में श्रावकधर्म पर चिन्तन किया है और उन्हीं ग्रन्थों के आधार से हिन्दी और गुजराती में भी अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। उसमें **आचार्य जवाहरलाल जी महाराज** का **'गृहस्थधर्म'** और **विदुषी महासती उज्ज्वल कुंवर जी की 'श्रावकधर्म'** सुन्दर कृतियाँ हैं।

दिगम्बर परम्परा में

दिगम्बर परम्परा में श्रावकधर्म पर चिन्तन करने वाले सर्वप्रथम **आचार्य कुन्दकुन्द** हैं। उन्होंने **"चारित्र पाहुड"**[33] में बहुत ही संक्षेप में केवल छः गाथाओं में वर्णन किया है। पहले 'सागारसंयमाचरण' गृहस्थों में होता है। उसके पश्चात् ११ प्रतिमाओं के नाम बताये हैं। उसके पश्चात् सागारसंयमाचरण को ५ अणुव्रत, ३ गुण-व्रत और ४ शिक्षाव्रत रूप बताकर उनके नाम बताये हैं। यहाँ पर अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत के नाम का निर्देश है; किन्तु उनके सम्बन्ध में विशेष चर्चा नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द ने संलेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत माना है। पर, उन्होंने देशावकाशिक व्रत को न गुणव्रतों में स्थान दिया है और न शिक्षाव्रतों में, उनके अभिमतानुसार दिक्-परिमाण, अनर्थदण्डवर्जन और भोगोपभोगपरिमाण ये तीन गुणव्रत हैं; सामायिक, प्रौषध, अतिथिपूजा और संलेखना ये चार शिक्षाव्रत हैं।

उनके **"रयणसार"** ग्रन्थ में भी श्रावकाचार का निरूपण है। ७२ गाथाओं में श्रावकधर्म पर चिन्तन किया है।

स्वामी कार्तिकेय ने श्रावकधर्म पर प्रत्येक रचना न कर **"अनुप्रेक्षा"** नामक ग्रन्थ में धर्म भावना का चिन्तन करते हुए श्रावकधर्म का विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने गृहस्थ धर्म के बारह भेद बताये हैं—

सम्यग्दर्शनयुक्त, मद्यादिस्थूलदोषरहित, व्रतधारी, सामायिक, पर्वव्रती, प्रासुक-आहारी, रात्रिभोजनविरत, मैथुन-त्यागी, आरम्भत्यागी, संगत्यागी, कार्यानुमोदविरत और उद्दिष्टाहारविरत।[34]

इन बारह नामों में प्रथम सम्यग्दर्शनयुक्त के अतिरिक्त शेष ग्यारह नाम प्रतिमाओं के हैं। श्रावक को व्रत धारण करने के पूर्व सम्यग्दर्शनयुक्त होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् श्रावकधर्म के बारह भेद बताये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के प्रतिपादित तीन गुणव्रतों को इन्होंने स्वीकार किया है, पर शिक्षा-व्रतों में कुन्दकुन्द के द्वारा माना हुआ संलेखना को व्रत न मानकर देशावकासिक व्रत को माना है। इन्होंने अनर्थदण्ड के पाँच भेद किये हैं। इन्होंने शिक्षाव्रत पर चिन्तन

---

३३ 'चारित्र पाहुड'—गाथा २० से २५।
३४ कार्तिकेयानुप्रेक्षा—३०४ से ३०६।

करते हुए सामायिक व्रत में आसन, लय, काल आदि का वर्णन किया है, तथा प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत में उपवास न कर सकने वालों के लिए एकभक्त, निर्विकृति आदि करने का विधान है और सोलह प्रहर के उपवास का विधान किया है। उन्होंने ग्यारहवीं प्रतिमा के भेदों का कोई उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में श्रावकधर्म का व्यवस्थित प्रदिपादन करने वाले ये प्रथमाचार्य हैं।

स्वामी समंतभद्र ने सर्वप्रथम दिगम्बर परम्परा में श्रावकाचार पर स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की। उनकी **'रत्नकरंडक श्रावकाचार'**[३५] बहुत ही महत्त्वपूर्ण रचना है। उन्होंने सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की महिमा पर प्रकाश डाला है।

सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का स्वरूप बताकर आठ मदों का निरूपण किया है। उसके पश्चात् बारह व्रतों का विश्लेषण करते हुए उनके अतिचारों पर चिन्तन किया है। श्वेताम्बर परम्परा में पाँच अणुव्रत का स्थान मूलगुण में है और शेष सात व्रत उत्तरगुण के रूप में हैं। किन्तु दिगम्बर परम्परा में श्रावकों के मूलगुण आठ माने हैं और उत्तरगुण बारह माने हैं। स्वामी समंतभद्र ने पाँच अणुव्रतों के साथ मद्य, मांस और मधु के परित्याग को मूलगुण माना है।[३६] उन्होंने मूलगुणों के आठ प्रकार बताये हैं, पर उत्तरगुणों की संख्या का निर्देश नहीं किया है। **'यशस्तिलक चम्पू'** आदि में गुणों की संख्या बारह बताई है।[३७] समन्तभद्र ने प्रस्तुत ग्रन्थ में देशावकाशिक व्रत को गुणव्रत न मानकर शिक्षाव्रत माना है। पर स्वामी कार्तिकेय की तरह देशावकाशिक को चतुर्थ शिक्षाव्रत न मानकर प्रथम माना है। उनका मन्तव्य है सामायिक और प्रोषधोपवास के पूर्व ही देशावकाशिक का स्थान होना चाहिए, क्योंकि उन दोनों की अपेक्षा इस व्रत की काल मर्यादा अधिक है। उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द की तरह संलेखना को शिक्षाव्रत नहीं माना है। उनका अभिमत है कि मृत्यु के समय की जाने वाली संलेखना का जीवन भर अभ्यास किये जाने वाले शिक्षाव्रतों में स्थान कैसे हो सकता है? अतः उन्होंने संलेखना के स्थान पर वैयावृत्य को शिक्षाव्रत कहा है। अतिथिसंविभाग के स्थान पर उन्होंने वैयावृत्य का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अतिचारों के विषय में भी कुछ परिवर्तन किया है—जैसे भोगोपभोगपरिमाण

---

३५ देखिए—'श्रावकाचार संग्रह'
—भाग, श्रुत भंडार और ग्रन्थ प्रकाशन समिति, पलटन

३६ मद्यमांस मधु त्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहीणां श्रमणोत्तमा।
—**रत्नकरंडक श्रावकाचार**

३७ अणुव्रतानि पंचैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे॥
—**यशस्ति० आ—७**

व्रत के जो अतिचार हैं, वे भोग पर ही घटित होते हैं, अतः उन्होंने अन्य पाँच स्वतन्त्र अतिचारों का भी वर्णन किया है।[३८] इसी तरह ब्रह्मचर्य के अतिचारों में भी इत्वरिका-परिग्रहीतागमन और इत्वरिका—अपरिग्रहीतागमन में प्रथम को रखकर द्वितीय को विटत्व नामक अतिचार की स्वतन्त्र कल्पना की है।[३९] व्रतों के पश्चात् उन्होंने ११ प्रतिमाओं का भी वर्णन किया है।

आचार्य जिनसेन ने '**आदि पुराण**' में ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति बताई है। वहाँ पर उन्होंने पक्ष, चर्या और साधन रूप से श्रावकधर्म का प्रतिपादन किया है।[४०] विज्ञों का मानना है कि उनके सामने कोई उपासक सूत्र रहा होगा और उसी के आधार पर उन्होंने प्रतिपादन किया। उन्होंने १२ व्रतों के नामों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया है, पर मूल आठ गुणों में मधु के स्थान पर उन्होंने द्यूत-त्याग को आवश्यक माना है। यदि द्यूत को अन्य व्यसनों का उपलक्षण माना जाय तो पाक्षिक श्रावक को कम से कम ७ व्यसनों का परित्याग और आठ मूलगुणों को धारण करना होगा। यही कारण है कि बाद में पं० आशाधर जी आदि ने पाक्षिक श्रावक के लिए उक्त कर्तव्य बताये हैं।

जिनसेन ने "**हरिवंश पुराण**" में भी श्रावकाचार सम्बन्ध में ७७ श्लोकों में प्रकाश डाला है। उसमें बारह व्रत, संलेखना आदि के अतिचारों का वर्णन किया है।[४१]

आचार्य सोमदेव के "**यशस्तिलकचम्पू**" के छठवें-सातवें व आठवें आश्वासों में श्रावक धर्म पर विस्तार से वर्णन है। उनका मूल आधार 'रत्नकरंडक श्रावकाचार' है। उन्होंने छठे आश्वास में अन्य दर्शनों के मन्तव्यों की चर्चा कर उनके द्वारा प्रतिपादित मोक्ष के स्वरूप पर चिंतन किया और अन्त में उन सभी का निरसन कर जैनदर्शन द्वारा निरूपित मोक्ष पर चिन्तन किया। उस मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र है। आप्त के स्वरूप की विस्तार के साथ मीमांसा की। और सम्यक्त्व के आठ अंगों का नवीन शैली से प्रतिपादन किया। सम्यक्त्व के विभिन्न प्रकार, उनके दोष का वर्णन कर सम्यक्त्व की महत्ता पर प्रकाश डाला। सम्यक्त्व से श्रेष्ठ गति, ज्ञान से कीर्ति, और चारित्र से पूजा, इन तीनों के मिलने से मुक्ति प्राप्त होती

---

३८ विषयविषयोऽनुप्रेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमति तृषानुभवौ।
भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पंच कथ्यंते। —रत्न क०—९०

३९ अन्यविवाहकरणानंगक्रीडा विटत्व विपुलतृषः।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पंच व्यतीचाराः॥ —रत्न क०—६०

४० आदिपुराण—१४५

४१ हरिवंश पुराण सर्ग ५८, श्लोक० ७७

है।[४२] उसके पश्चात् मद्य, मांस, मधु और पाँच उदंबर फलों के त्याग को अष्टमूल गुण बताया है।[४३] आचार्य जिनसेन ने मूल गुणों में पाँच अणुव्रतों को और सोमदेव ने पाँच उदंबर फलों के त्याग को महत्त्व दिया है। और दोनों ने अपने कथन की पुष्टि के लिए "उपासकाध्ययन"[४४] का उल्लेख किया है। पर वह कौन-सा उपासकाध्ययन था जिसके आधार पर उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। आचार्य सोमदेव ने मद्य आदि का उपभोग करना सर्वथा अनुचित माना है। वह महापाप है, उन्होंने उसके परित्याग पर अत्यधिक बल दिया। उन्होंने लिखा—जो मांस का भक्षण करते हैं उनमें दया का अभाव होता है। मद्यपान करने वाले में सत्य का अभाव होता है। मधु और उदंबर फल का सेवन करने वालों में नृशंसता का साम्राज्य होता है।[४५]

आठ मूलगुणों के पश्चात् उत्तरगुणों का वर्णन किया गया है। पाँच अणुव्रतों का वर्णन करते हुए अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए रात्रिभोजन और अभक्ष्य वस्तुओं के सेवन के परित्याग पर बल दिया है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओं का वर्णन कर पुण्य और पाप का कारण, परिणाम को बताया है। व्रतों का विस्तार से वर्णन कर श्रावक की ११ प्रतिमाओं का वर्णन किया है। दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में सचित्त त्याग को पाँचवीं प्रतिमा, कृषि आदि आरंभ के त्याग को आठवीं प्रतिमा माना है। पर प्रस्तुत ग्रन्थ में आरंभ त्याग के स्थान पर सचित्त त्याग और सचित्त त्याग के स्थान पर आरंभ त्याग की प्रतिमा का वर्णन किया है। श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र ने सचित्तत्याग को आठवीं प्रतिमा माना है। पर, सोमदेव के क्रम का रूप अन्य दिगम्बर साहित्य में नहीं मिलता।

आचार्य देवसेन ने "भावसंग्रह" नामक अपने ग्रन्थ में श्रावकधर्म का निरूपण किया है। उन्होंने भी पाँच उदुंबर, मद्यमांस, मधु के परित्याग को आठ मूलगुण माना है।[४६] अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत का वर्णन एक-एक गाथा में किया

---

४२ सम्यक्त्वात्सुगतिः प्रोक्ता ज्ञानात्कीर्तिरुदाहृता।
वृत्तात्पूजामवाप्नोति त्रयाच्च लभते शिवम्॥ —यशस्ति० आ० ६

४३ मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बरपंचकैः।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाश्रुते॥ —यशस्ति० आ० ७

४४ (क) यशस्तिलक आ०—५
(ख) आदिपुराण पर्व ४०—२१३

४५ मांसादिषु दया नास्ति, न सत्यं मद्यपायिषु।
अनृशंसं न मर्त्येषु मधूदुम्बरसेविषु॥ —यशस्ति० आ०—७

४६ महुमज्जमंसविरई चाओ गुण उंबराण पंचण्हं।
अट्ठेदे मूलगुणा हवंति फुडु देसविरयम्मि॥ —भावसंग्रह—३५६

है, केवल उनके नाम गिनाये हैं। इस ग्रन्थ में न श्रावकों के बारह व्रतों के अतिचारों का वर्णन है और न सप्त व्यसन का ही वर्णन है और न ग्यारह प्रतिमाओं का ही निरूपण किया है। उन्होंने श्रावक के लिए पुण्य उपार्जन करना अतीव आवश्यक माना है और उस पर अधिक बल दिया है।

आचार्य अमितगति ने "**उपासकाध्यान**" नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है। वह "**अमितगति श्रावकाचार**" के नाम से भी विश्रुत है। इसमें १४ परिच्छेदों में श्रावकधर्म का विस्तार से वर्णन है। पूर्व आचार्यों के द्वारा लिखे हुए विषय को पल्लवित और पुष्पित किया है। उन्होंने प्रथम, धर्म का महत्त्व, सम्यक्त्व की महिमा, सप्ततत्त्व, आत्मा की सिद्धि, विश्वसृष्टिकर्तृत्व का खण्डन आदि विषयों का प्रतिपादन किया है।[४७] उसके पश्चात् शील, तप व अनुप्रेक्षाओं का वर्णन है। षडावश्यक के पश्चात् बारह व्रतों का निरूपण किया और ग्यारह प्रतिमाओं का बहुत संक्षेप में वर्णन किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने "**पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**" में सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का सुन्दर विवेचन किया है। उसके पश्चात् सम्यग्ज्ञान की आराधना पर बल दिया है, और तदनन्तर सम्यक्चारित्र की व्याख्या करते हुए हिंसादि पापों की निवृत्ति पर प्रकाश डाला है। उन्होंने अहिंसा का अनूठा वर्णन किया है। सभी पापों का मूल हिंसा है, अतः विविध विकल्पों के द्वारा हिंसा और अहिंसा के विवेचन को किया है। इन्होंने जो पाँच उदंबर फल, मद्य, मांस और मधु के त्याग को आवश्यक माना है। जो व्यक्ति इनका परित्याग नहीं करता उसे महान् हिंसक कहा है। जब तक इनका त्याग नहीं करता तब तक जैन धर्मावलम्बी नहीं बन सकता।[४८] आचार्य ने धर्म, देवता या अतिथि के नाम पर होने वाली हिंसा को जो लोग हिंसा नही मानते हैं उनका अकाट्य तर्कों से खण्डन किया है। उन्होंने अतिचारयुक्त अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का वर्णन किया है।

आचार्य वसुनन्दि ने "**श्रावकाचार**" ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ की भाषा प्राकृत है। श्वेताम्बर आगम साहित्य में दिगम्बर परम्परा की तरह आठ मूलगुण का कहीं भी वर्णन नहीं है। वैसे ही वसुनन्दि के श्रावकाचार में भी इन आठ गुणों का उल्लेख व वर्णन नहीं किया गया है। वसुनन्दि ने बारह व्रतों के अतिचारों का भी वर्णन नहीं किया है। उन्होंने ११ प्रतिमाओं को आधार बनाकर श्रावक धर्म का प्रतिपादन

---

४७. (क) अमितगति श्रावकाचार, प्रथम परि० श्लो० १३ से २१।

(ख) देखिए उसी ग्रन्थ का चतुर्थ परिच्छेद।

४८ अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्म देशनाया भवंति पात्राणि शुद्धधियः॥ —पुरुषार्थ०—७४

किया है। सर्वप्रथम दार्शनिक श्रावक को सप्तव्यसन[४९] का त्याग आवश्यक माना है। उन्होंने सप्त व्यसनों के त्याग पर अत्यधिक बल दिया है। १२ व्रत और ११ प्रतिमाओं का वर्णन प्राचीन परम्परा की दृष्टि से किया है।

पं० आशाधर जी ने "**सागारधर्मामृत**" ग्रंथ की रचना की। लेखक ने अपने पूर्ववर्ती श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों का पारायण किया। अतः उन्होंने श्रावकधर्म के सभी प्रमुख अंगों का स्पर्श किया है। इनके ग्रन्थ में "**नीतिवाक्यामृत**" और आचार्य हरिभद्र के "**प्रज्ञप्ति**" का स्पष्ट प्रभाव है। अतिचारों के वर्णन के लिए उन्होंने श्वेताम्बर साहित्य का उपयोग किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ही सर्वप्रथम सप्त व्यसनों के अतिचारों का वर्णन किया गया है। श्रावक की दिनचर्या और उसकी समाधि का सुन्दर चित्रण हुआ है।

"**सावयधम्म दोहा**" ग्रन्थ में मानव भव की दुर्लभता देव, गुरु तथा दर्शन प्रतिमा का स्वरूप, अष्टमूल गुण की प्रेरणा देते हुए सप्त व्यसनों के दोष बताकर उसके त्यागने पर बल दिया है। व्रत, प्रतिमा और दान की चर्चा की गई है। इसमें अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रतों का उल्लेख है। उनको धारण करने से जीवन में किस प्रकार निर्मलता आती है, उसका भी प्रतिपादन है।[५०] प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता कौन हैं, यह अभी तक विज्ञ निश्चय नहीं कर सके हैं। एक स्थान पर "**देवसेन**" का नाम आया है।[५१]

मेधावी विरचित "**धर्मसंग्रह श्रावकाचार**" के प्रथम अधिकार में अठारह दोष रहित को "**देव**" माना है। उसके पश्चात् आगार और अनगार धर्म का निरूपण करते हुए ग्यारह प्रतिमाओं के नामों का उल्लेख किया है। मिथ्यात्व के भेद-प्रभेदों का और सम्यक्त्व के पच्चीस दोषों का और सम्यक्त्व का विस्तार से महत्त्व प्रतिपादित किया है। द्वितीय अधिकार में श्रावक के पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक ये तीन भेद किये हैं और तृतीय अधिकार में व्रतों के नाम-निर्देश और उनका विस्तार से सातवें अधिकार तक निरूपण है।

आचार्य सकलकीर्ति विरचित "**प्रश्नोत्तर श्रावकाचार**" ग्रन्थ में २४ परिच्छेद के अन्दर २४ तीर्थंकरों के वर्णन के साथ व्रतों पर विस्तार से वर्णन है। भाषा की दृष्टि से यह संस्कृत श्लोकों में निबद्ध है।

---

४९ जूयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि-चोर-परयारं।
दुग्गइगमणस्सेदाणि हेडभूदाणि पावाणि॥ —**वसुनन्दि श्रावकाचार**—५९

५० "अणुवय गुणसिक्खावयाइं ताइं जि बारह हुंति।
भुंजाइवि णर-सुर-सुहइं छिउ णिव्वाणहु णिति॥ —**सावय०** ५८

५१ "इय दोहा बद्धवयधम्मं देवसेणं उवदिट्ठु।
लहु अक्खरमत्ताहीण मो पय सयणं खमंतु॥—**श्रावकाचार संग्रह-भाग-१, पृ० ५०५**

गुणभूषण के "**श्रावकाचार**" में तीन उद्देशकों में श्रावक जीवन पर प्रकाश डाला गया है।

नेमिदत्त के "**धर्मोपदेश—पीयूष वर्ष**" नामक "श्रावकाचार" में पांचवें अधिकार में सम्यक्त्व से लेकर श्रावकों के व्रतों का निरूपण किया है। रात्रिभोजन के दोषों पर प्रकाश डाला है, मौन का महत्व बताकर सात स्थानों पर मौन रहने का उपदेश दिया है। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का भी वर्णन है, और सलेखना के स्वरूप पर भी चिन्तन किया है।

"**लाटी संहिता**" के छः सर्गों में धर्म के स्वरूप को बताते हुए सम्यक्त्व, उसके आठ अंग, सागार और अनगार धर्म का निरूपण करते हुए प्रत्येक व्रत का महत्व बताते हुए विस्तार से प्रकाश डाला है। संलेखना और ११ प्रतिमाओं का भी निरूपण किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा संस्कृत है। इस ग्रन्थ के लेखक के सम्बन्ध में विज्ञगण निश्चित नहीं कर सके हैं कि कौन हैं ?

पूज्यपाद कृत "**श्रावकाचार**" एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें सम्यक्त्व के स्वरूप का वर्णन करते हुए अष्ट मूलगुण, पंच अणुव्रत, सप्त शीलव्रत, सप्त व्यसनों के त्याग, कन्द-मूल आदि अभक्ष्य पदार्थों के त्याग, मौन धारण करना तथा पर्व दिनों में उपवास, आदि पर बल दिया गया है। इस ग्रंथ में १०३ श्लोक हैं।

पद्मनन्दि विरचित "**श्रावकाचार**" में केवल २१ श्लोकों में श्रावक धर्म का प्रतिपादन किया है।

"**व्रतसार श्रावकाचार**" में २२ श्लोक हैं। उसमें बहुत ही संक्षेप में श्रावक धर्म पर चिन्तन किया है। इसके लेखक का नाम विज्ञों को ज्ञात नहीं हो सका है।

अभ्रदेव विरचित "**व्रतोद्योतन श्रावकाचार**" में ५४२ श्लोक हैं। इसमें श्रावक के व्रतों के सम्बन्ध में चिन्तन करने के साथ ही इन्द्रिय और मन के निरोध पर बल दिया है। विस्तार से सम्यक्त्व के स्वरूप पर भी चिन्तन किया है।

श्री आचार्य प्रभाचन्द्र के शिष्य **पद्मनन्दि** कृत '**श्रावकाचार सारोद्धार**' ग्रन्थ दो परिच्छेदों में है। ग्रन्थ में राजा श्रेणिक के द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर गणधर गौतम के द्वारा धर्म पर चिन्तन करते हुए विस्तार के साथ सम्यग्दर्शन के विविध भेदोपभेद पर प्रकाश डालते हुए विषय के प्रतिपादन हेतु विविध कथानक भी दिये हैं और द्वादश व्रतों पर और उनके अतिचारों पर विस्तृत विवेचन किया गया है। संलेखना और उसके अतिचारों पर भी प्रकाश डाला है।

जिनदेव विरचित '**भव्यमार्गोपदेश उपासकाध्ययन**" ग्रन्थ छः परिच्छेद में है जिसमें ३६५ श्लोक हैं। लेखक ने सर्वप्रथम श्रावकाचार लिखने की प्रतिज्ञा ग्रहण कर सम्राट श्रेणिक के द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर गणधर गौतम के द्वारा श्रावकधर्म का निरूपण किया है। सर्वप्रथम अष्ट मूलगुण, रात्रिभोजन त्याग, सप्तस्थान पर मौन धारण, चर्म पात्र में घृत-तैल, कन्दमूल आदि अभक्ष्य पदार्थों के त्याग का उपदेश

किया है। सप्त व्यसन के स-दृष्टान्त दोष बताकर उनके त्याग पर बल दिया है। जीवादि तत्त्वों के निरूपण करते हुए व्रत प्रतिमा के अन्तर्गत १२ व्रतों का निरूपण किया है और प्रतिमाओं के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला है।

शिवकोटि रचित 'रत्नमाला' ग्रन्थ में श्रावक के द्वादश व्रतों के साथ मुनिजनों को निर्दोष पुस्तक आदि देने के सम्बन्ध में भी संकेत किया है। विभिन्न प्रकार के प्रासुक जल की काल मर्यादा उसके ग्रहण और उसके निषेध भी बताये गये हैं।

"**पद्मचरित्र**" के पर्व १४ में श्रावकाचार का निरूपण है। पच्चीस श्लोकों में संक्षेप में प्रकाश डाला है।

"**वरांग-चरित्र**" के १५वें सर्ग में चौबीस श्लोकों में श्रावक के बारह व्रतों का निरूपण है।

वामदेव रचित '**संस्कृत भाव संग्रह**' में पंचम गुणस्थान का वर्णन करते हुए एकादश प्रतिमाएँ और व्रतों का निरूपण किया है।

पं० गोविन्द ने "**पुरुषार्थानुशासन**" ग्रन्थ के तृतीय सर्ग से छठे सर्ग तक श्रावकधर्म पर विचार किया है। इसमें पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ आदि ध्यानों का विश्लेषण है और प्रतिमाएँ तथा संलेखना का भी विवरण है।

इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर विज्ञों ने श्रावकधर्म पर प्राकृत और संस्कृत भाषा में लिखा है। साथ ही अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी उन्होंने रचनाएँ की हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों विज्ञों ने परम्परा के भेद के अनुसार अपने विषय का प्रतिपादन किया है। श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों में गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के नाम तथा गणना क्रम में एकरूपता नहीं है। तथापि यह कह सकते हैं कि भाव में कोई अन्तर नहीं है। उपासकदशांग में गुणव्रतों व शिक्षाव्रतों का संयुक्त नाम शिक्षाव्रत है। पंच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रतों को द्वादश व्रत कहा है।

बारह व्रतों में पहले के पाँच अणुव्रत को शीलव्रत भी कहा गया है। शील का अर्थ आचार है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच व्रत आचार का मूल आधार हैं। बौद्ध साहित्य में इनका नाम "शील" है। योगदर्शन में "नियम" कहा गया है। अष्टांग योग इन्हीं व्रतों पर आधृत है।

व्रतों के पश्चात् श्रावक के लिए प्रतिमाओं का उल्लेख है। दीर्घ काल तक व्रत का पालन करने के पश्चात् एक दिन श्रावक अपना सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सन्तान को सौंपकर स्वयं पौषधशाला में जाकर सम्पूर्ण समय धार्मिक क्रियाओं में व्यतीत करता है। वह प्रतिज्ञाविशेष, व्रतविशेष, तपविशेष या अभिग्रहविशेष, प्रतिमा के नाम से पहचाना जाता है। प्रतिमा में अवस्थित श्रावक श्रमण के समान व्रत विशेष का पालन करता है। उसका जीवन एक तरह से श्रमण जीवन की प्रतिकृति है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही ग्रन्थों में उपासक प्रतिमाओं का वर्णन है। क्रम और नामों में कुछ अन्तर है। वह इस प्रकार है—

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार

(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) पौषध, (५) नियम, (६) ब्रह्मचर्य, (७) सचित्त त्याग, (८) आरंभ त्याग, (९) प्रेष्य-परित्याग अथवा परिग्रह परित्याग (१०) उद्दिष्ट भक्त-त्याग, (११) श्रमणभूत।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार

(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) पौषध, (५) सचित्त त्याग, (६) रात्रिभुक्ति त्याग, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरंभ त्याग, (९) परिग्रह त्याग, (१०) अनुमति त्याग (११) उद्दिष्ट त्याग।

उद्दिष्ट त्याग क्षुल्लक और ऐलक रूप में दो प्रकार का है। प्रथम चार प्रतिमाओं के नाम दोनों परम्पराओं में एक समान है। सचित्त त्याग का क्रम दिगम्बर परम्परा में पाँचवाँ है और श्वेताम्बर परम्परा में सातवाँ है। दिगम्बर परम्परा में रात्रिभुक्ति त्याग को स्वतन्त्र प्रतिमा गिना है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में पाँचवी प्रतिमा 'नियम' में उसका समावेश होता है। ब्रह्मचर्य का क्रम श्वेताम्बर परम्परा में छठा है और दिगम्बर परम्परा में सातवाँ है। दिगम्बर परम्परा में 'अनुमति त्याग' का उल्लेख है, वह श्वेताम्बर परम्परा के 'उद्दिष्ट त्याग' में समाविष्ट हो जाता है, चूँकि इस प्रतिमा में श्रावक उद्दिष्ट भक्त न ग्रहण करने के साथ अन्य आरंभ का भी समर्थन नहीं करता है। श्वेताम्बर परम्परा में जो 'श्रमणभूत' प्रतिमा है, उसे ही दिगम्बर परम्परा में 'उद्दिष्ट त्याग' प्रतिमा कहा है क्योंकि इसमें श्रावक का आचार भिक्षु के समान ही होता है।

दशाश्रुतस्कंध में जो गृहस्थ सम्यग्दर्शन युक्त है किन्तु व्रत, नियम ग्रहण नहीं कर पाता, तथापि जिनशासन की उन्नति के लिए सदा तत्पर रहता है और चतुर्विध संघ की भक्तिभाव से विभोर होकर सेवा करता है उस अविरत सम्यग्दृष्टि को "**प्रभावक श्रावक**"[५२] कहा गया है। और जो व्रतों को धारण करते हैं, प्रतिमाओं की आराधना करते हैं, वे "पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक" कहलाते हैं।

श्रावक सम्बन्धी साहित्य के पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रावकों को हम **जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट** इन तीन विभागों में विभक्त कर सकते हैं—

"**जघन्य श्रावक**" वह है जिनमें तीन बातें आवश्यक हैं—

(१) मारने की भावना से उत्प्रेरित होकर किसी तरह से जीव हत्या नहीं करता है।

(२) मद्य, मांस का पूर्ण त्यागी होता है।

---

५२ "जो अविरओवि संघे, भत्तिपरत्थुन्नइं सया कुणई।
अविरयसम्मदिट्ठी, प्रभावगो सावगो सोऽवि॥

(३) नमस्कार महामंत्र पर उसकी पूर्णनिष्ठा होती है।[५३]

"**मध्यम श्रावक**" के लिए निम्न विशेषताएँ आवश्यक मानी जाती हैं—

(१) वह देव, गुरु, धर्म पर पूर्ण निष्ठा रखता हुआ स्थूल हिंसा से निवृत्त होता है।

(२) मद्य, मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों का परित्याग कर धर्म योग्य लज्जा, दया, गंभीरता, सहिष्णुता प्रभृति सद्गुणों से उसका जीवन जगमगाता है।

(३) वह प्रतिदिन 'षट्कर्म[५४] की साधना करता है। वे **षट्-कर्म** इस प्रकार हैं—

(अ) **देव भक्ति**—वीतराग, सर्वज्ञ, अरिहन्त को वह अपना आराध्य देव मानता है। उस अरिहन्त देव में **अष्टादश दूषणों का अभाव** होता है—अज्ञान, निद्रा, मिथ्यात्व, अविरति, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, काम, दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। और वे देव **बारह गुणयुक्त** होते हैं—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त-बलवीर्य, अनन्तसुख, दिव्यध्वनि, भामंडल, स्फटिक सिंहासन, अशोकवृक्ष, पुष्पवृष्टि, देवदुंदुभि, और छत्र-चामर। उस देव को वह अपना आराध्य देव मानकर उसकी उपासना करता है।

(आ) **गुरु सेवा**—जिसके जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरि-ग्रह का साम्राज्य है, जो कनक-कान्ता का त्यागी है, ऐसे सु-साधु को गुरु मानकर उन्हें अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कंबल, पादप्रोंछन, पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक, औषध और भेषज प्रदान कर उनकी शुश्रूषा करता है।

(इ) **स्वाध्याय**—वह स्वाध्याय के द्वारा आत्म-भाव में स्थिर होता है।

(ई) **संयम**—वह प्रतिदिन कुछ समय असंयम से निवृत्त होकर कषायों का उपशमन करता हुआ संयमभाव में रहता है।

(उ) **तप**—वह प्रतिदिन कुछ न कुछ तप की आराधना करता है। ऊनोदरी, रसपरित्याग आदि से अपने जीवन को निखारता है।

(ऊ) **दान**—वह प्रतिदिन न्यायोपार्जित वित्त में से दान करता है। इस प्रकार षट्कर्म की साधना करता है और द्वादश व्रतों का पालन करता है।

---

५३ "आउट्टि थूलहिंसाई, मज्ज-मंसाइ चाइओ।
जहन्नओ सावगो होइ, जो नमुक्कारधारओ॥"

५४ "देवार्चागुरुशुश्रूषा स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दान चेतिग्रहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥"

प्रतिमाधारी होता है। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ हैं।[५५] जीवन की सान्ध्य-बेला में उत्कृष्ट श्रावक मारणांतिक संलेखना संथारा कर अपने जीवन को समाधि-पूर्वक व्यतीत करता हुआ देहविसर्जन करता है।

इस प्रकार श्रावकों के तीन रूप प्राप्त होते हैं।

परम श्रद्धेय राजस्थानकेसरी उपाध्याय अध्यात्मयोगी सद्गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि महाराज स्थानकवासी समाज के एक विशिष्ट सन्त रत्न हैं। आपश्री गंभीर विचारक, सफल लेखक, और प्रसिद्ध प्रवचनकार हैं। आपश्री जिस किसी भी विषय पर लिखते हैं या बोलते हैं उस विषय के तलछट तक पहुंचते हैं। उस सम्बन्धी सम्पूर्ण साहित्य का मंथन कर नवनीत प्रस्तुत करते हैं। विषय को सरल, सरस और बोधगम्य बनाने हेतु आपश्री रूपक, दृष्टान्त, सूक्तियाँ और उक्तियाँ इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि पढ़ते-पढ़ते पाठक आनन्द से झूमने लगता है।

"**श्रावकधर्म दर्शन**" श्रद्धेय सद्गुरुवर्य के द्वारा प्रदत्त प्रवचनों का सरस संकलन है, आकलन है। श्रावकधर्म से सम्बन्धित सभी विषयों पर गुरुदेवश्री ने बहुत ही गहराई से चिन्तन किया है, अनेक ज्वलन्त प्रश्नों का सम्यक् समाधान किया है। व्रत के नाम पर पनपने वाली अनेक भ्रान्त धारणाओं का निरसन किया है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है वहाँ तक हिन्दी भाषा में इस प्रकार का कोई ग्रंथ नहीं है जो श्रावकाचार पर विस्तार से विश्लेषण करता हो। गुरुदेवश्री के प्रवचनों में यह एक अनूठी विशेषता है कि न तो श्रोता ही ऊबता है और न पाठक ही। वे अपने विचार विलक्षण और लाक्षणिक शैली में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि जिन्हें श्रावकधर्म के सम्बन्ध में किंचित् भी जानकारी नहीं है वह पढ़कर पूर्ण बोध प्राप्त कर सकता है और जिन्हें जानकारी है उन्हें भी बहुत कुछ नया जानने को मिलेगा। वस्तुतः उनके प्रखर चिन्तन में धर्म और दर्शन के, ज्ञान और विज्ञान के, साहित्य और संस्कृति के, इतिहास और पुरातत्व के नये-नये उन्मेष खुलते हुए प्रतीत होते हैं।

प्रस्तुत ग्रंथरत्न का संपादन करते समय मुझे अत्यधिक आनन्द की अनुभूति हुई। व्रतों पर पूज्य गुरुदेवश्री के अन्य अनेक प्रवचन और भी हैं। वे प्रवचन मैंने संपादित कर दिये थे, पर ग्रंथ की पृष्ठ संख्या अधिक न बढ़ जाय इस दृष्टि से ३०० पृष्ट का मैटर संपादित करने के बावजूद भी, उसे पृथक् पुस्तक के रूप में देने का विचार किया। जहाँ तक प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रश्न है; मैं साधिकार कह सकता हूँ श्रावकाचार पर गुरुदेवश्री ने साधिकार प्रकाश डाला है। श्रावक की एकादश प्रतिमाओं

---

५५. "दंसण-वय-सामाइय-पोसहपडिमा अबंभ सच्चित्ते।
आरंभ—पेस—उद्दिट्ठवज्जए समणभूए य॥"
—दशा० निर्यु० गाथा ११
(ख) आयारदशा, छट्ठी, प्रतिमा दशा—सूत्र २.

पर वर्णन इसीलिए नहीं किया गया है कि उन प्रतिमाओं की साधना वर्तमान युग में नहीं होती है।

ग्रन्थ का सम्पादन करते समय मुझे परम स्नेही सन्त मानस कलम-कलाधर, पंडित प्रवर मुनि श्री नेमीचन्द्रजी का हार्दिक सहयोग मिला है। उनके सहयोग के कारण ग्रन्थ का सम्पादन कार्य शीघ्र सम्पन्न हो सका है। एतदर्थ मैं उन्हें जितना भी साधुवाद दूं उतना ही कम है।

श्रद्धालु प्रबुद्ध पाठकगण प्रस्तुत ग्रन्थ से जीवन-निर्माण की पवित्र प्रेरणा प्राप्त कर आचरण के क्षेत्र में आगे बढ़ेंगे ऐसी हार्दिक भावना है। मेरा दृढ़ आत्म-विश्वास है कि श्रद्धेय गुरुदेवश्री का प्रस्तुत उपहार भारती के भण्डार में वरदान रूप में सिद्ध होगा।

जैन स्थानक
साहूकार पेठ
मद्रास

—देवेन्द्र मुनि शास्त्री



अनुक्रमणिका

अध्याय १—व्रत : एक विवेचन १–८६

१. **मानव-जीवन की विशेषता** ३–१८

मानव में विचार की विशेषता ३, मनुष्य योनि में उभयपक्षीय सुविधाएँ ४, सामान्य एवं विशेष जीवन ५, पशुओं और देवों से मनुष्य को भिन्न करने वाला धर्म ७, बुद्धि में बढ़कर होने से ही श्रेष्ठ नहीं ७, बुद्धि वैभव होते हुए भी मनुष्य दुखी क्यों ८, राजनीति से जगत में सुख-शांति सम्भव नहीं १०, मनुष्य का निर्माण योजनाओं से भी असम्भव १०, जातियाँ तो मानवता का उच्छेद करती हैं १०, संप्रदाय भी इन्सान को मानवता का पाठ नहीं पढ़ाते ११, धन-सम्पत्ति के कारण मानव श्रेष्ठ नहीं ११, बल भी श्रेष्ठता का प्रतीक नहीं १२, लम्बा-चौड़ा परिवार भी श्रेष्ठता का परिचायक नहीं १२, आत्मसम्पदा-हीन मानव श्रेष्ठ नहीं १२, जीवन की सुन्दरता बाह्य वैभव में नहीं, आन्तरिक वैभव में है १३, मानव-जीवन का उद्देश्य क्या है १३, पूर्णता की प्राप्ति में विघ्न, कारण, निवारण १६, धर्ममय जीवन के लिए मानव तन के साथ मन को जोड़ें १७।

२. **व्रत-ग्रहण : स्वरूप और विश्लेषण** १९–३८

मानव-जीवन : एक प्रश्न १९, मानव-जीवन परीक्षा के लिए १९, अन्तिम समय में क्या करोगे २०, धर्मपालन के लिए व्रतग्रहण आवश्यक २१, व्रत : एक पाल, एक तटबन्ध २२, व्रत अनियन्त्रित जीवन के लिए ब्रेक २२, व्रत : स्वयंस्वीकृत मर्यादा २३, व्रत : धर्म-पालन का चौका २३, व्रत : आत्मानुशासन २३, आध्यात्मिक जीवन की नींव : व्रत २४, व्रत का अर्थ : स्वयं स्वीकार २४, व्रत : एक अटल निश्चय २५, व्रत : एक प्रतिज्ञा २६, व्रत से व्यक्ति विश्वसनीय एवं स्थिर २६, व्रत : एक प्रकार की दीक्षा २७, व्रत और योग साधना २८, व्रत : एक प्रकार से आत्मसंयम २८, व्रत : आचार संहिता २९, व्रतों से जीवन-निर्माण २९, व्रत : आत्मदमनरूप होने से सुखकारक २९, व्रत-ग्रहण की आवश्यकता ३१, व्रतग्रहण में दृढ़ता ३२, व्रतग्रहण विचारपूर्वक हो ३४, व्रत सार्वभौम हैं ३५, विदेशों में भी व्रत-पालन सम्भव है ३७, व्रत व्यवहार्य हैं ३८, व्रतग्रहण के लिए प्रेरणा ३८।

३. व्रतनिष्ठा एवं व्रतग्रहण विधि ३९–६४

विश्व में सुख-शान्ति के लिए व्रतनिष्ठा आवश्यक ३९, व्रत-निष्ठा से भौतिक विज्ञान पर अंकुश लगेगा ४०, भगवान ऋषभदेव युग की तरह वर्तमान में भी व्रतबद्धता आवश्यक ४०, व्रतों का आदर्श छोटा न बनाओ ४१, व्रत को छोटा बनाने के परिणामों से सम्बन्धित दृष्टान्त ४३-४६, प्रत्येक व्रत की व्याप्ति स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक ४७, निश्चय दृष्टि से व्रतों के आदर्श का चिन्तन हो ४७, व्रतों का उद्देश्य भी ऊँचा और महान् हो ४८, व्रतसाधना का सरल उपाय ५०, व्रतग्रहण के बाद सतत प्रयत्न और सावधानी ५१, व्रती बनने की योग्यता ५२, शल्य रहित होना ५२, धाम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्था ५३, दो धर्म और दोनों के व्रत ५४, अणुव्रतों और महाव्रतों का सम्बन्ध ५५, अणुव्रत और महाव्रत : परस्पर पूरक ५७, व्रतों का परस्पर सम्बन्ध ५७, व्रतग्रहण विधि ५९, श्रावकों के व्रतग्रहण के ४९ भंग (विकल्प) ६०।

४. अणुव्रती, श्रमणोपासक और श्रावक ६५–८५

श्रमणोपासक के घर में जन्म लेने से कोई अणुव्रती, श्रमणोपासक या श्रावक नहीं बन जाता ६६, अणुव्रती को श्रमणोपासक क्यों कहा गया ६७, श्रमणोपासक और श्रमण की पहिचान ६७, श्रमण के गुणों की उपासना करने से श्रमणोपासक को लाभ ६९, सांसारिक पदार्थों के उपासक श्रमणोपासक नहीं ७०, श्रमणों की पहिचान कैसे हो ७०, अर्हन्तोपासक क्यों नहीं ७१, श्रमण वर्ग की उपासना के प्रकार ७२, श्रावक श्रमण के लिए माता-पिता के समान—शांतु मेहता का दृष्टान्त ७४, श्रमणोपासक द्वारा श्रमणोपासना का महान् उद्देश्य ७६, अणुव्रती के अन्य पर्यायवाची नाम ७८, श्रावक शब्द में निहित कर्तव्य बोध ७८, चार प्रकार के श्रावक ७९, श्रावक सर्वथा अविरती, असंयमी, अव्रती नहीं ८४।

अध्याय २—अणुव्रत : एक विश्लेषण ८७–३८२

१. अहिंसा का सार्वभौम रूप ८९–१०८

अहिंसा विश्वव्यापी है ८९, अहिंसा भगवती परमधर्म रूप है ९०, अहिंसा परमधर्म क्यों ९०, सभी व्रतों के साथ अहिंसा की धारा आवश्यक ९१, धर्म की परख अहिंसा से ९३, अहिंसा का श्रीगणेश ९४, आत्मदर्शन का मूल : अहिंसा ९७, अहिंसा की उपयोगिता ९९, आत्मौपम्य की प्रेरणा; अहिंसा की पृष्ठभूमि १०२, आत्मौपम्य की साधना : अहिंसा की चाबी १०३, अहिंसा का साधक किसी पशु-पक्षी को कष्ट नहीं दे सकता १०४, आर्थिक-सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा १०५, राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा १०५, विज्ञान और अहिंसा १०७, पथ का चुनाव १०८।

२. श्रावक की अहिंसा-मर्यादा १०६-१४१

शास्त्रों के अनुसार श्रावक की हिंसा-त्याग का स्वरूप ११०, स्थूल और सूक्ष्म जीवों का स्वरूप १११, व्रती श्रावक स्थूलहिंसा का ही त्यागी, सूक्ष्महिंसा का नहीं ११३, सूक्ष्मजीवों का अस्तित्व न माना जाय तो....? ११४, स्थूलहिंसा में भी संकल्पजा हिंसा त्याज्य ११५, द्विविध हिंसा में से चार प्रकार स्पष्टीकरण के लिए ११६, संकल्पी हिंसा : स्वरूप और विश्लेषण ११६, रूसी लेखक टर्जे बीफ का अनुभव ११८, हिंसक पशुओं को मारना भी अनुचित ११६, मनुष्य हिंसक पशुओं से भी अधिक क्रूर १२१, सिंह भी उपकारी को सहायक होता है— रोमन गुलाम का दृष्टान्त १२२, पशु-पक्षियों की संख्या घटाने के लिए वध करना मूर्खता है १२३, मांस और चमड़े के लिए पशु-हिंसा भी संकल्पी है १२३, विघ्नशांति एवं कुलाचार के नाम पर हिंसा १२५, परीक्षण के नाम पर होने वाली निर्दयता १२५, औषधियों के लिए जीवों की हिंसा १२६, मनोरंजन के लिए पशुओं को लड़ाना भी हिंसा है १२६, धनपिशाचों द्वारा कई प्रकार से हिंसा १२६, देव-गुरु-धर्म और अतिथि के लिए हिंसा भी वर्ज्य १२७, क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या या प्रतिशोध के वश शारीरिक मानसिक कष्ट देना १२८, सामाजिक कुप्रथा के नाम पर हिंसा १२६, धन, स्त्री, सन्तान आदि का अपहरण करना भयंकर हिंसा है १३०, कटु-मर्मस्पर्शी वचन व मिथ्यारोप आदि भी हिंसा है १३१, राजनैतिक हिंसाएँ १३१, दया के लिए हिंसा भी घोर अनर्थ-कारिणी १३२, घट चटकमोक्ष भी हिंसाजनक होने से भ्रम है १३४, गुरु का सिर काटकर समाधि दिलाने की हिंसापूर्ण क्रिया १३५, यह सामाजिक हिंसा भी संकल्पी हिंसा के अन्तर्गत है १३५, वर्ण के नाम पर हिंसा १३७, धर्म-सम्प्रदाय के नाम पर हिंसा १३८, हिंसा से पूर्ण राष्ट्रीयता एवं प्रान्तीयता १३६, पारिवारिक जीवन में हिंसा १३६, अहिंसा की अबूझ दौड़ १४०, संकल्पी हिंसा से सावधान रहें १४० ।

३. अहिंसा की मंजिल : श्रावक की दौड़ १४२-१६६

आरम्भी हिंसा : स्वरूप, विवेक और विश्लेषण १४२, आरम्भी हिंसा और अविवेक १४४, निरर्थक, निष्प्रयोजन, अनावश्यक आरम्भ न करें १४४, अल्पारम्भ, अधिकारम्भ या महारम्भ १४६, उद्योगी हिंसा : स्वरूप, विवेक और विश्लेषण १४८, पन्द्रह कर्मादान १४६, वर्णव्यवस्था : विभिन्न उद्योग-धन्धों के लिए १५१, चारों वर्णों के कर्तव्य १५२-१५४, कौन-सा व्यवसाय आर्य, कौन-सा अनार्य १५५, रोजी और रोटी के सम्बन्ध में अहिंसा-पथ का चुनाव १५६, विरोधी हिंसा : स्वरूप, विवेक और विश्लेषण १५८, अधिक शक्ति हिंसा में या अहिंसा में १६०, बलिदान, उत्सर्ग और स्वार्पण अहिंसा की जीवनी शक्ति १६२, प्रतिकार का क्रम १६४, हिंसा-अहिंसा का भविष्य पक्ष भी देखें १६६, दण्ड और अहिंसा १६७, अहिंसा : हृदय परिवर्तन का दर्शन १६८, अहिंसाणुव्रत

के अतिचार—बंध, वध, छविच्छेद, अतिभार, भक्तपानविच्छेद १६८-६६।

४. सत्य : जीवन का संबल १७०–१६५

अहिंसा के साथ सत्य आवश्यक है १७०, मानव-जीवन की नींव सत्य पर टिकी है १७१, सारे विश्व का मूलाधार : सत्य १७२, सत्य-विहीन वस्तु निरर्थक है, निष्प्राण है १७२, सत्य की गर्मी हो, तभी तक साधुत्व या श्रावकत्व है १७२, सत्य हो तो दूसरे दुर्गुण भी दूर हो सकते हैं १७३, सत्य ही नैतिक तत्व है १७४, सत्य ने सारे दुर्गुण छुड़ा दिये (दृष्टान्त) १७४-७५, सत्य ने अन्य सद्गुणों के द्वार खोले (दृष्टान्त) १७५-१८०, सत्य का बल सबसे बड़ा बल १८१, सत्य-बल का चमत्कार १८२-१८३, चिरस्थायी सफलताओं का आधार : सत्य १८५, सत्य सब बलों से बढ़कर १८६, नास्तिक भी सत्य की शक्ति को मानते हैं १८७, जीवन और जगत का आधार : सत्य १८८, व्यवहार में सत्य आवश्यक १८६, सत्य : एक बुनियादी वस्तु १६१, सत्य : मानव-जीवन की अनमोल विभूति १६४, सत्य : पुण्य की खेती १६५।

५. श्रावक की सत्य की मर्यादा १६६–२२६

शास्त्रों के अनुसार श्रावक का सत्यव्रत १६७, स्थूलमृषावाद और सूक्ष्ममृषावाद १६६, स्थूल असत्य का अर्थ २०१, सत्य पर दृढ़ रहना आवश्यक २०३, उन्मार्ग सेवन न करें २०४, परोपकार-प्राणि-रक्षा के लिए असत्यभाषण क्षम्य २०५, स्थूल असत्य के भेद २०७, कन्या के सम्बन्ध में असत्य २०७, गाय के लिए असत्य २११, भूमि के विषय में असत्य २१२, धरोहर के विषय में असत्य २१३, झूठी साक्षी : झूठ का मूल २१४, सत्यव्रत में लगने वाले दोष २१८, व्रत का अति-क्रमण होने की चार कक्षाएँ २१८, सहसाभ्याख्यान : प्रथम दोष २१६, रहस्याभ्याख्यान : असत्य का स्रोत २२१, स्वदारमन्त्रभेद : असत्य का रूप २२२, मिथ्या उपदेश : असत्य का द्वार २२४, कूटलेखकरण : झूठ फरेब की प्रक्रिया २२५।

६. अस्तेयव्रत : साधना और स्वरूप २२७–२५६

धन की अपेक्षा चरित्र की महत्ता २२७, आर्थिक दृष्टि से अस्तेय का महत्त्व २२८, अस्तेय व्रत कृपणता का नाशक २२६, सभी व्रत एक-दूसरे से सम्बन्धित २३०, अस्तेयव्रत : सामाजिक धर्म का दिग्दर्शक २३१, ईमानदारी : अस्तेयव्रत का मूल २३२, भारत में अचौर्यवृत्ति का व्यापक प्रभाव २३३, आज बेईमानी और लूट का बाजार गर्म है २३३, निराशा में भी आशा की किरणें २३४, चोरी के पाँच ढंग २३६, नामचौर्य २३७, उपयोग चौर्य २३८, उपकार चोरी २४१, विनिमय चोरी २४१, मिलावट—आज की सबसे बड़ी समस्या २४२-४३, रिश्वत और घूसखोरी की वृद्धि : चोरी का भयंकर रूप २४५, ब्लैक मार्केट या

काले बाजार की उत्पत्ति : चोरी का नया रूप २४७, तस्कर व्यापार : विनिमय चोरी की विभीषिका २४८, जनता में बेईमानी की प्रवृत्ति २४९, विभाग चोरी २५०, कर्तव्य चोरी २५१, शक्ति चोरी भी चोरी है २५३, भिक्षा चोरी से बचो २५४, प्रमादमूलक चोरी २५५, उरण चोरी के प्रकार २५६, विस्मृति चोरी २५६, मौन चोरी २५६, शब्द छल चोरी २५६, सभ्य चोरी के प्रकार २५७।

७. श्रावक-जीवन में अस्तेय की मर्यादा २६०–२८२

पूर्णत्यागी की अस्तेय मर्यादा २६१, श्रावक का अस्तेयव्रत-ग्रहण शास्त्रानुसार २६२, मानसिक चोरी : घोर महत्वाकांक्षा २६४, आवश्यकताएँ कम करिए २६४, न्यायोपार्जित धन ही उचित २६७, चोरी का मूल कारण : अर्थलोलुपता २६८, भुखमरी और बेकारी : चोरी का दूसरा कारण २६९, तीसरा कारण: फिजूलखर्ची २७०, चौथा कारण—यशकीर्ति और प्रतिष्ठा की भूख २७१, पाँचवाँ कारण—स्वभाव २७१, सबसे बड़ा कारण : सामाजिक विषमता और शासन की दुर्बलता २७१, प्रश्नव्याकरण के अनुसार चोरी के ढंग २७५, चोरी घृणित एवं त्याज्य कर्म २७६, चौर्यकर्म से मुक्त होने के लिए २७७, अस्तेयव्रत पालन में सावधानियाँ रखी जायें २७८, अस्तेयव्रत के पाँच अतिचार २७९, (१) स्तेनाहृत २७९, (२) तस्कर-प्रयोग २८०, (३) विरुद्ध राज्यातिक्रम २८१, (४) कूटतुला-कूटमान २८१, (५) तत्प्रतिरूपक व्यवहार २८२।

८. ब्रह्मचर्य की सार्वभौम उपयोगिता २८३–३१०

ब्रह्मचर्य के विचार के साथ आचार भी २८३, ब्रह्मचर्य के बिना किसी भी साधना में सफलता नहीं २८४, ब्रह्मचर्य के बिना मन व इन्द्रियों की शक्ति केन्द्रित नहीं २८४, वर्तमान युग में ब्रह्मचर्य अनिवार्य हो २८५, ये संकट अब्रह्मचर्य की ही देन हैं २८५, ब्रह्मचर्य की महत्ता को समझो २८७, विषयभोगों में आनन्द कहाँ २८७, चिन्तामणि रत्न से गाजर-मूली खरीदना मूर्खता २८८, ब्रह्मचर्य : जीवन-अमरत्व की साधना २८९, ब्रह्मचर्य द्वारा सोने की खेती करो २८९, सौन्दर्य का मूल : ब्रह्मचर्य २९०, ऋषि-मुनियों द्वारा ब्रह्मचर्य का विधान २९१, अहिंसा एवं सत्य के पालन के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक २९३, चारों आश्रमों की नींव : ब्रह्मचर्य २९४, पति-पत्नी साथ रहते हुए भी ब्रह्मचारी रहने के दृष्टान्त २९६-२९८, जीवन की आधारशिला : ब्रह्मचर्य २९९, शक्ति का मूलस्रोत : ब्रह्मचर्य २९९, आध्यात्मिक साधना के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक ३०२, ब्रह्मचर्य से दीर्घजीविता ३०४, ब्रह्मचर्य तप से बौद्धिक लाभ ३०४, ब्रह्मचर्य से धर्म रक्षा ३०६, ब्रह्मचर्य तप है ३०७, ब्रह्मचर्य से पारलौकिक लाभ ३०७, ब्रह्मचर्य का बाह्य जगत पर प्रभाव ३०८।

९. श्रावक-जीवन में ब्रह्मचर्य की मर्यादा ३११–३३८

संकल्प का अधिक फल ३११, व्रत स्वीकार करने से पारिवारिक,

सामाजिक और आत्मिक लाभ ३१२, मानव जीवन की सार्थकता उच्छृंखल रूप से विषयोपभोग में नहीं ३१३, गृहस्थ-जीवन में ब्रह्मचर्य व्रत आवश्यक क्यों ३१४, गृहस्थजीवन में ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण न करने पर ३१५, चरित्र में शिथिलता संभव (दृष्टांत) ३१६-३२०, श्रावक के ब्रह्मचर्यव्रत की मर्यादा ३१९, विवाह काम-वासना को नियमित करने का साधन ३२१, विवाह : किसके लिए आवश्यक, किसके लिए अनावश्यक ३२३, विवाह का उद्देश्य : कर्तव्यों का पालन ३२५, विवाह : विषय-वासना की दवा (ओषध) ३२८, स्वपत्नीसन्तोष—परदारविरमणव्रत की निष्ठा ३२९, पर-स्त्री सेवन से अपार हानियाँ ३३०, स्वदारसंतोष-व्रत से लाभ ३३१, स्वदारसन्तोषव्रत की मर्यादाएँ ३३१, स्वदार-सन्तोष से पत्नी के प्रति सात्विक आकर्षण ३३४, ब्रह्मचर्य-रक्षा के उपाय ६३५, स्वदारसन्तोषव्रत के पाँच अतिचार ३३७, (१) इत्वरिक परि-गृहीतागमन ३३७, (२) अपरिगृहीतागमन ३३७, (३) अनंगक्रीड़ा ३३८, (४) पर विवाहकरण ३३८, (५) कामभोगतीव्राभिलाषा ३३८।

१०. इच्छा का सरोवर : परिमाण की पाल ३३९-३५८

इच्छाएँ आकाश के समान अनंत हैं ३३९, दो माशा सोना : पूरे राज्य प्राप्ति की इच्छा बना (दृष्टान्त) ३४०-४३, इच्छा : बिना पाल का सरोवर ३४४, इच्छाएँ निकृष्ट न हों ३४५, इच्छाओं का एक विपाक्त पहलू ३४६, इच्छाओं का क्रम बढ़ते-बढ़ते असीम ३४८, असीमित इच्छाएँ : संघर्ष का कारण ३४९, दृष्टान्त ३४९-५१, इच्छा और आवश्यकता की भेदरेखा ३५३, इच्छापरिमाणव्रत से लाभ ३५४, मरणबेला में भी आनन्द ३५६, इच्छापरिमाणव्रत का अर्थ और उद्देश ३५७।

११. परिग्रह : हानि, परिमाणविधि, अतिचार ३५९-३८२

पापों का केन्द्र : परिग्रह ३६०, परिग्रह के लिए हिंसा ३६१, परिग्रह के कारण ही राष्ट्र-द्रोह की प्रवृत्तियाँ ३६४, दोषों का आगार : परिग्रह ३६७, परिग्रहियों का दुःख ३७०, संग्रह बुद्धि : विषमता का कारण ३७२, परिग्रह का परिमाण ही सुख-प्राप्ति का उपाय ३७३, परि-ग्रह परिमाणव्रतग्रहण विधि ३७७, बाह्य परिग्रह के नौ भेद ३७८, अतिचारों से बचो ३८१, पाँच अतिचार ३८१, पाँच विक्षेप ३८२।

अध्याय ३—गुणव्रत : एक चिन्तन ३८३-४७८

१. दिशा-परिमाणव्रत : एक चिन्तन ३८५-४०५

गुणव्रत क्या और क्यों ३८५, ध्येय की दिशा में आगे बढ़ने के लिए ३८५, सर्वप्रथम दिशापरिमाणव्रत क्यों ३८७, लोभ और हिंसा मर्यादित ३९०, धर्मप्रधान जीवन के लिए दिशा-परिमाण व्रत आवश्यक ३९१, अर्थ-प्रधान जीवन की दुर्दशा ३९२, खाली हाथ जाना है ३९५, विभिन्न सुदूर देशों या प्रान्तों में भी व्यवसाय पर प्रतिबन्ध ३९६, दिग्-परिमाणव्रत ग्रहण न करने से महाहानि ३९७, दिशा-परिमाणव्रत का स्वरूप ३९९, दिशा-परिमाणव्रत की विधि ३९९, दिग्परिमाणव्रत

में सावधानी ४०१, दिग्व्रत का अन्य व्रतों पर प्रभाव ४०२, दिशा-परिमाण व्रत के पाँच अतिचार—(१) ऊर्ध्व दिशा-प्रमाणातिक्रम (२) अधोदिशाप्रमाणातिक्रम (३) तिर्यक् दिशाप्रमाणातिक्रम (४) क्षेत्रवृद्धि (५) स्मृत्यन्तर्धान, ४०४।

२. उपभोग-परिभोग-परिमाण : एक-अध्ययन ४०६-४२५

त्यागपूर्वक उपभोग सुखदायक ४०६, जितना कम उपभोग ! उतना ही अधिक सुख ४०७, भोग परलोक में भी दुख देते हैं ४१२, विवेक से भोगों की सीमा बाँधिए ४१३, भोगों का गुलाम जीवन का बादशाह नहीं ४१४, सच्चा सुख भोग में नहीं, त्याग में है ४१७, मितव्ययिता का सन्देश ४१८, इस व्रत से रहन-सहन और खान-पान में विवेक ४२१, इस व्रत से मूल व्रतों में प्रशस्तता ४२४, सप्तम व्रत (उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत) का उद्देश्य ४२५।

३. उपभोग-परिभोग-मर्यादा और व्यवसाय-मर्यादा ४२६-४५३

उपभोग-परिभोग परिमाण : स्वरूप और प्रकार ४२७, उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत के २६ बोल ४२८, मर्यादा की मर्यादा ४३२, पाँच दोष—त्रसवध, बहुवध, प्रमाद, अनिष्ट और अनुपसेव्य ४३२, अस्वाद-वृत्ति एवं आहार शुद्धि भी ४३४, सप्तम व्रत के पाँच अतिचार : भोजन की दृष्टि से—(१) सचित्ताहार (२) सचित्त प्रतिबद्धाहार (३) अपक्वौषधि भक्षणता (४) दुष्पक्वौषधि भक्षणता (५) तुच्छौषधि भक्षणता ४३६-३७, आवश्यकताओं का विवेक ४३८, मूल आवश्यकताएँ ४३९, कृत्रिम आवश्यकताएँ ४४०, व्यसनमूलक, प्रदर्शनपूरक आवश्यकताएँ ४४२, आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यवसाय ४४३, व्यवसाय के पीछे श्रावक की दृष्टि ४४६, पन्द्रह प्रकार के निषिद्ध व्यवसाय (कर्मादान) ४४८-४५२।

४. अनर्थदण्डविरमणव्रत : एक विश्लेषण ४५४-४७६

प्रवृत्तियाँ : सार्थक-निरर्थक ४५४, दण्ड की परिभाषा ४५५, अनर्थ-दण्डविरतिव्रत की उपयोगिता ४५६, अहिंसाणुव्रत के सम्बन्ध में अनर्थ-दण्ड का विचार ४५७, सत्याणुव्रत, अस्तेयाणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत तथा परिग्रहपरिमाणव्रत के सम्बन्ध में अनर्थदण्डपरिमाणव्रत का विचार ४५८-५९, वाचिक एवं मानसिक अनर्थदण्ड ४६०, अनर्थदण्ड की एक और व्याख्या ४६१, अनर्थदण्ड के चार आधारस्तंभ—(१) अपध्यानाचरित (२) प्रमादाचरित, (३) हिंस्रप्रदान, (४) पापोपदेश ४६३, अपध्यान का प्रथम भेद—आर्तध्यान ४६४, आत्महीनता की मनोवृत्ति ४६५, आर्तध्यान के चार प्रकार ४६७, अपध्यान का दूसरा भेद—रौद्रध्यान ४६७, रौद्र-ध्यान के चार प्रकार ४६८, प्रमादाचरित या प्रमादचर्या ४७०, प्रमाद के पाँच भेद—(१) मद (२) विषय, (३) कषाय, (४) निद्रा (५) विकथा ४७१-७२, हिंस्रप्रदान ४७४, पापोपदेश ४७४, इस व्रत के पालन में पाँच दोषों से बचो ४७६, पाँच अतिचार—(१) कन्दर्प, (२) कौत्कुच्य,

(३) मौखर्य (४) संयुक्ताधिकरण (५) उपभोग-परिभोगातिरिक्तता ४७६ ।

अध्याय ४—शिक्षाव्रत : एक पर्यालोचन ४७९-६५१

१. **सामायिकव्रत की सार्वभौम उपयोगिता ४८१-५०५**

आत्मविकास के लिए सद्गुणों की जड़ें सींचो ४८१, सद्गुणों की सम्पत्ति : साधक का पुरुषार्थ ४८२, त्यागवृत्ति टिकाने के लिए सामायिक व्रत ४८३, सामायिक व्रत का स्वीकार न करने पर ४८४, जीवन के प्रश्नों का समाधान सामायिक साधना में ४८५, समत्व योग से जीवन जीने की कला ४८९, जीवन उद्योग में सफलता के लिए सामायिक प्रशिक्षण आवश्यक ४९३, गतिशीलता के लिए सामायिक आवश्यक ४९४, समत्वयोगी विपरीत परिस्थितियों में भी प्रसन्न ४९४, सामायिक से लाभ क्या और कब ४९६, सामायिक साधना के साथ-साथ क्षेत्र आदि की शुद्धियाँ भी आवश्यक ५००, सामायिक से आत्मविश्वास ५०२, सामायिक श्रमणचर्या की शिक्षा है ५०३, सामायिक का मूल्यांकन ५०५ ।

२. **सामायिक का व्यापक रूप ५०६-५३३**

सामायिक का उद्देश्य : समत्व का व्यवहार ५०७, द्रव्यसामायिक और भाव सामायिक ५०९, सामायिक का विराट् स्वरूप ५११, आर्त-रौद्रध्यान का परित्याग ५११, सावद्य योगों का त्याग ५१५, अठारह पापस्थान ५१६-५१८; सर्वेन्द्रिय, मनःसंयम ५१८, सामायिक के चार रूप ५२१, नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव—छह प्रकार से सामायिक की साधना ५२१, द्रव्यसामायिक ५२१, क्षेत्र सामायिक ५२१, काल सामायिक ५२३, परिस्थिति समभाव—काल सामायिक का एक अर्थ ५२३, निन्दा-प्रशंसा में सम ५२९, सम्मान और अपमान में सम ५३०, समत्व साधक की चार शुभ भावनाएँ—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ ५३०, मैत्री भावना ५३१, प्रमोद भावना ५३२, करुणा भावना ५३२, माध्यस्थ्य भावना ५३२ ।

३. **सामायिकव्रत : विधि, शुद्धि और सावधानी ५३४-५६०**

साधु और श्रावक की सामायिक में अन्तर ५३४, गृहस्थ की सामायिक की मर्यादा ५३५, सामायिक की विधि ५३७, सामायिक कब, कितनी देर, कैसे, कहाँ ५३९, सामायिक की काल (समय) मर्यादा ५४०, दिशाबोध और आसन ५४१, सामायिक के पाठ प्राकृत भाषा में ही क्यों ५४२, विधिपूर्वक किया गया अनुष्ठान ही सफल ५४३, अभ्यास से शुद्ध और पूर्ण सामायिक सम्भव ५४४, सामायिक की प्रतिज्ञा का पाठ : विश्लेषण ५४६, सामायिक : उपासना और साधना ५४७, उपासना का अर्थ—समीपता ५४९, साधना में आत्मशुद्धि का तत्त्व अधिक ५५४, आत्मा ही सामायिक और सामायिक का प्रयोजन ५५४, आत्मा के व्युत्सर्ग का रहस्य ५५५, त्रियोग (मन-वचन-काया) शुद्धि की विधि ५५६, सामायिक में त्रियोग-शुद्धि के लिए दोष निवारण ५५७, मन के

दस दोष ५५७, वचन के दस दोष ५५७, काया के बारह दोष ५५८, सामायिक करने से पूर्व शुद्धिचतुष्टय ५५८, (१) द्रव्यशुद्धि ५५८, (२) क्षेत्रशुद्धि ५५९, (३) कालशुद्धि ५५९, (४) भावशुद्धि, ५५९, सामायिक के अतिचारों से सावधान ५५९, (१) मनः दुष्प्रणिधान ५५९, (२) वचन दुष्प्रणिधान ५६०, (३) कायदुष्प्रणिधान ५६०, (४) सामायिक—मतिभ्रंश ५६०, (५) सामायिकानवस्थिति ५६० ।

४. देशावकाशिकव्रत : स्वरूप और विश्लेषण ५६१–५७२

देशावकाशिकव्रत की आवश्यकता ५६१, देशावकाशिकव्रत : आत्मशक्ति बढ़ाने में सहायक ५६१, आंशिक अवकाश के रूप में देशावकाशिक ५६२, राज्यशासन का अवकाश मानोगे या आत्मशासन का ५६२, देशावकाशिक : अध्यात्म का चौका ५६३, देशावकाशिकव्रत की अवधि ५६३, देशावकाशिकव्रत : आत्मशक्तिवर्द्धक १४ नियम-चिन्तन ५६४, चौदह नियम ५६६, वर्तमान में प्रचलित देशावकाशिकव्रत ५६८, देशावकाशिक देशपौषध है ५६९, देशावकाशिक व्रत के पाँच अतिचार ५७१, (१) आनयनप्रयोग ५७१, (२) प्रेष्यप्रयोग ५७२, (३) शब्दानुपात ५७२, (४) रूपानुपात ५७२, (५) बाह्यपुद्गल-प्रक्षेप ५७२ ।

५. पौषधव्रत : आत्मनिर्माण का पुण्यपथ ५७३–५९५

पौषध : तीसरा विश्रान्ति पथ ५७३, पौषधव्रत : आत्म-निर्माण की सर्वोत्तम साधना ५७५, आध्यात्मिक पुरुषार्थ : महान बनने की साधना ५७५, पौषध : आत्मचिन्तन से निर्माण का कारण ५७६, पौषध से आत्मचिन्तन द्वारा आत्म-शक्ति ५७७, पर-दोष चिन्तन में समय मत खोओ ५७७, दूषित दृष्टिकोण परेशानियाँ बढ़ाता है ५७९, बुढ़ापे में धर्माचरण की बात : अनिश्चित ५८०, बाह्य धन चाहिए या आत्म-धन ५८३, धन से आत्म-साधना नहीं होती (दृष्टान्त) ५८४, पौषधव्रत द्वारा सम्पन्नता के साथ उत्कृष्ट साधना ५८६, बाह्य वैभव की अपेक्षा या आत्मिक वैभव की ५८७, आत्म-वैभव के बढ़ाने के तीन मनोरथ ५८८, पौषध से आत्मबल में वृद्धि ५८९, पौषध व्रत की उत्कट आध्यात्मिकता ५८९, पौषधव्रती उपसर्गों से विचलित नहीं होता ५९०, बाह्य स्वरूप : प्रकार और विधि ५९१, चार प्रकार का पौषध—(१) आहार त्याग, (२) शरीरसंस्कार त्याग, (३) ब्रह्मचर्य पौषध, (४) अव्यापार पौषध ५९२, पौषध का वर्तमान पाठ ५९३, जागरणा में चार प्रकार के धर्मध्यान (आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय) का चिन्तन ५९४, चार अनुप्रेक्षाओं (एकत्व, अनित्य, अशरण और संसार) का बारंबार मनन ५९४, पौषध में उपसर्गों से विचलित नहीं होना चाहिए ५९५, पौषधव्रत के पाँच अतिचार ५९५, महीने में चार या छह दिन (पर्वों-तिथियों) पर पौषध करना चाहिए ५९५ ।

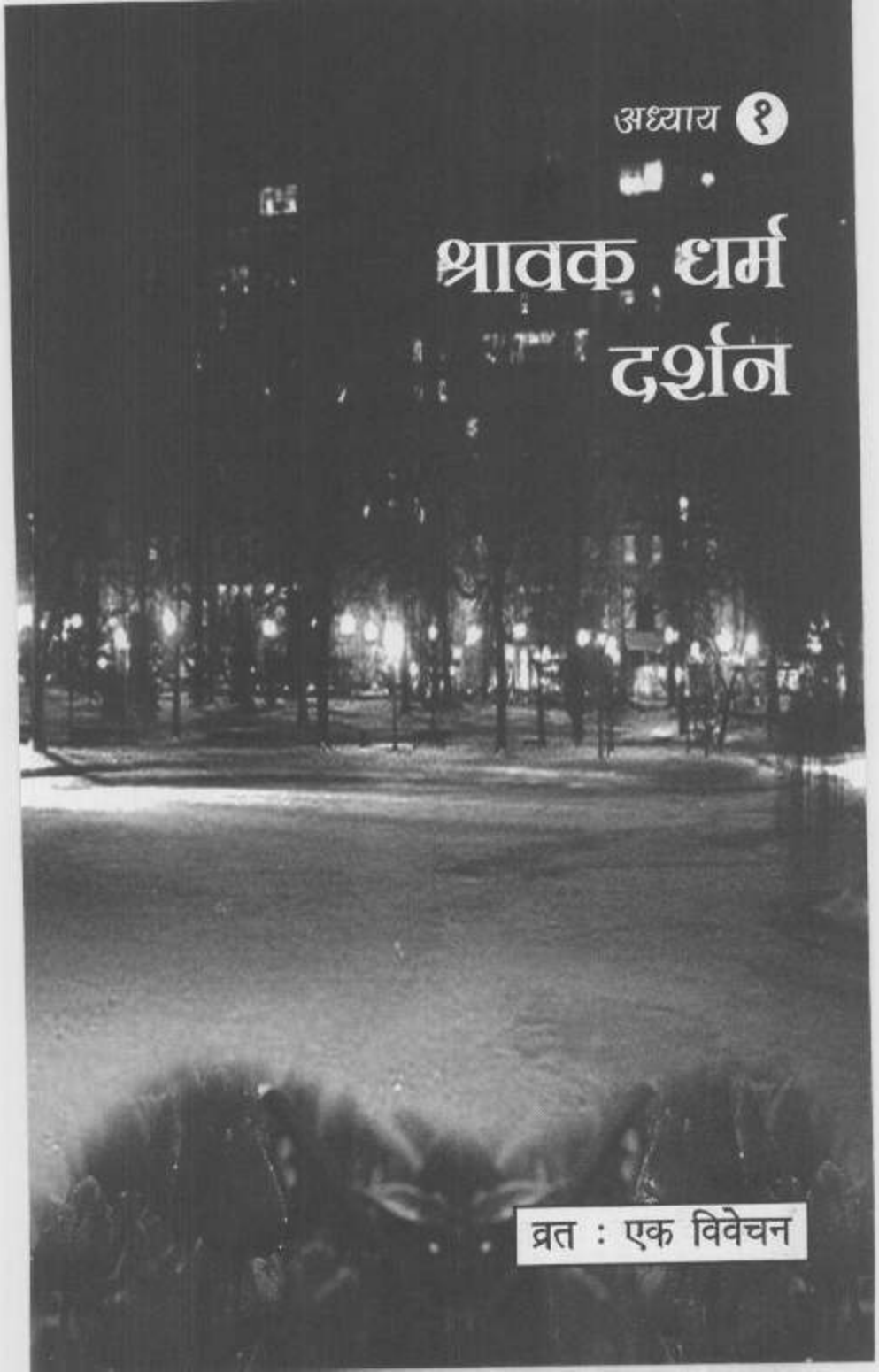
६. श्रावक का मूर्तिमान औदार्य : अतिथिसंविभागव्रत ५९६–६१८

आध्यात्मिक प्रौढ़ता का चिह्न ५९६, विश्वबन्धुत्व की

भावना का साकार रूप ५९६, आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए बारहवाँ व्रत आवश्यक ५९८, सेवाकार्य के अभ्यास के लिए बारहवाँ व्रत ५९८, दूसरों को परिलाभ देना ही इस व्रत का उद्देश्य ५९९, समाज का ऋण चुकाने के लिए बारहवाँ व्रत ६०१, समाज के प्रति दायित्व निभाने का व्रत ६०३, साधनों का केन्द्रीकरण नहीं, विकेन्द्रीकरण हो ६०६, पात्र का विचार अतीव आवश्यक ६०६, बारहवें व्रत की व्याख्या ६०७, बारहवें व्रत के चार अंग (विधि, द्रव्य, दाता और पात्र) ६०८, सुपात्रदान का फल ६०९, उत्कृष्ट सुपात्र न मिलने पर मध्यम व जघन्य सुपात्र को भी ६१०, सुपात्र संस्थाओं को दान : एक चिन्तन ६११, मध्यम और जघन्य सुपात्रों के लिए भी संविभाग ६११, सुपात्रों की श्रेणी के अनुसार यथायोग्य दान ६१३, अपने धन का यथायोग्य संविभाग करें ६१३, शंका और समाधान ६१६, बारहवें व्रत के पाँच अतिचार (१. सचित्त निक्षेपण, २. सचित्तपिधान, ३. कालातिक्रम ४. परव्यपदेश ५. मात्सर्य) ६१७।

७. **संलेखना : अन्तिम समय की अमृत-साधना** ६१९–६५१

मरण-कला ६१९, जीवनभर की साधना का निचोड़ ६२०, अन्त भला तो सब भला ६२०, मृत्यु : अन्तिम परीक्षा ६२१, आराधना-विराधना की कसौटी : मृत्यु ६२३, मृत्यु अवश्यम्भावी, किन्तु अनिश्चित ६२५, मृत्यु : कितनी सुखद, कितनी दुःखद ६२७, सकाममरण एवं अकाममरण ६२९, सत्रह प्रकार के मरण ६३०, समाधिमरण : चिन्तन, महत्व ६३१, असमाधिमरण का गाढ़ परिचय छूटना कठिन ६३१, मृत्यु के निमित्त और समाधि-असमाधि ६३२, मृत्यु के कारण—शारीरिक व्याधि, आकस्मिक दुर्घटना, उपसर्ग ६३२, शारीरिक व्याधि से मरण ६३२, आकस्मिक मरण के विभिन्न कारण ६३२, उपसर्गों के तीन भेद—दैवकृत, मनुष्यकृत और तिर्यंचकृत ६३३, स्वेच्छामरण के दो प्रकार—आत्महत्या और संथारा-समाधिपूर्वक देहत्याग ६३४, संलेखना : क्या, कब, कैसे, कहाँ ६३५, संलेखना की विधि और अवधि ६३७, संलेखना के तीन प्रकार—जघन्या, मध्यमा, उत्कृष्टा ६३७-३८, संलेखना विधि पहले से क्यों ६३८, संलेखना की भावना भी भवनाशिनी ६४०, समाधिमरण : संलेखना से या अन्य उपायों से ६४१, संलेखना-संथारा में कार्यकारण भाव है ६४२, संलेखना-मरण (संथारा) के प्रकार ६४४, भक्त-प्रत्याख्यान (संथारा) की विधि ६४४, संलेखना संथारा का प्रचलित पाठ ६४४-४५, संलेखना-संथारा में समत्व, ध्यान, त्याग ६४७, संलेखना-संथारा में कुछ विशिष्ट भावनाएँ ६४८, मृत्यु महोत्सव भावना ६४८, संलेखना के पाँच अतिचार ६४९, (१) इहलोकाशंसाप्रयोग ६५०, (२) परलोकाशंसाप्रयोग ६५०, (३) जीविताशंसाप्रयोग ६५०, (४) मरणाशंसाप्रयोग ६५०, (५) कामभोगाशंसाप्रयोग ६५० उपसंहार ६५१।


अध्याय १
श्रावक धर्म दर्शन
व्रत : एक विवेचन

व्रत : एक विवेचन

- ☐ मानव-जीवन की विशेषता
- ☐ व्रत-ग्रहण : स्वरूप और विश्लेषण
- ☐ व्रतनिष्ठा एवं व्रत-ग्रहण-विधि
- ☐ अणुव्रती, श्रमणोपासक और श्रावक

1

मानव-जीवन की विशेषता

☆

भारतीय धर्मशास्त्रों में एक स्वर से मनुष्य को ज्येष्ठ और सर्वश्रेष्ठ कहा है। इतना ही नहीं, इन्सान को भगवान महावीर ने 'देवाणुप्पिय' (देवों का प्यारा) कहा है। 'दुल्लहे खलु माणुसे भवे' कहकर मनुष्य जन्म की दुर्लभता बताई है।

प्रश्न होता है कि मानव-जीवन की इस ज्येष्ठता या श्रेष्ठता का मूल आधार क्या है? कई लोग कहते हैं कि मनुष्य शरीर ही सबसे बड़ा वरदान है, इन्सान के लिए। सृष्टि के समस्त प्राणियों से अगर मनुष्य की तुलना करें तो मनुष्य जीवन की उपलब्धियाँ इतनी प्रचुर हैं कि वैसी उपलब्धियाँ दुनिया में और किसी प्राणी को प्राप्त नहीं हैं। अन्य प्राणियों की और मनुष्यों की उपलब्धियों में जमीन-आसमान जितना अन्तर है। पशुओं को मनुष्यों जैसे उन्नत एवं उदार विचार नहीं मिले। पशुओं को केवल अपने ही पेट भरने और अपनी ही सुख-सुविधा की चिन्ता होती है, उसे दूसरे के दुःख का कोई विचार नहीं आता। किसी आदमी को भैंस सींग मारकर घायल करदे या कोई कुत्ता काट खाए तो किसी पशु को उस घायल मानव के प्रति हमदर्दी दिखाने या सहानुभूति का विचार नहीं आता। चार बैल पास-पास में खड़े हैं, उनमें से तीन को चारा डाला जाय और एक भूखा खड़ा रहे, ऐसी दशा में उस भूखे बैल का विचार उन तीनों बैलों को नहीं आता, क्योंकि पशु में विचार का विकास नहीं होता। जबकि मनुष्य इतना विचार कर सकता है कि कौन पीड़ित है, कौन घायल है, कौन दुःखी है? किसको मुझे सहायता देनी चाहिए? इसीलिए आद्य शंकराचार्य ने कहा है—

'आहारनिद्रादिसमं शरीरिषु, वैशिष्ट्यमेकं हि नरे विचारणम्'

—"आहार, निद्रा आदि बातें सभी प्राणियों में प्रायः समानरूप से पायी जाती हैं, किन्तु मनुष्य में अगर कोई विशेषता है तो विचार की है।" जो मनुष्य दूसरों को दुःखी देखकर पसीजता नहीं, जिसकी अन्तश्चेतना में पीड़ित को देखकर करुणा का झरना नहीं फूटता, वह मनुष्य नहीं, मनुष्य के रूप में पशु है। उसके हृदय से अभी पशुता गई नहीं है।

पशुओं को बलपूर्वक काम में जोत कर कोई उनसे कुछ लाभ भले ही ले ले,

पर उनमें स्वयं किसी का उपकार करने की सद्भावना प्रायः नहीं होती। उस भावना के अभाव में जो कार्य मनुष्यों के लाभ के लिए उनके द्वारा किये जाते है, वे पुण्यरूप नहीं बनते। कोई पशु दूसरों के हित के लिए अपने शरीर का उत्सर्ग करे तो उससे उसे पुण्यलाभ हो सकता है, मगर उसे विवश होकर बलात् शरीर त्यागना पड़े तो वह आत्मदानी या पुण्यशाली थोड़े ही कहलाएगा। मेघरथ राजा स्वेच्छा से कबूतर के बदले बाज को अपना मांस तोलकर देने को उद्यत हो गए, राजा दिलीप ने ऋषि की नन्दिनी गाय के बदले सिंह को अपना शरीर सौंप दिया। इस प्रकार पर-हितार्थ शरीर समर्पण करने वाले पुण्यभागी एवं इतिहास प्रसिद्ध भी हुए। इसी प्रकार पशुओं से बलात् दूसरों ने कुछ लाभ उठा लिया तो उससे उन्हें सद्गति का अधिकार नहीं मिल जाता। कारण यह है कि उनमें भावना एवं बौद्धिक विकास का अभाव होने से सेवा कार्य करते हुए भी उन्हें यथेष्ट पुण्य-फल से वंचित रहना पड़ता है। देव तो स्वयं सुखभोग में मग्न रहते हैं। वहां कोई दुःखी, दरिद्री ही नहीं है, तब उनको सेवा का अवसर ही कैसे प्राप्त होगा? जहां कोई समस्याएँ नहीं, वहां सुलझाने और विकास करने का अवसर ही कहां मिलेगा? देव भौतिक वैभव और सुख सामग्री में मनुष्य से बढ़े-चढ़े होने पर भी आध्यात्मिक विकास इतना नहीं कर सकते। आध्यात्मिक विकास की दौड़ में मानव देवों से आगे हैं। इसलिए देवगति में सुख-सुविधाएँ अत्यधिक होने के कारण देव धर्माचरण नहीं कर पाते।

केवल मनुष्ययोनि में ही उभयपक्षीय सुविधाएँ प्राप्त हैं। मनुष्ययोनि में सुख-दुःख दोनों ही स्थितियाँ प्राप्त करने की धूप-छाँव उपलब्ध होती है। यहाँ सर्दी-गर्मी, नमकीन-मिठाई की तरह दोनों प्रकार का एक-दूसरे का पूरक सहायक स्वाद उपलब्ध होता है। सदा सुख ही भोगना पड़े तो ऊब जाता है, इसी प्रकार सदा दुःख की स्थिति भी असह्य हो जाती है।

मनुष्य चाहे तो शुभ कर्म कर सकता है, चाहे तो अशुभ कर्म कर सकता है। भावना की चेतना उसे परिपूर्ण मात्रा में प्राप्त है। उसके सहारे वह धर्माचरण भी कर सकता है और कर्मों की अच्छाई-बुराई का मूल्यांकन भी कर सकता है। मनुष्य बड़ा सौभाग्यशाली है कि उसे उन्नत हृदय मिला है, विचार करने के लिए। मनुष्य गति में दुःखी और पिछड़े हुए जीव भी कम नहीं हैं, जिनकी सेवा करके उसे पुण्य लाभ करने की सुविधा प्राप्त है, धर्माचरण भी करना चाहे तो कर सकता है। सुख और दुःख दोनों के ताने-बाने से मानव-जीवन बुना हुआ है, इसलिए मनुष्य को दुःखों से बचने और सुखों को बढ़ाने का अवसर भी प्राप्त है। वह चाहे तो उद्देश्य की दिशा में पुरुषार्थ करते हुए आत्मिक-चेतना को बढ़ाते-बढ़ाते उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँच सकता है। इसीलिए तो देवता मनुष्ययोनि में जन्म लेने के लिए तरसते हैं।

सुविधाओं की दृष्टि से देखें तो मानव को जो सुविधाएँ प्राप्त हैं, वे पशु-पक्षियों की दृष्टि से तो बढ़ी-चढ़ी हैं ही, देवताओं की अपेक्षा भी एक माने में वे बढ़ी-चढ़ी हैं।

वाणी के अभाव में दूसरे जीवों को अपनी अभिव्यक्तियाँ भीतर ही भीतर दबाये रखनी पड़ती हैं, वे अपनी मनोभावनाएँ दूसरों से व्यक्त नहीं कर सकते। पशुओं को वह बुद्धि भी प्राप्त नहीं है जिससे वे अपने श्रम की तुलना में यथोचित सुविधाएँ भी प्राप्त कर सकें। पूरे दिन परिश्रम करके वे अपने पेट भरने मात्र का उपार्जन कर पाते हैं। बेचारे पशु-पक्षियों के पास आत्मरक्षा एवं शरीररक्षा के लिए भी साधन नहीं हैं। वे नंग-धड़ंग रहते हैं, पेड़ के नीचे; या फिर मालिक की इच्छा हो तो उसे सर्दियों में कपड़ा ओढ़ा दिया जाता है और घास-फूंस के छप्पर में बाँध दिया जाता है। कसाईखानों में प्रतिदिन लाखों की संख्या में गाजर-मूली की तरह काटे जाते हैं। पेट भरने और जीवन भर में दस-बारह बार कामसेवन करने की क्षणिक तृप्ति के अतिरिक्त उनके सन्तोष का और क्या साधन है? पशु-पक्षियों की तुलना में मनुष्यों को बोलने, गाने, पढ़ने-लिखने, पथ्यकारक स्वादिष्ट एवं सुपाच्य भोजन खाने, मकान, पलंग, मनोरंजन, स्त्री-पुत्र-माता-पिता आदि कौटुम्बिक सम्बन्ध बाँधने आदि के विपुल साधन प्राप्त हैं।

इस संसार में पुरुषार्थी, प्रतिभाशाली, धुन के धनी, विद्वान्, बलवान और धनाढ्य व्यक्तियों की कमी नहीं, परन्तु वे अपनी इन विशेषताओं का उपयोग अपनी भौतिक सुख-समृद्धि बढ़ाने, वासना, तृष्णा एवं अहंकार की पूर्ति करने तथा ऐश-आराम को बढ़ाने में ही करते हैं, तो इसे मानवोचित रीति नहीं, पाशविक प्रवृत्ति कहना चाहिए। पशु अपनी ही बात सोचते और अपने लिए ही प्रवृत्ति करते हैं। यही भावना स्तर मनुष्यों का भी रहे तो उनमें और पशुओं में अन्तर ही क्या रह जाएगा?

प्रायः मनुष्य दो प्रकार का जीवन जीने का प्रयत्न करते हैं—एक सामान्य, दूसरा विशेष। सामान्य जीवन से तात्पर्य है—जैसा भी ढर्रा चल रहा है, उसे चलने देना। वह गलत हो तो भी उसमें रद्दोबदल करने की बात न सोचना, न करना। लाभ हो गया तो हर्ष से फूल उठे, हानि हो गई तो दुःख मना लिया। प्रसन्नता मिल गई तो खुश हो गए तकलीफ आ पड़ी तो हाय-तोबा मचाकर सह ली भोजन, आवास, वस्त्र आदि की सुविधा हो गई तो अपने पुरुषार्थ की डींग हाँकने लगे, और इनकी असुविधा हुई तो भाग्य, भगवान्, समाज और सरकार आदि को कोस लिया और अपने मन को मना लिया। मतलब यह है कि ऐसे लोगों के जीवन का न तो कोई शुद्ध उद्देश्य होता है, न तदनुसार गति-प्रगति या सुव्यवस्था से टेढ़ा-मेढ़ा, ऊबड़-खाबड़, उलटा-सीधा जो भी पथ मिल गया, उसी पर चलते जाते हैं। न कभी वे अपना अन्तर्निरीक्षण-परीक्षण करते हैं, न आत्म-विकास के बारे में सोचते हैं।

दूसरा जीवन विशेष जीवन होता है। इसका स्वरूप होता है—एक सुनिश्चित व्यवस्था और विधि के साथ उद्देश्यपूर्ण जीवन बिताना। ऐसे जीवन में ढर्रे पर चलते रहने का संतोष नहीं होता, देख-परखकर गलतियों और भूलों का परिमार्जन करते हुए उद्देश्य के अनुसार चलना होता है। ऐसे जीवन में भी अनुकूल परिस्थितियाँ

आने पर व्यक्ति जागृत और अनासक्त रहता है और प्रतिकूल परिस्थितियों में समता, साहस, उत्साह के साथ कदम बढ़ाता है। विकट परिस्थितियों में अपने को फिट करने का माद्दा ऐसे जीवन में होता है। कलापूर्ण जीवन विधि का विकास होता है, और समाज में सम्मानपूर्वक जीवन जीने की महत्त्वाकांक्षा होती है।

प्रथम दर्जे की जीवन-पद्धति वस्तुतः मानवीय जीवन पद्धति नहीं, वह एक तरह से पशु पद्धति है। पशुओं में बुद्धि का विकास न होने से उन्हें किसी भी परिस्थिति विशेष में असन्तोष नहीं होता, जैसी जो कुछ स्थिति प्राप्त है, उसी में वे अपना काम चलाते रहते हैं। इसी प्रकार पशु पद्धति के लोगों को भी समय का प्रवाह जिधर हाँककर ले जाता है, चल पड़ते हैं। परिस्थितियों ने मारा, चुपचाप रो लिये। समय ने धकेला, गिर पड़े। अवसर या संयोग मिला, उठकर चल पड़े, अन्यथा वहीं पड़े-पड़े एड़ियाँ रगड़ते रहे। यह भी कोई जीवन है। पशु की तरह खाने, पीने, सोने और जीवन के उद्देश्य को ओझल करके जिंदगी पूरी कर देने में सुरदुर्लभ मानव जीवन को खो देना, परले सिरे की मूर्खता है।

मानव-शरीर में विचरण करने वाले नरपशुओं की भी आज दुनिया में कमी नहीं है, जिस ढंग से पशु, पिशाच या असुर सोचते हैं, वही तरीका वे अपनाते हैं। अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का बड़े से बड़ा अहित करते हुए उन्हें लज्जा नहीं आती। आलस्य और व्यसनों के चक्कर में पड़कर वे अपना सब कुछ बर्बाद करते रहते हैं, पर उन्हें यह नहीं सूझता कि हम कुछ अनुचित बात कर रहे हैं, जिन्हें अपने भविष्य की चिन्ता नहीं, अपनी सुख-शान्ति के लिए खोज नहीं, अपनी प्रगति और आत्मिक उन्नति की चाह नहीं, उनमें और पशुओं में क्या अन्तर हो सकता है।

इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए मनुष्य की देव और तिर्यंच से भिन्नता अथवा मनुष्य की तिर्यंच या देव से विशेषता प्रतिपादित करते हुए नीतिकारों ने कहा है—

आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च,
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो,
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

आहार, निद्रा, भय और कामवासना सेवन ये चारों बातें मनुष्यों और पशुओं में समानरूप से पायी जाती हैं। मनुष्य भी भूख लगने पर भोजन करता है और पशु भी भूख लगने पर कुछ न कुछ चरता है या खाता है। श्रम से थक जाने पर मनुष्य भी नींद लेता है और पशु भी। किसी भयावह घटना या बात को देख-सोचकर मनुष्य भी डर जाता है और पशु भी। और कामवासना की ओर मनुष्य का भी झुकाव होता है और पशु का भी। बल्कि आहार, नींद, भय और कामसेवन में आज के अधिकांश मनुष्य पशु को भी मात कर देते हैं। ये चारों बातें जैसे पशुओं में होती हैं, वैसे

मनुष्यों में भी पाई जाती है। इसलिए मनुष्यों में पशुओं से अगर कोई विशेषता है तो धर्म की ही विशेषता है। धर्म ही मनुष्य को पशु से भिन्न प्रदर्शित करता है। धर्म-मर्यादाओं के पालन के कारण ही मनुष्य की अभिव्यक्ति पशु से भिन्न होती है।

जिन मनुष्यों में धर्म-मर्यादा नहीं है, जो धर्म के आचरण से रहित हैं, वे पशु के समान हैं। उनमें और पशुओं में कोई अन्तर नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि अगर मनुष्य अपने आहार-विहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि पर कोई मर्यादा नहीं करता है, धर्म का अंकुश नहीं लगाता है, और उच्छृंखल ही चलता है तो वह पशु से भी गया-बीता है। धर्माचरण करने पर ही मनुष्य को पशु से भिन्न कहा जा सकता है।

जैसे मनुष्यों को पशुओं से भिन्न करने वाला धर्म है, वैसे ही देवों से मनुष्य को भिन्न करने वाला अगर कोई है तो धर्म ही। देव धर्म के विषय में चाहे जितना सोच लें, समझ लें, ज्ञान में भले ही आगे बढ़ जायें, परन्तु धर्माचरण में मनुष्य से बहुत पीछे हैं। पीछे क्या, धर्माचरण में बिलकुल शून्य हैं, वे सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं, अवधिज्ञान तक ज्ञान की दौड़ लगा सकते हैं। लेकिन त्याग, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान नहीं कर सकते। भला, भोगों के अंबार के बीच रात-दिन रहने वाले त्याग के वातावरण से दूर, त्यागमूर्ति साधु-साध्वियों या तीर्थंकरों से अतिदूर देव कैसे त्याग-प्रत्याख्यान कर सकते हैं? वे त्याग, तप, व्रत, नियम से युक्त धर्मप्राण मानव की प्रशंसा कर सकते हैं, उसे प्रतिष्ठा दे सकते हैं, उसे धर्म में सहायता दे सकते हैं, उसकी सेवा कर सकते हैं, पर स्वयं त्याग, व्रत आदि ग्रहण नहीं कर सकते।

तात्पर्य यह है कि पशुओं, पक्षियों तथा देवों से भी बढ़कर मानव-जीवन है। इसी श्रेष्ठता के कारण मानव संसार का सर्वोत्कृष्ट प्राणी सिद्ध होता है। मनुष्य को अज्ञानान्धकार से निकलकर मोहनिद्रा का त्याग करना चाहिए और अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए उत्तमोत्तम बनकर, उत्तम कर्तव्य द्वारा सर्वोत्तम परमपद पाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। अपनी विशेषता साबित करने के लिए अपना प्रत्येक विचार, वचन और कार्य धर्माचरण से युक्त, धर्ममर्यादा से अनुप्राणित करना चाहिए।

परन्तु इसके पहले मानव को अपनी श्रेष्ठता के विषय में जो भ्रान्तियाँ हैं, उन्हें दूर करना चाहिए। श्रेष्ठता का अहंकार भी उसके मन में नहीं होना चाहिए। अन्यथा श्रेष्ठता का मद भी जाति, कुल आदि के मद की तरह पतन का कारण बन जाएगा। श्रेष्ठता की रक्षा के लिए उसे धर्मपालन करते हुए सच्चा मनुष्य बनना चाहिए। श्रेष्ठता के दायित्व को निभाने के लिए उसे संसार को स्वर्गोपम सुख-शान्ति का भंडार बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। अतः मनुष्य को सर्वप्रथम अपनी श्रेष्ठता का वास्तविक स्वरूप समझने का प्रयास करना चाहिए।

बुद्धि में बढ़कर होने से ही श्रेष्ठ नहीं

प्रश्न होता है कि क्या मनुष्य दूसरे प्राणियों की अपेक्षा बुद्धि में बढ़कर होने

से ही श्रेष्ठ है ? अपनी प्रखर बुद्धि द्वारा विज्ञान की सहायता से मनुष्य ने अगणित सुख-सुविधाएँ प्राप्त कर ली हैं। स्विच दबाते ही कमरा प्रकाश से जगमगा उठता है, पंखा फरफर करता हुआ हवा करने लगता है, नल खोलते ही गंगा-जमुना आपके चरण-प्रक्षालन के लिए तैयार हो जाती है। धरती पर चलना हो, आकाश में उड़ना हो या पानी पर तैरकर चलना हो तो मनुष्य को अपने पैरों को तकलीफ देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। रसोई बनाने, कपड़े धोने, सफाई करने आदि प्रत्येक कार्य के लिए विविध वैज्ञानिक यंत्र मनुष्य की सेवा में उपस्थित रहते हैं। मनुष्य को हाथ-पैर हिलाने की जरूरत नहीं। परन्तु मैं आपसे पूछता हूँ कि इतना सब होते हुए भी जब तक मनुष्य अपनी बुद्धि से कभी यह विचार नहीं करता कि संसार में अशान्ति और दुःख क्यों हैं ? इन दुःखों और अशान्ति को दूर करने के लिए मैं क्या कर सकता हूँ ? तब तक मानव को बुद्धि से श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता।

यदि बुद्धिवैभव पाने मात्र से ही मनुष्य को ज्येष्ठ या श्रेष्ठ कहा जाय, तब तो वे वैज्ञानिक, जिन्होंने अणुबम बनाए और हिरोशिमा एवं नागासाकी पर गिराकर दोनों नगरों के धन-जन को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला, वे प्राणी हत्या करने वाले मानव भी श्रेष्ठ ज्येष्ठ कहलाने लगेंगे।

आइंस्टाइन एक बहुत बड़े वैज्ञानिक हो गए हैं। उनके पास एक बार कुछ पत्र प्रतिनिधि आए और उन्होंने उनसे पूछा—"विज्ञानाचार्य ! आप इतने बड़े विद्वान् और बुद्धिनिधान हैं, क्या हमें यह बतायेंगे कि संसार में इतने दुःख हैं, इतनी अशान्ति है, उसे दूर करने का कोई उपाय है ?"

आइंस्टाइन बोले—"हाँ है, और वह केवल एक ही उपाय है कि श्रेष्ठ मनुष्य उत्पन्न किये जाएँ।"

इतने महान् वैज्ञानिक और बुद्धि के धनी ने यह नहीं कहा कि विज्ञान के अमुक आविष्कारों से सुख-शान्ति हो जाएगी। इसीलिए कि कोरे वैज्ञानिक आविष्कारों या विज्ञान से प्राप्त साधनों से ही सुख मिल जाता तो दुनिया में आज इतने संघर्ष क्यों होते ? धर्म-सम्प्रदाय, जाति, वर्ग, प्रान्त और राष्ट्र के नाम पर मानव मानव पर कहर क्यों बरसाता ? बल्कि वैज्ञानिक आविष्कारों के बाद मानव उत्तरोत्तर अशान्त और दुःखी होता चला गया है। अगर मानव कोरी बुद्धि से ही श्रेष्ठ माना जाता तो संसार में इतनी पीड़ा, कलह और दुःख क्यों होते ?

बुद्धि वैभव होते हुए भी विश्व दुःखी क्यों ?

वर्तमान विश्व पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो हमारे सामने मानव जाति का चित्र बहुत ही विचित्र रूप में आता है। वर्तमान मानव प्रायः उच्छृंखल, उद्दण्ड, संयमहीन, स्वच्छन्द एवं अनियन्त्रित हो गया है। पाश्चात्य देशों के सम्पर्क से भारत-वर्ष जैसे आध्यात्मिक देश में भी अब पद-पद पर इसी प्रकार की उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता, स्वच्छन्दता और संयम-नियम के बन्धनों से रहित अनियंत्रितता एवं

अनियमितता दृष्टिगोचर होती है। यहाँ भी युवक-युवतियों में पश्चिम की-सी खुली छूट का दौर नजर आता है। क्या रात्रि और क्या दिन कोई अंकुश नहीं, कोई लगाम नहीं, कोई खटका नहीं और कोई नकेल नहीं। मनुष्य आज मृग की तरह बेतहाशा भोगवाद की ओर भागा जा रहा है। इतना सब होने पर भी मनुष्य की भोग-वासना की प्यास बुझी नहीं है। वह चाहता है, संसार की जितनी भी अच्छी चीजें मिल जायँ उनका उपभोग कर लूँ। जगत् में जो भी दुर्व्यसन कहे जा सकते हैं, उनका खुले आम सेवन कर लूँ; विश्व के सभी खाद्य और पेय पदार्थों का आस्वादन कर लूँ। जितनी भी धोखेबाजी, बेईमानी, चार-सौबीसी, झूठ-फरेब, जालसाजी, शोषण, अन्याय-अनीति हो सकती हो, उतनी करके एक मात्र धन कमा लूँ, और फिर उस धन से जितने भी ऊँची से ऊँची सुख की सामग्री, सुविधाओं की चीजें प्राप्त की जा सकें, कर लूँ। और चाहे जितनी सूक्ष्महिंसा, शोषण, पीड़न, अत्याचार एवं अन्याय के रूप में हो सके, करके भी अपनी प्रभुता, अपनी सत्ता एवं अपना आधिपत्य जमाया जा सके, जमा लूँ, वस्तुएँ भी ढेर की ढेर संग्रह कर सकूँ, उतनी कर लूँ, धन भी खूब जमा कर लूँ, मकान भी जितने बना सकूँ, बना लूँ। आखिर यह धन, ये साधन, यह सुख-सामग्री, यह ठाटबाट किस काम का ? इस प्रकार मानव आज भौतिक दिशा में अंधाधुन्ध प्रवृत्ति करता जा रहा है। उसे अवकाश नहीं है, अपनी आत्मा के सम्बन्ध में सोचने का। उसे फुरसत नहीं है, किसी सन्त की बात सुनने और संयम-नियम की बात स्वीकार करने की। और न ही वह आत्म-शक्तियों की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में सोचता है।

अगर बुद्धि के कारण ही मनुष्य ज्येष्ठ-श्रेष्ठ समझा जाता, तो इतना बुद्धि वैभव होते हुए भी वह जगत् को लड़-झगड़कर अशान्त और दुःखमय क्यों बनाता ?

आइन्स्टाइन की भाँति वैज्ञानिक तो नहीं, किन्तु विज्ञान के एक भक्त थे—मैक्सिम गोर्की। एक जगह भाषण देते हुए उन्होंने कहा था—"देखिए ! विज्ञान ने कितने सुखसाधन उत्पन्न कर दिये हैं। पहले एक दीपक जलाने के लिए कितना परिश्रम करना पड़ता था ? अब सिर्फ बटन दबाने से प्रकाश हो जाता है। महीनों की यात्रा घंटों में और घंटों की यात्रा मिनटों में होने लगी है।" इस प्रकार की और कितनी ही बातें उन्होंने बताई, तभी एक ग्रामीण ने उठकर कहा—"श्रीमान् जी ! यह सब कुछ सच है, लेकिन क्या विज्ञान ने मनुष्य को मनुष्य बनना भी सिखाया है ?"

गोर्की इसका उत्तर न दे सके। विज्ञान ने मनुष्य को मनुष्य बनना सिखाया होता तो ये लड़ाई-झगड़े, दंगे-फसाद, युद्ध, लूटपाट, झूठ-फरेब, घृणा, अशान्ति और नाना दुःख न होते। आज विभिन्न राष्ट्रों, जातियों, वर्गों, प्रान्तों तथा धर्म-सम्प्रदायों के लोगों में प्रायः यह होड़ लग रही है कि कौन दूसरे को दबा सकता है ? कौन दूसरे पर आधिपत्य जमा सकता है ? कौन बाहरी प्रतिस्पर्धा और विज्ञापन में दूसरे से बाजी मार सकता है ? कौन अपने झण्डे को सबसे ऊँचा फहरा सकता है ? काश ! ये प्रतिस्पर्द्धाएँ या होड़ मानवता और चरित्र-निर्माण द्वारा विश्व शान्ति स्थापित

करने में आगे बढ़ने की होती तो कितना अच्छा होता ! सीधी-सी बात यह है कि विज्ञान से सुख और शान्ति प्राप्त नहीं होती। सुख-शान्ति अच्छे मनुष्यों से उत्पन्न होती है और अच्छे मनुष्य बनाना विज्ञान के बस की बात नहीं।

राजनीति से जगत् में सुख-शान्ति सम्भव नहीं

तब प्रश्न होता है—क्या राजनीति संसार में सुख-शान्ति उत्पन्न करने में समर्थ है ? इसका उत्तर भी नकार में आयेगा। क्योंकि राजनीतिक क्षेत्र में विश्व में आज तीन प्रमुख वाद हैं—पूंजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद। ये तीनों ही परस्पर एक दूसरे के साथ वाद-विवाद एवं लड़ाई-झगड़ा करके एक दूसरे को नष्ट कर देने पर तुले हुए हैं। तीनों वादों का लक्ष्य एक होते हुए भी ये तीनों परस्पर संघर्ष कर रहे हैं। वस्तुतः राजनीति में सत्ता-प्राप्ति ही सबका लक्ष्य रहता है, राष्ट्र की या जनता की सेवा गौण है। वे रोटी-रोजी की समस्या को हल करने का दावा तो करते हैं, लेकिन उनसे यह हल होता नहीं। राजनीतिज्ञों का पारस्परिक संघर्ष या जनता को दो भागों में बांटकर लड़ाना ही मनुष्यों के लिए अधिक दुःख या अशान्ति को न्योता देने वाला है।

दूर क्यों जाएँ ? हमारे देश की राजनैतिक पार्टियों को ही देख लीजिए। द्विभाषी बम्बई राज्य के समय राजनैतिक पार्टियों ने गुजराती-महाराष्ट्रियों को एक-दूसरे से लड़ा दिया। घर जले, दूकानें जलीं और निर्दोष लोगों का खून बहाया गया। उन दिनों बम्बई में आस्ट्रेलिया का एक परिवार एक होटल में ठहरा हुआ था। परिवार के एक बालक ने नीचे बाजार में लोगों को परस्पर लड़ते हुए देखा तो अपने पिता से पूछा—"ये लोग आपस में लड़ते क्यों हैं, पिताजी ? क्या ये आपस में शान्ति से नहीं रह सकते ? पिता ने उत्तर दिया—"बेटा ! ये मनुष्य नहीं हैं, गुजराती या मराठी हैं। मनुष्य होते तो यों कुत्तों की तरह आपस में लड़ते ही क्यों ? इसलिए राजनैतिक पार्टियाँ मनुष्य को अलग-अलग घेरों में बांट तो सकती हैं, मनुष्य के हृदय से मनुष्यता निकालकर उसे जानवर तो बना सकती हैं, परन्तु मनुष्य नहीं बना सकतीं।

मनुष्य का निर्माण योजनाओं से भी असम्भव

शासन के द्वारा चलाई जाने वाली ये पंचवर्षीय योजनाएँ भी मनुष्य नहीं बना सकतीं। ये अन्न-वस्त्र का उत्पादन कर सकती हैं, बाँधों, नहरों या पुलों का निर्माण कर सकती हैं, अच्छे मकान, बाग-बगीचे तथा मनुष्य की सुख-सुविधा के लिए भिन्न-भिन्न चीजों का निर्माण कर सकती हैं, पर सच्चे मनुष्य का निर्माण करना इनके भी बूते से बाहर है।

जातियाँ तो मानवता का उच्छेद करती है

तब क्या ये जातियाँ मनुष्य को मनुष्यता का पाठ पढ़ा कर सच्चा मानव बना सकती हैं ? जिससे संसार में सुख-शान्ति बढ़े। नहीं, कदापि नहीं ! ये जातियाँ तो आज तक मनुष्यों को परस्पर लड़ाने और घृणा, द्वेष तथा वैरविरोध फैलाने का ही

प्रायः काम करती रहीं। इन्सानियत का पाठ पढ़ाया होता तो हिन्दुस्तान आपस में लड़कर विदेशी शासकों का गुलाम न बनता, विदेशी लोगों की हुकूमत इस पर न होती। जाति-पांति के भूत ने तो भारत को आपस में लड़ा कर कमजोर कर दिया।

कुछ वर्षों पहले की बात है। केरल में हिन्दू लोग आपस में बंटे हुए थे। उनके हृदय में एक-दूसरे के प्रति मेल-मिलाप की नहीं, घृणा और परायेपन की भावना थी। वहाँ नम्बूदरी, अय्यर, नायर, तैय्या और न्याडी ये पाँच जातियाँ प्रमुख हैं। इन्हें एक-दूसरे से बात करनी हो तो सीधे बातचीत नहीं होती। इन जातियों की कुरूढ़ि यह थी कि यदि कोई नम्बूदरी ब्राह्मण सड़क पर जा रहा हो और उसे न्याडी से कोई बात करनी हो तो दोनों में से कोई भी सीधी बातचीत नहीं कर सकता तथा कोई सीधा ऊत्तर भी नहीं दे सकता! दोनों अपने बीच में कोई ईंट पत्थर या मिट्टी का ढेला अथवा और कुछ न मिले तो नम्बूदरी अपना जूता ही रख लेता है और उस जूते से पूछता है—"क्यों रे जूते! तूने मेरे बच्चे को स्कूल जाते हुए देखा है?" और न्याडी हाथ जोड़कर उत्तर देता है—हाँ, जूताजी! मैंने आपके लड़के को स्कूल जाते देखा है।" जहाँ इस प्रकार से परस्पर घृणा और द्वेष भावना जातियों में परस्पर भरी हो, वहाँ मानवता आठ-आठ आँसू रोयेगी नहीं तो क्या करेगी?

सम्प्रदाय भी इन्सान को मानवता का पाठ नहीं पढ़ाते

धर्म-सम्प्रदाय भी मानवता के टुकड़े-टुकड़े प्रायः करते आए हैं। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान-विभाजन के समय हिन्दू-मुसलमानों ने अपने-अपने क्षेत्रों में एक-दूसरे के साथ खून की होली खेली है। औरंगजेब ने हिन्दुओं और सिक्खों को जबरन मुसलमान बनने को विवश किया। क्या यह मानवता थी? केवल मजहबी दीवानेपन के सिवाय और क्या था?

इसलिए जातियों, धर्मसम्प्रदायों या वर्गों के वश की बात नहीं कि वे मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनायें। बुद्धि तो इन सबके पास भी है, पर इससे क्या हुआ? मनुष्यता जो नहीं है।

धन-सम्पत्ति के कारण मानव श्रेष्ठ नहीं

दूसरा सवाल यह उठता है कि क्या धन-सम्पत्ति के कारण मनुष्य दूसरे प्राणियों से ज्येष्ठ-श्रेष्ठ माना जा सकता है? इसका उत्तर भी हम इन्कार में देते हैं। धन-सम्पत्ति और वैभव का अंबार क्या रावण और दुर्योधन के पास नहीं था? जैन इतिहासकार कहते हैं—प्राचीनकाल में लंका और द्वारिका ये दोनों सोने की नगरियाँ मानी जाती थीं। क्या केवल धन-वैभव के कारण मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना जाय, तब तो सांपों को भी सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना जाना चाहिए, जो सदा धन के विशाल खजाने पर अपना फन फैलाए बैठे रहते हैं। ईरान के उन अरबपतियों को या अमेरिका के उन धनकुबेरों को सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहना चाहिए; पर ऐसा नहीं।

श्रेष्ठता का मापदंड भारतीय संस्कृति में धन-वैभव को कतई नहीं माना गया। धन तो वेश्या के पास भी अपार होता है, सिनेमा के नर्तक-नर्तकियों या तारक-तारिकाओं के पास भी अपार धन होता है, कसाई के पास भी धन की कमी नहीं होती, पर इन सबका जीवन उत्कृष्ट और धर्ममय नहीं होता, इसलिए धन श्रेष्ठता का प्रतीक नहीं हो सकता।

बल भी श्रेष्ठता का प्रतीक नहीं

बल भी मानव की ज्येष्ठता या श्रेष्ठता का प्रतीक नहीं हो सकता। बल में तो मनुष्य की अपेक्षा हाथी, सिंह, गेंडा, शतुर्मुर्ग आदि बढ़कर हैं। इसलिए बल की अपेक्षा से भी मानव को अन्य प्राणियों से ज्येष्ठ-श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता।

सत्ता, महत्ता और वित्त—इन तीनों भौतिक उपकरणों की विपुलता के आधार पर भी क्या मानव को ज्येष्ठ या श्रेष्ठ माना जा सकता है? मैं कहता हूँ, कदापि नहीं। यदि ऐसा होता तो रावण, कंस और दुर्योधन मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ घोषित किये जाते। परन्तु भारतीय संस्कृति का इतिहास इन्हें मनुष्य न कहकर राक्षस और पिशाच कहता है। उस युग के इन तानाशाहों के पास धन-वैभव और सत्ता की कोई कमी नहीं थी, लेकिन सच्चे अर्थों में वे मानव नहीं थे। यही कारण है कि केवल सत्ता, धन-वैभव एवं महत्ता किसी मानव की ज्येष्ठता-श्रेष्टता का कारण नहीं है।

लम्बा-चौड़ा परिवार भी श्रेष्ठता का परिचायक नहीं

इसके पश्चात् एक और सवाल प्रस्तुत किया जाता है कि क्या लम्बा-चौड़ा परिवार होना मानव का ज्येष्ठ-श्रेष्ठ होने का आधार है? इसका उत्तर भी मैं इन्कार में देता हूँ। लम्बा-चौड़ा परिवार होना कोई मानव की श्रेष्ठता का लक्षण नहीं है। लम्बा-चौड़ा परिवार तो दुर्योधन का भी था, सगर का भी था, उससे क्या हुआ? जिसका परिवार मानवता की दृष्टि से पिछड़ा हुआ हो, आत्म-विकास की साधना से शून्य हो, उसे श्रेष्ठ मानव कैसे कहा जा सकता है। लम्बा-चौड़ा परिवार तो सुअरों, कुत्तों एवं चूहों का भी होता है, क्या इसी से वे श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं?

आत्मसम्पदाहीन मानव श्रेष्ठ नहीं

निष्कर्ष यह है कि शारीरिक दृष्टि से मनुष्य कितना ही बली क्यों न हो जाय, बौद्धिक दृष्टि से वह कितना ही तर्कशील क्यों न हो, धन के अंबार भले ही लग जायें, लम्बा-चौड़ा परिवार ही क्यों न हो जाय या चाहे वह सत्ताधीश सम्राट या मंत्री ही क्यों न बन जाय, आत्मसम्पदा के अभाव में वह मणिविहीन सर्प की तरह अर्द्ध-विकसित या अविकसित कहलाएगा। आत्मबल की उपलब्धि का आंशिक सुख भी करोड़ों सांसारिक सुखों से बढ़कर होता है। आत्मिक सम्पदाओं वाले नेतृत्व करते हैं, जनता को मार्ग दर्शन भी देते हैं। निर्धन और निःस्पृह त्यागी सन्त होने पर भी बड़े-बड़े सत्ताधीश या लक्ष्मीनन्दन भी उनके चरण चूमते हैं, उनसे दया की भीख माँगते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य की महानता या श्रेष्ठता बाह्य नहीं,

आन्तरिक है। उसकी आत्म-शक्तियों की अभिव्यक्ति गुणविकास पर अवलम्बित हैं। आन्तरिक सम्पदाओं के आधार पर ही उसकी श्रेष्ठता प्रमाणित होती है। भौतिक सम्पदाएं तुच्छ हैं, नगण्य है, अल्पकाल तक महानता या बड़प्पन का क्षणिक आभास बताकर वे नष्ट हो जाती हैं।

व्यक्तिगत जीवन में भी कोई व्यक्ति कितना ही स्वस्थ, रूपवान, विद्वान्, धनवान एवं सत्तासम्पन्न क्यों न हो जाय, उससे केवल भौतिक सुख-सुविधाएँ ही उसे मिल सकती हैं, और उनका रस भी तभी तक रहता है, जब तक आकांक्षा एवं अतृप्ति बनी रहती है। जहां सदा-सर्वदा सुस्वादु व्यंजन पड़े रहते हों या मिल जाते हों, वहाँ उसे इन उपलब्धियों में क्या आनन्द मिलेगा ? वे स्वादिष्ट भोजन भी उसे नीरस एवं भाररूप प्रतीत होंगे। सन्तानें अधिक होने पर व्यक्ति को नये बच्चे का पैदा होना बुरा लगता है। धन का अभाव न हो, अन्धाधुंध पैसा बढ़ जाय तो उसकी सुरक्षा, ऐयाशी, विद्वेष, दुर्व्यसनों में व्यय, पतन आदि की अनेक हानिकर समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। अतिसौन्दर्य एवं बढ़ा हुआ स्वास्थ्य भी चारित्रिक पतन या अहंकार उत्पन्न करता है।

जीवन की सुन्दरता बाह्य वैभव में नहीं आन्तरिक वैभव में है

ऊँची कोठी, सुसज्जित कमरे, सुन्दर वस्त्र, धन से छनाछन करती तिजोरियाँ और रंगरूप से भरी मदमाती रंगरेलियाँ भले ही दूसरों के लिये आपके जीवन को आकर्षक बना दें, किन्तु ये उपकरण स्वयं आप के लिए जीवन की सुन्दरता का सृजन नहीं कर सकते।

जीवन की सुन्दरता बाहरी चमकदमक या वैभव की झंकार में नहीं, मनुष्य के आन्तरिक जगत् में हुआ करती हैं। जिसके जीवन में जितनी अधिक सात्त्विकता, आत्मशक्तियों का विकास, एवं गुणों की प्रचुरता होगी, उसका जीवन उतना ही प्रसन्न, सुन्दर एवं आत्मिक स्वास्थ्य का द्योतक होगा। जो व्यक्ति विचार-विवेक से शून्य है, व्यभिचारी है, तृष्णाओं से घिरा है, अनेक अवगुणों एवं दुर्व्यसनों से घिरा है, वह कितना ही धनवान्, विद्वान, बुद्धिमान, सत्तावान या शान-शौकत से एवं सुन्दर शरीर तथा उच्चस्तरीय रहन-सहन से परिपूर्ण क्यों न हो, सुन्दर जीवन की परिधि में नहीं आ सकता। इसके विपरीत जो व्यक्ति सामान्य स्थिति का है, गरीब है, अधिक रूपसम्पन्न भी नहीं है, फिर भी यदि वह सात्त्विकता, गुणों की प्रचुरता एवं आत्मिक शक्तियों के विकास से युक्त है, सभ्य, शिष्ट एवं शान्त है, तो उसे अधिक सुन्दर जीवन से सम्पन्न कहा जा सकता है।

मानव जीवन का उद्देश्य क्या है ?

यह कितने दुःख की बात है कि आज संसार में अधिकांश लोग खाना, कमाना, विवाह कर लेना, सन्तान पैदा करके उसका पालन-पोषण करना, अपने शरीर को अच्छे वस्त्राभूषणों से सजाना, अच्छे साधनों से अपने घर को सुसज्जित करना, मेक-

अप करके स्वयं को अच्छा दिखाना, अपने धन-वैभव का प्रदर्शन करके प्रसिद्धि पा लेना, अपनी दूकान अच्छी जमा लेना, व्यापार-धंधा धड़ल्ले से चलाना, यों किसी तरह से जिंदगी के दिन पूरे कर लेना और एक दिन इस संसार से कूच कर जाना ही मानव-जीवन का उद्देश्य समझते हैं। वे इसी तुच्छ एवं अवास्तविक जीवन-प्रयोजन की पूर्ति के लिए रात-दिन इसी हाय-हाय में पड़े रहते हैं। क्या इसी तुच्छ प्रयोजन के लिए ही उसे इतना उन्नत शरीर, सर्वोत्तम विचारशील मन, तथा भावाभिव्यक्ति के लिए ओजस्वी वचन एवं बहुमूल्य, देवदुर्लभ तथा सर्वशक्ति-सम्पन्न मानव-जीवन मिला है? अगर केवल खाना-पीना, कमाना और जैसे-तैसे जिंदगी पूरी कर लेना ही मानव जीवन का उद्देश्य होता हो उसमें और पशुपक्षियों में कोई अन्तर न होता। कीट-पतंग, या पशु-पक्षी भी तो यही करते हैं। कीड़े-मकोड़े भी खाते-पीते, सोते और बच्चे पैदा करते हैं। पशु-पक्षियों को भी आहार, निवास आदि का प्रबन्ध करना पड़ता है। वे भी जन्म लेते हैं, खाते-पीते हैं, जीवनयापन के साधनों को अपनी स्वल्प बुद्धि और क्षमता से किसी भी प्रकार पूरे कर लेते हैं, और एक दिन मर जाते हैं। अगर मानव-जीवन का उद्देश्य इतना ही रहा होता तो गोस्वामी तुलसीदास जी न कहते—

बड़े भाग मानुस तन पावा। सुरदुर्लभ ग्रन्थ कोटिन्ह गावा।

उपनिषद् बार-बार पुकार-पुकार कर न कहते—

"गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, नहि मानुषात् श्रेष्ठतरंहि किंचित्।"

—'यह गोपनीय तत्त्व तुम्हें कहता हूँ कि मनुष्य जीवन से श्रेष्ठ कोई जीवन नहीं है।'

मानव-जीवन का अगर इतना ही उद्देश्य होता तो मानव को इतना बुद्धि-वैभव, विवेक या असीम क्षमताएँ प्राप्त न होतीं, न ही इसे ८४ लाख योनियों में सर्वश्रेष्ठ योनि कोई शास्त्र कहता, न ही मोक्ष का द्वार इसके लिए खुला रहता। ऐसे तुच्छ जीवनोद्देश्य के होने पर मानव प्रगति, उन्नति, एवं विकास की भावना से शून्य होता, ज्ञान गौरव एवं आत्म-अस्तित्व या आत्म-विकास की जिज्ञासा उसमें न होती। मानव-जीवन की विलक्षणता तथा मनुष्य के भीतर रही हुई अद्भुत शक्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि मानव-जीवन पशुओं की तरह खाने-पीने, किसी तरह जीने और मर जाने के लिए ही नहीं मिला है। ये सब प्रक्रियाएँ तो जीवन पाने और उसे बनाये रखने के साधन—उपाय हैं; जीवन का मुख्य उद्देश्य नहीं। इतनी प्रतिभा और सुविधा मिलने पर भी यदि मानव यदि अपने और अपने से सम्बन्धित व्यक्तियों का जीवन निर्वाह करना ही जीवन लक्ष्य समझता है तो कहना चाहिए उसने अपनी कोई विशेषता सिद्ध नहीं की।

यह कम खेद का विषय नहीं है कि वर्तमान युग का मनुष्य प्रायः धन कमाना, घर बनवाना, धंधा करना या नौकरी करना आदि के सम्बन्ध में तो इतनी चिन्ता और जिज्ञासा करता है, किन्तु मानव-जीवन और उसके प्रयोजन के सम्बन्ध में

जानने की, अथवा अपनी आत्मा को सद्गुणों से सजाने या आत्मा के असीम वैभव को अभिव्यक्त करने तथा आत्मविकास की संभावनाओं पर सोचने की जरा भी चिन्ता नहीं है जो कि उसके जीवन का वास्तविक प्रयोजन है।

वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य शरीर व मानव-जीवन जैसा अलभ्य अवसर पाकर भी यदि इसका उद्देश्य नहीं जाना गया और आत्म-कल्याण की साधना जीवन में नहीं की गई तो फिर ऐसा सुरदुर्लभ अवसर मिलना दुष्कर है। श्रीमद्-भागवत में बताया है[1]—

मुक्ति के खुले द्वार की तरह जो मनुष्य शरीर को पाकर भी पक्षियों की तरह गार्हस्थ्य के सांसारिक या भौतिक घेरों में बन्द है; उसे उद्देश्य पाने के लिए आरूढ़ होकर भी उससे भ्रष्ट हुआ समझना चाहिए।

जिसके जीवन का कोई उद्देश्य नहीं, खाने-कमाने आदि भौतिक साधनों की प्राप्ति तक ही जिसकी गतिविधियाँ सीमित हैं, उस जीवन को बिना पतवार के जहाज की तरह समझना चाहिए, जो हवा के झोंकों के साथ कहीं भी, किधर भी भटकता रह सकता है। ऐसा जहाज पानी में जब तक गतिशीलता पैदा न हो, तब तक किनारे पर एक ही कोने में पड़ा रहता है, पर ज्योंही कोई तेज आंधी या तूफान आ जाता है तो उसका किधर भी चल पड़ना संभव है और किसी भी विकट परिस्थिति में फँसकर दुर्घटनाग्रस्त हो जाना भी आसान है। ऐसा जहाज किसी नियत स्थान पर पहुँच सकेगा, इसकी आशा भी रखना निरर्थक है। अतः जहाज को निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचाने के लिए आवश्यक होता है कि बुद्धिमान् मल्लाह नियुक्त हों और चलाने के उपकरण डांड, पतवार आदि सुनियोजित रूप से काम करें। यही बात मानव शरीररूपी नौका और मानवरूपी मल्लाह के बारे में कही जा सकती है। उत्तराध्ययन-सूत्र में केशी-गौतम संवाद में इसका सुन्दर निरूपण किया गया है[2]—

—यह संसाररूपी समुद्र है, इसमें मानव शरीर को जहाज कहा गया है। कुशल मानव इसका मल्लाह है, जो संसार सागर में उठते हुए भय, प्रलोभन, भ्रम, छलछद्म, क्रोध, अभिमान, कपट, लोभरूपी अनेक तूफानों और झंझावातों से बचाकर विवेकपूर्वक सकुशल संसार सागर को पार कर जाता है।

इससे दिन के उजाले की तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य संसार समुद्र को पार करके उस पूर्णता, मुक्ति या परमात्मतत्त्व अथवा सिद्धत्व

---

१ यः प्राप्य मानुषं देहं मुक्तिद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥ —११।६।७४

२ "सरीरमाहु नावित्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो॥"

को प्राप्त करना है, जिसके प्राप्त करने के बाद कुछ भी पाना शेष न रहे और न ही उसकी इच्छा हो।

पूर्णता की प्राप्ति में विघ्न, कारण, निवारण

जैसा कि मैंने पहले बताया था कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य पूर्णता, मुक्ति या परमात्मपद को प्राप्त करना है, तब सहसा प्रश्न उठता है कि उस पूर्णता की प्राप्ति में विघ्न क्यों आ जाते हैं? उन विघ्नों को दूर करने का तरीका क्या है? पूर्णता की प्राप्ति के लिए माध्यम क्या हो सकता है?

यदि वर्तमान मानवजाति पर विचार किया जाय तो मनुष्य आज जिन बातों को पूर्णता के लिए अपनाता है और सदा-सर्वदा के लिए सन्तुष्ट हो जाना चाहता है, वे सब नश्वर हैं, असत्य हैं, मिथ्या भ्रान्तियाँ हैं। अपूर्णता ही उनका स्वरूप है। मनुष्य धन, सत्ता, बुद्धि, विद्या आदि चीजों की पूर्णता की पूर्ति के लिए आवश्यक समझता है, वे सब धोखा देने वाली सिद्ध होती हैं। इन चीजों को पाकर वह मोद मनाता है, परन्तु कुछ ही अर्से बाद जब सम्पत्ति और सत्ता समाप्त होने लगती है, तब पुनः शोक और खेद की परिस्थिति आ जाती है। एक ओर से वह अभावों को दूर करने का प्रयत्न करता है तो दूसरी ओर से नाना प्रकार के अभाव मुँह बाए खड़े रहते हैं। मनुष्य उन्हीं भौतिक कामनाओं की धमाचौकड़ी में जिन्दगी पूरी कर देता है। उसकी स्थिति उस धोबी के कुत्ते की-सी हो जाती है, जो घर का रहता है, न घाट का। न तो उसने अपनी आत्मिक सम्पदा बढ़ाने का प्रयत्न किया और न जगत् के कल्याण के लिए कुछ किया। यों सांसारिक उधेड़-बुन में फँसकर एक दिन वह अपूर्णता का बोझ लेकर संतप्त हृदय से संसार से विदा हो जाता है।

अतः पूर्णता की प्राप्ति के लिए पूर्णता और अपूर्णता यानी शाश्वत और अशाश्वत इन दोनों का स्वरूप भली-भाँति समझकर शाश्वत तत्त्व को पाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। धर्म शाश्वत तत्त्व है, अधर्म या शुभाशुभ कर्म अशाश्वत है। आत्मा शाश्वत तत्त्व है, सांसारिक या भौतिक पदार्थ—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, विषय, कषाय, धन, मकान आदि साधन अशाश्वत हैं। पूर्णता की प्राप्ति के लिए आत्मा के जो गुण हैं, अहिंसा सत्य आदि जो आत्मा के धर्म हैं, उन्हें अपनाना आवश्यक है। इस शाश्वत आत्मधर्म की प्राप्ति में या धर्माचरण में शरीरादि साधन सहायक हों, उन्हें अपनाया जा सकता है, पर सदा-सर्वदा निरीक्षण-परीक्षण करते हुए जागरूक रह कर। प्रमाद, गफलत अथवा असावधानी हुई तो दूर से धर्म दिखाई देने वाला पदार्थ भी अधर्म का कारण बन जाएगा। जहाँ राग, द्वेष, मोह, माया, लोभ आदि विकार आत्मा में घुसे कि मनुष्य अपने धर्म से गिरा। मानव-जीवन की श्रेष्ठता तभी सिद्ध हो सकती है, जब मनुष्य अपने उत्तरदायित्व और कर्तव्य को समझे। जीवन का सदुपयोग करे। धर्माचरण एवं धर्म-मर्यादा के पालन द्वारा अपने व्यक्तित्व को सुधारे। जिसकी आत्मी-

यता जितनी अधिक व्यापक होगी, वह उतना ही अधिक महान होगा, उसमें धर्म के तत्त्व उतनी ही अधिक मात्रा में उतरेंगे।

प्रश्न होता है मानव के साथ शरीर, मन, इन्द्रियाँ आदि लगी हुई हैं। फिर गृहस्थ जीवन में परिवार, जाति, समाज, धर्मसंघ, प्रान्त और राष्ट्र आदि के प्रति अनेकानेक कर्तव्यों से वह बंधा हुआ है। गृहस्थ को व्यापार धंधा भी करना होगा, धन भी कमाना होगा, शरीर की तथा परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति भी करनी होगी, इन सब कर्तव्यों को पूर्ण करने में वह पूरा आत्म-दृष्टि कैसे रख सकेगा ? न ही वह इन कार्यों को छोड़ सकेगा। इसीलिए तो धर्माचरण की बात कही कि मनुष्य इन सब आवश्यक कार्यों को करे, पर धर्म-मर्यादा में रहकर करे। मनुष्य धर्ममर्यादा में रहकर ही सच्चा मानव बना रह सकता है। धर्म-मर्यादा का विवेक छोड़ा कि वह या तो पशुत्व की ओर झुक जाएगा, या वह राक्षसत्व की ओर चला जाएगा।

धर्ममय जीवन के लिए मानव तन के साथ मन को जोड़े

धर्म-मर्यादा में जीवन को चलाने के लिए मनुष्य को मानव-तन के साथ मानव-मन को जोड़े रखना चाहिए। जिसे भी मानव-तन के साथ मानवीय अन्तःकरण जब भी मिल जाता है, तब उसके जीवन का हर पहलू आनन्द और उल्लास से खिल उठता है। चन्दन के वृक्ष की तरह वह अपनी सुगन्ध सारे क्षेत्र में फैला देता है। मानवीय मन से युक्त व्यक्ति सृष्टि के कण-कण में आनन्द का स्रोत उद्भूत होते देखता है, पग-पग पर संसार को स्वर्गोपम बनाने का स्वप्न देखता है, सारे संसार को वह अपना आत्मीय समझता है। जबकि साधारण नरदेहधारी मनुष्य पाशविक वृत्ति, प्रवृत्ति और दृष्टि रखने के कारण पद-पद पर स्वार्थ, संकीर्णता, द्वेष, क्लेश, स्वस्वमोह, काम-मोह, वैर-विरोध, घृणा आदि के कारण स्वयं शोक, सन्ताप, क्षोभ, असन्तोष एवं त्रास से घिरा रहता है, और दूसरों को भी त्रस्त, दुःखित और पीड़ित करता रहता है। इसका कारण है—मानव-तन तो मिला, पर मानव-मन के बदले पाशविक मन या राक्षसी मन मिला।

इसीलिए एक सहृदय कवि ने मानवतन में मानवमन की याचना करते हुए कहा है—

जय जय जय मानवता माता
मानवतन में, मानवमन दे, जो सुख शान्ति विधाता ॥ ध्रुव ॥
मन की पशुता दूर हटाएं, संयम और विवेक बढ़ाएँ।
सबके हित में अपना हित हो, जुड़े सभी से नाता ॥ जय····॥ १ ॥

सचमुच कवि की कितनी अन्तर्वेदना मानवतन में प्रविष्ट पशुमन को हटाने और मानवमन को लाने की है ! क्योंकि मानवीय अन्तःकरण आने पर ही मानव सारे जगत् को व्यापक दृष्टि से देखने लगेगा, सारा जगत् उसे अपना प्रतीत होगा, व्यवस्था

की दृष्टि से भौगोलिक या राजकीय सीमा सूचक भेद रहेंगे, पर मन में सबके साथ अभेद, मैत्री या वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना होगी, ऐसी दशा में धर्म के विभिन्न अंगों का पालन सहजभाव से हो सकेगा। धर्माचरण उसके जीवन का अंग बन जाएगा। धर्म ही एक ऐसा माध्यम है, जो मानव को पूर्णता के शिखर पर क्रमशः ले जा सकता है। परन्तु पूर्णता के शिखर पर पहुँचने के लिए धर्मपालन का पद-पद पर आगृति-पूर्वक पुरुषार्थ करना होगा। तभी मानव-जीवन की श्रेष्ठता, ज्येष्ठता और विशेषता सिद्ध होगी। आप भी इसी पथ पर चलकर मानव-जीवन की श्रेष्ठता और विशेषता को सिद्ध करिए, सफलता आपके चरण चूमेगी। ☆

2

व्रत-ग्रहण : स्वरूप और विश्लेषण

☆

मानव जीवन : एक प्रश्न

प्रातःकाल सूर्य के उदय होते ही जिन्दगी का एक नया दिन शुरू होता है और सूर्यास्त होने तक वह दिन समाप्त हो जाता है। इस तरह प्रतिदिन आयु में से एक-एक दिन घटता जाता है। जन्म लेने के बाद से ही आयु क्षय का यह क्रम प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु अनेक प्रकार के कार्यभार से बढ़े हुए विभिन्न क्रिया-कलापों में लगे रहने के कारण इस व्यतीत हुए समय का पता नहीं लगता। ऐसे अवसर प्रायः प्रतिदिन आते हैं, जब मनुष्य किसी न किसी जीव का जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, विपत्ति, रोग और शोक के कारुणिक एवं विचारप्रेरक दृश्य देखता है, किन्तु कितना मदान्ध, अविवेकी और कामनाओं से ग्रस्त है इस धरती का मानव, कि वह यह सब कुछ आँखों से देखते हुए भी विवेक और विचार की आँखों से अंधा ही बना हुआ है। मोह और सांसारिक प्रमाद में लिप्त मनुष्य घड़ी भर एकान्त में बैठकर इतना भी नहीं सोचता कि इस कौतुहलपूर्ण नरतनु में जन्म लेने का उद्देश्य क्या है? हम कौन हैं? कहाँ से आए हैं? और कहाँ जाना है? किस दिशा में गति कर रहे हैं? श्रीमद् रायचन्दजी के शब्दों में कहूँ तो—

हूँ कोण छुं क्यां थी थयो? शुं स्वरूप छे मारुं खरूं?
कोना सम्बन्धे वलगणा छे, राखुं के ए परिहरूं?

मानव के सामने जीवन के ये प्रश्न चिह्न हैं—मैं कौन हूँ, कहाँ से मैं मानव हुआ? मेरा असली स्वरूप क्या है? मेरा सम्बन्ध किसके साथ है? इस सम्बन्ध को मुझे रखना है या छोड़ना है?

मानव-जीवन परीक्षा के लिए

चौरासी लाख जीव-योनियों में परिभ्रमण करने के बाद मनुष्य को अतिदुर्लभ मानव-जीवन मिला है। यह अवसर उसे अपनी जीवन यात्रा की परीक्षा देने के लिए मिला है। विद्यार्थी को सालभर पढ़ाई करने के बाद उसकी परीक्षा देनी पड़ती है और यह सिद्ध करना पड़ता है कि उसने पढ़ाई में पूरा श्रम किया है। यह प्रमाणित कर देने पर उसे उत्तीर्ण होने का सम्मान मिलता है और उसका लाभ भी। किन्तु

जो छात्र परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाता है, उसके बारे में यही माना जाता है कि उसने पर्याप्त श्रम नहीं किया और दण्डस्वरूप उसे एक वर्ष तक पुनः उसी पुरानी कक्षा में पड़े रहने दिया जाता है।

चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करके जीव को अपने को सुधारने और सन्मार्गगामी बनने की शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। वह पढ़ाई पूरी होने पर उसे मनुष्य जीवन का एक अलभ्य अवसर परीक्षाकाल जैसा मिलता है। इसमें मनुष्य को यह सिद्ध करना पड़ता है कि उसने कितनी आत्मिक प्रगति की, अपने को कितना सुधारा, अपना दृष्टिकोण कितना परिमार्जित किया और उच्चभूमिका की ओर अथवा लक्ष्य की ओर कितना प्रयाण किया ? मानव जीवन का प्रत्येक दिन मनुष्य के लिए एक-एक प्रश्नपत्र है। एक सहृदय कवि ने मानव के सामने यह प्रश्नावली हल करने के लिए प्रस्तुत की है—

मानव होकर मानवता से, तुमने कितना प्यार किया है ?
इस जीवन में तुमने कितना, औरों का उपकार किया है ?
सुन पाए हो इन कानों से, जग की कितनी करुण-कहानी ?
डाल सके परदुःखदावा में, तुम कितना आंखों का पानी ?

प्रतिदिन के प्रश्नपत्र में ये और ऐसे ही कई प्रश्न मानव छात्र के सामने आते हैं। इसके उपरान्त भी जो-जो समस्याएँ सामने आती हैं, वे भी एक-एक प्रश्न हैं। इन प्रश्नों को किस दृष्टिकोण से हल किया जा रहा है, महापुरुष या धर्मवीर उसे बहुत ही बारीकी से जाँचते हैं। यदि आपका दृष्टिकोण पशुओं जैसा ही स्वार्थ-परता और तृष्णा, वासना, कामना की क्षुद्रता से परिपूर्ण रहा, तब तो आपको फिर चौरासी लाखयोनियों की कक्षाओं में ही पड़े रहना होगा। यदि जीवनचर्या आदर्श रही और आचार-विचार की दृष्टि से अपनी उत्कर्षता सिद्ध हुई या जिस कक्षा में बैठे थे, उस कक्षा के पाठ्यक्रम के अनुसार उत्तर ठीक हुए तो पूर्णता और परमानन्द का प्रमाणपत्र परीक्षा में अच्छे अंकों में उत्तीर्ण हुए छात्र की तरह मनुष्य को भी मिलता है। आए दिन की छोटी-मोटी असुविधाओं को तुच्छ, नगण्य एवं महत्त्वहीन समझना चाहिए। उनमें उलझ जाएँगे और उन्हें अत्यधिक महत्त्व दे देंगे तो जीवन का मूल लक्ष्य दृष्टि से ओझल हो जाएगा। आप मानव जीवन की इस परीक्षा में सफल नहीं हो सकेंगे।

अन्तिम समय में क्या करोगे ?

अथाह संसार सागर के प्रवाह में प्रवाहित मनुष्य संसार के सुखों को, इन्द्रियों के भोगों को, पदार्थों के स्वामित्व को, धन, पुत्र तथा विविध कामनाओं और एषणाओं को ही जीवन का लक्ष्य बनाकर इस बहुमूल्य अवसर को खो देता है। अन्ततः परीक्षा की घड़ी की तरह काल की घड़ी जब आती है, तो विदा होते समय सिर पर पापों, दुष्कर्मों एवं दुराचरणों का भारी भरकम भयंकर बोझ लदा

दिखाई देता है, तब मन में भारी पश्चात्ताप, घोर संताप और अशान्ति होती है; पर अब क्या हो सकता है, जब चिड़िया चुग गई खेत ! सौदा बिक गया, अब कीमत लगाने से क्या फायदा ?

संदीप्ते भवने तु कूपखननं, प्रत्युद्यमः कीदृशः ?

महल जल कर खाक हो जाने पर कुँआ खोदने का उद्यम करना कितना हास्यास्पद होता है ?

इसीलिए भगवान् महावीर ने मनुष्यों को सावधान करते हुए कहा—

जरा जाव न पीलेई, वाही जाव न वड्ढई ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥

जब तक बुढ़ापा आकर पीड़ित नहीं कर लेता, जब तक शरीर में किसी प्रकार की व्याधि नहीं बढ़े, और जब तक इन्द्रियाँ क्षीण न हों, तब तक धर्माचरण कर लो । ये तीनों आ जाएँगे तो फिर धर्माचरण होना कठिन है ।

अन्तिम समय में विशाल वैभव, अपार धनधान्य राशि, अथवा पुत्रकलत्रादि कोई भी साथ नहीं देता । यह सारा संसार, यहाँ की परिस्थितियाँ ज्यों की त्यों दिखाई देती हैं, मगर उस समय वे सब उपयोग से बाहर होती हैं । अपना शरीर भी उस समय सहायक नहीं होता । केवल अपने अच्छे-बुरे संस्कारों (पुण्य-पापकर्मों) का बोझ लादे हुए जीव परवश यहाँ से उठ जाता है । एकमात्र धर्म ही मनुष्य का साथी बनता है, अन्तिम समय में । अगर अपने जीवन में धर्माचरण किया हो तो उसके कारण अन्तिम समय में मनुष्य प्रसन्नता से सन्तुष्ट होकर इस संसार से विदा होता है ।

धर्मपालन के लिए व्रतग्रहण आवश्यक

अतः आप उदार बनें, साहस पैदा करें और आध्यात्मिक जीवन की कठिनाइयों को झेलने के लिए तत्पर हो जायें फिर देखें कि महानता की जिस उपलब्धि के लिए आप निरन्तर लालायित रहते हैं, वह सच्चे माने में प्राप्त होती है या नहीं ? आत्मा में अनन्त शक्ति छिपी है, उसे धर्मपालन द्वारा जागृत कीजिए । शक्ति को साधना से जगाना ही मानव-जीवन की सार्थकता है ।

निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को अपने जीवन की सार्थकता एवं अन्तिम परीक्षा के लिए अपना जीवन धर्मयुक्त बिताना आवश्यक है । प्रश्न होता है कि धर्म तो अनेक सद्गुणों का महापुंज है, महासागर है, इसका विविध सद्गुणों के रूप में पालन कैसे हो सकेगा ? मनुष्य को धर्म की मर्यादा में कौन चला सकेगा ? कौन उसे नियन्त्रण में रख सकेगा ? चूँकि धर्म तो अपने आपमें एक भाव है, जो मनुष्य को अमुक-अमुक सीमा में रहने या आत्मा को रखने की बात बताता है कि लेकिन उक्त धर्म के अनुसार चलाने वाला कौन है ? धर्म तो एक प्रकार का आध्यात्मिक कानून है, आचार संहिता (Code of Conduct) है, उसका पालन कराने वाला कौन है ?

जैसे सरकारी कानून को सरकार दण्डशक्ति द्वारा पालन करवाती है, फिर भी कई लोग उसमें गड़बड़ कर डालते हैं। इसीलिए धर्म का स्थान सरकारी कानून से ऊँचा है। उसका पालन अगर किया जा सकता है तो व्रतों के माध्यम से ही। मनुष्य जब स्वेच्छा से व्रत ग्रहण करता है, तभी वह अपने जीवन में धर्माचरण यथेष्ट रूप से कर सकता है, धर्म-मर्यादा में चल कर अपने और दूसरों के जीवन को सुखी और आश्वस्त बना सकता है ?

व्रत : एक पाल, एक तटबन्ध

आप जिस गाँव में रहते हैं, वहाँ अगर बिना पाल का तालाब हो तो क्या आप वहाँ रहना पसन्द करेंगे ? आप कहेंगे, ऐसी जगह वर्षा के दिनों में एक दिन भी रहना खतरे से खाली नहीं है। न मालूम कब तालाब में पानी बढ़ जाय और वह बाहर निकलकर गाँव को डुबो दे, मकानों को ढहा दे !

इसी प्रकार बिना तटों की कोई नदी हो तो भी आप उसके किनारे घर बनाकर रहना पसन्द नहीं करेंगे, क्योंकि आपके मन में सदा यह आशंका बनी रहेगी कि न मालूम कब नदी में बाढ़ आ जाय और वह प्रलय मचा दे, हमारे घर और परिवार का सफाया कर दे। इसी प्रकार बिना व्रत के मनुष्य बिना पाल का तालाब है, किसी भी समय वह धर्म-मर्यादा को लांघकर अपने और समाज के जीवन को चौपट कर सकता है; अशान्त बना सकता है। व्रत-विहीन व्यक्ति तट-विहीन नदी की तरह उच्छृंखल है, स्वच्छन्द है, कभी भी प्रलय का रूप धारण करके अपने और समाज के जीवन को वह मृत्यु के मुख में धकेल सकता है, अशान्ति की ज्वाला भड़का सकता है।

अतः मानव-जीवन के लिए व्रत एक पाल है, एक बाँध है, एक तटबन्ध है, जो स्वच्छन्द बहते हुए जीवन प्रवाह को मर्यादित बना देता है, नियन्त्रित कर देता है।

जैसे नदी के प्रवाह को मर्यादित रखने के लिए दो किनारों की आवश्यकता रहती है, वैसे ही जीवन के प्रवाह को शुद्ध और सरल बनाने के लिए व्रतों की आवश्यकता है। नदी अगर यह कहे कि मुझे दो किनारों का बन्धन नहीं चाहिए, मैं तो स्वतन्त्र होकर बहूँगी, तो उसका पानी इतस्ततः छिन्न-भिन्न हो जायेगा, जो किसी भी उपयोग का न होकर सड़कर खत्म हो जायेगा। यही हाल मानव-जीवन का है। मनुष्य अगर व्रतों का स्वेच्छिक बन्धन स्वीकार नहीं करेगा तो उसका जीवन-बल—आत्मबल बिखर कर क्षीण हो जायेगा। अतः जीवन-शक्ति को केन्द्रित, एवं सुगठित करने के लिए व्रतों की नितान्त आवश्यकता है।

व्रत : अनियन्त्रित जीवन के लिए ब्रेक

अगर आपको कोई ऐसी कार में बिठाना चाहे, जिसके ब्रेक न हों तो क्या

आप उसमें बैठना चाहेंगे ? या ऐसी मोटर साइकिल या साइकिल लेना चाहे, जिसके ब्रेक न हो तो आप उसे लेना स्वीकार करेंगे ? कदापि नहीं। और न ही आप ऐसी सवारी पर बैठना पसन्द करेंगे, जिसके लगाम या नकेल न हो। क्यों ? क्योंकि बिना ब्रेक की कार, मोटर साइकिल या साइकिल, अथवा बिना नकेल या लगाम की ऊँट, घोड़ा आदि की सवारी किसी भी समय एक्सीडेंट (दुर्घटना) कर सकती है, जीवन को खतरे में डाल सकती है। इसी प्रकार व्रत-विहीन जीवन बिना ब्रेक की कार, मोटर साइकिल, या साइकिल, अथवा बिना नकेल या लगाम की सवारी के समान खतरनाक है, कभी भी जीवन को पतन के खड्डे में डाल सकती है। इस दृष्टि से व्रत मानव-जीवन के लिए ब्रेक है, लगाम है या नकेल है, जिससे मानव अपने जीवन में घटित होने वाले अनेक खतरों, विनाशकारी क्षणों, पतनकारी घड़ियों से बच सकता है, अपने आपको सुरक्षित एवं निरापद रख सकता है।

व्रत : स्वयं स्वीकृत मर्यादा

व्रत मानव-जीवन को स्वयं नियन्त्रित करने वाली, स्वेच्छा से स्वीकृत मर्यादा है, जिसमें रहकर मानव अपने आपको पशुता, दानवता, उच्छृंखलता, पतन, आत्म-विकास में अवरोध, असंयम आदि से रोक सकता है।

व्रत : धर्मपालन का चौका

वास्तव में व्रत धर्मपालन करने का चौका है। ब्राह्मण वर्ग तो खानपान के लिए रूढ़िपरम्परावश चौका लगाते हैं, उस चौके में तो बिल्ली चूहा आदि घुस सकते हैं, मांस-मदिरा आदि अभक्ष्य वस्तुएँ भी प्रविष्ट हो सकती हैं, परन्तु व्रत के चौके में मनुष्य स्वेच्छा से अंगीकृत यम-नियमों से विपरीत वस्तुओं, भावों और व्यवहारों को नहीं घुसने दे सकता। वह चौकन्ना और सतर्क होकर रहता है कि मेरे व्रत के चौके में कोई भी दोष घुसने न पाए। व्रतस्थ गृहस्थ अपने स्वीकृत व्रतों के चौके की मर्यादा का अतिक्रमण या अतिचरण नहीं करना चाहता। कदाचित् अनजाने में या लाचारी से किसी मर्यादा का अतिक्रमण हो जाता है तो वह उसके प्रति उपेक्षा नहीं करता, शीघ्र ही पश्चात्तापपूर्वक प्रायश्चित्त या आलोचना आदि से उसकी शुद्धि कर लेता है। वह अपने व्रत के चौके को शुद्ध रखता है।

व्रत : आत्मानुशासन

हाँ तो, जैसा कि मैंने कहा था कि संसार, समाज, राष्ट्र और परिवार की सुव्यवस्था, सुरक्षा और सुखशान्ति के लिए व्रत-ग्रहण अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि व्रत एक प्रकार का आत्मानुशासन है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि भौतिक पदार्थों के चक्कर में पड़कर मनुष्य आत्मा के अनुशासन से हट जाता है, उस समय व्रत ही एकमात्र ऐसा अमोघ उपाय है, जो आत्मा को अनुशासन में रख सकता है। इस संसार में कौन ऐसा मनुष्य है, जो अपने परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व में अनुशासन नहीं चाहता ? जब परिवार को अनुशासन के बिना नहीं चलाया जा

सकता तो समाज, राष्ट्र और विश्व को कैसे चलाया जा सकता है ? जैसे दो तटों के बीच में बहने वाली नदी निर्विघ्नतापूर्वक समुद्र तक पहुँच सकती है, वैसे ही यम-नियम रूप व्रतों के अनुशासन में चलने वाली आत्मारूपी सरिता परमात्म सिन्धु तक निर्विघ्न पहुँच जाती है। व्रत स्वेच्छा से ग्रहण करने के कारण आत्मानुशासन हैं। ये जीवन और जगत् में सुव्यवस्था पैदा करते हैं। जगत् का विकास, सुरक्षा और प्रगति अनुशासन पर निर्भर है और व्रत जीवन में अनुशासन पैदा करते हैं। सूर्य और चन्द्रमा स्वयं नियमबद्ध हैं। वे अनुशासन में रहते हैं, नियमानुसार समय पर उदय और अस्त होते है। यदि ये अनुशासन में न रहें तो बहुत गड़बड़ हो जाए। क्योंकि इनसे संसार का कालनिर्णय होता है, और शुद्ध पंचांगों की रचना की जाती है। इन्होंने जगत् में अपनी ऐसी साख जमा दी है कि ये नियमानुसार उदय और अस्त होते हैं, इसी से लोग अपने को सुरक्षित पाते हैं। मूलगत बन्धन के बिना जैसे झाड़ू के तिनके एक-एक करके बिखर जाते हैं, वैसे ही अनुशासन की शृंखला के बिना सामाजिक जीवन की कड़ियाँ भी छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। घड़ी भी अनुशासन से चलती है, तभी ठीक समय देती है। यदि रेलगाड़ी पटरियों पर न चलकर अनुशासन से हटकर चल पड़े तो स्वयं भी नष्ट होती है और उसमें बैठे हुए यात्री भी मारे जाते हैं। इसलिए मानव-जीवन में अथ से इति तक अनुशासन पर चलने की जरूरत है, जो व्रत ग्रहण से ही आ सकती है।

आध्यात्मिक जीवन की नींव : व्रत

व्रत एक प्रकार से आध्यात्मिक जीवन की नींव है। बिना नींव का महल चाहे ऊपर से कितना ही सुन्दर, सुदृढ़ हो, काफी ऊँचा भी हो, वह चिरस्थायी नहीं होता; इसी प्रकार आध्यात्मिक नींव से रहित जीवन भी सुख-शान्ति, सुव्यवस्था एवं सुरक्षा में स्थायित्व नहीं ला सकता। अगर आप कोई कीमती रत्न कमा कर लाएँ और आपके घर में चोर आदि का भय हो तो घर में रखे हुए रत्न की सुरक्षा के लिए क्या घर के किवाड़ नहीं लगाते ? अवश्य लगाते हैं। इसी प्रकार आत्मधर्म की सुरक्षा के लिए, जीवन में अव्रत और प्रमाद रूपी चोर न घुस जाएँ, इस दृष्टि से व्रतरूपी किवाड़ लगाना ही चाहिए। व्रत लेकर आप सीमा बँध लेते हैं।

व्रत का अर्थ : स्वयं स्वीकार

इन सब बातों पर से आप व्रत का महत्त्व और स्वरूप तो समझ ही गए होंगे। आपके मन में शायद यह शंका उथल-पुथल मचा रही होगी कि व्रत से कैसे अनुशासन, संयम, नियन्त्रण या मर्यादा आ जाती है, जबकि कानून की तरह वह भी तो तोड़ा जा सकता है ? इसका समाधान हम अपने स्वानुभव और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यों करते हैं कि कानून के पालन और व्रत के पालन में महान् अन्तर है। कानून स्वेच्छा से स्वीकृत नहीं होता, जबकि व्रत स्वेच्छा से स्वीकृत होता है। व्रत का अर्थ ही है—'स्वेच्छा से स्वीकृत। 'वृञ् वरणे' धातु से व्रत शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है—स्वयं वरण यानी स्वीकार करना। जब मनुष्य किसी सामा-

जिक मर्यादा को स्वेच्छा से स्वीकार नहीं करता या उसका पालन नहीं करता, तब सरकारी कानून बनता है, बलपूर्वक पालन कराने के लिए।

उदाहरण के तौर पर—आज प्रत्येक माता स्वेच्छा से अपने बालक का पालन-पोषण करने के व्रत का पालन करती है, अभी तक किसी भी देश में ऐसा कोई कानून नहीं बना कि प्रत्येक माता को अपने बालक का पालन-पोषण करना अनिवार्य होगा, नहीं तो दण्ड दिया जायेगा। मान लो, कल को कुछ माताएँ अपने बालकों के पालन-पोषण करने से इन्कार कर दें और इस व्रत का पालन न करें तो उस देश की सरकार अवश्य ही ऐसा कानून बना देगी कि प्रत्येक माता को अपने बच्चों का पालन-पोषण करना होगा, जो नहीं करेगी, उसे इतनी सजा दी जाएगी।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जबरन लादी हुई चीज में मनुष्य गड़बड़ कर सकता है, परन्तु जो बात स्वेच्छा से स्वीकृत होती है, उसका वह प्रायः प्राणप्रण से पालन करता है। व्रत स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है, इसलिए व्रत का पालन प्रायः मानव करता ही है।

व्रत : एक अटल निश्चय

व्रत लेने का एक अर्थ यह भी होता है कि अटल निश्चय करना। मनुष्य जब तक व्रत नहीं ले लेता, तब तक उसका मन डाँवाडोल रहता है। उसकी बुद्धि निश्चल और स्थिर नहीं हो पाती। व्रत ग्रहण करने पर मनुष्य का निश्चय अटल हो जाता है।

मेवाड़ के क्षात्रियवीर महाराणा प्रताप के साथ मेवाड़ की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने में बहुत ही कम साथी थे। बहुत-से राजा तो अकबर बादशाह के अधीन हो चुके थे। परन्तु महाराणा प्रताप ने मेवाड़ की स्वातन्त्र्य-सुरक्षा का व्रत ले लिया था। कई विघ्न बाधाएँ आईं। एक बार तो ऐसी भी स्थिति आ गई कि जंगलों में उनके परिवार को रोटी के लाले पड़ गए और महाराणा के विचार कुछ डगमगा-से गए थे, लेकिन राजा पृथ्वीसिंहजी का पत्र पाते ही उनका व्रत-पालन का निश्चय दृढ़ हो गया। महामन्त्री भामाशाह ने तन, मन, धन से पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन दिया और महाराणा पुनः मेवाड़ की स्वातन्त्र्य सुरक्षा के व्रत पर अटल हो गए।

इसी प्रकार छत्रपति शिवाजी परस्त्रीगमन से विरत थे। अपने इस शीलव्रत पर वे अन्त तक अडिग रहे।

एक बार जब वे दक्षिण में औरंगजेब की सेना से लोहा ले रहे थे, कई क्षेत्रों में उन्होंने औरंगजेब की सेना को परास्त करके अपनी विजय का झंडा गाड़ दिया था। एक जगह शिवाजी के विजयी सैनिक विजय के उन्माद में औरंगजेब के गिरफ्तार किये हुए सिपह-सालार की अनुपम सुन्दरी पत्नी को जबरन पकड़ कर शिवाजी को भेंट देने के लिए उपस्थित हुए। वह बेचारी शिवाजी के सामने थर-थर काँप रही थी शिवाजी ने अपने सैनिकों से पूछा—"इस महिला को क्यों लाए हो ?"

"आपको विजय के उपलक्ष्य में यह अनुपम सुन्दरी भेंट देने के लिए लाये हैं ? आप इसे स्वीकार करें।"

शिवाजी ने यह सुनकर और उसका अनुपम सौन्दर्य देखकर कहा—"मैं इसे कैसे स्वीकार कर सकता हूँ ? अगर मेरी माँ इतनी सुन्दर होती तो मैं भी सुन्दर होता। जाओ, इसको सम्मान सहित इसके पति के पास पहुँचा आओ। और मेरी ओर से यह लिखित शुभ सन्देश दे देना।"

उक्त महिला शिवाजी के दृढ़ व्रत को देखकर दंग रह गई। उसने हाथ जोड़े और ससम्मान अपने पति के पास पहुँची। शिवाजी के उत्तम चरित्र से वह सिपह सालार अत्यन्त प्रभावित हुआ।

यह है व्रतग्रहण से अटल निश्चय का प्रभाव।

व्रत : एक प्रतिज्ञा

व्रत भी एक प्रकार की प्रतिज्ञा है। व्रत ग्रहण करना प्रतिज्ञाबद्ध होना है। विवाह के समय पति-पत्नी दोनों प्रतिज्ञाबद्ध हो जाते हैं, इसलिए उनको भी परस्पर एक-दूसरे का विश्वास हो जाता है, और समाज को भी उनके जीवन का विश्वास हो जाता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति व्रतबद्ध हो जाता है तो वह दृढ़ प्रतिज्ञ हो जाता है, निश्चल हो जाता है।

व्रत से व्यक्ति विश्वसनीय एवं स्थिर

जब कोई व्यक्ति व्रतबद्ध हो जाता है तो परिवार और समाज में वह विश्वसनीय बन जाता है। कोई भी व्यक्ति उसे शंका की दृष्टि से नहीं देख सकता। मान लीजिए, एक व्यक्ति परस्त्रीगमन न करने का व्रत लेकर प्रतिज्ञाबद्ध होता है, तो उसके सम्पर्क में कोई भी स्त्री निःसंकोच आ-जा सकती है। वह विश्वस्त हो जाता है। सारा समाज विश्वास के आधार पर चलता है। आप जब किसी बस में बैठते हैं तो आपको विश्वास होता है कि ड्राइवर लाइसेंसशुदा है, वह जान-बूझ कर कभी बस को खड्डे में नहीं गिराएगा। इसी प्रकार रेलगाड़ी के इंजिन ड्राइवर पर भी आपको विश्वास होता है कि वह गाड़ी को सकुशल गन्तव्य-स्थान पर ले जाएगा। यही बात मशीनों के इन्जीनियर पर रहती है।

हाँ, तो, मैं कह रहा था कि व्रतबद्ध व्यक्ति समाज के लिए विश्वसनीय हो जाता है। साधु जीवन महाव्रतबद्ध होता है, इसलिए समाज का कोई भी व्यक्ति साधु-साध्वी पर अविश्वास नहीं करता। लाखों रुपयों की चीजें घर में पड़ी रहती हैं, परन्तु साधु-साध्वियों के लिए कहीं भी, यहाँ तक कि राजमहल एवं अन्तःपुर में भी रोक-टोक नहीं है, क्योंकि महाव्रतबद्ध होने से साधु-साध्वी का जीवन पूर्ण रूप से विश्वसनीय है।

महात्मा गांधी के बाल्यकाल में विदेश जाना अपराध माना जाता था। जब महात्मा गांधी की विदेश जाने की इच्छा हुई तो जाति के अगुओं ने उन्हें यह

चेतावनी दे दी कि अगर मोहनदास करमचन्द गांधी विलायत चला गया तो हम उसे जाति (मोढ़ बनिया) से बहिष्कृत कर देंगे।" क्योंकि उन्हें यह खतरा था कि विलायत जाने पर व्यक्ति अपने धर्म-कर्म से भ्रष्ट हो जाता है, शराब पीने लगता है, मांस-अंडे खाने लगता है और परस्त्रीगामी बन जाता है। मोहनदास गाँधी ने अपनी माताजी के सामने जब अपना विदेश जाने का विचार रखा तो उन्होंने कुछ क्षण सोचकर कहा—"बेटा ! अगर तू तीन प्रतिज्ञाएँ ले ले तो मैं तुझे विदेश जाने की अनुमति दे सकती हूँ। फिर मुझे तेरे जाति बहिष्कृत किये जाने की भी कोई परवाह नहीं होगी।"

गांधीजी ने पूछा—"माताजी ! वे तीन प्रतिज्ञाएँ कौन-सी हैं ?" माता बोली—मैंने सुना है कि विदेश जाने पर लोग शराब पीने लगते हैं, मांस खाने लगते हैं और परस्त्रीगामी बन जाते हैं। इसलिए तू इन तीन चीजों का त्याग करके प्रतिज्ञाबद्ध हो जा। गांधीजी ने जब माताजी द्वारा कही गई तीनों बातों के त्याग के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होना स्वीकार किया तो उनकी माता पुतलीबाई वहाँ जैन-उपाश्रय में विराजमान स्थानकवासी जैन मुनिश्री बेचरजी स्वामी के पास ले गई और उनसे इन तीनों बातों के त्याग की प्रतिज्ञा दिलाई।

ये तीनों नियम एक प्रकार से व्रत थे, जो गाँधीजी ने स्वेच्छा से स्वीकार किये। उनका जीवन परिवार और समाज के लिए विश्वसनीय बन गया, क्योंकि वे व्रतबद्ध हो गए थे। जब वे विदेश गए तो वहाँ इन तीनों व्रतों की पूरी कसौटी हुई। महात्मा गाँधीजी ने तीनों प्रतिज्ञाओं की कसौटी होने का उल्लेख अपनी आत्मकथा में किया।

यही कारण है कि व्रतबद्ध होने के कारण महात्मा गाँधीजी अपने निश्चय पर अटल रह सके। अगर वे व्रतबद्ध न होते तो वे उन कड़ी परीक्षाओं में कभी पास नहीं हो सकते थे। वे कभी के डिलमिल होकर फिसल जाते, अपना पतन कर लेते। व्रत-ग्रहण करने के कारण ही गाँधीजी कठोर कसौटियों के समय भी निश्चल रहे। इसलिए जो व्यक्ति व्रतबद्ध नहीं है, प्रतिज्ञायुक्त नहीं है, उसका विश्वास कौन कर सकता है, क्योंकि वह जरा-सा कष्ट आ पड़ने पर या असुविधा होने पर अपनी मर्यादा से डिग सकता है। जो आदमी अपने जीवन को व्रतमय या प्रतिज्ञामय नहीं बनाता, वह कभी स्थिर या निश्चल नहीं रह सकता।

व्रत : एक प्रकार की दीक्षा

यों देखा जाय तो व्रत-ग्रहण करना एक प्रकार की दीक्षा ग्रहण करना है। जैनधर्म में दीक्षा लेना साधु-साध्वियों के लिए प्रचलित है। परन्तु वैदिक धर्म में चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम—के लिए दीक्षा शब्द प्रचलित है। संस्कृत भाषा में दीक्ष् धातु 'मौण्ड्येज्योपनयन नियम व्रता-

देशेषु' (अर्थात्-मुण्डन, यज्ञ, उपनयन, नियम, व्रत ग्रहण) अर्थ में है। इस दृष्टि से नियम और व्रत ग्रहण करने के अर्थ में दीक्षा शब्द का प्रयोग होता है। दीक्षा एक प्रकार की जिम्मेवारी है। इसी प्रकार व्रत ग्रहण करना भी एक उत्तरदायित्व है, जिसे लेकर मानव अपने जीवन को निर्विघ्नता से सकुशल पार कर लेता है।। महात्मा गांधी ने जब राष्ट्रसेवा का व्रत लिया तो उन्होंने इस व्रत की जिम्मेवारी महसूस की। उन्होंने अपनी धर्मपत्नी कस्तूरबा को कह दिया कि अब जबकि हमने रष्ट्रसेवा का व्रत ले लिया है तो हमें अब सन्तान पैदा करने का अधिकार नहीं। एक ओर राष्ट्रसेवा का दम भरें और दूसरी ओर बच्चे भी पैदा करते जायँ, यह अपने दायित्व से मुख मोड़ना है। अतः मेरी इच्छा पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करने की है, बोलो, तुम्हारी क्या इच्छा है ?" कस्तूरबा तो इसके लिए तैयार थीं, उन्होंने तुरंत पूर्ण ब्रह्मचर्य के लिए अपनी स्वीकृति दे दी। इसके बाद गांधीजी ने स्वयं राष्ट्रपिता की जिम्मेवारी बहन की और कस्तूरबा से भी कहा—"अब तुम केवल अपने ही बच्चों की माँ नहीं हो, राष्ट्र के सभी बालक तुम्हारे पुत्र-पुत्रियाँ हैं।"

और कस्तूरबा ने भी राष्ट्रमाता की जिम्मेवारी निभाई। यह था व्रत के साथ जिम्मेदारी का भान ! इसी कारण व्रत ग्रहण को भारतीय संस्कृति में एक प्रकार की दीक्षा ग्रहण करना माना गया है।

व्रत और योगसाधना

भारतीय संस्कृति में योगसाधना को बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया है। आत्मा का परमात्मा से मिलना योग कहलाता है, किन्तु साधना की दृष्टि से क्लिष्ट चित्तवृत्तियों का निरोध करना योग है। आत्मा ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर पवित्र होती जाती है, त्यों-त्यों परमात्मा से उसकी निकटता होती जाती है। पूर्णतया पवित्र होने पर आत्मा परमात्मा में मिल जाएगी। मलिनता चित्तवृत्तियों में आती है, उसके कारण द्वेष, कषाय, विषया-सक्ति, कर्म आदि अनेक हैं। मूल कारण कर्म हैं। परन्तु कषायादिजनित उक्त मलिनताओं को दूर करने के लिए यम, नियम आदि योग के आठ अंगों की साधना आवश्यक है। यम और नियम दोनों व्रत ग्रहण में आ जाते हैं। इसलिए योग-साधना में व्रतों का बहुत बड़ा महत्त्व है। हिंसा, असत्य आदि सब दोष राग-द्वेष आदि के कारण होते हैं। जब व्यक्ति हिंसा असत्य आदि को छोड़कर अहिंसा, सत्य आदि की अणुव्रतों-गुणव्रतों की साधना करता है तो स्वभावतः यम-नियमों की साधना हो जाती है, जो योग के ८ अंगों में हैं। इस दृष्टि से व्रत ग्रहण करने वाला एक प्रकार से योग-साधना करता है। आचार्य हेमचन्द्र ने योग-शास्त्र में अहिंसा, सत्य आदि महाव्रतों और अणुव्रतों को योग बताया है। वहाँ यम-नियम में इन्हीं व्रतों पर जोर दिया है, और सहजयोग को अत्यधिक महत्त्व दिया है।

व्रत : एक प्रकार से आत्म-संयम

जब मनुष्य अहिंसा आदि व्रतों का पालन करेगा, तब स्वतः ही मन और

इन्द्रियों पर नियंत्रण आ जाएगा। क्योंकि हिंसा और असत्य का आचरण करने में, जिस प्रकार मनुष्य स्वच्छन्दतापूर्वक खुलकर अपने हाथ, पैर, वाणी, जीभ, आँख, कान, नाक, मस्तिष्क, मन, बुद्धि एवं हृदय से प्रवृत्ति करता है, वैसे अहिंसा, सत्य आदि पांचों अणुव्रतों के स्वीकार करने पर इन सबका खुल्लमखुल्ला मनमाना उपयोग नहीं कर सकेगा। विवेकपूर्वक, अहिंसा आदि की मर्यादा में ही इनका उपयोग कर सकेगा। यही तो आत्म-संयम है। अतः व्रत एक प्रकार से आत्मसंयम है।

व्रत : आचारसंहिता

बिना आचारसंहिता के कोई भी राष्ट्र या कोई भी समाज व्यवस्थित एवं सुख-शान्तिपूर्वक जी नहीं सकता। मान लीजिए, एक गाँव ऐसा है, जहाँ चोर, उचक्के, उठाईगीरे या ठग ही अधिकांश बसते हों, वहाँ सज्जन आदमी का रहना कितना कठिन, कितना खतरनाक होता है। इसलिए प्रत्येक गाँव, नगर, राष्ट्र, जाति और संघ की आचारसंहिता बताई जाती है, ताकि उस ग्राम, नगर आदि में सुख-शान्ति और अमन-चैन हो, सभी लोग बिना किसी खतरे या संकट के जी सकें। व्रत भी आचार-संहिता का काम करते हैं। बल्कि व्रतों को ग्रहण कर लेने के बाद किसी भी देश, समाज, राष्ट्र, जाति या संघ में व्यक्ति बेखटके प्रवेश कर सकता है, सभी मूलभूत बुनियादी बातें किसी भी देश, नगर आदि की आचारसंहिता से टकराती नहीं, खिलाफ नही जातीं। इसलिए निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि व्रत आचारसंहिता के जाने-देखे बिना ही उसकी पूर्ति कर देते हैं।

व्रतों से जीवन-निर्माण

आजकल बहुत-से लोग अपने पुत्र-पुत्रियों की शिकायत हमारे सामने करते हैं कि हमारे लड़के-लड़की पश्चिम के संस्कारों में ढलते जा रहे हैं, भारतीय संस्कृति एवं धर्म-कर्म की बातें उन्हें नहीं सुहातीं। हम लोग चाहते हैं कि हमारी संतानों के जीवन का सुन्दर गठन हो। सुन्दर चरित्र-निर्माण क्या सिनेमा के आकर्षक दृश्यों से हो सकेगा ? क्या स्वच्छन्द और मनमाना जीवन बिताने से उनके जीवन का गठन हो सकेगा ? कदापि नहीं।

मैं मानता हूँ कि जीवन-निर्माण कोई बातों से नहीं हो सकता और न ही कुछ दिनों के अभ्यास से हो सकता है। जीवन-निर्माण के लिए व्रतों को अपनाना, उन्हें जीवन में उतारने और प्रत्येक प्रसंग पर सतर्क होकर निर्दोष आचरण करने का अभ्यास करना आवश्यक है। यह ठीक है कि व्रत किसी पर लादे नहीं जाने चाहिए, वे तो स्वेच्छा से स्वीकृत होने चाहिए। और तब क्रमशः व्रतों के संकल्प, अभ्यास, आदत और संस्कार से मनुष्य का जीवन-निर्माण होना कोई कठिन बात नहीं है।

व्रत : आत्मदमन रूप होने से सुखकारक

बहुत-से लोग, खासतौर से पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति में पले-पुसे लोग कहते हैं कि व्रतों को ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है ? क्यों जान-बूझकर अपने

आपका दमन किया जाय ? क्यों हम अपनी स्वतंत्र इच्छाओं को दबाएँ ? ऐसा जीवन, जिसमें पग-पग पर अनेक बंधनों से अपने आपको जकड़ लिया जाता है, नीरस, मनहूस और रूखा-सूखा बन जाता है। उस जीवन में एक नया अहंकार जो दूसरों से अपने को उत्कृष्ट मानने एवं मद के नशे से ओतप्रोत होता है, पैदा हो जाता है। इसलिए व्रत ग्रहण करके अपनी स्वतंत्रता पर चोट करना बहुत हानिकारक है।

एक ऐसा प्रबल सम्प्रदाय भी है, उसका कहना है कि अमुक नियमों का पालन करना उचित है, पर उसके लिए व्रत लेने की क्या आवश्यकता है ? व्रत लेना मन की निर्बलता सूचित करता है और हानिकारक भी हो सकता है। उसका कहना है कि किसी व्रत को लेने के बाद यदि वह अड़चन पैदा करता हो और पापरूप मालूम दे तो उसे पकड़े रहना तो और भी अधिक खतरनाक होगा। ऐसी हालत में व्रत बन्धनकारक साबित होगा। इसलिए व्रत वगैरह जंजाल हैं भारभूत हैं। नाहक अपने आपको बंधन में डालना है। ऐसे लोग यह आक्षेप भी करते हैं कि उदाहरण के तौर पर शराब न पीना अच्छा है इसलिए नहीं पीनी चाहिए, पर कभी पी ली गई तो क्या हुआ ? दवा की भाँति उसे पीने में क्या हर्ज है ? उसे न पीने का व्रत लेना, तो गले में फंदा डालने के समान है। जो बात शराब के बारे में वे कहते हैं, वही बात अन्य चीजों के बारे में कहते हैं। झूठ भी भलाई के लिए क्यों न बोला जाय ?

व्रत न लेने के बारे में ये सब दलीलें लचर हैं, निर्बल मन की द्योतक हैं। व्रतों को अंगीकार करना या न करना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है। कोई बलात् किसी को व्रत नहीं देता। थोड़ी देर के लिए मान लें कि व्रत बन्धन हैं, तो भी वे स्वेच्छा से स्वीकृत बन्धन हैं। अपने जीवन के श्रेय के लिए आत्मा के उत्थान एवं विकास के लिए तथा अपने आप अपना भविष्य मंगलमय व उज्ज्वल बनाने के लिए मनुष्य स्वेच्छा से कुछ बन्धन स्वीकार करता ही है। ऐसा किये बिना समाज और राष्ट्र की व्यवस्था स्थिर नहीं रह सकती।

व्रत को जो लोग सर्वथा दमन समझते हैं, उन लोगों को अनुभव होगा कि समाज और राष्ट्र में मर्यादा का अतिक्रमण करने वाली कुछ बातों को स्वयं न छोड़ा जाय तो दण्डशक्ति द्वारा जबरन छोड़ना पड़ता है। यदि दण्डशक्ति की भी मनुष्य परवाह नहीं करता है तो उसे सजा भोगनी पड़ती है। सरकार द्वारा जबर्दस्ती उसका दमन किया जाता है। इसकी अपेक्षा तो व्यक्ति स्वेच्छा से यदि आत्मदमन करता है तो उसे वह भाररूप भी नहीं लगता। स्वतन्त्रता से किये गए नियन्त्रण से स्वयं को भी सुख होता है और समाज एवं राष्ट्र में भी शान्ति और सुव्यवस्था बनी रहती है। इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट उजागर करते हुए भगवान महावीर ने कहा—

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पाहु खलु दुद्दम्मो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य॥

वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य।
माऽहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहि वहेहि य। —उत्तराध्ययन

—"अपना आत्मदमन स्वयं करना चाहिए, निःसन्देह आत्मदमन दुष्कर है। जो आत्मदमन कर लेता है, वह इस लोक और परलोक में सुखी होता है। दूसरे लोग मारपीट कर या बन्धन में डालकर मेरा दमन करें, इससे तो अच्छा यही है कि मैं स्वयं अपनी आत्मा का संयम और तप से (व्रतग्रहण से) दमन करूँ।"

कितना स्पष्ट मार्ग-दर्शन भगवान महावीर ने स्वयं आत्मदमन के सम्बन्ध में दिया है।

समस्त संसार का अनुभव इस बात की गवाही देता है कि जब तक व्यक्ति दृढ़ निश्चयपूर्वक आत्मदमन नहीं कर लेता, तब तक उसका ढिलमिल मन पतन की ओर जा सकता है। यदि एक बार भी वह पतन की ओर लुढ़क गया तो फिर उत्थान की ओर मुड़ना कठिन हो जाएगा। साथ ही अनिश्चित व्यक्ति समाज की नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन करेगा तो समाज एवं सरकार के द्वारा उसे दण्ड मिलेगा, उसकी बेइज्जती होगी, तथा परलोक में भी उस अपराध के फलस्वरूप उसे यातना मिलेगी। आत्मदमन से हीन व्यक्ति के लिए यह कितना मँहगा सौदा है? अगर वह पहले से ही व्रतग्रहण द्वारा आत्मदमन कर लेता तो निश्चित, सुखी, समाज में प्रतिष्ठित और परलोक में प्राप्त होने वाली यातना से सुरक्षित हो जाता।

व्रत-ग्रहण की आवश्यकता

व्रतों को ग्रहण करने की आवश्यकता तो अड़चनों को पार करने के लिए ही होती है। व्रत एक प्रकार का अटल निश्चय है, जिसके द्वारा असुविधा सहने पर भी विचलता नहीं आती। ऐसे निश्चय के बिना मनुष्य उत्तरोत्तर ऊपर नहीं उठ सकता। और फिर जो वस्तु पापरूप, एवं आत्म-विकास-घातक हो, उसका निश्चय व्रत ही नहीं कहलाता। वह तो एक प्रकार की आसुरी-वृत्ति का परिणाम है। किसी विशेष वस्तु का निश्चय, जो पहले पुण्यरूप प्रतीत हुआ हो और अन्त में पापरूप सिद्ध हो, उसको त्याग करने का धर्म अवश्य प्राप्त होता है। परन्तु कोई भी विवेकी एवं सम्यग्दृष्टि व्यक्ति ऐसी वस्तु के लिए व्रत नहीं लेता, और न लेना ही चाहिए।

भगवतीसूत्र में ऐसे त्याग, प्रत्याख्यान आदि को दुस्त्याग, या दुष्प्रत्याख्यान कहा है, जो अविवेकपूर्वक क्रोध, अभिमान, कपट या लोभ के आवेश में आकर ग्रहण किया जाता है। जैसे उपवास करना अच्छी चीज है, परन्तु कोई व्यक्ति गृहकलह के वश आमरण उपवास करके बैठ जाय, या लोभ के वश किसी व्रत को दिखावे के लिए ले ले तो उसका वह त्याग, व्रत या प्रत्याख्यान शुभ नहीं कहलाता।

जो सर्वमान्य धर्म माना गया है, पर जिसके आचरण की आपको आदत नहीं पड़ी, उसके सम्बन्ध में व्रत ग्रहण करना चाहिए। जो लोग कहते हैं कि सत्य कहने से किसी की हानि हो जाएगी तो सत्य का अर्थ ही उन्होंने नहीं समझा। सत्य तो

वही है, जो सब जीवों के लिए हितकर हो। जिस सत्य के साथ अहिंसा नहीं है, वह सत्य सत्य ही नहीं है। इसलिए सत्य से संसार में किसी की हानि हो ही नहीं सकती, ऐसा अटल विश्वास सत्यव्रतधारी को होता है। इसीलिए सत्यव्रतधारी की भावना को कवि उत्साहपूर्ण शब्दों में व्यक्त करता है—

सर जावे तो जावे, मेरा सत्य धर्म ना जावे।
सत्य के खातिर राय युधिष्ठिर राज्य छोड़ वन जावे,···मेरा०
सत्य के खातिर खुश हो सीता, कूद अगन बिच जावे,···मेरा०
सत्य के खातिर अकलंक राजा, शीष सहर्ष कटावे,··· मेरा०

मद्यपान के सम्बन्ध में भी यही बात है। मद्यपान करने से शरीर रहेगा ही, ऐसी कोई गारण्टी नहीं दी जा सकती। इसलिए मद्यपान त्याग का व्रत अटल निश्चय के साथ करना चाहिए। शराब न पीने से शरीर रहे तो ठीक है, अगर इस मद्यत्याग व्रत के लेने पर शरीर छूटता है, क्या हानि हो गई? धर्मपालन करते-करते शरीर छूट जाय तो इसकी खुशी होनी चाहिए। व्रतधारी को दृढ़ निश्चय होना चाहिए कि मेरा शरीर जाय या रहे, मुझे इस व्रत (धर्म) का पालन करना ही है। ऐसा भव्य निश्चय करने वाले ही किसी समय परमात्मा की दिव्य झांकी कर सकते हैं।

महात्मा गांधी के जीवन की एक घटना है। वे स्वराज्य आन्दोलन के सिलसिले में आजमगढ़ गये थे। वे उस समय एक परिचित सद्गृहस्थ के यहाँ ठहरे, जिनके सुपुत्र बच्चाबाबू आजकल वाराणसी के पास भेलूपुर में रहते हैं। उक्त परिवार ने गांधीजी की बड़ी आवभगत की। परन्तु गांधीजी का ध्यान उक्त परिवार के नायक के अफीम खाने की ओर गया। उन्हें उक्त देशसेवा प्रेमी का अफीम खाना बहुत खटका। गांधीजी ने इस ओर उनका ध्यान खींचा, अतः शर्मिन्दा होकर उन्होंने गांधीजी के सामने अफीम-त्याग का व्रत ले लिया। परिवार के लोगों ने उन्हें बहुत समझाया कि आप एकदम अफीम को छोड़ेंगे तो आपके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पड़ेगा, इसके बजाय आप धीरे-धीरे कम करते हुए इसे छोड़ें तो ठीक रहेगा। परन्तु परिवार के नायक गांधीजी के रंग में रंगे हुए थे, इसलिए पत्नी-पुत्र आदि किसी की भी न मानी। गांधीजी और कस्तूरबा आदि दूसरे दिन ही वहाँ से अन्यत्र चल पड़े। गांधीजी के जाने के दूसरे दिन ही उक्त परिवार के नायक का शरीर गड़बड़ा गया। सारा शरीर टूटने लगा। वे मछली की तरह तड़फड़ाने लगे। उनकी यह हालत देखकर पत्नी-पुत्र आदि ने उन्हें थोड़ी-सी अफीम देने की सलाह की। जब परिवार नायक को पता चला, तो उन्होंने अफीम लेने से बिलकुल इन्कार कर दिया। मगर उनकी हालत जब तीसरे दिन भी नहीं सुधरी तो उनकी पत्नी ने महात्मा गांधी को पत्र लिखा कि आपने तो इन्हें अफीम का सदा के लिए सर्वथा त्याग करा दिया; परन्तु अब इनकी मरणासन्न स्थिति है। अगर आप मेरा सुहाग सुरक्षित रखना चाहते हैं तो इन्हें (मेरे पति को) अफीम खाने की छूट दे दें। वरना इनकी परलोक-गमन की तैयारी दीखती है।····"

महात्मा गांधी ने पत्र पढ़ा और उन्होंने गम्भीरतापूर्ण शब्दों में उत्तर दिया—

"बहन ! तुम्हारे पतिदेव अफीम छोड़ने से इतनी मरणासन्न हालत में पहुँच गए, यह जानकर अफसोस है। लेकिन अफीम वापिस ले लेने से वह ठीक ही हो जायेंगे, ऐसी कोई गारण्टी नहीं। उनका आयुष्य बलवान नहीं हुआ तो अफीम क्या, कोई भी चीज उन्हें नहीं बचा सकती। बल्कि इस (अफीमत्याग व्रत) धर्म का पालन करते-करते वे शरीर छोड़ेंगे तो उनका वीरतापूर्वक मरण समझा जायगा। कायरतापूर्वक इन्द्रिय विषयों के गुलाम होकर मरने की अपेक्षा यह मृत्यु ज्यादा श्रेयस्कर है। इसलिए मेरी सलाह है कि उन्हें अफीम अब कतई न दी जाय, ईश्वर के भरोसे छोड़ा जाय। वे अवश्य ही ठीक होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।"

गांधीजी का यह मर्मस्पर्शी पत्र पहुँचा। बहन की आँखों में चमक और हृदय में दृढ़ता आ गई। उसने अपने पति को अफीम नहीं दिया। तीन-चार दिन में तबियत ठीक होने लगी। एक हफ्ते में तो स्वास्थ्य बिलकुल ठीक हो गया। सबको अत्यन्त आश्चर्य हुआ। तब से बच्चा बाबू के पिताजी का स्वास्थ्य बहुत अच्छा हो गया। वे स्वयं बाराणसी आकर रहने लगे। ८०-८५ वर्ष की उम्र में भी वे ३-४ मील प्रतिदिन घूम लेते थे।

यह है व्रत पालन का रहस्य !

इसलिए व्रत लेना निर्बलता का सूचक नहीं, अपितु वीरतासूचक है। परमात्मा एवं आयुष्य बल पर विश्वास रख कर संकटों का व्रतपालनपूर्वक हँसते-हँसते सामना करना क्या निर्बलतासूचक है ? बल्कि यह व्रतपालक के दृढ़ निश्चय का द्योतक है। इसके विपरीत, जहाँ तक हो सकेगा, पालन करूंगा, व्रत-प्रत्याख्यान नहीं लूँगा, यह शब्दावली ही कमजोर मन की निशानी है। इसको लेकर लोगों में यह प्रचार करना कि 'मैं तो व्रत नहीं लेता', अभिमान का सूचक है; भले ही वह अपने अभिमान को नम्रता कहे। 'जहाँ तक हो सकेगा, वैसे ही पालन करूँगा, व्रत ग्रहण नहीं करूँगा,' यह शब्दावली ही शुभ निश्चय में विष के समान घातक है। पतन और फिसलन का रास्ता खोलने वाली है, पहली ही अड़चन या विपत्ति के सामने घुटने टेक देना है।

आप तो व्यापारी हैं। क्या ऐसी हुण्डी या चिट्ठी बैंक में स्वीकृत की जा सकती है, जिसमें लिखा हो कि यथासम्भव अमुक तारीख को रकम चुका दी जायगी ? कदापि नहीं। इसी प्रकार 'जहाँ तक हो सकेगा, अमुक व्रत का पालन करूँगा,' ऐसा कहने वालों की हुण्डी भगवान के यहाँ नहीं सिकरेगी।

व्यापारी एक-दूसरे के प्रति वायदे से बँधे न हों तो व्यापार चल ही नहीं सकता। पति-पत्नी एक-दूसरे के साथ आजीवन प्रतिज्ञाबद्ध न हों तो भी काम चल नहीं सकता इसी प्रकार सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में भी व्रतबद्धता न हो तो काम चल ही नहीं

सकता। इसलिए व्रत बन्धन नहीं, अपितु अपने जीवन के गठन, दृढ़ निश्चय, वीरता एवं समाज विश्वास के लिए स्वेच्छा से स्वीकार है।

मुझे कई आध्यात्मिक लोग ऐसे भी मिले, जिन्होंने कहा—"हमने ब्रह्मचर्य का व्रत नहीं लिया, फिर भी हम ब्रह्मचारी हैं, हम सत्य आदि व्रत लेकर अपने को नाहक बाँधते नहीं, हमें सत्य प्रिय है, इसलिए हम उसका पालन करते हैं।" मैंने उनसे कहा—सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में समूह की साक्षी से व्रत ग्रहण किये बिना समाज एवं राष्ट्र को कोई प्रतीति नहीं होती, व्रत ग्रहण न करने वाले का मन किसी भी समय ढीला हो सकता है। इसलिए लोकप्रतीति के लिए समूह में व्रत ग्रहण करना आवश्यक है।

दूसरी बात यह है कि अगर कोई यह नियम लेता है कि "मैं आंखों से देखूंगा, कानों से सुनूंगा", तो वह अत्यन्त स्वाभाविक होगा, क्योंकि मनुष्य आंखों से ही देखता है, कानों से ही सुनता है। अतः यह बात नियम रूप नहीं रहती, सहज बन जाती है। इसी प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि आत्मा के सहज स्वाभाविक गुण हैं, ये सब आत्मा के रूप हैं, इसलिए ये आत्मा के सहज सिद्ध भाव हैं, इनका व्रत बन्धन रूप या बोझ रूप नहीं प्रतीत होता बल्कि कोई व्यक्ति ऐसा व्रत ले, (हालांकि ऐसा व्रत होता नहीं) कि 'मैं कभी असत्य बोलूंगा, कभी सत्य' तो उसके ऊपर बोझ पड़ेगा। कब झूठ बोलना है, यह सोचने में सावधान रहना पड़ेगा। लेकिन सत्य इतना सहज सरल है कि यह सहज स्वाभाविक रूप से सध जाता है। अतः ऐसा कदापि न मानिए कि सत्य, अहिंसा आदि व्रत लेंगे तो अपने को बाँध लेंगे। वास्तव में देखा जाय तो अहिंसा आदि व्रतों के कारण आपका जीवन अत्यन्त सुरक्षित रहता है, चित्त को चंचल होने का मौका ही नहीं मिलता। इन्द्रियनिग्रह भी बिलकुल सहज दालभात जैसी साधारण बात हो जाती है। फिर भी उलझन यह है कि कुछ बुद्धिवादी लोग इन्हीं सहज स्वभाव के अनुकूल व्रतों को बन्धन रूप समझते हैं। यह उनकी विकृत मनः-स्थिति का परिचायक है। वेद में सूर्य को नित्य समय पर उदित होने वाला व्रतधारी कहा है, पानी में रहने वाले वरुण को भी धृतव्रत कहा है। गीता में भी कहा है—

'सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः'

आज तक प्रचलित इन पावन व्रतों को लोग बन्धन एवं बोझ समझते हैं, इससे प्रतीत होता है कि ऐसे लोग सारे मंगलमय पवित्र प्रवाह से कटे रहना चाहते हैं। सचमुच, अपने मन के अनुसार चलने की बात कहना, घोर गुलाम मनोवृत्ति है। मन तो आत्मा का नौकर है, उसके कहे अनुसार चलना और अपने को स्वातंत्र्यवादी कहना 'वदतो व्याघात' है, अत्यन्त हास्यास्पद है।

व्रत ग्रहण विचारपूर्वक हो

हाँ, एक बात जरूर है कि विचार किये बिना व्रत नहीं लेने चाहिए। भगवान् महावीर या अन्य साधु-साध्वियों ने किसी पर भी व्रत या नियम लादने का प्रयास नहीं

किया। उन्होंने व्रतों का स्वरूप अवश्य समझाया, परन्तु स्वरूप समझने के बाद आनन्द, कामदेव, महाशतक आदि श्रावकों ने अणुव्रत ग्रहण करने या अर्जुनमाली, मेघकुमार, शालिभद्र, धन्ना आदि ने जब स्वयं महाव्रत स्वीकार करने की बात रखी तब भी उन्होंने 'जहासुहं देवाणुप्पिया' कह कर साधक की इच्छा, रुचि और शक्ति पर ही छोड़ दिया। तात्पर्य यह है कि व्रत देने की चीज नहीं, स्वयं लेने की चीज है। जब स्वयं ग्रहण करने की चीज है तो उसमें जबर्दस्ती तो हो ही नहीं सकती। एक बात का विवेक व्रत देने वाले को अवश्य करना है—अणुव्रत या महाव्रत जो ग्रहण करना चाहता है, उसकी योग्यता, क्षमता, वय, पात्रता आदि को अवश्य देखे। जैसे कोई व्यक्ति घर से लड़-झगड़ कर आवेश में आकर किसी साधु-साध्वी से कहे कि मुझे संल्लेखनाव्रत (आजीवन अनशन) करा दीजिए, तो उस समय उक्त साधु-साध्वी को उक्त व्रत ग्रहण कराना उचित नहीं। स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले को सहसा संल्लेखनाव्रत लेना ही नहीं चाहिए, न महाव्रती साधक को उसे ऐसा व्रत दिलाना चाहिए। इसी प्रकार चार साल के बच्चे को ब्रह्मचर्यव्रत की दीक्षा देना उतना ही गलत है, जितना गलत उसका विवाह करना। विवाह क्या है, यह समझने की जैसे उसकी स्थिति नहीं, वैसे ही ब्रह्मचर्य क्या है ? इसे समझने की भी उसकी भूमिका नहीं। विवाह का विचार तो चार साल के बच्चे में अंकुरित ही नहीं होता, परन्तु ब्रह्मचर्य आत्मा का सहज स्वभाव है, इसलिए ऐसे बच्चे को ब्रह्मचर्य के संस्कार दिये जा सकते हैं, वे संस्कार क्रमशः परिपक्व होते रहेंगे, किन्तु ब्रह्मचर्यव्रत की उसे प्रतिज्ञा देना गलत होगा। इसलिए व्रतग्रहण विचारपूर्वक होना चाहिए।

एक बात और है, जिसे ध्यान में रखा जाय तो प्रत्येक समझदार व्यक्ति व्रत ग्रहण को अनिवार्य मानेगा। भारतीय संस्कृति में पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन के कुछ मूल्य हैं, जो अपरिवर्तनीय हैं, सनातन हैं, शाश्वत हैं, उनके विषय में पूर्ण निष्ठा होनी चाहिए। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि पाँच व्रत, जो निर्विवाद हैं, सर्व धर्ममान्य हैं, ऐसे ही मूलभूत एवं अपरिवर्तनीय हैं। कई जगह तो आश्रमों या उपाश्रयों आदि में प्रतिदिन वे बोले जाते हैं, आध्यात्मिक जीवन का सार इनमें आ जाता है; इसलिए इन्हें व्रत रूप में स्वीकार करने में किसी भी संभ्रान्त व्यक्ति को हिचक नहीं होनी चाहिए।

यह बात अलग है कि भिन्न-भिन्न धर्मों और दर्शनों ने इन मूलव्रतों की सुरक्षा के लिए नियमों, गुणव्रतों व शिक्षाव्रतों या उपव्रतों के रूप में देशकाल को देखकर विभिन्न योजना की हो, परन्तु हैं वे इन पाँचों के ही संरक्षण-संवर्द्धन तथा विकास के लिए।

व्रत सार्वभौम हैं

कई लोग यह शंका उठाते हैं कि ये व्रत भगवान महावीर या भगवान पार्श्वनाथ द्वारा उपदिष्ट हैं, इसलिए जैनों के लिए ही हैं, जैनों को ही इन्हें ग्रहण

करना चाहिए। हम ब्राह्मण हैं, क्षत्रिय हैं, अग्रवाल वैश्य हैं अथवा हरिजन या वैष्णव हैं, हम इन्हें कैसे ग्रहण कर सकते हैं ?

यह कहने वालों ने धर्म के सार्वजनिक स्वरूप को नहीं समझा है। अहिंसा, सत्य आदि धर्म के अंगों या व्रतों पर किसी की बपौती नहीं है, किसी एक ही धर्म-सम्प्रदाय का उस पर अधिकार नहीं है, न किसी एक जाति, कुल, कौम, प्रान्त, राष्ट्र या देश का ही उनके पालन पर प्रतिबन्ध है, और न ही किसी समय या परिस्थिति में इन व्रतों का पालन असम्भव या ये अग्राह्य हैं। सभी धर्मसम्प्रदायों, तमाम देशों, समस्त जाति-कौमों, सर्व राष्ट्रों, प्रान्तों या क्षेत्रों में, सम्प्रदायों में, व्रतों का पालन हो सकता है। जैनधर्म ने महाव्रतों या अणुव्रतों के पालने पर किसी भी व्यक्ति, जाति, देश, काल आदि का प्रतिबन्ध नहीं लगाया है।

जैनधर्म ने जैसे महाव्रत ग्रहण करने के लिए सभी समय में सभी धर्मसंघ, कौम, जाति, देश के भाई-बहनों के लिए द्वार खुले रखे हैं, बशर्ते कि महाव्रत ग्रहण करने के उम्मीदवार में तदनुरूप योग्यता और क्षमता हो, वैसे ही अणुव्रत ग्रहण करने के लिए भी सबके लिए द्वार उन्मुक्त रखे हैं। ब्राह्मण आए, क्षत्रिय आए, वैश्य आए, चाहे शूद्र आए; किसी भी देश, धर्म का हो, अगर वह व्रत ग्रहण करने के योग्य है, और ग्रहण करना चाहता है तो कर सकता है। महाव्रत ग्रहण करने के सम्बन्ध में भी जैनधर्म की नीति उदार रही है। यही कारण है कि इन्द्रभूति गौतम जैसे—ब्राह्मण, मेघकुमार जैसे क्षत्रिय, जम्बूकुमार से वैश्य, तथा अर्जुनमालाकार एवं हरिकेशबल जैसे शूद्र जातीय, यहाँ तक कि आर्द्रककुमार जैसे विदेशी साधक भी महाव्रती श्रमण बने हैं, आज भी बनते हैं।

वैदिक धर्म में व्रत केवल यतियों के लिए सुरक्षित रखे गए थे, और वे भी प्रायः ब्राह्मण वर्णीय व्यक्ति के लिए थे। ब्राह्मण को ही प्रायः संन्यास का अधिकारी समझा जाता था। महात्मा गांधी ने सबके लिए व्रतों की आवश्यकता बताई। व्रतों को सार्वभौम बताकर उन पर से किसी भी एक जाति, देश, काल, समय आदि का प्रतिबन्ध हटा दिया। महर्षि पतंजलि ने कहा—

'जाति-देश-काल-समयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्'

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाँचों यम हैं, ये किसी जाति, देश, काल एवं परिस्थिति या शर्त के प्रतिबन्ध से रहित हैं, सर्वव्यापक हैं, समस्त भूमिकाओं में पालनीय हैं, महान् व्रत हैं।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि सभी जाति के लोग, यहाँ तक कि सभी वर्ग या कौम के लोग अहिंसादि व्रतों का पालन कर सकते हैं। प्राचीनकाल में सम्प्रति जैसे कई क्षत्रिय राजाओं ने श्रावकव्रत ग्रहण किये थे, बीच के युग में कुमारपाल राजा ने आचार्य हेमचन्द्र से श्रावक के १२ व्रत धारण किये थे। यहाँ तक कि हरमन जैकोबी, मेथ्यु मैके आदि विदेशी लोगों ने भी अणुव्रत ग्रहण किये थे। इसलिए राजा हो, सेठ

हो, सत्ताधीश हो, मन्त्री हो, या अन्य कोई भी व्यक्ति हो श्रावकव्रत के योग्य प्रत्येक व्यक्ति इन व्रतों का पालन कर सकता है।

धार राज्य के एक स्थानकवासी जैन सेठ थे। वे राजमान्य एवं वैभव सम्पन्न थे। बापूजी नामक एक महाराष्ट्रीयन उनके मित्र थे। बापूजी राजपरिवारीय थे। सेठजी के सम्पर्क से उन्हें जैनधर्म पर श्रद्धा हो गई। साधु-साध्वियों के सम्पर्क से उन्हें अधिक धर्मप्रेम हो गया। उन्होंने श्रावक व्रत ग्रहण कर लिये। राजदरबार में उनको सभी 'बापूजी ढूंढ़िया' कहने लगे। वे स्वयं कहते कि मैंने वीतराग परमात्मा को ढूंढ़ लिया है। एक दिन सेठजी ने उनसे कहा—"बापूजी! आपकी धार्मिकता तो मेरे से भी ज्यादा बढ़ गई है, मैं तो आपसे पीछे रह गया।" इस पर बापूजी बोले—"सेठजी! आप ठहरे वंशपरम्परागत धनिक, और मैं ठहरा जन्म से गरीब। गरीब को धन मिलता है तो वह यत्न के साथ रखता है, वंश परम्परागत धनिक उपेक्षा कर देता है। यही कारण धर्म के सम्बन्ध में हुआ है।" उत्तर सुनकर सेठजी ने मन ही मन लज्जित होते हुए कहा—"धन्य है, बापूजी! आपने व्रतग्रहण करके धर्मरूपी धन पा लिया है।"

इसीप्रकार आपको तो यह धर्म रूपी धन वंश परम्परा से मिल रहा है, आप भी व्रत ग्रहण करके इसमें वृद्धि कर सकते हैं।

कई लोग कहते हैं कि इन व्रतों का पालन तो भारतवर्ष में ही किया जा सकता है, विदेश में, जहाँ कि वातावरण नहीं है, इनका कैसे पालन किया जा सकता है? परन्तु यह बात भी यथार्थ नहीं है। चम्पतराय बैरिस्टर आदि कई लोग अणुव्रती श्रावक थे, विदेश में रहकर भी अपने व्रतों पर दृढ़ रहे। महात्मा गांधी ने विदेश में रहकर व्रतों का पालन किया। इसलिए प्रत्येक देश, प्रान्त या ग्राम-नगर में इन व्रतों का पालन हो सकता है। इसी प्रकार वैदिक धर्म में वानप्रस्थाश्रम के बाद ही संन्यास-आश्रम स्वीकार करने का विधान था, किन्तु शंकराचार्य के बाद जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन संन्यास लेने का विधान किया गया। जैनधर्म में तो यह पहले से ही विधान था। कई लोग कहा करते हैं कि गृहस्थधर्म के व्रतों का ग्रहण भी बुढ़ापे में होना चाहिए। जैनधर्म कहता है—नहीं, जब से जागे, तब से सवेरा। बालक, युवक, वृद्ध सभी जैनधर्म का व्रतपालन कर सकते हैं। इसी प्रकार हर परिस्थिति में व्रत ग्रहण करके उनका पालन किया जाना चाहिए। बल्कि संकट के समय तो दृढ़तापूर्वक व्रत पालन करना चाहिए। भगवान् महावीर ने श्रमण-श्रमणियों के लिए हर परिस्थिति में महाव्रत पालन का विधान किया है—[1]वह भिक्षु या भिक्षुणी ग्राम में हो, या नगर में, चाहे शून्यवन में हो, अकेला हो या परिषद् में हो, सोया हो या जागता हो, सर्वत्र सब परिस्थितियों में महाव्रतों का आचरण करे। जो

---

१ 'से गामे वा नगरे वा रण्णे वा, एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा....' —दशवैकालिक सूत्र

बात महाव्रतों के पालन के सम्बन्ध में कही गई है, वही बात अणुव्रतों तथा अन्य उपव्रतों के पालन के सम्बन्ध में समझ लेनी चाहिए। इसलिए व्रतों को सार्वभौम कहा गया है।

जीवन में व्रती श्रावक को भी सदा जागरूक रहकर व्रतों का पालन करना आवश्यक है। समस्त भूमिका के लोग व्रतों का ग्रहण और पालन कर सकते हैं। एक राह चलता भिखारी हो, मजदूर हो, या झोंपड़ी में रहने वाला गरीब हो, चाहे एक महलों में रहने वाला राजा हो, धनकुबेर सेठ हो, या जमींदार हो, सभी इन व्रतों का ग्रहण, आराधन एवं पालन कर सकते हैं।

व्रत व्यवहार्य हैं

जितने भी व्रत हैं, वे सभी व्यवहार के योग्य हैं। यह कोई ऐसा आदर्श नहीं, जिसे अव्यवहार्य कह कर टाल दिया जाय। सारा व्यवहार इनके साथ टिक और चल सकता है। बल्कि आप यह देखेंगे कि इन व्रतों से आपका व्यवहार पुष्ट बनता है। जीवनक्रम बन्द नहीं होता, प्रत्युत व्यवस्थित होता है। स्व-शासित समाज या व्यक्ति के लिए व्रत आवश्यक हैं। यह ऐसा अंकुश नहीं है, जो हमारी अन्तश्चेतना को क्षत-विक्षत कर दे। बल्कि यह स्वेच्छिक अंकुश है जो हमारी चेतना को स्वस्थ, शक्तिशाली एवं विकसित करता है।

व्रतग्रहण के लिए प्रेरणा

व्रतों के स्वरूप, उनकी अनिवार्यता, उपयोगिता, महत्त्व एवं लाभ के सम्बन्ध में मैं काफी विस्तार से कह गया हूँ। आशा है, आपको व्रत ग्रहण के सम्बन्ध में सभी बातें हृदयंगम हो गई होंगी। मेरा नम्र सुझाव है कि आप व्रतों के सम्बन्ध में केवल सुनकर ही न रह जाएँ, चिन्तन-मनन करके, अपनी रुचि, शक्ति और क्षमता देखकर व्रतग्रहण करने का प्रयत्न करें। व्रतों के ग्रहण से आपकी आत्मा में क्षमता और शक्ति बढ़ेगी। आप मानव-जीवन के लक्ष्य की ओर प्रगति कर सकेंगे। □

3

व्रतनिष्ठा एवं व्रतग्रहण विधि

☆

भारतीय संस्कृति धर्मप्रधान है। यहाँ प्रत्येक वृत्ति, प्रवृत्ति, क्रिया और चेष्टा को शुद्ध धर्म की दृष्टि से नापा-तौला जाता है। मनुष्य के प्रत्येक कदम को धर्मदृष्टि से ही यहाँ की जनता जाँचने-परखने की अभ्यस्त है। यहां तक कि राजनैतिक क्षेत्र के लोगों के आचरण की भी यहाँ कड़ी आलोचनाएँ हुई हैं और होती हैं। जीवन को धर्म से ओत-प्रोत करना हो तो उसके लिए व्रतनिष्ठा-आवश्यक है।

विश्व में सुख-शान्ति के लिए व्रतनिष्ठा आवश्यक

मैंने पिछले प्रवचन में विभिन्न दृष्टियों से व्रत का स्वरूप, महत्त्व और उसकी उपयोगिता बताई थी। आज व्रत के सम्बन्ध में कुछ अन्य पहलुओं पर हम विचार करेंगे। आप यह तो भलीभाँति जानते है कि सारे संसार के सामने आज एक ही प्रमुख समस्या उपस्थित है कि मनुष्य जाति सुख-शान्ति से कैसे जीए ? सारे संसार में अध्यात्मवाद का स्थान प्रायः राजनीति ने ले लिया है। वर्तमान राजनीति का झुकाव छल, बल, प्रपंच, भौतिकता, सत्तालिप्सा और अर्थ प्राप्ति की ओर ही मुख्यतया रहा है। ऐसी दशा में सभी राष्ट्रों का ध्यान अपनी हुकूमत जमाने और सत्ता की कशमकश करने की ओर रहता है। धर्म की मर्यादाओं, नैतिकता के नियमों को प्रायः ताक में रखकर ये सब कार्य किये जाते हैं। राजनीतिज्ञों की राय बहुधा भौतिकता-प्रधान होती है। वे राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक क्षेत्र में अनैतिकता, मर्यादाहीनता आदि के जो रोग लगे हैं, उनके मूल कारणों का विचार करके आध्यात्मिक दृष्टि से उनके निवारण का उपाय नहीं सोचते। वे रोगों के मूल कारणों का उपचार न करके उनके लक्षणों का उपचार करते हैं, इसी कारण संसार के राष्ट्रों का वातावरण संघर्षमय एवं अशान्त बना रहता है। इसी ऊपरी उपचार के कारण पुरानी बीमारियाँ बार बार उभर आती हैं। शस्त्रीकरण में प्रतिद्वन्द्विता, गुप्त कूटनीति, गुटबंदी, युद्ध की विभीषिका आए दिन मँडराती रहती है।

यही कारण है कि राजनीतिज्ञ लोगों के दिये हुए हल से रोग घटने के बजाय बढ़ते ही रहे। अतः अध्यात्म प्रधान भारतीय संस्कृति के उन्नायकों ने रोगों का सही निदान करके अहिंसा आदि व्रतों की निष्ठा ही उनके निवारण के उपाय के रूप में

बताया था। अगर आज विभिन्न राष्ट्रों के नेता एवं राजनीतिज्ञ व्रतबद्ध हो जायें और व्रत के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय आचारसंहिता को स्वीकार करलें तो विश्वशान्ति के दर्शन निकट भविष्य में ही हो सकते हैं। व्रताचरण का मार्ग जीवनपथ के रूप में स्वीकार करने पर व्यर्थ के संघर्ष और अशान्ति की सम्भावना नहीं रहती। क्योंकि अहिंसाव्रत का अर्थ यही है कि प्रत्येक नर-नारी के हित साधन का समान विचार रखा जाय तथा अधिक से अधिक मात्रा में कारगररूप में आत्मानुभूति के अवसर प्रदान किये जायें। इसलिए विश्वव्यवस्था की दृष्टि से व्रतबद्धता बहुत ही आवश्यक है। व्रतबद्धता ही राजनैतिकों के लिए नकेल है, जो उन्हें उत्पथ पर जाने से रोक सकती है।

व्रतनिष्ठा से भौतिक विज्ञान पर अंकुश लगेगा

आज संसार में भौतिक विज्ञान का बोलबाला है। विज्ञान ने भौतिक पदार्थों के उत्पादन में अत्यधिक तरक्की की है। उत्पादन के लिए उसने नये-नये यंत्र प्रदान किये हैं, जिससे संसार के सभी वर्ग नर-नारियों के लिए भौतिक सुख के साधन सुलभ हो गए, सुरक्षा के लिए अस्त्र-शस्त्रादि साधन भी प्रचुर मात्रा में हो गए। किन्तु इतना सब होने के बावजूद भी वितरण व्यवस्था ठीक नहीं है, मनुष्य में शोषणवृत्ति स्वार्थ और बेईमानी आगई है। ऐसा होने का क्या कारण हुआ ? इसका उत्तर वैज्ञानिकों के पास नहीं है। वस्तुओं की बहुलता होते हुए भी मनुष्य गरीब है, और आत्म-विकास के अनेक साधन होते हुए भी वह अन्धकार से घिरा है। अध्यात्म-प्रधान धर्म इसका उत्तर यों देता है कि उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ उत्पादकों और उपभोक्ताओं में जब तक धर्ममर्यादा और धर्ममर्यादा के आचरण के लिए व्रतनिष्ठा नहीं आयेगी, तब तक वितरण का सन्तुलन ठीक न होने से विषमता और संघर्ष अवश्यम्भावी होगा। जब दोनों वर्ग के लोग व्रत ग्रहण करके धर्ममर्यादा पर चलेंगे तब यह आपाधापी, संघर्ष और अशान्ति नहीं रहेगी।

भगवान ऋषभदेव युग की तरह वर्तमान में भी व्रतबद्धता आवश्यक

युगादि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का युग अकर्मभूमि का था यौगलिक जनता न तो उत्पादन करती थी, न कोई वितरण का प्रश्न था। वह तो प्रकृति पर निर्भर रहती थी। परन्तु जब अकर्मभूमि का युग समाप्त हो गया, यौगलिक जनता में सन्तान वृद्धि होने लगी, इधर उत्पादन होता ही नहीं था। इसलिए जीवनयापन की आवश्यक वस्तुओं के लिए आपस में तू-तू-मैं-मैं होने लगी। इस संघर्ष से घबराकर यौगलिक जनता भगवान ऋषभदेव के पास आई और उसने उनसे सुख से जीवनयापन का उपाय पूछा। भगवान ऋषभदेव ने जनता का हित समझकर कलाओं, विद्याओं और शिल्पों की शिक्षा दी। कहा—"अब कर्मभूमि का युग आ गया है, इसलिए श्रम किये बिना कोई चारा नहीं है। कृषि आदि में श्रम करके उत्पादन बढ़ाने पर ही जीवनयापन सुख से हो सकेगा।" किन्तु इस शिक्षा के साथ ही भगवान ऋषभदेव ने सोचा कि केवल उत्पादन होने से तो कोई व्यवस्था जमेगी नहीं, वितरण के समय फिर

तू-तू-मैं-मैं होगी। इसलिए यौगलिक लोगों को गृहस्थधर्म का उपदेश दिया। गृहस्थ-धर्म की मर्यादा का पालन करते हुए वितरण व्यवस्था बताई। क्षत्रिय वर्ग को न्याय और सुरक्षा की बात समझाई। इस प्रकार के उपदेश से उत्पादन, वितरण, न्याय, सुरक्षा आदि सब कार्यों के साथ धर्ममर्यादा आ गई और संघर्ष से होने वाली अव्यवस्था, अशान्ति और बेचैनी समाप्त हो गई।

इसी प्रकार वर्तमान युग में भी उत्पादक और उपभोक्ता यदि व्रतबद्ध होकर धर्ममर्यादा का पालन करें, तथा मालिक और मजदूर दोनों व्रतमय जीवन बिताने लगें तो सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में हुई अव्यवस्था समाप्त हो सकती है। क्योंकि व्रत ग्रहण करने से पशुता पर नियंत्रण लग जाएगा, जीवन अनुशासन में चलेगा। इस प्रकार एक-दूसरे के सहयोग से जीवन सुखकर बन जायेगा।

जैसे भगवान ऋषभदेव ने भूतपूर्व यौगलिक जनता को अनुशासित, नियन्त्रित एवं धर्ममर्यादा में अनुबद्ध करने के लिए स्वयं महाव्रती बनने के बाद लोगों को व्रत ग्रहण करने की आवश्यकता बताई, वैसे ही वर्तमान युग में भी जनता को व्रत ग्रहण करने की आवश्यकता है।

भारत के जितने भी धर्म हैं, उन सब में व्रतों-उपव्रतों या यम-नियमों का बहुत बड़ा महत्त्व है। किन्तु जब तक व्रतों के मूल उद्देश्य, उनके आचरण की विधि, अणु-व्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का गृहस्थ जीवन के साथ सम्बन्ध आदि का ज्ञान भली-भांति न हो, व्रतों की निष्ठा न हो, तब तक ऊपर-ऊपर से व्रत ले लेने पर भी मनुष्य उसमें से अपने मतलब की छूट ले ले कर उन्हें भंग करता रहेगा। अतः व्रतों के सम्बन्ध में परिपक्व ज्ञान होना बहुत आवश्यक है।

व्रतों का आदर्श छोटा न बनाओ

महाव्रत हों या अणुव्रत, दोनों का आदर्श चारित्र की पूर्णता तक पहुँचना है। गृहस्थ चाहे अणुव्रतों को ही अपनी शक्ति के अनुसार ग्रहण करता है, लेकिन वह अपने आदर्श को नीचा न गिरने दे। आदर्श को नीचा गिरा देने पर व्रत-पालन में मनुष्य आगे नहीं बढ़ पाता। वह वहीं का वहीं रह जाता है। पर्वतारोही चाहे हिमालय की चोटी पर आज का आज ही न चढ़ सके, परन्तु वह आदर्श तो उसके शिखर को ही बनाता है। भले ही वह अभी हिमालय की तलहटी में ही क्यों न खड़ा हो। इसी प्रकार साधना के सर्वोच्च शिखर पर चढ़ने का अभिलाषी साधक भले ही गृहस्थ हो और वह आज का आज ही सर्वोच्च शिखर पर न चढ़ सके, चाहे वह आज अणुव्रत के पथ पर है, किन्तु उसे आदर्श को नीचा नहीं गिराना चाहिए, न उसे छोटा करने की जरूरत है। अर्थात् आदर्श को आप क्षीण न करें, न ही निम्न कोटि में उतारें, न ही प्रत्येक व्रत की व्याख्या अपनी सुविधानुसार हलके रूप में करें।

यदि साधक अपनी सुविधा के अनुसार आदर्श को क्षीण कर लेता है यानी उसे निम्न कोटि का बना लेता है तो इसमें वह अपनी ही हानि करता है, अपना

मनोबल क्षीण कर लेता है। फिर तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुविधानुसार व्रत का अर्थ निश्चित करके उसे ही आदर्श मान लेगा। इसप्रकार व्रतों की मूलस्पर्शी आदर्श व्याख्या को कम करके उन्हें मूल स्थान से नीचे उतार देना अपने पतन को न्यौता देना है। वैसे देखा जाय तो जो पूर्ण है, वही सत्य है, वह आदर्श है, जो अपूर्ण है, वह आदर्श नहीं होता। आदर्श का मार्ग सीधा है ऊर्ध्वगामी है, और आदर्श को नीचे गिराने का मार्ग अधोगामी एवं टेढ़ामेढ़ा है। उसमें मनुष्य छटकने का द्वार ढूंढता रहता है।

पूर्णता तक पहुँचने का अर्थ ही है—परमात्मा तक पहुँचना। आदर्श आपके लिए ध्रुवतारा होना चाहिए। परमात्म भाव का अनुभव प्राप्त करने के लिए ही सारे व्रत हैं। इसलिए व्रतों को जितनी अधिक सूक्ष्मता से आप समझ सकते हों, वहाँ तक चढ़ने का प्रयत्न आपको करना चाहिए। आदर्श जितना ऊँचा होगा, आपका प्रयत्न भी उतना ही तीव्र और उत्कृष्ट होगा। उच्च आदर्श को सामने रखने से आपके प्रयत्नों एवं कदमों के भी आगे बढ़ने की सम्भावना बढ़ेगी।

तात्पर्य यह है कि आदर्श को छोटा या क्षीण बना लेने पर साधक को गिरते हुए कोई सँभाल नहीं सकेगा, क्योंकि वह अपना मनमाना अर्थ निश्चित करके बार-बार आदर्श को छोटा करता रहेगा। तब उसे सँभालना या उसकी आत्मरक्षा करना कठिन होगा। उदाहरण के लिए सत्यव्रत को लें। सत्य की व्याख्या अपनी सुविधा के अनुसार यदि आप 'सत्य का केवल ज्ञान' ही कर लेते हैं तो यह सत्य की अपूर्ण व्याख्या है, इसमें सत्य का पूर्ण आदर्श गिरा दिया है। इस आसान व्याख्या में सत्य का आचरण करने की तो बात ही नहीं है। आदर्श सत्य तो वह है, जिसे जानने के बाद उस पर दृढ़ निष्ठा के साथ अमल किया जाय। लेकिन इस सुविधावादी व्याख्या के अनुसार सत्य का अर्थ जानकारी तक ही सीमित करने से आपका कल्याण कैसे होगा? फिर कौन सत्य को पतन से सँभालेगा? यही बात अन्य सब व्रतों या उपव्रतों के बारे में समझ लेनी चाहिए।

इस बात को हृदयंगम करने के लिए एक रोचक दृष्टान्त स्मरण आ रहा है—

गुजरात के कुछ पटेल मित्र एक बार अम्बाजी तीर्थ पर गए। उन्होंने वहाँ एक महात्मा का सत्संग किया। महात्मा ने जीवन कल्याण के लिए व्रत और नियम का महत्त्व समझाया और किसी भी व्रत या नियम को ग्रहण करने पर जोर दिया। अतः एक मित्र ने तीन महीने तक लड्डू न खाने का नियम महात्माजी से ले लिया।

नियम लेते समय काफी उत्साह था। घर आने पर कुछ दिनों तक उत्साह बना रहा। एक महीने बाद ही एक मित्र के लड़के का विवाह था। मित्र ने लड़के की बरात में चलने का खासतौर से आग्रह किया। इस पर मित्र के साथ वह भी बरात में गया। वहाँ सबकी थाली में पहले लड्डू परोसे गए, तदनन्तर दाल और पूड़ी

भी परोसी गई। थाली में लड्डू आते ही उसकी भीनी-भीनी मनमोहक सुगन्ध से पटेल का मन लड्डू खाने के लिए मचल उठा, पर नियम जो लिया हुआ था, इसके कारण उसका हाथ सहसा रुक गया। पास ही में बैठे मित्र से उसने अपनी कठिनता बताई कि 'मेरे तो लड्डू न खाने का नियम है, अब क्या करूँ ?' उसके मनचले मित्र ने कहा—"अजी वाह ! इसमें क्या बात है, यह तो बदला भी जा सकता है !"

नियम वाले पटेल ने कहा—'कैसे बदलूँ ? कोई छूट भी तो नहीं रखी।'

मनचला मित्र बोला—"अरे भाई ! एक मन्त्र पढ़ ले—

'प्रतिज्ञा मेरी मां, लड्डू से उतर कर दाल पर जा

बस, तुम्हारा नियम लड्डू से उतर जाएगा।"

उक्त पटेल ने चट से यह मन्त्र पढ़ दिया और लड्डूओं पर हाथ साफ करने लगा। लड्डू खाते-खाते जब वह छक गया तो अब दाल-पूड़ी खाने की इच्छा हो गई। पास बैठे हुए मनचले मित्र से उसने सलाह ली। उसने वही तरकीब बता दी, मन्त्र पढ़ने की—"**प्रतिज्ञा मेरी मां, दाल से उतर कर लड्डू पर जा।**" सुविधा-दास उसी प्रकार मन्त्र पढ़कर दाल और पुड़ियाँ उड़ाने लगा।

इसी प्रकार के कई सुविधावादी लोग होते है, जो व्रतों का अपनी सुविधा-नुसार मनमाना अर्थ करके आत्म-संतोष कर लेते हैं, परन्तु यह निरी आत्म-वंचना है। इससे जीवन में व्रत एवं नियम के पालन की जो दृढ़ता, अविचलता या उत्थान-सम्भावना रहनी चाहिए, वह नहीं रहती। व्यक्ति चंचल मन का हो जाता है, बार-बार व्रत के आदर्श को गिरा देता है। किन्तु जब व्यक्ति प्रत्येक व्रत की पूर्ण (आदर्श) व्याख्या करके वहाँ तक पहुँचने की कोशिश करता है, तो एक न एक दिन उस पूर्णता तक पहुँच सकता है। वह प्रत्येक स्थिति में उस पूर्ण आदर्श के साथ अपने प्रयत्न का नाप-तौल करता रहेगा। साथ ही वह इस बात का चिन्तन भी करता रहेगा कि आदर्श के अनुपात में मेरा प्रयत्न कितना हुआ है, कितना हो सकता है और कितना होना चाहिए ? इस प्रकार आत्म-चिन्तन के प्रकाश में वह तदनुसार अपनी शक्ति को बढ़ा सकेगा। प्रतिदिन प्रतिक्रमण करने का विधान किस लिए है ? इसीलिए कि साधक अपने गृहीत व्रतों के आदर्श के परिप्रेक्ष्य में अपना आत्मनिरीक्षण-परीक्षण करता रहे।

'किं मे किच्चं, किं मे किच्चसेसं
किं वा सक्कं न समायरामि।'

"मेरे लिए क्या-क्या करणीय है ? मेरे अपने करने योग्य आचरण में कितना शेष रहा है ? कौन-सा ऐसा आचरण है, जिसे मैं कर सकता हूँ, फिर भी नहीं कर रहा हूँ ?"

इस प्रकार उच्च आदर्श के साथ आत्म-परीक्षण सतत जारी रहना चाहिए। आदर्श ऊँचा होने पर भी यदि आत्मनिरीक्षण-परीक्षण मंद रहा तो प्रयत्न में शिथिलता आएगी और प्रयत्न में शिथिलता हुई तो प्रगति नहीं हो पाएगी।

महात्मा गाँधी यद्यपि साधु नहीं बने थे, तथापि गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी उन्होंने व्रतों का आदर्श समझ लिया था। वे जानते थे कि पूर्ण आदर्श इस जीवन में अप्राप्य है, लेकिन आदर्श को लेशमात्र भी घटाना उन्हें पसंद नहीं था। बल्कि आदर्श प्राप्ति की संभावना न होने के बावजूद भी भरसक प्रयत्न करने में वे कभी चूकते नहीं थे।

इसीलिए मैं आपसे पुनः पुनः कह रहा हूँ आप अपने आदर्श को छोटा या क्षीण मत बनाइए। आदर्श को छोटा या क्षीण बनाने से क्या नतीजा होता है, इस पर मुझे एक रोचक दृष्टान्त याद आ रहा है—

एक राजा था, उसके कोई पुत्र नहीं था। राजा रात-दिन इसी बात से चिन्तित रहता था कि मेरा उत्तराधिकारी कौन बनेगा ? यदि कोई उत्तराधिकारी न हुआ तो अराजकता छा जाएगी। रानी भी रात-दिन चिन्तातुर रहा करती थी कि मैं कितनी अभागिन हूँ कि एक भी पुत्र का मुख न देख सकी। एक दिन राजा ने मन ही मन निश्चय कर लिया कि आज वह निर्जन वन में जाकर भगवान् से प्रार्थना करेगा, कि या तो वह मुझे पुत्र दे या फिर इस संसार से उठा ले। राजा ने घोर जंगल में एक पेड़ के नीचे बैठकर ध्यान लगाया। मन ही मन इसी प्रकार से प्रार्थना की। संकल्प में अपूर्व बल होता है। राजा ने ज्यों ही ध्यान से आँखें खोलीं, त्यों ही पास ही के एक वृक्ष के नीचे एक नन्हे-से बच्चे को लेटे हुए देखा। राजा पहले तो आश्चर्य से उसकी ओर देखकर सोचने लगा—"यहाँ इस निर्जन जंगल में यह अकेला बालक कहाँ से आ गया ? इसके पास न तो कोई संरक्षक है और न ही इसकी माँ आदि कोई पालक है ?" सोचते-सोचते राजा को याद आया—"अरे ! मैंने भगवान् से प्रार्थना की थी। हो न हो मेरी प्रार्थना भगवान् ने सुन ली हो और मेरे ही भाग्य से यह बालक यहाँ आ गया हो !" राजा ने उस सुन्दर सलौने बच्चे को गोद में उठा लिया और मन ही मन यह मनोरथ किया कि "मैं इसे ले जाकर रानी को सौंप दूँगा। जब यह बड़ा हो जायगा, तब इसका विवाह किसी राजकुमारी के साथ कर देंगे, सारा राज्य एवं राज्य का खजाना इसे सौंप देंगे और हम दोनों परमात्मा का भजन करेंगे।" राजा उस बच्चे को लेकर सीधा अन्तःपुर में पहुंचा और उसे रानी को सौंपते हुए कहा—"प्रिये ! लो, जिसके लिए तुम वर्षों से चिन्तित थीं, उसे मैं ले आया हूँ। इसका पालन-पोषण करो, शिक्षा-दीक्षा और संस्कार दो।" राजा ने रानी के सामने अपने मनोरथों को दोहराया और इस बच्चे की प्राप्ति की कहानी अथ से इति तक सुना दी। रानी बालक को पाकर अत्यन्त प्रसन्न थी। वह बच्चे का वात्सल्य-भाव से पालन पोषण करने लगी। राजा और रानी उसे बेटा कह कर पुकारते थे। बालक के मन में भी यह संस्कार परिपक्व होते गए कि मैं राजकुमार हूँ। राजकुमार की तरह ही उसे सब विद्याएँ, कलाएँ सिखाई गईं। राजा ने उसके सामने कई बार अपने मनोरथ दोहराए थे। उसके मन में भी यह बात पक्की हो गई कि मैं ही राजा का उत्तराधिकारी बनूंगा।

परन्तु जगत् में कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो दूसरों की तरक्की को फूटी आँखों से भी नहीं देख सकते। कुछ राजदरबारी ऐसे ईर्ष्यालु थे, जिनके मन में यह खटक थी कि हम वर्षों पुराने दरबारी हैं, हमें राजा कुछ पूछता तक नहीं और उस अज्ञात लड़के को अपना सब राज्य सौंपेंगे, जिसके कुल व शील का कोई पता नहीं। अरे! हटाओ, उस लड़के को किसी भी तरह से, तभी राजा हमें पूछेगा। बस, कुछ दरबारियों ने एक प्लान बनाया, डेप्यूटेशन के रूप में वे तथाकथित राजकुमार के पास पहुँचे और कहा—"हमें आपसे एकान्त में कुछ बातें करनी हैं।" राजकुमार बोला—"सहर्ष करिये, मैं तैयार हूँ।"

दरबारियों ने उससे पूछा—"आप कौन हैं?"

उसने तपाक से उत्तर दिया—"मैं राजकुमार हूँ।"

दरबारी बोले—"यह ठीक है कि आप राजकुमार कहलाते हैं। पर आप राजा के असली पुत्र तो नहीं हैं। आपको तो राजा कहीं से लाए हैं।"

राजकुमार बोला—"इससे क्या फर्क पड़ गया? राजा और रानी मुझे अपना पुत्र मानते हैं, मुझ पर उनका माता-पिता का-सा प्यार है। मैं उनको अपने मां-बाप मानता हूँ, फिर मुझे क्या चिन्ता है कि मैं उनका असली पुत्र हूँ या नहीं?"

दरबारी भी बड़े चतुर थे। उन्होंने पैंतरा बदलते हुए कहा—"देखिये, आप पर राजा और रानी आज प्रसन्न हैं, कल को किसी बात पर नाराज हो गए तो आपको निकालते क्या देर लगेगी? क्योंकि आप उनके औरस पुत्र तो हैं नहीं। राजा, योगी, अग्नि और पानी इनका क्या भरोसा? जब तक ये सीधे चलते हैं, तब तक तो ठीक है, उलटे चलने पर ये किसी के नहीं होते। हम आपके हितैषी हैं। इसीलिए आपको सावधान करने आए हैं कि राजा जब तक आप पर प्रसन्न हैं, तब तक आप कोई ऐसा इन्तजाम कर लीजिए, ताकि राजा आपको निकाल भी दें, तब भी आप स्वतन्त्र रूप से जी सकें।"

"आपकी बात तो कुछ-कुछ जंचती है, पर मुझे स्वतन्त्ररूप से जीने का प्रबन्ध क्या और कैसे करना चाहिए?" राजकुमार ने पूछा। दरबारियों ने देखा तीर ठीक निशाने पर लग चुका है। अतः उन्होंने कहा—"आपको तीन चीजों का इन्तजाम कर लेना चाहिए। आप राजा से रहने के लिए एक स्वतन्त्र मकान मांग लीजिए, जिस पर आपके सिवाय और किसी का अधिकार न हो। दस-बीस हजार रुपये मांग लीजिए, जिससे आप अपना स्वतन्त्र व्यवसाय करके जी सकें। और किसी दासी-वासी के साथ अपनी शादी कर, लीजिए जिससे आप अपने गृहस्थ जीवन से निश्चिन्त हो जाएँ।"

"बस, बस, आपकी बात मेरे दिमाग में पूरी तरह जंच गई है। मैं ऐसा ही करूँगा।"

दरबारी लोग राजकुमार को बरगला कर चले गए, परस्पर कहने लगे—

"अब शीघ्र ही अपने मार्ग का काँटा साफ हो जाएगा।" यद्यपि राजा ने अपना मनोरथ इस लड़के के सामने कई बार दोहराया था, किन्तु अब उन दरबारियों के बहकावे में आ जाने से उसकी मति फिर गई। राजा पर से उसका विश्वास डगमगा गया। और एक दिन मुँह लटकाए हुए वह राजा के पास पहुँचा। राजा ने प्यार से पुचकारते हुए राजकुमार को बिठाया और पूछा—"कहो बेटा! आज उदास क्यों हो? क्या किसी ने कुछ कह दिया?"

लड़के ने रोनी-सी सूरत बनाकर कहा—"पिताजी! आपकी और माताजी की मुझ पर बड़ी कृपा है, मुझे किसी ने कुछ कहा नहीं है। किन्तु जब मैं अपने भविष्य के बारे में सोचता हूँ तो मुझे अपना भविष्य धुंधला-सा नजर आता है।"

राजा बोला—"निश्चिन्त होकर साफ-साफ कहो, तुम्हें क्या चाहिए?" राजकुमार ने कहा—"अब तक मैं आपके अधीन रहा। मैंने अपना स्वतन्त्ररूप से अपना कोई विकास नहीं किया। अब मैं चाहता हूँ कि मैं स्वतन्त्र रूप से कोई व्यवसाय करके अपना भाग्य अजमाऊँ! इसके लिए मुझे दस-बीस हजार रुपये मिल जाएँ। फिर मैं स्वतन्त्र मकान में रहकर स्वतन्त्र जीवन-यापन कर सकूँ, इसके लिए मुझे एक स्वतन्त्र मकान मिल जाय, और मैं अपना गृहस्थाश्रम स्वतन्त्र रूप से चला सकूँ, इसके लिए किसी भी दासी या साधारण कन्या के साथ मेरा विवाह कर दिया जाय!"

राजा इस लड़के की बात सुनकर स्तब्ध रह गया। सोचने लगा—"मैंने कई बार इसके सामने अपना मनोरथ दोहराया, फिर भी इस लड़के के दिमाग में नया फितूर घुसा है, मालूम होता है, यह किसी के बहकावे में आकर मेरे प्रति अविश्वासी हो गया है। यह माँगता है—एक मकान। मैं तो इसे सारा राजमहल और राज्य देना चाहता था। यह माँगता है—दस-बीस हजार रुपये, लेकिन मैं तो इसे सारा राजकोष सौंपना चाहता था, यह किसी दासी या साधारण लड़की के साथ शादी करना चाहता है, जबकि मैं तो इसकी शादी किसी राजकुमारी के साथ करना चाहता था। हाय! इसने मेरे मनोरथों पर पानी फिरा दिया, अब यह लड़का मेरे काम का नहीं रहा, क्योंकि मेरे प्रति इसका विश्वास खत्म हो गया है। इसलिए इसे इसकी मनचाही चीजें देकर अलग कर देना चाहिए।" राजा ने उस लड़के की तीनों माँगें पूरी कर दीं और उसे पृथक् कर दिया। राजा अब पूर्ववत् अपना राज्य चलाने लगा।

कहानी पूरी हो गई। पर यह कहानी एक महान् तत्त्व की प्रेरणा दे कर जाती है। तथाकथित राजकुमार के सामने महान् आदर्श था जिसे राजा ने कई बार दोहराया था, किन्तु उसे उस आदर्श पर विश्वास न रहा और उसने सुविधावादी बन कर अपने आदर्श को छोटा बना लिया।

इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने व्रतों से मुक्ति (पूर्णता) पाने यानी मोक्ष का

राज्य, मुक्ति मन्दिर, मुक्ति कन्या एवं आत्मगुणों की असीम निधि पाने के आदर्श को छोटा बना लेता है, पता नहीं, मुक्ति मिलेगी या नहीं, पूर्णता प्राप्त होगी या नहीं ? मोक्ष किसने देखा है, स्वर्गादि के सुख ही अच्छे हैं, मोक्ष में क्या सुख है ? इस प्रकार गलत चिन्तन करके आदर्श को निम्नकोटि का (स्वर्ग पाने का) बना लेता है, अथवा स्वर्गादि के प्रति भी विश्वास न करके इहलौकिक सुख-सुविधा, काम-भोग आदि की वांछा करके एकदम नीचे दर्जे का आदर्श बना लेता है, वह व्यक्ति ऊँचा कैसे उठ सकता है ?

प्रत्येक व्रत की व्याप्ति स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक

प्रत्येक व्रत मूलस्पर्शी होता है, यानी उसका सम्बन्ध मूल तक रहता है। जैसे अहिंसा व्रत है, उसकी मूलस्पर्शी व्याख्या यह कि मन वचन-काया से निषेधात्मक एवं विधेयात्मक दोनों रूप में कृत-कारित-अनुमोदित रूप से अहिंसा का पालन करना। उसी का स्थूल व्यवहार सेवा, दया, क्षमा, करुणा, सहानुभूति, सहयोग आदि के रूप में प्रतीत होता है। इसी प्रकार प्रत्येक व्रत के विषय में समझ लेना चाहिए। व्रत की व्याप्ति तो स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक रहती है। व्रत का मूल स्वरूप सूक्ष्म है, उसका बाह्य रूप स्थूल। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि सभी व्रतों के स्थूल और सूक्ष्म दो रूप होते हैं, दोनों का पालन करना अत्यावश्यक है। व्रतों की सूक्ष्मता का पालन कठिन होता है। व्रत की सूक्ष्मता को आदर्श कहते हैं। जैसे अहिंसा का सूक्ष्म रूप सर्वभूतात्मभाव, आत्मौपम्यवृत्ति, ब्रह्मचर्य— पूर्णब्रह्म (शुद्ध आत्मा) में विचरण करना आदि है। व्रतों के ये सूक्ष्मरूप आदर्श ही व्रतों का स्थूलरूप में आचरण करने में पूर्ण सहायक होते हैं। इन्हें जैनदृष्टि में निश्चयदृष्टि या भावरूप कहते हैं। प्रत्येक व्रत के साथ यह सूक्ष्मरूप न हो तो उस व्रत का पालन करने में दम्भ आने की सम्भावना है, उसके पालन में शिथिलता या शब्दस्पर्शी वृत्ति आ जाएगी। इसलिए आदर्श की कठिन ऊँची चढ़ाई देखकर वह प्रत्येक व्रत की व्याख्या सुविधानुसार करने पर उतारू हो जाता है, यह अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारना है। इसलिए प्रत्येक व्रत की व्याख्या तो सूक्ष्म (मूल) स्पर्शी आदर्श के अनुरूप ही होनी चाहिए।

निश्चय दृष्टि से व्रतों के आदर्श रूप का चिन्तन हो

जैन-दर्शन निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों को प्रस्तुत करता है। व्रतों का चिन्तन निश्चय दृष्टि से होगा तो व्यवहार रूप तो अपने आप आ ही जाएगा। बल्कि निश्चय दृष्टि से भली-भाँति चिन्तन होने से व्यवहार रूप से उस व्रत का आचरण भी यथार्थ रूप से हो जाएगा। परन्तु व्रतों का आदर्श (निश्चय) दृष्टि से जब भी चिन्तन हो, तब देह निरपेक्ष होना चाहिए; देह दृष्टि से, देह को ध्यान में रखकर नहीं होना चाहिए, क्योंकि देह को ध्यान में रखकर चिन्तन करेंगे, प्राणि-मात्र के साथ आत्मैकत्व दृष्टि से अभेद चिन्तन नहीं होगा, देह की न्यूनाधिकता या सामान्य विशेषत्व के विकल्प आएँगे। इसलिए देह का ध्यान रखकर व्रत के आदर्श का चिन्तन

करने जायेंगे तो वह चिन्तन व्यवहार-दृष्टि से होगा, उसमें अनेक विकल्प खड़े हो आएंगे, ऐसे देहसापेक्ष चिन्तन से आदर्श का मर्यादित रूप ही ध्यान में आएगा, वह निश्चित ही अपूर्ण होगा। इसके विपरीत आत्मा को साक्षी रखते हुए निश्चय दृष्टि से आदर्श का चिन्तन करते हैं तो वह देह-निरपेक्ष चिन्तन होगा, वह अमर्यादित और परिपूर्ण होगा। जैसे अहिंसा व्रत का पालन करने में देहसापेक्ष चिन्तन करते हैं तो विभिन्न जीव व उनके शरीरादि विकल्प सामने आएंगे और 'न मारने' तक का ही आदर्श सामने आएगा, जो अपूर्ण है। सभी आत्माओं को अपनी आत्मा के समान समझना—इस प्रकार का अहिंसा का सर्वभूतात्मभूत पूर्ण आदर्श उस चिन्तन से सामने नहीं आएगा। यानी देह भिन्न, निर्विकार शुद्ध आत्मा की अनुभूति अथवा समस्त जीव सृष्टि के प्रति परमात्मभावना की दृष्टि अहिंसा का पूर्ण आदर्श है, जो निश्चय दृष्टि देहनिरपेक्ष भाव से आदर्श चिन्तन करने से आएगा। ब्रह्मचर्यव्रत पालन का देहसापेक्ष व्यवहारदृष्टि से चिन्तन करते हैं तो कामवासना पैदा न होना या वीर्य क्षय न होना, इतना मात्र अर्थ सामने आएगा, जो पूर्ण आदर्श रूप नहीं है। पूर्ण आदर्श रूप चिन्तन देहनिरपेक्ष-आत्मदृष्टि से करने पर ब्रह्मचर्य का अर्थ—शुद्धात्म (ब्रह्म) में विचरण करना, स्त्री-पुरुष भेद मिटकर सबको आत्मरूप मानना होता है, जो पूर्ण आदर्श है।

व्रतों का उद्देश्य भी ऊंचा और महान् हो

जिस व्यक्ति को ऊंचा उठना हो, उसे अपने व्रतों का उद्देश्य भी ऊंचा होना चाहिए। रेल का ड्राइवर देखता है कि इंजन में भरे पानी का तापमान अभी २०० डिग्री फारेनहाइट है तो वह उसे स्टार्ट नहीं करता; क्योंकि वह जानता है कि इतने तापमान से भाप बननी प्रारम्भ नहीं होगी और न इंजन चलेगा। २१० डिग्री फारेनहाइट पर जब पानी उबलकर भाप बनने लगती है तो उस शक्ति से ही विशालकाय मालगाड़ी हजारों मील की दूरी तय करती हुई जाती है।

रेल के इंजन की तरह मनुष्य जीवन को भी शक्ति प्रदान करने वाली सत्ता है—व्रतों का महान् एवं उच्च उद्देश्य।

जो अपने व्रतों का उद्देश्य महान् रखता है, उसे जब भी कोई परिस्थिति विवश करती है, तब वह उसके आगे घुटने नहीं टेकता। वह परिस्थिति से जूझता है, उत्साहपूर्वक यथा प्राप्त साधनों से जुट पड़ता है।

उपासकदशांगसूत्र में कामदेव श्रावक एवं चुल्लणीपिया श्रावक को अपने व्रत से डिगाने के लिए और उनके व्रत की परीक्षा करने के लिए एक देव विकराल रूप बनाकर आता है, किन्तु उनके व्रतों का उद्देश्य महान् था, उनका संकल्प वज्रमय था। उनका मन भी प्रचण्ड था, इसलिए वे सहसा अपने व्रत से विचलित नहीं हुए।

गांधीजी ने व्रतों का उद्देश्य महान् और उच्च रखा था। इसलिए ब्रिटिश सरकार द्वारा कितने ही अत्याचार ढहाए जाने पर भी, जीवन में कितने ही झंझावात

आने पर तथा उनकी कटु आलोचना और उन पर मिथ्या दोषारोपण होने पर भी वे अपने व्रतों से विचलित नहीं हुए।

संसार में जितने भी प्रमुख राजनीतिज्ञ, सामाजिक क्रान्तिकारी या धर्म-प्रवर्तक या धर्म तीर्थंकर हुए हैं, उदाहरणार्थ—अब्राहम लिंकन, नेपोलियन बोनापार्ट, लोकमान्य तिलक, महर्षि कर्वे, दयानन्द सरस्वती, भगवान महावीर आदि, उन सबने जो सफलतायें पाई हैं, उनका रहस्य भी यही है कि उन्होंने अपने व्रतों का उद्देश्य उच्च, महान्, ज्वलन्त एवं प्रचण्ड बना लिया था, फलस्वरूप उनमें वह प्रचण्ड शक्ति आ गई थी, जो कोटि-कोटि विघ्न-बाधाओं को पददलित करती चली गई और वे अपने निश्चय को मूर्तरूप देने में सफल हुए।

व्रतों का उद्देश्य उच्च और महान् रखने वाले व्यक्ति का मन भी प्रचण्ड हो जाता है। व्रतों का पालनकर्ता, अपनी केन्द्रित शक्ति से महान् उद्देश्य की पूर्ति में लगता है तो सफलता स्वतः दौड़ी आती है। ढीले और पुरुषार्थरहित संकल्प और प्रयत्न होते हैं तो उद्देश्य की पूर्ति में सजीवता नहीं आती, उनके परिणाम भी तुच्छ और स्वत्वहीन होते हैं। जैनशास्त्रों में जहाँ भी किसी साधक की किसी व्रत या नियम में सफलता या कार्यसिद्धि का वर्णन आता है, वहाँ मुख्य कारण शुभ और विशुद्ध तीव्र अध्यवसाय (तीव्र भाव) को ही बताया गया है। यहाँ अन्तिम मंजिल तक पहुँचने के लिए व्रतों के महान् उद्देश्य के साथ-साथ तीव्रतम अध्यवसाय का होना जरूरी है। गीता में स्पष्ट बताया गया है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन!
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

—हे अर्जुन! इस संसार में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही प्रकार की होती है, जिससे हर कार्य में सफलता मिलती है। परन्तु जो लोग अनिश्चयी हैं, उनकी बुद्धियाँ चंचल होकर अनेक शाखाओं वाली बन जाती हैं, उनका कभी अन्त नहीं आता।

अतः व्रतों के उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए आप जो भी कार्य करें, पूर्ण उत्साह से तथा तन, मन और साधनों की पूर्ण शक्ति के साथ उसमें जुट पड़ें। आपको सफलता निश्चित ही मिलेगी।

व्रतों का उद्देश्य कर्मों की निर्जरा, आत्मशुद्धि, परमात्मप्राप्ति या वीतरागताप्राप्ति होना चाहिए, कोई भौतिक, सांसारिकलिप्सा, स्वार्थ, भय, प्रलोभन या तृष्णा व्रतों का उद्देश्य नहीं होना चाहिए।

दशवैकालिक सूत्र में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है—

"न इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, न परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, न कित्ति-वन्न-सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा।"

—न इहलौकिक प्रयोजन से धर्माचरण करे, न पारलौकिक प्रयोजन से धर्माचरण करे, और न कीर्ति, प्रशंसा, प्रशस्ति आदि की आकांक्षा से धर्माचरण करे, केवल आर्हत्पद (वीतराग-परमात्म पद) की प्राप्ति के कारणों से धर्माचरण करे।"

यही व्रताचरण के विषय में समझना चाहिए। भय से, लोभ से या अन्य किसी सांसारिक प्रयोजन से व्रत-पालन करना उचित नहीं है। आत्मा में शान्ति, समता या वीतरागता की प्राप्ति के लिए ही व्रतपालन श्रेयस्कर है।

व्रतसाधना का सरल उपाय

अतः आँखों के सामने व्रतों का पूर्ण आदर्श तभी रह सकेगा, जब देह का ख्याल न करके हम चिन्तन करेंगे और आत्मा के साक्षित्व में—या वीतराग परमात्मा की साक्षी से—पूर्ण प्रयत्न का संकल्प करेंगे।

पूर्ण आदर्श दृष्टिगत रखकर उसे आचरण में लाने के प्रयत्न में आपको अपनी सारी शक्ति, समस्त सामर्थ्य समर्पित कर देनी चाहिए। **'अप्पाणं वोसिरामि'** का रहस्य भी यही है, कि हम वीतराग परमात्मा की साक्षी से—व्रत का संकल्प लें, अपने समस्त विकारों को—या सावद्यकार्यों से आत्मा को हटाकर प्रभुचरणों में समर्पित करते हैं। व्रती साधक के लिए यही शोभास्पद पुरुषार्थ है। क्योंकि मोक्ष रूपी अन्तिम पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए व्रतों का पूर्ण आदर्श सामने रखकर व्रतसाधना करना ही एकमात्र सरल उपाय है। इसलिए व्रतसाधना को ही धर्मपुरुषार्थ माना गया है, जो मोक्ष पुरुषार्थ रूप फल के लिए साधन है।

आपमें से कई महानुभाव यह पूछेंगे कि हम अभी अपूर्ण हैं, बल्कि पंचम गुणस्थानवर्ती हैं, साधु के गुणस्थान से भी नीचे हैं। ऐसी दशा में हम व्रतों का पूर्ण आदर्श सामने रख कर प्रयत्न करने लगेंगे तो हमारा प्रयत्न पूर्ण या सफल कब और कैसे होगा ? हमारी व्रत साधना सफल होगी या नहीं ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि आप अपनी दृष्टि में प्रत्येक व्रत का आदर्श तो पूर्ण ही रखें, और अपना प्रयत्न भी पूर्णतया जारी रखें। आपके अपूर्ण प्रयत्न की पूर्ति करने वाला, प्रयत्न को सफल करने वाला पुरुष—आत्मदेवता—शुद्धात्म देव—परमात्मा देह रूपी नगरी में विराजमान है। वही आपकी आत्मा को अखण्ड आदर्श की सतत प्रेरणा देने वाला रहेगा। प्रयत्न आपका होगा, बल देने वाला निमित्त वह बनेगा। आपको हर क्षण परमात्मा के साक्षित्व का भान रखना चाहिए, ताकि आप व्रतों की मर्यादा को खण्डित न होने दें। वह शुद्ध-आत्मा (परमात्मा) आपकी प्रत्येक क्रिया को सतत देख रहा है, इस बात का आपको सदैव भान रखना चाहिए। उसकी प्रेरणा (जिसे शुद्ध आत्मा की आवाज भी कह सकते हैं) के विरुद्ध कभी नहीं जाना चाहिए। इतनी प्रामाणिकता से यदि आप प्रयत्न करते हैं तो आपकी अपूर्णता भी एक न एक दिन दूर होकर आपको प्रयत्न में सफलता मिलेगी ही। सम्भव है, आपको अपनी सारी जिन्दगी के प्रामाणिक प्रयत्न की सफलता अन्तिम

समय में संल्लेखनाव्रत (आजीवन संथारा—अनशन) के समय अठारह पाप-स्थानकों एवं चतुर्विध आहार का सर्वथा त्याग करने पर एकमात्र आत्मरमणता के समय मिले। आचारांगसूत्र में इसे ही आत्मवाद कहा गया है। यही दैववाद और पुरुषार्थवाद दोनों का समन्वय है।

व्रतग्रहण के बाद सतत प्रयत्न और सावधानी

यह नहीं समझ लेना चाहिए कि व्रत जिस क्षण लिया, तभी से उसका पूर्णतया पालन होने लगेगा। संकल्प तो व्रतग्रहण के समय भरसक पालन का लिया जाता है, किन्तु संकल्प के बाद उसके पालन का प्रयत्न करना पड़ता है। आप कहीं जाने का संकल्प करते ही क्या फौरन वहाँ पहुँच जाते हैं ? नहीं, आप पहले जाने की तैयारी करते हैं, सवारी का प्रबन्ध करते हैं, चल पड़ते हैं, तब जाकर गन्तव्य स्थान पर पहुँचते हैं। इसी प्रकार व्रत लेने का अर्थ है—संकल्प करना, फिर उसके पालन का प्रयत्न करना, जो शेष है। इसीलिए व्रत लेने का अर्थ यही है कि एक बार व्रत ले लेने के बाद उसके पालन का सतत प्रयत्न करना। इसीलिए इसे 'गतिशील' कहा गया है। गतिशील के मानी हैं—प्रयत्न को गति मिले, वह बढ़ता ही रहे, मंजिल पर पहुँचे बिना—यानी व्रत सिद्धि के बिना—बीच में वह रुके नहीं। आप जब से व्रत लें, तब से उसकी पूर्णता तक सतत उसके पालन में सतर्क रहें। व्रत ले चुकने के बाद मृत्युपर्यन्त उसके पालन का प्रयत्न मन, वचन और काया से करते रहना चाहिए। जितनी शक्ति और जितने साधन आपके पास है, वह सारी की सारी शक्ति और समस्त साधन प्रयत्न में लगा दें। लेशमात्र भी ढिलाई व्रत-पालन में न आने दें।

निष्कर्ष यह है कि व्रतग्रहण से पहले आप उस विषय में ढिलाई बरतते होंगे, व्रतपालन नियमित और सतत करते रहने के निश्चय पर दृढ़ नहीं रहते होंगे, जरा-सा बहाना मिला कि व्रतपालन से चूक जाते होंगे, उसकी खटक भी आपके मन में नहीं होती होगी; लेकिन व्रतग्रहण के बाद तुरन्त ही आप व्रतपालन के साथ पूरे बँध जायेंगे, उससे अलग नहीं हो सकेंगे। यानी व्रत लेते ही आप गतिशील हो गए, फिर उसके पालन में सतत सावधानी रखेंगे, प्रत्येक अड़चन का सामना करेंगे। हर हालत में आप व्रतपालन करने पर दृढ़ रहेंगे। आपके निश्चय और प्रयत्न में सातत्य रहेगा, जो मृत्युपर्यन्त टिका रहेगा।

कुछ लोग उत्साह में आकर व्रत ले लेते हैं, लेकिन जब वह नित्य की वस्तु बन जाती है, तब उसके प्रति उत्साह नहीं रह पाता। फिर भी चूंकि व्रत लिया है, इसलिए शर्माशर्मी ऊपर-ऊपर से उसका पालन करते हैं। मन का सहयोग उत्तम नहीं होता, कभी-कभी तो उसमें दम्भ और दिखावा भी होने लगता है। कुछ लोग यह भी कहने लगते हैं कि मन से तो व्रत का पालन कर ही रहे हैं, तब बाहर से पालन की आवश्यकता क्या है ? लेकिन एक बार व्रत ले लिया, तब उसके पालन में शिथिलता नहीं आने देनी चाहिए, जब तक शरीर है, तब तक वह व्रत छोड़ना नहीं चाहिए।

इस प्रकार व्रतपालन के लिए सतत गतिशील रहने एवं अन्त तक निरन्तर प्रयत्न करते रहने में ही व्रत की सार्थकता है।

व्रती बनने की योग्यता

अब आपको यह भलीभाँति समझ लेना है कि व्रतधारी कौन हो सकता है ? कोई साधक चाहे महाव्रत ग्रहण करे, चाहे अणुव्रत; उसके लिए सर्वप्रथम तीन प्रकार के शल्यों का त्याग करना जरूरी है। शल्य तीखे काँटे या तीर को कहते हैं। तीक्ष्ण काँटा या तीर की नोंक जब शरीर में चुभ जाती है तो प्राणान्तक पीड़ा देती रहती है, इसी प्रकार व्रत ग्रहण करने वाले को ये तीनों प्रकार के शल्य जिन्दगी भर पीड़ा देते रहते हैं, उसकी आत्मा को शान्ति प्राप्त नहीं होने देते, न आत्मा का विकास होने देते हैं। इतने खतरनाक ये शल्य हैं। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्रकार ने व्रती साधक के लिए सर्वप्रथम शर्त रखी है—**'निःशल्यो व्रती'** अर्थात् व्रती साधक को सर्वप्रथम शल्य-रहित होना चाहिए। शल्य तीन प्रकार के हैं—मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्या-दर्शनशल्य।

मायाशल्य त्याग का तात्पर्य है—व्रतधारी जिस भाव से, जिस महान् उद्देश्य से व्रत ग्रहण करता है, उसके साथ माया (कपट) रूपी शल्य नहीं होना चाहिए। लोगों में दिखावे के लिए व्रतग्रहण कर ले, किन्तु अन्दर ही अन्दर गुप्तरूप से व्रत भंग करता रहे, अथवा लोगों के सामने व्रतधारी होने का स्वांग रचे, और छिपे-छिपे अनाचार-सेवन करता रहे। इससे स्वयं की आत्मा निर्बल एवं मलिन तो होती ही है, समाज में जब भी उसका भंडाफोड़ होता है, उसकी पोल खुलती है सारी प्रतिष्ठा मटियामेट हो जाती है, लोक श्रद्धा खत्म हो जाती है। ऐसे दम्भी और मायाचारी लोग दूसरों को भी व्रत लेने से निरुत्साहित कर देते हैं।

व्रती में दूसरे निदानशल्य का भी त्याग होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि व्रतपालन निष्कांक्ष भाव से करना चाहिए। व्रत-पालन के पीछे किसी प्रकार की इहलौकिक या पारलौकिक कामना, नामना, एषणा या तृष्णा नहीं होनी चाहिए। खासतौर से फलाकांक्षा नहीं होनी चाहिए। व्रत-पालन का फल स्वर्गादि सुख या इहलौकिक सुख चाहना, एक प्रकार की सौदेबाजी है। सौदा भी घाटे का है। जिस व्रत-पालन रूप विशुद्ध धर्माचरण से जन्म-जन्म के बन्धन कट सकते थे, कर्मों से मुक्ति प्राप्त हो सकती थी और नहीं तो पुण्यवृद्धि के फलस्वरूप वैमानिक देवलोक तक में स्वभावतः व्रती जा सकता था, उसके बदले तुच्छफल की कामना या वांछा करके व्यक्ति संसार परिभ्रमण में वृद्धि कर लेता है। यह कितनी दयनीय स्थिति है निदान (नियाणा) कर्ता साधक की। इसलिए व्रतों का पालन किसी भी धन, सन्तान, विजय, सत्ता, स्त्री या अन्य सांसारिक वस्तु की प्राप्ति या स्वर्गादि सुख, देवांगना आदि की लिप्सा से करना साधक के लिए उचित नहीं है।

व्रती में तीसरे मिथ्यादर्शन शल्य का भी त्याग होना आवश्यक है। जब तक

मिथ्यात्व रहता है, तब तक व्रती का ज्ञान भी सम्यक् नहीं कहलाता, और न उसका चारित्र ही सम्यक् कहलाता है। व्रतधारी बनने के लिए सर्वप्रथम मिथ्यात्व का परित्याग करना और सम्यक्त्व को धारण करना आवश्यक है। वास्तव में मिथ्यात्व का त्याग ही एक प्रकार से सम्यक्त्व का ग्रहण करना है। जैसे सूर्योदय का होना और अन्धकार का मिटना, एक ही बात है। फिर भी व्यवहार दृष्टि से दोनों अलग-अलग माने जाते हैं। मिथ्यात्व त्याग करने से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो ही जाती है।

मिथ्यात्व का अर्थ 'न जानना' नहीं है, अपितु 'उल्टा जानना' है।

मिथ्यात्व के संक्षेप में १० प्रकार बताये गये हैं—जीव को अजीव समझना मिथ्यात्व है, तथा अजीव को जीव समझना मिथ्यात्व है। धर्म को अधर्म समझना मिथ्यात्व है, तथैव अधर्म को धर्म समझना मिथ्यात्व है। इसी प्रकार साधु को असाधु मानना मिथ्यात्व है, तथा असाधु को साधु समझना मिथ्यात्व है। आठ कर्मों से मुक्त (सिद्ध) को अमुक्त (संसारी) समझना तथैव अमुक्त को मुक्त मानना मिथ्यात्व है, वीतरागदेव को कुदेव समझे, कुदेव को वीतरागदेव समझे तो मिथ्यात्व है।

इस प्रकार का मिथ्याश्रद्दान—मिथ्यात्व रहने पर व्रती हमेशा संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय में पड़कर सच्चा ज्ञान तथा सम्यग् श्रद्धा नहीं कर सकता, वह संशय के झूले में झूलता रहता है, या विपरीत पूर्वाग्रहवश किसी वस्तु का उलटा स्वरूप पकड़ लेता है, या किसी वस्तुतत्त्व का यथार्थ निर्णय नहीं कर पाता। सम्यक्त्व आत्मा के विकास का कारण है, जबकि मिथ्यात्व पतन का।

जब व्रती मिथ्यात्व त्याग देता है तो उसमें सम्यग्दर्शन आ जाता है। सम्यक्-दृष्टि के ५ चिन्ह हैं, जिनसे उसकी पहचान की जा सकती है। वे हैं—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था। इनका अर्थ स्पष्ट है। सम्यक्त्व के ८ अंग भी हैं, जिन्हें अपनाकर व्यक्ति आत्मविकास के पथ में आगे बढ़ता है—निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढदृष्टित्व, उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

शम का अर्थ है—कषायों की मन्दता होना। संसार बन्दीखाने जैसा मालूम होना, संसार से घृणाभाव रहना और इस जन्ममरण-रूप संसार-चक्र से बाहर निकलने की भावना रहना संवेग कहलाता है। मोक्ष की अभिलाषापूर्वक मोक्ष के लिए किया जाने वाला तीव्र प्रयत्न भी संवेग कहलाता है। आरम्भ परिग्रह से निवृत्त होने की अभिलाषा होना तथा सांसारिक भोगविलासों के प्रति अनासक्ति एवं विरक्ति का भाव रहना निर्वेद कहलाता है। अपनी ओर से किसी भी प्राणी को भय या कष्ट न पहुँचाना और दूसरे से भय या कष्ट पाते हुए जीव को उससे मुक्त करने का प्रयत्न करना अनुकम्पा है। आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना तथा परलोक, स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप को मानना आस्तिक्य कहलाता है।

वीतराग प्ररूपित तत्त्वों के विषय में सर्वतः या देशतः शंका न होना निःशंकितता है। परदर्शन या सांसारिक फल की कांक्षा न करना निष्कांक्षिता है। धर्म-फल में सन्देह न करना निर्विचिकित्सा है। गुणीजनों के गुणों के प्रति प्रमोदभाव रखना उपबृंहण है। धर्म से डिगते हुए को स्थिर करना स्थिरीकरण है। देवगुरुधर्म एवं शास्त्र के विषय में मूढ़ता न रखना अमूढ़दृष्टित्व है। साधर्मी के प्रति वात्सल्य भाव रखना वात्सल्य कहलाता है। धर्मशासन के प्रति लोकश्रद्धा बढ़ाने के लिए प्रभावना सूचक कार्य करना प्रभावना है।

इसी प्रकार सम्यक्त्व के पाँच अतिचारों—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव, इन पाँच दोषों से भी श्रावक को बचना आवश्यक है। इस प्रकार व्रती बनने के लिए इन तीन शल्यों का त्याग आवश्यक है।

निष्कर्ष यह है कि श्रावक चाहे मूलगुणधारी हो या उत्तरगुणधारी अथवा सम्यक्त्वधारी हो, सबमें सम्यक्त्व का होना अनिवार्य है। सम्यक्त्व के अभाव में श्रावकत्व नहीं रह सकता। जैसे मनुष्यों में कोई राजा होता है, कोई मन्त्री, कोई सन्त और कोई व्यापारी आदि सामान्य मानव, परन्तु उस सबमें मनुष्यत्व का होना अनिवार्य है, इसी प्रकार कोई भी श्रावक चाहे पंच अणुव्रतधारी हो, तीन गुणव्रतधारी हो या चार शिक्षाव्रत धारक, सबमें सम्यक्त्व का होना अनिवार्य है।

दो धर्म और दोनों के व्रत

संसार में सभी प्राणी एक सरीखे नहीं होते। मनुष्यों में भी सभी मनुष्य एक सरीखी योग्यता, कोटि या भूमिका के नहीं होते। जैसे एक विद्यालय में सभी लड़के एक ही कक्षा के नहीं होते, इसलिए जो विद्यार्थी जिस कक्षा के योग्य होता है, उसे उसी कक्षा में भर्ती किया जाता है। वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में सभी साधक एक सरीखी भूमिका, कक्षा और योग्यता के नहीं होते। इसी दृष्टि से श्रमणशिरोमणि भगवान महावीर ने सारे साधकों को दृष्टिगत रखकर मुख्यतया दो प्रकार के धर्म बताए—आगार-धर्म और अनगार-धर्म। इन दोनों धर्मों के पालन करने वालों में से एक को आगारी और दूसरे को अनगारी बताया है। अनगार-धर्म उनके लिए है जो घर-बार, कुटुम्ब-कबीला, धन-सम्पत्ति एवं जमीन-जायदाद आदि सब पर से ममत्व छोड़कर श्रमण, मुनि या साधु-साध्वी बनते हैं। अनगार-धर्म में भी कई श्रेणियाँ हैं—जिनकल्पी, स्थविरकल्पी, भिक्षुप्रतिमाधारी, पुलाक, बकुश, कषायकुशील, निर्ग्रन्थ एवं स्नातक आदि। परन्तु यहाँ मुझे इस सम्बन्ध में विवेचन नहीं करना है। मुझे यहाँ आगार-धर्म के सम्बन्ध में आपको बताना है। आगार-धर्म में भी कई श्रेणियाँ हैं, उनका विवेचन यथासमय किया जायेगा।

हाँ, तो मैंने बताया कि धर्म का पालन करने के लिए व्रत ग्रहण करना आवश्यक है।

जब व्रतग्रहण करने की बात आई तो सहसा ये सवाल उपस्थित होते हैं कि किस धर्म के कौन-से व्रत हैं ? उनका ग्रहण किस प्रकार किया जाय ? उनमें परस्पर क्या अन्तर है ?

भगवान महावीर ने जिस प्रकार मुख्य दो धर्म बताये हैं, वैसे ही दोनों धर्मों के व्रत भी अलग-अलग कोटि के बताये हैं। अनगार-धर्म के व्रतों को महाव्रत कहते हैं और आगार-धर्म के व्रतों को अणुव्रत। अणुव्रतों का मूल्य बढ़ाने वाले तीन गुणव्रत हैं और चार शिक्षाव्रत हैं। महाव्रतों का पालन साधना की ऊँची उड़ान भरने वाले साधु-साध्वी, मुनि या श्रमण आदि ही कर सकते हैं, गृहस्थ-धर्म—आगार-धर्म का पालन करने वाला गृहस्थ इतनी उच्च साधना कर नहीं सकता। इसलिए मैं आपको महाव्रतों के सम्बन्ध में विशेष न बताकर अणुव्रतों के सम्बन्ध में ही विस्तृत रूप से चर्चा करूँगा।

भगवान महावीर ने श्रमणों के लिए पाँच महाव्रतों का विधान किया है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। साधु-साध्वियों को इन पाँच महाव्रतों का मन-वचन-काया से कृतकारित और अनुमोदन रूप से पूर्णतः पालन करना पड़ता है। जिन व्रतों का पालन श्रमणों को पूर्णतः करना पड़ता है, गृहस्थ उनका आंशिक रूप से ही पालन कर सकता है। गृहस्थ के लिए भगवान महावीर ने बारह व्रतों का विधान किया है। इन बारह व्रतों में साधु के पाँच महाव्रतों का समावेश भी हो जाता है। परन्तु गृहस्थ संसारी होता है, घर-बार, कुटुम्ब-कबीला, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद आदि रखता है, इसलिए इन व्रतों का पालन करने के लिए आवश्यक रूप से छूट रख लेता है।

गृहस्थ के लिए जिन बारह व्रतों का विधान किया गया है, वे तीन भागों में विभक्त हैं—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। पाँच अणुव्रतों का रूप इस प्रकार है—स्थूल प्राणातिपात-विरमण (अहिंसाणुव्रत), स्थूलमृषावादविरमण (सत्याणुव्रत), स्थूल अदत्तादानविरमण (अस्तेयाणुव्रत), स्वदार-संतोष-परदारविरमण-व्रत (ब्रह्मचर्याणुव्रत) एवं परिग्रहपरिमाणव्रत (अपरिग्रहाणुव्रत)।

अणुव्रतों और महाव्रतों का सम्बन्ध

वैसे तो पाँच महाव्रतों और पाँच अणुव्रतों के नाम में साम्य है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये ही नाम महाव्रत के हैं, ये ही अणुव्रत के हैं। परन्तु इनके पालन में बहुत ही अन्तर है। महाव्रतों में अहिंसा आदि का पूर्णरूप से पालन करना होता है, जबकि अणुव्रतों में अहिंसा आदि का आंशिक रूप से पालन किया जाता है। इसीलिए व्रतों के नाम की दृष्टि से अणुव्रत और महाव्रत में कोई अन्तर नहीं है, दोनों ही मोक्ष-यात्रा के लिए अपने-अपने स्थान पर अनिवार्य हैं।

एक सन्त ने उपस्थित श्रोताओं से पूछा—"दिल्ली से लाहौर जाने के कितने रास्ते हैं और कितने प्रकार के यात्री हैं ?"

श्रोता प्रश्न सुनते ही पहले तो चकराए। फिर एक श्रावक ने कहा—"महाराज ! यहाँ से लाहौर जाने का रास्ता तो एक ही है, उसी दिशा से जाना पड़ता है और यात्री कई प्रकार के हो सकते हैं—कोई यात्री रेलगाड़ी से जाता है और कोई हवाई जहाज से। पहुँचते दोनों ही लाहौर हैं। एक देर से पहुँचता है, दूसरा तीव्रगति से पहुँचता है।"

"भाइयो ! इसी तरह मोक्ष जाने का रास्ता तो अहिंसा आदि व्रतों का एक ही है। सभी मोक्षपथ के पथिक अन्त में मोक्ष पहुँचते हैं। एक द्रुतगति से मोक्ष पहुँचता है, दूसरा धीमी गति से पहुँचता है। मोक्ष-यात्री दोनों ही हैं, पर दो किस्म के हैं। एक विमान यात्री की तरह तीव्रगामी यात्री है, दूसरा रेलयात्री की तरह मन्दगामी यात्री है। इसी प्रकार महाव्रती और अणुव्रती को समझो।" सन्त ने रहस्य खोलते हुए कहा।

अणुव्रत और महाव्रत का भी सापेक्ष सम्बन्ध है। इस बात को मैं एक उदाहरण देकर समझाता हूँ—

किसी जगह कुछ लड़के खेल रहे थे। उनमें मन्त्री का भी एक लड़का था। बादशाह ने लड़कों को खेलते हुए देखा और उनकी बुद्धि की परीक्षा के लिए उन्होंने लकड़ी से एक लकीर खींच दी। सब लड़के बादशाह को प्रणाम करके चारों ओर खड़े हो गए। बादशाह ने उन सब लड़कों को सम्बोधित करते हुए कहा—"बच्चो ! क्या तुममें से कोई लड़का इस लकीर को बिना मिटाए छोटी कर सकता है ?"

यह सुनकर सब लड़के आश्चर्य और विचार में पड़ गए। सोचने लगे—"यह लकीर मिटाने से तो छोटी हो सकती है, परन्तु बिना मिटाये कैसे छोटी हो ?" तभी मन्त्री का लड़का आगे आया और बादशाह से कहा—"मैं इस लकीर को बिना मिटाए छोटी कर सकता हूँ। आप मुझे अपनी लकड़ी दीजिए।" बादशाह ने मन्त्री-पुत्र को अपनी लकड़ी दे दी। उसने चट से उस लकीर के पास ही एक बड़ी लकीर और खींच दी और बादशाह से कहा—"लीजिए, हुजूर ! आपकी खींची हुई लकीर छोटी हो गई है।" मन्त्री के लड़के ने जब बादशाह की खींची हुई लकीर के पास ही उससे बड़ी लकीर खींच दी तो स्वाभाविक ही वह लकीर छोटी हो गई। अतः बादशाह ने लड़के की पीठ थपथपाते हुए कहा—"शाबाश, बेटे ! बाप का संस्कार बेटे में आता ही है।"

जैसे दो लकीरों में छोटापन और बड़ापन सापेक्ष था, अर्थात् बड़ी लकीर होने से दूसरी छोटी कहलाई, और छोटी होने से दूसरी बड़ी कहलाई। इसी प्रकार महाव्रत अणुव्रत की अपेक्षा बड़े होने से महाव्रत कहलाते हैं और महाव्रतों की अपेक्षा अणुव्रत छोटे होने से अणुव्रत कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि अणुव्रत तभी कहलाएँगे, जब महाव्रत होंगे और महाव्रत भी तभी महाव्रत कहलाएँगे, जब अणुव्रत होंगे।

अणुव्रत और महाव्रत : परस्पर पूरक

दूसरी दृष्टि से देखें तो अणुव्रत और महाव्रत एक-दूसरे के पूरक है। जैसे जल के अभाव में कमल नहीं टिक सकता, उसी प्रकार श्रावकधर्मपालक अणुव्रती के अभाव में साधुधर्मपालक महाव्रती टिक नहीं सकता। अणुव्रत रूपी जल की विद्यमानता में ही महाव्रत रूपी कमल विद्यमान रह सकता है। बहुत-से लोग यह सोचते हैं कि हम अपने आप ही अणुव्रतों से आगे बढ़ जाएँगे, हमें महाव्रती की क्या अपेक्षा है ? परन्तु यह भी अदूरदर्शिता का फल है। महाव्रती के आदर्श तथा मार्गदर्शन के बिना अणुव्रतपालन भी यथार्थ रूप से नहीं हो सकता। महाव्रती समय-समय पर अणुव्रती के अणुव्रत-पालन में आने वाली कठिनाइयों एवं विघ्नबाधाओं से मुक्त होने का उपाय बताता है। क्योंकि महाव्रती को इस मार्ग का गहरा अनुभव होता है, वह यह बता देता है कि कहाँ-कहाँ क्या-क्या खतरे आते हैं ? क्या-क्या अड़चनें उपस्थित होती हैं ? साथ ही यदि अणुव्रती कहीं गलती या भूल कर रहा हो तो महाव्रती उसे सावधान करके उसकी गलती को सुधरवा देता है।

श्रावक को जो भी व्रत लेना हो, उस सम्बन्ध में पहले महाव्रती साधु से परामर्श कर लेना चाहिए। उसके सभी पहलुओं, स्थूल-सूक्ष्म व्याख्याओं को समझ लेना चाहिए क्योंकि महाव्रती साधु व्रतों के विषय में गृहस्थों से अधिक अनुभवी होते हैं, आगे बढ़े हुए होते हैं। इसलिए उनसे ही व्रत ग्रहण करना ठीक रहता है। वे व्रतों के सम्बन्ध में कोई भूल होती होगी तो उससे सावधान कर देंगे। व्रतों का उद्देश्य भी बता देंगे। उनसे व्रत ले लेने के बाद श्रावक को उनके पालन का सतत प्रयत्न करना चाहिए।

व्रतों का परस्पर सम्बन्ध

वैसे देखा जाय तो श्रावकधर्म के अन्तर्गत कुल बारह ही व्रत आ जाते हैं। परन्तु जैसे सभी मिठाइयाँ चीनी या शक्कर से बनी होने पर भी उनके खरीदने के सम्बन्ध में विभिन्न ग्राहकों की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, वैसे ही सभी व्रत धर्मरूप होने पर भी व्रत ग्रहण करने वाले की रुचि, योग्यता और शक्ति पृथक्-पृथक् होती है। इसी कारण श्रावक व्रत के बारह भेद बताए हैं। पाँच अणुव्रत तो मूल हैं। वे तो प्रत्येक गृहस्थ श्रावक को व्रती बनते समय ग्रहण करने होते हैं। किन्तु तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का ग्रहण अणुव्रती की रुचि, शक्ति और योग्यता पर निर्भर है।

पाँच अणुव्रतों का परस्पर एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यद्यपि सब व्रतों का स्वरूप भिन्न-भिन्न दिखाई देता है, व्रत सम्बन्धी कल्पनाएँ भी पृथक्-पृथक् प्रकार की दिखाई देती हैं। फिर भी सबका अर्थ एक ही है, यानी सब व्रतों का हेतु एक ही है। वह है—देहाध्यास क्षीण करके, आत्मा के साथ लगे हुए हिंसा आदि विकारों को दूर करके अद्वैत-अभेद का अनुभव करना। अद्वैत का अनुभव करने का अर्थ है—आत्मौपम्य का अनुभव करना। जैसी आत्मा चींटी में है, वैसी ही हाथी, घोड़े, गाय और मनुष्य में है। मेरे प्रति हिंसा आदि से जैसे मुझे दुःख होता है, वैसे

ही संसार की समस्त आत्माओं को दुःख होता है, इसलिए अहिंसा, सत्य आदि सभी व्रत आत्मौपम्य या सर्वभूतात्मभूत बनने के लिए हैं। बाह्य दृष्टि से पालन करने की सुविधा की अपेक्षा से प्रत्येक व्रत के पीछे कल्पनाएँ भिन्न-भिन्न हैं। वैसे सभी व्रतों का समावेश अहिंसा में ही हो जाता है। असत्य बोलना—दूसरे की आत्मा को आघात पहुँचाना है, चोरी करना भी दूसरे के प्राणों को हानि पहुँचाना है, अब्रह्मचर्य भी सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय जीवों का घातक है, परिग्रहवृद्धि भी दूसरों को अभाव में डालने वाली होने से पीड़ाकारक है, इसलिए हिंसा के सिवाय शेष चारों पापों (आस्रवों) का समावेश हिंसा में है और अहिंसा हिंसानिरोधिनी है, इसलिए शेष चारों व्रत अहिंसा के अन्तर्गत आ जाते हैं।

यों तो व्रतों का इतिहास बहुत पुराना है। कहते हैं प्रारम्भ में एक ही व्रत था—अहिंसा। उसके बाद क्रमशः विकास होते-होते तीन व्रत माने जाने लगे—अहिंसा, सत्य और अस्तेय। तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान ने चातुर्याम धर्म प्रवर्तित किया—यानी उन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह, ये चार याम प्रचलित किये। स्त्री को परिग्रह के अन्तर्गत मानकर ब्रह्मचर्यव्रत की अलग से योजना करना आवश्यक नहीं समझा गया। वैदिक धर्म के अनुसार प्रारम्भ में एक ही व्रत था—ब्रह्मचर्य। ब्रह्म का अर्थ शुद्ध आत्मा या परमात्मा मानकर हिंसा आदि को शुद्ध आत्मा या परमात्मा के गुण के विपरीत विचरण माना गया, अर्थात् अब्रह्मचर्य माना गया। भगवान महावीर ने चातुर्याम धर्म में संशोधन किया, और ब्रह्मचर्य को जोड़कर पंच व्रतों का आयोजन किया। इन्हें ही योगदर्शनकार पंच यम कहते हैं। बौद्धधर्म ने इन्हें पंचशील बताया है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति जैन, बौद्ध, वैदिक तीनों धर्मों के समन्वय से बनी।

इस दृष्टि से अहिंसा आदि पाँचों व्रतों का एक-दूसरे के साथ कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध है।

सामान्य रूप से वीतराग के सिवाय संसार के समस्त जीव न्यूनाधिक रूप से देहासक्ति में फँसे हुए हैं। और देहासक्ति को दूर करके स्व-स्वरूप (आत्मभाव) में रमण करने के लिए ही सारे व्रत हैं। इसलिए व्रतों की आवश्यकता तो सभी को, सर्वदा है, उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

स्व-स्वरूप में रमण करने के बजाय मनुष्य देह को ही अपना स्वरूप मानकर उसी में आसक्त होता जाता है। वह देहासक्ति ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, असत्य, चोरी, बेईमानी एवं परिग्रह आदि विकारों को पैदा करती है। इसलिए निश्चय दृष्टि से परमात्मरूप आत्मस्वरूप का घात होना ही हिंसा है, असत्य है, चोरी है, अब्रह्मचर्य है, परिग्रहवृत्ति है। जब भी आत्मस्वरूप का भाव भूलकर अज्ञानवश देह को अपना स्वरूप माना कि आत्मा की हिंसा हुई। निज स्वरूप आत्मा का तिरस्कार किया कि सत्य का भंग किया, देहासक्ति के कारण काम-क्रोधादि

विकारवश हुए कि ब्रह्मचर्य खण्डित हुआ, शुद्धात्मस्वरूप में विचरण बन्द हो गया। शुद्ध आत्मा या परमात्मा की आज्ञा भंग करके देहभाव में आसक्त हुए कि आज्ञा भंग की चोरी हुई, आसक्ति भाव रूप परिग्रह में फँसे। इस प्रकार आत्मस्वरूप का भान भूलकर देहासक्ति में फँसे कि सभी व्रत एक साथ खण्डित हो जाते हैं। इस प्रकार व्रत एक दूसरे से परस्पर जुड़े हुए होने पर भी अलग-अलग विकारों के निवारण की दृष्टि से उनकी पृथक्-पृथक् योजना की गई है।

प्रत्येक व्रत का स्वरूप और उसके सम्बन्ध में यथासमय प्रकाश डाला जाएगा।

व्रतग्रहण-विधि

यद्यपि निश्चयदृष्टि से आत्मभाव को छोड़कर देहभाव में आते ही व्रत-भंग का सूत्रपात हो जाता है, परन्तु व्यवहारदृष्टि से साधारण गृहस्थ इतनी गहराई से आदर्श पर चल नहीं सकता, इसलिए भगवान महावीर एवं बाद के आचार्यों ने व्रतों का व्यावहारिक रूप बताकर गृहस्थ के लिए भी बारह व्रत बताए हैं, जिनका पालन करना गृहस्थधर्म के आचार में समाविष्ट है। गृहस्थ का अर्थ ही यह है—जिसके साथ घर, स्त्री-पुत्र, धन, मकान, जमीन-जायदाद आदि लगे हैं। इस कारण वह शरीर और शरीर से सम्बन्धित आसक्ति का पूर्णतः त्याग नहीं कर सकता। परन्तु दूसरी ओर भगवान महावीर ने **'गिहिलिंगसिद्धा'** कहकर गृहस्थ रूप में भी मुक्त होने का विधान किया है। और गृहस्थ इन्हीं सब सांसारिक प्रपंचों या भौतिक सुख-सामग्री में फँसा-फँसा अपने जीवन को समाप्त न कर दें, ऐसा न हो कि वह आत्म-कल्याण से वंचित रह जाय। अतः भगवान महावीर ने आगारधर्म—गृहस्थ धर्म—बताकर व्रतों का पालन करके उसके लिए कल्याण का उपाय—मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया है। गृहस्थ के आवश्यक दैहिक या भौतिक आवश्यक कार्यों में किसी प्रकार की अड़चन न आए और वह गार्हस्थ्य के बंधन में रहते हुए अपना कल्याण कर सके, इसके लिए बारह व्रतों का विधान किया है। शास्त्रकारों ने उन बारह व्रतों के ग्रहण करने और तदनुसार उनके पालन करने की रीति बहुत ही सरलता से समझाई है। यद्यपि गृहस्थ एकदेश (आंशिक रूप) से ही संयम का पालन कर सकता है, तथापि उससे भी आत्मा का कल्याण तो होता ही है।

गृहस्थ श्रावक प्रत्येक अणुव्रत का पालन कई विकल्पों से करता है। व्रत ग्रहण करने के समय जिन विकल्पों (भंगों) का सहारा लिया जाता है, वे ४९ हैं। ये विकल्प तीन करण और तीन योग से मिलकर बनते हैं। करण और योग को समझ लेना आवश्यक है। ये दोनों जैन पारिभाषिक शब्द हैं। करण का अर्थ है—जिसके जरिये कार्य किया जाय। कई कार्य स्वयं किये जाते हैं, कई दूसरे से कराये जाते हैं, दूसरे द्वारा किये गए कई कार्यों का समर्थन या अनुमोदन किया जाता है। इन तीनों करणों को क्रमशः कृत, कारित और अनुमोदित कहते हैं। योग का अर्थ है—शरीर के तीन साधनों को प्रवृत्ति या कार्य से जोड़ना। योग भी तीन हैं—मन, वचन और काया।

इनके ४६ भंगों[1] में से श्रावक त्याग की मर्यादा की अपेक्षा ८ प्रकार के होते हैं—

(१) दो करण तीन योग से हिंसादि का त्यागी
(२) दो करण दो योग से ,, ,, ,,
(३) दो करण एक योग से ,, ,, ,,
(४) एक करण तीन योग से हिंसादि का त्यागी।
(५) एक करण दो योग से ,, ,, ,,
(६) एक करण एक योग से ,, ,, ,,
(७) उत्तरगुणधारी श्रावक जिसमें भंग नहीं है।
(८) अव्रती श्रावक, जो व्रत ग्रहण नहीं करता, केवल सम्यक्त्वी रहता है।

---

१ ४६ भंगों (विकल्पों) का चार्ट इस प्रकार है—

अंक	भंग	क. यो.		विवरण
११	६	१	१	करूं नहीं मनसा, करूं नहीं वचसा, करूं नहीं कायेन कराऊं नहीं ,, कराऊं ,, ,, कराऊं ,, ,, अनुमोदूं ,, ,, अनुमोदूं ,, ,, अनुमोदूं ,, ,,
१२	६	१	२	करूं नहीं मनसा वचसा, वचसा कायेन, मनसा कायेन कराऊं नहीं ,, ,, ,, ,, ,, ,, अनुमोदूं नहीं ,, ,, ,, ,, ,, ,,
१३	३	१	३	करूं नहीं, मनसा, वचसा, कायेन कराऊं नहीं ,, ,, ,, अनुमोदूं ,, ,, ,, ,,
२१	६	२	१	करूं नहीं कराऊं नहीं मनसा, वचसा, कायेन करूं ,, अनुमोदूं ,, ,, ,, ,, कराऊं ,, ,, ,, ,, ,, ,,
२२	६	२	२	करूं नहीं कराऊं नहीं मनसा वचसा, वचसा कायेन, मनसा कायेन करूं नहीं अनुमोदूं ,, ,, ,, ,, कराऊं नहीं ,, ,, ,, ,, ,,
२३	३	२		करूं नहीं, कराऊं नहीं मनसा, वचसा कायेन करूं नहीं अनुमोदूं नहीं ,, ,, ,, कराऊं नहीं ,, ,, ,, ,, ,,
३१	३	३		करूं नहीं, कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं मनसा, वचसा, कायेन
३२	३	३	२	करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं, मनसा वचसा, मनसा कायेन, वचसा कायेन
३३	१	३	३	करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं, मनसा, वचसा, कायेन

श्रावक के ये आठ मूलभेद हैं, शास्त्रकारों ने एवं आचार्यों ने इन्हीं ८ भेदों के ३२ भेद बतलाए हैं।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण, ये पाँच अणुव्रत हैं। विभिन्न रुचि के अनुसार अधिकांश श्रावक इन पाँचों अणुव्रतों का स्वीकार एवं पालन करते हैं, कतिपय श्रावक कम ज्यादा का। और फिर पाँचों व्रत लेने वाले भी सब समान रूप से नहीं लेते। किन्तु ऊपर बताए हुए ६ भंगों में से विभिन्न भंगों से लेते हैं। कई पाँचों व्रत पहले भंग के अनुसार, कोई दूसरे भंग के अनुसार और कोई तीसरे, चौथे, पाँचवें या छठे भंग के अनुसार लेते हैं। यों पूर्वोक्त छह भंगों के आधार पर पंचाणुव्रत ग्रहणकर्ता श्रावकों के छह भेद हुए। इसी तरह ही छह भेद चार व्रत लेने वाले के, छह भेद तीन व्रत लेने वाले के, छह भेद दो व्रत लेने वाले के और छह भेद एक व्रत लेने वाले के होते हैं। यों कुल मिलाकर तीस भेद हुए। इकत्तीसवां भेद उत्तर गुणव्रतधारक का और बत्तीसवां भेद अव्रती श्रावक का। इस प्रकार कुल योग करने से श्रावक के ३२ भेद हुए।

यद्यपि व्रती श्रावक के लिए ४९ भंग अणुव्रत ग्रहण करने हेतु बताए हैं, और ३२ भेद भी बताए हैं, किन्तु वर्तमान में दो करण तीन योग से ही पापों का त्याग गृहस्थ श्रावक करता है, वह उच्च श्रावक कहलाता है। यद्यपि प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक तीन करण और तीन योग से भी अणुव्रतों का ग्रहण एवं पालन करते हैं, मगर वे विरले ही होते हैं। उनकी सी त्याग विधि समस्त गृहस्थ श्रावकों के लिए अपनाना अनिवार्य नहीं है।

कोई यह कह सकता है कि श्रावक के व्रतग्रहण करने के हेतु ४९ भंग (विकल्प) हैं, उनमें तीन करण तीन योग से भी व्रतग्रहण का एक भंग है, फिर सिर्फ दो करण तीन योग से व्रतग्रहण करने वाले को ही उच्च श्रावक क्यों माना जाय? क्या यह शास्त्र विरुद्ध कथन नहीं है?

इसका समाधान मैं पहले कर चुका हूँ। जो गार्हस्थ्य जीवन की जिम्मेवारी से हटकर प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक की जिम्मेवारी ले लेता है, वह तीन करण तीन योग से व्रतग्रहण कर सकता है। पर जिस पर अभी गृहस्थाश्रम की जिम्मेवारी है, वह इस प्रकार के विकल्प से त्याग नहीं कर सकता। हाँ, वह स्वयम्भूरमण समुद्र के मत्स्य वध का तीन करण तीन योग से त्याग कर सकता है, क्योंकि वहाँ तक कोई मनुष्य पहुँच ही नहीं सकता। अन्य स्थितियों में आम श्रावक दो करण तीन योग से ही हिंसा, असत्य आदि पापों का त्याग कर सकता है। अनुमोदना का त्याग वह कर नहीं सकता, क्योंकि उसे कई ऐसे लोगों से भी अपना नाता-रिश्ता रखना पड़ता है, जो मांसाहारी हों, अथवा अन्य पापों का त्याग न किये हुए हों। उसके परिवार में भी कोई ऐसा व्यक्ति हो तो उसके साथ उसे रहना पड़ता है। इसलिए संवासानुमति और मनसानुमति दोनों प्रकार की अनुमति की छूट वह रखता है। हालांकि वह अपने

सम्बन्धी को वचन से और काया से किसी पाप की अनुमति नहीं देता, किन्तु उसके साथ रहने, परिचित होने या उसके सम्बन्धी होने के नाते उसकी मूक अनुमति तो हो ही जाती है। वह स्वयं स्थूल हिंसा आदि नहीं करता, दूसरों से भी नहीं कराता, किन्तु गार्हस्थ्य त्यागी न होने के कारण उसने अपने परिवार से ममत्व भाव का छेदन नहीं किया है, अतः परिवार में पुत्र-पौत्र या और कोई परिजन हिंसादिकर्ता हो तो वह उसे न तो सहसा स्वयं छोड़ सकता है, न उसके साथ परिचय का भी सहसा त्याग कर सकता है।

यद्यपि गृहस्थ श्रावक अपने साथ रहने वाले पुत्र-पौत्रादि को हिंसादि करने को कहता नहीं, न हिंसादि करवाता है; तथापि उनके साथ रहने के कारण उनके द्वारा की हुई हिंसादि से संसर्गदोष ही नहीं लगता ; कभी-कभी उसे गृहस्थ कार्य के लिए प्रेरणा भी देनी पड़ती है। उदाहरणार्थ—दो करण तीन योग से व्रत स्वीकार करने वाले ने किसी से कहा—उठो, भोजन कर लो। किन्तु खाने वाला राज्याधिकारी है, और अभक्ष्यभोजी है, उसे वह सात्त्विक भोजन खिलाकर अपनी ओर मोड़ भी सकता है। इसी प्रकार कोई राज्याधिकारी है, वह उक्त श्रावक के यहाँ ठहरा है, भोजन करने के लिए वह स्वयं होटल में जाकर अभक्ष्य पदार्थ खाता है, या अपेय पदार्थ पीता है, अब अगर वह श्रावक उसके साथ सर्वथा सम्बन्ध तोड़ ही देता है तो क्लेश वृद्धि की सम्भावना है। सम्बन्ध रखकर तो उसे सन्मार्ग पर लाया भी जा सकता है। सम्बन्ध तोड़ देने पर तो उसका अधिक पापी होना सम्भव है।

राजिया वाजिया सेठ कच्छ के बहुत बड़े सामुद्रिक जैन व्यापारी व श्रावक थे। उनका माल दूर-दूर तक ईरान, जावा, सुमात्रा, आदि देशों में जहाजों के द्वारा जाता था। उनके जहाजों में कई नाविक ऐसे भी थे, जो परम्परागत मांसाहारी थे। श्रावक राजिया वाजिया के प्रति वे पूर्ण वफादार थे, कुशल नाविक थे। समुद्र में कई बार समुद्री लुटेरों से भी उनका वास्ता पड़ जाता था। मगर वे प्राणप्रण से सेठजी के जहाजों में लदे हुए माल की सुरक्षा करते थे।

मान लो, राजिया वाजिया श्रावक उन्हें नौकर न रखते तो काम कैसे चलता ? अनुमोदन का पाप तो लगता, लेकिन दो करण तीन योग से लिए हुए हिंसादि त्याग के व्रत में कोई आँच नहीं आती। बल्कि सेठ राजिया वाजिया के सम्पर्क से उन्होंने आगे चल कर मांसाहार का त्याग कर दिया। एक बार एक समुद्री लुटेरे **'चोल खोजगी'** ने राजिया वाजिया सेठ के जहाज पर हमला कर दिया, तब बड़ी बहादुरी से उन नाविकों ने लड़ कर उसे गिरफ्तार कर लिया। वाजिया सेठ के सामने उपस्थित किया। वाजिया सेठ के पहरेदार नंगी तलवार लिये, चोल खोजगी को मृत्यु दण्ड देने हेतु उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े थे। चोल खोजगी उनसे प्राणों की भिक्षा मांग रहा था। पर्युषण के दिन थे। वाजिया सेठ ने चोल खोजगी को वचन बद्ध कराकर क्षमादान दे दिया। और उसे एक जहाज के कप्तान के नीचे नौकर रख लिया।

अब क्या था, उसने उसी दिन से समुद्री लुटेरापन छोड़ दिया । सेठ का कार्य भी वफादारी से करने लगा ।

इस प्रकार अनुमोदन का त्याग करने में श्रावक के लिए अड़चन तो आती है, लेकिन व्यावहारिक कार्य रुकते नहीं और अहिंसक श्रावक के सम्पर्क से हिंसक व्यक्ति भी सुधर जाता है ।

मगध के महामंत्री अभयकुमार ने कालसौकरिक के पुत्र से मित्रता का सम्बन्ध जोड़ा था । अभयकुमार श्रावक था, वह जानता था कि इसका पिता कसाई है, और कसाईपन छोड़ नहीं सकता, फिर भी कालसौकरिक के पुत्र में जीवन-सुधार की लगन देखकर उससे सम्बन्ध कायम रखा । परिणामस्वरूप उसका जीवन सुधर गया ।

उपासकदशांगसूत्र में महाशतक श्रावक का वर्णन है । उसकी तेरह पत्नियों में से रेवती अत्यन्त क्रूर थी, उसने अपनी सौतों को विषप्रयोग और शस्त्रप्रयोग से मार डाला था । उन सौतों के जेवर, धन, गोकुल आदि सब पर कब्जा जमा कर वह मालकिन बन बैठी ।

रेवती जैसी स्त्री मिल जाने पर श्रावकव्रतधारक पुरुष क्या कर सकता है ? जरा गहराई से सोचिए । वर्तमान युग में प्रायः अविवेकी लोग ऐसी स्त्री को या तो मार डालते हैं या घर से बाहर निकाल देते हैं या उसे जाति बहिष्कृत कर देते हैं । फिर चाहे वह विधर्मी बन कर या दुराचारिणी बन कर उससे भी अधिक पापकर्म क्यों न कमाए । मगर महाशतक दूरदर्शी श्रावक था । उसे रेवती की करतूतों का पता न चला हो, ऐसा तो असम्भव है । महाशतक श्रावक ने उस समय की सामाजिक परिस्थिति के अनुसार न तो उसे मारा और न उसे घर से बाहर निकाला । सम्भव है, उससे कहा-सुनी तो की होगी । उस समय के लोग हिंसा की अपेक्षा व्यभिचार को बहुत अधिक बुरा मानते थे । इसलिए सम्भव है—महाशतक ने यह सोचा होगा कि रेवती हिंसक होते हुए भी व्यभिचारिणी नहीं है, मेरे प्रति इसकी भक्ति है । मैं इसका वध तो कर ही नहीं सकता, क्योंकि मैंने दो करण तीन योग से हिंसा का त्याग किया है । अगर इसे घर से निकाल दिया गया तो सम्भव है व्यभिचारिणी बन जाय और अधिक हिंसक भी बन जाय । तब तो दोनों कुलों को बदनाम करेगी । शायद इस विचार से महाशतक ने रेवती को घर से न निकाला होगा । स्वयं ही उससे विरक्त होकर श्रावक प्रतिमा ग्रहण कर ली । फिर भी वे गृहस्थाश्रम को त्याग न सके, रेवती के साथ रहने से संवासानुमोदन पाप से वे बच नहीं सकते थे । इसलिए दो करण तीन योग से ही उन्होंने व्रत लिये । इस प्रकार सामान्य गृहस्थ श्रावक अनुमोदन जनित पाप का भागी होने से वह तीन करण तीन योग से व्रतग्रहण नहीं करता ।

गृहस्थ श्रावक अपनी जाति से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकता ।

जाति के अधिकांश लोग स्थूलहिंसा न करेंगे, न करायेंगे, इस बात का तो वह ठेका ले सकता है, लेकिन जो जातीय लोग हिंसा करते-कराते हैं, उनके साथ सम्बन्ध रखने से अनुमोदनजनित हिंसा से वह बच नहीं सकता। इस बात को लक्ष्य में रखकर ही गृहस्थ श्रावक के लिए कहा गया कि वह किसी भी जाति में रहकर स्थूलहिंसा का दो करण तीन योग से त्याग कर सकता और श्रावकत्व निभा सकता है। इस प्रकार की त्याग विधि से उसके संसार व्यवहार में कोई रुकावट नहीं आती।

कई लोग यह कहा करते हैं कि जैनधर्म के इन अणुव्रतों का पालन कोई विरक्त गृहस्थ, एकाकी लोकसेवक या विधवा भले ही कर ले, धनिक, सत्ताधारी, विद्वान् भरे-पूरे परिवार वाले गृहस्थ इन व्रतों का पालन नहीं कर सकते। वे चारों ओर से नियमों में जकड़ जाने के कारण इन व्रतों को निभा नहीं सकते। परन्तु समझने-समझाने की कमी के कारण ही ऐसा कहा जाता है। जिस गृहस्थ को अपनी आत्मा का उत्थान करना है, देह और देह से सम्बन्धित पदार्थों पर से आसक्ति हटाकर शुद्ध आत्मभाव में रमण करना है, उसे इस विधि से व्रत लेकर अभ्यास किये बिना कोई चारा नहीं है। जिसकी भावना भवभ्रमण से छूटने की एवं आत्मजागृति की है, उसे आत्म-कल्याण, परमार्थ, परमात्मा की उपासना अपनी गार्हस्थ्य मर्यादा में रहकर करने के लिए इस विधि से व्रत ग्रहण करने पर उसके पालन में कोई अड़चन नहीं आती। हाँ, व्यर्थ की पापजनक बातों, दुर्व्यसनों, अनावश्यक आरम्भ-समारम्भों, निरर्थक संग्रह, चोरी, बेईमानी आदि से धनोपार्जन, असत्याचरण से सुख-सुविधा प्राप्ति आदि का पाप-कार्यों का तो त्याग करना ही होगा। पर अभ्यास हो जाने पर उसे कोई भी व्रतपालन अटपटा नहीं लगेगा।

मैंने व्रतों के ग्रहण करने के सम्बन्ध में प्रायः सभी बातें स्पष्ट कर दी हैं। मैं चाहता हूँ कि आप व्रतग्रहण करने की भावना बनाएँ और अपनी आत्मा पर आए हुए विकारों को दूर करके उसे शुद्ध, उज्ज्वल एवं पवित्र बनाएँ। ☆

4

अणुव्रती, श्रमणोपासक और श्रावक

✡

मानवजीवन का लक्ष्य उस परिपूर्णता को प्राप्त करना है, जिसे मुक्ति, शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति, परमात्मपद की उपलब्धि कहते हैं। परन्तु इस पूर्णता तक पहुँचना सचमुच बहुत ही कठिन है। बुद्धिमान, समत्वयोगी, महाव्रती श्रमण इस परम गोपनीय तत्त्व को प्राप्त कर अपनी मुक्ति के भागी तो बनते ही हैं, साथ ही हजारों अन्य मुमुक्षुओं को आत्मकल्याण के पथ पर अग्रसर करने में भी वे समर्थ होते हैं।

एक बात निश्चित है कि अणुव्रत के अधिकारी भी वही सद्गृहस्थ भाई-बहन हो सकते हैं, जो महाव्रतियों से इस विषय का अनुभव ग्रहण करते हैं, उनके प्रति जिनमें श्रद्धा, विश्वास और जिज्ञासा होती है। सद्गृहस्थ की केवल जिज्ञासा ही उसे अधिकारी नहीं बना देती, वरन् अणुव्रत के तत्त्वों में अवगाहन की उसमें पात्रता भी होनी आवश्यक है। अधिकारी व्यक्ति ही अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत ग्रहण कर सकते हैं। जो भय और मोह की स्थिति में डगमगाएँ नहीं, जिनमें इतनी दृढ़ता, गम्भीरता और कठिनाइयों को सहन करने की भी क्षमता हो कि वे साधनाकाल की ऊँची-नीची, टेढ़ी-तिरछी परिस्थितियों में भी अपने व्रतों पर अडिग रह सकें। वस्तुतः वही अणुव्रत ग्रहण करने के अधिकारी होते हैं।

अणुव्रती श्रावक जीवनोद्देश्य की पूर्ति के लिए इस बात को भली-भाँति हृदयंगम कर लेता है कि मुझे रोजी-रोटी कमाने और शरीर यात्रा को ढोते रहने में ही अपनी सारी शक्ति को समाप्त नहीं कर देना है। यदि वह उस सीमा में संकुचित बना रहा, लक्ष्य के अनुसार आगे न बढ़ सका तो फिर वह जो कुछ कार्य करेगा, वह तुच्छ स्वार्थ एवं क्षणिक लाभ के लिए ही होगा। सत्कर्मों के पीछे भी भौतिक लाभ की आकांक्षा छिपी रहेगी। श्रमणों की उपासना भी वह तुच्छ स्वार्थ की पूर्ति की दृष्टि से करेगा। श्रेष्ठ कार्य निष्काम या निखालिस हृदय से करने का साहस ही उसमें उत्पन्न न होगा।

इसीलिए तीर्थंकरों और महान् आचार्यों ने बताया है कि यदि अणुव्रती सद्गृहस्थ अपना आत्म-विकास पूर्णतया करना चाहता है तो आत्म-विकास के पथ पर आगे बढ़े हुए महाव्रती साधु-साध्वियों की शरण में जाकर उनसे उसे यथार्थ अनुभव प्राप्त करना चाहिए।

वर्तमान में कई श्रावक नामधारी अणुव्रतों को जानते ही नहीं, और न जानने का प्रयत्न ही करते हैं। कई जानबूझकर भी श्रावकधर्म के आचरण के प्रति उदासीन हैं। अगर अणुव्रती श्रावक विवेकी और समझदार हो तो महाव्रती श्रमण अपनी साधना यथार्थ रूप से कर सकता है, अन्यथा महाव्रती साधु-साध्वियों को शुद्ध सात्त्विक आहार मिलने में बड़ी कठिनाई होती है। अणुव्रती श्रावक अविवेकी बनकर रजोगुणी और तमोगुणी भोजन करने लगें तो महाव्रती साधुओं को सात्त्विक भोजन कहाँ से प्राप्त होगा ? इसलिए अणुव्रतरूप श्रावकधर्म और महाव्रतरूप साधुधर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अणुव्रती श्रावक में विवेक होगा तो साधुवर्ग भी अपने महाव्रतों का यथार्थ रूप में पालन कर सकेगा। 'श्रमणोपासक' पद भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। श्रमणोपासक को अपना जीवन, खान-पान और रहन-सहन भी सात्त्विक बनाना पड़ता है। यों तो श्रमण-श्रमणी वर्ग ऐसे सभी घरों से भी आहार ले सकते हैं, जो श्रमणोपासक का न हो, फिर भी श्रमणोपासक को पूर्ण विवेक और विचार खान-पान, रहन-सहन आदि में रखना चाहिए। कई श्रमणोपासक आजकल देखा-देखी या पाश्चात्य लोगों के सम्पर्क में आकर मद्य, मांस, अंडे आदि अभक्ष्य वस्तुओं का सेवन करने लग गए हैं, कई श्रमणोपासक नामधारी तो कॉडलिवर ऑइल, माल्ट, हेमोग्लोबिन आदि अभक्ष्य दवाइयों का भी सेवन करने लगे हैं। एक कवि ने ऐसे नामधारी श्रावकों की चर्या पर तीखा और वास्तविक कटाक्ष किया है—

श्रावकों ने अपना सब गौरव गँवाया इन दिनों।
उच्चतम जीवन निरा पामर बनाया इन दिनों॥
शास्त्र का व्याख्यान अब क्यों कर भला आए पसंद ?
भैरवी की बहार में आनन्द पाया, इन दिनों॥
छान कर पीते हैं पानी, स्थावरों की है दया।
कंठ पर दीनों के झट खंजर चलाया इन दिनों॥

तात्पर्य यह है कि श्रमणोपासक बनने के लिए तदनुरूप जो व्रत बताए गए हैं, उनका निष्ठापूर्वक मन-वचन-काया से पालन करने पर ही कोई व्यक्ति श्रमणोपासक कहला सकता है।

यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि मेरा जन्म श्रमणोपासक या श्रावक के घर में हुआ है, इसलिए मैं भी श्रमणोपासक हूँ, यह गलत है। डॉक्टर के घर में जन्म लेने से किसी को डाक्टर नहीं कहा जा सकता, जब वह डॉक्टरी परीक्षा पास कर लेता है तभी उसे डॉक्टर कहा जाता है। इसी तरह वकील का पुत्र होने से कोई उसे वकील नहीं कह सकता। वकील तो वह तभी कहलाएगा, जब वकालत पास कर लेगा। महात्मा गांधी जी बैरिस्टर थे, तो क्या उनके लड़कों को कोई बैरिस्टर कहता है ? कदापि नहीं। इसी प्रकार कोई व्यक्ति श्रमणोपासक के व्रतों का पालन न करे और स्वयं को श्रमणोपासक का पुत्र होने के नाते श्रमणोपासक कहे तो शास्त्रीय एवं व्यावहारिक

दोनों दृष्टियों से यह बात गलत है। जीवन में अणुव्रत न हों तो कोई भी व्यक्ति उसे अणुव्रती नहीं कह सकता। उपासकदशांगसूत्र में आनन्द, कामदेव, महाशतक आदि श्रमणोपासकों (श्रावकों) के जीवन का वर्णन किया गया है, वहाँ पर आनन्द आदि को जैसे श्रमणोपासक कहा है, वैसे उनके पुत्रों को श्रमणोपासक नहीं कहा है, बल्कि महाशतक श्रमणोपासक की पत्नी रेवती को भी वहाँ श्रमणोपासिका नहीं बताया है, क्योंकि उसके जीवन में श्रमणोपासिका के व्रत नहीं थे।

परन्तु वर्तमान में इस विषय में अन्धाधुंधी चल रही है। जिनमें श्रमणोपासक के व्रत नहीं हैं, न श्रमणोपासक के अनुरूप आचार-विचार हैं, उन्हें भी कितने ही सत्ताधारी, धनाढ्य या श्रमणोपासक के पुत्र होने के नाते धर्मात्मा, धर्मवीर, बड़ा आदमी, पुण्यवान, भाग्यशाली, श्रावक या श्रमणोपासक आदि पदों से सम्बोधित करते हैं या उनकी तदनुरूप प्रशंसा आमसभा में कर देते हैं, श्रमणोपासक के गुण न होते हुए भी उन्हें श्रमणोपासक जानते-मानते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो जब तक किसी व्यक्ति का व्यावहारिक जीवन सुधरा हुआ न हो, तब तक वह अणुव्रतादि ग्रहण करने के योग्य नहीं होता और अणुव्रतादि ग्रहण किये बिना कोई भी व्रती श्रावक नहीं कहला सकता। क्या कोई व्यक्ति एक कागज पर दस सेर कलाकंद और बीस सेर पूड़ी लिख दे तो उससे किसी एक भी व्यक्ति का पेट भर सकता है ?

'कदापि नहीं'। यह तो कागज पर लिखी सूचना मात्र है। पेट तो तभी भर सकता है, जब इन चीजों को कोई लाएगा और खाएगा। इसी प्रकार शास्त्र में श्रावक के आचार-विचार का वर्णन है, उसके अनुसार कोई पालन करेगा तभी श्रावक या श्रमणोपासक बन सकेगा।

अणुव्रती को श्रमणोपासक क्यों कहा गया ?

अणुव्रती और महाव्रती का घनिष्ठ सम्पर्क और परस्पर साहचर्य शास्त्र में बताया गया है। एक-दूसरे के व्रतों को विशुद्ध रखने का कर्त्तव्य और दायित्व भी शास्त्रकारों ने दोनों पर डाला है। खासतौर से महाव्रती श्रमण पर अणुव्रती श्रमणोपासक के जीवन को विशुद्ध और व्रतों से अनुबद्ध रखने की जिम्मेवारी डाली गई है। यही कारण है कि अणुव्रती सद्गृहस्थ को श्रमणोपासक कहा गया है।

श्रमणोपासक और श्रमण की पहचान

श्रमणोपासक शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्रमणोपासक का सामान्यतया अर्थ होता है—श्रमणों की उपासना करने वाला। श्रमणोपासक जब श्रमण की उपासना करना अपना लक्ष्य बना लेता है तो उसे सर्वप्रथम श्रमण का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। इस भूमंडल पर साधुनामधारी विविध वेष में सुसज्जित मुनि श्रमण या

साधु कहलाने वालों की कमी नहीं है। प्राचीनकाल में भी भारतभूमि में सैकड़ों प्रकार के साधु थे, और आज भी हैं। अतएव किसी वेशधारी या क्रियाकाण्डी को साधु या श्रमण कह देने मात्र से किसी निश्चित अर्थ का बोध नहीं होता। इसी दृष्टि से जैनशास्त्रों में साधु या श्रमण की सम्यक् रूप से पहचान भी बतला दी गई है। सामान्यतया पंच महाव्रतों (हिंसा, असत्य, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और परिग्रह-ममत्व का सर्वथा तीन करण तीन योग से त्याग करना) का पालन करने वाला ही श्रमण या साधु कहलाता है। परन्तु इन पाँच महाव्रतों को स्वीकार कर लेने मात्र से कोई भी व्यक्ति श्रमण या साधु नहीं कहलाता। और न ही पंच महाव्रतों के स्वीकार मात्र से ही या वेष एवं क्रियाकाण्ड से ही किसी व्यक्ति को साधु या श्रमण के रूप में जाना-पहिचाना जा सकता है। इसके लिए एक कसौटी बताई गई है—उत्तराध्ययन सूत्र के १९वें अध्ययन में—

लाभालाभे सुहे-दुक्खे जीविए-मरणे तहा।
समो णिंदा पसंसासु तहा माणावमाणओ॥

अर्थात्—भिक्षा आदि के लाभ में और अलाभ में, सुख-दुःख में, जीवन-मरण में और निन्दा-प्रशंसा में तथा मान और अपमान में साधु सममावी होता है।

कैसी भी विषम परिस्थिति हो, कैसा भी विकट वातावरण हो श्रमण विषम-भाव में प्रवेश नहीं करता। सुख में हो या दुःख में, जीवित रहे या मृत्यु आ जाय, निन्दा हो या प्रशंसा, सम्मान हो या अपमान, किसी भी हालत में श्रमण हर्ष-विषाद का अनुभव नहीं करता।

[1]श्रमण का अर्थ है, अपने उत्थान या विकास के लिए दूसरों पर निर्भर न रहकर स्वयं श्रम करने वाला, तप करने वाला। कोई भी दूसरा व्यक्ति या शक्ति किसी दूसरे को सुखी या दुःखी नहीं बना सकती, अपने उत्थान-पतन के लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी है।

इसी प्रकार 'समण' का एक अर्थ यह भी होता है—[2]'जिस प्रकार मुझे दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार समस्त जीवों के लिए समझता है, अतः जो न किसी की हिंसा करता या कराता है, बल्कि सभी प्राणियों के प्रति समानभाव से 'अणति' अर्थात् व्यवहार करता है।

इसका एक और भी रूप बनता है—**'सममन'** या **'समन'** उसका अर्थ होता है—[3]श्रमण वह है, जिसके लिए न कोई अप्रिय है और न ही कोई प्रिय, जिसके लिए

---

१ श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणः।

२ जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ, न हणावेइ य, सममणइ तेण सो समणो॥

३ णत्थि य से कोइ वेसो, पिओ अ सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो, एसो अन्नोवि पज्जाओ॥

चींटी और हाथी सब समान हैं। इसी प्रकार **'सुमन'** रूप भी बनता है, जिसका अभिप्राय यह है कि जो [1]पाप-मना न हो, जिसके मन के किसी कोने में पाप का निवास न हो, तथा जो स्वजन-परजन के प्रति सम हो, वही श्रमण है।

श्रमण का एक रूप **'शमन'** भी होता है। [2]शमन का अर्थ है—जो अपने पापों का शमन करता हो, मन के विकारों तथा चित्तवृत्तियों को शान्त करता हो।

वास्तव में श्रमण के इन विभिन्न गुणों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि व्यक्ति और समाज यदि श्रमण के इन गुणों का अनुसरण करे या इन गुणों की उपासना करे अथवा इनकी छाया में रहे तो उसका कल्याण निश्चित है। और श्रमण में ये गुण सहजभाव में प्रस्फुटित होते हैं।

श्रमणोपासक इन्हीं गुणों से सम्पन्न श्रमण की उपासना करता है। जिन श्रमण-श्रमणियों में ये गुण नहीं होते, जो केवल इन गुणों की व्याख्या करते हैं, वे ग्वाले की तरह पराई गायों की रखवाली या गिनती करने वाले लोगों की तरह श्रमणत्व के गुणों से हीन हैं। श्रमणोपासक श्रमण के वेष या क्रियाकाण्ड की उपासना नहीं करता।

श्रमण के गुणों की उपासना करने से श्रमणोपासक को लाभ

यहाँ प्रश्न यह होता है कि श्रमण के गुणों की केवल उपासना करने से श्रमणोपासक को क्या लाभ मिल सकता है? इसके उत्तर में शास्त्र कहते हैं कि जो जिस गुण को प्राप्त करना चाहता है, उसे उस गुण के उच्च शिखर पर आरोहण करने वाले या आरूढ़ व्यक्ति को आदर्श के रूप में सामने रखना होता है, उसे उपास्य मानना पड़ता है, तभी वे गुण उसमें आ सकेंगे। श्रमणोपासक श्रमण के पूर्वोक्त गुणों को प्राप्त करना चाहता है, वह श्रमण के समभाव एवं उच्च आचार को उपलब्ध करना चाहता है, इसलिए वह श्रमण की उपासना करता है।

गुलिस्ताँ में एक कहानी आती है कि एक बादशाह अपने स्नानागार में गया। वहाँ पड़ी हुई मिट्टी में से बहुत ही उत्कृष्ट सुगन्ध आ रही थी। बादशाह का दिल इस खुशबू से बाग-बाग हो गया। उसने अपने नौकरों से पूछा—"इस मिट्टी में ऐसी सुगन्ध कहाँ से आ गई?"

नौकरों ने कहा—"हुजूर! यह मिट्टी फुलवाड़ी की है। इस मिट्टी पर गुलाब के पौधे लगे हुए थे। वहाँ से इस मिट्टी को खोदकर यहाँ लाया गया है। इसलिए गुलाब के फूलों की खुशबू इस मिट्टी में बसी हुई है।"

---

१ तो समणो जइ सुमणो, भावेण जइ ण होइ पावमणो।
सयणे य जणे य समो, समो य माणावमाणेसु॥

२ यो च समेति पापानि अणुथूलानि सब्बसो।
समिततत्ताहि पापानं, समणोत्ति पवुच्चई॥

यह सुनकर बादशाह हर्ष से उछल पड़ा और कहने लगा—"वाह रे गुलाब के फूल ! तूने अपनी सुगन्ध इस मिट्टी में डाल दी।"

जिस प्रकार गुलाब की सेवा से मिट्टी में सुगन्ध आ गई, इसी प्रकार श्रमणों की सेवा से, उनके सान्निध्य से श्रमणोपासक में समभाव, प्रशमभाव, आत्मश्रमभाव स्वाभाविक रूप से आ जाता है।

सांसारिक पदार्थों के उपासक श्रमणोपासक नहीं

आप में से कई लोग शायद यह सवाल उठाएँ कि "महाराज ! हम तो गृहस्थ हैं, हम में कहाँ समभाव आ गया है या हम कहाँ ऐसा समभाव चाहते हैं कि सोने और पत्थर को एक समान समझें। ऐसा समभाव तो श्रमणों में ही आ सकता है, और वे इस प्रकार के समभाव की साधना करना भी चाहते हैं। हम तो ऐसा समभाव नहीं चाहते, हमें तो धन की चाह है, पुत्र की चाह है, सांसारिक सुखों की चाह है। फिर हम इनकी पूर्ति के लिए श्रमणों की उपासना क्यों करें? ऐसी कल्पना मानव-जीवन का सच्चा उद्देश्य न समझने वाले या गृहस्थ-जीवन के आदर्श को भूल जाने वाले ही प्रायः किया करते हैं। सच्चा श्रमणोपासक श्रमणों की उपासना धनादि की प्राप्ति के लिए नहीं करता, अपितु जीवन के उच्च आदर्शों व श्रमण के गुणों की प्राप्ति के लिए ही वह श्रमणोपासना करता है। सच्चे श्रमणोपासक के हृदय में श्रमणोचित समभाव एवं गुणों को प्राप्त करने की आकांक्षा रहती है। श्रमणोपासक (श्रावक) के तीन मनोरथ भी इसी बात के द्योतक हैं। वे तीन मनोरथ इस प्रकार है—

१. कब वह दिन धन्य दिन होगा, जब मैं घरबार आदि छोड़कर अनगारवृत्ति धारण करूँगा।

२. कब वह सुदिन होगा, जब मैं बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से सर्वथा मुक्त होऊँगा।

३. कब वह सुदिन होगा, जिस दिन मैं आरम्भ से सर्वथा मुक्त बनूँगा।

तात्पर्य यह है कि श्रमणों की उपासना का उद्देश्य धन, सन्तान, सांसारिक सुख आदि की प्राप्ति नहीं होती। ये वस्तुएँ तो श्रमणों की उपासना तथा देव, गुरु, धर्म पर दृढ़ श्रद्धा व आचरण से पुण्यवृद्धि होने पर अनायास ही प्राप्त हो सकती हैं। सच्चे श्रमणोपासक की भावना श्रमणों की उपासना करके उसी ध्येय पर पहुँचने की होती है। वह चाहता है कि मैं भी एक दिन श्रमणों की तरह सोने और पाषाण को समान समझूँ और ऐसे ही संतों की उपासना करूँ।

वस्तुतः श्रमणोपासक श्रमण के वेष, क्रिया या व्यक्ति विशेष का उपासक नहीं होता, वह श्रमणत्व या साधुत्व का उपासक होता है।

श्रमणों की पहचान कैसे हो ?

कई लोग यह शंका उठाते हैं कि जब वेष, क्रिया या व्यक्ति विशेष से श्रमण की पहिचान नहीं हो सकती तो श्रमण में श्रमणत्व या साधुत्व की पहिचान कैसे होगी ? क्योंकि श्रमणत्व तो एक प्रकार का भाव है; और भाव अन्तर् की वस्तु है।

इसका समाधान यह है कि वास्तव में श्रमण के मनोभावों को हर एक व्यक्ति पहिचान नहीं सकता, लेकिन श्रमण के द्वारा पंच महाव्रत के पालन को, समाज के साथ होने वाले उसके व्यवहार को देख-परख कर कोई भी श्रमण के श्रमणत्व को पहिचान सकता है।

दूसरी बात यह है कि जिसे जिसको गुरु मानकर उसकी उपासना करनी है, उसकी शरण में जाना है, वह निरुद्देश्य प्रवृत्ति नहीं करेगा, आप अगर अपनी प्रवृत्ति किसी प्रयोजन से करते हैं तो उसमें असफलता मिलने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। देर-सबेर उस प्रवृत्ति में सफलता मिल ही जाती है। अगर आप समभाव रखने वाले, पंचमहाव्रती गुरु के पास पहुँचने के लिए प्रवृत्त होते हैं, तो ऐसे गुरु को एक न एक दिन पा ही लेंगे।

अर्हन्तोपासक क्यों नहीं ?

कई लोगों का कहना है कि ऐसे व्रतधारी सद्गृहस्थ को श्रमणोपासक कहने के बजाय 'अरिहन्तोपासक' कहना चाहिए, क्योंकि 'अरिहन्त' निर्दोष होते हैं, राग-द्वेषरहित भी होते हैं, उन्हें झटपट पहचाना भी जा सकता है, और पूर्णता पर पहुँचे हुए की उपासना करने में किसी को संकोच भी नहीं होता। श्रमणों की पहिचान करने में तो कदाचित् भूल-चूक भी हो सकती है, सामान्य श्रमण छद्मस्थ होने के कारण समत्व, शमत्व एवं श्रमत्व आदि गुणों में स्वयं भी भूल कर सकता है, इन गुणों में गृहस्थ से भी पीछे हो सकता है, इसलिए व्रती गृहस्थ को अरिहन्तोपासक कहा जाता तो कोई झंझट ही नहीं रहता।

इसका समाधान यह है कि उपासना तभी हो सकती है, जब उपास्य प्रत्यक्ष हो। उपास्य विद्यमान न हो तो उपासक उपासना कैसे कर सकेगा ? तीर्थंकर कहलाने वाले अर्हन्त कालचक्र के एक काल में चौबीस ही होते हैं, वे भी किसी काल में विद्यमान रहते हैं और किसी काल में विद्यमान नहीं रहते। मगर श्रमणों के विषय में यह बात नहीं है। वे तो जहाँ श्रमणोपासक (श्रावक) होते हैं, वहाँ प्रायः रहते हैं; जहाँ श्रमणोपासक नहीं होते, वहाँ श्रमणों का रहना भी दूभर होता है। और फिर अर्हन्त भी तो श्रमण ही कहलाते हैं। वे वीतराग श्रमण हैं, दूसरे सामान्य छद्मस्थ श्रमण हैं। परन्तु उनकी साधना भी कम नहीं है। वे श्रमणोपासक से तो कई गुनी उच्चकोटि की साधना करते हैं। इसलिए वे चाहे साधना के पथ पर ही हों, श्रमणोपासक से बहुत ही आगे बढ़े हुए साधक होते हैं। इसलिए प्रायः सदैव और साक्षात् उपासना तो उन्हीं की ठीक-ठीक हो सकती है। और साक्षात् उपासना श्रमण की ही होने के कारण श्रावक को श्रमणोपासक कहा गया है। व्यवहार में सम्यक्त्व स्वीकार करते समय भी श्रमण को ही गुरु बनाया जाता है।

यह ठीक है कि श्रमणोपासक जिन साधु-साध्वियों को अपने गुरु बनाएगा, या मानेगा, उनकी देख-परख तो करेगा ही, उनके गुण देखेगा, तभी उन्हें वन्दना-नम-

स्कार करेगा। सच्चा श्रमणोपासक केवल वेष को सिर नहीं झुकाएगा, वह गुणों को देखेगा, तभी उनके सामने नतमस्तक होगा, उपासना करेगा।

आवश्यक निर्युक्ति में कहा है—

किं पुच्छसि साहूणं, तवं च नियमं च, बंभचेरं च।

किसी साधु ने एक श्रमणोपासक से पूछा—"साधु के बारे में तुम क्या पूछ रहे हो ? उसके तप को, नियम को और ब्रह्मचर्य को देखो। केवल वेष और क्रिया-काण्ड को मत देखो।" कहा भी है—

'भेख देख भूलो मती, ओलखजो आचार'

श्रमणोपासक ने कहा—जी हाँ, यही बात है। मैं केवल वेष ही नहीं, आचार भी देखता हूँ। क्रियाकाण्ड और श्रमणों का व्यवहार भी देखता हूँ।

श्रमण वर्ग की उपासना के प्रकार

अब प्रश्न यह है कि श्रमणोपासक श्रमणवर्ग की उपासना कैसे करेगा ? क्योंकि श्रमणोपासक उत्सर्गमार्ग में हाथ-पैर दबा कर तो श्रमण की सेवा या उपासना नहीं कर सकता, तब फिर कौन-सा उपाय है, जिसके जरिये श्रमणोपासक श्रमणों की सेवा कर सके ?

इसका समाधान यह है कि श्रमणोपासना केवल शरीर से ही हो सकती हो, ऐसी बात नहीं है। मन, वचन, तन और धन आदि कई साधन हैं, जिनसे श्रमणों की सेवा उनकी साध्वाचार-मर्यादा के अनुकूल हो सकती है।

शरीर से श्रमण वर्ग की सेवा के कई प्रकार हैं; उदाहरण के तौर पर श्रमणोपासक साधु-साध्वी को स्वयं आहार-पानी आदि देकर सेवा करेगा। वह उनकी आचार मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए उनके अनुकूल सात्त्विक आहार पानी देकर सेवा का प्रतिलाभ उठाएगा। साधु-साध्वियों को योग्य आहार-पानी देने के लिए वह अपना खानपान भी ऐसा शुद्ध एवं सात्त्विक रखेगा, जिससे साधु-साध्वियों को उसके यहाँ से आहार-पानी लेने में कोई संकोच न हो।

अगर वह पके फल आदि गुठली सहित ही चूस लेता है या बीज निकाल कर खाने का विवेक नहीं रखता तो साधु को उसे अचित्त पके फल आदि देने का लाभ नहीं मिल सकता।

दूसरी बात यह है कि मान लीजिए, साधु-साध्वी ऐसे क्षेत्र में विचरण कर रहे हैं, जहाँ बिलकुल अपरिचित और साधु-साध्वियों के प्रति भक्ति रखने वाले लोग नहीं हैं। अगर उस क्षेत्र में या आसपास श्रमणोपासक होगा तो वह साधु-साध्वियों को अपने साथ ले जाकर उन्हें भिक्षाचर्या के लिए घर बताएगा, शुद्ध निर्दोष आहार-पानी दिलाएगा, धर्मदलाली करेगा, वहाँ साधु-साध्वियों के व्याख्यानों का आयोजन करा कर या लोक-सम्पर्क करवा कर धर्मसंघ की महिमा बढ़ाएगा।

कई जगह अपरिचित लोगों को जैन साधु-साध्वी का परिचय देकर धर्म-महिमा बढ़ाएगा। सम्प्रति राजा पूर्वजन्म में एक सामान्य दरिद्र व्यक्ति था, किन्तु आचार्य सुहस्तिगिरि के सम्पर्क में आकर उसने धर्मोपदेश सुना, संसार से विरक्ति हुई और आचार्यश्री के चरणों में मुनिधर्म की दीक्षा ले ली, किन्तु दीक्षा लेने के दिन ही उसे विसूचिका की भयंकर व्याधि हुई, वही उसके लिए प्राणघातक बनी। किन्तु अन्तिम समय में उक्त नवदीक्षित की भावना शुभ थी, इसलिए वह मर कर उज्जैन के सम्राट् कुणाल के पुत्र के रूप में सम्प्रति राजकुमार बना। सम्राट् के बाद सम्प्रति ही उत्तराधिकारी बना।

सम्राट् सम्प्रति एक दिन अपने महल के झरोखे में बैठा था, तभी आचार्य सुहस्तिगिरि उज्जयिनी में खूब धूमधाम से स्वागतपूर्वक प्रवेश कर रहे थे। सम्राट् सम्प्रति ने उन्हें देखा तो उनके त्याग, वैराग्य एवं भव्य आकर्षक व्यक्तित्व से सहज रूप से वह प्रभावित हुआ। इस अनोखे त्यागी महानुभाव के प्रति खिंचाव क्यों हुआ? इस पर गहराई से विचार करते-करते सम्राट् सम्प्रति को अपने पूर्वजन्म की मधुर स्मृति हो आई। अरे! मैं पूर्वजन्म में इन्हीं आचार्य का शिष्य बना था, और एक ही दिन के साधुत्व-पालन से मैं उज्जैन के साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना। सचमुच आचार्य मेरे कितने उपकारी हैं? इनके उपकार का बदला कैसे चुकाऊँ?

यों विचार करके सम्राट् सम्प्रति सहसा महल से नीचे उतर कर आया। आचार्यश्री के चरणों में विधिपूर्वक वन्दन किया और अपने प्रति उनके द्वारा किये गए महान् उपकारों का उल्लेख करते हुए सम्प्रति ने कहा—"गुरुदेव! आपने मुझ पर महान् उपकार किया है, उसके यत्किञ्चित् प्रतिदान के रूप में आप मेरा यह सारा राज्य ग्रहण करके मुझ पर अनुग्रह कीजिए।"

आचार्यश्री ने आश्चर्यान्वित होकर कहा—"राजन्! यह उपकार मेरा नहीं धर्म का है। जिस धर्म के प्रताप से तुम्हें यह राज्य मिला है, उस धर्म की सेवा करो। धर्म की सेवा ही हमारी सेवा है। और फिर हम घरबार, जमीन-जायदाद एवं धन-सम्पत्ति सब कुछ छोड़-छाड़ कर निर्ग्रन्थ श्रमण बने हैं, हम जिस राज्यादि का त्याग कर चुके हैं, उस राज्य को पुनः ग्रहण कैसे कर सकते हैं!"

सम्राट् सम्प्रति ने कहा—"गुरुदेव! मैं समझ गया, आप निर्ग्रन्थ श्रमण होने के नाते राज्य ग्रहण नहीं कर सकते। अतः मुझे धर्म और धर्मात्मा श्रमणों की सेवा करनी है। इसके लिए सर्वप्रथम तो आप मुझे बारहव्रत देकर श्रमणोपासक बनाइए। तत्पश्चात् मुझे निर्देश दीजिए कि धर्म एवं श्रमणों की सेवा के लिए मुझे क्या करना चाहिए?"

आचार्यश्री ने समाट् सम्प्रति को व्रतबद्ध श्रमणोपासक बनाया, उसे बारहव्रतों का स्वरूप समझाया और व्रतों में लग जाने वाले दोषों (अतिचारों) से अपनी आत्मा को सुरक्षित रखने के लिए सावधान किया। तदनन्तर श्रमणोपासक सम्राट्-सम्प्रति

से आचार्यश्री ने कहा—"अगर तुम्हें धर्म और श्रमणों की सेवा करनी है तो जहां अनार्यदेश में श्रमणों का विचरण सुलभ नहीं, जहाँ के लोग धर्म से विमुख हैं, उन्हें इस धर्म के प्रारम्भिक आचरण के सम्मुख करने के लिए तुम उन क्षेत्रों और उन क्षेत्रों के निवासियों को धर्म और श्रमण का परिचय देकर सुलभ कर सको तो यह एक महान् सेवा होगी।"

"गुरुदेव ! मुझे स्वीकार है। ऐसा ही करूँगा।" सम्प्रति ने कहा। इसके पश्चात् आन्ध्र आदि अनार्यदेशों में, जहाँ के लोग धर्म से विमुख एवं साधुओं से बिलकुल अपरिचित थे, सम्राट् सम्प्रति ने अपने सुभटों को साधुवेष में भेजा और वहां के लोगों को उन साधुवेषी सुभटों ने श्रमणों के आचार-विचार से परिचित कराकर तथा उन्हें साधुओं को शुद्ध आहार-पानी देने से अभ्यस्त कर दिया। इस प्रकार अनार्यदेशीय लोगों को सुलभ बनाकर वे सभी वापिस उज्जैन लौटे। उन्होंने सम्राट् सम्प्रति को आन्ध्रादि अनार्यदेशों के लोगों को सुलभ बनाने की कहानी अथ से इति तक सुनाई। सम्राट् सम्प्रति ने आचार्यश्री से उन सुलभ क्षेत्रों में पधारने की प्रार्थना की। आचार्यश्री वहाँ पधारे और वहाँ के लोगों को धर्माचरण के मार्ग पर लगाया। बहुत से लोगों को व्रतबद्ध किया।

जैसे एक दीपक से सैंकड़ों दीपक जल सकते हैं, वैसे ही श्रमणोपासक का कर्तव्य है, स्वयं श्रमणोपासक बने और अनेक सद्गृहस्थों के जीवन में प्रेरणा देकर श्रमणोपासना का दीपक जलाए।

यह है मन, वचन, काया से श्रमणोपासना की विधि ! इसके अतिरिक्त श्रमणोपासना का एक और प्रकार है, श्रमणोपासक के लिए; वह यह है कि श्रमण और श्रमणोपासक दोनों का जोड़ा है, दोनों का उपास्य-उपासक सम्बन्ध है, इसी प्रकार एक-दूसरे के साथ साहचर्य सम्बन्ध भी है। श्रमण जैसे श्रमणोपासक की आचार-विचार की शुद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है, वैसे ही श्रमणोपासक भी श्रमण की आचार-विचारशुद्धि के लिए प्रयत्नशील रहे। इसीलिए एक ओर शास्त्रों में जहाँ श्रमणों को प्राणिमात्र (षट्जीवनिकाय) के रक्षक एवं माता-पिता कहा है, वहाँ श्रावक-श्राविकाओं को भी श्रमणों के **'अम्मापिउसमाणा'** (माता-पिता के समान) बताया है। श्रमणों का आचार-विचार शुद्ध रहे, उनका तप, संयम, महाव्रत उज्ज्वल रहे, इसके लिए श्रमणोपासक वर्ग को हर समय प्रयत्नशील रहना चाहिए। श्रमणवर्ग के तप, संयम एवं महाव्रतों को उज्ज्वल रखना भी एक तरह से उसकी महती सेवा है।

गुजरात के एक गाँव की घटना है। वहाँ के उपाश्रय में एक जैन सन्त ठहरे हुए थे। वे सन्तवेष में तो थे, लेकिन श्रमण आचार-विचार से बहुत ही शिथिल और स्वच्छन्द हो गए थे। एक दिन सौराष्ट्र की एक रियासत के दीवान श्री शान्तु मेहता उस गाँव में आए हुए थे। उन्होंने सुना कि यहाँ के उपाश्रय में एक जैन सन्त विराजे हुए हैं। वे अपने श्रद्धाशील स्वभाव के कारण सहसा उनके दर्शनार्थ उपाश्रय में आए।

किन्तु उन्होंने वहाँ आकर जो कुछ दृश्य देखा, उससे आश्चर्यचकित होकर अपनी आँखें मूँद लीं और सन्त को वन्दन करने लगे। बात यह थी कि जिस समय शान्तु मेहता आए थे, उस समय उपाश्रय में एक वारांगना आई हुई थी, जिसके कन्धे पर सन्त ने हाथ रखा हुआ था। शान्तु मेहता को देखते ही वह एकदम सहम गई और हटकर एक ओर खड़ी हो गई। परन्तु शान्तु मेहता की चतुर आँखों से यह सब छिपा न रह सका। मगर वे इस श्रमण का यह अनाचार देखकर भी चुपचाप रहे। वन्दना करके उन्होंने सुख-शान्ति पूछी और उलटे पैरों लौट गए। परन्तु उस तथा-कथित श्रमण के मन में पश्चात्ताप होने लगा। सोचा—"आज शान्तु मेहता ने कहा कुछ नहीं, लेकिन वे मेरी पाखण्डलीला को भली-भाँति जान गए हैं। धिक्कार है मुझे! इस महान् श्रमणोपासक से वन्दना लेते हुए मुझ पतित को शर्म नहीं आई! अब तो यही अच्छा है कि मैं अपने गुरुदेव के पास जाकर अपने इस अनाचीर्ण की आलोचना करके प्रायश्चित्त ग्रहण करूँ और अपनी आत्म-शुद्धि करूँ।"

यों पश्चात्तापपूर्वक वे अपने गुरुदेव के पास पहुँचे। गुरुदेव के समक्ष सारी घटित घटना हूबहू प्रस्तुत की। गुरुवर हेमचन्द्राचार्य ने उन्हें यथोचित प्रायश्चित्त दिया और उनकी शुद्धि की।

एक बार शान्तु मेहता शत्रुञ्जयपर्वत पर तीर्थयात्रा के उद्देश्य से आरोहण कर रहे थे, तभी शत्रुञ्जयगिरि (पालीताणा) से नीचे उतरते हुए वे ही मुनि मिल गए। शान्तु मेहता ने उन्हें देखा और उन्हें कुछ-कुछ स्मृति हो आई कि यह वही मुनि हैं, फिर भी श्रद्धापूर्वक वन्दन करके उन्होंने पूछा—"महाराज साहब! आपके गुरु कौन हैं?" वे मुनि भी दीवान शान्तु मेहता को पहचान गए और बोले—"मेरे गुरु हैं—शान्तु मेहता!"

"महाराज! मैं तो एक सामान्य श्रावक हूँ। आप महान् पद पर हैं। मैं आप का गुरु कैसे?" शान्तु मेहता ने कहा।

मुनि—"मेरे दीक्षा गुरु तो हेमचन्द्राचार्य हैं, परन्तु प्रेरणागुरु—मेरे जीवन में आचारशुद्धि के प्रेरक तो आप ही हैं।"

शान्तु मेहता ने कहा—"मैंने आपको क्या प्रेरणा दी? मैं क्या प्रेरणा दे सकता हूँ आपको?"

मुनि—"भले ही आप न मानें, लेकिन मेरा साध्वाचार से विपरीत निकृष्ट आचरण देखकर एक शब्द भी नहीं कहा, श्रद्धा से मस्तक झुकाकर आ गए। लेकिन आपका वही व्यवहार मेरे लिए प्रेरणादायक बन गया। उसी समय से मेरे हृदय में पश्चात्ताप चलने लगा। मैंने अपने अनाचार की आलोचना की और आत्म-शुद्धि करके आ रहा था, तभी आप मिल गए। वास्तव में आपने श्रमणोपासक का **'अम्मापिउ-समाणा'** का विरुद निभाकर मेरी महान् सेवा की है।"

शान्तु मेहता ने अपनी नम्रता प्रगट करते हुए कहा—"महाराज ! मैंने तो श्रमणोपासक का कर्तव्य निभाया है, जो मुझे निभाना चाहिए था। इससे बढ़कर और कुछ नहीं किया।"

मुनि ने कहा—"अगर आप उस दिन न संभालते तो मेरी दशा न जाने क्या होती। इसलिए आपने तो मुझे नया संयमी जीवन दिया है। आपका उपकार जितना माना जाय, उतना ही कम है।"

यह है श्रमणोपासक द्वारा श्रमणोपासना का एक प्रकार।

श्रमणोपासक द्वारा श्रमणोपासना का महान् उद्देश्य

मैं पहले कह चुका हूँ कि सच्चा श्रमणोपासक श्रमणवर्ग की उपासना किसी सांसारिक आकांक्षा या स्वार्थ की पूर्ति के लिए नहीं करता। उसके द्वारा श्रमणोपासना का उद्देश्य जैसे श्रमणों के गुणों को अपनाना है, वैसे ही व्रतों के आचरण-पथ पर चलते समय जाने-अजाने कोई त्रुटि, असावधानी या गलती हो जाय तो श्रमणों द्वारा मार्गदर्शन, सावधानी या सुझाव प्राप्त करके उक्त त्रुटि या गलती को सुधारना भी होता है। इस प्रकार श्रमणोपासना का एक महान् उद्देश्य श्रमणोपासक की अपनी आत्मशुद्धि भी है। कई बार श्रमणोपासक को स्वयं अपनी गलती महसूस नहीं होती, स्वयं को पता भी नहीं चलता कि मेरी कोई भूल हुई है, लेकिन श्रमण अहिंसादि व्रतों के मार्ग में आगे बढ़े होने के कारण श्रमणोपासक को उस गलती या भूल से सावधान कर देते हैं और पुनः सत्पथ पर चढ़ा देते हैं।

श्रमण भगवान महावीर का एक उपासक महाशतक बारह व्रतधारक तो था ही, किन्तु जीवन की सन्ध्याबेला में वह श्रावक की प्रतिमा धारण करके प्रतिमाधारी बन चुका था। इधर महाशतक श्रमणोपासक की पत्नी रेवती, जो भौतिक सुखों में आकण्ठ डूबी हुई थी, महाशतक के इस परिवर्तन को देखकर खिन्न हो उठी। उसने सोचा—"पति को अपने व्रत-नियम से विचलित करके पुनः गृहस्थी के सांसारिक सुख भोगूं।"

महाशतक श्रावक अपनी पौषधशाला में धर्मध्यान में मग्न था। उसके मन में सांसारिक विषयसुखों से उपरति हो चुकी थी। अपने आप में वह आत्मतृप्त था। उसने श्रावक प्रतिमा धारण करने के बाद आजीवन अनशनरूप संलेखना-संथारा भी ग्रहण कर लिया था। इसी दौरान महाशतक को शुभ अध्यवसाय एवं ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण अवधिज्ञान प्राप्त हो गया था। रेवती कामान्ध बनकर निर्लज्जता से महाशतक के पास आई और उसने कहा—"वाह ! यह क्या धर्म का ढोंग रचा रखा है ? यदि ऐसा करना था तो आपने मेरे साथ विवाह ही क्यों किया ? चर चलो और सभी प्रकार के सुखों का उपभोग करो। जब आपको सभी प्रकार की सुख-सामग्री प्राप्त है, तब इस प्रकार से खानपान और भोगविलास को छोड़कर क्यों अपनी जिन्दगी बर्बाद कर रहे हो ?"

यद्यपि रेवती का यह आग्रह विवेकहीन था। परन्तु उसे तो सिवाय भोगविलास

के और कुछ सूझता ही नहीं था, जबकि महाशतक भोगों की निःसारता को समझ चुका था। इसीलिए अपना जीवन सफल करने के लिए उसने संलेखनाव्रत धारण किया था। रेवती ने तीन बार अपनी इसी बात को दोहराया, तब तक उसने कुछ भी उत्तर न दिया। वह रेवती को दयापात्र समझकर क्षमाशील रहा। फिर भी रेवती नहीं मानी और महाशतक को झकझोर कर घर चलने की प्रेरणा करती ही रही। तब महाशतक ने सोचा—"इसके और मेरे विचारों में रात-दिन का अन्तर है। मेरे साथ इसका मेल अब नहीं खा सकता।" इसके पश्चात् उसने अपने अवधिज्ञान का उपयोग किया तो उसे ज्ञात हुआ कि रेवती मरकर रत्नप्रभा नामक नरकभूमि में ८४ हजार वर्ष के लिए जाएगी। अतः महाशतक ने कहा—"तू मुझे क्यों तंग करती है। तुझे पता नहीं है, आज से सातवें दिन अलस रोग से पीड़ित होकर तू मरकर ८४ हजार वर्ष तक नरकवास करेगी।" यद्यपि यह कथन सत्य था, फिर भी रेवती के हृदय को आघात पहुँचाने वाला होने से हिंसाजनक था। रेवती अपने पति के मुख से यह भयजनक बात सुनकर बहुत घबराई। उसने समझा—पति ने मुझे क्रुद्ध होकर श्राप दे दिया है। अतः वह भय से काँपती हुई वहाँ से चली गई।

श्रमण भगवान महावीर ने अपने केवलज्ञान के प्रकाश में इस घटना को जानकर अपने पट्टधर शिष्य से कहा—"गौतम! आज तो गजब हो गया।"

गौतम ने साश्चर्य पूछा—"भगवन्! ऐसा क्या अंधेर हो गया?" भगवान ने कहा—"गौतम! बात यह है कि महाशतक श्रावक ने संलेखनाव्रत लिया है। उसने किसी भी प्राणी को जरा-सा भी कष्ट न देने की तथा अठारह पापस्थान को त्यागकर प्राणिमात्र को मित्र मानने की प्रतिज्ञा की है। एक तो प्रतिमाधारी श्रमणोपासक, तिस पर यह संलेखनाव्रत किसी भी पाप के लिए इसमें गुंजाइश को स्थान नहीं है। फिर भी उसकी पत्नी रेवती जब उसे धर्म से विचलित करने के लिए आई, तब उसने प्राप्त अवधिज्ञान का उपयोग करके रेवती को प्रथम नरकवास का भय दिखाकर प्रकम्पित कर दिया, उसके हृदय को गहरा आघात पहुँचाया है।" भगवान महावीर ने गौतम को सारी घटना आद्योपान्त सुनाकर आदेश दिया—"गौतम! तुम जाओ और महाशतक को मेरी ओर से यह सन्देश दो कि श्रमणोपासक के लिए प्रतिमा धारण करने और संलेखनाव्रत ग्रहण करने के बाद इस प्रकार का आघातजनक वचन कहना अकल्पनीय—अनुचित है। अतः अपने इस दोष (अतिचार) जनक कृत्य की आलोचना करो, पश्चात्ताप (आत्मनिन्दा) करो, पापों से गर्हा करो, तभी तुम्हारी आत्मा शुद्ध होगी।"

भगवान महावीर का यह आदेश पाते ही गौतमस्वामी, जो किसी नरेन्द्र के यहाँ भी बुलाने से नहीं जाते, महाशतक श्रावक को सावधान करने हेतु पौषधशाला में पहुँचे।

महाशतक ने गौतम गणधर को अपनी पौषधशाला में सहसा पधारे देखकर

वन्दना-नमस्कार किया और सविनय पूछा—"भगवन् ! आज मेरा अहोभाग्य है कि आपने यहाँ पधार कर मुझे दर्शन दिये । बड़ी कृपा की मुझ पर ! कहिये, मेरे लिए क्या आदेश है ?" गौतम स्वामी बोले—"महाशतक जी ! भगवान महावीर ने मुझे एक सन्देश देकर आपको सावधान करने के लिए भेजा है ।"

महाशतक ने उत्सुकतापूर्वक पूछा—"भगवन् ! क्या सन्देश है, प्रभु महावीर का ?"

गौतमस्वामी ने कहा—"आपने अपने संलेखनाव्रत में दोष लगाया है । बात यह है कि एक तो आप प्रतिमाधारी श्रावक बने हैं, फिर आपने संलेखनाव्रत ग्रहण किया है । इस व्रत में किसी के हृदय को आघातजनक बात कहना मर्यादाविरुद्ध है । आपने अपनी पत्नी को नरकगमन का भय दिखाकर आघात पहुँचाया है । अतः इस दोष की आलोचना एवं आत्मनिन्दा (पश्चात्ताप) करके आत्मशुद्धि कर लो ।"

गौतमस्वामी के द्वारा भगवान महावीर का अमृततुल्य सन्देश मानकर महाशतक श्रावक ने आलोचना आदि करके आत्मशुद्धि की ।

तात्पर्य यह है कि ऐसे अनेक विकट प्रसंगों में जहाँ श्रमणोपासक की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, कोई मार्ग नहीं सूझता, आँखों के आगे अँधेरा आ जाता है, असावधानी से उत्पथ पर चल पड़ता है, वहाँ प्रकाशस्तम्भ की तरह श्रमण का मार्गदर्शन, सुझाव, चेतावनी, या सन्देश उसको सत्पथ पर लाने में अत्यन्त सहायक होता है । यह एक प्रबल कारण है, श्रमणोपासक के लिए श्रमण वर्ग की उपासना का ।

अणुव्रती के अन्य पर्यायवाची नाम

शास्त्रों में अणुव्रती सद्गृहस्थ के लिए जैसे श्रमणोपासक शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ 'श्रावक' शब्द भी अत्यधिक प्रचलित है । कई अन्य अप्रचलित नाम भी शास्त्रों में मिलते हैं—जैसे सागारी, गृहस्थधर्मी, उपासक, संयमासंयमी, व्रताव्रती, विरताविरति, देशविरति श्रावक ।

श्रावक शब्द में निहित कर्तव्य बोध

श्रावक शब्द अणुव्रती सद्गृहस्थ के लिए श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं के शास्त्रों एवं धर्मग्रन्थों में पाया जाता है । कई धर्मग्रन्थ भी दिगम्बर सम्प्रदाय में इस नाम से प्रचलित है । जैसे—रत्नकरण्डश्रावकाचार, वसुनन्दीश्रावकाचार, सावयधम्मदोहा आदि । आप कहेंगे कि श्रावक तो सुनने वाले को कहते हैं । सुनने वाले तो दुनिया में बहुत-से हो सकते हैं । क्या व्रत-ग्रहण न करके श्रोता बनने मात्र से कोई व्यक्ति श्रावक कहला सकता है ? यदि इस प्रकार श्रावकत्व सस्ता कर दिया गया तो हर व्यक्ति अपने आपको श्रावक कहने लगेगा ? श्रमण भगवान महावीर ने श्रावक पद इतना सस्ता कैसे कर दिया ?

इसका समाधान यह है कि श्रावक-पद जितना आप समझते हैं, उतना आसान

या सस्ता नहीं है। केवल सुनने वाला ही श्रावक नहीं कहलाता और न ही श्रावक का पुत्र होने से ही कोई व्यक्ति श्रावक कहला सकता है, अपितु श्रावक-धर्म—व्रताचरण करने वाला ही वास्तव में श्रावक है। श्रावक कहलाने वाले पर कुछ विशेष दायित्व है, कुछ विशिष्ट कर्तव्य हैं। 'श्रावक' शब्द के विशेष अर्थ को स्पष्ट करते हुए एक आचार्य कहते है—

श्रद्धालुतां श्राति, शृणोति शासनम्।
दानं वपेदाशु वृणोति दर्शनम्॥
कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमम्।
तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः॥

श्रावक शब्द में 'श्रा' 'व' और 'क' ये तीन अक्षर हैं। इन तीनों से श्रावक के अलग-अलग कर्तव्यों का बोध होता है। प्रथम 'श्रा' अक्षर से यह अर्थ द्योतित होता है कि जो जिन-प्रवचन पर दृढ़ श्रद्धा रखता है, तथा जो साधु-समाचारी एवं श्रावक समाचारी दोनों पर पूर्ण विश्वास करता हो। 'श्रा' अक्षर से एक अर्थ और ध्वनित होता है, वह यह है कि जो श्रद्धापूर्वक जिनवाणी का श्रवण करता है।

श्रवण दो प्रकार से होता है—मन से और बिना मन से। इसी प्रकार एक व्यक्ति श्रद्धापूर्वक रुचि से, वस्तुतत्त्व को समझने की दृष्टि से सुनता है, जबकि दूसरा सुनता है—मनोरंजन की दृष्टि से या द्वेषबुद्धि से प्रेरित होकर। जो दोष दृष्टि से छिद्रान्वेषी होकर सुनता है, वह प्रायः इसी ताक में रहता है कि वक्ता कहाँ चूकता है ? कहाँ पकड़ में आता है ? कई श्रोता ऐसे भी होते हैं, जो जिस वक्ता की बात सुनते हैं, उसी की ओर झुक जाते हैं। उनका अपना सोचने का दिमाग नहीं होता, जहाँ जाते हैं, वहाँ बुद्धि पर ताला लगाकर जाते हैं, उन्हीं के अनुयायी बन जाते हैं। वे गंगा गये तो गंगादास और जमुना गये तो जमुनादास हो जाते हैं।

चार प्रकार के श्रावक

स्थानांगसूत्र में श्रमणशिरोमणि भगवान महावीर ने चार प्रकार के श्रावकों का उल्लेख किया है—**अद्धागसमाणा, पडागसमाणा, ठाणुसमाणा, खरकंटयसमाणा** अर्थात् कई श्रावक पथ की तरह सीधे सरल एवं जिज्ञासु होते हैं, वे विवेकी भी होते हैं। कई श्रावक पताका के समान होते हैं, वे जिधर की हवा बहती है, उधर ही चल पड़ते हैं। उनका कोई एक निश्चित ध्येय या सिद्धान्त नहीं होता। वे जहाँ भी जाते हैं, वहाँ के गुणगान करने लगते हैं। तीसरे श्रावक ठूँठ के समान अक्खड़ होते हैं, वे किसी के सामने झुकते नहीं, उनमें जिज्ञासा या नम्रता नहीं होती। ऐसे श्रावक अपने आपको बहुत बड़ा आदमी मान बैठते हैं और श्रमणों से कुछ सुनने सीखने, पाने या समाधान करने की दृष्टि न होने से वे अक्खड़ और अज्ञ ही रह जाते हैं। और चौथे प्रकार के श्रावक तो इनसे भी कठोर होते हैं। वे तीखे कांटे के समान चुभने और दुःख देने वाले होते हैं। वे सदा इसी फिराक में रहते हैं कि कब श्रमणों

की कोई गलती पकड़ूं और उन्हें हैरान करूँ, ताकि वे मुझे कुछ भी कह न सकें, मेरे दोषों के विषय में वे (श्रमण) जरा भी बोल न सकें।

ये हैं—चार प्रकार के श्रावकों के रूप ! इनमें अद्धागसमाणा सबसे ठीक है। पडागसमाणा बाकी के तीनों से बेहतर है।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि श्रावक ऐसा श्रोता न हो, जो इस कान से सुने और उस कान से निकाल दे, अथवा वक्ता की गलतियाँ ही पकड़ने में रत रहे, या वह जिधर का पलड़ा भारी हो, उधर ही झुक जाय, अपनी विवेकबुद्धि से कोई बात निश्चित न कर सके। वास्तव में ऐसा श्रोता होना चाहिए, जो श्रद्धापूर्वक जमकर, एकाग्र होकर सुने, उसमें से विवेकपूर्वक अपने लिए ग्रहण करे, जहाँ जो बात समझ में न आए, वहाँ जिज्ञासुबुद्धि से तर्क करके समझने का प्रयत्न करे। श्रावक किस प्रकार का होना चाहिए, इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए—

मिथिला नगरी के बाहर एक आश्रम में याज्ञवल्क्य ऋषि के प्रवचन प्रतिदिन होते थे। उस प्रवचनसभा में राजा जनक भी आते थे और कई ऋषि भी श्रवण करने आते थे। एक दिन याज्ञवल्क्य की प्रवचन सभा में ऋषि तो प्रायः सभी आ गए थे, लेकिन राजा जनक अभी तक नहीं आए थे, इसलिए वे प्रवचन प्रारम्भ नहीं कर रहे थे। ऋषियों में आपस में कानाफूसी होने लगी—"देखो, ये ऋषि होकर भी सत्ताधारी की गर्ज करते हैं।" दूसरे ऋषि ने कहा—"हाँ, भाई ! अगर ये राजा की खुशामद न करें तो इनके आश्रम का खर्च कैसे चले ? राजा से सहायता की अपेक्षा है, इसीलिए तो ये प्रवचन प्रारम्भ करने में विलम्ब कर रहे हैं।" याज्ञवल्क्य ऋषियों की कानाफूसी से ताड़ गए कि ये अपने आपको बहुत बड़े और योग्यतम श्रोता मानते हैं। और मैं प्रवचन में विलम्ब कर रहा हूँ, इसे ये राजा की गुलामी समझ रहे हैं।

कुछ ही देर बाद राजा जनक सभा में आ पहुँचे और उन्होंने सबसे क्षमायाचना करते हुए कहा—"माफ करना, आज एक अत्यन्त आवश्यक राजकार्य के कारण मुझे आने में विलम्ब हो गया। आप लोगों को प्रतीक्षा करनी पड़ी।" याज्ञवल्क्य ने अपना प्रवचन प्रारम्भ किया। इतने में देवमाया से इस प्रकार का योग बना कि मिथिलानगरी में आग की लपटें उठने लगीं। राजमहल मानो आग में जलकर शीघ्र ही भस्म हो जाएँगे, ऐसा दृश्य दिखाई देने लगा। तभी ऋषियों में से प्रणवानन्दजी उठे और कहने लगे—मैं जाता हूँ कुटिया में कुछ सत्तू रखा है, वह जलकर नष्ट हो जाएगा। इतने में ओमानन्दजी उठे कि मैं भी जाता हूँ—मेरा कमण्डलु कुटिया में रखा है। साथ ही सत्यानन्दजी उठे—अरे भाई ! मेरी लंगोटी कुटिया में सूख रही है, वह जल जाएगी। यों एक-एक करके सभी ऋषि किसी न किसी कारण से उठकर मिथिला की ओर दौड़े। अब याज्ञवल्क्य ऋषि ने राजा जनक को सम्बोधित करते

हुए कहा—"राजन् ! आप क्यों नहीं जाते हैं ? आपकी मिथिला नगरी, महल और अन्तःपुर सब धू-धू करके जल रहे हैं।"

इस पर राजा जनक ने जो उत्तर दिया, वह पक्के श्रावक का उत्तर था, अनुभव की आँच में तपा हुआ वचन था वह—

मिथिलायां दह्यमानायां न मे दह्यति किंचन[1]

"मिथिला जल रही है, इसमें मेरा कुछ नहीं जल रहा है। मेरा अपना जो कुछ है, वह तो मेरे पास है। मिथिला के जल जाने से मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ता।"

वास्तव में यह सच्चे श्रावक का-सा सिद्धान्तसंगत उत्तर था। ऋषिगण श्रोता तो थे, पर वे सिद्धान्त की गहराई में डूबे नहीं थे। वे ऊपर-ऊपर तैर रहे थे। अनुभव और व्यवहार से शून्य थे। इसीलिए वे प्रवचन में से उठकर भागे-भागे गए, परन्तु वहाँ जाकर उन्होंने जो कुछ देखा, उससे वे स्तब्ध हो गए। वहाँ तो कुछ भी नहीं जल रहा था। न मिथिला जल रही थी, न उनकी कुटिया। वह तो कोई देवमाया थी, जिससे ऐसा प्रतीत होता था। अतः सभी ऋषि पश्चात्ताप करते हुए एक-एक करके प्रवचन सभा में पुनः आकर बैठे। उनके मुख लज्जा से अवनत हो रहे थे। याज्ञवल्क्य ने सबसे पूछा—"क्यों प्रणवानन्दजी ! आप सब ऋषियों की कुटिया तो सही-सलामत है न ? कहिये तो सही, क्या-क्या जल गया ?"

ऋषियों ने कहा—"भगवन् ! हमने आज महामूर्खता की। वहाँ न तो मिथिला जल रही थी और न ही हमारी कुटिया। हमारा ही भ्रम था। हमने मूढ़तावश आप पर अप्रकट रूप में दोषारोपण किया और प्रवचन भी छोड़ा। आप हमें क्षमा कीजिए।" याज्ञवल्क्य बोले—"आप अपने को सर्वोत्तम श्रोता मानते थे, लेकिन जनक राजा के सामने तो मिथिला, अन्तःपुर, महल और राज्य सभी कुछ जलते नजर आ रहे थे, लेकिन मेरे अनुरोध करने पर भी वह यहाँ से बिलकुल भी नहीं उठे। बताइए, कौन-सा श्रोता श्रेष्ठ है ? इसी कारण तो मैं प्रवचन प्रारम्भ करने के लिए जनक राजा की प्रतीक्षा करता था।" सभी ऋषियों ने एक स्वर से अपनी गलती स्वीकार की।

सच्चा श्रावक प्रवचन श्रवण के समय दुनियादारी की बातों में अपने मन को नहीं उलझाता, वह उस समय अन्य सब सांसारिक प्रपंचों का निषेध (निसीहि-निसीहि) करके ही उपाश्रय में शास्त्र-श्रवणार्थ आता है।

दिल्ली में एक श्रावक थे। वे प्रतिदिन नियमानुसार धर्मस्थानक में सामायिक करने आते और कोई सन्त विराजमान होते तो प्रवचन भी सुनते थे।

एक दिन उनका इकलौता पुत्र मर गया। वे उसकी अन्त्येष्टि क्रिया करके

---

१ इसी से मिलती-जुलती गाथा उत्तराध्ययनसूत्र के नमिराजर्षि अध्ययन में मिलती है—

'मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचण'

लौटे और अन्य कार्यों को छोड़कर सीधे धर्मस्थान में पहुँचे। प्रवचन का समय हो रहा था। वहाँ विराजित सन्त उन्हें भली-भाँति पहचानते थे। उन्होंने पूछा—"श्रावकजी ! आज इतना विलम्ब कैसे हो गया ?"

श्रावक बोले—"महाराज ! आज एक मेहमान को विदा देने गया था। इस कारण इतनी देर हो गई।" किसी ने सन्त से जब कहा कि आज इनका इकलौता लड़का गुजर गया है। तब सन्त ने पूछा—"श्रावकजी ! वह मेहमान क्या आपका लड़का ही था ? अगर ऐसा था तो आपको घर पर ही रुकना था।"

श्रावक ने सधी हुई वाणी में कहा—"मैंने उसके प्रति अपना कर्तव्य अदा कर दिया। वह अब वापिस लौटकर आने से रहा। फिर उसके पीछे व्यर्थ ही रोने-धोने से क्या होता ? इसलिए मैं मरघट से सीधा ही धर्मस्थान में आ रहा हूँ। अब भगवद् वाणी सुनूँगा तो मेरे कान पवित्र होंगे, मेरा समय संवर एवं धर्मध्यान में कटेगा।"

यह है पक्के श्रावक का ज्वलन्त जीवन, जिसमें श्रवण के साथ मनन और आचरण भी होता है।

श्रावक शब्द में दूसरा अर्थ 'व' है, जिसमें से एक अर्थ ध्वनित होता है कि वह सुपात्र, अनुकम्पापात्र तथा मध्यमपात्र आदि को पुण्यकार्य में दान देने में जरा भी विलम्ब नहीं करता, नहीं हिचकता। आजकल अधिकांश लोग कीर्ति एवं वाहवाही मिलती हो, वहाँ तो अनाप-सनाप द्रव्य खर्च कर डालते हैं, भले ही वह घातक कुरूढ़ि एवं कुप्रथा हो या व्यर्थ का आडम्बर हो। लेकिन जब किसी धर्मकार्य या पुण्यकार्य में खर्च करने का अवसर आता है तो बगलें झांकने लगते हैं, बहाना बना लेते हैं या यह कहते हैं—सब करें तो मैं करूँ ! यह मेरे अकेले का काम नहीं है।

मगर श्रावक इतना उदार होता है कि वह आवश्यकतानुसार निःस्वार्थभाव से, बिना किसी प्रसिद्धि या आडम्बर के अपने धन और साधनों को लुटाता रहता है। कभी-कभी तो वह स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरों को दान देता है। प्राणियों को अभयदान देने में भी वह किसी से पीछे नहीं रहता। 'व' में से एक अर्थ यह भी द्योतित होता है कि जो दर्शन यथार्थ वस्तु स्वरूप का वरण-स्वीकार करे। श्रावक इतना मिथ्याग्रही या जिद्दी नहीं होता कि वह पकड़ी हुई बात को मिथ्या सिद्ध होने पर भी न छोड़े। एक वस्तु या प्रथा एक समय में हितकर थी, किन्तु समय बीत जाने पर वही वस्तु उसके व समाज के लिए अहितकर हो तो उसे सच्ची वस्तु बता देने या समझ में आ जाने पर वह उस सत्य को स्वीकार करने में नहीं हिचकिचाता।

श्रावक में तीसरा अक्षर 'क' है जिसके दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि जो पाप को काटता है, दूसरा यह है कि जो हर प्रवृत्ति में संयम या संवर करता है। श्रावक इतना विवेकशील होता है कि वह किसी भी पापकार्य में भाग नहीं लेता। अगर किसी ऐसे पेचीदा कार्य में वह फँस जाता है या उसे जबरन फँसा दिया जाता है तो वह उसमें से अपनी विवेकबुद्धि से बच निकलता है।

जयपुर राज्य के एक जैन दीवान थे—श्रावक अमरचन्दजी। वे श्रावक के पाँचों अणुव्रतों का पालन करते थे। अहिंसा के तो वे परम उपासक थे। उनकी सत्यता के कारण राज्य के अन्य अधिकारी उनसे जलते थे। वे चाहते थे कि किसी तरह दीवान अमरचन्दजी को हिंसा के कार्य करने के लिए विवश किया जाय। ईर्ष्यालु अधिकारियों ने राजा के कान भरे कि "यह दीवान तो अहिंसक है, यह आपके किसी काम का नहीं। अनाज के दानों में जीव मानता है, समय आने पर यह दुष्काल-पीड़ित लोगों को भूखा मारेगा। अगर आपको विश्वास न हो तो सिंह को खिलाने का काम इन्हें सौंप कर देख-परख लीजिए।"

राजा कान का कच्चा था। अधिकारियों की बातों में आकर उसने दीवान श्री अमरचन्दजी को सिंह को खिलाने का कार्य सौंपा। दीवानजी राजा के सामने एकदम तो इन्कार कर ही नहीं सकते थे। अतः उन्हें सिंह को खिलाने का काम अपने पर लेना पड़ा। सिंह तो मांसाहारी ही होता है, यह तो सर्वविदित है। अतः दीवान अमरचन्दजी को विचार करना पड़ा—"सिंह तो दूसरे जानवर का मांस खाता है। मैं अहिंसक हूँ, अतः दूसरे जानवर को मार कर या मरवाकर उसका मांस इसे कैसे खिला सकता हूँ? फिर क्या अन्य कोई उपाय नहीं हैं, इसकी भूख मिटाने का?" दीवानजी की अन्तरात्मा में से स्वर फूट पड़ा—'है, उपाय अवश्य है! अहिंसक श्रावक के लिए ऐसे मौके पर भी कोई न कोई उपाय निकल ही आता है। सिंह को भी अहिंसक सात्त्विक भोजन दो।' बस, दीवानजी ने मन ही मन निश्चय कर लिया कि सिंह के लिए मिठाइयाँ थाल में परोसकर ले जाऊँ। अगर वह किसी सूरत में नहीं खाएगा तो फिर मैं अपने शरीर को उसके आगे समर्पण कर दूँगा। वह खाना चाहेगा तो खा लेगा। दीवानजी ठीक समय पर मिठाइयों से थाल भरकर पिंजरे में बन्द सिंह के सामने ले गए। सिंह ने कुछ देर तक इधर-उधर देखा और फिर चुपचाप मुंह फेर लिया। दूसरे दिन भी दीवानजी ने मिठाइयों का थाल सिंह के सामने रखते हुए कहा—"भाई सिंह! मेरे पास तो ये मिठाइयाँ हैं, ये चाहो तो और भी दे सकता हूँ। पर मांस तो मैं हर्गिज नहीं दे सकता।" दूसरे दिन भी सिंह पूर्ववत् मिठाइयों की ओर देखकर वापस चला गया। तीसरे दिन भी दीवानजी ने सिंह के सामने मिठाइयों का थाल रखा और निवेदन किया—"प्रिय मित्र! खाना हो तो ये मिठाइयाँ तुम्हारे सामने प्रस्तुत हैं। अगर अब भी तुम नहीं मानते हो, और मांस खाने का ही तुम्हारा आग्रह हो तो मैं तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ, मेरा मांस खा सकते हो।" यों कहकर दीवान अमरचन्दजी ने सिंह का पिंजरा खोल दिया और अपने आपको सिंह के आगे प्रस्तुत कर दिया। यद्यपि सिंह तीन दिन का भूखा था, झपटना चाहता तो अमरचन्दजी पर झपट सकता था, लेकिन उसने अमरचन्दजी की आँखों में वात्सल्य बरसता देखा। सिंह में इतना ज्ञान होता है कि वह मनुष्य को आकृति पर से पहचान लेता है कि यह मेरा शत्रु है या मित्र? उस सिंह को भी न जाने क्या सूझी कि वह श्री अमरचन्दजी पर बिलकुल नहीं झपटा और फौरन मिठाइयाँ खाने लगा।

अमरचन्दजी के अहिंसाव्रत की विजय हुई। चुगलखोर लोगों के मुँह बन्द हो गए। राजा भी दीवान अमरचन्दजी के द्वारा अहिंसाव्रत-पालन को देखकर प्रसन्न हो उठा।

इसी प्रकार व्रती श्रावक पापकार्य से अपने को बचा लेता है। जब भी पुण्य-कार्य का अवसर आता है तो वह उससे नहीं चूकता। साथ ही श्रावक अपने पूर्वकृत पापकर्मों को काटने के लिए दान, शील, तप और भाव का आचरण करता रहता है। वह अपने जीवन में हर बात पर संयम रखता है। खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, वस्तुओं का उपयोग करने में कम से कम आवश्यकताओं से वह अपना काम चला लेता है। संकट आ पड़ने पर वह भूखा-प्यासा रहकर उपवास करके अपना जीवन बिता देता है। मोटे और जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों में गुजारा कर लेता है। परन्तु अन्याय, अनीति, अधर्म और पाप के पथ पर कदम नहीं रखता।

आगार छूट (रियायत) को कहते हैं। गृहस्थ व्रती अपने व्रतों में कुछ आगार रखता है, इसलिए उसे सागारी भी कहते हैं। घरबार, कुटुम्ब-कबीले आदि के साथ रहकर वह अपने जीवन को अणुव्रतों से सुसज्जित करता है, इसलिए व्रती श्रावक को गृहस्थधर्मी भी कहते हैं। उपासक नाम भी 'उपासकदशांग सूत्र','उपासकाध्ययन' आदि शास्त्रों में प्रयुक्त हुआ है।

श्रावक सर्वथा अविरती, असंयमी, अव्रती नहीं

इसके अतिरिक्त महाव्रतों की अपेक्षा से कुछ अंशों में हिंसा आदि से विरत, और कुछ अंशों में अविरत होने के कारण **देशविरति श्रावक** भी कहते हैं, **विरता-विरती** भी कहते हैं। कुछ अंशों में हिंसा आदि प्रवृत्तियों में संयम और कुछ अंशों में असंयम होने के कारण **संयमासंयमी** अथवा महाव्रत की अपेक्षा आंशिक रूप से व्रत और आंशिक रूप से अव्रत होने के कारण इसे **व्रताव्रती** भी कहते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि श्रावक तो सर्वथा अव्रती, असंयमी, अविरती है, वह जहर का कटोरा है, उसकी सेवा करना, उसे दान देना या उसके प्रति दया करना उसके अव्रत का पोषण करना है, परन्तु यह बात शास्त्रों से विपरीत और श्रावक के उपर्युक्त पर्यायवाची शब्दों से असंगत है। यदि श्रावक सर्वथा अव्रती या असंयमी होता तो उसे व्रताव्रती या संयमासंयमी न कहा जाता।

उनके कथनानुसार श्रावक को अव्रत या अप्रत्याख्यान की क्रिया लगनी चाहिए, लेकिन वह नहीं लगती। इसी तरह व्रती श्रावक में अप्रत्याख्यानी कषाय भी होना चाहिए तथा चौथे गुणस्थान से आगे का पंचम देशविरति श्रावक नामक गुण-स्थान नहीं होना चाहिए, परन्तु यह दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्पराओं से सिद्धान्त सम्मत सिद्ध है। आचार्य समन्तभद्र ने तो श्रावक को 'रत्नकरण्डक' (रत्नों का पिटारा) कहा है। गुणरत्नों की खान होने के कारण ही श्रावक को रत्नों का पिटारा कहा जाता है। सूत्रकृतांगसूत्र में तो गृहस्थ श्रावक के लिए स्पष्ट कहा है—

"एस ठाणे आरिए, जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू।"

जिन्होंने हिंसा और अहिंसा आदि के बन्धन कुछ अंशों में तोड़ डाले हैं, जो अहिंसा और सत्य को हितकर समझकर हिंसा आदि के बन्धनों को पूर्णतया तोड़ने की उच्च भावना रखते हैं, और क्रमशः तोड़ते भी हैं, वे गृहस्थ श्रावक भी आर्य हैं, उनका मार्ग भी समस्त दुःखों को नष्ट करने वाला मोक्ष का मार्ग है, एकान्त सम्यक् है, साधु के समान वे भी आर्य भूमिका पर हैं। इसके विपरीत जो मिथ्यात्व एवं अविरति आदि में पड़े हैं, वे आर्य-जीवन वाले नहीं हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो भी मिथ्यात्व और हिंसा आदि अविरति की दीवारों को लांघकर जो सम्यक्त्वी और व्रती बना है, वह विरताविरति या व्रताव्रती अनार्य नहीं, आर्य ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार मैंने आपके सामने व्रती सद्गृहस्थ की श्रमणोपासक, श्रावक, अणुव्रती, व्रताव्रती, संयमासंयमी या देशविरति आदि के रूप में मर्यादाएँ और कर्तव्यधाराएँ स्पष्ट कर दी हैं। इससे आपके मन-मस्तिष्क में व्रती सद्गृहस्थ की भूमिका का स्पष्ट दर्शन हो जाएगा, ऐसे श्रमणोपासक के जीवन का स्पष्ट चित्र आपकी आँखों के सामने आ जाएगा। और आप भी अपनी आत्मा को टटोलकर, अपने जीवन का एक्सरे लेकर, अपनी शक्ति और क्षमता का यथार्थ मूल्यांकन करके व्रती श्रावक के पथ को अपनाएँगे।

व्रती श्रावक के पथ पर चलने के लिए किन-किन व्रतों का स्वीकार करना आवश्यक है, उनका स्वरूप तथा उनकी मर्यादाएँ क्या-क्या हैं ? यह हम अगले अध्याय में स्पष्ट करेंगे।

एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण ।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं वियाणिया ॥

—सूत्रकृतांग १।१।४।१०

सच्चं जसस्स मूलं, सच्चं विस्सासकारणं परमं ।
सच्चं सग्गद्दारं, सच्चं सिद्धीइ सोपाणं ॥

—धर्मसंग्रह अधिकार २, श्लोक २६

गुणा गौणत्वमायाति याति विद्या विडम्बनाम् ।
चौर्येणाकीर्तयः पुंसां शिरस्यादधते पदम् ॥

—ज्ञानार्णव १२८

देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस्स-किन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति तं ॥

—उत्तराध्ययन १६।१६

नत्थि एरिसो पासो पडिबन्धो अत्थि,
सव्वजीवाणं सव्वलोए ।

—प्रश्न० १।५



अध्याय २

श्रावक धर्म दर्शन

अणुव्रत : एक विश्लेषण

अणुव्रत : एक विश्लेषण

- ☐ अहिंसा का सार्वभौम रूप
- ☐ श्रावक की अहिंसा-मर्यादा
- ☐ अहिंसा की मंजिल : श्रावक की दौड़
- ☐ सत्य : जीवन का सम्बल
- ☐ श्रावक की सत्य-मर्यादा
- ☐ अस्तेयव्रत : स्वरूप और साधना
- ☐ श्रावक जीवन में अस्तेय-मर्यादा
- ☐ ब्रह्मचर्य की सार्वभौम उपयोगिता
- ☒ श्रावक जीवन में ब्रह्मचर्य-मर्यादा
- ☐ इच्छा का सरोवर : संतोष की पाल
- ☐ परिग्रह हानि : परिमाण विधि अतिचार

1

अहिंसा का सार्वभौम रूप

☆

अहिंसा विश्वव्यापी है

विश्व के सभी धर्मों ने अहिंसा का वर्णन एक या दूसरे प्रकार से किया है, सभी दर्शनों ने अहिंसा पर विराट् चिन्तन दिया है। सभी जातियों, समाजों और राष्ट्रों में अहिंसा को किसी न किसी रूप में स्थान दिया गया है। पारिवारिक जीवन में पद-पद पर अहिंसा की झांकी दिखाई देती है। मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों में—फिर चाहे वह वैयक्तिक क्षेत्र ही क्यों न हो, चाहे पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र हो, सर्वत्र अहिंसा की गूंज उस क्षेत्र के लोकमानस में रही है और बार-बार उसके प्रयोग भी होते देखे गए हैं। इस प्रकार अहिंसा विश्वव्यापी है, मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त है। जैसे गंगा नदी की प्रत्येक लहर में जल व्याप्त है, उसी प्रकार मानव-मानस की प्रत्येक लहर में अहिंसा व्याप्त होकर रही है। अहिंसा के बिना मानव का कार्य एक दिन भी नहीं चलता और न चला है। जहाँ भी कोई पारिवारिक समस्या आई, जहाँ भी किसी सामाजिक प्रश्न ने सिर उठाया, जब भी किसी राजनैतिक संघर्ष की आहट हुई, जिस दिन कोई आर्थिक मसला आया, जिस घड़ी कोई धार्मिक झगड़ा पैदा हुआ, उस घड़ी उन सबके निपटारे या समाधान के लिए मानव ने अहिंसा का ही दरवाजा खटखटाया है। उस समय निर्णय करने के लिए मनुष्य ने अहिंसा का ही आह्वान किया है, अहिंसा को ही न्यायाधीश का आसन दिया है। कदम-कदम पर मनुष्य अहिंसा देवी की मनौती करके अपने जीवन की सुरक्षा करता रहा है, पद-पद पर अहिंसा-महादेवी को हृदय-सिंहासन पर बैठाकर मनुष्य ने अपने जीवन का वरदान पाया है, बात-बात में अहिंसामाता की वत्सलता से मनुष्य ने अपने दिल-दिमाग के सन्तुलन को बनाए रखा है, क्षण-क्षण में अध्यात्मसाधक ने अहिंसा भगवती की चरणरज सिर पर चढ़ाई है। तभी प्रश्नव्याकरणसूत्रकार को कहना पड़ा—"अहिंसा भगवती है, यह भयभीतों को अभयदान देने वाली है, त्रस्तों को त्राण देने वाली है, आश्रितों को शरण देने वाली है। मानवजाति के लिए संजीवनी बूटी है।"[1]

---

१ एसा सा भगवई अहिंसा, जा सा भीयाणमिव सरणं····· प्रश्न० संवरद्वार

अहिंसा भगवती परम धर्मरूप है

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने अहिंसा के वास्तविक गुणगान के उद्‌गार निकाले हैं—

मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी ।
अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारणिः ।
अहिंसा दुःखदावाग्निप्रावृषेण्यघनावली ।
भवभ्रमिरुगार्तानामहिंसा परमौषधिः ॥[1]

अहिंसा माता के समान सभी प्राणियों का हित करने वाली है। अहिंसा संसाररूपी मरुस्थली में समस्त प्राणियों का हित करने वाली है। अहिंसा संसाररूपी मरुस्थली में अमृत की नहर है। अहिंसा दुःखरूपी दावानल को विनष्ट करने के लिए वर्षाकालीन मेघों की घनघोर घटा है। अहिंसा भवभ्रमणरूपी रोग से पीड़ितजनों के लिए उत्तम औषध है।

सारांश यह है कि हिंसा विष और अहिंसा अमृत है। हिंसा मृत्यु और अहिंसा जीवन है। अहिंसा के आधार पर ही सारा संसार टिका हुआ है। अहिंसा का अभाव जगत् में महाप्रलय उपस्थित कर सकता है। संसार में जो थोड़ी-बहुत सुख-शान्ति है, अमनचैन है, सुव्यवस्था है, वह सब अहिंसा-माता की ही बदौलत है। अहिंसा ही सुख-शान्ति, सुव्यवस्था, सुस्थिति आदि का स्रोत है। अहिंसा ही मानव-मानव को, यहाँ तक कि मानव को सारे विश्व के प्राणियों के साथ आत्मीयता से जोड़ने वाली है, अहिंसा ही राष्ट्रों-राष्ट्रों में परस्पर सौहार्द उत्पन्न करने वाली है, अहिंसा ही सामाजिक जीवन को परस्पर मैत्रीभाव से बाँधे रखने वाली है, अहिंसा ही पारिवारिक जीवन को कौटुम्बिकता की माला में पिरोने वाली है। अहिंसा ही संगठनों, संस्थानों, संस्थाओं, संघों आदि के सदस्यों को परस्पर भ्रातृभाव के सूत्र में ग्रथित करने वाली है। सारे विश्व में सद्‌भावना, सहृदयता, सहानुभूति, सेवा और दया का सन्देश देकर अहिंसा प्राणिमात्र के लिए प्रकट रूप में परमब्रह्म है, यह आचार्य समन्तभद्र को कहना पड़ा।[2] वैदिक धर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ महाभारत में अहिंसा को परमधर्म बताया गया।

अहिंसा परमधर्म क्यों ?

प्रश्न होता है कि अहिंसा को परमधर्म क्यों कहा गया ? धर्म के अंग तो अहिंसा के अतिरिक्त सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि भी हैं, लेकिन अहिंसा परमधर्म इसलिए है कि अहिंसा प्राणिमात्र का धर्म है, सत्यादि धर्मों को मानव के अतिरिक्त अन्य प्राणी छोड़ भी सकते हैं, मगर अहिंसा को तो कोई भी प्राणी छोड़ नहीं सकता। चाहे

---

१ योगशास्त्र, प्रकाश २, श्लोक ५०-५१

२ 'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमम्।' —बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र

मनुष्येतर प्राणी अहिंसा का अर्थ, व्याख्या या विश्लेषण न समझते हों, परन्तु दूसरे प्राणियों की अपने बच्चों के प्रति ममता तो होती ही है। कोई भी प्राणी अपनी सन्तान को मारता नहीं। दूसरे प्राणियों में कई बार कोमलता भी देखी जाती है। इसलिए व्रत के रूप में न सही, किन्तु जीवन की सुरक्षा के रूप में दूसरे प्राणी भी जाने-अनजाने अहिंसा का-सा व्यवहार किया करते हैं। इसके सिवाय मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, प्रत्येक प्रवृत्ति में, प्रत्येक कार्य, त्याग, नियम, व्रत प्रत्याख्यान आदि में अहिंसा को ही प्राथमिकता दी जाती है, इसलिए अहिंसा परमधर्म है।

सभी व्रतों के साथ अहिंसा की धारा आवश्यक

जैनधर्म का तो अहिंसा प्राण है। बल्कि यों कहा जा सकता है कि अहिंसा और जैनधर्म एकीभूत से प्रतीत होते हैं। अहिंसा के बिना जैनधर्म का छोटे से छोटा साधक एक डग भी नहीं भर सकता। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह आदि सभी व्रतों का समावेश अहिंसा में हो जाता है। श्रमण संस्कृति का मूल स्वरूप अहिंसा है, सत्य आदि उसका ही विस्तार है, ब्रह्मचर्य उसकी संयम साधना है। अस्तेय और अपरिग्रह उसका तप है। इसीलिए जैनधर्म के एक महान् आचार्य ने कहा—'**अवसेसा तस्स रक्खट्ठा**'—शेष सभी व्रत अहिंसा की सुरक्षा के लिए हैं। धन को सुरक्षित रखने के लिए लोहे की तिजोरी होती है, उसी प्रकार अहिंसा रूपी धन को सुरक्षित रखने के लिए दूसरे व्रत तिजोरी के समान हैं। वैसे अहिंसा के ग्रहण से पाँचों महाव्रतों का ग्रहण हो जाता है।[1]

निष्कर्ष यह है कि अहिंसा के अतिरिक्त जितने भी व्रत हैं, वे सब अहिंसा के ही पोषक हैं, अहिंसा से ओतप्रोत होते हैं। यों तो सभी व्रत महान् एवं उपादेय हैं, किन्तु सबके मूल में अहिंसा भगवती विराजमान रहती है। यदि सत्यव्रत में अहिंसा है तो वह सत्य टिकेगा, अस्तेय में भी अहिंसा व्रत है तो अस्तेय की भावना आसन जमाएगी। यदि ब्रह्मचर्य के साथ भी अहिंसा है तो ब्रह्मचर्य की साधना तेजस्वी होगी, और अगर अपरिग्रह के साथ भी अहिंसा की धारा है तो अपरिग्रहवृत्ति जीवन में आ पाएगी।

भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा है कि वह सत्य भी सत्य नहीं है, जो दूसरों के जीवन के साथ खिलवाड़ करता हो, किसी की आत्मा को कष्ट पहुँचाने वाला हो। जिस सत्य से हिंसा और वैर की ज्वाला फूट निकलती हो, वह सत्य कभी सत्य नहीं हो सकता। किसी पर संकट का पहाड़ टूट पड़ता हो, उस सत्य को सत्य नहीं कहा जाता।

मान लीजिए, एक सत्य का साधक मार्ग में चला जा रहा हो, सामने से कोई

---

१. अहिंसाग्गहणे पंचमहव्वयाणि गहियाणि भवंति·····

—दशवैकालिक चूर्णि १, अध्ययन

शिकारी अपने शिकार का पीछा करता आ रहा हो, इस प्रकार की स्थिति में यदि शिकारी उस सत्य-पालक गृहस्थ से पूछता है—"क्या तुमने किसी पशु को इधर जाते देखा है ?" इसी प्रकार कोई गुण्डा किसी सती-साध्वी का पीछा कर रहा है अथवा कुछ लुटेरे निरपराध यात्रियों को लूटने की फिराक में हैं और सत्यपालक से पूछते हैं—"क्या इधर किसी महिला को जाते हुए देखा है ? अथवा यात्रियों के दल को देखा है ?" ऐसी स्थिति में अगर सत्यपालक शिकारी, गुण्डे या लुटेरों को सत्य-सत्य कह देता है, तो उक्त पशु, सतीसाध्वी या यात्री दल पर घोर संकट आ सकता है, उनका जीवन घोर संकट में पड़ सकता है। अतः अहिंसा की जहाँ रक्षा न हो, वहाँ बोला गया सत्य वास्तव में सत्य नहीं कहलाता। शास्त्रकार कहते हैं—या तो ऐसी परिस्थिति में सत्यवादी मौन रहे, या उपेक्षा भाव से उत्तर दे। किसी का दिल दुखाने के लिए सत्य बोलना अहिंसा से अनुप्राणित न होने के कारण असत्य की कोटि में है।

यही बात अचौर्यव्रत के सम्बन्ध में है—एक हत्यारा या पागल अचौर्यव्रती से आकर तलवार पिस्तौल या अन्य कोई शस्त्र माँगता है, अगर वह उस समय उस शस्त्र को नहीं छिपाता, और दे देता है तो ऐसा अचौर्य पालन हिंसाजनक होने से अचौर्य नहीं कहला सकता।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति ब्रह्मचर्य का सर्वथा पालन तो नहीं कर सकता, लेकिन अपनी निर्दोष पत्नी को तंग करके घर से निकालने या आत्महत्या के लिए विवश करने की दृष्टि से ब्रह्मचर्य का पालन करने का दिखावा करता है तो उसका यह ब्रह्मचर्यपालन अहिंसा की हत्या करके होने से यथार्थ ब्रह्मचर्य नहीं है।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति अपने परिवार में भरण-पोषण न कर सकने, या अपनी पत्नी या माता-पिता अथवा भाई के साथ झगड़ा होने पर उनसे ऊबकर उनके भरण-पोषण का आगा-पीछा विचार किये बिना ही उनको छिटका कर, अपनी धन-सम्पत्ति, घरबार को छोड़कर अन्य कोई प्रबन्ध किये बिना ही, साधु बन जाने की सोचता है—अपरिग्रही हो जाना चाहता है, परन्तु उसका यह अपरिग्रह अहिंसा से अनुप्राणित न होने के कारण सच्चा अपरिग्रह नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि जिस सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य या अपरिग्रह के साथ अहिंसा नहीं है, वहाँ वह सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य या अपरिग्रह निष्प्राण हैं, औपचारिक हैं, दिखावटी हैं।

जैनधर्म की प्रत्येक साधना, चाहे वह छोटी हो या बड़ी हो, उसके साथ अहिंसा का जीवन संगीत चलता है। जीवन विकास के लिए जितने भी ऊँचे-ऊँचे नियम हैं, त्याग हैं, व्रत-प्रत्याख्यान हैं, तप आदि हैं, उन सबमें अहिंसा की धारा का होना अनिवार्य है। अहिंसा के बिना न नैतिकता जीवित रह सकती है और न ही आध्यात्मिकता। आध्यात्मिक जीवन निर्माण हेतु लिए जाने वाले तमाम व्रतों में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है। साधक चाहे गृहस्थ हो, या साधु सर्वप्रथम अहिंसा की

ही प्रतिज्ञा लेता है। चाहे गृहस्थ और साधु के अहिंसा-पालन में अन्तर हो, परन्तु अहिंसा को प्रथम धर्म, प्रथम व्रत मानने में कोई अन्तर नहीं है। इसीलिए एक कवि ने अहिंसा का मार्मिक चित्र खींचा है—

अहिंसा ही है पहिला धर्म।
कर्त्तव्यों की यही कसौटी, यही धर्म का मर्म॥
मानवमात्र कुटुम्ब बनाओ, जियो और जीने दो।
कण-कण में रस भरा हुआ है, पियो और पीने दो॥
पशु-पक्षी भी बनें कुटुम्बी, हृदय बना लो नर्म॥ अहिंसा····॥
हिंसा से क्यों नरक बनाते, दिखलाते शैतानी?
मानवता क्यों लजा रहे हो, दिखलाकर हैवानी॥
मानवता खोई हिंसक ने, बन करके बेशर्म॥ अहिंसा····॥

सचमुच अहिंसा मनुष्य के सामाजिक जीवन का प्रथम कर्त्तव्य है, स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन की प्रथम प्रक्रिया है, प्रबुद्ध पारिवारिक जीवन का पहला धर्म है, और आध्यात्मिक जीवन का प्रथम पाठ है। मानव सभ्यता का यथार्थ नापतौल अहिंसा के बाँटों से ही किया जा सकता है। हिंसा, संघर्ष, विनाश, अधिकारलिप्सा, सत्ता की छीना-झपटी, स्वार्थान्धता एवं असहिष्णुता से पीड़ित संसार के लिए अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ अमृतमयी शरणदायिनी है। अहिंसा माता की गोद में बैठकर ही मनुष्य सुख की सांस ले सकता है। अहिंसा न होती तो मनुष्य न स्वयं अपने को जानता और न ही दूसरों को ही। पशुता से ऊपर उठकर मनुष्यता को अपनाने के लिए अहिंसा का अवलम्बन लेना अनिवार्य है।

धर्म की परख : अहिंसा से

धर्म की जड़ क्या है? किस तत्त्व से धर्म की जड़ मजबूत होती है? यह प्रश्न आज से ही नहीं प्राचीनकाल से ही भारतीय संस्कृति एवं धर्मों के तत्त्वविदों से पूछा गया था। धर्म जब चेतना के विकास के लिए आवश्यक है तब उसका मूल केन्द्र तो कोई न कोई पदार्थ होना ही चाहिए। भारतीय संस्कृति और धर्म के महान् व्याख्याताओं ने इसका उत्तर दिया है, उस समय की प्रचलित संस्कृत भाषा में। उस उत्तर से आप अहिंसा की गरिमा का अंदाजा लगा सकेंगे। उन्होंने कहा—

अहिंसा-लक्षणो धर्मः, अधर्मः प्राणिनां वधः।
तस्माद् धर्मार्थिभिर्लोके, कर्त्तव्या प्राणिनां दया॥

इसका अर्थ यह है कि धर्म का लक्षण, स्वरूप, मूल या आधार क्या है, यह पूछे जाने पर धर्म के व्याख्याकारों ने कहा—'**अहिंसालक्षणो धर्मः**' धर्म का लक्षण, स्वरूप, आधार या मूल केन्द्र जो कुछ भी कहें अहिंसा है।

संसार में जितने भी धर्म, पंथ, सम्प्रदाय या मत हैं, वे सच्चे माने में धर्म हैं या नहीं, उनमें धर्म का अस्तित्व है भी या नहीं? उनमें धर्म का आधार है या नहीं?

जितनी भी परम्पराएँ या मान्यताएँ हैं, या धर्म संस्थाएँ हैं, वे भी धर्म से अनुप्राणित हैं या नहीं ? इन सबकी पहिचान या कसौटी अहिंसा है। आचार्य ने कहा—धर्म का यथार्थ लक्षण यही है कि उसमें अहिंसा का भाव है या नहीं ?

अहिंसा का भाव कम है या ज्यादा है, यह प्रश्न अलग है। कहाँ अहिंसा को कितना स्थान दिया गया है ? किसने कितनी बड़ी चर्चा की है अहिंसा की, या कौन कितनी दूर तक अहिंसा के रहस्यों को जान सका है ? यह प्रश्न यहाँ नहीं है। यहाँ तो यह बताया गया है कि अगर धर्म, मत या पंथ में अहिंसा की भावना अठखेलियाँ नहीं कर रही है तो वह धर्म नहीं है। यहाँ पर तो मैंने मानव-मानस में रही हुई कोमल भावनाओं का विश्लेषण किया है, वही वास्तव में धर्म है। इस संसार में वह चाहे जिस नाम से पुकारा जाता हो, उसका कुछ भी नाम हो, वह धर्म की कोटि में आ जाता है। उस मत, पंथ या सम्प्रदाय में यदि मनुष्य में निहित स्वाभाविक करुणा, दया, सेवा, सहानुभूति आदि कोमल भावों को अंकुरित होने की प्रेरणा है तो समझ लो, वहाँ धर्म की आत्मा सोलह कलाओं से खिल रही है, उसमें धर्म के प्राण प्रतिष्ठित हैं।

इसी प्रकार सभ्यता, संस्कृति, परम्परा, मान्यता, धर्मसंस्था आदि सबकी यथार्थता को परखने के लिए हमारे यहाँ एक ही थर्मामीटर है—अहिंसा का। आपने उस वैद्य की कहानी सुनी होगी, जो सभी रोगों के निवारण के लिए एक ही दवा देता था—जमालघोटा ! कोई भी रोगी उसके पास आता, वह उसे जमालघोटे की गोली दे देता था। चाहे आंख में पीड़ा हो, चाहे पेट में दर्द, बुखार हो या अतिसार, उसे विश्वास था कि सभी रोग पेट की खराबी से होते हैं, इसलिए वह सबको जमालघोटे की गोली बेखटके दे देता था। और सचमुच उससे रोग मिट जाता था। यद्यपि आम जनता ऐसे वैद्य को अनाड़ी वैद्य कहती है। लेकिन धर्म के व्याख्याता आचार्य भी उन्हीं वैद्यों में से एक हैं, उन्हें यह विश्वास था कि संसार के सभी सामाजिक या राष्ट्रीय रोग हिंसा से प्रादुर्भूत होते हैं, इसलिए सभी धर्मों, संस्कृतियों, मतों, पंथों या सम्प्रदायों की सच्चाई की परख यही है कि उनमें हिंसा न हो, अहिंसा हो। जमालघोटे वाले वैद्य की तरह उनके पास भी परखने की एक ही कसौटी है, और वह है—अहिंसा की।

अहिंसा का श्रीगणेश

मानव विकास के इतिहास का बारीकी से अध्ययन किया जाय तो समक्ष में आएगा कि मानव अपने विकास के आदिकाल में अकेला था, वैयक्तिक सुख-दुःख की सीमा में घिरा हुआ था। उस युग में न कोई पिता था, न माता थी, न पुत्र था, न पुत्री थी, न भाई था और न बहन। पति और पत्नी भी नहीं थे। देह सम्बन्ध की दृष्टि से ये सब सम्बन्ध थे। इनमें कोई सामाजिकता नहीं थी। यही कारण है कि उस युग में एकमात्र नर-मादा का सम्बन्ध था। सुख-दुःख में एक-दूसरे के प्रति लगाव या

सहयोग का दायित्व उस युग में नहीं था। इसलिए नहीं था कि मानव चेतना ने विराट् रूप ग्रहण नहीं किया था। मानव अपने क्षुद्र वैयक्तिक स्वार्थ के घेरे में बन्द था। एक दिन वह आया, जब मानव इस क्षुद्र सीमा से बाहर निकला। केवल अपने सम्बन्ध में ही नहीं, अपितु दूसरों के सम्बन्ध में भी उसने कुछ सोचना शुरू किया। सम्भवतः इसका श्रीगणेश उस समय हुआ होगा, जब उसने अपनी वन्यावस्था को छोड़कर समूहों में रहना सीखा। यही समय मानवधर्म का शिशुकाल कहा जा सकता है। जैन परिभाषा में इसे अकर्मभूमि या यौगलिक धर्म कहते हैं। समूहों में रहने से मनुष्यों में सर्वप्रथम जो गुण जगे, वे थे—सहिष्णुता, सहयोग एवं सहकार की भावना। इस सहृदयता और सद्भावना की ज्योति अन्तर्मन में जगी और मानव परस्पर सहयोग से दायित्वों को प्रसन्न मन से वहन करने को तैयार हो गया। यही अहिंसा का प्रारम्भिक रूप था। अहिंसा के बिना मनुष्य का पारिवारिक जीवन चलना असम्भव था। पारिवारिक जीवन की पूरी कल्पना अहिंसा के क्रान्तिकारी स्वरूप का द्योतक है। परिवार में रहने वाले पुरुष और स्त्री दोनों के सम्बन्धों में से अथवा माता-पिता और बालक-बालिकाओं के बीच में से अहिंसा को हटा दिया जाय तो परिवार जैसी वस्तु असम्भव हो जायगी। परिवार बन जाने से ही माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन, पति-पत्नी आदि सभी सम्बन्धों का आविर्भाव हो गया। इस प्रकार पारिवारिक भावना के साथ समूहबद्ध मानव ने एक-दूसरे के अस्तित्व को स्वीकारा, परस्पर सहयोग की भावना उद्बुद्ध हुई। यहीं से अहिंसा (प्रेम) का बीज जो अभी तक अनुर्वरक भूमि में पड़ा था, प्रस्फुटित हुआ। अहिंसा की सर्वप्रथम कल्पना कब प्रादुर्भूत हुई थी ? यह कहना कठिन है। यह इतिहासकारों के शोध का विषय है। किन्तु यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि मानव के सर्वांगीण जीवन को सुखद, सरल, आनन्दमय एवं निश्चिन्ततापूर्वक बिताने के लिए ही अहिंसा को स्वीकार किया गया था। प्रारम्भ में थोड़े-से सिद्धान्त स्थिर किये होंगे, लेकिन आगे चलकर पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन में कई उलझनें पैदा हुई होंगी, कई नए संघर्ष भी उपस्थित हुए होंगे और तब हिंसा-अहिंसा की मर्यादाएँ, उनका स्वरूप और विविध परिस्थितियों में विविध देश, काल और पात्र के अनुसार उनके विभिन्न प्रयोग भी सुनिश्चित किये गये होंगे।

अतः कालक्रम से मानव का विवेक आगे बढ़ा, अधिक विकास हुआ। फिर तो परिवार से ग्राम, नगर और राष्ट्र तक बने, मानव की अहिंसा भी विकसित होती गई।

इससे आगे अहिंसा का विकास होते-होते मनुष्य जाति, धर्मसंघ एवं समाज के रूप में संगठित रहने लगा। पारस्परिक सहयोग, विनिमय तथा व्यवस्था के अनुसार जीवन बिताने लगा, तब उसे सहिष्णु, सहयोगी, सहृदय एवं सद्भावनाशील बनने की आवश्यकता हुई। इस प्रकार व्यक्ति से परिवार, परिवार, से समाज और समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्वबन्धुत्व तक अहिंसा का भावात्मक विकास हुआ या हो रहा

है, उसके मूल में अहिंसा की भावना ही काम करती रही है। मानव-हृदय की आन्तरिक सहृदयता, सद्भावना एवं सहिष्णुता की व्यापक प्रगति ही तो अहिंसा है। और यह व्यापक प्रगति परिवार, समाज, राष्ट्र के उद्भव एवं विकास का मूल है। सारी मानवजाति तक अहिंसा की प्रक्रिया मानव चेतना विकसित होने के बाद अनेक उपयोगी जानवरों एवं पशु-पक्षियों के प्रति भी अहिंसा की भावना प्रस्फुटित हुई। अहिंसा भगवती के अनन्त रूपों में से ये भी कुछ रूप हैं। इन रूपों को अहिंसा के मंगल क्षेत्र से बाहर निकालकर मानव किसी भी क्षेत्र में शान्ति से जी नहीं सकता।

यहाँ एक बात कह देना आवश्यक है कि मानव का व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व तक अहिंसा का विकास हुआ, उसमें युगादि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की बहुत बड़ी देन है। अगर वे मानव को कृषि आदि कर्मों का उपदेश न देते तो मानव वंश भूखा रहकर खत्म हो जाता।

परन्तु जिन लोगों ने कृषि आदि कर्मों या कलाओं का उपदेश ग्रहण नहीं किया था, उनका जीवन कैसा बन गया ? इस विषय में नृवंश विज्ञानवेत्ताओं का कहना है कि आदिम युग का मानव जंगलों में भटका करता था। जंगली जानवरों का शिकार करना, उनके कच्चे मांस से क्षुधातृप्ति करना तथा उनकी खालों को वस्त्र की जगह पहनना, यही प्रायः उसका जीवन-क्रम था। आदिम मानव का यह जीवन क्रम बताता है कि अपने से इतर किसी भी प्राणी का मूल्य उसकी दृष्टि में कुछ भी न था। मूल्य था तो इतना ही कि उन्हें मारकर खा लेना और उनकी खाल के कपड़े पहन लेना। उस समय के मानव की समझ ही कहाँ थी कि सभी प्राणी एक समान हैं। मेरी तरह दूसरे प्राणियों को भी सुख-दुःख का अनुभव होता है। उनकी भी हमारी तरह आत्माएँ हैं, वे भी हमारी तरह ही दुःखों से मुक्ति चाहते हैं, सुख की कामना करते हैं।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब वे मानव अपनी इस भटकती हुई जिन्दगी से तंग आ गए। पशुओं के मांस के टुकड़े के लिए परस्पर लड़-भिड़कर गिरोह के गिरोह समाप्त होने लगे एवं रात-दिन अशान्ति, संघर्ष, कलह एवं वैमनस्य से उनकी जीवन-यात्रा दूभर एवं दुरूह बन गई, तब वे श्रमण-परम्परा के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के पास मार्गदर्शन के लिए आए।

यहाँ पर यह स्मरण रखना है कि यौगलिक काल में मानव की सम्पूर्ण इच्छाएँ कल्पवृक्षों से तृप्त होती थी। उस युग के मानव की स्वाभाविक रूप से इच्छाएँ भी बहुत ही कम थीं, जब इच्छाएँ द्रौपदी के चीर की तरह बढ़ीं तब जीवन में अशान्ति के काले-कजरारे बादल मँडराने लगे। जैन दृष्टि से यौगलिक लोग मांसाहारी नहीं थे। वे कन्द-मूल-फल का ही आहार करते थे। समय के परिवर्तन से कल्पवृक्षों की शक्ति क्षीण हो गई, स्वतः उत्पन्न होने वाला अन्न आदि भी कम होने लगा तब संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई; उसका पहले निराकरण कुलकर करते रहे, पर वे भी जब

असफल हो गये तब ऋषभदेव ने मानव समूह को अहिंसात्मक पथ का उत्तम बोध दिया—जिस प्रकार तुम्हें सुख और शान्ति का जीवन प्रिय है, उसी प्रकार विश्व के समस्त प्राणी सुख और शान्ति का जीवन चाहते हैं। जिस तरह तुम अपना अहित पसंद नहीं करते, उसी तरह विश्व का कोई भी प्राणी अपने लिए दुःख, पीड़ा या अहित नहीं चाहता। जीवन सात्त्विक वृत्ति से भी जिया जा सकता है, तामसवृत्ति से भी।

मानव-जीवन के विकास का इतिहास पुकार-पुकार कर कह रहा है कि मानव संस्कृति के सूत्रधार ऋषभदेव तीर्थंकर ने मानव को अहिंसा के द्वारा सुख-शान्ति पूर्वक जीने का महामन्त्र दिया।

आत्मदर्शन का मूल : अहिंसा

हाँ तो, मैं आपसे कह रहा था कि अहिंसा आत्मदर्शन का मूल है। जब तक भगवान महावीर द्वारा निरूपित **'एगे आया'** आत्मा एकरूप है, एक समान है, तथा **'अप्पसमं मन्निज्ज छप्पिकाए'** अपनी आत्मा के समान विश्व के प्राणिमात्र (षट्जीव-निकाय) को समझो। यह सिद्धान्त नहीं अपनाया जाता, तब तक अहिंसा व्यवहार में उतर नहीं सकती। चैतन्य के जाति, कुल, समाज, राष्ट्र, प्रान्त, ग्राम, नगर, स्त्री, पुरुष आदि के रूप में जितने भी भेद हैं, वे सब आरोपित भेद हैं, शरीर को लेकर भेद हैं, ये सब बाह्य निमित्तों की दृष्टि से परिकल्पित मिथ्याभेद हैं। आत्मा का कोई भेद नहीं है। विभिन्न आत्माओं के मूलस्वरूप में कोई भेद नहीं है। जब इस प्रकार प्राणिमात्र को अभेद भावना से देखा जाएगा तो फिर किसी भी प्राणी के प्रति घृणाभाव, द्वेषबुद्धि, स्वार्थदृष्टि या वैर-भाव कैसा ? फिर कलह और विग्रह को कोई स्थान नहीं रहेगा।

वर्तमान में सर्वोदय के प्रमुख नेता सन्त विनोबा भावे ने जो 'जय जगत्' का नारा लगाया है, उसे मूर्तरूप तभी मिल सकता है, जब अहिंसा को अपनाया जाय। अहिंसा के सिवाय और कोई आधार नहीं है, जो खण्ड-खण्ड होती हुई मानव-जाति को एकरूपता दे सके या एक सूत्र में ग्रथित कर सके। विश्व के प्रत्येक नागरिक को सुरक्षा की गारण्टी, सृजनात्मक स्वातन्त्र्य का विश्वास आत्मौपम्य दृष्टिमूलक अहिंसा ही दिला सकती है। प्राणिमात्र के साथ मनुष्य द्वारा कल्पित इन औपचारिक भेदों को मिटा कर अभेदभावना स्थापित करना अहिंसा का ही कार्य है।

जब इस प्रकार की अभेद भावना आत्मा-आत्मा के बीच स्थापित हो जाएगी, तब सम्पूर्ण विश्व को अपनी आत्मा में और अपनी आत्मा को सम्पूर्ण विश्व में देखना आसान हो जाएगा। जब मनुष्य समस्त प्राणियों का प्रतिबिम्ब अपनी आत्मा में देखेगा, तब उसके मन में घृणा, द्वेष, अपने-परायेपन एवं स्वार्थ की भावना कहाँ रहेगी ? फिर तो प्रत्येक मनुष्य की आत्मा में विश्व की आत्माओं के प्रति सहानुभूति, समवेदना और आत्मौपम्यभावना सहज ही प्रस्फुटित होगी और सबके जीने की

आकांक्षा और मृत्यु के प्रति अनिच्छा की अनुभूति अपने अन्दर जगेगी। फिर तो भगवान महावीर की इस अनुभवपूर्ण प्रेरणा को वह आत्मासात् कर लेगा—

'सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं'[1]

"सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहापियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसि जीवियं पियं।"[2]

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। सभी को अपनी जिन्दगी के प्रति प्यार, आदर व आकांक्षा है। सभी अपनी सुख-सुविधा के लिए सतत प्रयत्नशील हैं, अपने अस्तित्व के लिए सभी संघर्ष कर रहे हैं। जैसा तू है, वैसे ही सब प्राणी हैं।

'संसार भर के प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझो', यही अहिंसा की श्रेष्ठ व्याख्या है, इस एक सूत्र को समझ लेने पर अहिंसा की सारी उलझी हुई गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। इसमें **'जियो और जीने दो'** के महामन्त्र से भी आगे बढ़ कर **'दूसरों को जिलाओ और जीओ'** का महामन्त्र गर्भित है। जिस दिन इस प्रकार की आन्तरिक अहिंसा हृदय में बैठ जाती है, तब मनुष्य अपने आप में जो जीने का अधिकार लेकर बैठा है, वही अधिकार वह सहजभाव से दूसरों को भी देगा। यहाँ तक कि दूसरों को दुःख में तड़फते देखकर उसके हृदय में आत्मौपम्य-मूलक करुणा जगेगी और वह अपने को तिल-तिल करके भी उसके दुःख निवारण के लिए प्रयत्नशील होगा, स्वयं की परवाह न करके, अपनी सुख-सुविधाओं को होम कर भी वह उनकी सेवा में जुट पड़ेगा। उसके दुःख से वह अनुकम्पित हो उठेगा। वह अहिंसा की इसी दिव्य ज्ञानदृष्टि से देखेगा कि ये सब प्राणी उसके ही आत्मीय हैं, जो चीज उसे प्रिय है, वही इनको भी प्रिय है। यही अहिंसापूर्ण हृदय की कसौटी है। दूसरों के दर्द की अनुभूति अपने दर्द की तरह व्यक्ति के हृदय में होने लगे तभी मानना चाहिए कि अहिंसा उसके भीतर विराजमान है।

जिसके हृदय में प्राणिमात्र के प्रति ऐसी अभेद भावना नहीं होगी, वह यही सोचेगा—**'मेरे लगी सो दिल में और दूसरों के लगी सो दीवार में।'** यानी चोट लगने पर जैसा दर्द मुझे होता है, वैसा ही दूसरों को होता है, यह भावना नहीं आई तो समझ लेना चाहिए, अभी तक इस हृदय में अहिंसा भगवती विराजमान नहीं हुई। वस्तुतः हिंसा से कभी सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त नहीं होती। एक अनुभवी पाश्चात्य विद्वान् ने लिखा है—'The violence done to us by others is often less painful than that, which we do to others.' अर्थात्—दूसरों के द्वारा दिया गया कष्ट हमें कम दुःखदायी महसूस होता है, बजाय उस कष्ट के जो कि हम दूसरों

---

१. दशवैकालिकसूत्र ६/११
२. आचारांगसूत्र १,२,६२-६३

को देते हैं, जो उन्हें अधिक पीड़ाकारक प्रतीत होता है। इसलिए अहिंसा के साधक को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मेरे निमित्त से किसी को कष्ट न हो।

अहिंसा की उपयोगिता

प्रश्न होता है कि जब सभी प्राणियों का जीवन संघर्ष से व्यतीत होता है, जीवन जीने के लिए, कमाने, खाने और अन्य सुख-सुविधाएँ जुटाने के लिए व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्यु तक संघर्ष करना पड़ता है, **'जीवो जीवस्य भक्षणम्'** एक जीव दूसरे जीव को निगल कर अपना जीवनयापन करता है, छोटी मछली को खाकर बड़ी मछली जिन्दा रहती है, इस संघर्षमय हिंसा से जब जिन्दगी व्यतीत होती है, तब अहिंसा को कैसे अपनाया जा सकता है ?

इसके उत्तर में हमें यही कहना है कि किसी भी प्राणी का सारा जीवन संघर्ष में नहीं गुजरता। उसे बचपन में अपनी जन्मदात्री माता व संरक्षक पिता का सहयोग लेना पड़ता है। माता बच्चे को आत्मीय समझ कर उसे अपना दूध या अन्य खाद्य स्वयं खिलाती-पिलाती है, मानव शिशु को उसकी माँ नहलाती, धुलाती है, स्वयं कष्ट सहकर, भूखे रहकर बालक का संवर्द्धन करती है। स्वयं गीले में सो कर बच्चे को सूखे में सुलाती है। बच्चे के प्रत्येक कष्ट एवं पीड़ा को माता अपना कष्ट व अपनी पीड़ा समझती है। बालक की सेवा वह प्राणप्रण से, निरहंकार भाव से, अपना दायित्व समझ कर करती है। बड़े होने पर भी बालक को शिक्षा-दीक्षा, संस्कार दिलाये जाते हैं, उसको अर्थोपार्जन के लिए सहयोग दिया जाता है, उसके विवाह के लिए सभी तरह से माता-पिता द्वारा प्रयत्न किया जाता है। यहाँ तक कि लड़के की सन्तान की परवरिश तक का प्रयत्न माता-पिता द्वारा किया जाता है। क्या ये सब प्रवृत्तियाँ संघर्ष के आधार पर होती हैं ? नहीं, ये सब प्रवृत्तियाँ सहयोग के आधार पर होती हैं। यही नहीं जिस प्रकार पुत्र ने अपने माता-पिता से भरसक सहयोग लिया है, इसी प्रकार वह भी अपनी सन्तान और सन्तान की सन्तान तक पूर्वोक्त सहयोग देकर इस परम्परा को जारी रखता है। इसीलिए तत्त्वार्थ-सूत्रकार ने कहा—

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'

—जीवों का स्वभाव परस्पर एक-दूसरे का उपकारक होना है।

यही कारण है कि कई पशु और पक्षी भी मनुष्य के सहयोगी बनते हैं, जिन्दगी के अन्त तक वे अपने स्वामी के परिवार को भरसक सहयोग देते हैं, आजीविका के कार्यों में पूरे शरीर से जुट कर मालिक के प्रति कर्तव्य अदा करते हैं। महाराणा प्रताप का चेतक घोड़ा, बनजारे का कुत्ता, महावत का हाथी आदि पशुओं की स्वामिभक्ति इतिहास में प्रसिद्ध है। दूसरे मनुष्य भी अपनी जीवन-रक्षा व स्वतन्त्रता के लिए प्राणों की बलि देकर भी जुटे हैं, जुट जाते हैं। देश एवं समाज के जीवन की सुरक्षा,

मानवजाति की स्वतन्त्रता, सुख-सुविधा एवं रोग, प्राकृतिक प्रकोप, आतंक आदि से मनुष्य-समूह की रक्षा के लिए कई मनुष्यों ने अपना जीवन सर्वस्व लगा दिया। कई मनुष्यों ने अर्थ से, कई लोगों ने विचार देकर, कई लोगों ने स्वयं अपने जीवन की बाजी लगाकर, कई मनीषियों ने स्वयं कष्टमय अपरिग्रही जीवन जीकर समाज और राष्ट्र को सहयोग दिया है। अगर समाज और राष्ट्र के विचारक मनीषी ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, नीति और अध्यात्म का दर्शन न देते तो मनुष्य आज जितना भौतिक विकास कर पाया है, क्या उतना विकास अकेला कर सकता था ? कदापि नहीं।

इसलिए संघर्ष की अपेक्षा सहयोग ही मानव-जीवन में अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। बल्कि संघर्ष से तो परस्पर गलतफहमी, मनमुटाव और तनाव बढ़ जाने के कारण समस्याएँ उलझ गई हैं 'Nothing good ever comes of violence' हिंसा से कभी अच्छा परिणाम नहीं आता। अँग्रेज लेखक लूथर का यह अनुभव-वाक्य कितना तथ्यपूर्ण है ? आगे चलकर संघर्ष से उत्पन्न समस्याएँ समझौते या परस्पर सद्भावना से निपटारा करने से ही हल हुई हैं।

संसार में अपना अस्तित्व बनाए रखना और जीना सभी प्राणी चाहते हैं। इसीलिए सभी प्राणी व्यग्र और व्यस्त दिखाई देते हैं। आप बारीकी से देखेंगे तो यह बात आपके ध्यान में आ जाएगी कि छोटी-छोटी चींटियाँ रात-दिन दौड़-दौड़कर अन्नकण संग्रह करती हैं। पक्षीगण भी सुबह से शाम तक दाने एकत्र करने के लिए दौड़-धूप करते हैं। कुत्ता, बिल्ली आदि सब जानवर अपने-अपने खाद्य की तलाश में इधर से उधर भागते नजर आते हैं। मनुष्य भी दिन हो या रात, ठण्ड हो या गर्मी, प्रतिदिन नियमित समय पर जीविकोपार्जन के लिए कोई न कोई काम करता दिखाई देता है। आखिर इन सब प्रवृत्तियों के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य ही होगा। वह कारण है—अपनी और अपनों की जिन्दगी की रक्षा, सुख-शान्ति और निश्चिन्तता। परन्तु दूसरे प्राणियों की बात तो जाने दें, मनुष्य जैसे बुद्धिमान प्राणी को अब तक इतनी दौड़-धूप करने के बावजूद भी सुख-शान्ति और निश्चिन्तता क्यों नहीं मिली ? क्यों वह कई बार जिन्दगी की रक्षा करने में फेल हो जाता है ? उसका मूल कारण है—अहिंसा की पूर्वोक्त भावना का त्याग। जब तक मनुष्य भगवान महावीर की आत्मौपम्यमूलक अहिंसा दृष्टि को नहीं अपनाकर दूसरों की जिन्दगी, दूसरों की सुख-सुविधाओं, दूसरे के दुःख-दर्दों की ओर ध्यान नहीं देगा, वह अपने-आप में अहंकारी, स्वार्थी, आरामतलब एवं मतलबपरस्त बनकर दूसरों की आवश्यकताओं और जिन्दगियों के प्रति उपेक्षा करता रहेगा, दूसरों के प्रति कर्तव्यों और दायित्वों को भुलाकर दूसरों के अधिकारों को छीनता रहेगा, उनके श्रम और सहयोग को लेता ही लेता रहेगा या शोषण करता रहेगा, तब तक वह और उसका अपना माना हुआ समूह सुख-शान्ति की प्राप्ति और जीवन-रक्षा के उद्देश्य में सफल नहीं हो सकेगा। दूसरे शब्दों में कहें तो ऐसे मनुष्य का दूसरों की हिंसा पर अपना जीवन चलाने का मनोरथ

पूर्ण नहीं हो सकेगा। वह हिंसा चाहे—बन्दूक और तलवार से न हो, या मारपीट व लाठियों के प्रहार से न हो, परन्तु वाचिक या मानसिक अधिक होती है।

यदि आप चाहते हैं कि कोई भी प्राणी आपको शारीरिक या मानसिक कष्ट न दे, आपको कटुवचन न कहे, आपके साथ धोखा, बेईमानी और विश्वासघात न करे, आपका अपमान न करे, आपकी बहन-बेटियों की इज्जत करे तथा आपसे अच्छा व्यवहार करे तो आपको भी चाहिए कि आप भी किसी प्राणी को शारीरिक, मानसिक कष्ट न दें, कटुवचन न कहें, दूसरे के साथ धोखेबाजी, बेईमानी एवं विश्वासघात न करें, दूसरे का अपमान न करें, दूसरे की बहन-बेटियों की इज्जत करें, दूसरों से अच्छा व्यवहार करें। यही हिंसा से बचने और अहिंसा को अनिवार्य रूप से जीवन में लाने का सूत्र है। जिसके लिए जैनाचार्यों ने कहा—

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि, एत्तियगं जिणसासणमं॥

जिस दयामय व्यवहार को तुम अपने लिए पसन्द करते हो, उसे दूसरे भी पसन्द करते हैं, जिस हिंसक व्यापार को तुम अपने लिए नहीं चाहते, उसे दूसरा भी नहीं चाहता, यही जिनशासन का सार है। सभी धर्मों का भी यही सार है।

यही कारण है कि आदिमकाल के मानव ने अपने ही स्वार्थपूर्ण दायरे में न जीवन की रक्षा समझी और न ही सुख-शान्तिसम्पन्नता। मानव हितैषी कुलकरों के उपदेशों से वंचित लोगों ने यह समझ लिया था कि जीने या जिन्दगी की रक्षा के लिए मरने से बचना होता है और इसके लिए दूसरे को मारना भी होता है। किन्तु इस संघर्षमय जीवन से न तो जिन्दगी की रक्षा होती है और न सुख-शान्ति की प्राप्ति। अतः सभ्यता और संस्कृति के बहुत ही प्रारम्भिक काल में उसने यह जान लिया कि दूसरों के साथ समूह रूप में मिलकर रहने, दूसरों की जिन्दगी की रक्षा और सुख-शान्ति के कार्यों में सहयोग देने, दूसरों के दुःख-दर्दों में, आफत और संकट में हमदर्दी दिखाने से ही स्वयं के जीवन की रक्षा और सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है। इसी विचार में से अहिंसा की उपयोगिता मनुष्य ने जानी। मानव-जाति के मूर्धन्य विचारकों द्वारा अहिंसा को अपनाने और हिंसा को छोड़ने का यही मूल कारण था।

इसीलिए अहिंसा की शक्ति और महत्ता का गुणगान करते हुए एक कवि के हृत्तंत्री के सुकुमार तार झनझना उठे हैं—

अहिंसा ही दुनिया में सबसे प्रवर है,
नहीं मित्रो! इसमें जरा भी कसर है।
अहिंसा के आगे झुके विश्व सारा, अहिंसा में कैसा निराला असर है।
अहिंसा से मिलती है, सुख-शान्ति सच्ची, अहिंसा ही मुक्ति की सीधी डगर है।
अहिंसा से बल आत्मा का बढ़ा दो, अहिंसक ही दुनिया में रहता निडर है।

अहिंसा की शक्ति का कितना सुन्दर चित्रण कवि ने किया है। जीवन के हर मोड़ पर अहिंसा की आवश्यकता को समझकर व्यक्ति अपनाए तो उसके सभी कार्य सुख-शान्तिपूर्वक सम्पन्न हो सकते हैं।

आत्मौपम्य की प्रेरणा : अहिंसा की पृष्ठभूमि

मैं पहले बता चुका हूँ कि आत्मौपम्य दृष्टि ही अहिंसा की जननी है। जब मनुष्य आत्मौपम्य की दृष्टि रखकर सभी प्राणियों के साथ व्यवहार करेगा तो उसके साथ ही उसके अन्तश्चक्षु में दूसरे प्राणियों की परिस्थितियाँ भी सामने आएँगी। कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है—

आत्मवत् सर्वभूतेषु सुख-दुःखे प्रियाप्रिये।
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टां हिंसामन्यस्यनाचरेत्॥

अगर तू अहिंसा का साधक है तो संसार के सभी प्राणियों की आत्माओं को अपनी आत्मा के समान समझ। इसी प्रकार सुख-दुःख का प्रश्न है। क्या तू किसी और धातु का बना हुआ है कि तुझे तो सुख चाहिए, दूसरों को नहीं? सुख जैसे तुझे प्रिय है, वैसे ही संसार के समस्त प्राणियों को प्रिय है। वे भी जीवन में सुख देखना चाहते हैं। तू यह मत समझ कि तेरा दुःख और किस्म का है और दूसरों का दुःख और किस्म का है? जैसा तुझे दुःख होता है, वैसा ही दुःख दूसरे प्राणियों को होता है। जैसी तुझे भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी लगती है, वैसी ही भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी दूसरे प्राणियों को लगती है। तेरा कोई अपमान करे, काँटा चुभोए, तिरस्कार करे या अभद्रता का व्यवहार करे अथवा तुझे कोई हैरान करे, डराए-धमकाए, गुलाम बनाए, कैद करे, तेरी स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाए, तुझे मारे-पीटे, पीड़ित-पददलित करे तो तेरे हृदय का कण-कण तिलमिला उठता है, मन में आग लग जाती है, वही आग तेरे मन और तन को जलाती रहती है और विद्रोह के लिए तेरा मन मचल उठता है, लेकिन उस समय तू क्यों नहीं सोचता, जब तू दूसरों को सताता है, मारता-पीटता है, हैरान करता है, गुलाम बनाता है, कोड़ों से मारता है, दूसरों का अपमान करता है, डराता-धमकाता है, उन्हें पीड़ित व पददलित करता रहता है?[1] उस समय तू यही सोच कि मैं वही हूँ—उसी के स्थान पर मैं ही हूँ—जिसको मैं मारना-पीटना,

---

१ तुमं सि नाम तं चेव, जं चेव हंतव्वं ति मन्नसि
तुमं सि नाम तं चेव, जं चेव अज्जावेयव्वंति मन्नसि
तुमं सि नाम तं चेव, जं चेव परियावेयव्वं ति मन्नसि
तुमं सि नाम तं चेव, जं चेव परिघेत्तव्वं ति मन्नसि
तुमं सि नाम तं चेव, जं चेव उद्दवेयव्वं ति मन्नसि
अंजू चेव पडिबुद्धजीवी तम्हा न हंता, न विघायए।

—आचारांग सूत्र १—५।५

सताना, तंग करना, डराना-धमकाना, गुलाम बनाना या जिनका मैं अपमान करना चाहता हूँ। मतलब यह है कि जिस समय तू दूसरों के साथ गलत व्यवहार करना चाहता है, उस समय यही सोच कि वह भी तेरे जैसा ही सुख-दुःख का अनुभव करने वाला प्राणी है।

आत्मौपम्य की साधना : अहिंसा की चाबी

कहने को तो आत्मौपम्य के इस सिद्धान्त का सभी भारतीय धर्मों ने प्रतिपादन किया है, लेकिन इसे आचरण में लाने के लिए जैनधर्म ने कुछ विशेष बातें बताई हैं। भगवान महावीर से जब प्रश्न किया गया कि हम किस प्रकार का आचरण करें, जिससे अपने जीवन की सभी प्रवृत्तियाँ करते हुए पाप-कर्म के बन्धन से बच सकें ? तब उन्होंने सूत्ररूप में उत्तर दिया—

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पस्सओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स, पावकम्मं न बंधई॥

जो साधक सर्वभूतात्मभूत बन जाता है, विश्व की समस्त आत्माओं को अपने समान समझता है, आस्रवों (कर्मों के प्रवेश) को रोक लेता है और इन्द्रिय एवं मन का निग्रह कर लेता है, वह पाप-कर्म का बन्ध नहीं करता।

मतलब यह है कि अहिंसा के साधक के हृदय में जैसा प्रेम, स्नेह या वात्सल्य अपने पुत्र-पुत्री या परिवार के प्रति है, वैसा ही प्रेम, स्नेह या वात्सल्य विभिन्न जातियों, धर्म-सम्प्रदायों, राष्ट्रों, प्रान्तों, नगरों-ग्रामों या परिवारों में बँटी हुई समग्र मानव-जाति के प्रति हो; इतना ही नहीं, समस्त पशु-पक्षी जगत् तक समष्टि के रूप में फैलता जाएगा, तभी वह अहिंसा का यथार्थ साधक बनेगा।

इसके लिए उसे अपने-पराये का भेद मन में से निकालना होगा। शरीर के काले-गोरे या अमुक जाति, प्रान्त, राष्ट्र एवं धर्म के भेदों को दूर हटाकर सिर्फ आत्मा को देखने का प्रयत्न करना होगा। इसके लिए उसको इन्द्रियों और मन पर निग्रह करना होगा, कर्म-बन्धन के कारणभूत राग-द्वेष-मोह से दूर रहना होगा। तभी अहिंसा भगवती उसके हृदय में विराजमान होगी।

विचार कीजिए घर में आपके पुत्र-पौत्रादि हैं, सहोदर भाइयों के भी बाल-बच्चे हैं। अपनी एवं भाइयों की पत्नियाँ हैं। घर में एक परिवार होते हुए भी आपके मन की सृष्टि में अपने-पराये की भावना है, अलग-अलग खाने आपके दिल-दिमाग में हैं, तो इस प्रकार एक परिवार में भी इन्सान टुकड़े-टुकड़े होकर चलता है, तब दूसरे परिवार, पड़ौसी, ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र एवं धर्म-सम्प्रदाय के लोगों के साथ आत्मीयता कैसे साध सकेगा ?

एक छोटा-सा परिवार था। जिसमें माँ, उसके दो पुत्र, बड़े बेटे की बहू और उसका एकमात्र बेटा—इस प्रकार परिवार में कुल पाँच सदस्य थे। बड़े आनन्द से

जीवनचर्या चल रही थी। एक दिन पुत्रवधू अपने बेटे और बेटे के समवयस्क देवर को दूध पिला रही थी। दोनों को आधा-आधा गिलास दूध उसने पिलाया। परन्तु देवर ने अपनी माँ से भाभी की शिकायत कर दी। वह बोला—"माँ! भाभी जी अपने बेटे को आधा गिलास भरा दूध पिलाती हैं और मुझे आधा गिलास खाली।" यह सुनकर माँ को तुरन्त गुस्सा आ गया। इसी बात पर उसने बहू से जवाबतलब किया। काफी कहासुनी हुई। बहू ने बड़ी नम्रता से निवेदन किया—"माँजी! यह आप क्या कह रही हैं? मेरे मन में ऐसे खोटे विचार कभी नहीं रहे। ये बच्चे मेरे क्या, आपके ही हैं।" किन्तु माँ कब मानने लगी। बात बहुत बढ़ गई। क्रोध के कारण किसी ने यह नहीं सोचा कि दोनों गिलासों में दूध का परिमाण तो बराबर ही था। नतीजा यह हुआ कि एक ही परिवार में विघटन हो गया। अलग-अलग दो चूल्हे हो गए। एक तरफ माँ और छोटा बेटा, दूसरी तरफ बड़ा बेटा, बहू और उसका पुत्र।

इस प्रकार बहुत से लोग आवेश में आकर आत्मौपम्य को खो बैठते हैं। जहाँ आत्मौपम्य भाव आ जाता है, वहाँ ये क्षुद्र घेरे टूट जाते हैं। वहाँ परिवार में बूढ़े माँ-बाप हैं, भाई-बहन भी हैं, कोई रोगी और कोई पीड़ित भी हैं। कोई ऐसा भी है कि न कुछ कमा सकता है और न ही श्रम कर सकता है। ऐसी स्थिति में आत्मौपम्य साधक के मन में कभी ऐसी भावना नहीं उठती कि—'मैं अकेला कमाता हूँ। ये सब लोग मेरी ही कमाई खाते हैं, सबके सब बेकार पड़े हैं। अनाज के शत्रु बन रहे हैं, काम कुछ नहीं करते। बूढ़ा और बुढ़िया भी अब तक भगवान की शरण में क्यों नहीं पहुँच जाते। बीमारी है तो क्या है, छोड़ो इस शरीर के मोह को।' इस प्रकार अपने स्वार्थ और सुख के घेरे में बन्द होकर वह हृदय की क्षुद्रता प्रगट नहीं करता। ऐसा व्यक्ति सम्प्रदायवाद, जातिवाद, प्रान्तवाद आदि कैंचियों से अपने दिल को नहीं काटता। मानवता के टुकड़े नहीं करता। भारतीय संस्कृति में तो साँपों, कौओं, कुत्तों, गाय-बछड़ों, गधों, यहाँ तक कि पीपल आदि वृक्षों को भी पूजा जाता है, आदर के साथ उन्हें खिलाया-पिलाया जाता है। इसलिए मानवजाति के प्रति हृदय की संकीर्णता को यहाँ कोई स्थान नहीं है।

अहिंसा का साधक : किसी पशु-पक्षी को कष्ट नहीं दे सकता

जब आत्मौपम्य दृष्टि अहिंसा के साधक की सहचरी है, तब सहसा उसके मन में यह विचार आता है कि मैं अपने खाने-पीने के लिए या अपने मौज-शौक के लिए दूसरे किसी भी प्राणी का वध कैसे कर सकता हूँ। अपनी क्षुधातृप्ति जब अन्न एवं शाकाहार, फल आदि से हो जाती है तो मुझे दूसरे प्राणियों के प्राण लेने का क्या अधिकार है। प्राणियों का मांस, अण्डा या अवयव खाना भी बहुत बड़ा अपराध है। दूसरों को मारना तो दूर रहा, किसी भी प्रकार से कष्ट पहुँचाना, उन्हें अपने अधिकारों से वंचित करना, भूखा-प्यासा रखना, उन पर बलबूते से अधिक बोझ लादना,

उनके अवयवों को गाढ़ बन्धन से बाँधकर पटक देना, उन्हें बेरहमी से पीटना, धमकी देना, डराना, उनकी चमड़ी उधेड़ देना भी बहुत बड़ा गुनाह है, अहिंसक के लिए।

इसीलिए विवाह, उत्सवों, खुशी के अवसरों अथवा देवी-देवताओं के आगे पशु-पक्षियों का वध करने की कुप्रथा जैनधर्म के महान तीर्थंकरों ने बन्द करवाई। यहाँ विवाह में पशु-पक्षियों के मांस का भोज बरातियों को दिया जाता था, किन्तु यदुकुमार अरिष्टनेमि ने यादवजाति में प्रचलित इस भयंकर हिंसाजनक कुप्रथा को समाप्त करवाया।

इसी प्रकार भगवान पार्श्वनाथ ने कर्मकाण्ड के नाम पर लक्कड़ जलाने और धूनी तापने वाले तापस कमठ को प्रतिबोध देकर जलते हुए सर्प को बाहर निकाला और उसकी रक्षा की। इस प्रकार हिंसाजन्य अज्ञान तप की जड़ें भगवान पार्श्वनाथ ने उखाड़ डालीं।

भगवान महावीर और उनके साधुओं ने यज्ञों में दी जाने वाली पशुबलि का घोर विरोध किया और बहुत-से क्षत्रिय राजाओं को इन हिंसक यज्ञों से विरत किया। बड़े-बड़े दिग्गज ब्राह्मण पण्डितों को यज्ञ का वास्तविक रहस्य समझाकर हिंसाजन्य यज्ञ की प्रथा भी समाप्त करवाई।

इस प्रकार आत्मौपम्यवृत्ति से प्रेरित होने से प्राणिमात्र के प्रति अहिंसा की भावना मानवजाति में जड़ जमा चुकी थी। क्षत्रियों में निर्दोष पशुओं का शिकार करने की जो प्रथा थी, उसे भी जैन आचार्यों एवं मुनियों ने जगह-जगह उपदेश देकर बन्द करवाया।

आर्थिक-सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा

महात्मा गाँधीजी ने अहिंसा को एक नया मोड़ दिया। अहिंसा की शक्ति पर जंग लग गया था, वह कुण्ठित होकर केवल धर्मक्षेत्र में ही रुकी हुई थी। गाँधीजी ने देखा कि एक ओर '**आत्मवत् सर्वभूतेषु**' का उच्चारण किया जा रहा है, दूसरी ओर समाज में अनेक प्रकार के वर्गभेद चल रहे है। एक वर्ग दूसरे के श्रम का शोषण करता है, श्रम का बदला उसे पूरा नहीं मिलता, उसके श्रम को हलकी नजर से देखा जाता है, एक छूत एक अछूत है, एक नीचा एक ऊँचा है, एक जाति से नीचा है, दूसरा ऊँचा है, ये गलत मान्यताएँ समाज मे प्रचलित थीं; जो अपने ही स्वार्थ और सुख-दुःख का विचार करती थीं। उन्होंने पुनः अहिंसा की आत्मौपम्यदृष्टि से इस विषमता और उसके कारण होने वाले राग-द्वेष को मिटाने का बीड़ा उठाया। सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में गांधीजी ने हिंसाजनक विषमता एवं भेदभावों को हटाकर अहिंसा के नये मूल्य स्थापित किए।

राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा

राजनैतिक क्षेत्र में भी अहिंसा का जबर्दस्त प्रभाव रहा है। प्राचीनकाल में जबर्दस्त मानव हिंसात्मक उपायों से कुछ आदमियों को इकट्ठा करके कुछ हथियार

जुटाता और मारकाट करके कुछ जमीन अपने कब्जे में कर लेता था। वहीं उसका राज्य हो जाता और वह खुद बन जाता राजा। इस प्रकार वह राजा नामक सत्ता-लोलुप व्यक्ति अपनी फौजों को बढ़ाकर संगठित करता और मौका देखकर किसी दूसरे क्षेत्र पर अचानक चढ़ाई कर देता और इस प्रकार वह नया राज्य भी हथिया लेता। इस राजकीय प्रक्रिया में निर्दोष सैनिक मारे जाते, हजारों के जान-माल की हानि हो जाती, परस्पर वैर बँध जाते और पीढ़ी-दर-पीढ़ी वह वैर परम्परा चालू रहती। इसीलिए **'राजेश्वरी सो नरकेश्वरी'** यह कहावत प्रचलित हो गई। जो सत्तालोलुप राजा बनता था, वह इसी प्रकार हिंसाकांड करके अपना स्वार्थ सिद्ध करता। लूट-पाट और राज्य हस्तगत करने में जो अपार धन हाथ आता, वह सुरा, सुन्दरी, मांसाहार और शिकार में खर्च होता, यानी विलासिता में उस धन को स्वाहा कर दिया जाता। न प्रजा का कोई लाभ, न राजा को कोई मानसिक शान्ति।

इस हिंसाजनक राज्य व्यवस्था को बदलने के लिए भगवान महावीर के युग में गणराज्य पद्धति का आविष्कार हुआ। राज्यजनित हिंसा इससे अपेक्षाकृत कम हुई। किन्तु इससे भी सन्तोष नहीं हुआ जनता को। आखिर कुछ प्रबुद्धचेता विचारकों ने लोकतंत्रीय राज्य प्रणाली का आविष्कार किया। व्यर्थ के खून बहाने से क्या लाभ, जनता की राय ले लो और जिसके पक्ष में अधिक राय आये, उसके हाथ में शासन की बागडोर सौंप दी जाय। इस प्रकार लोकतंत्रीय राज्य प्रणाली अहिंसा की दिशा में एक सुन्दर कदम है।

इतना होने पर भी बड़ी-बड़ी शक्तियाँ, अर्थात् विकसित राष्ट्र अपनी सुरक्षा, हित और संस्कृति की सुरक्षा के लिए अत्यन्त चिन्तित हैं। न जाने कब कौन-सा राष्ट्र आक्रमण कर बैठे, इसके लिए शस्त्रास्त्र से सन्नद्ध रहना पड़ता है। जब तक सभी राष्ट्र निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया को पूरी तरह से न मान लें, तब तक युद्ध का खतरा बना रहता है। यद्यपि युद्ध अथवा हिंसा के रास्ते से कभी शान्ति हो नहीं सकती है। विश्व शान्ति अहिंसा और अहिंसक उपाय के जरिये ही स्थापित हो सकती है। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में जब कभी युद्ध या हिंसक संघर्ष फूटा है, तब वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के द्वारा अहिंसा के द्वारा ही शान्त हुआ है। अहिंसा के द्वारा ही विश्व में स्थायी शान्ति सम्भव है।

महात्मा गाँधीजी ने अपने अनुभवपूर्ण उद्‌गार निकाले थे—"न केवल भारत किन्तु सारे विश्व का कल्याण और भविष्य अहिंसा के अवलम्बन में ही सुरक्षित है।"... अहिंसा केवल संत का ही गुण नहीं है कि जिसका अभ्यास करके व्यक्तिगत आध्यात्मिक शान्ति तथा मोक्ष का सम्पादन व्यक्ति विशेष कर सकता है। मैंने तो यह समझा है कि अहिंसा व्यापक जन समाज के जीवनयापन के लिए निश्चित विधान है। यदि मानव-समाज मानवता के गौरव के अनुकूल जिंदगी बसर करना चाहता है और यदि वह उस शान्ति का इच्छुक है, जिसकी ओर मनुष्य युग-युग से दौड़ रहा है, तो उसे जीवन में अहिंसा को ग्रहण करना ही पड़ेगा।"

राजनैतिक क्षेत्र में पंचशील अहिंसा के ही अंशों से अनुप्राणित हैं, उनसे स्थायी विश्वशान्ति स्थापित हो सकती है। वे पंचशील ये है—(१) अखण्डता, (२) प्रभुसत्ता, (३) अहस्तक्षेप, (४) सह-अस्तित्व और (५) सहयोग।

अखण्डता का अर्थ है—प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की सीमा का अतिक्रमण न करे। उसकी स्वतंत्रता को दबाए व हथियाए नहीं। उस पर किसी प्रकार का दवाब न डाले। प्रभुसत्ता के मानी है—प्रत्येक राष्ट्र की अपने ही प्रभुत्व की सत्ता है। उसकी स्वतंत्रता में दूसरा राष्ट्र बाधा न डाले। अहस्तक्षेप का अर्थ है—दूसरे राष्ट्र किसी राष्ट्र के आन्तरिक या बाह्य सम्बन्धों में हस्तक्षेप न करें। सहअस्तित्व का अर्थ है—सब राष्ट्रों को अपना विकास करते हुए सम्मानपूर्वक जीने एवं अपनी संस्कृति, सिद्धान्तों एवं मान्यताओं के साथ जीने का अधिकार है। किसी राष्ट्र का अस्तित्व समाप्त करके उस पर अपने सिद्धान्त या व्यवस्था लादने का प्रयास न किया जाय। और पाँचवा सहयोग है, जिसका अर्थ है—सब राष्ट्र एक दूसरे के प्रति सहयोग और सहकार की भावना रखें।

इस पंचशील के प्रयोग से सारे विश्व में भारत का अहिंसात्मक रवैया चमक उठा। यद्यपि बड़े-बड़े राष्ट्र इस पंचशील की मर्यादाओं का उल्लंघन कर देते हैं, तथापि उन्हें भी अहिंसात्मक पंचशील सूत्रों को माने बिना कोई चारा नहीं।

विज्ञान और अहिंसा

विज्ञान ने नित नये आविष्कार करके भौतिक सुख-सुविधाओं का अत्यधिक विकास किया है, नये-नये अद्यतन साधन प्रस्तुत करके मानव के बाह्य जीवन-स्तर को तो ऊपर उठाया है, लेकिन साथ ही विज्ञान ने मनुष्य की हाथ-पैरों से काम करने की शक्ति कम कर दी, मनुष्य विज्ञान का सहारा लेकर आलसी और परावलम्बी बन गया।

विज्ञान ने संहारक अस्त्र-शस्त्रों और युद्ध के उपकरणों का आविष्कार करके विश्व में शान्ति को बहुत दूर धकेल दिया है। मनुष्य शान्ति के लिए प्रयत्न कर रहा है और विज्ञान अशान्ति और संघर्ष बढ़ाने का। क्योंकि शस्त्रास्त्र होंगे तो मनुष्य उन्हें चलाने और प्रयोग करने का प्रयत्न करेगा ही। इस कारण संघर्ष बढ़े बिना नहीं रहेगा।

वैज्ञानिकों की चोटी बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों के हाथ में है। अगर उन राजनीतिज्ञों को काबू में किया जाय, उन पर नियंत्रण रखा जाय, तभी विश्वशान्ति हो सकती है। अन्यथा विज्ञान तो निरंकुश सिंह है, जो संहार करेगा ही। हिरोशिमा और नागासाकी जैसे सुन्दर शहरों का अणुबम द्वारा तहस-नहस करने का कार्य विज्ञान के कारण ही हुआ है। अतः विज्ञान जैसे राजनीतिज्ञों के हाथ की कठपुतली बना हुआ है, वैसे ही उन राजनीतिज्ञों पर अहिंसा का अंकुश होना चाहिए। मानव आज समझ

गया है कि विनाश के कगार पर खड़ी मानवता को बचाना है तो अहिंसा का ही सहारा लेना होगा। सर्वोदयी संत विनोबाजी ने अपने एक प्रवचन में कहा था—

"यदि अहिंसा के साथ विज्ञान की शक्ति जुड़ जायगी तो दुनिया में स्वर्ग लाने की जो बात ईसामसीह ने कही है, उस स्वर्ग को हम साकार कर सकेंगे। अगर वह शक्ति विरोधियों के हाथ में रही तो, भले ही उसका वहीं जन्म हुआ हो, वह कुल दुनिया को खत्म कर देगी।"

अतः विज्ञान के विनाशकारी तत्त्व को नियन्त्रित करने के लिए अहिंसा की रफ्तार भी उतनी ही तेज करनी होगी। अन्यथा, विज्ञान अपनी दौड़ में आगे बढ़ जाएगा और अहिंसा बहुत पीछे रह जायगी। अहिंसा को विज्ञान की सहचरी बनाया जाएगा, तभी वह विज्ञान को नियन्त्रण में रखकर उसे मानवजाति का उपकारक बना सकेगी।

पथ का चुनाव

इस प्रकार मनुष्य के सामने हिंसा और अहिंसा दोनों की शक्तियों का दृश्य प्रत्यक्ष है। मनुष्य को विचारशील और दूरदर्शी बनकर दोनों में से एक पथ चुनना है। वह अगर सुख शान्ति चाहता है तो दुःख और अशान्ति की जन्मदात्री हिंसा को छोड़े और अहिंसा को अपनाए। अहिंसा को अपनाने पर ही उसकी और विश्व के समस्त प्राणियों की सुरक्षा हो सकती है। क्योंकि अहिंसा में समस्त आतंकों, भयों एवं मुसीबतों को दूर करने की शक्ति है। अहिंसा के सहारे ही मनुष्य स्वयं जीकर दूसरों को जिला सकता है। आपके सामने हिंसा और अहिंसा दोनों पथ खुले हैं। आपको दोनों में से अहिंसा को ही चुनना होगा, तभी आपके मनोरथ पूर्ण हो सकेंगे।

अहिंसा का प्रेम, करुणा, दया एवं सेवा के रूप में प्रयोग करने वाले को आनन्द मिलता है, हृदय में प्रसन्नता की अनुभूति होती है, अनेकों लोगों के आशीर्वाद मिलते हैं। हिंसा मनुष्य जाति में वैर, विरोध, द्वेष और घृणा को जन्म देती है। हिंसा से मनुष्य का हृदय कुण्ठित, अप्रसन्न अवं भयभीत रहता है। हिंसा का सहारा लेकर कोई भी स्थायी रूप से सुख-शान्ति और जीवन सुरक्षा नहीं पा सकता। अतः अहिंसा ही सर्वतोभावेन मनुष्य के लिए ग्राह्य है।

आप अहिंसा भगवती के इस विराट् रूप को पहिचानिए, उसकी विस्तृत शक्ति और व्यापक प्रभाव का अनुभव कीजिए। आपको स्वयमेव अहिंसा का पथ सर्वोत्कृष्ट लगेगा और आप उसी पथ पर चलकर अपना अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त कर सकेंगे। इसीलिए आदर्श गृहस्थाश्रम का जीवन जीने के लिए सर्वप्रथम अहिंसाव्रत को स्वीकार करना आवश्यक बताया गया है। अहिंसाव्रत को स्वीकार करने वाले को अहिंसा का स्वरूप, उसकी मर्यादा, उसके प्रयोग की विधि आदि का ज्ञान तो सर्वप्रथम कर ही लेना चाहिए तभी वह अहिंसा की विराट् शक्ति का अनुभव कर सकेगा।

2

श्रावक की अहिंसा-मर्यादा

अहिंसा मानव-जीवन की सर्वश्रेष्ठ सुख-शान्तिपूर्वक जीवनयापन की पद्धति है। विश्व का कोई भी मानव उसका पालन करके लाभ उठा सकता है, फिर वह चाहे जिस देश, समाज, परिवार, जाति, धर्म, सम्प्रदाय या प्रान्त का ही क्यों न हो। परन्तु एक बात निश्चित है कि अहिंसा जब इतनी विराट है तो इसकी विराटता को पूर्णरूप से छूने में सभी व्यक्ति समर्थ नहीं हो सकते। तीर्थंकर सरीखे कुछ व्यक्ति ही इसके शिखर पर आरूढ़ हैं, पंचमहाव्रती साधु-साध्वी इसकी पूर्णता को पाने के लिए प्रयत्नशील हैं, साधना में रत हैं और श्रावक-श्राविकावर्ग इसका आंशिकरूप से पालन कर पाते हैं। और मार्गानुसारी की भूमिका वाले कई लोग इसका बहुत ही कम पालन कर पाते हैं। वे अहिंसा के सर्वथा निम्न श्रेणी के पालक हैं। यद्यपि साधु श्रावक और मार्गानुसारी के जीवन में भी अहिंसा की कई डिग्रियाँ हैं, कई प्रकार के उत्सर्ग-अपवाद हैं। जीवन में कई प्रकार के उतार-चढ़ाव आते हैं, उस समय विवेकपूर्वक ही अहिंसा के परिप्रेक्ष्य में साधक को अपना मार्ग तय करना पड़ता है। इसका तात्पर्य यह है कि अहिंसा कोई अव्यावहारिक या आदर्श की ही वस्तु नहीं है, कि जिसके ग्रहण कर लेने पर मानव-जीवन चारों तरफ से जकड़ जाय, कहीं से ही रास्ता न मिले। अहिंसा का विवेकशील साधक विकट संकटों के बीच भी कोई न कोई राह निकाल लेता है।

प्रश्न यह है कि जब अहिंसा की मंजिल, उसका उद्देश्य और आदर्श एक ही है, तो उसकी राहें अलग-अलग क्यों हैं? मंजिल को पाने की राह एक ही होनी चाहिए? परन्तु अहिंसा कोई यान्त्रिक वस्तु नहीं है कि वह एक ही साँचे में ढल कर एक ही सरीखा मॉडल तैयार करती हो। वह तो मानव-मात्र के लिए पालनीय और व्यवहार्य वस्तु है। ऐसी दशा में सभी मानव एक सरीखी रुचि, शक्ति, क्षमता, विवेक-बुद्धि, उत्साह, क्षेत्र, काल और परिस्थिति के नहीं होते। रुचि आदि की भिन्नता, परिस्थिति और शक्ति आदि की पृथक्ता के कारण अहिंसा की विभिन्न श्रेणियाँ हैं, जिनका पालन अमुक-अमुक श्रेणी के साधक को करना अनिवार्य होता है।

साधुवर्ग के लिए हिंसा का तीन करण तीन योग से त्याग और अहिंसा का

तीन करण तीन योग से पालन करना विहित है। अर्थात् मन, वचन, काया से कृत-कारित और अनुमोदित तीनों प्रकार से हिंसा का सर्वथा त्याग और अहिंसा का सर्वथा पालन साधुवर्ग के लिए अभीष्ट है। परन्तु संसार में सभी तो इतनी उच्च-कोटि के साधक नहीं बन सकते, जो गृहस्थाश्रम में हैं, जिन पर घरबार, कुटुम्ब-परिवार अथवा समाज एवं राष्ट्र की जिम्मेदारियाँ हैं, जिन्हें निभाने के लिए उन्हें धन सम्पत्ति, जमीन-जायदाद एवं साधन-सामग्री जुटानी पड़ती है। आजीविका के लिए कोई न कोई व्यवसाय या मार्ग चुनना पड़ता है, अपने व अपने परिवार की जान-माल की सुरक्षा के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, तथा अपने तथा परिवार के सुखपूर्वक जीवनयापन के लिए भोजन, मकान आदि बनाने में आरम्भ-समारम्भ करना पड़ता है। ऐसी दशा में वह गृहस्थ पूर्णरूप से अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। उसे अपने जीवन को ठीक ढंग से बिताने के लिए कुछ मर्यादाएँ स्वीकार करके चलना पड़ता है। वे मर्यादाएँ कौन-सी हैं, उनका स्पष्टीकरण आपके समक्ष आज मैं करूँगा।

उपासकदशांग, आवश्यकसूत्र आदि आगम साहित्य में श्रावक के अहिंसा आदि अणुव्रतों की पालन विधि का उल्लेख मिलता है। दिगम्बर परम्परा के रत्न-करण्डश्रावकाचार, सागारधर्मामृत, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, वसुनन्दिश्रावकाचार आदि में तथा तत्त्वार्थसूत्र आदि सर्वमान्य धर्मग्रन्थों में श्रावक के अहिंसाणुव्रत की विशद् व्याख्या मिलती है। चाहे श्वेताम्बर परम्परा हो, चाहे दिगम्बर परम्परा हो, व्रती श्रावक की अहिंसा की मर्यादाएँ दोनों में एक-सी ही बताई गई हैं। उनमें कोई अन्तर नहीं है। उपासकदशांगसूत्र एवं आवश्यकसूत्र में बताया गया है कि श्रावक सर्वप्रथम स्थूल प्राणातिपात (हिंसा) का त्याग करता है, वह इस प्रकार है—

थूलगं पाणाइवाइयं समणोवासओ पच्चक्खाई।

से पाणाइवाइए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—संकप्पओ य आरंभओ य। तत्थ समणोवासओ, संकप्पओ जावज्जीवाए पच्चक्खाई, नो आरंभओ।

तप्पढमयाए थूलगं पाणाइवाइयं पच्चक्खाई दुविहं तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा-वयसा-कायसा।

श्रमणोपासक स्थूल प्राणातिपात का त्याग करता है। वह स्थूल प्राणातिपात दो प्रकार से होता है—संकल्प से और आरम्भ से। इनमें से श्रमणोपासक संकल्प से जीवनभर के लिए प्राणातिपात (हिंसा) का त्याग करता है, किन्तु आरम्भ से नहीं।

सर्वप्रथम श्रावक स्थूलप्राणातिपात का त्याग दो करण, तीन योग से करता है, अर्थात्—मैं प्राणातिपात (संकल्पी हिंसा) मन, वचन, काया से न करूँगा, न कराऊँगा।

शास्त्रीय दृष्टि से श्रावक की अहिंसा की मर्यादाएँ क्या-क्या हैं? यह बात इस पाठ से स्पष्ट हो जाती है।

प्राणातिपात शब्द का अर्थ और व्याख्या इससे पहले मैं कर चुका हूँ। प्राणातिपात शब्द हिंसा का ही पर्यायवाची है। शास्त्रीय पाठ में स्थूल हिंसा के त्याग की बात कही गई है अतः प्रश्न होता है कि वह स्थूल हिंसा कौन-सी है? जब स्थूल हिंसा की बात आई है तो सूक्ष्म हिंसा की भी जिज्ञासा होती है। इस विषय में हमें आचार्यों का मन्तव्य जान लेना चाहिए। इस पाठ से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रावक स्थूल हिंसा का ही त्याग करता है, सूक्ष्म हिंसा का त्याग वह नहीं कर सकता। स्थूल शब्द यहाँ दो अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। शास्त्रीय दृष्टि से और लौकिक दृष्टि से। जिनको सर्वसाधारण स्थूल दृष्टि वाले लोग भी जीव कहते है, तथा जिनकी हिंसा लोक में भी हिंसा कहलाती है, यानी समस्त आबालगोपाल-प्रसिद्ध हलन-चलन करने वाले जो द्वीन्द्रियादि (त्रस) जीव हैं, उनकी हिंसा लौकिक दृष्टि से स्थूल हिंसा है। और आम लोगों की अपेक्षा सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय के रूप में जो एकेन्द्रिय जीव हैं, वे शास्त्रीय दृष्टि से जीव माने गए है, परन्तु सर्वसाधारण लोकदृष्टि में वे (स्थावर जीव) जीव रूप से प्रसिद्ध नहीं हैं। क्योंकि मिट्टी खोदने वाले, सचित्त जल पीने वाले, फल या साग-सब्जी तोड़ने वाले व्यक्ति को आमतौर पर कोई नहीं कहता कि यह हत्यारा है, इसने जीव को मारा है, यह हिंसक है या पापी है। जबकि शास्त्रीय दृष्टि से इनमें जीव माना है, तथा इनकी हिंसा को सूक्ष्म हिंसा कहा गया है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के रूप में स्थावर जीवों की सूक्ष्म हिंसा के अतिरिक्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के रूप में त्रसजीवों की हिंसा करना स्थूल हिंसा है। श्रमणोपासक स्थूल हिंसा से ही निवृत्त हो सकता है, सूक्ष्म हिंसा से नहीं। हाँ, वह सूक्ष्म हिंसा को भी हिंसा समझता है और उस हिंसा से भी बचने का प्रयत्न करता है, वह भरसक कोशिश करता है कि अपने जीवन में सूक्ष्म हिंसा भी कम से कम हो, परन्तु संसार व्यवहार में फँसा होने के कारण सूक्ष्म हिंसा का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता। वह आगे के व्रतों में उसकी मर्यादा करता जाता है, और ऐसे दिन भी नियत करता है, जिन दिनों में वह सूक्ष्म हिंसा का भी सर्वथा त्याग करने का अभ्यास करता है।

स्थूल और सूक्ष्म जीवों का स्वरूप

स्थूल और सूक्ष्म जीवों के लिए शास्त्रीय परिभाषा में त्रस और स्थावर दो शब्द मिलते हैं। त्रस जीव वे हैं, जो स्वतन्त्रतापूर्वक गति करते हैं, आँखों से दिखाई दे सकते हैं, अपनी गति या स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचाने पर जिन्हें त्रास (दुःख) होता है, जिनकी चेतना क्रमशः विकसित है। ऐसे द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के प्राणी त्रस कहलाते हैं। त्रस जीवों में जिनकी गणना की जाती है वे दो इन्द्रियों वाले, तीन इन्द्रियों वाले, चार इन्द्रियों वाले एवं पाँच इन्द्रियों वाले प्राणी हैं।

द्वीन्द्रिय वे जीव हैं, जिनके स्पर्शेन्द्रिय (शरीर) और रसनेन्द्रिय (जीभ) हो,

जैसे लट, गिंडोला, अलसिया, शंख, कौड़ी, जौंक आदि जीव। त्रीन्द्रिय वे जीव हैं—जिनके स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय (नाक) हो, जैसे चींटी, मकौड़ा, जूं, लीख, चींचड़, खटमल, गजाई, खजूरिया, दीमक, घनेरिया आदि। चतुरिन्द्रिय में वे जीव हैं, जिनके स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय (आँख) हो, जैसे टिड्डी, पतंगा, मक्खी, मच्छर, भौंरा, भृंगारी, बिच्छू, कंसारी आदि जीव। और पंचेन्द्रिय वे जीव हैं, जिनके स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय (कान) ये पाँचों इन्द्रियाँ हों, जैसे जलचर, स्थलचर, खेचर (आकाशचारी), उरपरिसर्प (छाती के बल चलने वाले जीव) और भुजपरिसर्प (भुजाओं के बल चलने वाले जीव), नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। गर्भज, सम्मूर्च्छिम, जरायुज, अण्डज एवं पोतज। यह हुआ त्रसजीवों का मोटेतौर पर दिग्दर्शन। ये चारों प्रकार के त्रसजीव स्थूल कहलाते हैं, इनकी हिंसा स्थूलहिंसा कहलाती है।

स्थावर जीव वे हैं, जो चलते-फिरते दिखाई नहीं देते, न चर्मचक्षुओं से ही जिन्हें देखा जा सकता है, उनमें चेतना प्रायः सुषुप्त रहती है। उनके केवल एक ही इन्द्रिय—स्पर्शेन्द्रिय होती है। उपकरण रूप इन्द्रिय में केवल शरीर ही होता है। स्थावर जीवों में पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक इन ५ प्रकार के जीवों की गणना होती है। पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर मिट्टी, पत्थर आदि का ही होता है। जलकायिक जीवों का जलमय, वायुकायिक जीवों का वायुमय और अग्निकायिक जीवों का शरीर अग्निमय होता है, इसी प्रकार वनस्पतिकायिक जीवों का शरीर विविध वनस्पतिमय होता है।

पृथ्वीकाय में जीव हैं, यह बात तो खान विशेषज्ञों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूत है। उनका कहना है कि पत्थर की खान को खोदते-खोदते उसमें से पत्थर की पट्टियाँ निकालने पर जब गड्ढे पड़ जाते हैं तो उन्हें पत्थर के चूरे, मिट्टी एवं कूड़े से भर दिया जाता है। कुछ ही वर्षों बाद उनमें से पुनः पहले की तरह ही पत्थर की पट्टियाँ निकलती हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि पाषाण-चैतन्ययुक्त है, तभी तो उसमें वृद्धि होती है।

जल में भी जीव है, यह आज के वैज्ञानिकों ने सिद्ध करके बताया है। हम उन्हें आँखों से नहीं देख सकते हैं। परन्तु वैज्ञानिकों ने बहुत ही शक्तिशाली सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र (Microscopes) से देखकर बताया है कि जल की एक बूंद में चलते-फिरते बहुत-से जीव हैं। पर ये जीव जल के अपने नहीं, जलाश्रित रहे हुए त्रस जीव हैं। जल खास जलयोनि के स्थावर जीवों का पिण्ड है।

इन यन्त्रों के द्वारा दिखाई देने वाले जीवों के अतिरिक्त भी जल में अन्य अनेक अत्यन्त सूक्ष्म जीव भी होते हैं। तभी तो उस पानी द्वारा सींचने से सिंचाई करने पर उपज होती है। परन्तु यदि कोई अत्यधिक तापमान पर उबले हुए (Boiled) या भाप के पानी (Distilled water) से सिंचाई करता है तो भूमि चाहे जितनी उप-

जाऊ हो, उस जल से उपज नहीं हो सकती; क्योंकि वह पानी जीवनरहित हो जाता है। वैज्ञानिकों ने यह भी सिद्ध करके बता दिया है कि तनिक-सी गीली मिट्टी को अत्यन्त बारीकी से देखने पर बहुत-से सूक्ष्म जीव रेंगते हुए दिखाई देते हैं, सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र से देखने पर उस भूमि में और भी सूक्ष्म जीव दिखाई देते हैं। वनस्पति भी उसी भूमि में उग सकती है, जो भूमि सजीव हो। जली हुई, सूर्य से तप्त रेतीली जीवन-रहित भूमि पर चाहे जितना पानी सींचने पर भी उपज नहीं होती। इसी प्रकार उपजाऊ मिट्टी वाला कोई गमला साधारण जल से सींचकर हवा बन्द (Airtight) बोतल में रख देने और उसकी सारी हवा निकाल देने पर उस गमले में अंकुर नहीं फूटते, क्योंकि वहाँ जीवनसहित वायु का अभाव है। इन प्रयोगों से यह सिद्ध है कि मिट्टी, पानी और हवा में भी जीवन है।

वनस्पति में भी जीव वनस्पतिविज्ञानवेत्ताओं ने, खासकर विज्ञानाचार्य श्री जगदीशचन्द्र बोस ने सिद्ध कर दिया है। उन्होंने कई वर्षों पहले बम्बई में वनस्पति पर प्रयोग करके उनमें चेतना होने की बात सिद्ध कर बताई थी। उन्होंने कुछ गमलों में विभिन्न पौधे रखे। उनके आगे काँच के बड़े-बड़े तख्त लगा दिये, फिर सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र को योग्य स्थान पर फिट करके उपस्थित जनसमूह से कहा—"मैं इन पौधों को खुश करता हूँ। इन पौधों पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है, देखिए।" यों कह-कर उन्होंने हर्षोत्पादक शब्दों में पौधों को सम्बोधित किया, जिससे वे सब प्रशंसा पाकर खुशी से फूलने लगे, फिर जब वे पौधों को अपशब्द कहने लगे तो सबके सब पौधे मुरझाने लगे। दर्शकों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उन्हें विश्वास हो गया कि वनस्पति पेड़-पौधों में भी जीव होता है।

वर्तमान भौतिक विज्ञान अभी शोध की पूर्णता तक नहीं पहुँचा है, अभी तो उसने आंशिक शोध की है। सम्भव है, कुछ वर्षों बाद वनस्पति और जल की तरह अग्नि, वायु आदि में भी जीव सिद्ध कर दे। परन्तु हमारे वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने तो हजारों वर्षों पहले आत्मिकविज्ञान द्वारा इन स्थावरजीवों में चेतना, शरीर, अवगाहना, कषाय, संज्ञा, लेश्या, वेद, ज्ञान, योग, स्थिति, गति-आगति आदि का विश्लेषण कर दिया है।

व्रती श्रावक स्थूल हिंसा का ही त्यागी, सूक्ष्म हिंसा का नहीं

हाँ, तो मैं कह रहा था कि व्रतीश्रावक स्थूल-हिंसा का ही त्याग कर सकता है, इन स्थावरजीवों की सूक्ष्म हिंसा का नहीं। यहाँ शंका की जा सकती है कि श्रावक स्थूल हिंसा का त्याग करता है, तब भी सूक्ष्म हिंसा का त्याग तो शेष रह जाता है, उसका भी त्याग क्यों नहीं कर देता ?

इसका समाधान यह है कि श्रावक सूक्ष्म हिंसा को हिंसा ही मानता है, अगर वह हिंसा को हिंसा न माने, तब तो वह सम्यग्दृष्टि भी नहीं रहता, तब तो उसकी गणना मिथ्यात्वी में ही होती। सूक्ष्महिंसा के भी त्याग की वह भावना रखता है, लेकिन

जब तक वह सांसारिक गार्हस्थ्यजीवन के कार्यों से निवृत्त नहीं हुआ है, जब तक उस पर सामाजिक, राष्ट्रीय आदि कर्तव्यों की जिम्मेदारी है, तब तक वह अपने को सूक्ष्म हिंसा से सर्वथा निवृत्त होने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है। सम्पूर्ण रूप से जीवहिंसा त्याग, या अहिंसा का पालन तो महाव्रती साधु-साध्वी ही कर सकते हैं। श्रावक में अभी इतनी शक्ति नहीं है और न ही साधु बनने की अभी तैयारी है, ऐसी दशा में वह अहिंसा की ओर जितना बढ़ सकता है, उतना ही बढ़ता है। अपनी रुचि और शक्ति, परिस्थिति और आरोग्य आदि को देखकर ही व्यक्ति महाव्रत या अणुव्रत का पालन कर सकता है।

सूक्ष्म जीवों का अस्तित्व न माना जाय तो ?

कोई यह कह सकता है कि पृथ्वीकाय, जलकाय आदि जो सूक्ष्मबुद्धिगम्य सूक्ष्म स्थावरजीव हैं, उन्हें न माना जाय तो क्या हानि है ? सिर्फ उन स्थूल त्रस जीवों को ही मान लिया जाय, जो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, तो क्या आपत्ति है ?

इस सम्बन्ध में पहली आपत्ति तो यह है कि जीवों का अस्तित्व हमारे या आपके मानने से हो और न मानने से न हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जो जीव है, वह तो जीव ही रहेगा, चाहे कोई माने या न माने। जीव को जीव न मानने वाला, उसकी हिंसा करके जीव हिंसा के पाप का भागी होने से बच नहीं सकता। बल्कि उसकी श्रद्धा विपरीत होने से उसे मिथ्यात्व का भी पाप लगेगा। आज तो भौतिक विज्ञान द्वारा जल, वनस्पति आदि स्थावरजीवों में जीवत्व एवं चैतन्य प्रमाणित हो चुका है, फिर भी उन्हें जीव न मानना कैसे उचित कहा जा सकता है ?

दूसरी आपत्ति यह है कि स्थूल और सूक्ष्म दोनों सापेक्ष शब्द हैं। जो स्थूल को मानता है, उसे सूक्ष्म को मानना ही होगा, क्योंकि स्थूल सूक्ष्म की अपेक्षा से है और सूक्ष्म भी स्थूल की अपेक्षा से है। अन्यथा, स्थूल की मान्यता भी समाप्त हो जाएगी। स्थूल रहेगा तो सूक्ष्म अवश्य रहेगा, और सूक्ष्म रहेगा, तभी स्थूल रहेगा।

तीसरी आपत्ति यह है कि सारा संसार सूक्ष्म जीवों की स्थिति पर टिका हुआ है। सूक्ष्म जीवों को माने बिना संसार का अस्तित्व ही नहीं रह सकेगा, संसार जीव शून्य हो जाएगा। क्योंकि स्थूल जीव, चाहे संख्या में कितने ही हों, फिर भी वे गिनती में आ सकते हैं। मान लीजिए, धीरे-धीरे सब स्थूल जीव मोक्ष में चले जाएँ तो एक दिन ऐसा आ सकता है, जब सारा संसार जीवरहित हो जाएगा। इसलिए सूक्ष्म जीवों का अस्तित्व माने बिना संसार की अनादि-अनन्त स्थिति बन नहीं सकती। सूक्ष्म जीवों की गिनती नहीं हो सकती, वे अनन्त हैं। सूक्ष्म जीव अपना विकास करके स्थूल जीव बन जाते हैं, तब भी अनन्त शेष रह जाते हैं। ऐसा मानने पर ही जगत् के समस्त तत्त्व यथार्थ स्थिति में रहते हैं।

इसमें सूक्ष्मजीवों को जीव मानना अनिवार्य है, इसीलिए श्रावक उन्हें जीव

मानता है, किन्तु उनकी हिंसा का त्याग करने में अपनी लाचारी प्रगट करता है।[१] जीवन संघर्ष में अपने जीवन को टिकाने तथा लोक-कल्याण के लिए जहाँ-जहाँ सूक्ष्म जीवों की अहिंसा का पालन शक्य न हो, वहाँ अहिंसा के उस उच्च आदर्श पर श्रद्धा लाए, जितनी शक्ति हो, उतना पालन करे।

स्थूल हिंसा में भी संकल्पजा हिंसा त्याज्य

श्रावक की अहिंसा की मर्यादा में जब स्थूल हिंसा का त्याग अभीष्ट है, तब पुनः प्रश्न होता है, स्थूल हिंसा का भी श्रावक के द्वारा सर्वथा त्याग होना दुःशक्य है, क्योंकि श्रावक को अपने भोजन बनाने, मकान बनाने, आजीविका के कार्य करने, कृषि, गोपालन आदि करने तथा न्याय के लिए दण्ड आदि देने, सामाजिक कार्यों में किसी अनिष्टकर्ता को हटाने, अपने जानमाल की चोरों-डकैतों आदि से रक्षा करने आदि अनेक अनिवार्य कार्यों में त्रसजीवों की पूर्णतया हिंसा से बचना कठिन है। कई बार कीड़े-मकोड़े, चूहे आदि मर जाते हैं, मनुष्यों को भी प्राणदण्ड देना पड़ता है, उपद्रवकारी का सशस्त्र सामना करने में भी कई लोग मारे जाते हैं। ऐसी दशा में श्रावक स्थूल हिंसा का पूर्णतः त्याग भी कैसे कर सकता है? यही कारण है कि शास्त्रकारों ने श्रावक को अहिंसा-पालन में किसी प्रकार की अड़चन न हो, इस दृष्टि से स्थूल हिंसा भी दो प्रकार की बताई है—संकल्पजा और आरम्भजा। इन दोनों में स्थूल जीवों की संकल्पजा हिंसा तो श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है, आरम्भजा हिंसा का वह पूर्णतः त्याग नहीं कर पाता।

मारने की भावना से, समझ-बूझकर मांस, हड्डी, चमड़ी, नख, केश, दाँत आदि के लिए, किसी निर्दोष-निरपराध त्रस प्राणी की निष्प्रयोजन हिंसा करना, संकल्पजा हिंसा है।

मकान बनवाने, पृथ्वी खोदने, हल जोतने आदि विविध आरम्भ के कार्यों में त्रस जीवों की हिंसा हो जाना, आरम्भजा हिंसा है। आरम्भजा हिंसा में हिंसा करने का संकल्प नहीं होता, अर्थात् किसी त्रसजीवों का घात करने, नुकसान पहुँचाने, अंगभंग करने, व्यथित एवं भयभीत करने की भावना नहीं होती।

मान लीजिए, एक व्यक्ति निशाना लगाना सीखने के लिए गोली चलाता है, संयोगवश उस गोली से कोई आदमी मारा जाता है, तो यह गोली चलाने वाले का अपराध तो है, वह दण्ड का पात्र भी है लेकिन ऐसा दण्डपात्र नहीं जैसा कि मारने के इरादे से गोली चलाने वाला। सरकारी दण्डविधान में भी अपराधी से पूछा जाता है कि अमुक व्यक्ति को मारते समय तुम्हारा क्या इरादा था? अगर उसका अपराध जानबूझकर इरादतन हत्या करने का सिद्ध हो जाता है, तब तो उसे भारी दण्ड

---

१ जं सक्कइ तं कीरइ, जं च न सक्कइ, तं च सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो, पावइ अयरामरं ठाणं॥

मिलता है, अगर वह कहता है कि मारने का मेरा कोई इरादा नहीं था, अथवा यह मुझे मारने की नीयत से आ रहा था, इसलिए मैंने इसे मारा था; तब तो अपराधी होते हुए भी उसे इतना दण्ड नहीं दिया जाता।

प्रश्न किया जा सकता है कि एक व्यक्ति श्रावक के जानमाल पर या उसकी बहू-बेटियों पर शस्त्रास्त्र लेकर आक्रमण करने आता है, उस समय उसका सामना करने के लिए उसे शस्त्रास्त्र से प्रहार भी करना पड़ता है, उस प्रहार से आक्रमणकारी मर भी जाता है, यह संकल्पजा हिंसा है या आरम्भजा ? संकल्पजा में तो इसे गिना नहीं जा सकता; अतएव संकल्पजा हिंसा के साथ दो परिष्कार और किये गये—निरपराधी व निरपेक्ष (निष्प्रयोजन) हिंसा करना संकल्पजा है। इसके सिवाय किसी भी प्राणी को मारने की नीयत न रखते हुए भी, कार्य करते समय प्राणियों का मर जाना, आरम्भजा हिंसा है।

द्विविध हिंसा में से चार प्रकार स्पष्टीकरण के लिए

यद्यपि यहाँ दो प्रकार की हिंसाओं में से श्रावक के लिए त्याज्य और अत्याज्य कौन-सी हिंसा है, यह मालूम हो जाता है; फिर भी संकल्पजा हिंसा के साथ निरपराध और निरपेक्ष, आकुट्टिकी बुद्धि ये शब्द और जोड़े जाने पर ही उसका सर्वांगपूर्ण अर्थ स्पष्ट होता है। इसी प्रकार आरम्भजा हिंसा सिर्फ गृहकार्य के आरम्भ-समारम्भ में होने वाली हिंसा ध्वनित होती है, आजीविका उद्योग-धंधे में तथा आक्रमणकारी या विरोधी का सामना करने में जो हिंसा होती है, वह संकल्पजा खाते में जाएगी या आरम्भजा खाते में ? यह स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त नहीं होता। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने काफी सूक्ष्म चिन्तन के बाद श्रावक की अहिंसा की मर्यादा को स्पष्टतः समझाने के लिए हिंसा के चार भेद किये हैं—संकल्पी, आरम्भी, उद्योगिनी, विरोधिनी। इन चारों हिंसाओं में से सिर्फ संकल्पी हिंसा श्रावक के लिए त्याज्य है, बाकी की तीन हिंसाएँ—आरम्भी, उद्योगिनी, विरोधिनी को वह चाहते हुए भी सर्वथा छोड़ नहीं सकता, इनमें विवेक व मर्यादा कर सकता है। आचार्य हेमचन्द्र ने श्रावक के लिए संकल्पी हिंसा को त्याज्य बताया है—

पंगुकुष्टिकुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः।
निरागस्त्रसजन्तूनां हिंसां संकल्पतस्त्यजेत्॥

पंगुपन, कोढ़ीपन और कुणित्व (टोंटापन) आदि हिंसा के फलों को देखकर विवेकवान् पुरुष (कम से कम) मारने की बुद्धि से निरपराध त्रसजीवों की संकल्पी हिंसा का अवश्य त्याग करे।

संकल्पी हिंसा : स्वरूप और विश्लेषण

उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि श्रावक स्थूल हिंसा का त्याग करते समय संकल्पी हिंसा का त्याग करेगा। वह बिना प्रयोजन, निरपराधी की, मारने की बुद्धि से किसी की हिंसा नहीं करेगा। मान लीजिए, एक गृहस्थ श्रावक

है, वह किसान है। खेती करता है तो उसमें कई जीव, चींटी, चूहे आदि त्रस जीव भी मर जाते हैं, परन्तु अगर कोई उसे कहे कि 'यह चींटी मार दो, मैं तुम्हें हजार रुपये दूंगा,' तो क्या वह उसे मार देगा ? कदापि नहीं। क्योंकि मारने के संकल्प से अगर वह एक भी स्थूल जीव को मारता है, सताता है, पीड़ा देता है, तो वहाँ संकल्पी हिंसा हो जाएगी।

गुजरात में वनराज चावड़ा बहुत ही बहादुर व्यक्ति था। एक बार वह जा रहा था, सामने से चांपा मेहता आता दिखायी दिया। चांपा मेहता जैन वणिक् था, और बाणविद्या में पारंगत था। वनराज ने उसे हैरान करके लूटना चाहा, और बाण चलाया। चांपा मेहता ने तुरंत उस बाण को काट दिया, दूसरा तीर आया उसे भी काट डाला। तीसरा तीर वनराज ने छोड़ा तब भी चांपा मेहता ने कुशलता से उसे काट दिया। वनराज चांपा मेहता की दक्षता पर मुग्ध हुआ। वह घोड़े से नीचे उतरा और चांपा को पास बुलाया। वनराज के पास अब तरकश समाप्त थे। अतः चांपा के पास भी एक तरकस बचा था, उसे तोड़कर फेंक दिया।

वनराज ने कहा—"चांपा ! तुम बड़े ही बाण विद्या कुशल हो, इस चिड़िया पर बाण चलाकर बींध दो, तब मैं जानूं।"

चांपा ने कहा—"यह नहीं हो सकता मुझसे।"

"क्यों, क्या तुम बाण-विद्या में पारंगत नहीं हो ?" वनराज ने पूछा।

"हूँ जरूर, पर किसी निर्दोष पशु-पक्षी पर बाण चलाना मेरी अहिंसा की मर्यादा के खिलाफ है। बेचारी चिड़िया ने मेरा क्या बिगाड़ा है ?" चांपा ने उत्तर दिया।

वनराज ने कहा—"तुमने मेरे पर बाण कैसे चलाये थे ?"

चांपा ने उत्तर दिया—"आप अपराधी थे, मुझ पर आक्रमण करने के इरादे से आपने बाण चलाये थे इसलिए मैंने प्रत्याक्रमण के रूप में बाण चलाकर आपके बाण काट डाले।"

वनराज बहुत प्रसन्न हुआ और प्रसन्नता के साथ चांपा मेहता को विदा किया।

इस घटना से फलित होता है कि श्रावक किसी भी निर्दोष निरपराध प्राणी की हिंसा करता है, हिंसा करने के इरादे से प्रहार करता है तो वह संकल्पी हिंसा है, जो उसके अहिंसाव्रत की मर्यादा को भंग करने वाली है।

इसीलिए कई लोग निर्दोष वन्य पशुओं के शिकार करने को उद्योगी हिंसा में भ्रान्ति से समझ लेते हैं। शिकार खेलना कोई व्यवसाय या उद्योग नहीं है। यह प्रायः अपने मनोरंजन के लिए, बहादुरी के लिए या मांस, खाल आदि के लिए बेचारे निर्दोष प्राणियों का संहार करना है। शिकार करने वाले वन्य प्राणियों के साथ

निर्दयता का व्यवहार करने के दोषी हैं। बेचारे हिरण, खरगोश, लोमड़ी आदि स्वच्छन्द विचरण करने वाले सुन्दर पशुओं और निर्दोष पक्षियों को मारने का निर्दयता के सिवाय कोई कारण नहीं हो सकता। भगवान महावीर और जैनधर्म ने तो इसे सात कुव्यसनों में से एक कुव्यसन माना है। इसे तो सम्यक्त्वी श्रावक होने से पहले ही छोड़ना आवश्यक है। तथागत बुद्ध ने अपने बचपन में ही देवदत्त के तीर से घायल हंस की रक्षा करके शिकार का विरोध किया था। परन्तु वर्तमान में कई लोग, खासकर, क्षत्रिय या पश्चिम के रंग में रंगे हुए लोग शिकार को साहसवृद्धि के लिए आवश्यक मानते हैं। मगर यह निश्चित है कि निर्दोष प्राणियों के संहार से कोई साहस नहीं बढ़ता। उलटे, शिकार से मनुष्य की कोमल वृत्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं, सहानुभूति और सहयोग के गुणों का ह्रास होता है। इस सम्बन्ध में 'टर्जे बीफ' नामक रूसी लेखक ने अपना अनुभव लिखते हुए बताया—

मैं जब दस वर्ष का था, तो मेरे पिता एक दिन मुझे अपने साथ शिकार करने को ले गए। जंगल के समीप पहुँचने पर एक सुनहरे रंग का जंगली तीतर फरफराहट करता दिखाई दिया। उसी समय मैंने अपनी छोटी बन्दूक ऊँची करके चला दी। तुरन्त ही वह पक्षी लुढ़कता, फुदकता और तड़फता हुआ मेरे समीप आ गिरा। उस मादापक्षी का प्रेम मृत्यु की अपेक्षा अपने बच्चों के प्रति अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ था और उसके शरीर से प्राण निकल ही रहे थे, और वह अपनी बची-खुची शक्ति लगाकर अपने घोंसले के पास पहुँच गई। वहाँ उसके छोटे-छोटे बच्चे, जो अभी तक खतरे से अनजान थे, उसे देखकर खुशी से चहचहाने लगे। वह मादा अपने बच्चों की रक्षा के लिए घोंसले का द्वार अपने पंखों से बन्द करके वहीं पड़ी रही। मैं वहीं खड़ा हुआ यह सब हाल देखता रहा। मुझे ऐसा जान पड़ा कि वह मेरी ओर ताकती हुई चोट पहुँचाने के लिए मुझे उलाहना दे रही है और बच्चों की रक्षा के लिए विनय कर रही है। मैं अपने को अपराधी समझ कर हृदय में पश्चात्ताप करने लगा। इतने में ही उस पक्षी के प्राण उड़ गये। वह घोंसले के पास ही नीचे गिर गई। मैंने भयभीत होकर अपने पिता की ओर देखते हुए कहा—"पिताजी ! मैंने यह क्या कर डाला ?" पिता ने कहा—"प्रिय पुत्र ! तूने ठीक किया। बन्दूक चलाने का पहला अवसर होने पर भी तेरा निशाना ठीक लगा और थोड़े समय में ही तू अच्छा शिकारी बन सकेगा।" मैंने उत्तर दिया—"नहीं, पिताजी ! नहीं : अब मैं ऐसा कार्य कभी नहीं करूँगा। मैं कभी किसी जीवित प्राणी का विनाश नहीं करूँगा। अगर आप इसे मनोरंजन कहते हों तो मुझे इसकी जरूरत नहीं। मुझे मृत्यु की अपेक्षा जिन्दगी अधिक प्रिय है। जब मैं किसी को जिन्दगी दे नहीं सकता तो मुझे उसके लेने का क्या अधिकार है ?"

हाँ, तो किसी भी निरपराध प्राणी का शिकार करना, संकल्पी हिंसा है, और वह महाहिंसा है।

कई लोग यह कहा करते हैं कि[1] सिंह, चीते, बाघ, भेड़िये, साँप आदि प्राणी हिंसक हैं, अगर ये जीवित रहेंगे तो अनेक जीवों को मारेंगे, इसलिए क्या यह बेहतर नहीं होगा कि इनमें से एक को भी मार दिया जायगा तो अनेक जीवों की रक्षा हो जाएगी ? दूसरी बात यह है कि बहुत-से प्राणियों को मारने वाले ये जीव जीते रहेंगे तो भयंकर पाप उपार्जन करेंगे, इससे अच्छा यह है कि इन बेचारों को मार दिया जाए, ताकि वे घोर पापकर्मों का उपार्जन करके भविष्य में उनके फलस्वरूप दुःखी न हों। क्या इस प्रकार की अनुकम्पा करना बेहतर न होगा ?

इसका उत्तर यह है कि जो सिंह आदि श्रावक पर आक्रमण कर रहा हो, उस समय वह अपराधी है, उसकी बात तो अलग है, क्योंकि श्रावक निरपराधी की हिंसा का त्यागी है, सापराधी की हिंसा का नहीं। लेकिन उस पर से सारी ही सिंह, चीते, बाघ, सर्प, भेड़िये आदि की जाति को, जोकि निरपराध है, मार डालने का निर्णय करना सरासर अपराध है, घोर संकल्पी हिंसा है, अन्याय-अत्याचार है। मान लो, सिंह आदि सब मिलकर ऐसा निर्णय कर लें कि मनुष्य जाति हमारी नम्बर एक की दुश्मन है, हम सबको संगठित होकर उसे समाप्त कर देना चाहिए। तो क्या उनका यह निर्णय आपको अच्छा लगेगा ? आज तो वे बेचारे वाचाहीन हैं, असंगठित हैं, विचार करने में समर्थ नहीं हैं, इसलिए सब प्राणियों में विवेकशील बुद्धिमान मनुष्य ऐसा विचार करे, यह अच्छा नहीं है। इस प्रकार वन के सिंह, किन्तु निर्दोष प्राणियों का अनेक जीवों की रक्षा के विचार से मार डालना संकल्पी हिंसा है। न उन पर अनुकम्पा लाकर उनके पापोपार्जन को कम करने की नीयत से उन्हें मार डालना अच्छा है, क्योंकि मरने का नाम भी किसी को अच्छा नहीं लगता, मारना तो बहुत ही भयंकर चीज है। पापोपार्जन किसी को मार डालने से थोड़े ही कम हो जाएँगे ? जब तक कोई भी प्राणी अपनी इच्छा से, भावनापूर्वक पापोपार्जन कम नहीं करेगा, तब तक दूसरे से जबरन उसके प्राण लेने से पाप बन्द नहीं हो जाएँगे। और फिर वह हिंस्र प्राणी भी स्वयं मरना चाहे तब न ? स्वयं कौन मरना चाहेगा ? तथा दूसरी योनि भी मरते समय आर्तध्यान के फलस्वरूप और भी खराब मिली तो इस जन्म से भी अधिक पाप वह अगले जन्म में कमायेगा।

पहले जो तर्क उठाया गया था कि एक हिंस्र जीव के मारने से अनेक जीवों की रक्षा होगी, वह भी धारणा निर्मूल है। यह कोई ज्ञात नहीं है कि अनेक जीवों को वह

---

१ रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्वानाम् ॥
बहुसत्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीया शरीरिणो हिंसाः ॥
—पुरुषार्थ० ८३, ८४

जिन्दा रहेगा तो मारेगा ही। मान लो, उन जीवों का आयुष्य बलवान हुआ तो वह हिंस्र जीव लाख प्रयत्न करले, उन्हें नहीं मार सकेगा। तथा उसको मार देने पर भी अगर उन जीवों का आयुष्य प्रबल न हुआ तो दूसरा कोई भी हिंस्र जीव उन्हें मार डालेगा, या वे किसी भी निमित्त से मारे जाएँगे। इसी प्रकार मरकर भी वह पुनः उसी योनि में जन्मा तो फिर हिंसा करेगा। इसलिए यह भावना ही अच्छी नहीं है कि एक हिंस्र जीव को मारने से अनेक जीवों की रक्षा हो जाएगी।

कई लोग साँप या बिच्छू को देखते ही उन्हें अपने जन्मजात वैरी मानकर या क्रूरता के संस्कारवश चट से उन्हें मार डालते हैं। यह तो सरासर संकल्पी हिंसा है, जो श्रावक के लिए कथमपि ग्राह्य नहीं है। ये साँप, बिच्छू, ततैये आदि जीव तो प्रायः तभी काटते हैं, जब उन्हें छेड़ा जाता है; या उन पर पैर पड़ जाता है। यदि मनुष्य ऐसे जीवों को यह बहाना बनाकर मारने लगें कि वे हिंसक हैं तो मनुष्य उनसे भी बड़े हिंसक सिद्ध होंगे। फिर उन मनुष्यों का न्याय कौन करेगा? वे जीव तो केवल लाचारीवश ही मनुष्य पर आक्रमण करते हैं, लेकिन मनुष्य तो अपनी जीभ के स्वाद के लिए, अपने शरीर को सजाने एवं मनोरंजन के लिए मूक प्राणियों की सामूहिक हत्या करता है। नीरो रोम का अत्यन्त क्रूर स्वभाव का सम्राट् था। एक बार उसकी सेना का पड़ाव एक ऊँचे पर्वत पर था। वहाँ से बहुत नीचे एक गहरी खाई थी। उसके हाथियों में से एक हाथी महावत की असावधानीवश दूसरी ओर चला गया उसका पैर फिसल गया और वह उस गहरी खाई में जा गिरा। भयंकर चोट लग जाने से वह बहुत करुणता से चिंघाड़ रहा था। नीरो, ने जब यह आवाज सुनी तो उसने महावत को बुलाया। बेचारा महावत सहमता हुआ हाथ जोड़कर नीरो के सामने हाजिर हुआ। बोला—हुजूर! मुझसे बहुत बड़ी गलती हो गई, माफ करें। एक हाथी खाई में गिर गया है।" नीरो ने अफसोस प्रगट करने के बजाय खुशी प्रगट करते हुए कहा—"हमारे पास जितने हाथी हों, उन्हें एक-एक करके इसी प्रकार खाई में डालो। मुझे उनकी आवाज बड़ी सुरीली लगती है।" महावत ने कहा—"इससे क्या लाभ होगा, सम्राट्? बेचारे तड़फ-तड़फ कर मरेंगे।" नीरो ने कहा—"तर्क मत करो। मैं कहता हूँ, वही करो।" बेचारे महावत को क्रूर नीरो के आदेशानुसार तमाम हाथियों को उसके मनोरंजन के लिए खाई में डालना पड़ा। बेचारे हाथी चिंघाड़ रहे थे, नीरो खुशी से फीडल बजाता था। इसलिए आज देखा जाय तो मनुष्य इन सिंह, साँप, बाघ, चीते और भेड़ियों आदि से भी भयंकर व जहरीला बना हुआ है। ये सिंह आदि कम से कम अपनी जाति पर तो कहर नहीं बरसाते, जबकि मानव आज दानव बनकर अपनी ही जाति पर बम वर्षा करके सत्यानाश कर डालता है। जिस आम जनता का दूसरे राष्ट्र से कोई द्वेष नहीं है, कोई विरोध नहीं है, कोई दोष भी नहीं है, उस पर अचानक बमवर्षा कर देना क्या है? किन्तु खेद की बात है कि बड़े-बड़े राष्ट्रों के मान्धाता आज आँखें मूँद कर भयंकर हिंसा को प्रश्रय दे रहे हैं। लाखों निरपराध व्यक्ति गाजर-मूली की तरह काटकर समाप्त किये जाते हैं। किसी की आँखें निकाली जा रही हैं, किसी

के हाथ-पैर काटे जा रहे हैं, तो किसी को जिन्दा ही जलाया जा रहा है। किसी को संगीनों पर उछाला जाता है। घायलों की मर्मान्तिक चीत्कारें दिल को हिला देती हैं, हजारों घर लूटे जाते हैं, जलाये जाते हैं। मौत नंगी होकर नाच रही है। कुमारी कन्याओं और सती-सुहागनों के साथ खुलेआम बलात्कार किये जाते हैं, फिर उन्हें गोलियों से भून दिया जाता है, छातियाँ काट डाली जाती हैं, गुप्तांगों में संगीनें भोंक दी जाती हैं। खुलेआम हत्याकाण्ड, लूटपाट, आगजनी आदि करके मनुष्य अपनी मानवता की हत्या कर रहा है। इन्सान शैतान हो जाता है, शैतान को भी शर्मिन्दा करने वाला।

बंगलादेश में पाकिस्तान के क्रूर व हिंसक व्यक्तियों द्वारा कितना अमानुषिक कृत्य किया गया था। इसीलिए मैं कहता हूँ इन हिंस्र पशुओं से भी वर्तमान मानव बाजी मार गया है। हिंसा में ये मनुष्य से बहुत पीछे हैं। हिंस्रपशु तो सामने आकर प्रत्यक्ष में किसी पर आक्रमण करता है, ये नर-पिशाच तो अनजाने ही सोते में अचानक हमला करके समाप्त कर देते हैं।

मनुष्य आज अपने स्वार्थों का कैदी बना हुआ है। अपनी दुष्ट इच्छाओं के प्रवाह में बहकर बेटा बाप को, भाई-भाई को मार डालने के लिए तैयार हो जाता है। उसे अपनी ही भूख-प्यास, स्वार्थ, वासना, सुख-सुविधाएँ नजर आती हैं। स्वार्थ का गहरे रंग का चश्मा लगाकर वह सारे संसार को देखता है। इस क्षुद्र स्वार्थ भावना का ही शिकार बने हैं—कूणिक, औरंगजेब आदि। राज्य सिंहासन के लिए उन्होंने अपने प्रियजनों का सफाया करने में कोई कोरकसर नहीं रखी।

एक बार कुछ अंग्रेज एक चिड़ियाघर देखने आए। वे शेर, चीते, भेड़िये आदि को देख रहे थे और आपस में बातचीत कर रहे थे कि इन शेर, चीते और भेड़ियों ने सदियों पहले जिस साँचे में अपने जीवन को ढाला था, आज भी वे अपने ढर्रे पर चल रहे हैं, कोई सुधार नहीं किया। मनुष्य ने कितना विकास कर लिया, पर ये आज भी वहीं के वहीं हैं। इतने ही में वे घूमते हुए चिड़ियाघर से बाहर निकले जब कोई चीज खरीदने के लिए जेबें टटोलीं तो साफ! एक भी पैसा नहीं। जेबकतरे जेबें साफ कर गए। उन्होंने अफसोस प्रगट करते हुए कहा—हम सोचते थे, मनुष्य ने बहुत विकास कर लिया है, लेकिन मनुष्य की अपेक्षा ये भेड़िये वगैरह ही अच्छे हैं, जिन्होंने इस प्रकार जेब काटना और वह भी अपनी जाति के प्राणी की, नहीं सीखा। मनुष्य अभी तक इन जानवरों से भी ज्यादा खूँखार बना हुआ है। आज मनुष्य को मनुष्य से ही अधिक खतरा पैदा हो गया है। अगर हिंसक होने के कारण सिंह जाति का संहार करना उचित हो तो सिंह जाति की हिंसा करने वाली मनुष्यजाति का संहार भी क्यों उचित नहीं माना जाएगा?

वास्तव में, इस विशाल धरती पर जैसे मनुष्य जाति को रहने का अधिकार है, वैसे ही सिंह आदि को भी रहने का अधिकार है। इस संसार में जो योग्यतम या

साधन सम्पन्न है, वही जी सकता है, वही रह सकता है, अगर पश्चिम के इस Survival of the fittest के सिद्धान्त को माना जाएगा तो दुनिया में फिर निर्बलों का जीना ही मुश्किल हो जाएगा। जो अपने को आज सबल मानता है, कल को उससे भी सबल आकर उसे मार गिराएगा। फिर उससे भी कोई सबल हुआ तो वह उसे मार गिराएगा, इस प्रकार 'मत्स्यगलागल' न्याय से दुनिया में कभी शान्ति स्थापित नहीं हो सकेगी।

इसलिए हिंस्रप्राणियों को मारने की अपेक्षा उनकी हिंसावृत्ति सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसे गाय, कुत्ता, भैंस, घोड़ा, हाथी आदि पहले जंगली और खूंखार जानवर थे, किन्तु मनुष्य ने प्रेम से ही इन्हें अपनाया, और धीरे-धीरे इन्हें अपने साथी और सहायक पालतू जानवर बना लिया, वैसे ही आज अगर मनुष्य चाहे और प्रयत्न करे तो सिंह आदि क्रूर जानवरों को भी पालतू और अहिंसक बना सकता है, इनके संस्कार बदल कर।

सुना है, जैनेन्द्र गुरुकुल पंचकूला में एक वैदिक संन्यासी दो सिंह शावकों को लेकर आए थे, उन्होंने बतलाया कि ये दोनों सिंह के बच्चे जन्म से ही दूध पिलाकर पाले गए हैं। अतः अब ये मांस बिलकुल नहीं खाते, दूध पीते हैं और कुत्ते की तरह पालतू बन गए हैं। ये किसी पर हमला नहीं करते और न गुर्राते हैं।

अतः यह समझना भी भूल है कि सिंह आदि एकान्तरूप से हिंसक ही होते हैं, उन्हें सुधारा नहीं जा सकता। कई सिंह तो ऐसे उपकारी, कृतज्ञ और दयालु होते हैं कि वैसे मनुष्य भी नहीं होते।

रोम में एंड्रूक्लीज नामक एक गुलाम था। उस जमाने में रोम में गुलामों के साथ अमानुषिकता का व्यवहार किया जाता था। उन पर कोड़े बरसाए जाते थे। उनकी फरियाद नहीं सुनी जाती थी। एंड्रूक्लीज भी अपने मालिक की क्रूरता से बहुत तंग आ गया। वह वहाँ से चल कर जंगल में भाग आया और यह सोचकर कि मालिक को पता लगने पर वह बुरी मौत मर जाएगा, इसकी अपेक्षा सिंह की गुफा में घुस जाऊं तो वहीं मेरा काम तमाम हो जाएगा। दुष्ट मालिक के क्रूर हाथों से मरने की अपेक्षा सिंह द्वारा मारा जाना कहीं अच्छा है। अतः वह एक सिंह की गुफा में घुस गया। कुछ ही देर में सिंह आया। उसके पंजे में कोई जहरीला तीखा कांटा घुस गया था, जिसके कारण वह घायल और पीड़ित हो रहा था। सिंह ने गुलाम के पास आकर उसके सामने पंजा किया। मानो वह कहता हो कि मेरा कांटा निकाल दो। गुलाम ने सोचा—मरते-मरते कुछ उपकार हो जाए तो अच्छा है। उसने सिंह का काँटा निकाल दिया। कांटा निकालते ही सिंह उसका पैर चाटने लगा।

एंड्रूक्लीज के मालिक को गुलाम के भागने के समाचार मिले तो उसने तलाश करने के लिए फौज भेजी। आखिर वह पकड़ा गया। संयोगवश उस सिंह को पिंजरे में बंद करके सैनिक ले आए थे एंड्रूक्लीज को सिंह के सामने डालने का मृत्युदण्ड सुनाया

गया। उसको सिंह के पिंजरे में छोड़ा गया, सिंह अपने उपकारी को पहचान गया। तीन दिन का भूखा होने पर भी उसने उसे नहीं खाया, बल्कि पूर्ववत् उसके पैर चाटने लगा। लोग चकित रह गए। ऐंड्रू को बादशाह के सामने पेश किया गया बादशाह ने जब उससे सारी बातें पूछीं तो उसने सभी बातें सच-सच बता दीं। बादशाह को गुलाम का वृत्तान्त सुन कर दया आई। उसने उसी दिन से गुलामों को न सताने का कानून बनाया और उस गुलाम का अपराध क्षमा कर दिया गया।

तात्पर्य यह है कि हिंस्रपशुओं को मार डालना या मारने का विचार करना उचित नहीं। हिंस्र पशु भी तभी हमला करता है, जब उसे सताने या मारने की भावना हृदय में हो। निर्वैर और निर्भय हृदय हो तो सिंह या साप सामने से निकल जाने पर भी कुछ नहीं कहता। सर्प भी इसी प्रकार की प्रकृति का है। कहते हैं—रमण महर्षि के आश्रम 'अरुणाचलम्' में बहुत से सांपों ने जंगल में से आकर अपना डेरा जमा लिया था। रमण महर्षि न उन्हें कभी छेड़ते थे और न वे ही कभी रमण-महर्षि को काटते थे। दोनों निर्भय और निर्वैर थे। अभी-अभी कुछ दिनों पहले अखबार में एक घटना पढ़ी थी, एक महिला सांपों के साथ प्रेम करने लगी। सांपों को हर समय गले में डाले फिरती, रात को भी सांप उसके बिस्तर पर लेट जाते हैं, सांपों का ही तकिया बनाकर सोती है, सांपों के साथ ही वह नाचती है। आज तक कभी उसे सांपों ने नहीं काटा।

एक आस्ट्रेलियन ने सर्कस कंपनी से एक सिंह खरीद लिया। उसे वह हरदम अपने पास रखने लगा। सिंह भी उसका प्रेम देखकर अहिंसक बनकर रहता है।

पशु-पक्षियों की संख्या घटाने के लिए वध करना मूर्खता है

कुछ व्यक्ति यह तर्क करते हैं कि यदि इन पशु-पक्षियों का वध नहीं किया जाएगा तो इनकी संख्या इतनी बढ़ जाएगी कि मनुष्यों को संसार में रहने के लिए स्थान मिलना कठिन हो जाएगा। भोजन के लिए खाद्य पदार्थ मिलना भी दुर्लभ हो जायेगा। इसका समाधान यह कि संख्यावृद्धि की शंका निर्मूल है, क्योंकि प्रकृति स्वयं इनकी संख्या पर नियंत्रण करती है। सर्दी, गर्मी, सूखा, वर्षा आदि प्राकृतिक कारणों से इनकी संख्या सीमित रहती है। आज तो मनुष्य स्वयं ही उनका मांस प्राप्त करने के लिए कृत्रिम संख्या बढ़ा रहा है। अपने स्वार्थ के लिए पहले तो पशु-पक्षियों की संख्या बढ़ाना, फिर उनका घात करना यह कहाँ तक न्यायोचित है ?

यदि ये मनुष्य सचमुच मानव-जाति की भलाई करना चाहते हैं, तो उसमें फैले हुए रोग, अभाव, युद्ध, घृणा, संघर्ष आदि से छुटकारा दिलाएँ। वे इन मूक पशुओं की हत्या के बजाय अपना समय तथा चिन्तन सर्वस्व मानवजाति के दुःख, अज्ञान आदि को दूर करने में लगाएँ।

मांस और चमड़े के लिए पशुहिंसा भी संकल्पी है

कई लोग मांस और चमड़ा प्राप्त करने के लिए पशुहिंसा करते हैं। लोग

अपने प्राइवेट कसाईखाने चलाते हैं, कई सरकार चलाती है। श्रावक न तो कसाईखाना स्वयं चलाता है, न चर्मालय ही, और न ही कसाईखाने या चर्मालय में वह हिस्सेदार (Partner) या शेयरहोल्डर बन सकता है। कई लोग कहा करते हैं कि हम मांस या टीन में बंद मांस बेचें तो क्या हर्ज है ? क्योंकि उस मांस में कोई जीव तो होता नहीं, या अंडे बेचें तो क्या हर्ज है ? आजकल के अंडे निर्जीव होते है ? अथवा हम चमड़ा बेचें तो कौन-सा पाप है ?

यह समझना नितान्त भूल है कि कसाईखाने में मांस या चमड़े के लिए काटे जाने वाले पशुओं की हत्या का पाप कसाई को लगेगा, हम तो केवल बेचते हैं। मारे हुए पशुओं का चमड़ा और मांस बेचने वाले, खरीदने वाले, भी इस हिंसा में पाप के हिस्सेदार हैं। पाप के मुख्य भागीदार तो वे व्यक्ति हैं, जो प्रेरणा या लालच देकर चमड़े या मांस का उत्पादन कराते हैं। आजकल फैशन की दृष्टि से लोग बहुत क्रूरता से मारे जाने वाले पशुओं के चमड़े[1] (क्रूम लेदर व काफ लेदर) से बने बूट ही नहीं, हैंड बैग, बटुआ, सूटकेश, पर्स, बक्स, कमर का पट्टा आदि खरीदते हैं। वे यह नहीं सोचते कि हमारे इस तुच्छ शौक के लिए कितने निरीह प्राणी क्रूरतापूर्वक मारे जाते हैं। केवल वर्तमान काल में बनी बनाई चीज को ही न देखें, किन्तु उस चीज को बनाने में कितनी हिंसा भूतकाल में हुई है, इसे भी सोचें। मनुस्मृति में स्पष्ट लिखा है—

अनुमन्ता, विशसिता, हन्ता च क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकः॥

पशुवध के लिए आदेश देने वाला, मारने वाला, मांस काटने वाला, बेचने और खरीदने वाला, पकाने, परोसने और खाने वाले, ये आठों व्यक्ति हिंसा दोष के भागी होते हैं। अतः श्रावक के लिए यह भी संकल्पी हिंसा है। श्रावक अव्वल तो चमड़े का उपयोग करेगा ही नहीं, मान लो, करना भी पड़ा तो वह स्वतः मरे हुए ढोरों के चमड़े की बनी हुई जूती आदि का इस्तेमाल करेगा। साबरमती के हरिजन आश्रम के चर्मालय में स्वतः मरे हुए पशुओं के चमड़े की बहुत-सी चीजें बनायी जाती हैं। अहिंसक चर्म निर्मित चीजें अहिंसा प्रेमी खरीदते हैं।

---

१ जीवित बैल, गाय या भैंस को पहले हाथ, पैर और मुंह बांध कर डाल देते हैं। फिर उस पर खौलता हुआ पानी और तेल आदि डालकर बैंतों से घंटों तक पीटा जाता है। ऐसा करने से रक्त का कुछ अंश चमड़े में समा जाता है तथा अधिक नरम व मजबूत बन जाता है, तब उसे मशीन या छुरी द्वारा पशु की जीवित अवस्था में ही शरीर से अलग कर देते हैं। यह क्रोम लेदर (नर्म चमड़ा) बनता है। काफ लेदर बनाने का तरीका तो और भी लोमहर्षक है। गाय को नमक का बहुत-सा पानी पिला कर खूब दौड़ाया जाता है, जिससे उसका गर्भ गिर जाता है। उस गर्भस्थ बच्चे का चमड़ा काटकर निकाला जाता है, जो बहुत ही नरम होता है। गाय कष्टपूर्वक मर जाती है।

पशुओं के नख, सींग, हड्डी, रक्त आदि प्राप्त करने के लिए भी उनका वध किया जाता है। मारवाड़ वगैरह में हाथीदांत का चूड़ा पहिनने का महिलावर्ग में रिवाज है। परन्तु हाथी का दाँत प्राप्त करने के लिए कितनी हिंसा होती है, इसका विचार श्रावकवर्ग को अवश्य करना चाहिए। इसी तरह कुछ लोग स्वयं इन पशुओं का शिकार तो नहीं करते, लेकिन शिकारियों द्वारा मारे गये शेर, बारहसिंगा, जंगली भैंसा आदि के चेहरों को मसाले द्वारा सुखाकर सजावट के तौर पर घर की दीवारों पर टांग देते हैं, इसी प्रकार छोटे घड़ियालों और अन्य कई जन्तुओं को भी मुर्दा हालत में भुस आदि भर कर सजावट के काम में लाया जाता है। यह कार्य प्रगट में तो विशेष दूषित नहीं जान पड़ता, परन्तु ऐसी वस्तुओं पर सदैव दृष्टि पड़ते रहने से ऐसे जीवों के जीवन-मरण के प्रति उपेक्षा की मनोवृत्ति उत्पन्न होती है, करुणा की भावना का भी नाश होता है। खासकर छोटे बालकों के मन पर भी ऐसे संस्कार पड़ते हैं कि वे पशुओं को जड़-पदार्थों की तरह अपने आमोद-प्रमोद के साधन समझने लगते हैं। धीरे-धीरे उनमें निर्दयता की भावना उत्पन्न हो जाती है।

विघ्न शान्ति एवं कुलाचार के नाम पर हिंसा

कई लोग यह सोचते हैं कि विघ्नों का शमन करने के लिए की हुई हिंसा में क्या आपत्ति है ? वह तो एक प्रकार से अहिंसा ही है। इसी प्रकार कई लोग कुल के रीतिरिवाज के नाम पर बकरे या भैंसे की बलि देने में कोई संकोच नहीं करते, किन्तु यह भी सरासर संकल्पी हिंसा है। आचार्य हेमचन्द्र ने स्पष्ट रूप से इसका निषेध किया है—

हिंसा विघ्नाय जायेत, विघ्नशान्त्यै कृताऽपि हि।
कुलाचार-धियाऽप्येषा, कृता कुलविनाशिनी॥

विघ्नों की शान्ति के लिए की जाने वाली हिंसा विघ्न ही पैदा करती है, इसी प्रकार कुल का आचार समझकर की गई हिंसा भी कुलविनाशिनी बनती है।

परीक्षण के नाम पर होने वाली निर्दयता

आजकल स्कूलों और कॉलेजों में जीव-विज्ञान की शिक्षा के नाम पर जो 'विविसेक्शन' पद्धति प्रचलित है, उससे भी मनुष्यों के हृदय में कठोरता और निर्दयता के भावों की वृद्धि होती है। इसके लिए मेंढक, खरगोश और अन्य कई प्रकार के जीवों को काटकर, जलाकर, तपाकर, टुकड़े-टुकड़े करके, बिजली का झटका देकर तरह-तरह के परीक्षण किये जाते हैं। इस प्रकार शिक्षा के नाम पर, निर्बल प्राणियों के साथ जो घातक व्यवहार किया जाता है, उनको कष्ट पहुँचा कर मारा जाता है, वह भी निन्दनीय है। अनेक विदेशी विद्वानों ने इसे अनावश्यक बताया है, इस तरह के निर्दयतापूर्ण और अनैतिक परीक्षण किये बिना भी शिक्षा दी जा सकती है। खासकर छोटी अवस्था में बालकों के सम्मुख इस प्रकार का उदाहरण उपस्थित करने से उनकी कोमल

मनोभावनाओं का नाश हो जाता है, वे अपने भावी जीवन में विशेष स्वार्थी और अन्य लोगों के सुख-दुःख के प्रति उपेक्षाभाव रखने वाले बन जाते हैं।

औषधियों के लिए जीवों की हिंसा

औषधियों के लिए जीव-जन्तुओं का वध करना भी संकल्पी हिंसा है। उदाहरण के लिए 'कॉड लिवर आइल' बनाने के लिए लाखों मछलियों को नष्ट किया जाता है। और भी बहुत-सी दवाइयाँ पशु-पक्षियों को मार कर बनाई जाती हैं। बिच्छुओं का जहर प्राप्त करने के लिए अनेक बिच्छुओं को शीशियों में बंद करके उनके मर जाने पर विष निकाला जाता है। कई पशुओं का रक्त, हड्डियाँ, चर्बी, अंग आदि दवाइयों में पड़ते हैं। कुछ वर्षों पहले एक पत्रिका में पढ़ा था कि पिछले पाँच वर्षों में भारत से दो करोड़ सांप विदेशों में निर्यात किये गए हैं। वहाँ वे सांप को छेड़कर उनके मुँह पर रेशमी थैली बाँध देते हैं। और उसके द्वारा उस सर्प का जहर निकाल लिया जाता है। यह विष अनेक दवाइयों में डाला जाता है। फिर उन निर्विष साँपों को मारकर उनकी कोमल चमड़ी से कमर के पट्टे तथा ऐसी कोमल वस्तुएँ बनाई जाती हैं।

इस प्रकार की हिंसा संकल्पी है, जो किसी भी अहिंसाप्रेमी श्रावक के लिए न तो स्वयं करनी उचित है, और न ऐसी हिंसाजनित दवाइयों का बेचना, खरीदना व सेवन करना अच्छा है।

मनोरंजन के लिए पशु-पक्षियों को लड़ाना भी हिंसा है

कई बार लोग अपने शौक के लिए पशु-पक्षियों को पालते हैं, फिर उन्हें आपस में बुरी तरह लड़ाते हैं। कई जगह सांड़ों या पांड़ों को लड़ाने का रिवाज है। कहीं मुर्गों को, कहीं शुतुर्मुर्गों को, कहीं घोड़ों को नशा कराकर दौड़ाने की प्रथा है। इस प्रकार से पशुओं या पक्षियों को लड़ाना या उन्हें बुरी तरह (मेलों-ठेलों या उत्सवों में) दौड़ाना भयंकर हिंसाजनक है। वे इससे लहुलुहान हो जाते हैं, कई बार उनके अंग-भंग हो जाते हैं।

धन पिशाचों द्वारा कई प्रकार से हिंसा

आजकल संसार में येन-केन-प्रकारेण अर्थोपार्जन की अंधा-धुंध प्रवृत्ति चल रही है। कई लोग स्वयं अंडे या मांस का सेवन नहीं करते, किन्तु उनकी लचर दलील यह है कि अंडे बेचें या मत्स्यपालन करें तो क्या हर्ज है? आजकल सरकार भी जगह-जगह मुर्गी-पालन तथा मत्स्योत्पादन के केन्द्र खुलवाती है। कई नामधारी श्रावक लोग भी इस बहती गंगा में हाथ धो लेते हैं। सचमुच यह भयंकर हिंसा का कार्य है। स्वयं हिंसा न करने पर भी कराने व अनुमोदन का भयंकर पाप लगता है। अतः श्रावक को ऐसा अर्थपिशाच नहीं बनना चाहिए। बहुत-से सात्विक धंधे हैं, जो मानव सेवा करते हुए चल सकते हैं। कई लोग शराब का कारखाना खोलते हैं या भट्टियाँ चलाते हैं, अथवा शराब बेचते हैं, अन्यथा स्वयं पीते हैं, वे यह नहीं जानते कि शराब बहुत से जीवों को मारकर महुआ, जौ, गुड़ आदि को सड़ाने से बनती है। इसमें अनेक त्रस

जीवों की उत्पत्ति होती है। शराब पीने वाले का दिल-दिमाग कुण्ठित हो जाता है, नशे में चूर होकर वह चाहे जहाँ गिर जाता है, शराब के नशे में बेभान होकर मनुष्य क्या खाक अहिंसा धर्म का पालन करेगा ? वह तो धर्म-कर्म सब भूल जाता है। इसलिए मद्य का सेवन करने, बेचने, बनाने, कारखाना लगाने या उसमें शेयर डालने से हिंसा का दोष अवश्य लगता है।

देव-गुरु-धर्म और अतिथि के लिए हिंसा भी वर्ज्य

कई लोग लौकिक स्वार्थ या कुरूढ़िवश[1] देव या देवी के आगे पशु, पक्षी और मनुष्य तक की बलि दे देते हैं। वे यह भी कहते हैं—[2]धर्म का विचार देवता से मिला है, इसलिए देवों को पशु-पक्षियों की बलि देने में हिंसा ही नहीं है। देवता बलि देने से प्रसन्न होकर वरदान दे देते हैं। इस प्रकार जो मूढ़, देवी-देवों को भेंट चढ़ाने के बहाने अथवा यज्ञ के निमित्त पशुओं को होमकर जो निर्दय हिंसा करते हैं, वे अवश्य ही दुर्गति में जाते हैं। इसी प्रकार जो यह कहते हैं कि भगवान का धर्म अतीव गहन और सूक्ष्म है, जो हमें प्राप्त हुआ है, अतः धर्म के लिए जीव हिंसा करने में कोई दोष नहीं, वे भी धर्ममूढ़ हैं। तथा किसी पूज्य के आने पर या अतिथि के आने पर जो उनके निमित्त से बकरे आदि का वध करने में कोई दोष नहीं मानते, वे भी दुर्विवेक युक्त बुद्धि वाले हैं। देवता, धर्म, अतिथि या पूज्य किसी के लिए भी जीव हिंसा करना उचित नहीं है। हिंसा कभी अहिंसा नहीं बन सकती, फिर जो संकल्प करके मारने की बुद्धि से हिंसा की जाती है, वह तो तीन काल में भी अहिंसालक्षी हो नहीं सकती। बहुत-से आदिवासी भूत-प्रेतों और दुःख तथा बीमारी को दूर करने के लिए देवताओं को प्रसन्न करने हेतु पशुओं और मनुष्यों की बलि देते हैं। सन्तान या धन पाने की इच्छा से भी कई मूढ़ लोग अमुक बच्चे की बलि दे देते है। यह अज्ञानजनित घोर हिंसा है।

बलिदान के नाम पर देवी-देवताओं के सम्मुख बकरा, भैंसा, सूअर, मुर्गा आदि जीवों का क्रूरतापूर्वक काटा जाना भी पशुओं पर होने वाला महान् अत्याचार है। यह आश्चर्य की बात है कि वैदिक धर्म में एक ओर तो वेदों, उपनिषदों, दर्शनों

---

१ देवोपहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवा।
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा, घोरा ते यान्ति दुर्गतिम्॥ —योगशास्त्र पृ० २,३९

२ सूक्ष्मो भगवद्धर्मो, धर्मार्थं हिंसने नदोषोऽस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः ॥७९॥
धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमहिंसत्वम्।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां प्राप्य न देहिनो हिंस्याः ॥८०॥
पूज्य निमित्तघाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति सम्प्रधार्य कार्यं, नातिथये सत्व संज्ञपनम् ॥८१॥ —पुरुषार्थ०

और गीता का सर्वोच्च तत्त्वज्ञान पाया जाता है, जिनमें आत्म-कल्याण के लिए 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के स्वर गूंज रहे हैं, दूसरी ओर अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए बेचारे निरपराध प्राणियों का सरेआम वध किया जाता है और वह इहलौकिक या स्वर्गादि का सब्जबाग का स्वार्थ भी कभी पूर्ण होता नहीं, केवल पंडों-पुजारियों या याज्ञिकों की क्षणिक जिह्वातृप्ति हो जाती है। सचमुच निरपराध पशुओं के गर्दन पर छुरी चलाना, या बकरे आदि भेंट चढ़ाकर देवी पूजकों से कटवाना स्पष्ट कसाईपन है। यदि ऐसे ही घृणित कार्यों से पुण्य मिलता और स्वर्ग हो जाता तो कसाई, व्याध, मछुआ, देवीपूजक कभी के स्वर्ग पहुँच जाते। जानबूझकर किसी जीव को मारना या अकारण ही कष्ट पहुँचाना, कभी अहिंसा नहीं हो सकती। सभी धर्मों ने इसे निन्दनीय माना है। जो देवी, जगदम्बा—जगत् की माता कहलाती है, वह भला अपने पुत्र समान पशु-पक्षियों का भक्षण कैसे करेगी ? जिन देवों को परमात्मा का अंश मानते हैं, धर्मात्मा मनुष्यों के उपकारी बताते हैं, क्या वे इन निर्दोष पशु-पक्षियों के रक्त-मांस से प्रसन्न हो सकते हैं ? ऐसे घृणित कुकृत्य करने वालों को धन, संतान, सुख, सौभाग्य का उपहार मिल जाए तो फिर नरक किसको मिलेगा ? जिस अल्लाह को परमपिता परमात्मा माना जाता है, क्या वह बकरों की कुर्बानी (बलि) देने से कभी खुश हो सकता है ? ये सब मांस-लोलुप लोगों की करतूतें हैं। धर्म-ग्रन्थों से पशुवध का कहीं समर्थन नहीं मिलता। पर आश्चर्य है, आज भी कई मूढ़ लोग अपनी संतान को देवी के आगे बलि चढ़ा देते हैं।

इसी प्रकार जो लोग धर्म के नाम पर आपस में लड़ते-लड़ाते हैं, सिर-फुटौव्वल मचाते हैं, दूसरे धर्म के लोगों को बलात् धर्म-परिवर्तन कराते हैं, तलवार के जोर पर या प्रलोभन देकर धर्मान्तर कराते हैं, वे लोग भी मानव हिंसा के भागी होते हैं। चाहे वे तलवार से हिंसा न करते हों, किन्तु मानसिक हिंसा में तो दूसरों से बाजी मार ले जाते हैं।

इस प्रकार किसी तरह से हो स्वार्थ का पोषण करने के लिए या धन कमाने के लिए मन्दिरों, धर्मस्थानों या देवी-देवस्थानों में पशु-पक्षीवध करना भी घोर हिंसा है।

क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या या प्रतिशोध के वश शारीरिक मानसिक कष्ट देना

मनुष्य किसी व्यक्ति से बदला लेने के लिए, तरक्की न सह सकने के कारण, दूसरों को नीचा गिराने के लिए या अपदस्थ करने के लिए नाना प्रकार के हथकंडे करता है, उस व्यक्ति को शारीरिक व मानसिक यातनाएँ देता है, मरवाता-पिटवाता है, जहर देता है या दिला देता है, घायल कर देता है, धोखे से मारता है। श्रावक के लिए इस प्रकार की घृणित और घोर हिंसाएँ सर्वथा त्याज्य हैं। बल्कि श्रावक ऐसी मुकद्दमेबाजी भी कदापि किसी के साथ नहीं करेगा, जिसमें केवल अहंकार बुद्धि कारण हो। मगर आजकल दुःस्वार्थ की एक ऐसी हवा चल रही है कि छोटी-छोटी बात के

लिए भाई-भाई आपस में सिर फोड़ने को तैयार हो जाते हैं। सिर्फ अपनी नाक ऊँची रखने के लिए कोर्ट में वर्षों तक मुकदमेबाजी की जाती है।

बम्बई की घटना है। वहाँ के दो भाइयों ने अपनी सम्पत्ति व जमीन-जायदाद का बँटवारा कर लिया। मगर एक सुपारी का पेड़, जो बड़े भाई का बोया हुआ था, छोटे भाई की जमीन के हिस्से में आ गया। बड़े भाई ने कहा—"मैंने इस पेड़ को बोया है, इसलिए इस पेड़ पर मेरा हक है।" इस पर छोटे भाई ने तुनक कर कहा—"तुमने बोया तो क्या हुआ, यह तो मेरे हिस्से की जमीन में आ गया है, इसलिए इस पर अब तो मेरा हक है। अगर ज्यादा ही करो तो यह हो सकता है कि एक वर्ष तक इसकी सुपारी तुम लो, और एक वर्ष मैं लूं।" पर बड़े भाई ने अभिमानवश कहा—"ऐसा नहीं हो सकता। मैं तुम पर मुकद्दमा चलाऊँगा, तब तो तुम्हें मुझे यह देना ही पड़ेगा।" आखिर कोर्ट में मुकदमा चला। दोनों पक्ष के लाखों रुपये मुकदमेबाजी में स्वाहा हो गए, मगर फैसला न हो सका। आखिर एक दिन न्यायाधीश उस पेड़ का मुआयना करने आए। उन्होंने देखकर पुलिस को आदेश दिया—"उखाड़ डालो इस विनाशकारी पेड़ को, जिसके कारण अभी तक दोनों भाइयों को और सम्बन्धित लोगों को इतनी हैरानी उठानी पड़ी।" आखिर पेड़ काटा गया, तब जाकर उन दोनों भाइयों को शान्ति हुई। भला, सुपारी का पेड़ कटवाने की अपेक्षा, एक भाई के हिस्से में रखना या एक-एक वर्ष बारी-बारी से उसकी उपज ले लेना क्या बुरा था? पर इस प्रकार की मुकदमेबाजी से द्रव्य हिंसा से कई गुनी तो भावहिंसा हो जाती है। श्रावक ऐसी संकल्पी भावहिंसा को कदापि नहीं अपना सकता।

सामाजिक कुप्रथा के नाम पर भयंकर हिंसा

कई जातीय एवं सामाजिक कुप्रथाएँ प्राचीनकाल में भी प्रचलित थीं, वर्तमान में भी कहीं-कहीं प्रचलित हैं, उनमें सिर्फ हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है, केवल शारीरिक हिंसा ही नहीं, मानसिक हिंसा भी ऐसी कुप्रथाओं के पोषण से होती है।

उदाहरण के तौर पर—बंगाल में सती-प्रथा का प्रचलन था। पति के मरने के बाद उसकी विधवा पत्नी को अपने पति के शव के साथ चिता में जल कर मरना पड़ता था। कितनी भयंकर क्रूर प्रथा थी यह! अगर कोई स्त्री मरना नहीं चाहती तो, उसके रिश्तेदार उस पर दबाव डालते थे, और उसे जबरन चिता में बिठा देते थे। उसकी चीख-पुकार कोई सुन न सके, इसके लिए जोर-जोर से ढोल बजाया जाता और कोलाहल किया जाता था। यों रिब-रिबकर आर्तध्यान करती हुई बेचारी स्त्री मर जाती थी। यह धर्म था या घोर पाप? धर्मपालन में जबर्दस्ती नहीं होती। और यह भी भला कोई तुक है कि पति के साथ जल मरने से पत्नी भी वहीं पहुँच जाती है, जहाँ उसका पति पहुँचा हो। प्रत्येक प्राणी अपने-अपने शुभाशुभ कर्मानुसार गति और योनि पाता है। यह कोई निश्चित नहीं है कि पत्नी भी वहीं पहुँचे, जहाँ उसका

पति गया हो। अतः इस घोर हिंसा को राजा राममोहनराय ने बन्द कराया। श्रावक के लिए ऐसी संकल्पी हिंसा सर्वथा त्याज्य है।

इसी प्रकार की एक कुप्रथा थी, गर्भवती सुन्दरियों की कालीदेवी के आगे बलि देने की। कितनी घोर यातना होती थी, इस कुप्रथा के पालन से? उस समय के अंग्रेज वायसराय ने रातभर में क्रूर काली मन्दिर को नष्ट करवा दिया और सदा के लिए इस कुप्रथा की इतिश्री करवा दी।

इसी प्रकार मारवाड़ एवं गुजरात में कई जगह मृतक के पीछे महीनों तक रोने, आँसू बहाने और छाती-माथा कूटने का भयंकर रिवाज है।

श्रावक इस शारीरिक और मानसिक हिंसाजनक कुप्रथा का समर्थन कैसे कर सकता है? रोने-पीटने और छाती-माथा कूटने से बहनों के शरीर एवं मन की कितनी दुर्दशा होती है, यह सब जानते हैं। आर्तध्यान करने से मानसिक हिंसा होती है।

जैन, वैष्णव आदि धर्मों के सिवाय दुनिया में अन्य कई धर्मों के लोग हैं, वे अपने पारिवारिक-जन की मृत्यु के बाद मृतक को बहुत ही शान्त, गम्भीर मनोदशा में धीमी गति से कब्र इत्यादि स्थानों पर ले जाते हैं, और उसकी अन्त्येष्टि क्रिया करते हैं। अपने इष्ट देव का नाम लेते हैं। घर आने के बाद मृतक की शान्ति के लिए शान्ति के आन्दोलन पहुँचाते हैं। फिर जैन-वैष्णवों को क्या हो गया, जिनका तत्त्वज्ञान इतना उच्च है, जो जीवन-मरण की क्रिया को स्वाभाविक मानते हैं, मरण क्रिया को चोला बदलने की तरह मानते हैं।

इसी प्रकार पूर्वकाल में राजपूतों में एक भयंकर प्रथा थी, लड़की को जन्म लेते ही मार डालने की। वह भी बहुत ही हिंसामय थी। ऐसी कुप्रथाओं का समर्थन भी श्रावक कदापि नहीं कर सकता।

धन, स्त्री, सन्तान आदि का अपहरण करना भयंकर हिंसा है

मनुष्य यों तो किसी के धन, स्त्री या पुत्र आदि का अपहरण करे तो चोर, लुटेरा या डाकू कहलाता है, समाज में उसकी भर्त्सना होती है, सरकार से सजा मिलती है। परन्तु धर्म के अंचल में ऐसी कई ठगियाँ मनुष्य कर लेता है, दूसरों को विश्वास में लेकर, दूसरों को अपने किसी चमत्कार, वाक्पटुता, ज्योतिष, हस्तरेखा आदि विद्या कौशल से प्रभावित करके दूसरों का धन आसानी से अपहरण कर लेता है। कई बार दूसरों की बहन-बेटियों को भी उड़ा ले जाता है, बच्चों को भी उठा ले जाता है, बेच देता है या मार डालता है। धन का लोभ ऐसा पिशाच है, जो बड़े-बड़े अनर्थ करवा देता है। धर्मात्मा श्रावक को ऐसी संकल्पी हिंसा से बचना आवश्यक है।

कटु मर्मस्पर्शी वचन व मिथ्यारोप आदि भी हिंसा हैं

द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों को, जिनमें मनुष्य भी है, केवल जान से मार डालना ही हिंसा नहीं है, अपितु जानबूझ कर उन्हें सताना, भयभीत करना, प्रहार करना, अंग-भंग करना, गुलाम बनाकर बन्धन में डालना, यातनाएँ देना, झूठा दोषारोपण करना, मर्मस्पर्शी वचन बोलना, कटुशब्द कहना, अपमानित करना, आदि भी हिंसा है, और ऐसी हिंसा इरादे-पूर्वक निरपराध की होने से प्रायः संकल्पी हिंसा में समाविष्ट होती हैं।

एक जगह एक जैन भाई, जो धर्मात्मा श्रावक था। उसकी पत्नी गुजर चुकी थी। प्रौढ़ वय थी। एक दिन पड़ौस की कोई लड़की त्यौहार के उपलक्ष में कुछ मिठाई देने गई। उस समय उसके मौन होने से वह कुछ बोला नहीं, लड़की मिठाई रखकर चल पड़ी। जब वह दरवाजे से बाहर निकलने लगी तो एक भाई ने देखा। वह ईर्ष्यालु था, उक्त धर्मात्मा श्रावक से द्वेष रखता था। अतः उसने झूठमूठ बात बनाई और लोगों में प्रचार करने लगा कि "मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है, अमुक भाई का अमुक लड़की के साथ अनुचित सम्बन्ध है।" लड़की के रिश्तेदारों के कानों में यह बात पहुँची। उन्होंने लड़की से पूछा तो लड़की ने साफ इन्कार कर दिया। परन्तु उक्त धर्मात्मा भाई से उन्होंने पूछा नहीं, यों ही व्यर्थ के बहम के शिकार हो गए। मिथ्या दोषारोपण की बात बढ़ती गई। उस धर्मात्मा भाई के लिए यह असह्य हो गया। उसने कुछ लोगों के सामने स्पष्टीकरण भी किया, लेकिन बात रुकी नहीं। आखिर इसी असह्य मिथ्यारोपण के कारण उस भाई को आत्महत्या करनी पड़ी।

किसी पर सहसा दोषारोपण करना बहुत बड़ी हिंसा है। श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है।

राजनैतिक हिंसाएँ

आजकल जहाँ देखो, वहाँ राजनीति की चर्चा है। राजनीति में वर्तमान युग में धर्म की मात्रा बहुत कम रह गई है। छल-कपट, धोखा-फरेब, तिकड़मबाजी, दूसरे को सत्ता से नीचे गिराने के लिए नाना हथकंडे करना, चालबाजी से अपनी कुर्सी जमाए रखना आदि बातें वर्तमान राजनीति में आम हो गई हैं। धर्मक्षेत्र में, यहाँ तक कि पारिवारिक क्षेत्र में भी ऐसी राजनीति गहरी घुस गई है। परिवार में भाई-भाइयों के बीच, पिता-पुत्र के बीच तथा अन्य परिजनों के बीच इस प्रकार की राजनीति—जिसे बाजनीति कहना चाहिए—प्रविष्ट हो चुकी है। धर्मक्षेत्र में—एक गुरु के शिष्य परिवार में, गुरु-शिष्य के बीच, एक ही सम्प्रदाय के अनुयायियों में परस्पर प्रायः कई जगह राजनैतिक चालें चली जाती हैं।

खैर, ऐसा करना व्रती श्रावक के लिए तो संकल्पी हिंसा में शुमार है। साथ ही सत्तासीन पार्टी को मजबूर करने और सत्ता हथियाने के लिए कई सत्ताकांक्षी राजनैतिक नेता तोड़-फोड़, दंगे, आगजनी, उपद्रव, घेराव, बन्द और हड़ताल आदि

करके या कराकर भयंकर संकल्पी हिंसा को प्रोत्साहन देते हैं, भड़काते हैं। राष्ट्रीय सम्पत्ति का नाश करते हैं, राष्ट्र का उत्पादन ठप्प करते हैं, जनता में हिंसा की भावनाओं को उभारते हैं। इससे वे जनता में द्वेष, घृणा, वैर-विरोध, क्रोध, अहंकार ईर्ष्या एवं क्षुद्रस्वार्थ का वातावरण फैलाते हैं। इसलिए ये सब बातें संकल्पी हिंसा में ही गिनी जाएँगी, जिसका श्रावक को त्याग करना लाजिमी है।

दया के लिए हिंसा भी घोर अनर्थकारिणी

कोई यह शंका कर सकता है कि जो प्राणी बहुत कष्ट में है, जिसकी बीमारी औषध देने पर भी मिट नहीं रही है, वह अपने कष्ट से शीघ्र छुटकारा पा ले तो उसमें कौन-सी हिंसा है ? अथवा दूसरे कष्टपीड़ित प्राणी को कष्ट और पीड़ा से मुक्त करने के लिए शस्त्र, विष या इंजेक्शन के द्वारा मार दिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

प्रथम शंका का समाधान यह है कि श्रावकधर्मी गृहस्थ चाहे जितने ही कष्ट में हो, प्रथम तो वह अपने कष्ट से छुटकारा पाने के लिए आत्महत्या का विचार ही नहीं कर सकता। क्योंकि आत्महत्या के समय उस व्यक्ति के मन में कोई धर्म-ध्यान तो होता नहीं, आर्त्तध्यान ही होता है। आर्त्तध्यान से पीड़ित व्यक्ति शुभ भावना के साथ नहीं मरता, इसलिए उसकी शुभगति तो होनी असम्भव है। सम्भव है, दूसरी गति या योनि में उसे इस जन्म की अपेक्षा भी अधिक कष्ट भोगने पड़ें। इसलिए ऐसे असाध्य रोग, पीड़ा या कष्ट के समय श्रावक को समभाव से उसे सहना चाहिए, जिससे कर्म क्षय हों, नया कर्मबन्ध न हो। श्रावक को उस समय यही विचार करना चाहिए कि हे जीव ! ये तेरे ही किये हुए कर्मों के फल हैं, ये समभाव से तुझे ही भोगने हैं। आर्त्तध्यान करने से या निमित्तों को कोसने से मोह, द्वेष, घृणादि दुर्भाव पैदा होंगे, जो भावहिंसा के जनक हैं। कष्ट से छुटकारा पाने के लिए अपने प्राणों का घात करना अपने प्रति दया नहीं है, बल्कि आत्महिंसा है।

दूसरी शंका का समाधान यह है कि अत्यन्त रोगग्रस्त या कष्ट पीड़ित प्राणियों को वेदना से छुड़ाने के लिए शस्त्र, विष या इंजेक्शन दे या दिलाकर मार देने में भी उसके प्रति दया नहीं है, बल्कि उसकी गति बिगाड़ना है। कोई भी प्राणी चाहे कितने ही कष्ट में क्यों न हो, इस प्रकार शीघ्र मरना नहीं चाहता। आचार्य हेमचन्द्र ने इस सम्बन्ध में कहा है—

म्रियस्वेत्युच्यमानोऽपि देही भवति दुःखितः।
मार्यमाणः प्रहरणैर्दारुणैः, स कथं भवेत् ॥

—'मर जाओ' ऐसा कहे जाने पर भी प्राणी दुःखित हो जाता है, तब फिर भयानक शस्त्रों या अन्य साधनों से मारे जाने पर बेचारे उस प्राणी की क्या दशा होती होगी ? इसलिए इस प्रकार अकाल में ही किसी के प्राणों का वियोग कर देना श्रावक के लिए ठीक नहीं है। अगर किसी के माता-पिता या भाई आदि को असाध्य रोग

हो जाय, और सेवा-शुश्रूषा करने पर भी उन्हें आराम न होता हो, पीड़ा से कराह रहे हों तो क्या कोई पुत्र या भाई उन्हें मार देना पसन्द करेगा ? कदापि नहीं। जब अपने माता-पिता के सम्बन्ध में मार देने का निर्णय उचित नहीं माना जाता, तो बेचारे मूक प्राणी के लिए मारने का निर्णय कर लेना कैसे उचित हो सकता है ?

ऐसा करने से मानव की कोमलवृत्तियाँ, अन्तःकरण स्थित दया-भावना आदि समाप्त हो जाएँगी और इस प्रकार की अनर्थ परम्परा चल पड़ने पर कोई भी व्यक्ति जब-तब अपने अप्रिय परिजन या किसी भी अप्रियजन को मार डालते देर नहीं लगाएगा। कई लोग अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर अथवा अपने प्रेम में विघ्नकारक समझकर अपने पुत्र-पुत्री, अपनी पत्नी या अन्य सम्बन्धित व्यक्ति को विष या इंजेक्शन देकर हत्या कर डालते हैं। यह दया नहीं है, संकल्पी हिंसा है। मान लो, मारने की भावना न हो और रोगी की पीड़ा सही नहीं जाती हो तो, उसे सान्त्वना देनी चाहिए, उसके मन में पीड़ा को समभाव से सहने की वृत्ति पैदा करनी चाहिए, ताकि वह आर्त्तध्यान से बच सके। और फिर यह निर्णय प्रत्येक दशा में करना भी कठिन है कि रोगी अब बचेगा ही नहीं। कभी-कभी ऐसे रोगी भी बच जाते हैं, जिनके बचने की कोई संभावना नहीं होती। मान लो, ऐसा निश्चय भी हो जाय कि अब रोगी बचेगा नहीं, तो उसे संल्लेखना-संथारा करना चाहिए, ताकि धर्मपालन करते हुए उसका शरीर छूटे।

धार्मिक दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक जीव को जो भी कष्ट मिलता है, वह उसके पूर्वकृत पापकर्मों के फलस्वरूप मिल रहा है। अगर विषादि प्रयोग से उसको मार दिया जाता है तो उससे उसके पाप नष्ट नहीं हो जाते, अपने पापों का फल तो उसे देर-सबेर भोगना ही पड़ेगा। इसलिए इस योनि से छूट जाने से उसे कष्ट से कैसे छुटकारा मिल जाएगा ? श्रावक का कर्त्तव्य यह है कि कष्ट पा रहे जीव यदि मानव हों तो उन्हें आश्वासन दिया जाए, समझाया जाय, समभाव से कष्ट सहने की वृत्ति के लिए प्रेरणा दी जाए, उनकी सेवा-शुश्रूषा की जाए, उन्हें भरसक सुख-शान्ति पहुँचाई जाए। पशु आदि हों तो भी उनकी भरसक सेवा की जाए, उपचार का प्रबन्ध किया जाए। मन में उनको सुख-शान्ति प्राप्त होने की भावना की जाए। श्रावक के इन शुभ प्रयत्नों से अगर उन्हें सुख-शान्ति नहीं मिलती है तो यह उसके वश की बात नहीं है।

प्राचीनकाल में एक दुःखमोचक मत भी भारत में प्रचलित था, उसका भी मन्तव्य यही था कि[1] जो प्राणी बहुत ही दुःखी हैं, उन्हें अगर मार डाला जाय तो वे शीघ्र ही दुःख से छुटकारा पा जाते हैं। किन्तु भगवान महावीर ने इस मत का

---

१ बहुदुःखाः संज्ञयिता प्रयान्ते त्वचिरेण दुःख विच्छित्तिम्।
इति वासना कृपाणीयादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्यः॥ —पुरुषार्थ० ८५

खण्डन किया था। एक मत और था उस युग में, जिसका मन्तव्य यह था कि[१] सुख की प्राप्ति बड़ी मुश्किल से होती है, इसलिए सुखी लोगों को सुखी अवस्था में मार दिया जाय तो वे मरने के बाद भी सुखी ही होते हैं। यह मत भी मिथ्या है। क्योंकि किसी व्यक्ति को सुखी हालत में मारने से उसे मरने की हालत में सुख होगा या दुःख? मरने वाले को कभी सुख नहीं होता, यह बात निश्चित है। और मरने के समय जब आर्त्तध्यान होगा, दुःख और पीड़ा से प्राण निकलेंगे, तब मरने के बाद सुख का स्थान कैसे मिल सकेगा? क्योंकि मरते समय जिसकी जो लेश्या या भावना होती है, तदनुसार ही उसकी गति होती है। इसलिए सुखी लोगों से धन ऐंठकर उनको मरने के बाद सुख का सब्जबाग दिखाना निरी वंचना है, ठगी है।

इसी प्रकार की धर्म के नाम पर ठगी प्राचीन युग में वाराणसी में कुछ स्वार्थी पण्डों द्वारा की जाती थी। धनाढ्य व्यक्तियों से काफी रुपये ऐंठकर उनको कहा जाता था कि हम तुम्हें काट कर गंगाजी में बहा देंगे, जिससे तुम सीधे स्वर्ग में पहुँच जाओगे, जहाँ तुम्हें सब प्रकार के सुख मिलेंगे। बेचारे भोले-भाले अन्धविश्वासी लोग इन धर्मान्ध स्वार्थी पंडों के चक्कर में आ जाते थे। तत्पश्चात् पंडे उन्हें काटकर गंगाजी में बहा देते थे। क्या स्वर्ग का मार्ग इतना आसान है? तब तो वे पंडे स्वयं क्यों नहीं गंगाजी में डूबकर मर जाते या अपने माता-पिता को काट कर गंगाजी में क्यों नहीं बहा देते, जिससे उन्हें शीघ्र स्वर्ग मिल जाए।

घटचटक-मोक्ष भी हिंसाजनक होने से भ्रम है

अन्धविश्वास के उस युग में एक मत था—खारपिटक। उनका मन्तव्य था कि जो व्यक्ति आसानी से मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे हमें इतनी अर्थराशि दे दें।[२] जब कोई भोली-भाली चिड़िया उनके वाक्जाल में फँस जाती है, तब वे उसे पहले शरीर और संसार की अनित्यता का वैराग्यपूर्ण उपदेश देते हैं और जैसे एक चिड़िया को घड़े में बंद करके ऊपर मजबूती से ढक्कन लगाकर रख देने से वह थोड़ी ही देर में दम घुटकर मर जाती है, वैसे ही तथाकथित मोक्षार्थी को खारपिटक मत के गुरु एक छोटे से जहाँ हवा का बिलकुल प्रवेश न हो सके, इस प्रकार से चारों ओर से बंद किये हुए कमरे में प्रवेश कराकर बाहर से ताला लगा देते हैं। तथाकथित मोक्षार्थी कुछ ही देर में दम घुटकर मर जाता है। फिर उसके शव को निकाल कर उसकी अन्त्येष्टिक्रिया कर देते हैं। यह क्रिया अत्यन्त गुप्त रखी जाती है। परन्तु मारने की यह क्रिया किसी शस्त्र, विष या अन्य तरीके से नहीं की जाती, सिर्फ

---

१ कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलायः सुखिनां घातायनादेयः॥ —पुरुषार्थ० ८६

२ धन-लव पिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्।
झटिति घटचटकमोक्षं, श्रद्धेयं नैव खारपिटकानाम्॥ —पुरुषार्थ० ८७

निर्वात स्थान में दम घुट कर मरने को डाल दिया जाता है। यह आत्महिंसा भी है और संकल्पी हिंसा भी। मुफ्त में धन कमाने का हथकंडा है, अतः श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है।

गुरु का सिर काटकर समाधि दिलाने की हिंसापूर्ण क्रिया

'गुरु अपने शिष्य को बार-बार यह उपदेश देता रहता था कि मैं जब समाधि ले लूँ, श्वास ऊपर खींच लूँ, तब तू मेरा मस्तक काट देना, इससे मुझे सद्गति प्राप्त हो जाएगी';[1] इस प्रकार का समाधिप्रापक एक मत था, उस युग में। लेकिन स्वस्थ, सशक्त, धर्मपालन में सक्षम शरीर को श्वांस बंद करके तथाकथित समाधि के रूप में समाप्त करने का प्रयास करना और शिष्य के द्वारा मस्तकछेदन की क्रिया कराना, कोई भी अहिंसक तरीका नहीं है, यह आत्महिंसा भी है और शिष्य के लिए गुरुहत्या संकल्पी हिंसा भी है। इससे शिष्य वर्ग में क्रूरता के संस्कार पनपते हैं।

यह सामाजिक हिंसा भी संकल्पी हिंसा के अन्तर्गत है

प्रत्यक्ष हिंसा तो आम आदमी की समझ में आ जाती है, किन्तु परोक्ष हिंसा ऐसी है, जो झटपट समझ में नहीं आती, फिर उस पर मोह, वासना एवं स्वार्थ के संस्कारों के घने आवरणों के कारण व्यक्ति संस्कारवश शीघ्र कल्पना नहीं कर सकता। परन्तु है उसका रूप बड़ा व्यापक। उसकी गहराई को लोग जल्दी समझ भी नहीं पाते। प्रत्यक्ष हिंसा तो झटपट समझ में आ जाती है, जब व्यक्ति यह विचार करता है, कि आज दिनभर में मैंने कितने जीवों को मारे-पीटे, सताये, कष्ट दिया? परन्तु इस परोक्ष-हिंसा को समझे बिना संकल्पीहिंसा का त्याग करने में श्रावक पूर्णतः सफल नहीं हो सकेगा। इस परोक्षहिंसा को हम सामाजिक हिंसा कह सकते हैं। इस हिंसा का मूल अहंकार, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, स्वार्थ आदि के विष हैं, इन्हीं विषबीजों से सामाजिक हिंसा का जहरीला पौधा पनपता है। जो संस्कारों में घुलमिल कर श्रावक के सामाजिक जीवन को विषाक्त बना देता है।

सामाजिक हिंसा से मतलब व्यक्ति के केवल अपने परिवार, समाज, जाति, धर्मसंघ, प्रान्त या राष्ट्र में होने वाली हिंसा से ही नहीं है, अपितु दूसरे परिवारों, समाजों जातियों, धर्मसंघों, प्रान्तों या राष्ट्रों आदि के साथ होने वाले हिंसाजनक व्यवहार से है। अगर एक परिवार का व्यवहार दूसरे परिवार से साथ, अथवा परिवार में ही अन्य परिजनों के साथ, एक समाज का दूसरे समाज के साथ, एक वर्ण का या वर्ग का दूसरे वर्ण या वर्ग के साथ, एक जाति का दूसरी जाति के साथ, एक धर्मसम्प्रदाय का दूसरे धर्मसम्प्रदाय के साथ, एक प्रान्त या राष्ट्र का दूसरे प्रान्त या राष्ट्र के साथ,

---

१. उपलब्धि सुगतिसाधनं समाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्तनीयं सुधर्ममभिलषिता॥
—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, ८८

एक नगर ग्राम या मुहल्ले का दूसरे नगर ग्राम या मुहल्ले के साथ घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, स्वार्थ एवं अहंकार से ग्रस्त सम्बन्ध है तो वहाँ चाहे बाहर से आप कितनी ही अहिंसा का पालन कर लें, जीवदया का कार्य कर लें, अन्दर से आपके जीवन में वह अहिंसा की हरियाली नहीं आएगी।

कोई कह सकता है कि जब तक ये जातियाँ, वर्ण, वर्ग, प्रान्त, राष्ट्र, धर्म-सम्प्रदाय अलग-अलग रहेंगे, तब तक मानव-मानव में भेद रहेंगे और ये भेद मन में भी अपने-पराये के भेद के साथ स्वत्वमोह, स्वार्थ और द्वेष-घृणा आदि को प्रायः जन्म देते रहते हैं। इन्हें कैसे हटाया जा सकता है? वास्तव में जैनधर्म ने अनेकान्तवाद और सहअस्तित्व (जीओ और जीने दो) के सिद्धान्त ही ऐसे दिये हैं, जिनके कारण व्यक्ति को एकान्त एक ही दृष्टि से न देखकर स्वत्वमोह को छोड़ कर सभी में रहे हुए सत्यों को अपनाना चाहिए। इन जातियाँ आदि को दूर करने की जरूरत नहीं, जरूरत है इनमें विचार विवेक से घृणा, द्वेष, स्वार्थ आदि हिंसाजनक चीजों को दूर करने की। केवल दृष्टि बदलने की जरूरत है।

सर्वप्रथम तो यह विचार करना चाहिए कि [illegible] ऋषभदेव के समय में जब समाज की स्थापना की गई थी, [illegible] रचना की गई थी, क्या ये तीन वर्ण [illegible] मिल कर आपस में [illegible] के लिए अपने-अपने अहंकार के [illegible] से कर [illegible] चारों वर्ण [illegible] में नहीं जा रहा हूँ। संक्षेप में, मुझे यहां कहना है कि [illegible], द्वेष, ईर्ष्या, स्वार्थ, अहंकार आदि के लिए नहीं बने, अपि[illegible] व्यावसायिक कर्तव्य निर्धारित करके सारे समाज की सेवा करने [illegible] जीवन जीने के लिए बने थे।

परन्तु ब्राह्म[illegible] उच्चता का अभिमान घुसा, वह दूसरे वर्णों को नीचा समझने लगा। [illegible] को सब से नीचा और अस्पृश्य करार दे दिया उसने। उसको शास्त्रश्रवण, धर्मपा[illegible] आदि सभी अधिकारों से वंचित कर दिया। क्षत्रियवर्ण ने इस हिंसामय गलत विचार में साथ दिया। समाज की गाड़ी उलटी दिशा में चल पड़ी।

दूसरी भूल यह हुई कि इन वर्णों के अनुसार जातियाँ, उपजातियाँ, गोत्र आदि न जाने कितने-कितने टुकड़ों में मानव समाज बँटता गया। ब्राह्मण वर्ग ने जन्मना जातिवाद पर सचाई की मुहर छाप लगा दी। इस भ्रान्ति ने बड़े-बड़े दिग्गजों को चक्कर में डाल दिया और भावहिंसा फैलने लगी। समाज में घृणा और द्वेष का यह जहर एक सिरे से दूसरे सिरे तक व्याप्त हो गया। इससे उन जातियों-उपजातियों

की तहों में ऊँच-नीच, सवर्ण-असवर्ण आदि की खाइयाँ अहंकार, घृणा, द्वेष के कारण चौड़ी होती गईं। यों परस्पर साथ-साथ चलते हैं, किसी की दूकान पर जाते हैं तो माल खरीदते समय दूकानदार जाति नहीं पूछता, अन्य व्यवहारों में जाति नहीं पूछी जाती, परन्तु जहाँ परस्पर प्रेमभाव बढ़ाने, दूसरे की सेवा करने का सवाल आया, वहाँ मन में बिछे हुए स्वार्थ, घृणा और अहंकार के काँटे दूर नहीं होते, वे अन्दर ही एक-दूसरे को चुभाये जाते हैं। और तो और एक ही ओसवाल, अग्रवाल जाति में बीसा, दस्सा, पाँचा, ढैया आदि भेद डाल कर शहरी और ग्रामीण आदि के भेद डाल कर दूसरों का अपमान करने और घृणाभाव, अहंकार, द्वेषभाव आदि के वश दूसरों से लड़ते-झगड़ते हैं। भीतर की जलन अहंकारवश कभी-कभी विस्फोट के रूप में बाहर आ जाती है, मधुरसम्बन्धों में कटुता का विष पड़ जाता है, द्वेष की आग सुलगती है, कभी-कभी एक दूसरे के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार तक तोड़ देते हैं। क्या यह **मित्ती मे सव्वभूएसु 'मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा' 'अप्पसमं मन्निज छप्पिकाए'** का पाठ उच्चारण करने, सुनने और सम्यक्त्व के अंगों में 'वात्सल्य' का पाठ पढ़ने वाला श्रावक क्या इतने उच्च सिद्धान्तों को मानकर भी संकल्पी भावहिंसा सामाजिक हिंसा तक नीचे उतर सकता है? ये संकीर्णताएँ और उनके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले घृणा, द्वेष, अहंकार, स्वार्थ, ईर्ष्या आदि के कुसंस्कार उसमें जागृत हो सकते हैं? आश्चर्य तो यह होता है कि यह आग ओसवालों, अग्रवालों या दूसरे वालों में जहाँ भी जलती है, वहाँ बड़े-बड़े विचारक, सिद्धान्तवादी विद्वान् भी उसमें हिस्सा लेने के लिए विवश हो जाते हैं और उसमें शास्त्रीय प्रमाणों की एवं कुतर्क की घृताहुति डालकर और अधिक भड़का देते हैं। इस प्रकार जाति के नाम पर हिंसा की आग भड़कती है।

वर्ण के नाम पर हिंसा

जो धर्म और दर्शन बड़ी-बड़ी ऊँची बातें करते हैं। हर आत्मा को परब्रह्म का रूप मानते हैं, हर जीव को ईश्वर का अंश या सिद्धसम मानते हैं; खेद है[1]" कोई शूद्र भूल से भी वेद का उच्चारण कर दे तो उसकी जीभ काट ली जाए, पास गुजरते हुए किसी शूद्र के कान में वेद मंत्र का शब्द भी पड़ जाय तो खौलता हुआ गर्मागर्म शीशा उसके कानों में डाल दिया जाए" यही दूसरी ओर कह डाला है। उन्हीं आचार्य के मुख से ये पवित्र वाक्य निकल रहे हैं—प्राणिमात्र में, ईश्वर के चैतन्य की प्रतिच्छाया है। प्रत्येक जीव के हृदयदेश में ईश्वर का निवास है। हर जीव ईश्वर का अंश है, ईश्वरतुल्य है।' आश्चर्य है, वे ही महापुरुष अर्थहीन जातिपांति के नाम पर शूद्रों से घृणा करने और उन्हें अछूत मानने के विचारों के घृणित प्रवाह में बह रहे हैं।

---

१ 'न शूद्राय मतिं दद्यात्।' 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयेयाताम्' 'जतुत्रपुभ्यामस्य कर्णौ पूरणीये।

भगवान महावीर ने कठोर साधना की, उसके बाद जब परिवर्तन का समय आया, तब बड़े-बड़े दिग्गज पण्डितों ने अपने ब्राह्मणत्व की उच्चता का अभिमान छोड़कर उनके चरणों में सारे भेदभाव भुला दिये। स्वयं भगवान की वाणी उत्तराध्ययन जैसे शास्त्रों में सुरक्षित है कि "हरिकेशबल चाण्डालकुल में उत्पन्न हुए हैं, उनकी जाति विशेष कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। कर्म (धंधे से) से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र माना जाता है, जन्म से नहीं।" खेद है, जैनों ने उस नारे को नहीं पहिचाना और पड़ौसी धर्म-सम्प्रदायों के प्रवाह में बहकर ऊँच-नीच एवं छुआछूत का गंदा राग अलापने लगे, जिसका भगवान महावीर ने खण्डन किया था। जिसके लिए उन्होंने समाज से लोहा लिया था। अनेक यातनाएँ सही थीं।

एक बालक ठोकर खाकर रास्ते में गिर पड़ता है, उसे उठाने के लिए हृदय में दया उमड़ती है, लेकिन पता चल जाए कि यह शूद्र का लड़का है तो मन अस्पृश्यता के मिथ्यात्व से भ्रान्त हो जाता है, धर्म-कर्म झूठे वहम से डांवाडोल हो उठता है। उस समय दया पलायित हो जाती है, मानव की जगह दानव की आँखें हो जाती है। यही तो भावहिंसा है। कहीं कोई कष्टपीड़ित होगा तो बड़े-बड़े धर्मात्मा धर्मावतार उसके कष्ट को नहीं देख पाएँगे, वे उसकी जाति-पाँति को देखने में आँख गड़ाये रहेंगे।

महाभारत का युद्ध चल रहा था, तब रथचालक बढ़ई के पुत्र कर्ण ने शेखी बघारते हुए बड़े-बड़े क्षत्रिय दिग्गजों को ललकारा था—

"सूतो वा सूतपुत्रो वा, यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म, ममायत्तं तु पौरुषम्॥"

—मैं बढ़ई हूँ या बढ़ई का पुत्र हूँ, जो भी कोई हूँ, इससे क्या, मेरा जन्म दैव का अधीन था, किन्तु मेरा पौरुष तो मेरे अधीन है। पौरुष को देखो। जाति-पाँति पर क्यों अटक गये हो?

एक हरिजन सभा में आ जाए तो उसे जूतियों में अपमानित ढंग से बिठाने की कोशिश की जाती है, उसे अपमानित किया जाता है। वह भगवद्वाणी सुनने को तैयार होता है, आपका साधर्मी भाई भी बन जाता है, लेकिन आप उसके साथ घृणावश अछूत-का-सा ही व्यवहार करते हैं, तो कहाँ हुआ स्वाधर्मी वात्सल्य? यह सरासर भावहिंसा है।

धर्म-सम्प्रदाय के नाम पर हिंसा

जो ईसाई धर्म कहता है—तुम्हारे बाँयें गाल पर थप्पड़ मारे तो दाहिना आगे कर दो, प्रेम ही प्रभु है। सबसे प्रेम करो। जो इस्लाम धर्म भाई-चारे की बात करता है। इन्सान को खुदा की न्यामत समझता है। विश्वबन्धुत्व का उपदेश देने वाले

ईसाइयों ने सैकड़ों वर्षों तक यहूदियों के साथ युद्ध किया, उन्हें जेरुसलम से मार भगाया। उसे धर्मयुद्ध 'क्रूसेड' कहकर गर्व का अनुभव किया जाता है। समस्त मानवों को खुदा के बंदे मानने वाले इस्लाम धर्म के बंदों ने ईसाइयों के विरुद्ध जेहाद किया और हजारों को मौत के घाट उतार दिया। भारत में इस प्रकार के हिंसक युद्ध तो नहीं हुए, लेकिन धर्माचार्यों के परस्पर शास्त्रार्थ हुए, संघर्ष हुए। ऐसे घृणित सम्प्रदायवाद के फरमान निकाले गए कि हिमालय से लेकर रामेश्वरम् तक कोई भी जैन और बौद्ध मिले, उसे मौत के घाट उतार दिया जाए। पुष्यमित्र के राज्यकाल में यह आदेश प्रसारित किया गया था—"जो एक बौद्ध भिक्षु का सिर काट कर लाएगा, उसे सौ स्वर्णमुद्राएँ इनाम दी जाएँगी।" "पागल हाथी सामने से आ रहा हो तो भी जैन-मन्दिर में प्रवेश न करे।" ये हैं मनुष्य के हृदय में प्रविष्ट घृणा, अभिमान और द्वेष के उग्र रूप, जो कभी सम्प्रदाय के नाम से तो कभी जाति-पांति के नाम से उभर आते हैं। हैं ये सब संकल्पी हिंसा के ही रूप, जो श्रावक के लिए त्याज्य हैं। अहिंसा प्रचार के लिए यहाँ हिंसा की शरण ली गई है, धर्म-प्रचार के लिए तलवार से काम लिया गया है। ये सम्प्रदायें दूसरी सम्प्रदायों के साथ ही लड़ती हों, ऐसी बात नहीं, आपस में ही एक-दूसरे उपसम्प्रदाय के साथ, कभी-कभी गुरुवाद के नाम पर परस्पर लड़ी हैं, एक दूसरे को अपमानित, लांछित एवं बदनाम करने की कोशिश की है। नास्तिक, मिथ्यात्वी, जैनाभास, देवानांप्रिय आदि गालियाँ भी भरपेट दी हैं। ऐसे हिंसारूप अधर्म को ही धर्मधुरन्धर बनने के लिए पकड़ा गया है। इसी जाति एवं धर्म-सम्प्रदायों को लेकर मनुष्य एक राष्ट्र में रहता हुआ भी अपने तुच्छ स्वार्थ और अधिकारों के लिए लड़ा है, दूसरे भाइयों के अधिकार छीने हैं, उन्हें पददलित कर दिया है। एक मुहल्ले, एक नगर या गाँव में भी पानी के कुंओं पर यही धर्मयुद्ध-जातियुद्ध लड़ा गया है, शूद्रों को पीटा गया है, क्योंकि वे हिंदूधर्म में डटे रहे, हिन्दू कहलाते रहे, आखिर इसका परिणाम यह हुआ कि कई बन गए बौद्ध, लाखों बने ईसाई और मुसलमान ये सब काण्ड घृणा और विद्वेष के कारण हुए। हिन्दुस्तान पाकिस्तान दो टुकड़े किसने किए? गांधी जी को गोली किसने मारी? इसी साम्प्रदायिकता राक्षसी ने?

हिंसा से पूर्ण राष्ट्रीयता एवं प्रान्तीयता

राष्ट्रीयता एवं प्रान्तीयता के नाम पर कहीं राष्ट्रान्धता छा गई। दूसरे राष्ट्र के या दूसरे प्रान्त के लोगों को खदेड़ा गया। उनके साथ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का नारा लगाते हुए, 'स्वैव कुटुम्बकम्' का प्रत्यक्ष दृश्य दिखाया गया। यह थी मानव की हृदय-हीनता। हिंसा की कितनी आग भरी हुई थी, दिलों में?

पारिवारिक जीवन में हिंसा

पारिवारिक जीवन में भी 'सौतेली माँ' या भाभी के विषय में भेदभाव की जहरीली घुटी बच्चों को पिलाई जाती है। अपनी बेटी को परिवार में अधिकारों के

संघर्ष के लिए उकसाया जाता है। दहेज दानव के कारण बहुओं को मिट्टी का तेल छिड़ककर अग्निस्नान के लिए या और किसी तरह से आत्महत्या के लिए बाध्य किया जाता है। और यह बात वैष्णवों में हो सो नहीं, दयाधर्मी जैनों में भी खुल्मखुल्ला होने लगी है। इसमें कोई हिंसा ही नहीं समझी जाती। न बहू को सताने में, अपमानित एवं लांछित करने में ही कोई पाप समझा जाता है। और यह भयंकर सामाजिक हिंसा परिवारों को उजाड़ देती है, परिवारों के प्रेम में आग लगा देती है, **'अहिंसा परमो धर्मः'** के वृक्ष को खोखला कर देती है।

अहिंसा की अबूझ दौड़ : हिंसामय मार्ग पर

वर्तमानयुगीन श्रावक बाहर से अहिंसा का आवरण ओढ़े हुए हैं। कदम-कदम पर वह फूंक-फूंक कर चलता है, किसी चींटी तक को सताता नहीं, कबूतरों को दाने डाल देता है, समाज में उसे धर्मात्मा, धीरी श्रावक और सेठ कहकर पुकारा जाता है। किन्तु साधक व्यक्तिगत अहिंसा में डूबा हुआ सामाजिक जीवन की अहिंसा—जो भगवान महावीर ने ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, संघधर्म आदि के रूप में परिपालन की चीज बताई थी, उससे अस्पृष्ट है। इसलिए जैसे गृहस्थ साधक को बाहर का जीवन नहीं छू रहा है वैसे ही परिवार, समाज एवं श्रावक को उस साधक की साधना नहीं छू पा रही है। वह धर्मधुरंधर संतपुरुषों और आचार्यों के चरण छू लेता है, वाणी सुन लेता है, और उन तपोमूर्तियों को आहार-पानी देकर सेवा कर लेता है, परन्तु सामाजिक जीवन के इन विविध मार्गों पर वह हिंसक जीवन की अबूझ दौड़ लगा रहा है। भीतर से वह अहिंसा का पथिक है, और बाहर से जातिवाद, सम्प्रदायवाद, राष्ट्रवाद, प्रान्तवाद आदि के मोह, अहंकार और पशुबल पर उसके जीवनरूपी अश्व का चरण टिका हुआ है। जो बराबर संकल्पी हिंसा रूपी लगाम पर काबू नहीं होने देता।

संकल्पी हिंसा से सावधान रहें

हाँ तो, मैंने आपको संकल्पी हिंसा के ये विविध रूप बताए, इनके सिवाय और भी अनेक रूपों में यह हिंसा जन-जीवन में उभर-उभर कर आती है। हिंसा केवल मारना ही नहीं है, द्वेषवश बन्धन में डालना, वध करना, मारना-पीटना, अंग भंग करना, चमड़ी उधेड़ना, अत्यन्त बोझ लादना, बेरहमी से सताना, अन्न-पानी बंद कर देना आदि नाना रूप हिंसा के हैं, जो प्रायः प्रत्यक्ष हैं। आचार्यों ने मोटेरूप में श्रावक के प्रथम अहिंसाव्रत के पाँच अतिचार बताए हैं—बंध, वध (ताड़न), छविच्छेद, अतिभार और अन्नपान-विच्छेद—इन पाँचों के अर्थ स्पष्ट हैं। कई लोग समझते हैं, ये अतिचार (दोष) सिर्फ पशुओं से सम्बन्धित हैं—मनुष्य से नहीं, यह निरा भ्रम है। जिस किसी भी प्राणी के साथ ये और इस प्रकार की दुष्ट हरकतें की जाएँगी, मनुष्य के साथ भी इस प्रकार का दुर्व्यवहार किया जाएगा तो वहाँ संकल्पी हिंसा मन-वचन-

काया से हो जाएगी, वह कृतरूप से भी हो सकती है, कारितरूप से भी और अनुमोदित रूप से भी।

अतः श्रावक को विवेकी और दीर्घद्रष्टा बनकर संकल्पी हिंसा के इन रूपों से बचना चाहिए। कदाचित् पूर्वसंस्कारवश कभी मन-वचन में इस हिंसा का क्षणिक विचार या वचन आ भी जाए तो तुरंत उसे खदेड़ देना चाहिए, पश्चात्ताप करना चाहिए। श्रावक-जीवन में अहिंसा के विकास और अभ्यास का यही उचित क्रम है।

□

3

अहिंसा की मंजिल : श्रावक की दौड़

अहिंसा की मंजिल बहुत दूर है, श्रावक अहिंसा के पावन पथ पर दौड़ लगाता है, किन्तु उसके मार्ग में कई पड़ाव ऐसे आते हैं, जहाँ उसे सोचना-विचारना और विवेक-बुद्धि से निर्णय करना पड़ता है कि अहिंसा के मार्ग पर कहीं हिंसा के काँटे तो नहीं बिछे हुए हैं, जो मार्ग को ही अवरुद्ध कर दें, चलने लायक न रहने दें, मार्ग को ही अमार्ग बना दें अथवा उस मार्ग पर अहिंसावतार पूर्वजों का एक भी पदचिह्न न रहने दे। इसलिए श्रावक को अहिंसा की अपनी मर्यादाएँ समझ लेनी चाहिए, और जो अहिंसा उसके लिए अवश्य पालनीय है, उसमें किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आने देनी चाहिए।

पिछले प्रवचन में मैंने विस्तार से संकल्पी हिंसा के विविध रूपों का उल्लेख किया था। श्रावक को अहिंसा की मंजिल की ओर गति करते समय संकल्पी हिंसा को तो अपने मार्ग से बिलकुल हटा देना चाहिए। उसे अपनाना, अपने कदम को वहीं ठप्प करना है।

अब रही शेष तीन प्रकार की हिंसाएँ—आरम्भी, उद्योगिनी और विरोधिनी—जिन्हें श्रावक सर्वथा छोड़ नहीं सकता; क्योंकि उसे परिवार, समाज और राष्ट्र के साथ अपने कदम मिलाकर चलना पड़ता है। वह अकेला होता और परिवार, समाज, राष्ट्र आदि की अपनी जिम्मेदारियों से मुक्त होता तो इन तीनों हिंसाओं को भी सर्वथा छोड़ देता, जैसा कि प्रतिमाधारी श्रावक करता है, परन्तु जब तक उस पर इन सबकी जिम्मेदारी है, तब तक उसे अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है, उसमें कहीं न कहीं आरम्भी, उद्योगिनी और विरोधिनी हिंसा हो ही जाती है। यद्यपि श्रावक बहुत ही विवेक के साथ लाचारी से इन्हें करेगा, तथापि ये हिंसाएँ संकल्प करके तो वह कभी भी नहीं अपनाएगा।

आरम्भी हिंसा : स्वरूप, विवेक और विश्लेषण

सर्वप्रथम गृहस्थ-जीवन में आरम्भी हिंसा आती है। श्रावक अगर उद्योग-धन्धे न करे और विरोध का प्रसंग न आए तो वह दोनों हिंसाओं से तो विरत हो सकता है, लेकिन आरम्भी हिंसा से तब तक निवृत्त नहीं हो सकता, जब तक

प्रतिमाधारी श्रावक या महाव्रती साधु नहीं बन जाता। प्रत्येक साधारण व्रती श्रावक को गृहस्थ में रहते हुए अनेक कार्य अनिवार्य रूप से करने पड़ते हैं, जैसे घर की सफाई करना, भोजन बनाना, खाद्य पदार्थों को साफ करना, कपड़े धोना, मकान बनवाना, गो-पालन करना, पशुओं की सेवा, पारिवारिक जनों की सेवा करना आदि। इन कार्यों में सावधानी रखते हुए भी स्थावर जीवों की हिंसा के अतिरिक्त, त्रस जीवों की स्थूल हिंसा भी हो जाती है ; पर वह इरादेपूर्वक की नही जाती। गृहकार्यों में वह जान-बूझ कर मारने, सताने या पीड़ा देने की बुद्धि से निष्प्रयोजन हिंसा नहीं करता और न कर सकता है। एक सद्गृहस्थ श्रावक निष्प्रयोजन एक भी आरम्भ करने के लिए तैयार न होगा। क्योंकि वह इतना विवेकी होता है कि यथासम्भव हिंसा को कम करने की कोशिश करता है। उसकी भावना सदैव यह रहती है कि मेरे द्वारा किसी भी जीव को कष्ट न पहुँचे। कम से कम हिंसा से काम चलाने के लिए वह अपनी आवश्यकताओं में यथाशक्ति कटौती करता है। जितनी आवश्यकताएँ कम होंगी, उतनी ही दौड़-धूप कम होगी और उसी अनुपात में हिंसा भी कम होगी, सद्विवेकी गृहस्थ बेकार की चीजों और अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह करके नहीं रखेगा। खाद्य वस्तुएँ भी थोड़ी-थोड़ी लाएगा, क्योंकि वह जानता है कि अधिक मात्रा में अधिक दिनों तक खाद्य-सामग्री पड़ी रहने से उसमें लट, धनेरिया, सुलसुली, चींटी आदि जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं। वे अपना डेरा जमा लेते हैं। चटनी, आचार, मुरब्बे आदि भी बहुत ज्यादा दिनों के हो जाने पर उनमें भी जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। उनके सेवन से अधिक हिंसा होती है।

निष्कर्ष यह है कि गृहकार्यों के करते समय गृहस्थ को प्रत्येक कार्य में देख-भाल (प्रतिलेखन) और विवेक से प्रवृत्त होना चाहिए। अगर वह लापरवाही से अन्धाधुन्ध प्रवृत्ति करता है, रसोई करते समय पानी, आटा, अन्य सामग्री, ईंधन, चूल्हा, आदि की देखभाल एवं प्रमार्जन (सफाई) नहीं करता, तो चौके को वह संहार-गृह का रूप दे देगा। अहिंसा का पालन विवेक से होता है। घी, दूध, तेल आदि तरल पदार्थों के बर्तन खुले न छोड़े, क्योंकि कई बार उनमें जीव-जन्तु पड़ जाते हैं। खास तौर से कभी-कभी छिपकली, आदि जहरीले जन्तु भी पड़ जाते हैं, जिससे स्वास्थ्य और धर्म दोनों को हानि पहुँचती है। मकान बनाते समय भी बहुत सावधानी रखने की जरूरत है। सफाई करते समय भी विवेक रखना है, ताकि कोई जीव दबकर या कुचलकर मर न जाय। इसके अतिरिक्त रसोई करने, बर्तन माँजने, कपड़े धोने, चौके बर्तन करने आदि का काम, पशुओं को चारा-दाना खिलाने या दूध दुहने आदि के काम दिन में ही निपटा लेने चाहिए। अपने भोजन से भी दिन में ही निवृत्त हो जाना चाहिए। प्रकाश चाहे कितना भी क्यों न हो, रात्रि में इन सब कार्यों को करने में किसी न किसी त्रस जीव की विराधना होने की सम्भावना रहती है। रात्रि-भोजन का असर स्वास्थ्य पर भी बहुत बुरा पड़ता है। रात्रि में देर से भोजन करने वालों का हाजमा खराब हो जाता है, भोजन का पाचन ठीक तरह से नहीं

होता। रात्रि-भोजन करने वालों को कई बार भोजन में विषैले जीव के पड़ जाने से प्राणों से हाथ धोना पड़ा है। ऐसे कई प्रत्यक्ष उदाहरण मौजूद हैं, जिनमें रात्रि-भोजन से अविवेक के कारण कई मौतें हुई हैं।

आरम्भी हिंसा और अविवेक—

कई बहनें गृहकार्य से होने वाली अनिवार्य हिंसा से बचने के लिए दूसरों से कार्य कराती हैं, जिनमें विवेक नहीं होता। जो गृहकार्य में अहिंसा की संस्कृति से अपरिचित हैं। इस प्रकार आलस्य और प्रमाद में पड़ने से आरम्भ-जन्य हिंसा से छुटकारा नहीं मिल सकता। जब तक कि खाना-पीना सर्वथा न छोड़ दें, या गृहकार्य की जिम्मेदारी से निवृत्त होकर साधु-जीवन स्वीकार न कर लें।

दूसरी बात यह है कि अपने जिम्मे का कार्य सास-बहू या देवरानी-जिठानी पर डालना और स्वयं बहाना बना कर लेट जाना, मटरगश्ती करना, सैरसपाटे करना यह अन्याय है, नैतिक मर्यादा के विरुद्ध है, और इस कारण हिंसा है। इसी प्रकार के रवैये के कारण परिवारों में प्रायः संघर्ष होते हैं, और वे गृहकलह का रूप लेकर भयंकर हिंसा के कारण बनते हैं। कषाय वृद्धि ही भावहिंसा का मुख्य कारण है।

गृहकार्यों में कई लोग पशुओं, गायों, बैलों तथा नौकर-चाकरों का सहयोग लेते हैं, परन्तु उनका व्यवहार उन सहायकों के साथ आत्मीयता का नहीं होता, वे उन्हें रूखा-सूखा, रद्दी, बासी भोजन दे देते हैं, कई दफा आहार भी पर्याप्त नहीं होता, पानी और खाना भी समय पर नहीं देते, उनकी शक्ति से अधिक बोझ या कार्य का बोझ उन पर डाल देते हैं, नौकरों के किसी अनिवार्य कारणवश देर से आने पर डाँटते-फटकारते और तनख्वाह काट लेते हैं, उनके न्यायोचित अधिकारों का हनन कर देते हैं, अथवा किसी व्यक्ति से कोई कार्य करा कर उचित पारिश्रमिक नहीं देते। पशुओं को निर्दयतापूर्वक मारते-पीटते हैं, उनके आरे भोंक देते हैं, बीमार होने पर उनकी यथोचित चिकित्सा नहीं करवाते, ये सब कार्य आरम्भी हिंसा की सीमा को तोड़ कर संकल्पी हिंसा के अन्तर्गत आ जाते हैं। आरम्भी हिंसा तो लाचारीवश होती है, जबकि उपर्युक्त कार्य जानबूझ कर हैरान करने की दृष्टि से होते हैं, इसलिए संकल्पी हिंसा की कोटि में आ जाते हैं।

निरर्थक, निष्प्रयोजन अनावश्यक आरम्भ न करें

कई बार श्रावक इस बात का विवेक भूल जाता है कि मेरे परिवार के लिए कौन-सी चीज कितनी बनानी है? कितनी चीज से सारे परिवार का कार्य चल जाएगा? कई बार वह अपना बड़प्पन, पूजा, प्रतिष्ठा तथा वैभव का प्रदर्शन करने के लिए अनाप-सनाप आरम्भ कर लेता है। जैसे उसके यहाँ लड़की का विवाह है। लड़की का विवाह वह चाहे तो सादगी से कर सकता है, पर धनाढ्य होने के कारण पैसे के मद में आकर समाज में बड़ा आदमी कहलाने की दृष्टि से वह बहुत बड़ा भोज देता है। हजारों व्यक्तियों को—जो उस विवाह के समय पारिवारिक दृष्टि से सम्बन्धित

नहीं है—आमंत्रित कर लेता है। भट्टियाँ रात-दिन चलती रहती हैं। इस प्रकार निष्प्रयोजन भोजन समारम्भ करके वह आरम्भी हिंसा की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है।

इसी प्रकार कई बार पानी के नल खुले रखकर बेशुमार पानी ढोलता रहता है। पानी ज्यादा फैलने से वहाँ कीचड़ हो जाती है, पानी का मार्ग अवरुद्ध हो जाने से तथा सफाई न होने से वहाँ डांस एवं मच्छर पैदा हो जाते हैं, मरते हैं, जनता को काटते हैं, रोग फैलाते हैं। इसी प्रकार बिना ही किसी मतलब के जंगल में, खेत में आग लगवा देना, व्यर्थ ही घास, पेड़-पौधे उखाड़ डालना, यों ही जमीन खोदना या खुदवाना, बेकार ही उछल-कूद या भाग-दौड़ करना, पटाखे या बारूद से भरे पदार्थ छोड़ना, व्यर्थ ही कंकर-पत्थर फैंकना, पशुपक्षियों को हैरान करना, व्यर्थ की बकवास, निन्दा, चुगली करना, मन में किसी के जय-पराजय की अनिष्ट कामना करना, रहने के लिए एक मकान की जरूरत होने पर भी व्यर्थ ही ६-७ मकान बनवाना, खेती के लिए, परिवार के लिए गुजारे के उपरान्त भी अनाप-सनाप जमीन रखना, उसे जुतवाना और कृषि का अधिकाधिक आरम्भ करना, घर में व्यर्थ की चीजें, फर्नीचर आदि विपुल संख्या में इकट्ठे करना। ये सब निरर्थक हिंसाएँ हैं।

यद्यपि श्रावक को एकेन्द्रिय स्थावर जीवों—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु वनस्पति की—छूट मिली है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वह अविवेकी बनकर इनका उपयोग करे। जरूरत से ज्यादा वस्तुओं का उपयोग करना उसके लिए वर्जित है। श्रावक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का त्याग नहीं कर सकता, इसका अर्थ यह नहीं है कि वह बिना मतलब के निष्प्रयोजन अनावश्यक ही स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों की हिंसा करेगा। आचार्य हेमचन्द्र ने श्रावक वर्ग को इस विषय में सावधान किया है—

निरर्थिकां न कुर्वीत, जीवेषु स्थावरेष्वपि।
हिंसामहिंसा धर्मज्ञः कांक्षन्मोक्षमुपासकः॥[1]

—अहिंसा धर्म का ज्ञाता और मोक्ष का अभिलाषी श्रावक स्थावर जीवों की भी निरर्थक हिंसा न करे।

यद्यपि शरीर निर्वाह और कुटुम्ब के पालन-पोषण की दृष्टि से ही गृहस्थ के लिए स्थावर जीवों की हिंसा का अनिवार्य निषेध नहीं किया गया है, तथापि जहाँ स्थावरहिंसा शरीर-निर्वाह आदि के लिए आवश्यक नहीं है, श्रावक को उसका त्याग करना चाहिए।

इसी प्रकार श्रावक को आरम्भी हिंसा में भी बहुत विवेकपूर्वक चलने की आवश्यकता है। एक श्रावक है, उसकी पत्नी गर्भवती है। अचानक भयंकर प्रसव

---

१. योगशास्त्र, प्रकाश २, श्लोक. २१

वेदना हुई। दुर्भाग्य से बच्चा गर्भ में है, वह विषाक्त हो गया है। ऐसे समय में वह क्या करे ? बच्चे को बचाए या बच्चे की माँ को या दोनों को मर जाने दे ?

उस समय बरबस होकर विवेकी श्रावक को बच्चे की माँ को बचाने के लिए सहमत होना होगा। बच्चा चूंकि मृतप्राय है, वह बचाया नहीं जा सकता, लाचारी है।

इसी प्रकार मान लीजिए, एक श्रावक की भैंस के शरीर पर फोड़ा हो गया, उसमें मवाद पड़ गया। कीड़े कुलबुलाने लगे। अब वह भैंस को बचाए या मवाद के कीड़ों को ? ऐसे समय में वह बचाना तो दोनों को ही चाहेगा, ऐसी औषधि लगाएगा, जिससे कीड़े झड़ जाएँ, मवाद सूख जाय, और भैंस स्वस्थ हो जाए। यद्यपि मवाद के कीड़े, झड़ जाने पर अधिक समय तक जीवित नहीं रह पाते, पर कोई चारा नहीं है, श्रावक के पास उन्हें बचाने का।

इसी प्रकार जैनधर्म ने श्रावक को भविष्य में होने वाली आरम्भी हिंसा से बचने के लिए कुछ हिदायतें दी हैं, वह उन पर चले तो श्रावक जीवन में भी अहिंसा का आराधक हो सकता है। जैसे शरीर में जूं-लीख आदि पड़ें, घर में जीव जन्तु पैदा हों, मच्छर और खटमल पैदा हों, इससे पहले ही श्रावक को विवेकपूर्वक शरीर-शुद्धि का तथा यत्नपूर्वक गृहपरिमार्जन (सफाई) का ध्यान रखना चाहिए। ताकि ऐसे जीव न शरीर में पैदा हों, न घर में पैदा हों।

अल्पारम्भ, अधिकारम्भ या महारम्भ ?

श्रावक के लिए शास्त्र में जगह-जगह **'अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही'** शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसके पीछे क्या रहस्य है, यह भी समझ लेना आवश्यक है। श्रावक को आरम्भजा हिंसा की छूट मिल गई, इसका मतलब यह नहीं है कि वह रात-दिन आरम्भ में डूबा रहे, अपने आत्मचिन्तन, सामाजिक-राष्ट्रीय कर्तव्यों पर कुछ भी ध्यान न दे, आरम्भों से खुलकर खेलता रहे। इसके विपरीत उसे यह निश्चित समझना चाहिए कि आरम्भजा हिंसा की जो छूट उसे दी गई है, वह भी, मारने की बुद्धि से रहित होकर सप्रयोजन लाचारी की स्थिति में अनिवार्य समझ कर दी गई है। यानी आरम्भी हिंसा भी यदि गृहकार्यादि में या शरीर निर्वाह, कुटुम्बपालन आदि कर्तव्यों में हिंसा के संकल्पपूर्वक अविवेकपूर्वक या निष्प्रयोजन निरर्थक ही की जाती है तो कौन कह सकता है कि वह संकल्पी नहीं हो जाएगी ? कई बार व्यक्ति प्रत्यक्ष में अपने स्वयं के द्वारा होने वाली आरम्भजनित हिंसा की ओर ही देखता है, और किसी ऐसी चीज का उपयोग करता है, जो भूतकाल में विशेषारम्भ या महान आरम्भजनित हिंसा से निष्पन्न हुई हो। श्रावक समझता है कि मैं आरम्भ नहीं कर रहा हूँ, इसलिए मुझे हिंसा का दोष क्यों लगेगा ? इसीलिए तो श्रावक को 'अल्पारम्भी' विशेषण पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। मान लीजिए—'कॉड लीवर आइल' की बंद शीशी है। कॉड लीवर आइल बनाने के लिए श्रावक ने वर्तमान में किसी भी मत्स्य

की हिंसा नहीं की है, किन्तु भूतकाल में किसी न किसी ने वह बनाई है, उसने तो मत्स्य हिंसा की ही है। अब मत्स्य हिंसाजनित कॉड लीवर आइल की बंद शीशी को देखकर कोई श्रावक यह कहे कि मुझे इसके सेवन से हिंसा क्यों लगेगी ? क्योंकि इसमें अभी तो जीव हैं नहीं, मैंने जीव हिंसा की नहीं, तो क्या उक्त श्रावक को अल्पारम्भी माना जा सकेगा ? कदापि नहीं। यह तो महारम्भी ही माना जाएगा। मैंने आरम्भ नहीं किया है, इसलिए मुझे क्यों आरम्भी हिंसा लगेगी ? यों कहकर सेवन करने वाला व्यक्ति कभी उस हिंसा से छूट नहीं सकता। निष्कर्ष यह है कि श्रावक को अगर दूसरे के द्वारा, भूतकाल में आरम्भ द्वारा बनी हुई किसी भी चीज का उपयोग करना ही पड़े तो उससे पहले उसे विचार करना चाहिए कि यह वस्तु अल्पारम्भ जनित है, अधिकआरम्भजनित है या महारम्भजनित ? जो वस्तु संकल्पपूर्वक पंचेन्द्रियवध से, पंचेन्द्रिय कलेवर से निष्पन्न हुई है, उसे अथवा रात-दिन अनेक त्रसजीवों के वध से निष्पन्न हुई है, उसे महारम्भजनित समझना चाहिए। जो वस्तु एकेन्द्रिय जीवों के वध से निष्पन्न हुई है, उसे अल्पारम्भ मानना चाहिए, अथवा स्वयं मरे हुए त्रसजीवों से निष्पन्न हुई हो, वह भी अल्पारम्भ में मानी जा सकती है। किन्तु जो वस्तु संकल्पपूर्वक निष्प्रयोजन केवल स्वार्थ या लोभवश अनेक एकेन्द्रिय जीवों के वध से या द्वीन्द्रिय आदि त्रसजीवों के वध से निष्पन्न हुई हो, उसे अधिकारम्भ समझना चाहिए।

जैसा कि मैंने बताया था कि क्रूम लेदर और काफ लेदर दोनों प्रकार के चमड़े पशुओं को निर्दयतापूर्वक मार कर उनसे निष्पन्न होते हैं। ऐसी दशा में क्या अल्पारम्भी श्रावक महारम्भजनित ऐसे चमड़े की बनी चीजों का उपयोग कर सकता है ? अगर लाचारीवश उसे चमड़े का ही उपयोग करना पड़े तो वह स्वयं मृत पशुओं के चर्म से निष्पन्न चीजों का करेगा, या कपड़े अथवा प्लास्टिक आदि अन्य चीजों से बनी हुई चीजों का करेगा।

सुना है, एक गज असली रेशम (Silk) तैयार करने में ४० हजार शहतूत के कीड़ों को मारा जाता है। क्या अल्पारम्भी श्रावक महारम्भ से बने हुए रेशम के कपड़ों का उपयोग कर सकता है ?

वस्त्र लज्जा निवारण तथा सर्दी-गर्मी आदि से शरीर रक्षा के लिए पहने जाते हैं, किन्तु मिल के चर्बी लगे हुए मुलायम सूती वस्त्र अथवा अत्यन्त कीमती और बारीक वस्त्र, जिनमें अंग-अंग दिखता हो, क्या वस्त्र परिधान का उद्देश्य पूर्ण करते हैं ? क्या इस प्रकार के अधिकारम्भ से बने हुए वस्त्रों का उपयोग अल्पारम्भजीवी श्रावक कर सकता है ?

फूलों की माला पहनकर कोई भी श्रावकधर्म स्थानक में प्रवेश नहीं कर सकता क्योंकि फूलों की माला वनस्पतिकायिक जीवों का पिंड होने से उन एकेन्द्रिय जीवों के वध से निष्पन्न होती है, और सजीव भी है। किन्तु वही श्रावक पंचेन्द्रिय

प्राणियों के वध से निष्पन्न मोतियों की माला पहन कर यदि धर्मस्थान में शान के साथ प्रवेश करे तो क्या आपको आश्चर्य नहीं होगा ?

बन्धुओ ! मोती कैसे प्राप्त होते हैं ? इसकी करुण कहानी सुनकर आपके रोंगटे खड़े हो जाएँगे। बेचारे गोताखोर लोग मरजीवा बनकर समुद्र की गहराई में गोता लगाते हैं। वहाँ कल्लोल करती हुई निर्दोष मछलियों को पकड़कर टोकरों में भरते हैं और मुश्किल से मगरमच्छ आदि हिंस्र जल-जन्तुओं से अपनी जान बचाकर समुद्र से बाहर आते हैं। टोकरों में भरी हुई लाखों मछलियों का ढेर कर देते हैं, वे मछलियाँ पानी के बिना तड़फ-तड़फकर मर जाती हैं, फिर उन्हें बादाम की तरह फोड़ा जाता है। उनमें से किसी-किसी मछली में से मोती निकलता है। इसीलिए तो मोती मँहगा है। आप कल्पना कर सकते हैं, कि अगणित मछलियों की हत्या होती है तब मोती की एक माला तैयार होती है। मोती के निमित्त होने वाली मत्स्य-हिंसा में मोती बेचने वाला, दलाली करने वाला, खरीदने वाला, पहनने वाला और इसे पहनने वाले को भाग्यशाली मानने वाला ये सब इससे सम्बद्ध हैं, इसलिए न्यूनाधिक रूप में हिंसा-जनित पाप के भागी तो हैं ही। क्या एक विवेकी अल्पारम्भी श्रावक पंचेन्द्रिय हिंसा से निर्मित मोतियों की माला पहन सकता है ?

श्रावक मांस, अंडे, मछलियाँ, आदि का सेवन क्यों नहीं करता ? क्योंकि ये पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा से निष्पन्न हैं, भले ही श्रावक ने स्वयं इन जीवों को मार कर ये वस्तुएँ तैयार न की हों, परन्तु पंचेन्द्रिय के कलेवर से महारम्भ बनी हैं, घृणा-स्पद हैं, इनके खाने से मनुष्य के हृदय की दयाभावना समाप्त हो जाती है। परन्तु वही अल्पारम्भी श्रावक क्या पशुओं के मांस, रक्त, जिगर व दूसरे अंगों से बनाई हुई दवाइयाँ, इंजेक्शन आदि का उपयोग कर सकता है ? क्योंकि मांसाहार प्रत्येक दशा में, धार्मिक, शारीरिक सभी दृष्टियों से बुरा है। कई लोग कहते हैं कि डॉक्टर ने इनके खाने की सलाह दी है, अगर श्रावक की इच्छाशक्ति प्रबल है तो मांस व अंडों के खाए बिना ही स्वस्थ हो सकता है और अहिंसाधर्म के पालन की परीक्षा तो संकट काल में ही होती है।

अतः जो भी खाद्य, पेय, वस्त्र, शृंगार प्रसाधन की वस्तुएँ या अन्य चीजें महारम्भ या अधिकारम्भ से निष्पन्न हों, श्रावक को उनका उपयोग करने से परहेज करना चाहिए।

उद्योगी हिंसा : स्वरूप, विवेक और विश्लेषण

गृहस्थ में रहते हुए प्रत्येक श्रावक को अपना, अपने परिवार तथा अपने आश्रितों का पालन-पोषण करने एवं उनका निर्वाह करने के लिए जीविकोपार्जन हेतु कुछ न कुछ उद्योग, व्यवसाय, धंधा या नौकरी अथवा कर्म करना ही पड़ता है। राष्ट्रपोषक, समाज-हितकर, आत्म-हितकर सात्त्विक अल्पारम्भी व्यवसाय या जीविका-कर्म करते हुए भी कहीं न कहीं स्थूल हिंसा हो जाना स्वाभाविक है। हालांकि श्रावक जो भी

व्यवसाय या धंधा करेगा, उसे खूब ही विवेकपूर्वक सावधानी से करेगा, फिर भी लाचारीवश कहीं हिंसा हो जाय तो वह उद्योगी हिंसा है, और उससे श्रावक का अहिंसाणुव्रत भंग नहीं होता है।

उद्योगी हिंसा का यह मतलब नहीं है कि श्रावक चाहे जिस धंधे को, फिर वह चाहे अनैतिक हो, त्रसजीवों के वध से निष्पन्न हुई चीजों का हो, देश और समाज के लिए हानिकारक हो, ऐसे व्यवसाय भी करने की छूट ले लेगा। वह ऐसे उद्योग व व्यवसाय तो कतई नहीं करेगा, जिनमें प्रत्यक्ष में ही हिंसा होती हो, जैसे—मांस, मछली, अंडे, मुर्गी, खाल, चमड़े, हड्डी या कसाईखाना, शराबखाना नशैली चीजों आदि का उद्योग या व्यापार। भगवान महावीर ने कुछ उद्योगों एवं व्यवसायों को कर्मादान में परिगणित किया है, और उन्हें सर्वथा त्याज्य बताया है, श्रावक के लिए। केवल अपने द्वारा ही नहीं केवल काया से ही नहीं, अपितु दूसरों से वे व्यवसाय कराने और उन व्यवसायों का अनुमोदन करने का मन, वचन और काया से त्याग की श्रावक से अपेक्षा की है। कर्मादानसंज्ञक व्यवसाय इसलिए श्रावक के लिए सर्वथा वर्ज्य बताए हैं कि उनमें त्रसजीवों की प्रायः जानबूझकर हिंसा होती है, स्थावर जीव भी प्रचुर संख्या में मारे जाते हैं, नैतिक दृष्टि से भी इनमें से कई व्यवसाय अत्यन्त घृणित एवं अनाचरणीय हैं, राष्ट्र एवं समाजहित की दृष्टि से भी कई व्यवसाय घातक हैं। कई व्यवसायों में गरीबों का अत्यधिक शोषण और जीवों का पीड़न होता है। वे १५ प्रकार के व्यवसाय इस प्रकार हैं—(१) **अंगारकर्म**—बड़े-बड़े जंगलों को जलाकर लकड़ियों से कोयले बनाकर उन्हें बेचने का व्यवसाय करना, (२) **वनकर्म**—बड़े-बड़े जंगलों का ठेका लेकर लकड़ियाँ कटवाने एवं बेचने का धंधा, (३) **शकटकर्म**—गाड़ी गाड़े आदि बनाने-बेचने का व्यवसाय,(४) **भाटककर्म**—ऊँट, घोड़ा, बैल, गधा, खच्चर आदि पर अति बोझ लादकर उनसे किराया कमाना, (५) **स्फोटकर्म**—पत्थर आदि फोड़ने व खान आदि खोदने के लिए सुरंग बिछाकर बारूद से फोड़ना, (६) **दन्तवाणिज्य**—हाथी वगैरह के दाँत, नख, केश चमरी गाय के बाल, खाल आदि त्रसजीवों के अंगों के बेचने का व्यापार करना। (७) **लाक्षावाणिज्य**—लाख, पैनसिल आदि का व्यापार करना, (८) **रसवाणिज्य**—मदिरा, मधु, चर्बी आदि बेचने का व्यवसाय करना, (९) **केशवाणिज्य**—केश वाली दासियों तथा अन्य द्विपद, चतुष्पद पशुपक्षी को बेचने का धंधा करना; (१०) **विषवाणिज्य**—विष, शस्त्र आदि प्राणघातक वस्तुओं को बेचने का व्यापार करना, (११) **यंत्रपीड़नकर्म**—बड़े-बड़े यंत्रों से तिल, गन्ना, सरसों, एरंड आदि पीलने का व्यवसाय करना, (१२) **निर्लाञ्छन कर्म**—जानवरों को बधिया करना, दाग देना, नाक बींधना आदि अंगछेदन का व्यवसाय करना, (१३) **असतीपोषण कर्म**—कुलटा स्त्रियों को रखकर उनके द्वारा धन कमाना, किसी दास-दासी को खरीदने-बेचने का धंधा करना, (१४) **दवदावकर्म**—जंगल में आग लगाकर जलाने का धंधा करना, (१५) **सरद्रहतड़ाग शोषण कर्म**—तालाब, झील, सरोवर आदि सुखाने का धंधा करना।

ये १५ कर्मादान (पापकर्म के स्रोत) विशेष हिंसाकारी, महारम्भी धंधे हैं, श्रावक के लिए ये सर्वथा त्याज्य हैं। पन्द्रह कर्मादान संकल्पी हिंसा में ही नहीं, औद्योगिकी हिंसा में प्रतीत होते हैं, परन्तु जो उद्योगिनी हिंसा मानव को संकल्पजा हिंसा की ओर प्रेरित करती हो, वह श्रावक की अहिंसा की मर्यादा में नहीं है।

जीवन में हिंसा तो अनिवार्य है, आजीविका के क्षेत्र में भी उससे पूरी तरह बचा नहीं जा सकता। जीवन संघर्ष में श्रावक के कृषि आदि जो व्यापार चल रहे हैं, उनमें हिंसा नहीं है यह कहना तो यथार्थ नहीं है। उद्योग-धंधों में भी विवेक होना चाहिए, अन्यथा अविवेक के कारण उद्योगिनी हिंसा भी महारम्भी बन सकती है। शास्त्र में महारम्भ को नरक का द्वार बतलाया है। इसलिए श्रावक को अपने प्रत्येक आजीविका के कार्य को बुद्धि की तुला पर तोलना चाहिए कि मैं जो व्यवसाय करता हूँ, वह महारम्भ है, अधिकारम्भ है या अल्पारम्भ ? अगर अल्पारम्भ है तो, उसकी शर्त यह है कि वह व्यापार समाजसेवार्थ होना चाहिए। जिस व्यापार से राष्ट्र या समाज का अहित होता हो, जो दुर्व्यसनप्रसारक हो, त्रसजीवों की जिसमें प्रत्यक्ष हिंसा होती हो, वह बाहर से चाहे जितना रमणीय हो, या तो अधिकारम्भ है, या महारम्भ है।

कोई यहाँ कह सकता है कि हिंसा की दृष्टि से अगर कोई उद्योग चुनना हो तो सट्टा, जुआ या ब्याजबट्टे का धंधा ठीक है, क्योंकि सट्टे में कोई जीव हिंसा नहीं होती, जुए में या हाजिर माल का सौदा करने में कोई जीव हिंसा नहीं होती, केवल जबान से सौदा करना है या वादा करना है। इसी तरह ब्याज बट्टे के धंधे में भी कोई माल उठाना-पटकना नहीं है, इसलिए जीव हिंसा से कोई वास्ता नही है; किन्तु आप गहराई में उतरकर देखेंगे तो सट्टा या जुआ, या सौदा-वादा करने में भले ही जबान हिलाने का काम हो, किन्तु सट्टे जुए में कमाई हो जाती है तो व्यक्ति उस समय खर्च करने में भान भूलकर प्रायः ऐश-आराम में ही खर्च कर डालता है, और जब बहुत ज्यादा चले जाते हैं, तब आर्त्तध्यान करना पड़ता है। प्रायः सट्टे जुए वाले का चित्त रात-दिन उसी उधेड़बुन में रहता है, वह आर्त्तध्यान से ग्रस्त रहता है, धर्म-ध्यान करने की वहाँ गुंजाइश ही कहाँ ? आर्त्तध्यान मानसिक हिंसा का स्रोत है, सट्टा लोभवृत्ति का परिवर्द्धक होने से व्यक्ति मुफ्त की कमाई से अभ्यस्त हो जाता है, न्याय-नीति से परिश्रम करके कमाने की वृत्ति से दूर हो जाता है। फिर सटोरिये कई बार अत्यन्त चिन्ताग्रस्त होकर अपनी इज्जत बचाने के लिए आत्महत्या तक कर बैठते हैं। ऐसे कई उदाहरण सुनने में आए हैं। ब्याज का धंधा भी शोषण वृत्ति का नमूना है। लोभवश ब्याजखोर व्यक्ति प्रायः बहुत ऊँचे दर के ब्याज से रुपया देता है। जिन गरीबों को अपना कामधंधा चलाने के लिए रुपयों की जरूरत होती है, उन्हें अव्वल तो ऐसे ब्याज कमाने वाले देने से इन्कार कर देते हैं, अगर देंगे तो भी धनवान् को सस्ते दर के ब्याज से रुपया देंगे, जबकि उस गरीब को बहुत ऊँचा दर बतायेंगे ब्याज का। इस प्रकार ब्याज कमाने वाले में मानवदया समाप्त हो जाती है। उसका

लक्ष्य एकमात्र अधिकाधिक धन कमाना होता है। जनता की या जरूरतमंद व्यक्ति की सेवा करने या उस पर दया करने की वृत्ति प्रायः नहीं होती इसलिए ब्याज की जीविका शोषण और कठोरता की सूचक है। श्रावक के लिए ये धंधे द्रव्यहिंसाजनक न होते हुए भी भावहिंसाजनक हैं, तथा दूसरे को इरादेपूर्वक चूसने की वृत्ति होती है, इसलिए त्याज्य है।

इसी प्रकार श्रावक के द्वारा वेश्यालय या अनैतिक जीविका का संस्थान खोलना तो वह भी नीतिविरुद्ध, धर्मविरुद्ध होने से घोर हिंसाजनक और त्याज्य है।

वर्ण-व्यवस्था : विभिन्न उद्योग-धन्धों के लिए

युगादि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के युग में जब नये समाज की स्थापना हुई, तब जो तीन वर्ण बने थे, क्योंकि ब्राह्मण वर्ण की संस्थापना सम्राट् भरत ने की थी, उनके पीछे उद्देश्य यह था कि एक ही धन्धा एक व्यक्ति करे जिससे समाज में व्यवसाय का सन्तुलन बना रहे, व्यक्ति अति लोभ में न पड़कर अपने जीवन को अनीति, अन्याय की राह पर चलने से बचाए। चार वर्ण उद्योग-धन्धों या व्यवसायों अथवा आजीविका के लिए कर्तव्यों का वर्गीकरण करने हेतु बनाए गए थे, वे कोई ऊँच-नीच या छुआछूत के भेद डालकर आपस में लड़ने-भिड़ने के लिए नहीं बनाए गए थे। चारों ही वर्णों के कार्य (कर्म) अपने-अपने स्थान पर उचित थे, नियत कर दिये गये थे। बल्कि बाद में इसमें सन्तुलन रखने के लिए मनुस्मृति में यह भी विधान कर दिया गया था कि जो एक वर्ण के योग्य कर्तव्य कर्मों को छोड़कर दूसरे वर्ण के भी कर्तव्य कर्मों को करने लग जाता है, वह वर्णशंकर होने से राजा द्वारा दण्डनीय है।

निष्कर्ष यह है कि चारों वर्ण अपने-अपने नियत कर्तव्य कर्मों को सम्पन्न करते हुए समाज की विविध प्रकार से सेवा करें। प्रत्येक व्यक्ति सब काम कर नहीं सकता, ऐसी स्थिति में कोई समाज को शुद्ध चिन्तन और जीवन में नीति और धर्म का सुन्दर उपदेश देकर समाज को शिक्षित करके समाज की सेवा करता था, कोई निर्बलों की सबलों से रक्षा करके एवं न्याय दिलाकर सेवा करता था, कोई वर्ण समाज को विविध वस्तुएँ मुहैया करके बदले में थोड़ा-सा उचित पारिश्रमिक लेकर समाज की सेवा करता था और कोई विविध प्रकार के हुनर, शिल्प, दस्तकारी, सफाई आदि में लग कर समाज की सेवा करता था। इस प्रकार चारों वर्ण क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाए।

यदि ब्राह्मण वर्ण का व्यक्ति श्रावक है और वह चारों ही वर्णों को समभाव से निष्पक्ष होकर शिक्षा नहीं देता, नीति, न्याय, धर्म और कर्तव्य का शुद्ध चिन्तन सबको नहीं देता, परस्पर भेदभाव करता है, धर्मशास्त्रों को पढ़ने या सुनने से किसी को रोकता है तो यह भेदभाव घृणामूलक, द्वेषवर्द्धक एवं अपमानजनक होने से संकल्पी (भाव) हिंसा हो जाएगी, फिर वह उद्योगी हिंसा (अपने व्यवसाय में लाचारीवश होने वाली) नहीं रहेगी।

आज के ब्राह्मण वर्ग की तरह प्राचीन ब्राह्मण वर्ण प्रायः नहीं था—वह लोभ-वश भोली जनता को पूजा-पाठ, अनुष्ठान, जप, हवन आदि के नाम पर ठग कर ऊटपटांग विधान करके अपना उल्लू सीधा नहीं करता था। ब्राह्मण वर्ण का निर्लोभी, निःस्पृह, समाज का निष्पक्ष उपदेशक होना अनिवार्य है। अन्यथा, लोक-कल्याण के नाम पर अपनी स्वार्थसिद्धि, एवं प्रचुर धनसंग्रह के लिए जप, हवन, पूजापाठ आदि अनुष्ठानों में होने वाली हिंसा उद्योगी न रहकर संकल्पी बन जाएगी।

क्षत्रियवर्ण का श्रावक भी जनता को न्याय और सुरक्षा दिलाने, नीति-न्याय एवं धर्म को जनता में प्रचलित करने के लिए सबल से संघर्ष करता, दण्ड देता, विवश होकर युद्ध भी करता, वे सब उद्योगी हिंसा के अन्तर्गत था, किन्तु जब से क्षत्रिय भी न्याय के नाम पर जनता का शोषण और लूटपाट करने लगा, निर्बल की सुरक्षा के कर्तव्य को छोड़कर अथवा कर्तव्य में पक्षपात करके, सुरा और सुन्दरी के चक्कर में पड़ गया, निर्दोष प्राणियों का शिकार करने और मांसाहार करने में प्रवृत्त हो गया, भोग-विलास में, रागरंग में मशगूल हो गया, तब से वह जो भी प्रवृत्ति करता है, उसने उद्योगी हिंसा के बजाय संकल्पी हिंसा का रूप ले लिया। राज्यलिप्सा के वशीभूत होकर दूसरे निर्दोष राज्यों पर चढ़ाई करना कैसे उद्योगी हिंसा में आ जाएगा? यह तो सरासर घोर महारम्भ है, महाहिंसा है।

वैश्य वर्ण का श्रावक भी अपने नियत कर्तव्य कर्म के अनुसार कृषि, पशुपालन एवं कोई सात्त्विक व्यवसाय जनता की सेवा की दृष्टि से करता था, इन उद्योगों में भी वह सावधानीपूर्वक चलता था, फिर भी किसी जीव की हिंसा हो जाती तो वह उद्योगी हिंसा के अन्तर्गत थी। किन्तु वैश्य जब इस पवित्र सेवा के उद्देश्य को भुलाकर न्याय-नीति को ताक में रखकर जमाखोरी, तस्करी, चोरबाजारी, धोखा, बेईमानी, मिलावट, मुनाफाखोरी, शोषण आदि करके व्यवसाय मर्यादाओं को भुलाकर, श्रमजीवियों के श्रम का शोषण करके येन-केन-प्रकारेण धन बटोरने लगा, तब अपने उद्योग-धन्धे में होने वाली हिंसा उद्योगी न रहकर संकल्पी बन गई। यही कारण है कि वर्तमान सरकार भी उस पर नाना प्रकार के करों का बोझ डाल कर उससे वसूल करने लग गई।

अतः वैश्य श्रावक का कर्तव्य है कि व्यापार-धन्धे में वह समाज-सेवा, समाज-हित, राष्ट्रहित और नैतिक दृष्टि रखकर उचित प्रवृत्ति करे। ऐसी उचित प्रवृत्ति करते हुए जो भी हिंसा हो जाती है, वह उद्योगी हिंसा मानी जा सकती है।

प्रागैतिहासिक काल की बात जाने दें। ऐतिहासिक काल की घटनाओं पर दृष्टिपात करें तो आपको ज्ञात हो जायगा कि जिस श्रावक ने वैश्यकर्मी के रूप में अपना पार्ट अदा किया है, उसने समाजसेवा की दृष्टि से सब कार्य किये हैं। जिस समय समाज पर या समाज के किसी व्यक्ति पर आफत आई है, उस समय वैश्य श्रावकों ने अपने धन की थैलियां खोल दी हैं, समाज के चरणों में अपना सर्वस्व चढ़ा

दिया है। जैन श्रावक खेमाशाह देदराणी ने बादशाह मोहम्मद बेगड़ा के राज्यकाल में जब गुजरात में भयंकर दुष्काल पड़ा तो एक साल तक सारे गुजरात को अपनी ओर से अन्न देने का बीड़ा उठाया था। कृषि व्यवसाय के पीछे खेमाशाह की भावना केवल अपना और परिवार का ही स्वार्थ नहीं था और न धन बटोर-बटोरकर रखने की लालसा थी। समय आने पर उसने अपना अन्न भंडार सारे गुजरात के लिए खोल दिया।

भामाशाह ने वैश्य होते हुए भी महाराणा प्रताप के मंत्रित्व (क्षत्रिय) का कर्तव्य निभाया और जब देखा कि मेवाड़ संकट में है, मेवाड़ाधीश राणा मेवाड़ प्रदेश छोड़कर अन्यत्र जा रहे हैं। स्वतन्त्रता संकट में है, तब भामाशाह ने अपना सर्वस्व धन मेवाड़ की स्वतन्त्रता के लिए महाराणा प्रताप के चरणों में प्रस्तुत कर दिया।

परन्तु वर्तमान व्यापारी वर्ग की मनोवृत्ति चाहे जिस व्यवसाय से, चाहे जिस रूप में, नीति-अनीति चाहे जिस तरह से धन कमाने की बन गई। व्यापारी वर्ग में दया, सेवा, करुणा और आत्मीयता समाज एवं राष्ट्र के प्रति अत्यन्त क्षीण हो गई है।

बंगाल में जिस समय भयंकर दुष्काल की छाया पकी हुई थी, लोग त्राहि-त्राहि करते थे। सर्वत्र हाहाकार मच गया था। अन्न के जूठे दानों पर कुत्ते और मनुष्य एक साथ झपटते थे। उस समय एक व्यापारी के विषय में हमने सुना कि उसके पास चावलों का बहुत अधिक संग्रह था। उसकी नीयत थी, कि भाव बहुत ऊँचे हो जायेंगे, तभी चावल बेचा जाएगा। इधर लोग भूखों मर रहे हैं, इसकी उसे कोई चिन्ता नहीं थी, न दया भावना थी। मुनीमों ने जब उससे कहा—तीस रुपये मन चावलों का भाव हो गया है, बेच दें ? तो उसने इन्कार कर दिया। फिर चालीस, पचास, साठ और सत्तर रुपये मन तक भाव चढ़ गया तो भी सेठ के मन में बेचने की भावना नहीं हुई। प्रत्युत मन्दिर में घी के दिए जलाने व गौशाला में गायों को घास डलवाने का धर्मात्मापन का नाटक किया। ऐसी घोर क्रूरता और निर्दयता से धनाढ्य बनकर यदि कोई कुछ दान कर देता है तो क्या उसका वह भयंकर भावहिंसा-संकल्पी हिंसा का पाप धुल सकता है ? कदापि नहीं यह तो अपने पापों पर पर्दा डालना है।

और शूद्र वर्ण ? उसको तो पहले से ही दबाया और सताया गया, उसके प्रति घृणा की दुर्भावना भरी गई, वह आगे बढ़ जाय, त्याग, तप, वैराग्य में तो उसको मारा-पीटा गया, जान से मार डाला गया। उसके पढ़ने-लिखने और विकास करने के सर्वाधिकार छीन लिए गए। विकास करने और सुसंस्कारों को पनपाने का उसे मौका ही नहीं दिया गया। सेवा के सुसंस्कार भी उसका बौद्धिक विकास न होने के कारण उखड़ते गए। मन मसोस कर दबे मन से वह सेवा करता जा रहा था। उसको पूर्व जन्म के अशुभ कर्मों का फल बतला कर पिछड़ा रखा गया। पूर्वजन्म के अशुभ कर्मों का तो तब पता लगता, जबकि उसे शिक्षा, हुनर, कला आदि का प्रशिक्षण दिया जाता

और तब वह तथाकथित उच्चाभिमानियों के समकक्ष न सिद्ध होता। उसे ऐसा अवसर दिया ही नहीं गया। भगवान महावीर और तथागत बुद्ध का ध्यान इस ओर गया। उन्होंने अपने संघों में उपासक और साधु दोनों श्रेणियों में शूद्रों को बराबर का स्थान दिया, सबको साधना करने का समान अवसर दिया विकास के लिए, तप-त्याग के लिए सबको समान रूप से प्रोत्साहन, प्रशिक्षण और समर्थन दिया। यही कारण है कि भगवान महावीर के संघ में अर्जुनमाली, सद्दालपुत्त कुंभकार, हरिकेशीबल चाण्डाल, मैतार्य मेहतर आदि अनेक लोगों ने गृहस्थाश्रम एवं साधु-जीवन की साधना की, आत्म विकास किया और मोक्ष के अधिकारी बने।

आज कोई शूद्रवर्णीय व्यक्ति समाजसेवा की भावना से श्रावक पद पर है तो वह अपने नियत कर्तव्यरूप व्यवसाय को ईमानदारीपूर्वक करता है। शबरी सफाई का काम करती थी, लेकिन उस सफाई को वह प्रभुभक्ति से भगवान राम का कार्य समझ कर करती थी,। इसी प्रकार वर्तमान में विविध सेवाकार्य करने वाले लोग—अपना उचित पारिश्रमिक लेकर बदले में समाज सेवा करने की भावना रखें तो ऐसा करने में उसके श्रावकधर्म का भी पालन होगा, जीवन में सुख-शान्ति भी रहेगी और आत्म-विकास भी हो सकेगा।

आज तो चारों वर्णों की जो व्यवस्था मध्य युग में जन्म से मानी जाने लगी थी, अब वह खण्डित और अव्यवस्थित हो गई है। आज तो एक हरिजन भी ब्राह्मण की तरह अध्यापन का कार्य कर सकता है; सेना में भर्ती होकर क्षत्रिय का कार्य भी कर सकता है, कोई कारखाना या दूकान लगाकर वैश्य का कार्य कर सकता है, माता की तरह सफाई के पवित्र कार्य को छोड़कर अन्य सेवाकार्य भी कर सकता है। ब्राह्मण के घर में जन्म लेने वाला व्यापार-धन्धा करके खेती कर सकता है, फौज में भर्ती होकर क्षत्रिय का कार्य करता है, या न्यायाधीश का काम कर सकता है। लकड़ी का सामान बनाने का कारखाना खोलकर बढ़ई (शूद्रवर्ण) का काम कर सकता है। शासन भी चला सकता है। वैश्य भी इसी प्रकार चारों ही वर्णों के काम कर सकता है। यों तो इस मोनोपोली के हट जाने से उच्चता का अहंकार टूटा है। लेकिन किसी भी व्यवसाय को राष्ट्रहित, समाज-कल्याण, समाज-सेवा या पारिवारिक प्रतिष्ठा तथा नैतिकता की तुला पर तोलकर चुनने का विवेक इस समय चारों ही तथाकथित वर्णों में नहीं आया है।

जैन धर्म का सारे संसार के लिए यही सन्देश है कि—संसार के सभी मनुष्य समान हैं, चाहे वे किसी देश, प्रान्त, जाति, धर्म और संस्कृति में पैदा हुए हों, मनुष्य के रूप में एक हैं। उनकी जाति और वर्ण मूलतः एक है। विभिन्न जातियों और वर्णों की रचना—विभिन्न प्रकार की योग्यता, रुचि और उद्योग-धंधों को लेकर हुई है। आखिर मनुष्य को अपनी जिंदगी गुजारनी है, तथा अपने परिवार, समाज एवं राष्ट्र आदि के प्रति कर्तव्यों को निभाना है तो कोई न कोई उपयोगी धंधा करना ही पड़ेगा, कोई

कपड़े, अनाज या अन्य चीजों का व्यापार करता है, कोई खेती करता है, कोई गो-पालन तो कोई न्याय और सुरक्षा दिलाने के लिए पुरुषार्थ करता है, कोई कपड़ा बनाने, कोई कागज बनाने कोई कुछ बनाने और कोई कहीं किसी सरकारी दफ्तर या दूकान वगैरह में नौकरी कर लेता है। जैनधर्म किसी भी जनसेवा की दृष्टि से किये जाने वाले व्यवसाय को छोटा-बड़ा, ऊँचा-नीचा या अपवित्र-पवित्र नहीं बताता। वह तो एक ही दृष्टि देता है—कर्मादान जैसे महारम्भी धंधों के सिवाय कोई भी सात्विक अल्पारम्भी धंधा हो, लेकिन उसके पीछे आपकी दृष्टि दूसरों को लूटने, शोषण करने, बेईमानी करने, राष्ट्र की करचोरी करने, तस्करी करने, मिलावट और धोखेबाजी करने, समाज और राष्ट्र के प्रति द्रोह करने की न हो। ऐसा हुआ तब तो कोई भी व्यवसाय छोटे पैमाने पर शुरू किया हो या विशाल पैमाने पर किया हो, उस व्यवसाय में लाचारी वश होने वाली हिंसा उद्योगी के खाने में जाएगी, किन्तु यदि उपर्युक्त बुराइयाँ श्रावक के व्यवसाय के पीछे हैं, तो कोई भी व्यवसाय हो, चाहे छोटा ही हो, संकल्पी हिंसा के अन्तर्गत ही आएगा।

कौन-सा व्यवसाय आर्य, कौन-सा अनार्य ?

आर्यकर्म और अनार्यकर्म के सम्बन्ध में भी समाज में बहुत-सी भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के कर्मों (धंधों) को आर्यकर्म कहा जाता है, और शूद्रों के धंधों (सफाई, शिल्प, कला, हुनर आदि) को अनार्यकर्म कहा जाता है। फिर उनके पीछे पवित्रता और अपवित्रता के कल्पित भाव बना लिए गए है। अमुक जाति पवित्र है, अमुक अपवित्र है। अमुक धंधा पवित्र है, अमुक अपवित्र है। किन्तु एक बात निश्चित समझ लीजिए कि पवित्रता और अपवित्रता का या आर्यकर्म अनार्यकर्म का सम्बन्ध किसी वर्ण या जाति के साथ नहीं है। किसी वर्ण ने ही पवित्रता का ठेका नहीं ले लिया है और न किसी जाति के हाथ में ही आर्यकर्म का एकाधिकार है।

जैनधर्म के तीर्थंकरों या आचार्यों ने पवित्रता-अपवित्रता या आर्य-अनार्यकर्म की कुछ कसौटियाँ बता दी हैं, उन कसौटियों पर कसकर कोई भी व्यक्ति निर्णय कर सकता है कि यह कर्म पवित्र है या अपवित्र ? आर्य है या अनार्य ?

आर्य-अनार्य कर्म का विस्तृत विवरण प्रज्ञापना सूत्र में मिलता है। वहाँ यही बताया गया है—जो निन्दित, घृणित, नीतिविरुद्ध, समाजघातक, राष्ट्रघातक व्यवसाय या कर्म हैं, वे अनार्यकर्म हैं। इसके उपरान्त जो कर्म महारम्भ वाले हैं, जिनमें अनापसनाप हिंसा होती है, त्रसजीवों का वध होता है, स्थावर जीव भी प्रचुर संख्या में हनन किये जाते हैं, जिन व्यवसायों में ठगी, शोषण, अन्याय, अत्याचार होते हों, ये सब अनार्यकर्म हैं, चाहे वह शिक्षक का व्यवसाय हो, न्यायाधीश का हो, सैनिक का हो, चाहे किसी भी उद्योग-धन्धे का क्यों न हो। ऐसे धन्धे जो बाहर से पवित्र-से प्रतीत होते हैं, किन्तु उनमें भी भ्रष्टाचार, अन्याय-अनीति, शोषण आदि अपवित्रताएँ घुसते ही अपवित्र और अनार्यकर्म हो जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य

उमास्वाति के स्वोपज्ञभाष्य में स्पष्ट बताया गया है कि[1] यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, कृषि, वाणिज्य आदि तमाम सात्त्विक आजीविका के कर्म करने वाले व्यक्ति कर्मार्य कहलाते हैं। आचार्य अकलंक भट्ट ने तत्त्वार्थ राजवार्तिक में स्पष्ट बताया है कि **'अल्पसावद्यकर्मार्याश्च श्रावकाः'** जब श्रावक इन्हीं सब कर्मों (धन्धों) को करता है तो ये ही अल्पारम्भी-अल्पसावद्य आर्यकर्म हो जाते हैं।

सारांश यह है कि चाहे सफाई का धन्धा हो, चाहे उपदेश का हो, चाहे वाणिज्य हो, कृषि हो, गो-पालन हो या और कोई धन्धा हो, नौकरी हो, यदि वहाँ उपर्युक्त दृष्टि और विवेक है तो वह धन्धा अल्पसावद्य आर्यकर्म है, और पवित्र है; किन्तु एकान्तरूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि अमुक धन्धा समाज में चल रहा है, उसका चलाने वाला कोई बड़ा धनिक है, इसलिए वह धन्धा पवित्र है, या उसका संचालक कोई ब्राह्मण है, इसलिए आर्यकर्म है। कोई धनिक कसाईखाना या वेश्यालय चलाता है, और कभी-कभी समाज के गरीबों को कुछ मदद देता है, दानशाला खोल देता है, प्याऊ लगा देता है, बस समाज के लोगों की तर्ज बदल जाती है, जो लोग पहले उस धनिक को अनार्यकर्मी, अपवित्र धन्धे वाला कहते थे, वे ही धर्मात्मा एवं दानवीर आदि कहने लगते हैं। उसे सभा-सोसाइटियों में ऊँचा आसन व पद दे दिया जाता है। क्या पैसा हो जाने से ही व्यक्ति पवित्र हो गया, आर्य हो गया? उसके द्वारा चलाया जाने वाला घृणित, निन्द्य या अनैतिक धन्धा पवित्र हो गया, आर्यकर्म हो गया? क्या सुन्दरियों को बेचने का, शराब-मांस बेचने का या दुश्चरित्रता फैलाने के धन्धे को, सट्टे-जुए को, चौर्यकर्म को आप पवित्र और आर्यकर्म कह सकते हैं? कदापि नहीं। उसी तरह जिस धन्धे में शोषण आदि दुर्गुण हों, उसे भी पवित्र कैसे कहा जा सकता है? दुर्भाग्य से कृषि कर्म, यदि श्रावक भी करता है तो उसे महारम्भ, अनार्य कर्म आदि कहा जाने लगा। कृषि तो मांसाहार और शिकार की ओर जाते हुए मानव-समाज को रोकने वाली अहिंसा की प्रतीक है। वह कदापि श्रावक के द्वारा की जाने पर महारम्भ नहीं हो सकती। हाँ, वही कृषि तमाखू आदि राष्ट्रघातक नशीली चीजों की, की जाती हो या अनाप-शनाप, असीम-अमर्याद, अनावश्यक अविवेकपूर्वक की जाती हो तो महारम्भ हो सकती है। कृषि ही क्यों, सभी आजीविकाएँ उपर्युक्त दूषणों से युक्त हों, तो वे भी संकल्पी हिंसा में परिगणित हो सकती हैं।

इसी प्रकार बीड़ी, सिगरेट, शराब, भांग, मांस, जुआ, सट्टा आदि व्यवसाय या उद्योग भी राष्ट्रघातक समाज के स्वास्थ्य और धर्म को चौपट करने वाला होने से उद्योगिनीहिंसा में नहीं आ सकते।

रोजी और रोटी के सम्बन्ध में अहिंसा-पथ का चुनाव

इस प्रकार हिंसा और अहिंसा, अल्पारम्भ और महारम्भ, छोटी हिंसा और

---

१ कर्मार्याः यजन-याजनाध्ययनाध्यापन-कृषिवाणिज्ययोनिपोषणवृत्तयः।

बड़ी हिंसा जीवन के चारों ओर व्याप्त है। श्रावक की भूमिका पर आरूढ़ व्यक्ति को उसी में से अपना मार्ग चुनना है, और देखना है कि आत्मा और शरीर दोनों को आघात न पहुँचे, न आत्मा का हनन हो, न शरीर का, दोनों को एक साथ खुराक दी जा सके।

शरीर की खुराक के लिए रोजी और रोटी दो माध्यम हैं। इन दोनों तक पहुँचने के लिए दो रास्ते हैं। एक रास्ता वह है, जिस पर चलने के लिए महारम्भ के द्वार से गुजरना पड़ता है। दूसरों को चूसकर, आघात पहुँचा कर, खून से हाथ रंग कर रोजी और रोटी प्राप्त करने में हिंसा का नंगा नृत्य दिखाई देता है। दूसरा पथ है—गृहस्थ की मर्यादा में अहिंसा का, जिसके अनुसार अल्प-हिंसा से, विवेक, विचार यत्नाचार के साथ चलकर रोजी और रोटी प्राप्त की जाती है, किसी का शोषण, अन्याय, अत्याचार या हनन नहीं करना पड़ता। सचमुच उस रोजी और रोटी में आनन्द आता है जो स्वयं न्याय-नीतिपूर्वक पुरुषार्थ करके प्राप्त की गई हो। जहाँ दूसरों के आनन्द पर डाका डाला जाता है, वहाँ तो स्वयं के और दूसरों के आनंन्द की ही समाप्ति हो जाती है। जहाँ दूसरों का शोषण करके, दूसरों पर अन्याय-अत्याचार करके धोखेबाजी से रोटी और रोजी कमाई जाती हो, वहाँ पर हिंसा उद्योगिनी न होकर संकल्पी बन जाती है।

गृहस्थ श्रावक के लिए यह बहुत ही दुष्कर है कि खेतीबाड़ी, व्यापार-धन्धे या नौकरी आदि जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं, उन सबको बन्द करके जीवन के पथ पर चले। भगवान महावीर के आनन्द, कामदेव आदि दस मुख्य आदर्श उपासक थे। उन्होंने खेतीबाड़ी, गोपालन या व्यापार-धन्धा आदि व्रती श्रावक की भूमिका में नहीं छोड़े। अकर्मण्य और आलसी बनकर बैठ जाने से या सशक्त और स्वस्थ होते हुए भी आजीविका के कार्य की अपनी जिम्मेवारी दूसरों पर डाल देने मात्र से गृहस्थ आरम्भ से छूट नहीं सकता, बल्कि अकारण ही घरवालों से रुष्ट होकर, या अबोध बालकों पर जिम्मेवारी डालकर निठल्ला बनकर बैठ जाने से कदाचित् शरीर की चेष्टाएँ बन्द हो जायँ, पर मन की दूकानदारी तो बन्द नहीं हो सकती। वह तो निरन्तर कषायों की सड़क पर सरपट दौड़ता रहेगा। ऐसी स्थिति में जैनधर्म व्रती श्रावक से कहता है—

आजीविका के लिए सात्त्विक प्रवृत्तियाँ भले ही हों, पर उनमें जो विष का पुट है, उसे हटा दो। प्रवृत्तियों के पीछे क्षुद्र स्वार्थ, आसक्ति और मोह, लोभ और तृष्णा की जो विषाक्त वृत्तियाँ हैं, उन्हें निकाल दो। तुम कोई भी व्यवसाय करो, नौकरी करो, कृषिकर्म आदि धन्धा करो, परन्तु उनमें अन्धाधुन्ध प्रवृत्ति न करो, उनमें से अज्ञान और अविवेक का जहर निकाल दो, अपने उत्पादित अन्न को ऊँचे दामों में बेचने के लिए दुष्काल पड़ने की दुर्भावना मत करो, अपनी दुकान के माल के भावों में तेजी आ जाने के लिए युद्ध छिड़ जाने का दुर्विकल्प मत करो, बल्कि ऐसे आकस्मिक संकट के समय दूसरों के जीवन-निर्वाह में सहायक बनने की करुणामयी

भावना रखो। अन्याय-अनीति, बेईमानी, मिलावट, धोखेबाजी आदि से धन बटोरने की कोशिश मत करो। किसी गरीब को चूसने की वृत्ति मत रखो। दूसरों को मूँड लेने एवं धोखाधड़ी की दुर्भावना मन से निकाल दो। दूसरों की रोजी, रोटी छीन-झपट-कर अपना पेट मत भरो। अतः जो रोजी, रोटी अल्पारम्भ से प्राप्त हुई है, स्वयं के श्रम से प्राप्त है, सात्त्विक है, ऐसी स्व-पर-हितकारक, आत्मा और शरीर दोनों के लिए पोषक रोजी-रोटी ही श्रावक की अहिंसा की मर्यादा में है। भगवान ऋषभदेव ने[1] प्रजा के हित के लिए ऐसी ही रोजी-रोटी प्राप्त करने की शिक्षा दी थी।

विरोधी हिंसा : स्वरूप, विवेक और विश्लेषण

गृहस्थ श्रावक अहिंसाधर्मी होता है। वह स्थूल त्रसजीवों की हिंसा का त्याग करता है, तब उसके सामने यह सवाल सहज ही उभर कर आता है कि अगर कोई व्यक्ति उद्दण्ड है, और वह अकारण ही गृहस्थ श्रावक पर, उसकी पत्नी, बच्चों या परिवार पर प्रहार करता है, आक्रमण करता है, उसके धन-माल को छीनने का प्रयत्न करता है, उसकी सम्पत्ति का अपहरण करता है, उसकी बहन-बेटियों के शील पर हमला करता है, उसे लूटने-खसोटने का प्रयत्न करता है, निर्दय शत्रु उसके परिवार, नगर, गाँव, जाति, देश या धर्मसंघ पर हमला करता है। मान लो वह शासक है, राष्ट्र का प्रधानमन्त्री है, ऐसी स्थिति में वह क्या करे? क्या वह हाथ पर हाथ रखकर बैठा रहे? अथवा प्रतीकार करे? सौम्य प्रतीकार भी अगर सफल न होता हो तो वह सशस्त्र प्रतीकार करे या नहीं? जबकि उस पर परिवार की रक्षा का दायित्व हो, अथवा संघ की या राष्ट्र की रक्षा का दायित्व हो तो वह क्या करे? अथवा वह स्वयं न्यायाधीश हो, या सैनिक हो अथवा पुलिसमेन हो तो किसी अपराधी, विशेषतः जब वह हत्या या गम्भीरतम अपराध से युक्त हो तो उसे दण्ड दे या नहीं? कानूनन मृत्युदण्ड दे या नहीं? इसी प्रकार अगर उसके परिवार का कोई सदस्य बार-बार कहने पर भी गलती करता है, पशु भी इशारे से नहीं चलता, ऐसी स्थिति में वह किस प्रकार का दण्ड प्रयोग कर सकता है? अगर श्रावक कृषक है तो अपने खेत को नुकसान पहुँचाने वाले, बन्दरों को डराकर भगा सकता है या नहीं? अपने पर आक्रमण करने वाले किसी कुत्ते से अपनी रक्षा के लिए उसके डण्डा मार सकता है या नहीं? अन्य कोई खूँखार जानवर उस पर आक्रमण करता है तो वह सशस्त्र प्रत्याक्रमण कर सकता है या नहीं?

ये और इसी प्रकार के अनेक प्रश्न अहिंसाधर्मी के सामने पर्वताकार होकर खड़े हो जाते हैं, परन्तु जैनधर्म ने श्रावक की अहिंसा की मर्यादा के सन्दर्भ में एक बात स्पष्ट कर दी है कि वह किसी भी निरपराधी की हिंसा नहीं कर सकता। किन्तु कई लोग भ्रान्तिवश वर्तमान में निरपराधी को अपराधी समझ लेते हैं। भूतकाल में

---

१ 'पयाहियाए उवदिसई'—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति

उस प्राणी ने किसी का अपराध किया हो, उसको लेकर उस प्राणी को अपराधी समझ लेना भूल है। और विशेष भ्रान्ति तो तब होती है, जब उस सारी जाति को ही अपराधी, विरोधी या शत्रु मान लेता है। मान लो, किसी सांप ने कभी किसी को काटा हो, जबकि उस व्यक्ति ने सांप को छेड़ा हो, अब उस बात को वर्षों हो गए, वह साँप भी पता नहीं कहाँ चला गया, परन्तु भ्रान्त मनुष्य किसी भी सांप को देखते ही उसे अपना अपराधी या शत्रु मान बैठता है और सारी सर्प जाति को समाप्त कर देने की दुष्ट भावना करता है तो बहुत ही भयंकर भूल है। इसलिए श्रावक को सर्वप्रथम तो भूतकाल के किसी दूसरे के अपराधी को स्वयं का अपराधी नहीं मानना चाहिए। दूसरे, सर्प, बिच्छू या सिंह, चीते आदि को देखते ही उसे अपराधी नहीं मान लेना चाहिए। तीसरे, किसी भी हिंस्र जानवर को देखते ही उसे मारने की भावना नहीं करनी चाहिए कि भविष्य में यह किसी को मारेगा, इसलिए अपराधी है ? वास्तव में अपराधी और निरपराधी को परखने की कुशलता सर्वप्रथम श्रावक में होनी चाहिए।

किसी सुन्दर स्त्री को पाने में दूसरा बाधक बना, अपने अन्याय, अत्याचार और बेईमानी को रोकने का किसी ने प्रयत्न किया, अपने दुर्व्यसनों को किसी ने छुड़ाने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न किए, अपनी गलतियों को सुझाने और बतलाने का किसी ने प्रयत्न किया, अपने गलत कामों, अविनय और अनुशासनहीनता, अनैतिकता या हिंसावृत्ति के खिलाफ किसी ने रोकटोक की, किसी ने दूसरे का राज्य हड़पने के प्रयत्न का विरोध किया, उसे विरोधी या अपराधी समझना ही भूल होगी। बल्कि ऐसे व्यक्ति को, जो आपका सुधार चाहता है, आपके जीवन का विकास चाहता है, अपना उपकारी और आत्मीय समझना चाहिए। पर आजकल जो व्यक्ति भ्रष्टाचार, अन्याय, अनीति, अधर्मकृत्य या किसी गलती के विरोध में आवाज उठाता है, उसे विरोधी समझकर खत्म करने का प्रयत्न किया जाता है। विद्यार्थी परीक्षा में नकल करता है, निरीक्षक महोदय उसे रोकते हैं, मना करते हैं; परन्तु विद्यार्थी निरीक्षक को अपना शत्रु समझकर मार-पीट देता है। श्रावक को विरोधी और अपराधी को समझने में ऐसी आत्मघातक भयंकर भ्रान्तियों का शिकार नहीं बनना चाहिए। कई लोग, जिनमें विचारक और धर्मात्मा कहलाने वाले धर्म-धुरन्धर साधक भी हैं, दूसरे धर्म-सम्प्रदाय, पंथ, मत, जाति, वर्ण, संस्कृति, प्रान्त, भाषा या राष्ट्र को तथा उससे सम्बन्धित स्त्री-पुरुषों को सबको अपना विरोधी, शत्रु, काफिर या बैरी मान बैठते हैं, उनके उत्कर्ष को सहन नहीं कर सकते, द्वेषवश वे उस माने हुए विरोधी को नीचा दिखाने, उसे हानि पहुंचाने और यहाँ तक कि उसे मार डालने तक का प्रयत्न करते हैं। भारत एवं यूरोप का इतिहास धर्म के नाम पर किये जाने वाले युद्धों, संघर्षों और मारकाट से भरा है। धर्म, जाति राष्ट्र आदि के नाम पर ऐसी भयंकर संकल्पी हिंसा, पाप एवं अधर्म अहिंसा और धर्म के आवरण में हुई है। विचारक मानवों की अन्तश्चेतना भी इस पापवृत्ति के खिलाफ कुण्ठित हो गई। ये सब संघर्ष या युद्ध वस्तुतः अपने अहंकार एवं अस्मिता के पोषण के लिए लड़े गए हैं। अतः श्रावक को

ऐसी भयंकर संकल्पी हिंसा को विरोधी हिंसा मानने की भूल कदापि नहीं करनी चाहिए।

यथार्थ में जो अपराधी है, उसे ही विरोधी समझना चाहिए और विरोधी का प्रतिकार श्रावक किस हद तक और किस क्रम से कर सकता है? यह सोचने की बात है। श्रावक के सामने आदर्श तो यह है कि किसी भी स्थूल (त्रस) जीव की हिंसा न की जाय। परन्तु आदर्श, आदर्श है; वह व्यवहार में कब, कैसे, कहाँ और कितना उतरता है, यह गम्भीरतया विचारणीय है। आदर्श को व्यवहार में उतारने के लिए यह भी विचार करना आवश्यक हो जाता है कि किस स्थिति का व्यक्ति उस आदर्श को जीवन में व्यक्तिगत रूप से कितना उतार सकता है, यह उसकी अपनी देशकाल की परिस्थिति, क्षमता, अन्तःस्फुरणा, नैतिक आत्मशक्ति आदि पर निर्भर है। दशवैकालिक सूत्र में इस सम्बन्ध में स्पष्ट मार्गदर्शन दिया गया है—

बलं थामं च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निउंजए॥

—किसी भी व्रत-नियम का साधक अपनी शक्ति, उत्साह, श्रद्धा और स्वास्थ्य को देख कर, तथा क्षेत्र और काल को विशेष रूप से जानकर तभी उसमें अपने आपको जुटा दे।

यह नहीं भूल जाना चाहिए कि व्यक्ति अकेला हो, उस पर राष्ट्र, परिवार एवं समाज की रक्षा की कोई जिम्मेदारी न हो तो अपने आपको वह विरोधी—अपराधी के सामने अहिंसा के उच्च आदर्श के लिए न्यौछावर कर सकता है, प्रतिफल की कुछ भी कामना किये बिना। किन्तु सारे परिवार, समग्र समाज और राष्ट्र से तो ऐसी आशा नहीं की जा सकती। और न ही ऐसा अग्रगण्य व्यक्ति समग्र परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए अहिंसा के उच्च आदर्श के पालन का निर्णय दे सकता है। क्योंकि ऐसे युद्ध आदि के संकट के समय प्रत्येक व्यक्ति अपने और अपने से सम्बन्धित जनसमूह की सुरक्षा चाहता है; फिर भले ही वह किसी भी उपाय से उपलब्ध हो।

मान लीजिए, आक्रामक, आततायी, दुष्ट या अत्यन्त दुर्जन है, उस पर अहिंसात्मक प्रतिकार का कोई प्रभाव नहीं होता। आक्रामक देश को लूटता है, वहाँ की सभ्यता और संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करता है, निर्दोष प्रजाजनों को सताता है, बहन बेटियों की इज्जत पर हमला करता है, ऐसी स्थिति में अगर कोई श्रावक राजा या शासक है, श्रावक प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति है तो राष्ट्र की सुरक्षा और शान्ति के लिए क्या उपाय नहीं करेगा?

अधिक शक्ति अहिंसा में या हिंसा में?

साधारणतया आम लोगों की धारणा यह बन गई है कि अहिंसा में कोई शक्ति नहीं है, जो कुछ शक्ति है, वह हिंसा में है। हिंसा से ही शक्ति-संतुलन हो

सकता है, हिंसा से ही क्रान्ति हो सकती है। इसलिए कुछ लोग यह भी कह देते हैं कि जैनों की अहिंसा के कारण भारत में कायरता और दुर्बलता आई, भारत पराधीन हुआ। अमुक व्यक्ति ने अहिंसा का मार्ग चुना, इसलिए वह पिछड़ गया, हिंसा करने वाला आगे बढ़ गया। वैसे भौतिक दृष्टि वाले लोगों की नजरों में आगे बढ़ने का अर्थ है—वैभव पा लेना, सत्ता हथिया लेना और अकरणीय कार्य सफल हो जाना। परन्तु विचार करने पर ये सब धारणाएँ भ्रान्त ही प्रतीत होंगी। वास्तव में शरीर एवं शस्त्र-अस्त्र आदि बाह्य पदार्थों में ही हमने शक्ति को सीमित कर दिया है। हिंसा पशुबल की परिचायिका है। वह भौतिक पाशविक व शक्ति है। हिंसा की शक्ति भले हिंसक के हाथ में रहे, अहिंसा को इस पाशविक शक्ति की आवश्यकता नहीं; क्योंकि उसमें शारीरिक बल प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहती। यह क्यों मान लिया जाता है कि अहिंसा में शक्ति नहीं हैं। अहिंसक शक्तिशून्य ही होता है। अहिंसा आत्मा का गुण है, इसलिए अहिंसा अपने आप में आत्मा की शक्ति है। अहिंसा की आत्म-शक्ति के सामने हिंसा की पाशविक या भौतिक शक्ति की सदा पराजय हुई है। अहिंसक के पास जो नैतिक शक्ति है, वह हिंसक के पास हो नहीं सकती। हिंसा से प्रतिहिंसा की परम्परा चलती है, जबकि अहिंसा से प्रेम की परम्परा।

हिंसा से बहुधा क्षणिक सफलताएँ मिलती हैं, श्मशान की-सी शान्ति हिंसा के द्वारा हो जाती है, परन्तु वह शान्ति स्थायी नहीं होती, सशक्त होते ही मनुष्य हिंसक रूप से उसकी प्रतिक्रिया करता है। उससे अनेक सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। फिर हिंसा अव्यावहारिक भी है। किसी की आँख निकालने के बदले आँख निकालने की परम्परा का कहीं अन्त नहीं है। एक दिन सभी अन्धे हो जाएँगे। यह तरीका अनैतिक है। क्योंकि नीचे उतरते-उतरते अन्त में सभी का विनाश हो जाता है। गलत भी है, क्योंकि हिंसा में विरोधी को परिवर्तित करने के बजाय, उसका सफाया कर देने का प्रयत्न होता है।

प्रश्न होता है, जब अहिंसा में हिंसा से बढ़कर शक्ति है, जिससे समग्र विश्व पर नियंत्रण किया जा सकता है, अहिंसक के सामने विरोधी भी आत्म-समर्पण के लिए विवश हो जाता है, तब अहिंसा की शक्ति का जगत् को एवं राष्ट्र के विविध मांधाताओं को प्रत्यक्ष परिचय क्यों नहीं हो जाता ? इसका कारण यह है कि अहिंसा में हिंसा से अधिक शक्ति होते हुए भी सही माने में अहिंसा में निष्ठा रखने वाले कम हैं, जितनी निष्ठा से अहिंसा का प्रयोग किया जाएगा, उतना ही अधिक उसकी शक्ति का पता लगेगा। अहिंसा की असीमता और अजेयता के गीत गाने की सतही अहिंसा गहराई में रही हुई हिंसा से निस्तेज हो जाती है। क्योंकि मात्र सैद्धान्तिक अहिंसा में प्रकट शक्ति नहीं होती; प्रकट शक्ति होती है, प्रायोगिक अहिंसा में। और वह अहिंसा आती है, अन्तर्वृत्तियों के व्यूह को भेदकर। अहिंसा के अस्त्र की शक्ति अप्रतिहत होने पर ही उसकी शक्ति का अंदाजा लोग लगा सकते हैं।

कई लोग अहिंसा की शक्ति पर निष्ठा न रखने वालों के व्यवहारों को देखकर कह दिया करते हैं—अहिंसा कायरों का धर्म है। अहिंसा मनुष्य को बुजदिल और कायर बनाती है। उसका सहारा लेकर मनुष्य अन्याय-अत्याचार का कोई प्रतिकार न करके चुपचाप बैठ जाता है। परन्तु यह अहिंसा का स्वरूप न समझने और उसकी शक्ति प्रगट न देखने के कारण अज्ञानजनित कथन है। अहिंसा कायर बनाती है या कायरों की है, यह बात वे ही कहते हैं, जो अहिंसा के वास्तविक गुणों को नहीं जानते। वीरशिरोमणि ही अहिंसा का धारण एवं पालन कर सकता है। कायर अहिंसाधारी नहीं कहला सकते। अहिंसा और कायरता ये दोनों अलग-अलग चीजें हैं। अपनी बहन-बेटी का किसी अत्याचारी पुरुष द्वारा शीलहरण करते देखकर या अपने पर आक्रमण होते देखकर कोई व्यक्ति चुपचाप यह कहकर या सोचकर बैठ जाता है कि मैं तो अहिंसक हूँ, मैं इसका प्रतिकार कैसे कर सकता हूं; क्योंकि प्रतिकार करने में किसी न किसी प्रकार की हिंसा होने की सम्भावना है; अहिंसा नहीं, कायरता है। यह विचार अहिंसा की ओट में कायरता है; मानसिक दौर्बल्य है। इस प्रकार की निर्वीर्यता अहिंसा नहीं है। चूहा अगर यह कहे कि मैं तो बिल्ली का सामना नहीं करता, क्योंकि मैं अहिंसक हूं, और चुपचाप भागकर बिल में छिप जाता है तो कौन विश्वास करेगा कि चूहा अहिंसाधर्मी है। सभी चूहे को कायर कहेंगे। यही बात तथाकथित अहिंसक के बारे में समझ लीजिए। कायरता धारण करके बैठनेवाला हृदय में तो जलता और कुढ़ता रहता है, बाहर से सन्तोष या सहमति का वरण कर लेता है, हिंसक व अत्याचारी के सामने घुटने टेक देता है, कभी भाग्य में ऐसा ही बदा है, यों मन को झूठ-मूठ समझा लेता है। बहुत-से जैन लोग इसी भ्रान्ति के कारण कर्तव्य से पराङ्मुख हो जाते हैं और कायरता को ही अहिंसा मान बैठते हैं। इसी कारण दूसरे लोगों को जैनों की अहिंसा का उपहास करने का मौका मिलता है।

बलिदान और उत्सर्ग या स्वार्पण के बिना अहिंसा जीवित नहीं रह सकती, और न ही अहिंसा की अप्रतिहत शक्ति प्रकट हो सकती है। यदि माता बच्चे के लिए अपना बलिदान और स्वार्पण देकर अहिंसा को प्रगट न करे तो स्नेहपूर्ण वात्सल्य का आविर्भाव कैसे हो सकता है? अहिंसा क्षात्रवृत्ति में है। वीरोचित अहिंसावृत्ति इसी-लिए मँहगी है कि इसमें खुद को मिटाकर—बलिदान करके हिंसा का विरोध करना पड़ता है। इसके विपरीत, मैं बच जाऊँ, और अहिंसा की ओट में अपने बचाव के सब साधन जुटा लूँ, यह तरीका कायरता का है, जो सरासर हिंसा है। भगवान महावीर ने वर्तमान युग के तथाकथित अहिंसकों की तरह कायरता धारण नहीं की थी, उन्होंने बलिदान एवं स्वार्पण की भावना लेकर अहिंसा में जीवन को कृतार्थता देखी थी। उस युग में आम जनता की यह धारणा थी कि हिंसा में शक्ति है, लेकिन भगवान महावीर ने अपने जीवन में त्याग, स्वार्पण, बलिदान, व्युत्सर्ग और कायोत्सर्ग का समावेश कर यह बता दिया कि अहिंसा में महान् शक्ति है। इसके लिए भगवान महावीर हिंसक, द्वेषी, क्रूर एवं पापी व्यक्तियों के प्रति भी द्वेष न करके वात्सल्य बरसाते थे, जिसके कारण

उनके हृदय में परिवर्तन हो जाता। चण्डकौशिक सर्प ने अपनी सारी शक्ति भगवान महावीर को काटने में लगाई, लेकिन अहिंसावतार भगवान महावीर ने उस कष्ट को सहा, निर्भय एवं समभावी बनकर खड़े रहे, उनके अन्तर्मन में चण्डकौशिक के प्रति तनिक भी रोष, द्वेष, घृणा या वैर का विकार पैदा नहीं हुआ। इस कारण सर्प जैसे क्रूर प्राणी का भी हृदय बदल गया। वह भी निर्विष होकर शान्त और समभावी बन गया।

कैवल्यावस्था में भी गोशालक द्वेषी बनकर भगवान महावीर के पास आता है, उन्हें अपशब्द कहता है, बात बढ़ते-बढ़ते वह तेजोलेश्यारूप हिंसक शक्ति का प्रयोग भगवान महावीर पर करता है, उनके सम्मुख ही दो मुनियों को भस्म कर देता है, फिर भी अहिंसा में परम निष्ठावान वीरप्रभु शान्त, अविचल एवं समभाव में स्थित रहते हैं। भगवान महावीर ने गोशालक की हिंसा का प्रतिशोध हिंसा से नहीं लिया। इसी का शुभ परिणाम यह आया कि विरोधी गोशालक के हृदय पर भगवान महावीर की निर्विकारिता, शान्ति और समता की गहरी छाप पड़ी, उसे अपने अनुचित व्यवहार के लिए पश्चात्ताप हुआ, विवेक जागृत हुआ। हृदय परिवर्तन की यह महान् शक्ति अहिंसा में छिपी पड़ी है। महात्मा गांधी ने अहिंसा की शक्ति का स्वानुभव करके, जीवन में प्रयोग करके बताया कि व्यक्ति अहिंसा के द्वारा सारे संसार को वश में कर सकता है। परन्तु आज अहिंसा में कुण्ठाएँ आ गई हैं। उनके निरसन करने का दायित्व अहिंसा के तथाकथित उपासकों पर है। किसी भी अस्त्र में कुण्ठा तब आती है, जंग तब लगती, जब वह लम्बे समय तक काम नहीं लिया जाता। अहिंसा का भी स्वाधीनता संग्राम के समय प्रयोग हुआ था, लेकिन इन तीन दशकों के बीच क्या उस प्रयोग को दोहराया गया? नहीं दोहराने का कारण स्पष्ट है, जनमानस अहिंसा के प्रति निष्ठावान नहीं है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले भारतीय जनमानस में अहिंसा के प्रति जो आस्था थी, क्या वह उखड़ने नहीं लगी है? आस्था के बिना प्रयोग नहीं होता है। अतः अहिंसा में जमी हुई कुण्ठा को दूर करने के लिए सर्वप्रथम उसे सिद्धान्त के घेरे से निकाल कर व्यावहारिक रूप देना होगा। अहिंसा में निष्ठा और तदनुसार व्यवहार का आधार है—साधन और साध्य में सामंजस्य—एकरूपत्व। साधनों और साध्यों मे समस्वरता हो, निर्दोष साध्य के अनुरूप साधन भी निर्दोष व शुद्ध हों। अनैतिक साधनों से नैतिक लक्ष्यों की सिद्धि नहीं हो सकती। दूसरी बात है—अपने विरोधी को क्षति न पहुँचाना, तीसरी बात है—प्रहार का जवाब प्रहार से न हो, शारीरिक हिंसा का प्रतिशोध न हो, मन में विरोधी के प्रति बुरा चिन्तन न हो, न ही वाणी से उसके प्रति अभद्र शब्दों का प्रयोग हो। इस प्रकार हिंसा की शारीरिक शक्ति से अहिंसा की आत्मिक-शक्ति का मुकाबला होने पर ही अहिंसा की अप्रतिहत शक्ति का परिचय लोगों को मिल सकता है।

इस दृष्टि से देखें तो भगवान महावीर के बाद गांधीजी ने एक विस्फोट अहिंसा के क्षेत्र में किया। उन्होंने समाज के जीवन को बदलने का बीड़ा उठाया। गुलामी,

शोषण और भय से मुक्ति। डरा हुआ मनुष्य कौन-सी धर्मसाधना कर सकता है, कायर की अहिंसा भी कोई अहिंसा है ? निहत्थे लोगों ने सहज अपने अहिंसा के आत्मबल से साम्राज्य का झंडा झुकाया, उसकी तोपों के मुँह मोड़े। बहके हुए इन्सानों के सामने वह महात्मा अपना सीना ताने खड़ा रहा। लोगों के मन बदले। गांधीजी ने कहा—मैं आपकी हिंसा का रास्ता रोकूँगा, आपको अहिंसा की ओर मोड़ूँगा। बन्दूक से नहीं, स्वयं मर-मिटकर। मेरी कष्ट-सहिष्णुता आपके दिल को पिघलाएगी, मेरा त्याग आपके लालच को रोकेगा। भगवान महावीर ने तप-त्याग सिखाया। अपने राष्ट्र के लिए गांधीजी ने मरना सिखाया समाज को अहिंसक बनाया। दोनों कठोर साधना के मार्ग हैं।

प्रतिकार का क्रम

इसलिए श्रावक को अपनी शक्ति, परिस्थिति देखकर सम्भव हो सके तो विरोधी के प्रति मन में किंचित् भी रोष, द्वेष न रखते हुए अहिंसात्मक प्रतिकार का कदम उठाना चाहिए। परन्तु इसके लिए पहले बताया कि उस प्रकार की अहिंसानिष्ठा एवं निर्भयतापूर्वक प्रयोग का प्रयत्न हो तभी सफलता मिल सकती है।

अहिंसा की प्रबल शक्ति में कोई सन्देह नहीं है. परन्तु अहिंसा या अन्य किसी भी अध्यात्म-साधना के कारण दूसरे का हृदय तभी बदला जा सकता है, जबकि वह सभ्य, शिष्ट, विनीत, या जिज्ञासु हो। यदि विरोधी का हृदय तमसाच्छन्न है, खुदगर्जी की राक्षसी वृत्ति से ग्रस्त है तो सहसा कैसे बदलेगा वह ? अहिंसात्मक प्रतिकार का स्नेह प्रवण दिव्य निमित्त पाकर वे ही बदल सकते हैं, जिनका हृदय भावनाशील व सत्वगुण प्रधान हो। तमोगुणी, जड़ता के प्रतिनिधि, कठोर लोगों के हृदय कब बदले हैं ? चित्तौड़ आदि में सैकड़ों भारतीय वीरांगनाएँ सतीत्व की रक्षा के लिए जल कर भस्म हो गईं, भारत विभाजन के समय भी हजारों ललनाओं ने पवित्रता की रक्षा के लिए प्राणों की बलि दे दी। परन्तु आततायियों के हृदय कब और कितने बदले ? स्वयं भगवान महावीर अपने युग के कोणिक-चेटक-युद्ध को न रोक सके। उन जैसी अहिंसा की प्रशस्त साधना अन्यत्र कहाँ है, जो आततायियों के क्रूर हृदयों को बदल दे। अतः भौतिक क्षेत्र में अपराधपरायण तामस लोगों के लिए शक्ति का प्रतिकार शक्ति है। अहिंसा एक परमधर्म है, लेकिन स्वार्थलोलुप, क्रूर व्यक्तियों के पंजों से समाज और राष्ट्र को बचाने के लिए युद्ध एक बुराई होते हुए भी अनिवार्य रूप ले लेता है। भगवान महावीर ने गृहस्थ श्रावक के लिए सुरक्षा के प्रसंग में अपनी ओर से अपनी किसी स्वार्थपूर्ति के लिए किसी पर आक्रमण करने का या युद्ध छेड़ने का तो निषेध किया, लेकिन दुष्ट-क्रूर विरोधी के आक्रमण कभी अहिंसक प्रतिकार से शान्त न होता प्रतीत हो तो, हिंसात्मक सशस्त्र प्रतीकार के लिए एकान्त निषेध का आग्रह नहीं किया।

वैसे तो गृहस्थ श्रावक एक चींटी के भी जानबूझ कर प्राण लेने में काँप उठेगा, लेकिन जब न्याय एवं सुरक्षा के लिए रणक्षेत्र में जाने का अवसर आ पड़े तो

वह पहले तो रण को टालने की कोशिश करेगा, परस्पर समझौता या किसी भी सात्त्विक एवं अहिंसक उपाय से समाधान, सुलह कराने का प्रयत्न करेगा, परन्तु जब प्रतिपक्षी बिलकुल ही मानता नहीं, हठ पर तुल जाता है, तब युद्ध अनिवार्य आ पड़ने पर वह कदापि पीछे नहीं हटता। परन्तु वह युद्ध करते हुए भी विरोधी के प्रति मन में द्वेष, रोष, घृणा न रखकर प्रेमभाव रखेगा।

भगवतीसूत्र में वर्णनागनत्तुआ का बहुत सुन्दर और संक्षिप्त विवरण मिलता है। वह व्रतधारी श्रावक था। बेले-बेले तप करता था। एक बार एक न्याय रक्षा के लिए हुए युद्ध में लड़ने के लिए जाने का उसके स्वामी की ओर से आदेश मिला। वर्णनाग ने सोचा—मुझे न्याययुक्त धर्मयुद्ध में जाने का आदेश मिला है, अतः अवश्य जाना चाहिए। वह शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर सैनिक वेष में कवचादि धारण करके साथ ही तीन दिन (तेले) की तपश्चर्या स्वीकार करके रणक्षेत्र में पहुंचा। शत्रु-पक्ष के सैनिकों की ओर से जब शस्त्र प्रहार प्रारम्भ हुआ, तभी उसने शस्त्र चलाना शुरू किया। उस युद्ध में वह वीरतापूर्वक लड़ा, अतः विजय हुई।

समर भूमि में युद्ध के समय श्रावक अपना जौहर दिखाने में कभी पीछे नहीं हटता। मगर अपने सन्ध्याकालीन प्रतिक्रमण आदि नित्य नियम को भी नहीं छोड़ता। कभी-कभी जैन श्रावक की धर्म-क्रिया में **इरियावहिया** आदि पाठ को पढ़ते देखकर उस अहिंसक वीर को लोग कायर समझने लगते हैं। पर वह कायर नहीं हो सकता।

गुजरात का जैन सेनापति आभू व्रतधारी श्रावक था। राजा अपने राज्य से बाहर गया हुआ था। शत्रु ने मौका देखकर पीछे से आमक्रण कर दिया। रानी ने सेनापति आभू को सारी स्थिति समझा कर शत्रु से युद्ध करने के लिय भेजा। युद्ध की तैयारी हुई। सन्ध्या समय युद्ध बंद होने के बाद सेनापति प्रतिक्रमण कर रहा था। वह '**इरियावहिया**' पाठ में वर्णित एकेन्द्रिय आदि जीवों की भी संकल्पपूर्वक हिंसा न करने की प्रतिज्ञा दोहरा रहा था। सेनाधिकारियों ने सुना तो उनके मन में सेनापति की वीरता के विषय में सन्देह हुआ। उन्होंने जाकर रानी से सारी घटना कह सुनाई। रानी भी संदिग्ध हो गई और सेनापति को बुलाकर उसने पूछा—"इस प्रकार की सूक्ष्म अहिंसा का पालन करोगे तो युद्ध में कैसे जौहर दिखाओगे ?" सेनापति आभू ने कहा—"महारानीजी ! मैं जैनधर्मी श्रावक हूँ। अनावश्यक और अकारण एक भी निरपराधी एकेन्द्रिय जीव की भी हिंसा करना मैं नहीं चाहता, यदि लाचारीवश हो जाय तो प्रायश्चित्त करता हूँ, पर राष्ट्र और समाज की सुरक्षा के लिए युद्ध अनिवार्य रूप से आ पड़े तो मैं तैयार रहूँगा, वह मेरा राष्ट्रीय कर्तव्य होगा।" महारानी को सेनापति की शूरवीरता पर विश्वास था परन्तु सैद्धान्तिक दृढ़ता से वह बहुत प्रभावित हुई। सेनापति के सफल नेतृत्व में सेना जोर-शोर से लड़ी, शत्रु सेना परास्त हुई। सेनापति आभू ने विजयश्री प्राप्त की।

कहने का तात्पर्य है अन्याय, अत्याचार, आक्रमण, भ्रष्टाचार का दमन करने के लिए श्रावक पीछे नहीं हटता। ऐसे अवसर पर वह उत्तरदायित्व से किनाराकसी नहीं करता। उसका उद्देश्य शत्रु का संहार करना नहीं अन्याय-अत्याचार को मिटाना होता है ? उसमें सापराधी-विरोधी की हिंसा होती है, जो श्रावक की अहिंसा की मर्यादा में होती है।

हिंसा-अहिंसा का भविष्य पक्ष भी देखें

हिंसा-अहिंसा का केवल वर्तमान पक्ष ही नहीं, भविष्य-पक्ष भी देखना आवश्यक है। यदि वर्तमान में हिंसा होती है, उसके द्वारा भविष्य में अहिंसा की विपुल मात्रा प्रतीत होती है तो वर्तमान की हिंसा भी अहिंसा की साधक हो जाती है। किन्तु इसके विपरीत वर्तमान में अल्पमात्रा में पाली हुई अहिंसा से भविष्य में प्रचुरमात्रा में हिंसा फूट पड़ने की संभावना है तो वर्तमान की यह क्षुद्र अहिंसा के साधना क्षेत्र में नहीं आती।

कभी-कभी एक बहुत बड़ी हिंसा—जो कि अपराधी या विरोधी के अन्याय, अत्याचार को सिर झुका कर मान लेने से—संभावित है, उसे रोकने के लिए जो एक छोटी हिंसा होती है, वह हिंसा की एकान्त श्रेणी में नहीं आती। एक उँगली में जहर फैल गया है, यदि उस उंगली को तत्काल काटा नहीं जाता है तो वह जहर सारे शरीर में फैल जाएगा और सारे शरीर को ले बैठेगा। इसलिए पूरे शरीर को जहरीला होकर समाप्त होने से बचाने के लिए तत्काल विषाक्त अंगुली को काट कर शरीर से अलग किया जाता है। इस उदाहरण के सन्दर्भ में जैनधर्म का सिद्धान्त है कि अगर भविष्य में कोई बड़ी हिंसा होने वाली हो या हो रही हो तो वहाँ छोटी हिंसा का प्रयोग, एक तरह से अहिंसा का ही रूप है। अहिंसा का रूप इसलिए है कि इस छोटी हिंसा के पीछे दया व करुणा छिपी हुई है।

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम ने रावण के साथ हुए युद्ध को टालने की बहुत कोशिश की, लेकिन रावण अपने हठ पर अड़ा रहा। जब कोई चारा न रहा, तब रामचन्द्रजी को युद्ध करना पड़ा, पर किसलिए ? क्या एक सीता के लिए ? नहीं, नहीं वहाँ एक सीता का ही प्रश्न नहीं था, हजारों सीताओं के नैतिक जीवन को बर्बाद करने की भयंकर हिंसा का प्रश्न था। अगर युद्ध न लड़ा जाता और चुपचाप अन्याय को सह लिया जाता तो से संसार न्याय की प्रतिष्ठा ही समाप्त हो जाती। भविष्य में और भी अन्याय फैलता। यही बात कौरव-पाण्डवों के युद्ध की थी। यहाँ भी श्रीकृष्ण ने पांच गाँव लेकर समझौता कर लेना चाहा, परन्तु दुर्योधन टस से मस न हुआ। युद्ध के बिना सूई की नोंक पर आए उतनी जमीन भी देने को तैयार न हुआ, तब श्रीकृष्ण को लाचार होकर दुर्योधन के अन्याय को शान्त करने के लिए युद्ध को अनिवार्य मान कर स्वीकार करना पड़ा। युद्ध पाण्डवों पर लादा गया था। कोणिक को बहुत समझाने-बुझाने के बाद भी वह अपने अन्याय पक्ष पर अड़ा रहता है, और बार-बार युद्ध

की धमकी देता है, तब जाकर मातामह चेटकराज को भी युद्ध की घोषणा करनी पड़ी। बारहव्रतधारी श्रावक और इतनी घोर हिंसा ? पर एक शरणागत की रक्षा और न्याय की प्रतिष्ठा के लिए लड़ा गया वह युद्ध चेटकराज के लिए धर्मयुद्ध था। वे मर कर स्वर्ग में गए, मगर कोणिक के लिए वह अधर्म युद्ध था, वह मरकर नरक में गया। चेटकराज को भविष्य में होने वाली अन्याय परम्परारूप महाहिंसा को रोकने के लिए लाचारीवश विरोधी हिंसा का आश्रय लेना पड़ा, जबकि कोणिक के लिए युद्ध-जनितहिंसा संकल्पी महाहिंसा हो गई। अतः अहिंसा का साधक यदि उसे अन्याय, अत्याचार का न्यायोचित प्रतिकार करना पड़े तो अवश्य करता है, लेकिन अहिंसा को भूलता नहीं। मूल में विरोधी के प्रति सद्भावना एवं प्रेमभावना अन्तर में संजो कर रखता है, बुरी भावना या द्वेष भावना नहीं।

दण्ड और अहिंसा

अहिंसा के सन्दर्भ में दण्ड का प्रश्न भी उपस्थित होता है। जैनधर्म श्रावक को अनिवार्य स्थिति में अपराधी को दण्ड देने से इन्कार नहीं करता, परन्तु दण्ड के साथ ही अपराधी के प्रति करुणा एवं वात्सल्य-भाव होना चाहिए। शारीरिक दण्ड भी सापेक्ष हो, निरपेक्ष नहीं। दण्डनीय प्राणी की परिस्थिति और भूमिका देखकर ही मर्यादित दण्ड का ही सहारा लेना चाहिए। जैसे एक कुत्ते ने मामूली गलती कर दी तो उसको सिर्फ इशारे से ही धमका दिया जाए। पर इतना नहीं पीटा जाय कि उसका अंगभंग हो जाय या वह बेचारा उठने-बैठने लायक न रहे। शान्त से शान्त माता भी कभी-कभी उद्धत पुत्र-पुत्री को पीटने को विवश हो जाती है, लेकिन उसके हृदय में क्रोध के साथ द्वेष नहीं होता, अपितु क्रोध के साथ पश्चात्ताप होता है। उसकी आँखें रोती हैं, हाथ मारने को उद्यत होते हैं। उसका मातृत्व क्रूर नहीं; सहज, सौम्य व कोमल होता है। उसमें विवेक व हितबुद्धि होती है। अहिंसा का साधक भी इसी पथ का अनुसरण करता है। वह यथासम्भव अहिंसा से काम लेगा, परन्तु इससे सफलता न मिलने पर अल्प से अल्पतर हिंसा (दण्डनीय या विरोधी के प्रति द्वेष बुद्धि न रखते हुए) का पथ चुनेगा।

एक अपराधी है, वह समाज के नीतिमूलक विधानों को तोड़ता है, उच्छृंखलता से अनैतिक पथ पर चलता है, लोभ के वश होकर हत्या जैसा बड़ा अपराध भी कर बैठता है, उसे दण्ड देने पर शारीरिक, मानसिक पीड़ाएँ होती हैं और दण्ड न देने पर उसके अन्याय, अत्याचार, अनैतिकता को प्रश्रय मिलता है, जनजीवन भी अशान्त, असुरक्षित एवं आतंकित हो जाता है। जैनधर्म का उसके लिए स्पष्ट आदेश है कि जो अन्यायी, अत्याचारी या विरोधी हो, समाज और राष्ट्र का द्रोही हो, उसे यथोचित दण्ड देने का अधिकार श्रावक को है। परन्तु क्रोध-द्वेष से रहित होकर कर्तव्य की उच्च भावना से युक्त होकर ही उसे यह कार्य करना है। जिसमें विरोधी या अपराधी

का भी हित हो और समाज का भी भला हो, समाज में भी सुख-शान्ति, सुव्यवस्था स्थापित हो, उस दण्ड में भी श्रावक के जीवन में अहिंसा की सुगन्ध रहती है।

दण्ड के समय भी अपराधी के साथ प्रेम और करुणा का दृष्टिकोण रखना अत्यावश्यक है। अपराधी को मानसिक रोगी समझकर उसका मानसिक उपचार होना चाहिए। अपराधी के मानस में स्नेह, सद्भावना जगाकर मनोवैज्ञानिक प्रणाली से उसका सुधार होना चाहिए। अपराधी को सर्वथा मिटाने की अपेक्षा अपराध के कारणों को मिटाने का प्रयत्न होना चाहिए, क्योंकि अपराध एक मानसिक रोग है, जिसकी चिकित्सा स्नेह, वात्सल्य एवं आत्मीयता से ही हो सकती है। यही अपराधी के सुधार का राजमार्ग है। अपराधी के अन्तर में सुषुप्त उज्ज्वल चरित्र को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। यही विरोधी हिंसा का हार्द है।

अहिंसा : हृदय-परिवर्तन का दर्शन

वस्तुतः अहिंसा का दर्शन हृदयपरिवर्तन का दर्शन है। इस आदर्श तक पहुँचने का प्रयत्न होना चाहिए। अहिंसा मारने की नहीं, सुधारने की दृष्टि है। संहार नहीं, सर्जन हो; यही अहिंसात्मक दण्ड का उद्देश्य है। इस आदर्श तक न पहुँचने की स्थिति में अनिवार्य परिस्थितिवश श्रावक विवेकपूर्वक यथोचित रास्ता अहिंसा के प्रकाश में अपना सकता है।

अहिंसाणुव्रत के अतिचार

गृहस्थ श्रावक को सावधानी रखने पर भी कभी-कभी प्रमाद या अज्ञान के कारण दोष लगने की संभावना रहती है। ऐसे दोष अतिचार कहे जाते हैं। स्थूल-प्राणातिपातविरमण व्रत के मुख्य पाँच अतिचार हैं :

(१) **बंध**—किसी त्रस प्राणी को कष्ट देने वाले बन्धन में बाँधना। उसे इष्ट स्थान को जाते हुए रोकना, अपने अधीन जो व्यक्ति हैं उन्हें निर्दिष्ट समय से अधिक रोककर उनसे सीया अधिक कार्य लेना आदि भी बंध के ही अन्तर्गत है। यह बंधन शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक आदि विविध प्रकार का है।

(२) **वध**—किसी भी त्रस प्राणी को मारना वध है। अपने अधीनस्थ व्यक्तियों को या अन्य प्राणियों को लकड़ी, चाबुक या पत्थर आदि से मारना, उन पर अनावश्यक आर्थिक भार डालना, किसी की भी लाचारी का अनुचित लाभ उठाना, अनैतिक दृष्टि से शोषण कर उससे लाभ उठाना आदि वध के अन्तर्गत है। जिस कार्य से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप त्रस प्राणियों की हिंसा होती है, वह वध है।

(३) **छविच्छेद**—किसी प्राणी के अंगोपांग काटना। छविच्छेद के समान वृत्तिच्छेद करना भी अनुचित है। किसी की सम्पूर्ण आजीविका का छेद करना अथवा उचित पारिश्रमिक से कम देना आदि भी छविच्छेद के सदृश ही दोषयुक्त है।

(४) **अतिभार**—बैल, ऊँट, घोड़ा, प्रभृति पशुओं पर या अनुचर अथवा कर्मचारियों पर उनकी शक्ति से अधिक बोझ लादना अतिभार है। किसी की शक्ति से अधिक कार्य करवाना भी अतिभार है।

(५) **भक्तपान-विच्छेद**—समय पर भोजन पानी आदि न देना, नौकर आदि को समय पर वेतन आदि न देकर उसे कष्ट पहुंचाना आदि। ये सब बातें भक्तपान विच्छेद के अन्तर्गत परिगणित होती हैं।

श्रावकों को इन अतिचारों से बचना चाहिए।

इस प्रकार मैंने श्रावक की अहिंसा की मंजिल और मंजिल की ओर उसके दौड़ने के मार्ग में विविध पड़ावों का गहराई से विश्लेषण किया है। प्रवचन काफी लम्बा हो गया है। इतना आवश्यक भी था जिससे कि आप अहिंसा की रग-रग को जान सकें और उसे हृदयंगम कर सकें। ☆

4

सत्य : जीवन का सम्बल

✡

अहिंसा के साथ सत्य आवश्यक है

आज मैं आपके सामने 'सत्य' के सम्बन्ध में अपने विचार रखूंगा। कई दिनों से अहिंसा की चर्चा चल रही थी। अहिंसा के पश्चात् सत्य का क्रम इसलिए बताया है कि सत्य की आराधना के बिना अहिंसा की आराधना परिपक्व नहीं हो सकती। जो भी साधना, नियम, उपनियम, व्रत, प्रत्याख्यान आदि हैं, उन सबमें जैसे अहिंसा की आवश्यकता है, वैसे ही सत्य की भी आवश्यकता है। सत्य के बिना किसी भी साधना, व्रत, नियम आदि में दृढ़ता और दृढ़विश्वास नहीं होता। सत्य के प्रकाश में नियम, व्रत आदि सभी का सम्बन्ध हृदय से, अन्तरात्मा से हो जाता है। जैसे सत्य के द्वार पर पहुँचने के लिए अहिंसा की उपासना करना आवश्यक है, वैसे ही अहिंसा की भावना को परिपुष्ट करने के लिए सत्य का पुट आवश्यक है। अहिंसा की उर्वराभूमि में ही सत्य का पौधा उग सकता है और पनप सकता है, इसी तरह सत्य की नींव पर ही अहिंसा आदि अन्य व्रतों का प्रासाद सुदृढ़ रूप से चिरस्थायी हो सकता है।

कोई पक्षी आकाश में उड़ना चाहता है, परन्तु उसकी एक पाँख मजबूत नहीं है तो क्या वह विस्तृत नील नभ में उड़ान भर सकता है? कभी नहीं। विशाल आकाश में उड़ान भरने के लिए पक्षी की दोनों पाँखों का मजबूत और सही-सलामत होना जरूरी है। इसी प्रकार विस्तृत आध्यात्मिक जीवन-गगन में उड़ान भरने के लिए मनुष्य के पास अहिंसा और सत्य रूपी दोनों पाँखों का मजबूत और सुरक्षित होना आवश्यक है। अहिंसा और सत्य हमारे जीवन की दो पाँखें हैं। क्या व्यक्ति क्या समाज, क्या राष्ट्र, क्या गृहस्थ का जीवन अथवा, क्या साधु जीवन प्रत्येक जीवन में इन दोनों पाँखों का होना अत्यावश्यक है। जीवन में अहिंसा हो, किन्तु सत्य न हो तो वह अहिंसा पनप नहीं सकती, सफल नहीं हो सकती। सत्य की अविद्यमानता में कोरी अहिंसा ढीली-ढाली रहेगी। आज लोग अहिंसा के पालन का तो नाटक खेल लेते हैं, लेकिन सत्याचरण के द्वार पर आते ही उनके पाँव लड़खड़ाने लगते हैं। भगवान महावीर का कथन है कि साधक के कदम जितने अहिंसा की ओर बढ़ें, उतने ही सत्य की ओर भी बढ़ने चाहिए। सत्य को ठुकरा कर कोरी अहिंसा को अपनाना प्रकाश को

छोड़कर केवल तेल से भरी बीवट को अपनाना है। इसके विपरीत आप कोरे सत्य के प्रति आग्रहशील हो जाएँ, उसकी पृष्ठभूमि में अहिंसा न हो, दया, करुणा और प्रेम की लहरें न हों तो वह अकेला सत्य भी आपके जीवन में प्रकाश नहीं दे सकता। इसीलिए पाश्चात्य लेखक कडवर्थ ने लिखा है—'The truth and love are most powerful things in the world.' सत्य और प्रेम ये दो संसार की सबसे अधिक शक्तिशाली वस्तुएँ हैं।

मानव-जीवन की नींव सत्य पर टिकी है

आपने देखा होगा कि बड़ी-बड़ी इमारतें बनाने से पहले उनकी नींव गहरी से गहरी सुदृढ़ खोदी जाती है। अन्यथा, वह इमारत हवा के एक ही झोंके से धराशायी हो जाती है। इसी प्रकार जीवन का महल खड़ा करने से पहले सत्य की बुनियाद गहरी और सुदृढ़ होनी चाहिए। असत्य की कच्ची बुनियाद पर टिकाया हुआ जीवन-प्रासाद ढह जाएगा, पतित हो जाएगा। इसीलिए एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है—

'मनुष्य-जीवन की नींव सत्य पर टिकी हुई है। सत्य ही सारे जीवन और सारी सृष्टि का एकमात्र आधार है।'

सत्य की महत्ता बतलाते हुए इमर्सन ने कहा है—'जिस सुन्दरतम और श्रेष्ठतम आधार पर मनुष्य को अपना जीवन अवस्थित करना चाहिए, वह है—सत्य।'

आत्मिक उन्नति के जो साधन और उपाय तीर्थंकरों, धर्मप्रवर्तकों एवं ऋषि-मुनियों ने प्रतिपादित किये हैं, उनमें सत्य को सबसे पहला स्थान दिया है। कोई भी साधना, फिर वह चाहे जितनी ऊँची क्यों न हो, सत्य के बिना सफल नहीं हो सकती। सत्य सारे साधनों की आधारशिला है। सत्य का आधार ले लेने के पश्चात् आध्यात्मिक मार्ग में अन्य साधनों के लेने की चिन्ता नहीं रहती। वैदिक धर्मग्रन्थों में सत्य को सर्वोपरि साधन बतलाया है। एक सत्य का आधार ही व्यक्ति को संसार-सागर से पार कर देता है।

जैनशास्त्रों में भी कहा है—

सच्चस्स आणाए उवट्ठिओ मेहावी मारं तरई।

—सत्य की आज्ञा में उपस्थित रहने वाला मेधावी जन्ममरण (संसार) को पार कर जाता है।

महाभारत के उद्योगपर्व में बताया गया है कि जैसे नौका का सहारा व्यक्ति को समुद्र के बीच से पार कर दूसरे किनारे पर पहुँचा देता है, वैसे ही सत्य व्यक्ति को नरक और तिर्यञ्च के दुःखमय संसार से पार करके स्वर्ग के सुखमय संसार में पहुँचा देता है।

सत्यं स्वर्गस्य सोपानं, पारावारस्तु नौरिव।

—सत्य समुद्र में नौका के समान स्वर्ग का सोपान है।

सारे विश्व का मूलाधार : सत्य

सत्य सारे विश्व का मूल आधार है। जिस प्रकार आधार के बिना कोई भी आधेय (पदार्थ) टिक नहीं सकता, उसी प्रकार सत्य के बिना संसार का कोई भी पदार्थ टिक नहीं सकता। इसलिए सत्य से भिन्न जो भी है, वह शून्य है, मिथ्या है, असत्य है। कारण को छोड़कर कार्य का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। मिट्टी को छोड़कर घड़े का, सूत के बिना वस्त्र का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। मिट्टी के साथ ही घड़ा सत्य है, सूत के साथ ही वस्त्र सत्य है।

सत्यविहीन वस्तु निरर्थक है, निष्प्राण है

कोई आदमी आपको मिश्री खाने के लिए कहे, किन्तु साथ ही यह कहे कि 'यह मिश्री तो है, मगर मीठी नहीं है।' आप हैरत में पड़ जाएँगे कि मिश्री है तो फिर मिठास क्यों नहीं है ? फूल तो हो, लेकिन सुगन्ध न हो, घी तो हो, लेकिन उसमें चिकनाहट नहीं हो, पानी तो हो, लेकिन उसमें प्यास बुझाने की शक्ति व शीतलता नहीं हो, तो उसका क्या अर्थ है ? ये सब बातें आपको अटपटी लगेंगी।

इसी प्रकार यह कहना भी बड़ा अटपटा और आश्चर्यजनक लगेगा कि साधु या श्रावक तो है, लेकिन उसमें सत्य नहीं है। साधु होकर भी सत्य का न होना, अग्नि होकर भी उष्णता का न होना, श्रावक होने पर भी सत्य का न होना, घृत होते हुए भी चिकनापन न होना है। तात्पर्य यह है कि सत्य का निकल जाना, शरीर में से प्राणों का निकल जाना है। शरीर में जैसे प्राणों का मूल्य सबसे अधिक है, वैसे ही समस्त सद्गुणों में सत्य का मूल्य सर्वाधिक है। सत्य के अभाव में मनुष्य की स्थिति प्राणशून्य शरीर की-सी हो जाती है। हम परमात्मा या शुद्ध आत्मा को सच्चिदानन्द कहते हैं। इसलिए आत्मा का आनन्द तो सत्य ही है।

सत्य की गर्मी हो, तभी तक साधुत्व या श्रावकत्व है

मानव-शरीर में जब तक गर्मी रहती है, तब तक उसे जीवित कहा जाता है। जब गर्मी निकल जाती है तो उसे मृत घोषित कर दिया जाता है। इसी प्रकार जब तक मनुष्य की जिन्दगी में सत्य की गर्मी रहती है, तब तक उसमें साधुपन या श्रावकपन टिक सकता है। शरीर में से जब गर्मी निकल जाती है, तब आप समझ जाते है कि यह मुर्दा हो गया है, इसमें से प्राण निकल गए हैं। मुर्दा लड़ नहीं सकता, वह सड़ता है; इसी प्रकार साधु-जीवन-या श्रावक-जीवन में से जब सचाई निकल जाती है, तब वह जीवन भी मृतवत् हो जाता है। साधना-जीवन भी जब मृत हो जाता है, तब वह दम्भ, धूर्तता, मक्कारी, ठगी और आत्मवंचना से सड़ता है। उस जीवन में कोई तेज नहीं होता, वह किसी कष्ट, दुःख, विपत्ति से टक्कर नहीं ले सकता, वह आत्महीनता से ऊपर नहीं उठ पाता। चाहे वह तथाकथित श्रावक या साधु कितना ही आडम्बर कर ले, कितना ही धूंआधार प्रचार कर ले, कितने ही लच्छेदार भाषण

कर ले, सफल नहीं होता। धुंए के बादल बरसने के लिए नहीं, बिखरने के लिए होते हैं।

सत्य हो तो दूसरे दुर्गुण भी दूर हो सकते हैं

शरीर में जब तक गर्मी रहती है, तब तक यदि एक भी मक्खी या मच्छर बैठ जाए तो बर्दास्त नहीं होता। गर्मी के निकल जाने पर मक्खी-मच्छर की तो बात ही क्या शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देने पर भी कोई पता नहीं लगता। मृत शरीर में घाव हो जाए तो वह सड़ता है, भरता नहीं है। इसी प्रकार साधक के जीवन में भी सत्य रहता है तो दुनियाभर के घाव ठीक हो सकते हैं, गलतियाँ दुरुस्त हो सकती हैं। हिंसा, क्रोध, लोभ, भय, अभिमान, कपट, काम आदि सब जीवन के घाव हैं। अगर सत्य है तो ये सब घाव धीरे-धीरे ठीक हो सकते हैं और सत्य नहीं है, तो ये सब घाव बढ़ते चले जाते हैं, और अन्दर ही अन्दर धीमी गति से ये जीवन को खोखला बना देते हैं।

शास्त्र में बताया गया है कि अगर किसी साधु से कोई भयंकर गलती हो गयी है, मोहकर्मवश कोई महाव्रत भंग हो गया है, किन्तु अगर वह सीधा आचार्य या गुरु के पास आकर जिस प्रकार जैसी भी स्थिति में गलती हुई हो, आलोचना (दोषों को प्रकट करना) कर ले, प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाय तो वह साधु यदि योग्य हो तो उसे आचार्य, उपाध्याय या गणी आदि पद भी दिया जा सकता है। महाव्रत भंग जैसे भयंकर घाव को भी सत्य हो तो दुरुस्त किया जा सकता है, सत्य के मरहम से। मतलब यह है कि यदि कोई साधक पहले (अहिंसा), तीसरे (अचौर्य) और चौथे व्रत (ब्रह्मचर्य) का पालन तो करता हो लेकिन सत्यव्रत का पालन न करता हो तो उसकी साधना निःसत्त्व है। साधु यदि चौथे व्रत का भंग कर देता है, किन्तु सत्यव्रत सुरक्षित है तो वह सुधर सकता है, लेकिन दूसरे (सत्य) व्रत का भंग करने वाले को सुधरने का अवकाश नहीं रहता। दुराचारी और हिंसक मनुष्य भी यदि सत्य बोलता है तो वह सुधर सकता है, लेकिन असत्य बोलने वाला कदापि नहीं सुधर सकता। सत्य की उपासना करने वाला कुछ भी गलती कर लेगा, तब भी कहेगा कि मुझसे गलती हो गई है। पाप को स्वीकार किये बिना शुद्धि कैसे हो सकती है? इसीलिए कहा गया है कि अन्य व्रतों का भंग करने वाला पुनः धर्म का आराधक और अधिकारी बन सकता है, लेकिन असत्य बोलने वाले को धर्माराधना के योग्य नहीं माना गया है। सत्यवादी साधक के लिए तो बहुत सम्भव है कि उस गलती को सुधारने के लिए आचार्य या गुरु उसे प्रायश्चित्त देकर उसकी आत्मशुद्धि कर दें। आत्मा पर लगे हुए क्रोध, मान, माया, लोभ या राग-द्वेष के घाव चाहे जितने गहरे हो गए हों, अगर भाव रोगी सत्य-सत्य बता देता है, तो उसकी मरहमपट्टी की जा सकती है, पुनः उस साधक को सही राह पर लाया जा सकता है। इसके विपरीत अगर साधक गलती करने पर सत्य-सत्य नहीं कहता है यानी सत्य को छिपाता है, अपनी गलती को

गलती के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं है तो गलती चाहे छोटी हो या बड़ी, दोष का घाव चाहे गहरा हो या मामूली, वह मिटता नहीं है। वह दोष अंदर ही अन्दर अधिकाधिक गहरा होता जाएगा, उस व्यक्ति का जीवन सड़ता जाएगा। इसलिए आध्यात्मिक साधना में शुद्धि के लिए सत्य अनिवार्य एवं प्राथमिक गुण माना गया है।

जैसे गम्भीर एवं दुःसाध्य (Cronic) रोगों का शिकार व्यक्ति डॉक्टर के सामने अपनी बीमारी का हाल ज्यों का त्यों कह देता है तो उसका शीघ्र निदान हो जाता है डॉक्टर उस रोगी के प्रति उसके गलत कार्यों के कारण घृणा नहीं करता, बल्कि दया दिखाता है, कड़वी दवा भी पिलाता है, ऑपरेशन भी करता है; वैसे ही किसी गलत काम (चोरी, व्यभिचार आदि) को करने वाला अध्यात्मरुग्ण साधक भी जब गुरु या बड़ों के सामने अपने अध्यात्म रोग का यथार्थ बयान कर देता है तो चिकित्सकसम गुरु उसके प्रति घृणा नहीं, दयाभाव रखकर उसके रोग के लिए दण्ड, प्रायश्चित्त आदि का यथोचित उपचार करके उसके रोग को मिटाते हैं।

वस्तुतः सत्य को मौलिक (Elementry) गुण मानना ही पर्याप्त नहीं है, यदि नीतिशास्त्र में यह विचार रूढ़ हो जाय कि सत्य ही एक नैतिक तत्त्व है, बाकी के सारे नैतिक तत्त्व (गुण) नहीं, सामान्य गुण हैं या उप-गुण हैं तो समाज में शीघ्र ही सुधार हो जाय। आज समाज की दृष्टि यह बन गई है कि शराब, व्यभिचार, चोरी या हत्या आदि महापातक हैं, शेष सभी उपपातक हैं। लेकिन अगर 'असत्य' को महापातक मान लिया जाय तो अन्य महापातक या उपपातक माने जाने वाले शीघ्र ही दूर हो सकते हैं। समाज की साधना भी, जो आज 'असत्य' को उप पातक या गौण दोष मानने के कारण ठप्प-सी हो गई है, असत्य को मुख्य पातक, महादोष और अन्य सारे दोषों को गौण मान लेने पर वही समाज-साधना आगे बढ़ेगी। असत्य ही मौलिक दोष है— सब दोषों का मूल है—बाकी सारे व्यावहारिक दोष हैं, यह वृत्ति समाज में स्थिर हो जाय, तो कोई भी व्यक्ति चोरी, व्यभिचार, शराब, जुआ, हत्या आदि दोष का सेवन करने पर भी सत्य के महाबल—महाप्रताप से इन्हें स्वतः छोड़कर आगे बढ़ जाएगा।

एक धनी युवक था। वह कुसंगति में पड़कर अनेक दुर्व्यसनों का शिकार हो गया। मदिरापान, वेश्यागमन, मांसाहार आदि अनेक दोष उसमें थे। माता-पिता, परिवार के अन्य लोग एवं समाज के हितैषी लोग उसे समझा-समझाकर थक गए मगर वह नहीं सुधरा। आखिर उसके माता-पिता उस लड़के को लेकर एक महात्मा के पास पहुँचे। उनसे सारी अन्तर्व्यथा कही। महात्मा ने बड़े प्यार से समझाया और अन्त में कहा—मैं तुमसे एक ही बात चाहता हूँ—"सदा सत्य बोलना।" युवक ने कुछ देर यह सोचकर कि इससे मेरे कार्यों में कोई हर्ज नहीं पड़ेगा, महात्मा के समक्ष सत्य बोलने की प्रतिज्ञा ले ली।

स्वभावानुसार वह शराब पीने चला, लेकिन उसके पिता ने पूछा—"बेटा ! कहाँ जा रहे हो, इस समय ?" युवक सकपकाया, झूठ तो बोलना नहीं था, प्रतिज्ञा जो की थी। अतः मन मसोस कर बैठ गया।

इसी प्रकार अन्य बुराइयों के सेवन के लिए जब भी वह जाने लगता, परिवार का कोई न कोई व्यक्ति पूछ बैठता। यों कुछ ही दिनों में सत्य बोलने की प्रतिज्ञा के बल से उस युवक के सारे ही दुर्व्यसन और दोष छूट गए और वह शुद्ध हो गया।

इसीलिए मैंने कहा कि जैसे आकाश में एक चन्द्रमा उदित होने पर सारा अन्धेरा मिट जाता है, वैसे ही एकमात्र सत्य के उदित होने पर दुर्गुणों का अंधेरा मिट जाता है, बशर्ते कि सत्य ठीक रूप में जीवन के आकाश में उदित हुआ हो।

इस सम्बन्ध में भगवान महावीर के युग की एक चमकती हुई घटना है—

राजगृही नगरी में भगवान महावीर का समवसरण लगा हुआ था। धर्म-प्रेमी नर-नारीगण उनके प्रवचन श्रवण करने के लिए आए हुए थे। उसके मुखचन्द्र से पीयूषवर्षिणी प्रवचन-धारा बरस रही थी। सभी लोग उत्कण्ठित होकर प्रभु के वचनों को चातक की तरह पी रहे थे। एक कोने में बैठा हुआ एक चोर भी प्रभु की वाणी भाव-विभोर होकर सुन रहा था। यथासमय प्रवचन पूर्ण होते ही सभी लोग एक-एक करके रवाना हो गए, परन्तु वह चोर अभी तक बैठा था। उसके कानों में प्रभु की वाणी गूँज रही थी। एक श्रमण ने उससे कहा—"मालूम होता है। आज तुमने बहुत ही तन्मय होकर प्रभु की वाणी सुनी है।" चोर बोला—"हाँ, भगवन् ! आज मैंने पहली ही बार प्रभु वाणी सुनी है।"

श्रमण ने उसके हृदय को टटोलने हेतु पूछा—"सुनकर कुछ ग्रहण भी किया है या यों ही इस कान से सुनकर उस कान से निकाल दिया है ? कुछ वचन जीवन में उतारने का विचार भी किया है या नहीं ? प्रभु की वचनधारा तो अमृत की धारा है, यदि उसमें से एक-दो बूँद भी पीने का प्रयत्न नहीं किया तो वह अमृत धारा तुम्हारे किस काम की ?"

चोर का हृदय स्वच्छ और सरल था। उसके हृदय पर पड़े हुए लोभ वासना के पर्दे को प्रभु की वाणी ने दूर करने का उपक्रम कर दिया था। चोर ने मन ही मन सोचा—"मैं तो चोर हूँ। चोरी करना मेरा व्यवसाय है। मेरे जीवन के साथ भगवान की त्यागमयी वाणी का मेल नहीं है। अतः चोरी तो छोड़ ही नहीं सकता। यह हो सकता है कि मैं अन्य किसी चीज का त्याग कर लूँ।" चोर ने कहा—"भगवन् ! मैं चोरी करता हूँ, उसे तो छोड़ नहीं सकता।"

श्रमण भी मानव-मनोविज्ञान के ज्ञाता थे। उन्होंने चोर के मनोभावों को पढ़ लिया। जवाहरात को परखना आसान है, मनुष्य के मनोभावों को परखना बहुत कठिन है। मानव-मन का पारखी कई दुर्गुणियों के जीवन को परखकर नया मोड़ दे सकता है, उसके जीवन को उच्चभूमिका पर आरूढ़ कर सकता है।

हाँ, तो श्रमण ने चोर के मनोभावों को ताड़ लिया। उन्होंने कहा—"अगर चोरी नहीं छोड़ सकते तो न सही, हम तुम्हें यह आग्रह नहीं करते कि चोरी करना आज का आज ही छोड़ना पड़ेगा। और कोई चीज छोड़ सकते हो ?" चोर बोला—"हाँ, अन्य किसी भी चीज को छोड़ सकता हूँ।"

श्रमण ने कहा—'कोई बात नहीं ! तुम चोरी के बजाय असत्य को छोड़ सकते हो। इतना तो कर सकते हो कि मैं झूठ नहीं बोलूँगा, सत्य ही बोला करूँगा।'

चोर ने कहा—"इसमें मुझे क्या आपत्ति है ? आप चोरी का तो त्याग करा ही नहीं रहे हैं। असत्य का त्याग करा रहे हैं। मैं सत्य बोलने का नियम लेने को तैयार हूँ, दिला दीजिए।"

श्रमण ने उक्त चोर को नियम दिला दिया, लेकिन साथ में यह भी कहा—"देखो, नियम तुमने ले लिया है। अब इस पर दृढ़ रहना ! नियम जिस भाव से लिया है, उसी भाव पर मजबूत रहना। नियम-पालन के लिए भी आन्तरिक सत्य की आवश्यकता रहती है। प्रण के पीछे भी सत्य का बल होता है, तभी वह निभता है। अगर सत्य नहीं रहता तो प्रण को भी टूटते देर नहीं लगती।"

चोर तपाक से बोला—"मुनिवर ! मैं सोच-समझकर ही सत्य बोलने का प्रण ले रहा हूँ। प्राणों की तरह प्रण का जतन करूँगा।"

इस प्रकार प्रण लेकर चोर अपने घर चला गया। घर जाने पर सोचा—'सत्य बोलने का नियम ले लिया है तो उसे पालन करूँगा ही, किन्तु जब तक घर में खाने-पीने की सामग्री पड़ी है, तब तक चोरी भी क्यों की जाए ? क्यों नाहक किसी को आफत में डालूँ ? जब तक इस सामग्री से काम चले, तब तक चोरी की बात नहीं सोचूँगा।

सन्त कितने परोपकारी होते हैं ! वे शुभ विचार की एक किरण डाल देते हैं, वही धीरे-धीरे महाप्रकाश का रूप धारण कर लेती है। वट का छोटा-सा बीज एक दिन विशाल वटवृक्ष बन जाता है। इसी प्रकार महापुरुषों के द्वारा जिज्ञासु साधक की मनोभूमि में बोया हुआ विचार-बीज एक दिन विराट् रूप ले लेता है, बशर्ते कि उस विचार बीज में पनपने की शक्ति हो।

हाँ, तो चोर एक दिन सोचने लगा—"मैंने सत्य की प्रतिज्ञा एक महापुरुष से ली है। चोरी की प्रतिज्ञा तो नहीं ली, लेकिन चोरी करूँगा तो हिंसा होगी, क्योंकि जिसके यहाँ चोरी की जाएगी, उसे बहुत ही पीड़ा होगी। इसलिए ऐसी जगह चोरी की जाए, जहाँ चोरी करने पर पीड़ा की लहर न उठे। राजा के खजाने में अगणित धन पड़ा रहता है। उसमें से थोड़ा चुरा भी लिया जाए तो कोई फर्क नहीं पड़ता और न ही राजपरिवार को कोई कष्ट होता है। हाथी के भोजन में से अगर चींटी दो-चार कण ले लेती है तो उससे हाथी को कोई नुकसान नहीं होता और चींटी का भी काम बन जाता है। किसी साधारण व्यक्ति के यहाँ चोरी करूँगा तो

उसे व उसके परिवार को जीवन-निर्वाह में कठिनाई पड़ेगी, बहुत अर्से तक रोना-धोना पड़ेगा। इसलिए चोरी ही करनी है तो ऐसी जगह करनी चाहिए, जहाँ चोरी के पीछे किसी को हाय-हाय न करना पड़े। अतएव राजभंडार में ही चोरी करना ठीक रहेगा।'

यों सोचकर चोर राजभंडार की ओर चल पड़ा बन-ठन कर, ताकि किसी को उसके चोर होने का सन्देह न हो। राजभंडार में वह सफेदपोश चोर बेखटके पहुंच गया और भंडारी से बातचीत करने लगा, चारों तरफ पैनी नजर डाल कर उसने सब ताले देख लिए।

उसने घर जाकर उन तालों की चाबियों का गुच्छा उठाया और बढ़िया कपड़े पहने। एक साहूकार के वेष में वह राजभंडार में चोरी करने के लिए चल दिया।

वह ऐसा युग नहीं था कि राजा प्रजा से केवल कर वसूल करके अपना खजाना भरे। उस युग के राजा प्रजा के हर दुःख-दर्द में समभागी बनते थे, प्रजा के दुःख को मिटाने के लिए तत्पर रहते थे। प्रजा के दुःख-दर्द का पता वे केवल गुप्तचरों से ही नहीं लगाते थे, स्वयं भी रात को वेष बदल कर वे नगर की गली-गली में घूमते और जनता की पीड़ाओं को ज्ञात करते थे। उस समय के शासनकर्ता गाफिल होकर अपने ही ऐश-आराम में मस्त होकर पड़े नहीं रहते थे, वे प्रजा की सेवा के लिए हर समय सन्नद्ध रहते थे।

राजगृही में उस समय श्रेणिक जैसे प्रजापालक राजा और अभयकुमार जैसे न्यायप्रिय मन्त्री थे। दोनों ही रात को वेष बदल कर नगरी में गश्त लगाया करते थे। वे सोचते थे—'सम्भव है, प्रजा की आवाज हम तक सीधी न पहुंच पाती हो। यद्यपि हमारे पास फरियाद करने कोई भी, किसी भी समय आ सकता है, मगर फिर भी किसी में साहस न हो, हम तक पहुंचने का। अतः स्वयं नगरी में घूम कर पता लगाना चाहिए कि कौन किस कष्ट में है? लोग रात में अपने-अपने घरों में अपने दुःखदर्द की बात अपने परिवार के सामने खुल कर करते हैं, तभी उनकी स्थिति का सही-सही अन्दाज लग सकता है।'

इसी विचार से आज राजा श्रेणिक और मन्त्री अभयकुमार वेष परिवर्तन करके राजमहल से निकले थे। ये दोनों इधर से सड़क पर गश्त लगाते हुए जा रहे थे, दूसरी ओर से साहूकार के वेष में सुसज्जित वह चोर भी राजभंडार की ओर आ रहा था। रास्ते में ही दोनों का आमना-सामना हो गया।

राजा ने उससे पूछा—"कौन है?"

चोर के सामने अब अपने नियम-पालन का प्रश्न आ खड़ा हुआ। झूठ न बोलने का नियम है। सत्य बोलने का प्रण उसने एक श्रमण से लिया है। अतः असत्य

तो बोलना ही नहीं था। चोर कुछ क्षण सकपकाया, मगर तुरन्त सतर्क हो गया। उसने निश्चय कर लिया—चाहे जो कुछ हो, सत्य ही बोलूंगा।

दुबारा जब वही प्रश्न दुहराया गया, तो चोर ने कहा—"मैं एक चोर हूँ।" और इतना कहकर वह बेधड़क आगे बढ़ गया। चोर का उत्तर सुनकर राजा और मन्त्री दोनों विस्मय में पड़ गए। मन्त्री ने कहा—"महाराज! क्या कोई चोर अपने आपको चोर कहेगा? मालूम होता है, यह कोई भला आदमी है। हमने इससे पूछकर इसके स्वाभिमान को चोट पहुँचाई, इसलिए इसने खीज कर ऐसा कहा हो। यह कोई साहूकार है। व्यर्थ ही हमने एक राह चलते भले आदमी को टोका।" राजा ने कहा—"हाँ, ऐसा ही मालूम होता है, अभय! चोर की क्या हिम्मत कि वह अपने को चोर कह दे! यह तो कोई भूलाभटका ही हमें आ मिला मालूम होता है।" यों कहकर वे दोनों अपनी राह पर आगे बढ़ गए।

चोर सीधा राजभंडार के द्वार पर पहुँचा, वहाँ पहरेदार तैनात था। पहरेदार ने पूछा—कौन है?

सेठ बने हुए चोर ने बेधड़क उत्तर दिया—'मैं चोर हूँ।"

पहरेदार ने यह सुना तो सोचा—"शायद कोई राज्याधिकारी है। मेरी परीक्षा लेने के लिए ऐसा कह रहा है।" यह सोचकर वह अलग हट गया। चोर ने राजभंडार का ताला खोला। भीतर झाँक कर देखा तो सम्पत्ति का ढेर लगा हुआ था। चोर ने सोचा—'अपना काम बहुमूल्य रत्नों के दो डिब्बों से चल जायगा, अधिक का करना भी क्या है? यों ही पड़े रहेंगे, जैसे यहाँ पड़े हैं।' अतः रत्नों के दो डिब्बे उठाए, बगल में दबाए और राजभंडार के पूर्ववत् ताला बन्द करके वह चल पड़ा।

चोर अपने घर की ओर बेहिचक जा रहा था कि संयोगवश पुनः राजा और मंत्री का सामना हो गया। राजा ने इशारे से मन्त्री को कहा—"पूछो तो सही, यह कौन जा रहा है?" मन्त्री उसे पहिचान गया और बोला—"क्या पूछना है, यह तो वही सेठ है, जो पहले हमें मिला था, जिसने अपने आप को चोर बतलाया था।"

राजा के मन में अब भी कौतूहल था, अतः जब वह निकट आया तो पूछा—"कौन हो?"

चोर बोला—"एक बार तो बता चुका हूँ कि मैं चोर हूँ।"

राजा ने पूछा—"कहाँ गए थे, इतनी रात गए?"

चोर ने कहा—"चोरी करने गया था।"

राजा ने फिर पूछा—"किसके यहाँ चोरी की?"

चोर बोला—"राजा के सिवाय और किसके यहाँ चोरी करता? राजभंडार में ही गया था।"

राजा ने विस्मित होकर पूछा—"क्या ले आए?"

चोर—"जवाहरात के दो डिब्बे ले आया हूं।"

राजा और मन्त्री आपस में कानाफूसी करने लगे कि यह हमसे मजाक कर रहा है। मालूम होता है, हमें यह पहचान गया है और हमारी बुद्धि की परीक्षा ले रहा है। 'जाने दो इसे' यों सोचकर राजा और मन्त्री महलों में लौट आए। चोर भी सत्य के प्रभाव से अपनी सफलता पर मुग्ध होकर घर आ पहुंचा।

सुबह जब राजभंडार के खजांची ने द्वार खोला और सब वस्तुओं की गिनती की तो रत्नों के दो डिब्बे कम पाए गए। खजांची ने सोचा—"दो डिब्बे तो गायब हैं ही, इस चोरी का क्या पता लगेगा राजा को? क्यों नहीं, मैं भी इस बहती गंगा में हाथ धो लूं।" खजांची ने चुपके से रत्नों के दो डिब्बे अपने घर पहुंचा दिये। फिर राजा के पास जाकर निवेदन किया—"हुजूर! रात को राजभंडार में भयंकर चोरी हो गई है। कोई चोर रत्नों के चार डिब्बे चुरा कर ले गया है।"

राजा ने पहरेदारों के मुखिया को बुला कर पूछताछ की। उसने कहा—"देव! रात को एक आदमी अवश्य आया था, और उससे पूछने पर उसने अपने आपको चोर बताया था। मैंने उसे आपका भेजा हुआ कोई राज्याधिकारी समझा, और यह भी सोचा कि शायद हमारी परीक्षा लेने आया हो, इसलिए उसे अन्दर जाने दिया। हो न हो, शायद उसी ने चोरी की हो।" राजा ने सोचा—"अच्छा चोर निकला, जिसने साहूकार के वेष में हमें ही चकमा दे दिया। लेकिन मामूली चोर में इतना बेधड़कपन और अपने आपको चोर कहने का साहस नहीं होता। वह चोर तो था, लेकिन उसे किसी महान् पुरुष ने सत्य बोलने की राह पकड़ा दी है।" मंत्री ने सुना तो कहा—"जो भी हो, ऐसे सचबोले चोर की भी तलाश तो की जानी चाहिए। अन्यथा, कोई भी इसी तरह राजभंडार पर हाथ साफ करता रहेगा।"

बस, मंत्री के आदेश से ढिंढोरा पिटवाया गया—"जिसने रात को राजभंडार में चोरी की हो, वह राजदरबार में उपस्थित हो जाय।"

लोगों ने जब यह घोषणा सुनी तो परस्पर कानाफूसी करने लगे—"ऐसे कहीं चोर पकड़े जाते हैं? ऐसा कौन चोर होगा, जो अपने आपको स्वयं गिरफ्तार करवाएगा और चोरी की बात स्वीकार करेगा! यह राजनीति से विरुद्ध कदम है।"

मगर राजा का फरमान था, इसलिए ढिंढोरा पीटने वाले इसी तरह की घोषणा करते ढिंढोरा पीटते जा रहे थे। चोर ने जब यह ढिंढोरा पिटता देखा और घोषणा सुनी तो उसके हृदय में हलचल मच गई। सोचा—"सत्य बोलने का नियम लेने के बाद अभी तक तो मैं अपराध से साफ-साफ बच चुका हूं। सत्य का चमत्कार मैंने देख लिया, अब क्या मैं सत्य से पीछे हटूं? नहीं, नहीं, यह नहीं हो सकता, मैं सत्य के लिए प्राणों की बाजी लगा दूंगा।"

बस, चोर की हृदयतन्त्री सत्य से झंकृत हो उठी। उसने घोषणा करने वाले सिपाहियों के पास आकर स्वयं कहा—"मैं ही वह रात वाला चोर हूं। मैं राजा के

सामने चलकर सच-सच कहने को तैयार हूँ।" सिपाहियों ने उसे साथ ले जाकर राजा के सामने उपस्थित किया। राजा ने चोर को पहचानकर मंत्री से कहा—"रात वाला चोर यही तो है ? इससे पूछकर असलियत का पता लगाना चाहिए।" जब चोर से पूछा गया तो उसने कहा—"जी हाँ, मैं तो पहले ही कह चुका हूँ कि मैंने चोरी की है।"

राजा बोला—"यह तो ठीक, पर यह तो बताओ कि तुमने क्या चुराया था ?" चोर ने उत्तर दिया—"मैंने रात को ही आपको बताया था कि मैंने रत्नों के दो डिब्बे चुराए हैं।"

राजा ने पुनः प्रश्न किया—"मगर राजभण्डार से तो चार डिब्बे नदारद हैं।"

चोर ने कहा—मैंने तो सच-सच कह दिया कि मैं दो डिब्बे ही ले गया हूँ। बाकी के दो डिब्बों का मुझे कुछ भी पता नहीं है। प्राण चले जायें, पर मैं झूठ नहीं बोलूंगा। अगर मैं झूठ बोलता तो यहाँ तक कहने आता भी नहीं। मैंने तो भगवान महावीर का धर्मोपदेश सुना, तभी मुझे एक श्रमण ने चोरी छोड़ने के लिए कहा था, परन्तु मैंने चोरी छोड़ने में अपनी असमर्थता प्रगट की, तब उन्होंने मुझे सत्य बोलने का नियम लेने की प्रेरणा दी। अतः मैंने जिन्दगी भर सत्य बोलने का नियम ले लिया। सत्य से ही तो मुझे इतना बल मिला है कि मैं आपके समक्ष स्वयं उपस्थित हो गया हूँ।"

राजा के कानों को उसकी सचाई पर सहसा विश्वास नहीं हुआ, परन्तु रात्रि की घटना एवं वर्तमान घटना ने उसे बरबस चोर की बात को सत्य मानने के लिए बाध्य कर दिया। राजा चोर की सत्यता से अत्यन्त प्रभावित हुआ। कोषाध्यक्ष को धमकाकर पूछा गया तो उसकी कलई खुल गई। अन्त में राजा ने उक्त सच बोलने वाले चोर को ही कोषाध्यक्ष बना दिया। चोर ने भी अपने जीवन-निर्वाह का प्रश्न हल होते ही चोरी सदा के लिए छोड़ दी। सत्य का नियम उसने पहले से ही ले रखा था।

हाँ तो, मैंने कहा कि जो व्यक्ति सत्य को अपना लेता है, अपने जीवन का सहचर बना लेता है, समय आने पर सत्य से एक इंच भी इधर-उधर हटता नहीं, उसके जीवन में चोरी, व्यभिचार, जुआ आदि भयंकर दुर्गुण हों तो भी वे धीरे-धीरे एक-एक करके विदा हो जाते हैं।

सत्य का आराधक अपनी गलतियाँ स्वयं समझकर उन्हें सुधारता जाता है। इसीलिए सत्य को स्वयंभू, सर्वशक्तिमान और स्वबीर्यगुप्त (रक्षित) कहा जाता है। सत्यपालन से उत्पन्न होने वाला बल बिलकुल अनोखा होता है। सत्यपालन से दो प्रकार के बल प्राप्त होते हैं—एक तो उसकी वाणी में तेजस्विता आ जाती है, जिससे वह सबको प्रभावित कर देता है; दूसरे प्रत्येक वस्तु की गहराई तक पहुँच कर उसके

रहस्य की जानकारी सत्यवादी को हो जाती है। इसीलिए मानवजीवन में सत्य का बल सबसे बढ़कर होता है। जिसमें सत्य का बल आ जाता है, वह व्यक्ति निर्भय हो जाता है। जिन तोपों और मशीनगनों के नाम से मनुष्य काँप उठते हैं, उन तोपों और मशीनगनों के सामने खड़ा होने में तथा संगीनों के सामने सीना तानकर खड़ा होने में सत्यवादी जरा भी नहीं हिचकिचाता। जिसके जीवन में कोई दोष या दुर्गुण होता है, उसमें सत्य का बल आ जाने पर वह निर्भयतापूर्वक अपने दोषों को खुल्लम-खुल्ला प्रगट कर देता है। असत्य में कुछ बल नहीं होता, वह निर्बल होता है। अतः निर्बल का आश्रय लेने पर निर्भयता कैसे आ सकती है। ईसाई धर्म के पवित्र ग्रन्थ बाइबिल में कहा है—

'सत्य ही महान् है और परम शक्तिशाली है।'

कई दफा मनुष्य सोचता है कि मेरे पास धन का बल है, इससे मैं सभी कुछ प्राप्त कर सकता हूँ। वास्तव में संसार को खरीदने का स्वप्न देखने वाले धनबली असफल होते देखे गए हैं। आखिरकार चाँदी और सोने के सिक्के कहाँ तक टिक सकते हैं? क्या मनुष्य धन के बल पर मृत्यु को खरीद सकता है? संयम को मोल ले सकता है? मृत्यु तो दूर रही, धन के बल पर मनुष्य बुद्धि, विद्या, योग्यता आदि भी नहीं प्राप्त कर सकता। जरासंध, रावण, कंस आदि के पास धन की क्या कमी थी? परन्तु इन सबकी धनशक्ति अन्ततोगत्वा पराजित हो गई।

अब रहा जनबल या परिवार-समाज का बल, वह भी अमुक सीमा तक ही काम आता है। जब मनुष्य के दिन फिर जाते हैं, भाग्य पलटने लगता है, तब जनबल, परिजनबल या समाजबल सब पराये बन जाते हैं, वे भी सहायक नहीं होते। द्रौपदी का परिजनबल कितना बड़ा था, परन्तु जब दुःशासन भरी सभा में उसकी लज्जा लूटने और सतीत्व के गौरव को नष्ट करने पर उतारू होता है, उस समय बड़े-बड़े शक्तिशाली नाते-रिश्तेदार बुत की तरह नीचा मुँह किये बैठे रहे। किसी ने भी द्रौपदी की लाज नहीं बचाई? ऐसे विकट प्रसंग पर द्रौपदी का सत्यबल ही काम आया। उसी के सहारे द्रौपदी का शील और धर्म सुरक्षित रहा। द्रौपदी के लिए न धन काम आया और न ही पति के रूप में शक्तिशाली पाण्डव ही उसे सहारा दे सके। एकमात्र सत्य का बल ही द्रौपदी का गौरव अक्षुण्ण रख सका।

सीता का अपहरण हो जाने के बाद रावण की नगरी लंका में जहाँ कि उसको अपने सतीत्व के अपहरण का खतरा था, वहाँ कौन-सा बल काम आया? न धनबल काम आया और न ही जनबल, वहाँ एकमात्र सत्य का बल ही सीता के शील और सतीत्व की रक्षा करने में समर्थ हुआ।

बुद्धि का बल भी एक सीमा तक सहायक बन सकता है, परन्तु मनुष्य के जीवन में सत्य का बल न हो तो अकेला बुद्धिबल मनुष्य को राक्षस बना देता है। अणुबम का आविष्कार करने वालों का बुद्धिबल क्या काम आया? उस बुद्धिबल ने

नरसंहार का ही काम किया, बल्कि ऐसे बुद्धिबलियों ने अपने आपको राजनीतिज्ञों या शासनकर्ताओं के हाथों बेच दिया। इसलिए कोई मनुष्य विपत्ति के समय चाहे कितना ही बुद्धि का बल अजमाले किन्तु सत्य के बल से ही आखिर उस विपत्ति से छुटकारा हो सकता है। इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए सत्य की शक्ति का एक कवि ने सुन्दर चित्रण किया है—

बस सत्य ही संसार में है, एक सुखदाता।
इसके सिवा ऐसा कोई नजर नहीं आता॥
सागर तलैया हो, फणी हो फूल की माला।
इस सत्य के प्रभाव से क्या-क्या न बन जाता॥बस०॥
जैसे बिना एके के सारे शून्य निष्फल हैं।
वैसे ही निश्चय सत्य बिन चारित्र कहलाता॥बस०॥

महात्मा गाँधी के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। जब वे बैरिस्टर बन कर अफ्रीका में वकालत की प्रेक्टिस करने गए थे। दूसरे वकीलों की अपेक्षा महात्मा गाँधी का रवैया भिन्न था। वे सच्चा मुकदमा लेते थे। वकालत में भी वे सत्यता को स्थान देना चाहते थे। उनकी अन्तरात्मा में यह बात पूरी तरह से ठस गई थी कि सत्य के सहारे जीवन की तमाम प्रवृत्तियाँ चलाने में मनुष्य को कहीं कठिनाई नहीं होती, बल्कि सत्य के कारण पहाड़ के समान दिखाई देने वाली विपत्तियाँ राई के समान बन जाती हैं।

अफ्रीका में एक अब्बास तैयबजी नामक बोहरा थे, उनकी फर्म में कर-चोरी से व्यवसाय होता था। वहाँ की सरकार को पता चला तो उसने अब्बास तैयबजी पर मुकदमा चलाया। अब्बास तैयबजी ने अपने बचाव के लिए मोहनदास करमचन्द (महात्मा) गाँधी को वकील बनाया और उक्त मुकदमे के खिलाफ पैरवी करवाई। गाँधीजी ने पहले तो पैरवी की, लेकिन जब उन्हें पता लगा कि सरकार के द्वारा मेरे मवक्किल पर चलाया गया अभियोग सत्य है, तब उन्होंने मवक्किल के अपराध को छिपाने और उस पर लीपापोती करने के बजाय, अपराध को स्वीकार करना ही मवक्किल के पक्ष में हितावह समझा। अतः गाँधीजी ने अपने मवक्किल का बचाव करने के बजाय मवक्किल के द्वारा करचोरी के अपराध को अदालत में स्वीकार कर लिया। दूसरे वकील गाँधीजी की ओर देखते ही रह गए। वे एक ओर ले जाकर कहने लगे—"गाँधी! यह तुम क्या कर रहे हो? मवक्किल को संकट से निकालने के बजाय, संकट में फँसाने के लिए ही क्या तुम्हें वकील बनाया गया है?" गाँधीजी ने कहा—"चाहे कुछ भी हो, मेरा विश्वास सत्य पर अटल है। मेरा यह भी विश्वास है कि सत्य का प्रभाव सरकार पर भी पड़ेगा। मैं तो सत्य का चमत्कार देख चुका हूँ।"

गाँधीजी के सत्य-कथन का अँग्रेज न्यायाधीश पर बहुत जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। उसने गाँधीजी से पूछा—"क्या तुम्हारा मवक्किल अपना अपराध अदालत में स्वीकार कर सकता है ?"

गाँधीजी ने कहा—"हाँ, मैं उन्हें इसके लिए तैयार करने का प्रयत्न करूँगा।"

गाँधीजी ने अपने मवक्किल बोहराजी को समझाया कि "मैं बचाव करता, लेकिन जब कर-चोरी की बात सच्ची है तो उसका मैं क्या बचाव करता, वह अपराध साबित भी हो चुका है। अतः अब आप निःसंकोच होकर अपना अपराध अदालत में न्यायाधीश के सामने स्वीकार कर लें। और कर-चोरी की शुरू से लेकर अब तक की फहरिश्त बना कर उनके सामने पेश कर दें।" बोहराजी पहले तो बहुत हिचकिचाए, अनाकानी करने लगे, किन्तु जब उन्हें गाँधीजी ने पुनः समझाया कि "अपराध स्वीकार कर लेने से तथा जो भी बात जैसी हुई हो, वैसी बता देने से सरकार दण्ड माफ भी कर सकती है, अथवा अल्पतम दण्ड देकर छोड़ सकती है।" गाँधीजी की बात मान कर बोहराजी ने शुरू से लेकर अब तक की की हुई कर-चोरी की सूची बनाई और न्यायाधीश के सामने पेश करते हुए अपना अपराध स्वीकार कर लिया। न्यायाधीश ने उन्हें सख्त सजा न देकर सिर्फ कर-चोरी की अर्थराशि से दुगुनी अर्थ-राशि भर देने का दण्ड दिया और भविष्य में कभी कर-चोरी करने की हिदायत दी। बोहराजी ने उक्त सजा सहर्ष स्वीकार कर ली और दण्ड की अर्थराशि भर दी। भविष्य में अपनी फर्म के सभी मुनीम एवं कर्मचारियों को उन्होंने सावधान कर दिया कि मेरी फर्म में आयंदा कोई कर-चोरी न की जाए। साथ ही उन्होंने कर-चोरी का सारा विवरण एक बड़े कागज पर लिखवा कर उसे शीशे में मढ़वा कर अपनी फर्म में टंगवा दिया, ताकि प्रत्येक कर्मचारी इसे देखकर सजग रहे।

यह था, सत्यबल का चमत्कार; जो केवल बुद्धिबल से नहीं हो सका, न हो सकता था।

मनुष्य कई बार अपने सौन्दर्य पर इतराता है, वह अहंकारपूर्वक सोचने लगता है कि रूप के बल पर मैं हर आदमी को आकर्षित एवं मोहित कर सकता हूँ, अपना बना सकता हूँ। परन्तु रूप का बल भी अचानक किसी रोग या दुर्घटना के होते ही समाप्त हो जाता है। क्या रूप को विकृत होते देर लगती है ? सनत्कुमार चक्रवर्ती के रूप का गर्व कितनी जल्दी काफूर हो गया ? जो लोग अपने रूप पर इतराते थे, उनके सब मन सूबे मिट्टी में मिल गए। इसलिए रूपबल का भी कोई स्थायित्व नहीं है।

कई लोग यही कहते हैं कि द्रौपदी, सीता आदि के संकट के समय देवता सहायता करने आ गए थे, सत्य थोड़े ही सहायता करने आया था ? किन्तु यदि हम इस तथ्य की गहराई से छानबीन करें तो हमें साफ प्रतीत हो जाएगा कि उन देवों

को सहायता की प्रेरणा करने वाला या उन्हें खींच लाने वाला कौन था ? सत्य ही तो था, धर्म ही तो था ! अगर सत्य की दैवी-शक्ति न होती तो देवता कैसे आते ? दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा है—

"देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो।"

जिसका मन सदा, धर्म में लीन रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। उसके चरणों की धूल अपने सिर पर चढ़ाते हैं। यों ही बैठे-ठाले लोग देवता को बुलाना चाहें तो क्या वह आ जाएगा ? कदापि नहीं। देवता सत्य-शील आदि धर्म पर दृढ़ व्यक्ति के पास स्वयमेव खिचे चले आते हैं। उसको बुलाने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

इसीलिए मैं कहता था—संसार की जितनी भी शक्तियां हैं, वे अमुक सीमा तक तो सहयोग देती हैं, मगर उससे आगे वे भी जवाब दे देती हैं। सत्य ही एक मात्र परम बल है, जो जन्म तक काम देता है, सहयोग देता है। सत्य की परमशक्ति का वर्णन करते हुए कहा है—

सत्येनाग्निर्भवेच्छीतो, अनागाधं धत्तेऽम्बु सत्यतः।
नासिश्छिनत्ति सत्येन, सत्याद् रज्जूयते फणी॥

—सत्य के बल से जला देने के स्वभाव वाली अग्नि भी शीतल हो जाती है, डुबा देने वाला अगाध जल भी थाह वाला हो जाता है; काटने वाली तलवार भी नहीं काट सकती, भयंकर विषधर भी रस्सी के समान हो जाता है।

जो मनुष्य सत्य की आराधना करता है, वह जनता में देव के समान पूज्य बन जाता है। उसका आत्मबल बढ़ जाता है। उस आत्मबल के द्वारा वह बड़े से बड़े भगीरथ कार्यों को फुर्ती से कर डालता है। आत्मबल सब बलों से बढ़कर है। दुनिया के जितने भी भौतिक बल है, वे सब इस बल बल के आगे नगण्य हैं।

वास्तव में सत्य ही व्यक्ति के जीवन में बल एवं प्रकाश उत्पन्न करता है। सत्य के आधार पर समाज की शक्ति और क्षमता निखरती है। किसी भी सभ्यता, संस्कृति, जाति, संस्था या समाज में जितनी अधिक मात्रा में सत्य होगा, उसका आत्मबल उतना ही बढ़ा-चढ़ा होगा, उसका अस्तित्व भी उतना ही सुदृढ़ होगा, उतना ही उसे फलने-फूलने का अवसर मिलेगा, उतना ही उसका विकास और सम्मान बढ़ेगा।

इसके विपरीत असत्य का आश्रय लेने से उस व्यक्ति, जाति, संस्था एवं समाज का अधःपतन होगा। सचाई के अभाव में मिथ्या आधार को लेकर कितना ही विशाल कलेवर क्यों न खड़ा कर दिया जाय, कागज की नाव की तरह या बालू के महल की तरह उसे ढहते देर नहीं लगती। रामलीला समारोहों में आपने देखा होगा, कागज और बांस की खपच्चियों से विशालकाय रावण का पुतला बनाया

जाता है। दर्शकगण उसकी ऊँचाई और कलेवर देखकर आश्चर्य और कुतूहल करते है, परन्तु जब रावणवध का समय आता है तो एक छोटा-सा आदमी एक कोने में जरा-सी दियासलाई लगा देता है। देखते ही देखते वह विशालकाय आकृति कुछ ही देर में जलकर भस्म हो जाती है। यही हाल असत्य के आधार पर खड़े किये गए आवरण का होता है। इसलिए स्थिरता और वास्तविक शक्ति केवल सचाई में है। जब उत्थान की घड़ी प्रारम्भ होती है, तब सत्य का आलम्बन लेने की इच्छा प्रबल हो जाती है। सत्य का बल उसमें साहस, सक्रियता और कार्यक्षमता पैदा कर देता है।

इसलिए यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि चिरस्थायी सफलताओं का आधार सत्य है। असत्य के सहारे व्यक्ति थोड़े समय तक लाभ प्राप्त कर सकता है, परन्तु जब वस्तुस्थिति प्रगट हो जाती है, तब उस लाभ को समाप्त होते भी देर नहीं लगती। सत्य का वट-वृक्ष धीरे-धीरे भले-ही बढ़ता और फलता-फूलता हो, मगर उसकी जड़ें गहरी और सुदृढ़ होती हैं, बाहर से भी जब वह परिपुष्ट हो जाता है, तब वह हजारों वर्षों तक अपना अस्तित्व बनाए रखता है। वट-वृक्ष की जड़ें नीचे जमीन में भी चलती हैं और ऊपर की शाखाओं में से भी निकल कर नीचे आती हैं, एवं जमीन में प्रवेश कर वृक्ष की पुष्टि और आयुवृद्धि करने में सहायक होती हैं। अन्य छोटे पेड़-पौधे प्राकृतिक आघातों को अधिक देर तक नहीं सह सकते, वे शीघ्र ही बूढ़े एवं जीर्ण-शीर्ण होकर अपना अस्तित्व खो बैठते हैं। जबकि वटवृक्ष चिरस्थायी और सुदृढ़ रहता है। सत्य वटवृक्ष के समान है। उसका लाभ चिरस्थायी होता है। सत्य से भिन्न आधारों पर प्राप्त की गई सफलताएँ बरसाती घासपात की तरह हैं, जो सत्य के सूर्य की प्रखरता को सहने में समर्थ नहीं होतीं। इसलिए मैंने कहा कि सत्य के प्रकाश का मुकाबला हजारों सूर्य भी नहीं कर सकते, उनकी शक्ति परास्त हो जाती है, सत्य के प्रकाश के सामने। इसीलिए सत्य के बल को अनन्त बताया गया है।

इस सत्य द्वारा प्राप्त आत्मबल को वर्तमान युग की भाषा में 'सत्याग्रह' कहते हैं। सत्याग्रह का वास्तविक अर्थ—सत्यबल का प्रयोग या सत्यबल को दृढ़तापूर्वक पकड़ना है। दुनिया का कोई भी बल सत्यबल की तुलना नहीं कर सकता। इस बल के सामने मनुष्यशक्ति तो क्या देवशक्ति भी हार जाती है।

उपासकदशांगसूत्र में कामदेव श्रावक का वर्णन आता है, वह सत्यबली श्रावक था। उसकी परीक्षा के लिए देवता ने अपनी सारी शक्ति अजमा ली। लेकिन कामदेव अपने सत्यबल पर डटा रहा। उसने किसी अन्य शक्ति का आश्रय नहीं लिया। केवल सत्योपार्जित आत्मबल से ही उक्त परीक्षक देव की सारी शक्ति को उसने परास्त कर दिया था।

प्रह्लाद को उसके पिता हिरण्यकश्यपु ने अनेक यातनाएँ दी थीं। उसे पहाड़

से नीचे गिराया गया, अग्नि में जला डालने का प्रयत्न किया गया, इतने अत्याचारों के बावजूद भी प्रह्लाद ने अपने पिता की अनुचित आज्ञा नहीं मानी, वह अपने हृदय में स्थित सत्य पर अटल रहा। अन्त में प्रह्लाद के सत्यबल के सामने भौतिकबल के धनी हिरण्यकश्यपु को हार खानी पड़ी।

सत्य बल : सब बलों से बढ़कर

आवश्यकसूत्र एवं प्रश्नव्याकरणसूत्र में सत्य की शक्ति का विस्तृत वर्णन है। वहाँ बताया गया है कि "सत्यवादी सत्य के प्रभाव से समुद्र या जल की बाढ़ में डूब नहीं सकता, उसके लिए जल तैरने योग्य हो जाता है, दिशा भूल जाने पर उसे यथा-स्थान पहुँचा देने वाला सैन्य आदि सहायक मिल जाता है। अग्नि का उपद्रव उसका कुछ भी बाल-बाँका नहीं कर सकता। खौलता हुआ तेल, संतप्त लोहा, गर्म शीशा आदि पदार्थ हाथ में लेने पर उसे जला नहीं सकते। सत्यधारी पर्वत से गिरा देने पर भी नहीं मर सकता। शस्त्रधारी शत्रुओं से चारों ओर से घिर जाने पर भी सत्य साधक अक्षत बच निकलता है। वध, बन्धन, अभियोग, वैर आदि घोर उपद्रवों से सत्य का आराधक बाल-बाल बच जाता है। सत्य के पालकों में ऐसी दिव्य-शक्ति आ जाती है कि स्वयं देव भी उसके समीप चले आते हैं।"

योगदर्शन में सत्यकी शक्ति का परिणाम बताते हुए कहा है—

'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफला श्रयत्वम्'

सत्य की दृढ़ (पूर्ण परिपाक) स्थिति हो जाने पर उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं रहती। उस समय वह योग्य कर्तव्यापालनरूप क्रियाओं का फल का आश्रय बन जाता है। यानी प्रत्येक क्रिया का फल प्रदान कर देने की शक्ति उसमें हो जाती है। जिसको वह जो वरदान, शाप या आशीर्वाद दे देता है, वह सत्य हो जाता है। जिसने सत्य के पालन द्वारा अपनी आत्मा को बलवान बना लिया है, मौत का भय उसे डरा नहीं सकता। प्राणों का संकट आ पड़ने पर भी ऐसा सत्यबली जरा भी धैर्य का त्याग नहीं करता। वह निश्चल भाव से हँसते-हँसते प्राणों का उत्सर्ग कर देता है।

भगवान महावीर लोगों के मना करने पर चण्डकौशिक सर्प के स्थान पर निर्भय होकर चले गए थे। उसके पीछे कौन-सा बल था? सत्य का बल ही तो था! जिसकी दृष्टिमात्र से जीव मृत्यु के मुख में चले जाते थे, उस चण्डकौशिक विषधर ने भगवान महावीर को अपने विषैले दाँतों से काटा भी, लेकिन सत्यबल के प्रभाव से वह विष उनका कुछ भी बिगाड़ सका। यह उक्ति बिलकुल सत्य है कि **'सत्य में हजार हाथियों के बराबर बल होता है।'** शारीरिक दृष्टि से यह बात भले ही सच न हो, पर आत्मिक-दृष्टि से पूर्णतया सच है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति में इतना आत्मबल होता है कि वह अकेला हजार मिथ्याचारियों से भिड़ सकता है और अन्ततः विजय प्राप्त करता है।

परन्तु जहाँ सत्यबल होता है, वहाँ क्रूरता, अन्याय, अत्याचार, दमन आदि नहीं टिक सकते हैं। अगर ये दुर्गुण हैं तो वह सत्यबल नहीं, असत्यबल है। सत्यबली किसी को श्राप नहीं दे सकता, किसी का बुरा चिन्तन नहीं कर सकता, न किसी का अनिष्ट कर सकता है। यद्यपि सत्यबली में इतनी शक्ति आ जाती है कि वह चाहे तो एक भृकुटिमात्र से विरोधी को भस्म कर दे, लेकिन फिर उसका सत्यबल असत्यबल बन जाता है।

भगवान महावीर के युग में चारों ओर हिंसा का साम्राज्य था। लोग यज्ञ के नाम पर मूक पशुओं का नृशंसतापूर्वक वध कर डालते थे। भगवान महावीर क्षत्रिय थे, वे चाहते तो राज्यसत्ता द्वारा भी उस हिंसा को मिटवा सकते थे, लेकिन इस प्रकार कार्य करने से हिंसा स्थायी रूप से निर्मूल न होती, राज्यशक्ति में शिथिलता आते ही वह हिंसा पुनः प्रचलित हो जाती। अतः उन्होंने सत्य की शक्ति से ही जनता को सत्य विचार देकर उस हिंसा को स्थायीरूप से मिटा दिया, जन-मानस में हिंसा के प्रति अनास्था पैदा कर दी। सत्यबली पुरुष के प्रभाव से अग्नि शीतल हो जाती है, विष अमृत बन जाता है, अस्त्र-शस्त्र फूल से कोमल बन जाते हैं, तब क्रूर प्राणियों की क्रूरता दूर होने में क्या सन्देह रह जाता है? लेकिन शर्त यही है कि सत्यबली द्वारा किया जाने वाला प्रयोग दूसरों को दबाने, सताने, नष्ट करने या हानि पहुँचाने वाला नहीं होना चाहिए। अन्याय, अत्याचार और दमन से अत्याचारादि एक बार भले ही शान्त होते दिखाई दें, मगर समय पाकर वे भयंकर रूप में ज्वालामुखी की तरह फट पड़ते हैं। इसीलिए सत्यबली के सत्याग्रह में दूसरे के सुधार का हेतु रहता है, नाश का नहीं। जो सत्याग्रह दूसरों का नाश करने या बलात् दमन करने के लिए किया जाता है, वह स्वयं करने वाले का ही नाश कर देता है। यही कारण है कि सत्यबली स्वयं कष्ट सह लेता है, आत्मदमन करता है, किन्तु मन में जरा भी क्रोध या द्वेष की रेखा नहीं आने देता, इसलिए उसका प्रभाव विरोधी पर स्थायी रूप से पड़ता है, उसका हृदय परिवर्तन तक हो जाता है।

श्मशान में ध्यानस्थ गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर सोमल ब्राह्मण ने धधकते हुए अंगारे रखे, लेकिन इस भीषण विपत्ति से भी गजसुकुमार मुनि का हृदय क्षुब्ध न हुआ, न सोमल के प्रति क्रोध आया। शान्त, समभाव में मग्न, एकमात्र आत्मभाव में लीन गजसुकुमार मुनि के पास सत्य का बल था, तभी तो उन पर जरा भी प्रभाव बाह्य परिस्थितियों का नहीं हुआ। न ही वे जरा भी अशान्त हुए। यह सत्य की शक्ति का ही प्रत्यक्ष चमत्कार था।

नास्तिक भी सत्य की शक्ति को मानते हैं

मुझे कभी नास्तिक लोगों से भी मिलने का अवसर आता है। मैंने उनके साथ भी धर्म-अधर्म की चर्चाएँ की हैं। मैंने धर्म के प्रति उनके इन्कार करने पर यही पूछा कि आखिर ऐसा कौन-सा आधार है, जिसके बल पर मनुष्य का जीवन आसानी से चल सकता है, मनुष्य-मनुष्य का विश्वास कर लेता है, दूसरे की रक्षा के लिए अपने

प्राणों की बाजी लगा देता है ? उसे आप लोग धर्म-नाम से न पुकारना चाहें तो कोई न कोई नाम तो पहिचान के लिए देना ही पड़ेगा। पश्चिम के लोगों ने, खासतौर से जीवन-कला प्रेमियों ने उसे 'सत्य' नाम दिया है।

संसारभर की समस्याओं का हल, विवादों का निपटारा, शास्त्रार्थों का निर्णय, लोक-व्यवहारों का निश्चय, प्रश्नों का समाधान किसके बल पर होता है ? सत्य के बल पर ही। कौन-सी चीज है, जिसके लिए मनुष्य हँसते-हँसते मौत के मुँह में चला जाता है ? किसकी प्रेरणा से मनुष्य अपने प्राणों को न्यौछावर करने के लिए उद्यत हो जाता है ? आत्म-बलिदान या प्राणोत्सर्ग की प्रेरणा का जनक कौन है ? कौन-सा ऐसा तत्त्व था, जिसकी प्रेरणा से गजसुकुमार मुनि ने निश्चल-भाव से असह्य कष्ट सहकर शरीर का उत्सर्ग कर दिया ? कौन-सा ऐसा आकर्षण था, जिसने हरिश्चन्द्र को राजपाट, घरबार छोड़कर भंगी के घर बिकने के लिए प्रेरित किया ? कौन-सा ऐसा जादू था, जिसने मर्यादा पुरुषोत्तम राम को राजपाट त्यागकर वनवास के लिए उत्साहित किया ? सत्य और धर्म का प्रकाश[1] अगर किसी के जीवन में जगमगा रहा है तो वह व्यक्ति अपने शरीर, परिवार, धन, मकान, आदि तमाम सांसारिक या भौतिक पदार्थों को छोड़ते हुए जरा भी नहीं हिचकिचाता। हँसते-हँसते मृत्यु के आलिंगन की प्रेरणा और प्रकाश सत्य और धर्म के सिवाय और कोई देने वाला नहीं है। सत्य केवल इहलोक में ही नहीं, परलोक में भी प्रेरणा प्रदान करता है।

जीवन और जगत का आधार : सत्य

इसलिए निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि जीवन के जो भी सच्चे उत्कृष्ट सिद्धान्त और ध्येय हमारे सामने हैं, उनका आधार सत्य है। अर्थात् सारा जीवन सत्य पर प्रतिष्ठित है। सत्य केवल व्यक्ति के जीवन का आधार नहीं है, अपितु समाज और समष्टि का भी आधार माना गया है। धर्म का भी आधार-बल सत्य है। सत्य के बिना धर्म शून्यवत् है। धर्म समाज तक पहुंचने के लिए सेतु है, तो सत्य उस सेतु के लिए खंभा है। सेतु खंभों पर खड़ा रहता है, खंभे के बिना वह टिक नहीं सकता। इसी प्रकार सत्य रूपी खम्भे के बिना धर्म रूपी सेतु खड़ा नहीं रह सकता। हमारे पौराणिक आचार्यों ने सत्य को सारे जगत् का आधार बताया है—

सत्येन धार्यते पृथ्वीः, सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

—सत्य ही पृथ्वी को टिकाए हुए है, सत्य से ही यह सूर्य प्रकाशमान होता है। सत्य के कारण ही वायु चलती है, संसार के समस्त पदार्थ सत्य पर आधारित हैं।

कुछ लोगों का कहना है—यह पृथ्वी शेषनाग के फन पर टिकी हुई है, कुछ

---

१. यत्सत्यं स धर्मो, यो धर्मः स प्रकाशो, यः प्रकाशः तत्सुखमिति।
—शान्तिपर्व १९०।१२

लोगों का मत है कि बैल के सींग पर यह टिकी हुई है। मगर वैज्ञानिक दृष्टि से सोचा जाय तो यह विराट् जगत् सत्य पर आधारित है। सूर्य सत्य पर ही टिका है। वह समय पर ही उदित और अस्त होता है। संसार की अनोखी घड़ी सूर्य है, जिससे घंटा, मिनट, दिन आदि का ठीक-ठीक ज्ञान संसार को हो जाता है। सूर्य की गति जरा भी गड़बड़ हो जाए तो संसार की सभी व्यवस्थाएँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। परन्तु प्रकृति का यह सत्य नियम है कि सूर्य का उदय और अस्त ठीक समय पर होता है।

मतलब यह है कि जीवन की जितनी भी साधनाएँ हैं, चाहे वह प्रकृति की हों या चैतन्य की हों, वे सब अपने-आप मे सत्य पर आधृत हैं, जड़ और चेतन सभी सत्य पर प्रतिष्ठित हैं। जड़ प्रकृति सत्य की सीमा में चलती है, तब तक सब कुछ व्यवस्थित रूप से चलता है, परन्तु ज्यों ही इस सीमा का उल्लंघन होता है, संसार में हाहाकार मच जाता है, प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता है। भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि सब जड़ प्रकृति द्वारा सत्य की सीमा का व्यतिक्रम है। यही हाल चेतन का है, वह भी सत्य की मर्यादा में चलता है, तब तक कोई गड़बड़ नहीं होती, किन्तु ज्योंही सत्य की मर्यादा को तिलांजलि देकर आगे बढ़ता है, त्यों ही समाज और राष्ट्र में अराजकता, विप्लव और अव्यवस्था छा जाती है। सत्य का पालन प्रकृति भी करती है। समयानुसार ऋतुओं का परिवर्तन होना, समुद्र में ज्वार और भाटा का आगमन, सूर्य और चन्द्रमा का समय पर उदय और अस्त होना, ग्रहों का नियत परिभ्रमण, ये सब प्राकृतिक सत्य के परिचायक हैं। यदि प्रकृति इस प्रकार सत्य का अनुसरण न करे तो बहुत ही अव्यवस्था फैल सकती है ? ग्रीष्म ऋतु के समय शरद्-ऋतु आ जाय और वर्षा ऋतु के समय बसन्त ऋतु आ जाए तो कितनी गड़बड़ी हो जाती है ? इसी तरह मानव भी सत्य का उल्लंघन करता है तो समाज मे अव्यवस्था और अराजकता फैल जाती है। वर्तमान युग की जितनी भी सामाजिक एवं राष्ट्रीय अव्यवस्थाएँ हैं, वे सब सत्य का अतिक्रमण करने के कारण हैं। इसलिए सामाजिक, राष्ट्रीय, कौटुम्बिक या आर्थिक सभी प्रकार की व्यवस्थाओं को सुरक्षित रखने के लिए सत्य की नितान्त आवश्यकता है।

कई लोग कहते हैं कि व्यवहार में असत्य बोले बिना काम नहीं चलता, परन्तु सच बात तो यह है कि किसी भी व्यवहार में सत्य के बिना काम नहीं चलता। क्या समाज, क्या राष्ट्र, क्या धर्म और क्या अध्यात्म सभी के व्यवहार में सत्य के बिना एक मिनट भी काम चलना कठिन है। कोई व्यक्ति एक दिन के लिए भी सत्य का त्याग कर दे तो उसका व्यवहार ठप्प हो जाएगा। किसी को भूख लगी हो और वह कहे कि प्यास लगी है, तो क्या व्यवहार चल सकेगा ? किसी व्यक्ति को पूना स्टेशन से उतरकर नानापेठ जाना हो तो ताँगे या रिक्शे वाले को उसे सत्य कहना ही होगा। अन्यथा, इसके बिना काम नहीं चलेगा। किसी दूकान पर जाते ही आपको दूकानदार पूछे कि क्या चाहिए ? तो आपको सच-सच बताना ही होगा। किसी को पत्र भेजना

हो तो आपको उसका सही-सही पता-ठिकाना लिखना ही होगा। चैक पर भी आपको ठीक असली हस्ताक्षर करने पड़ेंगे। इस प्रकार जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में सत्य के बिना व्यवहार चलना कठिन है। अब आप समझ गए होंगे कि जीवन का व्यवहार असत्य से नहीं, सत्य से ही चल सकता है। सत्य स्वाभाविक है, जबकि असत्य अस्वाभाविक है, वह लदा हुआ है, उसके लिए दिखावट, बनावट करनी पड़ती है।

इसलिए निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि सत्य मानव-जीवन का बुनियादी तत्त्व है, व्यवहार का मूल आधार है, साधना का प्राण है। सत्य के अभाव में मानव-जीवन का कोई भी मूल्य नहीं रह जाता। दुनिया का सारा व्यवहार ठप्प हो जाता है और साधना का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। असत् (असत्य) वस्तुएँ जितनी भी हैं, वे दुनिया के लिए हानिकारक एवं त्याज्य हैं। जैसे जुआ एवं चोरी असत् हैं, अगर आप जुए या चोरी को अच्छा (सत्य) कहें, उनका प्रचार या समर्थन करें तो उन असत्यों से आप समाज या राष्ट्र को उन्नति के पथ पर नहीं ले जा सकते। आप को यह तो प्रतिदिन अनुभव हो रहा है कि जुआ और चोरी राष्ट्र के लिए घातक हैं, हानिकारक हैं, इसलिए आप इन असत्यों का सेवन नहीं कर सकते, न किसी को प्रोत्साहन दे सकते हैं। इसके विपरीत विनय, शील, सन्तोष, प्रेम आदि सद्गुण अच्छे (सत्य) हैं, समाज और राष्ट्र के लिए लाभदायक हैं, अतः आप स्वयं इन सत्यों का सेवन करेंगे, दूसरों को इनका सेवन करने हेतु प्रेरणा देंगे। संक्षेप में, सारे सद्गुणों का सत्य में और सारे ही दुर्गुणों (दोषों) का असत्य में समावेश हो जाता है। जहाँ सत्य होता है, वहाँ अन्य गुण स्वतः ही उत्पन्न हो जाते हैं। जहाँ असत्य है, वहाँ दुर्गुणों का भण्डार धीरे-धीरे भरता और बढ़ता चला जाता है। पाश्चात्य दार्शनिक कांट का कथन है कि "सत्य वह तत्त्व है, जिसे अपनाने पर मनुष्य भले-बुरे की परख कर सकता है। हृदयगत सभी सद्गुणों के विकास की कुंजी मनुष्य की सत्यनिष्ठा में सन्निहित है।" असत्य ही तमाम दुर्गुणों की खान है, सत्य समस्त सद्गुणों में श्रेष्ठ सद्गुण है। इसलिए आत्मबल बढ़ाने एवं ईश्वरत्व प्राप्त करने के लिए भारतीय धर्मशास्त्रों में सत्यनिष्ठा को महानतम साधना बताया गया है।

चीन के महान् सन्त कन्फ्यूशियस कहा करते थे—"जो सत्यार्थी होगा, वह कर्मठ भी रहेगा। आलस्य और विलासिता असत्य की देन है। सत्य की राह सादगी से भरी हुई है, उस पर चलने वाले न तो घमण्डी हो सकते हैं और न ही ढोंगी।

शून्य नील नभ में अनन्त अन्तरिक्ष के अगणित नक्षत्रों का प्रकाश एक बिन्दु पर टकराता है, बाहर खड़ा व्यक्ति प्रकाश कणों के द्वन्द्व को देखकर यह नहीं जान सकता कि कौन-सा प्रकाश किस नक्षत्र से आ रहा है, किन्तु यदि वह उन प्रकाशकणों की बौछार के मध्य उस मूल-बिन्दु को प्राप्त कर ले, जहाँ प्रत्येक प्रकाशकण आकर टकराता है तो उस मूल-बिन्दु से चारों ओर देखते रह सकना तथा प्रकाश के द्वारा ग्रह-नक्षत्रों की अन्तर्दशा का पता लगाना कठिन नहीं है। सत्य भी एक ऐसा ही दिव्य-

प्रकाश और मूल-बिन्दु है, जिसे पकड़ने और धारण करने वाला व्यक्ति संसार की प्रत्येक वस्तुस्थिति का परिपूर्ण एवं आशंकारहित ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

सत्य मानव-जीवन की एक ऐसी अवस्था है, जहाँ स्थित होकर अपने आसपास के सम्पूर्ण वातावरण का सम्यक् और यथार्थ अध्ययन किया जा सकता है। क्योंकि जब कोई व्यक्ति सत्य बोलने या सत्य व्यवहार करने का व्रत लेता है तो दुनियाभर की अहंताएँ उससे टकराती हैं। कीचड़ में फँसा हुआ बीज अपने-आपको कीचड़ से अधिक नहीं सोच सकता, किन्तु जब वही अंकुरित और पल्लवित होकर अपने-आपको चेतना से समृद्ध कर लेता है, तब वह न केवल उस कीचड़ के प्रभाव से बच जाता है, वरन् उस कीचड़ में ही फँसी हुई बहुमूल्य विभूतियों का अपने लिए अर्जन करने लगता है और वही उसकी अन्तःउपार्जित विभूतियाँ ही सौरभ के रूप में फूट पड़ती हैं। और तब पहले जहाँ कीचड़ की निन्दा होती थी, वहाँ अब उसमें से जन्मे कमल की प्रशंसा होने लगती है। यह संसार भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि के कीचड़ जैसा है, जहाँ हर व्यक्ति अपने स्वार्थ एवं अहंत्व की पूर्ति चाहता है। ऐसी परिस्थिति में जीवन और जगत् के यथार्थ रहस्य को समझ सकना कठिन हो जाता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति सत्य का आश्रय ले लेता है तो कमल के समान वह अपनी आत्मा के मूल-बिन्दु पर स्थित होकर विश्व एवं जीवन के यथार्थ को समझ लेता है। भलीभाँति समझा हुआ सत्य ही स्वर्ग और बन्धन-मुक्ति का आधार बनता है।

इसीलिए आचारांगसूत्र में इस तथ्य को उजागर करते हुए कहा है—

सच्चम्मि धिइं कुव्वहा। एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसइ।

—यथावस्थित वस्तुस्वरूप को प्रकट करने वाला सत्य ही है। इसलिए सत्य में अपनी धृति करो—यानी सत्य को धारण करो। जो मेधावी तत्त्वदर्शी हिंसा, असत्य, स्वार्थ, मोह आदि कुपथ से उपरत (विरत) होकर सत्य को ग्रहण करता है, उसके पालन में धैर्य रखता है, वह समस्त पाप-कर्मों का नाश कर देता है।

शास्त्र की उक्ति से यह स्पष्ट है कि जब मनुष्य सत्य को दृढ़ता से अपना लेता है तो जो पापकर्म उसे घेरे हुए हैं, उन सबको वह दूर कर देता है। सत्य को अपनाए बिना अनन्तकाल से जीव को घेरे हुए कर्म दूर नहीं होते, कर्म दूर हुए बिना बन्धन-मुक्ति नहीं हो सकती, या पापकर्म नष्ट हुए बिना स्वर्गादि सुख नहीं मिल सकता।

मैंने पहले बताया था कि सत्य एक बुनियादी चीज है। बुनियादी का अर्थ है जीवन की नींव सत्य से ही पड़नी चाहिए। ऐसा इसलिए बताया गया है कि एक बार सत्य मूल में पड़ जाने पर आगे के जीवन में सदा सत्य का ही व्यवहार तथा चिन्तन होगा, सत्य ही जीवन का सर्वस्व रहेगा। इसी सत्य का पुजारी प्रभु के चरणों में प्रार्थना करते हुए कहता है—

प्रभु ! विनय यही है चरणन में।
हो सन्मति जन-जन के मन में॥
सत्य का सब देश पुजारी हो,
हठवाद की दूर बीमारी हो।
अभिमान न हो, मानव मन में॥
सत्य ही सोचें, सत्य ही बोलें,
सत्य ही नापें, सत्य ही तोलें।
रहें मस्त सदा सत्प्रण में॥

सत्य का पुजारी अन्तर की जितनी गहराई में पैठ गया है। वह सत्य को केवल व्यक्तिगत वस्तु नहीं बनाकर, सारे देश का आदर्श बनाना चाहता है; और चाहता है—हठवाद, मिथ्याग्रह की बीमारी को दूर करना, जिसका मूल अभिमान है। वह सृष्टि के कण-कण में सत्य को ओत-प्रोत देखना चाहता है। सारा संसार सत्य ही सोचे, सत्य का ही चिन्तन करे, सत्य ही बोले, सत्य की दृष्टि से ही जीवन और जगत् का, वस्तुस्थिति का, न्याय-अन्याय का, प्रमाण-अप्रमाण का नाप-तौल करे। प्रण भी सदा सत्य हो। निष्कर्ष यह है कि सारे संसार का धर्म सत्य हो, जोकि भगवद्भक्ति का सार है, सारा संसार उसी सत्य की अर्चा में अपने जीवन को न्यौछावर कर दे।

जिस जाति, संस्कृति, समाज अथवा संस्था की बुनियाद में सत्य होगा, वह सत्य के सभी अंगों से ओतप्रोत हो सकती है, सत्य को सर्वांगरूप से जीवन व्यवहार में अपनाना उसके लिए कोई कठिन समस्या नहीं होगी; अपितु सत्य उसके लिए सहज स्वभाव बन जाएगा।

कई लोग भ्रमवश बुनियादी का अर्थ समझ लेते हैं—मामूली या प्राथमिक चीज। जैसे कि लोग कह देते हैं कि सत्य केवल साधु-संन्यासियों के लिए ही आवश्यक है; बाकी गृहस्थजीवन में राजनीति, अदालत या व्यापार आदि में उसकी आवश्यकता नहीं। किन्तु मामूली का अथवा जरा-सा या साधारण-सा गलत है, बल्कि सर्व सामान्य के लिए सत्य आवश्यक वस्तु है, यह अर्थ होना चाहिए। क्या साधु और क्या गृहस्थ सभी लोगों के, राजनीति, समाजनीति, धर्मनीति, अर्थनीति, व्यापार, अदालत आदि सभी क्षेत्रों में सत्य आवश्यक है, सर्वसामान्यव्यापी है।

इसी प्रकार बुनियादी का प्राथमिक अर्थ भी संगत नहीं है। जैसे बुनियादी-शाला का अर्थ आम लोग प्राथमिकशाला लगाते हैं। उसी भ्रान्त दृष्टि के शिकार लोग सत्य को प्रथम दर्जे के लिए उपयुक्त गुण मानते हैं। अर्थात् सत्य प्राइमरी स्कूल के बालकों के लिए पालनीय है, माध्यमिक या उच्च श्रेणी (कॉलिज) के लड़कों या प्रौढ़ों के लिए नहीं। ऐसा समझकर अधिकांश लोग कह बैठते हैं—सत्य तो बच्चों या साधु-संन्यासियों के लिए है, हमारे लिए नहीं। बाकी सबके लिए अपवाद इस प्रकार

के गलत अर्थ की ओट में बड़े—प्रौढ़वय के लोग अपना व्यवहार असत्यपूर्वक चलाने में जरा भी संकोच नहीं करते। अपवाद के रूप में सत्य को अपनाने वाले तथाकथित बड़े प्रौढ़वयस्क लोग उत्सर्ग की सूची से अपवाद की सूची काफी लम्बी बना लेते हैं। परन्तु सत्य को बुनियादी कहने का यह अर्थ गलत है, भ्रान्त है। सत्य को बुनियादी कहने का अर्थ है, प्रत्येक मानव के जीवन में सत्य को सर्वप्रथम स्थान देना आवश्यक है। सारांश यह है, सत्य की साधना का आरम्भ बचपन से, घर और स्कूल से हो, और वह आगे से आगे जीवन की लम्बी यात्रा में बना रहे। इसलिए मैं तो यह निश्चितरूप से मानता हूँ कि क्या प्राथमिक, क्या माध्यमिक और क्या अन्तिम सत्य की साधना ही सर्वोपरि एवं सर्वोत्तम होगी। यदि सर्वसामान्य व्यक्ति सत्य को जीवन में प्रथम स्थान देकर अपना लें, और असत्य का त्याग कर दें तो आज जिन अदालतों की सीढ़ियों पर उन्हें प्रायः प्रतिदिन चक्कर काटना पड़ता है, जिन वकीलों को अपनी गाढ़ी कमाई का धन देना होता है, जिनकी खुशामद करनी पड़ती है, तथा अनेक मानसिक चिन्ताओं से व्यथित रहना पड़ता है, उन सबसे वह बच सकता है। आजकल वकीलों और अदालतों का धंधा प्रायः असत्य मुकदमों-मामलों पर ही चल रहा है। महात्मा गाँधी की तरह वकालत में सत्य का सहारा लेने पर तो उनका धंधा ही चौपट हो जाए किन्तु सर्वसामान्य लोग प्रायः झूठे मुकदमे लेकर वकीलों आदि के पास आते हैं, और अपना सर्वस्व लुटाकर आनन्द मनाते हैं। इसीलिए महाभारत में सत्य को जीवन का परम धर्म सर्वोपरिधर्म कहा है।[1] सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं, असत्य से बढ़कर कोई पाप नहीं। सत्य ही धर्म का आधार है। अतः सत्य का परित्याग कदापि नहीं करना चाहिए।

सत्य मानव-जीवन की अनमोल विभूति है। जो अपने प्रति, अपने कर्तव्यों के प्रति, अपने परिवार समाज और राष्ट्र के प्रति मन-वचन-काया से सच्चा रहता है, वह इसी जीवन में, इसी शरीर और संसार में स्वर्गोपम सुख प्राप्त करता है। उसके लिए सुख-शान्ति और साधन-सामग्री की कोई कमी नहीं रहती।

इससे भी आगे बढ़कर सत्य मानव को महानता और उच्चता के शिखर पर पहुँचाने वाला प्रशस्त और निरापद मार्ग है। इसके पालन और आचरण में एक कौड़ी का भी खर्च नहीं, और न ही किसी से ऋण लेकर कर्जदार बनना पड़ता है। सत्य पर निष्ठापूर्वक चलने वाले पथिक को किसी भी देश और किसी भी काल में भय या संकट नहीं रहता। जब व्यक्ति में सत्य पर दृढ़ निष्ठा हो जाती है तो वही उसे पाप-कर्म से दूर रखती है। वही उसे अकरणीय, गर्हित एवं निन्दित कार्यों के करने से दूर

---

१ नास्ति सत्यात् परो धर्मो, नानृतात् पातकं परम्।
धृतिर्हि धर्म सत्यस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत्॥
—महाभारत, शान्ति पर्व १६२।२४

रखती है। दण्ड या निन्दा के भय से सत्यनिष्ठ व्यक्ति पहले से ही असत्य का सहारा लेना छोड़ देता है। जो दुष्कृत्यों, दुराचरणों एवं दुर्व्यवहारों से बचा रहता है, वह अपमान, निन्दा अपवाद आदि के आघातों से सुरक्षित रहता है। सत्याश्रयी एवं सत्य-निष्ठ व्यक्ति निर्भय, निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व एवं सुख-शान्ति से परिपूर्ण रहते है। वह स्पष्ट होकर व्यवहार करता है। न तो उसे कहीं भय होता है और न ही आशंका। सत्य मनुष्य के सम्मान, प्रतिष्ठा और आत्मगौरव के लिए अमोघ कवच के समान होता है, जो इस कवच को धारण कर लेता है, उसके लिए निन्दा, अपमान और अप-वाद का कोई कारण नहीं रहता। वह अजातशत्रु होकर समाज को अपने व्यवहार से जीत लेता है।

संसार में विद्यमान सारा का सारा ज्ञान सत्य में समाया हुआ है। क्योंकि विशाल सत्य की दृष्टि जहाँ होगी, वहाँ सत्य के दर्शन हो जायेंगे। ऐसे सत्यदर्शन में सारा ज्ञान आ जाता है, इसलिए सत्यनिष्ठ सत्यदर्शी पुरुष को जानने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहता। जैनागम उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है—

नाणस्स सव्वस्सपगासणाय, अन्नाणमोहस्स विवज्जणाय।

—समस्त ज्ञान के प्रकाश के लिए और अज्ञान व मोह से रहित होने के लिए व्यापक सत्यदर्शन आवश्यक है।

सचमुच, सत्यज्ञान में अन्य सभी ज्ञान समाविष्ट हैं। सत्य का परिपूर्ण पालन हो सका तो सहज ही सारा ज्ञान प्राप्त हो जाता है। गीता में भी बताया गया है—

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।

जिस परमात्मा का ज्ञान हो जाने पर फिर जानने को कुछ शेष नहीं रहता। इसलिए सत्यनिष्ठ व्यक्ति अपने एकस्वरूप में स्थिर रहकर आत्मलाभ-सा आनन्द पाता है। उसका अन्तःकरण दर्पण की तरह स्वच्छ एवं मस्तिष्क प्रज्ञा की तरह सन्तुलित रहता है। उसे न तो मानसिक द्वन्द्वों से त्रस्त होना पड़ता है और न ही निरर्थक वितर्कों से अस्तव्यस्त। वह जो कुछ सोचता है, सारभूत ही सोचता है, जो कुछ करता है, कल्याणकारी ही करता है। वह मिथ्यात्वदोष से रहित होकर कुकल्पनाओं के रोग से मुक्त होता है। वह अपनी सीमा, सामर्थ्य, क्षमता और साधनों के अनुरूप ही जीवन में विचार-व्यवहार करता है। यथार्थ के धरातल पर ही वह अधिक से अधिक विचरण करता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सत्यप्रिय व्यक्ति मिथ्यावादियों की तरह न तो कल्पना की ऊँची उड़ानें भरता है, और न अनहोनी कामनाएँ ही करता है। वह जानता है कि ऐसा करने से महत्त्वाकांक्षाओं में फँसना पड़ेगा, जो उसके बलबूते से बाहर की होंगी, और सम्भव है, उन्हीं महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उसे ऐसे कार्य करने पड़ेंगे, जो असत्य के दोष से दूषित हों। अतः सत्यनिष्ठ व्यक्ति आकांक्षाओं के पथ पर सावधान होकर चलता है।

इसलिए यह माना जा सकता है कि सत्य का अवलम्बन लेकर चलने वाले व्यक्ति को प्रारम्भ में कुछ कठिनाइयाँ महसूस हों, किन्तु आगे चलकर उसे आशातीत लाभ होता है। कम से कम, असफलता तो नहीं मिलती।

सत्य पुण्य की खेती है। जिस तरह अन्न की खेती करने में प्रारम्भ में कुछ कठिनाई उठानी पड़ती है, फसल के लिए थोड़ी प्रतीक्षा भी करनी पड़ती है, किन्तु जब कृषि फलवान होती है, तो घर को धन-धान्य से भर देती है, उसी तरह सत्य की खेती भी प्रारम्भ में थोड़ा त्याग, बलिदान और धैर्य माँगती है, किन्तु जब वह फलती है तो इहलोक से परलोक तक मानव जीवन को पुण्यों से भरकर कृतार्थ कर देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्य मानव-जीवन के प्रत्येक मोड़ पर सम्बल बनता है। सत्य का सहारा व्यक्ति, समाज, जाति, धर्मसंघ एवं राष्ट्र को उज्ज्वल, महनीय एवं बलवान बना देता है।

आप भी सत्य के बल को प्राप्त करके महाबली बनिये और अपने जीवन को अध्यात्म-शक्ति के उच्च शिखर पर पहुँचाने का प्रयत्न कीजिए। ✡

5

श्रावक की सत्य की मर्यादा

☆

भारतवर्ष का प्रत्येक साधक चाहे वह साधु हो या गृहस्थ, सत्यव्रत को लेकर अवश्य चलता है। सत्यव्रत के बिना उसकी साधना एक कदम भी आगे बढ़ नहीं सकती। सत्य उसकी साधना का केन्द्रबिन्दु है। सत्य के बिना श्रावक का कोई भी व्रत, नियम, त्याग, तप, प्रत्याख्यान आदि चल नहीं सकता। सत्य के बिना संसार का कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता, यहाँ तक कि रोजमर्रा का जीवन भी सत्य के बिना नहीं चल सकता। क्या सामाजिक, क्या आर्थिक, क्या नैतिक और क्या राजनैतिक, क्या धार्मिक और क्या आध्यात्मिक, जीवन के सभी क्षेत्रों में सत्य अनिवार्य है। इसलिए श्रावक को ही क्या, प्रत्येक मनुष्य को सत्य का पालन करना चाहिए।

सत्य की साधना का द्वार किसी व्यक्ति विशेष के लिए ही नहीं, सबके लिए खुला है। साधु भी सत्य साधना के पथ पर चलता है और एक गृहस्थ (श्रावक) भी उस पथ पर चल सकता है। सत्य सबके लिए एक-सा है। परन्तु व्यक्ति की शक्ति, क्षमता और रुचि के अनुसार उसकी साधना में कुछ अन्तर है, मर्यादाओं में थोड़ी-सी भिन्नता है।

आगम में साधु के लिए बताया गया है कि वह तीन करण तीन योग से—यानी कृत, कारित और अनुमोदन के रूप में—मन, वचन एवं काया से असत्य का सर्वथा त्याग करे। इसलिए वह द्रव्य से समस्त द्रव्यों के लिए, क्षेत्र से सर्वक्षेत्र में, काल से सब कालों में और भाव से (तीन करण, तीन योग से) असत्य का त्याग करता है। वह क्रोध, लोभ, भय और हास्य के वश तथा कर्कशकारी, कठोरकारी, निश्चयकारी, हिंसाकारी, छेदनकारी, भेदनकारी, सावद्य (संतप्त) भाषा का प्रयोग नहीं कर सकता। उसकी भाषा हास्य एवं व्यंग्य से युक्त, मर्मभेदी, कषाय एवं प्रमाद से युक्त नहीं होनी चाहिए। वह शब्दों का निरर्थक प्रयोग नहीं कर सकता। उसकी वाणी हित, मित, प्रिय, तथ्य और पथ्य से युक्त होनी चाहिए। उसकी भाषा में किसी प्रकार का पक्षपात, सन्देह, द्वयर्थकता, छिछलापन आदि नहीं होना चाहिए। उसकी वाणी में इतना गाम्भीर्य, तेज, ओज, त्याग, तप एवं शान्ति का आभास होना चाहिए, ताकि उसके शब्दों से उसकी साधुता अभिव्यक्त हो। जीवन की गहन साधना और

चारित्र की तेजस्विता उसकी भाषा में झलकनी चाहिए। भाषा समिति और वाग्गुप्ति से उसकी भाषा अनुप्राणित हो।

परन्तु जिस प्रकार अहिंसाव्रत में साधु के लिए पूर्णरूप से छह काया के (समस्त) जीवों की स्थूल-सूक्ष्म सभी प्रकार से हिंसा का त्याग करना जरूरी बताया, लेकिन श्रावक को गृहस्थ होने के कारण उसे खेती, व्यापार आदि संसार के आवश्यक कार्य करने पड़ते हैं, इसलिए सर्वथा जीव हिंसा का त्याग करना उसके लिए असम्भव है। इसी बात को ध्यान में रखकर श्रावक के लिए अहिंसाव्रत में संकल्पतः स्थूल हिंसा का त्याग आवश्यक बतलाया है, ताकि श्रावक के व्यवहार में बाधा न पहुंचे।

गृहस्थाश्रम पालने वाला गृहस्थ श्रावक यदि पहले सूक्ष्म हिंसा का ही त्याग करने जाय तो वह ऐसे चक्कर में पड़ता है, कि सूक्ष्म हिंसात्याग का व्रत तो पालना दूर रहा, स्थूल हिंसा त्याग से भी पतित हो जाता है। उसकी स्थिति **'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः'** जैसी हो जाती है। इसलिए बुद्धिमान सद्गृहस्थ पहले अहिंसाव्रत का धारण करके संकल्पी स्थूल हिंसा का त्याग करता है, फिर जब वह गृहस्थ कार्यों से निवृत्त होता है तब सूक्ष्म अहिंसाव्रत धारण करके सूक्ष्म हिंसा का भी त्याग करता है।

जिस प्रकार अहिंसा के भी स्थूल, सूक्ष्म ये दो भेद किये गए हैं, उसी प्रकार सत्य के भी स्थूल, सूक्ष्म ये दो भेद शास्त्रकारों ने बतलाए हैं। स्थूल बातों के लिए असत्य आचरण करना स्थूल असत्य है और सूक्ष्म रीति से असत्य-आचरण करना सूक्ष्म असत्य है।

गृहस्थ की साधना साधु की साधना जितनी उत्कृष्ट नहीं होती। उस पर पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व का बोझ होने के कारण वह इतने सूक्ष्म सत्य का पालन नहीं कर सकता। फिर भी ऐसे झूठ से वह अवश्य बचता है, जिसे व्यवहार में झूठ कहते हैं; जिससे दूसरे का अहित होता हो, जिससे सरकार द्वारा वह दण्डनीय हो, समाज में निन्दित हो, दुनिया में अविश्वास का भाजन बने।

इसी दृष्टि से श्रावक के लिए सत्य-अणुव्रत की मर्यादा इस प्रकार स्थिर की गई है—

'थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, दुविहेण तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं।

जैसे अहिंसा-अणुव्रत की मर्यादा दो करण तीन योग से संकल्पी हिंसा का त्याग के रूप में बताई गई थी, इसी प्रकार सत्य अणुव्रत में भी स्थूलमृषावाद (असत्य) विरमण (त्याग) की मर्यादा भी दो करण तीन योग से बताई गई है। यानी स्थूल मृषावाद का त्याग मन, वचन और काया (तीन योग से) स्वयं करे, और दूसरे से करावे। अनुमोदन खुल्ला है।

कुछ लोग कहते हैं कि श्रावकों को मृषावाद (असत्य) का सर्वथा त्याग करने का ही उपदेश देना चाहिए, उसे सूक्ष्म-स्थूल के भेद नहीं समझाने चाहिए;

क्योंकि ऐसा करने से सूक्ष्म असत्य का अनुमोदन होता है। लेकिन ऐसा कहने वाले लोग जैनशास्त्र के गहन विचारों से अनभिज्ञ है। जैनशास्त्र ऐसी किसी बात का निषेध नहीं करते, जिनके बिना मनुष्यों का कार्य न चल सकता हो। ऐसी अवस्था में उन श्रावकों को, जो सांसारिक कार्यों को करते हुए सत्य का पालन करना चाहते हैं, यदि स्थूल और सूक्ष्म झूठ के भेद न बतलाए गए तो वे सत्य का पालन कैसे कर सकते हैं ? सूक्ष्म असत्य से तो गृहस्थ श्रावक सर्वथा बच नहीं सकते और लोक-व्यवहार में जिस झूठ को झूठ कहा जाता है, वह झूठ स्थूल झूठ के दायरे में आ जाता है, उसका त्याग श्रावक के हो ही जाता है। इसलिए बुद्धिमान लोग असत्य के सूक्ष्म और स्थूल के रूप में दो भेद न बताने की बात को नहीं मान सकते।

श्रावक के लिए स्थूलमृषावादविरमण व्रत का धारण करना उचित और आवश्यक है। इस व्रत के धारण करने पर गृहस्थ के सांसारिक कार्यों में किसी प्रकार की अड़चन नहीं हो सकती, बल्कि सांसारिक मार्ग सरल हो जाता है। इस सत्य-अणुव्रत को पालन करने वाले श्रावक पर समाज का विश्वास हो जाता है तथा इस व्रत के धारण करने पर वह असत्य के पाप से बहुत अंश में बच जाता है।

सारांश यह है कि असत्य का पूर्णरूप से त्याग करना तो उचित ही है। इसमें मतभेद की कोई गुञ्जाइश नहीं है। इस दृष्टि से गृहस्थ श्रावक पूर्ण या किसी अंश में सूक्ष्ममृषावाद से बच सके तो कोई बुराई की बात नहीं है। लेकिन शास्त्रकारों ने गृहस्थ श्रावकों के लिए सूक्ष्ममृषावाद का त्याग न बतलाकर स्थूलमृषावाद का त्याग ही आवश्यक बताया है। क्योंकि गृहस्थश्रावक यदि सूक्ष्ममृषावाद का त्याग करता है तो उसके लिए उसे असत्य का, जैसा कि पहले मैंने स्वरूप बताया था, सर्वथा पूर्णरूप से त्याग करना पड़ता है, जो सांसारिक जिम्मेवारियों को देखते हुए उसके लिए अत्यन्त कठिन है। अगर आग्रहवश आवेश में आकर वह इस प्रकार से स्थूल-सूक्ष्म सभी प्रकार के असत्य का त्याग कर भी लेगा तो उसे अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ेगा।

उपासकदशांगसूत्र में आनन्द, कामदेव आदि १० श्रावकों के जीवन का उल्लेख है। उन्होंने भगवान महावीर के समक्ष गृहस्थ श्रावक के व्रतों में सत्य की प्रतिज्ञा ली, तो उन्होंने गृहस्थ की मर्यादाओं को ध्यान में रखकर ही ली थीं। साधु जीवन और गृहस्थ-जीवन की मर्यादाएँ अलग-अलग हैं। शास्त्रकार भी उन मर्यादाओं पर दृष्टि रखते हैं और उनके आधार पर ही सत्य का विधान करते हैं। आनन्द श्रावक ने जब सत्य-अणुव्रत ग्रहण किया तो वे पूर्णरूप से असत्य का त्याग नहीं कर सके थे, उन्होंने केवल स्थूलमृषावाद का त्याग किया था। आनन्द श्रावक ने पहले अपनी कमजोरियों की नापतौल की, सोचा-समझा कि मैं गृहस्थ-जीवन में हूँ। मेरे सिर पर पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्व हैं। जीवन की अनेक समस्याएँ हैं। अतः उन्होंने सत्य को एक अंश में स्वीकार करके स्थूलमृषावाद का त्याग ही किया था। वे जितना चल सकते थे, उतनी ही मर्यादा उन्होंने अपने लिए स्वीकार की।

स्थूलमृषावाद और सूक्ष्ममृषावाद

अब प्रश्न होता है कि 'स्थूलमृषावाद (असत्य) क्या है और सूक्ष्ममृषावाद क्या है ?' किसे स्थूल असत्य समझा जाय और किसे सूक्ष्म असत्य ?

वैसे तो असत्य भी हिंसा की तरह सर्वथा त्याज्य है, परन्तु जो जितनी सीमा तक चल सकता है, जितनी सीमा तक ही असत्य का त्याग कर सकता है, करना चाहिए। वैदिक धर्मग्रन्थों में भी यह बताया गया है कि अगर पूर्ण सत्यनिष्ठ होना कठिन प्रतीत होता हो तो जितना हो सके, अधिकाधिक मात्रा में उस मार्ग पर चलने का प्रयत्न करना चाहिए। एक आप्तवचन है—

अनुगन्तुं सतां वर्त्म, कृत्स्नं यदि न शक्यते ।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं, मार्गस्थो नावसीदति ॥

—यदि सत्पुरुषों के मार्ग पर पूरी तरह चल सकना शक्य न हो तो, उस मार्ग का आंशिक रूप में ही अनुसरण करना चाहिए। क्योंकि मार्ग पर चल पड़ने वाला कभी न कभी मंजिल पर पहुँच ही जाता है।

जैसे अहिंसा के सम्बन्ध में स्थूल और सूक्ष्म मर्यादाएँ हैं, वैसे ही सत्य के विषय में भी हैं। अहिंसा के पथ पर चलने वाले साधक के सामने पूर्ण अहिंसा का ही लक्ष्य रहता है। वह चाहता है कि अहिंसा की समस्त धाराएँ उसके जीवन में उतर जायँ। जैसा कि जैनधर्म ने माना है—

सव्वे जीवावि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हापाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंतिणं ॥

—संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे सब जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता। सब में तुम्हारी तरह सुख-दुःख की अनुभूति की लहर है। इसलिए विश्व के समस्त प्राणियों की हिंसा का त्याग निर्ग्रन्थ करते हैं। तुम्हारी दया और करुणा की धारा भी प्राणिमात्र के प्रति बहनी चाहिए।

ऐसा होने पर भी पूर्ण अहिंसा को प्राप्त करने के लिए अपनी भूमिका के अनुसार मार्ग स्थिर करके चलो। जैनधर्म ने अहिंसा का वर्गीकरण करके उसके पालन करने की क्रमशः सीढ़ियाँ बना दीं। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के प्राणियों में आत्मा समानरूप से है, लेकिन उनकी चेतना व इन्द्रिय-मन के विकास में अन्तर है।

इस रूप में सर्वप्रथम पंचेन्द्रिय जीव के प्राणों का घात तथा संहार वर्जनीय बताया। पंचेन्द्रिय जीव का संकल्पपूर्वक घात करना और उसका मांस खाना नरक का पथ बताया। उसके पश्चात् द्वीन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवों तक की हिंसा का त्याग करने का निर्देश किया। क्योंकि जो व्यक्ति अहिंसा के मार्ग पर अभी-अभी चढ़ा है, उससे एकदम उच्च भूमिका की अहिंसा का पालन करना अशक्य होगा। इसलिए गृहस्थ श्रावक के लिए संकल्पपूर्वक त्रसजीवों की हिंसा (स्थूलहिंसा) का

त्याग करने का विधान किया। स्थावर जीवों की हिंसा (सूक्ष्महिंसा) का त्याग करने का विधान नहीं किया, लेकिन उसके सम्बन्ध में विवेक रखने की बात जरूर कही है। किन्तु जिसने अभी तक अहिंसा और सत्य के पथ पर कदम ही रखा है, उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अभी ही पूर्णरूप से उनका पालन करने लगेगा। उसके सामने अहिंसा और सत्य की विविध भूमिकाएँ हैं, अपनी शक्ति रुचि एवं क्षमता के अनुसार उन भूमिकाओं को पार करके वह क्रमशः आगे बढ़े, यही उचित है।

यों तो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी में जीवन है, अतः जैनधर्म यह नहीं कहता है कि पंचेन्द्रिय की रक्षा करो और एकेन्द्रिय को मारो या मरने दो। उसने तो यही कहा कि प्राणिमात्र के प्रति तुम्हारा दया-करुणा का झरना बहता रहे, लेकिन जहाँ तुम रह रहे हो, जिन जीवों में तुम्हारे सरीखी विकसित चेतनाएँ हैं, उनके प्रति अपनी करुणा और दया का निर्झर पहले बहाओ। फिर क्रमशः आगे बढ़ो और छोटे-से-छोटे जीवों के प्रति भी अपनी करुणा को फैला दो। पृथ्वी, जल, हवा, अग्नि और वनस्पति के जीवों के प्रति दयाभाव रखने के लिए उनका उपयोग कम से कम करो। जितना अशक्य परिहार है, उससे आगे उनकी रक्षा करने का प्रयत्न करो। मिट्टी, पानी आदि का उपयोग जरा भी आवश्यकता से अधिक मत करो।

महात्मा गांधीजी के जीवन में यह बात थी। यद्यपि उन्होंने जैन दृष्टि से श्रावकों के व्रत ग्रहण नहीं किये थे और न उस दृष्टि से वे व्रतों का पालन ही करते थे तथापि वे एकेन्द्रिय जीवों की अहिंसा का भी पूरा ध्यान रखते थे। वे एक छोटे-से लोटे भर पानी से अपना मुँह साफ कर लेते थे। एक बार उन्होंने मिट्टी से हाथ धोने के लिए रविशंकरजी से मिट्टी मँगाई। वे खेत में से मिट्टी का एक बड़ा ढेला उठा लाए। महात्मा गांधीजी ने जब देखा कि बहुत बड़ा ढेला ले आए हैं तो उनसे कहा—"भाई! इतनी मिट्टी की जरूरत नहीं थी, मुझे।" जरा-सी मिट्टी उन्होंने रखी और बाकी का ढेला लौटाते हुए रविशंकरजी से कहा—"इसे वापिस ले जाओ और जहाँ से लाए थे, वहीं रखकर आओ।"

यह था एकेन्द्रिय जीवों की अहिंसा का विवेक। जैनधर्म का यही सन्देश है कि व्यर्थ में पानी की एक बूँद भी न बहाओ, मिट्टी का एक कण या वनस्पति का एक छोटा-सा अंश भी व्यर्थ में खराब न करो। इस रूप में श्रावक के लिए जैसे अहिंसा की मर्यादाएँ बतायीं, वैसे ही सत्य के लिए भी बताई हैं। ऐसा नहीं है कि अहिंसाव्रत के सम्बन्ध में तो मर्यादाएँ हो सकती हैं, और सत्यव्रत के सम्बन्ध में मर्यादाएँ नहीं हो सकतीं। सम्भव है, वर्तमान युग के विचारक कहते हों कि सत्य के सम्बन्ध में कोई मर्यादा नहीं हो सकती, लेकिन जैनधर्म का अब तक का चिन्तन यह बताता है कि सत्य के सम्बन्ध में भी मर्यादाएँ हैं अगर सबको एक ही लाठी से हाँकने जैसी बात होती तो, गृहस्थ और साधु की व्रत मर्यादाओं में कोई अन्तर ही क्यों किया जाता? सबके लिए एक ही मार्ग बताया जाता यही कारण है कि अहिंसाव्रत में

जैसे स्थूलहिंसा का त्याग बताया गया है, वैसे ही सत्यव्रत में भी स्थूलअसत्य (मृषा-वाद) का त्याग बताया गया है।

स्थूल असत्य का अर्थ है—जो बात, विचार या कार्य लोक-व्यवहार (आम जनता) की आँखों में, जनता में असत्य नाम से प्रचलित है जो राज्य द्वारा दण्डनीय, समाज द्वारा निन्दनीय, गर्हणीय है जिससे किसी जीव की अकारण ही हिंसा होती हो, दुःख पहुँचता हो, वह बात, विचार या कार्य स्थूल झूठ या असत्य है। इनसे विपरीत जो है, वह स्थूल सत्य है। शास्त्र में श्रावक के लिए स्थूल सत्य के ग्रहण और स्थूल असत्य के त्याग को स्थूलमृषावाद-विरमण कहा है।

जैसे अहिंसाव्रत में श्रावक के लिए प्रमाद और कषाय के योग से संकल्पी हिंसा का त्याग आवश्यक बताया है, इसी प्रकार सत्यव्रत में भी श्रावक के लिए प्रमाद कषाय के योग से संकल्पी असत्य का त्याग आवश्यक है।

एक आचार्य ने सूक्ष्म असत्य उसे कहा है कि ऐसा वचन जो गृहस्थों को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि का उपयोग करने के लिए प्रयुक्त करना पड़ता है, वह भी संसार-व्यवहार चलाने के लिए अनिवार्य होने पर कहना पड़ता हो। ऐसे एकेन्द्रिय जीवहिंसा की सम्भावनासूचक वचन को सूक्ष्म (अल्प) झूठ कहा है।

जिस वचन में अपनी, अपने परिवार की, या अन्य किसी भी त्रस जीव की हिंसा होने की सम्भावना हो, ऐसी विपद्ग्रस्त स्थिति में असत्य की भावना न होते हुए भी जीवन-रक्षा की दृष्टि से बोला गया असत्य स्थूल असत्य में परिगणित नहीं किया गया है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र गृहस्थ श्रावक के सत्य की मर्यादा का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

स्थूलमलीकं न वदेत्, न परान् वादयेत् सत्यमपि विपदे।
यत्तद् वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम्॥

—गृहस्थश्रावक स्थूल असत्य स्वयं न बोले, न दूसरे से बुलवाए। साथ ही ऐसा सत्यभाषण भी न करे, जिससे दूसरे पर मुसीबत आ पड़े।

दूसरों पर मुसीबत का पहाड़ ढहा देने वाला वचन हिंसाकारक होने से सत्य की कोटि में नहीं आता।

तात्पर्य यह है कि गृहस्थ के लिए जो सत्य की मर्यादाएँ बताई हैं, वे अपने स्वार्थ के लिए, मौज-शौक में विघ्न आने की आशंकाएँ, किसी भय से या व्यापार धन्धे में मुनाफाखोरी, तस्करी आदि करने की दृष्टि से नहीं हैं।

कई तथाकथित श्रावक लोग आज व्यापार आदि में बोले जाने वाले असत्य को अल्प झूठ में शुमार करके हजारों रुपये कमाते हैं। तथा जहाँ-जहाँ असत्य बोलने से अपना स्वार्थ सिद्ध होता हो, वहाँ-वहाँ असत्य बोलने से भी प्रायः नहीं हिच-

किचाते। परन्तु इस व्रत की मर्यादा में पैसों के लेन-देन, स्वार्थसिद्धि व किसी साधारण लाभ के लिए असत्य बोलना वर्जित है। इसी प्रकार सरकार की कर-चोरी, तस्करी, चोरबाजारी, हेराफेरी, सरकारी कानून भंग जैसे डाक टिकट का पुनः उपयोग, पिता का रेल्वे पास पुत्र द्वारा काम में लेना, आदि सब गुनाह स्थूल असत्य में शुमार हैं।

छोटा बालक भी लिखने में काना-मात्रा की भूल करता है तो उसे भी भूल समझा जाता है। चैक या हुण्डी में जरा-सी भी लिखने में कहीं भूल हो तो चल नहीं पाती, तब संकल्पपूर्वक एक पैसे की भी स्वार्थसिद्धि के लिए बोला गया झूठ अल्पझूठ में कैसे माना जा सकता है।

अपने स्वार्थ के लिए सत्य को छोड़ देना अनुचित है। अहमदाबाद में रावजी भाई पटेल रहते थे। उनके पिता मणिभाई पटेल की एक व्यक्ति ने हत्या कर दी। पुलिस ने हत्यारे को पकड़ा और उस पर मुकदमा चलाया। लेकिन कोई प्रत्यक्ष प्रमाण न मिलने पर पुलिस ने रावजीभाई को झूठे प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए कहा। इस पर रावजीभाई ने जो उत्तर दिया, वह अविस्मरणीय है। उन्होंने कहा—"हत्या तो मेरे पिता की हुई है। अतः मुझे जितना दुःख हो सकता है, उतना दूसरे को न होना स्वाभाविक है। मेरे पिता की हत्या करने वाले की हत्या कराने के लिए मैं मिथ्या प्रमाण पेश करके सत्य की हत्या नहीं करना चाहता। मैं मनुष्य की हत्या से भी बढ़कर भयंकर सत्य की हत्या को मानता हूँ। अतः मैं कोई प्रमाण पेश नहीं कर सकता।" यह उत्तर सुनकर पुलिस अधिकारी स्तब्ध हो गया।

किसी गृहस्थ श्रावक का लड़का बीमार है। उसकी बीमारी असाध्य है। डाक्टर आया और रोगी को देखकर उसके पिता को एक ओर ले जाकर कहा—"यह बच नहीं सकता। अब यह घड़ी-दो-घड़ी का मेहमान है।" बीमार पूछता है—"डाक्टर साहब मेरे लिए क्या बता गए?" अब यदि वह रोगी को सच-सच बता देता है 'कि तू बच नहीं सकता घड़ी-दो-घड़ी का मेहमान है' तो रोगी को गहरा धक्का लग सकता है और अत्यन्त शोक एवं आघात से उसकी हृदयगति अवरुद्ध हो सकती है। इस प्रकार बीमार पर विपत्ति आ पड़ने की शंका होने से विवेकी श्रावक ऐसे समय में सच कहकर रोगी को मुसीबत में डाल नहीं सकता।

मान लीजिए, एक गृहस्थ ऐसी जगह रहता है, जहाँ उसकी रक्षा का पूरा प्रबन्ध नहीं है। हमलावर एकदम आ गए और उक्त गृहस्थ से पूछताछ करने लगे कि बताओ धन कहाँ रखा है? गहने कहाँ रखे हैं? घर की औरतें कहाँ हैं? और चीजें कहाँ कहाँ हैं? ऐसी दशा कोई भी गृहस्थ सत्य-सत्य नहीं कह सकता। गृहस्थ की भूमिका इतनी उच्च नहीं है कि वह चोर, डाकू, गुण्डों या हमलावरों को सब कुछ सत्य-सत्य बतला दे। आक्रमणकर्ताओं के सामने घर की औरतों को प्रस्तुत कर दे। अगर कोई अविवेकी या तथाकथित सत्य का आग्रही ऐसा कर भी देता है तो बाद में

उसके मन में जो आर्त्तरौद्र ध्यान के दुःसंकल्प पैदा होंगे, वे सत्य बोलने के तथाकथित पुण्य से कई गुना बढ़कर पापपुंज के उत्पादक होंगे।

इस प्रकार की आपत्ति आने पर जैनधर्म सत्य के विषय में गृहस्थ की मर्यादाएँ बताता है और ऐसा करना उचित भी है। गृहस्थ को अपने राष्ट्र, अपने समाज और परिवार की रक्षा के लिए ऐसे मौके पर सत्य की मर्यादाओं को स्वीकार करना पड़ता है।

अगर कोई नागरिक किसी दूसरे (शत्रु) देश में गिरफ्तार हो जाय और शत्रु देश का कोई सेनाध्यक्ष या सैन्य-अधिकारी उससे देश की गुप्त बातें पूछे तो वह नागरिक क्या सच-सच बता दे ? अगर वह अपने देश की गुप्त बातें खोल-खोलकर बतला दे, तो उस पर या उसके देश पर मुसीबत आ सकती है सत्य बतलाने पर देश मुसीबत में पड़ता है और झूठ कहने पर व्रत खतरे में पड़ता है।

ऐसे संकटापन्न समय में शास्त्र गृहस्थ श्रावक की सत्य की मर्यादा का उल्लेख कर साफ-साफ कह देते है, बल्कि 'रहस्याभ्याख्यान' रहस्य (गुप्त) बात को प्रगट कर देना गृहस्थ के लिए सत्यव्रत का अतिचार बताया है।

हाँ, अगर उसकी मृत्यु को स्वीकार करने की तैयारी है तो वह साफ-साफ कह देगा कि मुझे मौत मंजूर है, मगर देश की गुप्त बात बतलाना कतई मंजूर नहीं है। अगर उस गृहस्थ की भूमिका इतनी उच्च नहीं है, उसकी तैयारी मृत्यु का वरण करने की नहीं है, उस गृहस्थ के लिए सत्य की सीमा बाँध दी है कि वह जितना चल सके, उतना ही चले।

परन्तु उस गृहस्थ के लिए वह तथ्यकथन भी असत्य हो जाएगा, यदि वह भयंकर परिणाम लाने वाले, हजारों की जिन्दगी मुसीबत में डालने वाले और विग्रह खड़ा कर देने वाले सत्य का प्रयोग करता है।

तात्पर्य यह है कि सत्य की जितनी भी मर्यादाएँ हैं या सत्य के विषय में जितनी भी छूटें दी गई हैं, वे हर समय के लिए उत्सर्ग मार्ग के रूप में नहीं दी गई है। वे सब अपवादस्वरूप हैं। और अपवाद का प्रयोग क्वचित् ही किया जा सकता है। वस्तुतः इन सब अपवादों की मुख्य कसौटी अहिंसा है। जहाँ हिंसा को उत्तेजना मिलती है, अहिंसाव्रत भंग होता है वहाँ गृहस्थ के लिए सत्य में ये कुछ अपवाद हैं।

अपवादों का मुख्य कारण गृहस्थ की जीवनोत्सर्ग करने की अक्षमता है। यदि किसी गृहस्थ में प्राणोत्सर्ग करने की क्षमता है, तो उसे इन आगारों (छूटों) या अपवादों से लाभ नहीं लेना चाहिए। श्रावक की दृष्टि आगारों से लाभ लेने की नहीं होनी चाहिए, उसका ध्येय तो सत्य के पूर्णपालन का ही होना चाहिए।

अर्हन्नक श्रावक के जीवन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। अर्हन्नक व्यापार करने के लिए विदेश जा रहा था। जहाज में अपने साथियों के साथ बैठा था, तभी

एक देव उसके सत्य की परीक्षा करने के लिए आया और गर्जता हुआ बोला—'अरे अर्हन्नक ! क्यों धर्म का ढोंगी बना है। अपने सत्य का परित्याग कर दे, अन्यथा मैं तेरे जहाज को समुद्र में डुबा दूँगा।" अर्हन्नक पक्का श्रावक था, सत्य धर्म के रंग में रंगा हुआ। उसके सामने एक ओर जहाज में लदा हुआ करोड़ों का माल था, उसमें बैठे हुए अनेक मनुष्यों का जीवन-धन था, और दूसरी ओर था—अकेला सत्य ! ऐसी विषम परिस्थिति में भी अर्हन्नक अपने सत्य पर दृढ़ रहा। वह किसी भी भय या प्रलोभन से विचलित नहीं हुआ। देव अर्हन्नक की सत्यधर्म पर दृढ़ता देखकर अत्यन्त आह्लादित हुआ और अपने स्थान पर चला गया।

आप कह देंगे, यह तो बहुत पुराने जमाने की बात है। इस जमाने में ऐसे सत्यधर्मी कहाँ होंगे ? ऐसा नहीं है। इस युग में भी गाँधीजी सत्यधर्मी हुए हैं। उनके सामने भी कई विकट प्रसंग आये थे। जब महात्मा गाँधीजी अहमदाबाद में कोचरब में आश्रम की स्थापना कर रहे थे, उस समय उनके सत्य की कसौटी हुई। दूधाभाई नाम का एक हरिजन सपरिवार उस आश्रम में रहने के लिए आ गया। महात्मा गाँधीजी का तो विचार था कि वे किसी भी मानव के साथ भेदभाव नहीं करेंगे, हरिजन को तो प्राथमिकता देंगे। किन्तु उस समय का समाज इसको मानने के लिए तैयार नहीं था। उसकी नजरों में गाँधीजी का यह कार्य अपराध था कि वे वैष्णव होकर चमारों और भंगियों को अपने साथ रखें। अतः समाज के कुछ लोग, जो आश्रम को सहायता देने के लिए तैयार हुए थे, वे गाँधीजी के इस कार्य से खिलाफ हो गए। उन्होंने साफ कह दिया—'अगर गाँधीजी चमार-भंगी को रखेंगे तो हम आश्रम को बिलकुल मदद नहीं देंगे।' और सचमुच उन्होंने आश्रम को मदद देना बंद कर दिया। गाँधीजी के सामने समस्या खड़ी हो गई कि सत्य (सिद्धान्त) को रखें या आश्रम चलाने के लिए सेठों से मदद लें। कस्तूरबा से उन्होंने सलाह ली। कस्तूरबा ने भी अपनी दृढ़ता बता दी। गाँधीजी ने निश्चय कर लिया कि आश्रम चले या न चले, हमने जो निश्चय कर लिया है, उस सत्य से विपरीत नहीं चलेंगे। जो हरिजन आ गया है, उसे निकालेंगे नहीं। नौबत यहाँ तक आ गई कि आश्रम में एक टाइम की ही भोजन सामग्री बची थी। किन्तु महात्मा गाँधीजी के सत्य के प्रभाव से एक चामत्कारिक घटना हुई। दूसरे ही दिन एक व्यक्ति कार में बैठ कर आये और गाँधीजी के हाथों में आश्रम चलाने के लिए १३ हजार के नोट थमा कर कुछ भी नाम-पता बताये बगैर तुरंत ही चल दिये। गाँधीजी देखते ही रहे, पूछते ही रह गए, कोई उत्तर नहीं मिला ?

यह था सत्य के लिए दृढ़ता का ज्वलन्त प्रमाण !

हमारे सम्पर्क में एक बार एक जैन ब्रह्मचारी आया। उसने अपना नाम भी 'हरिश्चन्द्र' रखा था। और सचमुच उसके जीवन की घटनाएँ सुनकर हमें आश्चर्य हुआ कि कितनी मुसीबतों में भी वह सत्य पर दृढ़ रहा। वह जिस ब्रह्मचर्याश्रम में

गृहपति के तौर पर रह रहा था, उसकी दूसरे सम्प्रदाय वालों के साथ जमीन की तकरार थी। वह जमीन असल में दूसरे सम्प्रदाय वालों के हक में थी, परन्तु ब्रह्मचर्याश्रम के तथा इससे सम्बन्धित सम्प्रदाय के मन्दिर के अधिकारियों ने रातोंरात दीवार बनाकर अपनी बाउन्ड्री खींच दी, ताकि उनके सम्प्रदाय का हक बरकरार हो जाय। आखिर दूसरे सम्प्रदाय वालों ने मुकदमा चलाया। मुकदमे में विपक्ष की ओर से गवाह के रूप में हरिश्चन्द्र ब्रह्मचारी भी थे। उनसे जब बयान लिए गए तो उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि "जमीन दूसरे सम्प्रदाय के हक की है, इन्होंने जबर्दस्ती कब्जा कर लिया है।" इस सत्यपूर्ण बयान पर ब्रह्मचर्याश्रम वाले बहुत बिगड़े और सत्यवादी ब्रह्मचारी जी को नौकरी से बर्खास्त कर दिया। वे फिर वहाँ से बनारस चले गए।

हाँ तो झूठ बोलकर जमीन बचाना, अन्यायपूर्ण बात का समर्थन करना वास्तव में श्रावक की मर्यादा में नहीं आता। ऐसा करने पर संकल्पतः श्रावक को असत्य लगेगा। सत्यव्रत भंग होगा।

कई लोग नौकरी के लिए अपने मालिक के बहीखातों में झूठा जमाखर्च लिखना स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु श्रावक के लिए यह सत्यव्रत का भंग है। नौकरी बचाना तो सरासर स्वार्थ है। स्वार्थ के लिए असत्याचरण करना उचित नहीं है।

सत्यव्रत में जो छूट दी गई है, वह अहिंसा की दृष्टि से, प्राणोत्सर्ग करने की अक्षमता की स्थिति में ही दी गई है। उसका उपयोग हर समय करने का कोई प्रश्न ही नहीं होता। यही कारण है कि साधु के लिए सत्य के सम्बन्ध में कोई मर्यादा नहीं बाँधी गई है। साधु को तो शरीर पर आसक्ति न रखकर सत्य के लिए प्राणोत्सर्ग करने के लिए तैयार रहना चाहिए। शास्त्र में भी कहा है—

अवि अप्पणोवि देहम्मि नायरंति ममाइयं।

साधु अपने शरीर पर भी किसी प्रकार का ममत्व नहीं लाते। शरीर रहे, चाहे जाय, उनके लिए दोनों ही स्थिति में आनन्द है। किन्तु गृहस्थ के लिए एकान्त रूप से ऐसा नहीं बताया गया है। वे दूसरों पर प्राणों पर अकारण ही खतरा उपस्थित होता देखता है तो उस समय अपवाद का प्रयोग भी करता है। परन्तु करता है—लाचारी की हालत में ही।

पाकिस्तान से आने वाले ओसवाल भाइयों के मुँह से एक आपबीती सुनी थी—उनके घर के पड़ौस में ही एक मुसलमान का घर था। उसमें केवल दो प्राणी रहते थे—एक बूढ़ा और एक बुढ़िया। वे उन लोगों को अपने बच्चों के समान समझते थे। बड़ा प्यार करते थे। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान विभाजन के समय कुछ मुसलमान उपद्रवियों द्वारा हमला होने की शंका हुई तो उन्होंने हिन्दू महिलाओं को अपने घर में छिपा लिया। उन्होंने सहानुभूति प्रगट करते हुए हिन्दू भाई को कहा—"घबराओ मत। तुम्हारे घर पर अभी हमला करने वाले आएँगे। वहाँ अगर ये औरतें रहेंगी तो जरूर इनकी जान और अस्मत को खतरा है, हमारे यहाँ ये सुरक्षित रहेंगी।' सचमुच ऐसा

ही हुआ। कुछ ही देर बाद हमलावर गुण्डे आए और पूछताछ करने लगे—'कहाँ हैं तुम्हारे घर की औरतें और लड़कियाँ ?' उन्होंने कह दिया—'वे यहाँ नहीं हैं।' वे पड़ौसी मुसलमान के यहाँ पहुँचे। उससे पूछा—"तुमने जिन हिन्दू औरतों को छिपा रखा है, वे कहाँ हैं ? सच-सच बता दो।"

बूढ़े और बुढ़िया ने कहा—"हम खुदा की कसम खाकर कहते हैं कि यहाँ हिन्दू औरतें नहीं हैं।"

फिर भी गुण्डों को शक था। उन्होंने धमकी देते हुए कहा—"देखो, अपनी जान जोखिम में मत डालो। झटपट बता दो। हमें शक है कि वे तुम्हारे घर में छिपी हैं।"

बूढ़ा उस समय कुरान का स्वाध्याय कर रहा था। उसने चट से कुरान उठाकर कहा—"देखो, हमारे लिए कुरान से बढ़कर तो कोई पाक ग्रन्थ नहीं है। मैं इसे उठाकर कहता हूँ कि यहाँ कोई हिन्दू औरतें नहीं हैं।"

बूढ़े के ये शब्द भाषा की दृष्टि से तो स्पष्टतः असत्य थे। लेकिन आपका दिल इस असत्य के बारे में क्या कहेगा ? बूढ़े की सराहना करेगा या निन्दा ? बूढ़े के लिए इस्लामधर्म की दृष्टि से जन्नत का दरवाजा खुलेगा या दोजख का ? कुरान उठाकर और खुदा की कसम खाकर तो उसने असत्य पर सत्य की मुहर-छाप लगादी न !

कुछ ही देर में हिन्दुस्तान की ओर से हिन्दुओं को सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने वाली मिलिट्री की बस आई और उन सबकी सुरक्षा व्यवस्था हो गई। बूढ़ा-बुढ़िया उन औरतों को बिदा करते हुए रोने लगे—"कुरान को उठाकर तथा खुदा की कसम खाकर हमें झूठ तो बोलना पड़ा, फिर भी हमें विश्वास है कि हम अपने और दूसरों के प्रति सच्चे रहे हैं। हमारी मंशा सिर्फ इन्सान के प्राण बचाने की थी, अपना स्वार्थ सिद्ध करने की कतई नहीं थी। इसलिए खुदा हमें माफ कर देगा।"

अगर बूढ़ा शाब्दिक सत्य की मृगतृष्णा में पड़कर उन हिन्दू स्त्रियों को बता देता तो आप या शास्त्र क्या कहते ? यही कहते कि बूढ़े ने बहुत गलत किया, धोखा किया, बेईमानी की।

इस प्रकार अहिंसा की मर्यादाओं की तरह सत्य की मर्यादाओं को भी सूक्ष्म प्रज्ञा से समझने की कोशिश करनी चाहिए। गृहस्थ इन मर्यादाओं के अन्दर रहकर सत्य का पालन करता है।

अपनी स्वार्थलिप्सा के लिए, प्रतिष्ठा के लिए, पूर्वोक्त क्रोध, अहंकार, लोभ और भय से प्रेरित होकर, दूसरों को ठग कर धन कमाने के लिए बोला जाने वाला, तथा महल-मकान आदि भोगोपभोग्य सामग्री के लिए बोला जाने वाला असत्य स्थूल असत्य है। जिस कथन के पीछे कोई करुणा या अहिंसा की लहर नहीं, कोई प्रशस्त संकल्प नहीं, कोई विवेक या सावधानी नहीं, फिर भी मिथ्याभाषण किया जा रहा है, वह स्थूलमृषावाद की कोटि में आता है। इसी तरह सत्यव्रती श्रावक अपनी सन्तान

के स्वार्थ के लिए, व्यापार के लिए, पैसों के लेन-देन के लिए, क्रोध, मान, माया, लोभ या मोह के वशीभूत होकर या किसी को हानि पहुँचाने के लिए, प्राणों को मुसीबत में डालने वाली वाणी का प्रयोग नहीं कर सकता। जिस बात की उसे जानकारी नहीं, ऐसी बात भी सत्य का आराधक नहीं कहता। अपने स्वार्थ के लिए या दूसरों के लिए दोनों में से किसी के भी लिए पूछने पर पापयुक्त, निरर्थक या मर्मभेदक वचन श्रावक को नहीं बोलना चाहिए। अन्यथा, उसका कथन मृषावाद में ही शुमार होगा। किसी को खुश करने के लिए झूठमूठ ही उसकी तारीफ करना, अथवा किसी की निन्दा-चुगली करना सत्यव्रती के लिए उचित नहीं है।

स्थूल असत्य के भेद

श्रावक को असत्य के उन सब रूपों से बचना चाहिए। वे सब स्थूल असत्य की कोटि में ही हैं। शास्त्रकारों ने श्रावकों का विशेषरूप से ध्यान आकर्षित करने के लिए स्थूल असत्य के मुख्य पाँच कारण बताए हैं। वे इस प्रकार हैं—

थूलगं मुसावायं समणोवासओ पच्चक्खाइ, से य मुसावाए पंचविहे पन्नत्ते, तंजहा—कन्नालीए, गवालीए, भोमालीए, णासावहारे, कूडसक्खिज्जे।

—श्रमणोपासक (श्रावक) स्थूल मृषावाद (असत्य) का त्याग करता है। वह स्थूल मृषावाद (झूठ) पाँच प्रकार का है—कन्या के सम्बन्ध में झूठ, गाय के सम्बन्ध में असत्य, भूमि के सम्बन्ध में असत्य, न्यास (धरोहर) रखी हुई वस्तु के विषय में झूठ और झूठी साक्षी देना।

कन्या के सम्बन्ध में असत्य

कुमारी कन्या मानवजाति में पवित्र मानी जाती है। इसलिए कन्या के विषय में असत्य बोलना, असत्य विचार करना या असत्याचरण करना सबसे अधिक निन्द्य समझा जाता है। दूसरी बात यह है कि कन्या से ही भविष्य में मनुष्य की उत्पत्ति है। अर्थात् कन्या मनुष्य-उत्पत्ति की जड़ है। जब जड़ के विषय में झूठ बोलने का त्याग बताया गया है, तब उस शाखा, पत्ते आदि के विषय में असत्य का त्याग स्वतः ही हो गया। निष्कर्ष यह है कि कन्या के लिए झूठ बोलने के निषेध से उपलक्षण से सारी मनुष्य-जाति के विषय में झूठ बोलने का त्याग समझना चाहिए।[1] इसीलिए क्या बालक, क्या पुत्र-पुत्री, क्या स्त्री और क्या प्रौढ़ एवं वृद्ध सभी के लिए असत्य बोलना त्याज्य समझना चाहिए।

मनुष्यजाति में कन्या को प्रधानता दी गई है। पाश्चात्य देशों में भी यह नियम है कि जब कभी समुद्र में तूफान आ जाय या नदी में भयंकर बाढ़ या उफान आ जाय तो उस समय स्टीमर या नौका आदि में बैठे हुए यात्रियों पर संकट आने पर सर्वप्रथम कन्याओं, फिर बालकों, फिर स्त्रियों और तत्पश्चात् पुरुषों की क्रमशः रक्षा

---

१ 'तेन सर्वमनुष्यजाति विषयमलीकमुपलक्षितम्' —आवश्यकसूत्र टीका

का ध्यान रखा जाता है। क्योंकि कन्या पुरुषरत्न की खान और भावी सन्तान की माता है।

विपद्ग्रस्त स्थिति में कन्या का पहले उद्धार किया जाता है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य व्यक्तियों—पुरुषों आदि की रक्षा न की जाय। इसी प्रकार कन्यालीक का अर्थ यह नहीं है कि सिर्फ कन्या ही के विषय में असत्य न बोला जाय। संकटापन्न जहाज से जैसे कन्या से लेकर सभी मनुष्यों की रक्षा की जाती है, वैसे ही यहाँ कन्या से लेकर सभी मनुष्यमात्र के विषय में असत्य का त्याग करने की शास्त्र आज्ञा है।

जो मनुष्य कन्या के सम्बन्ध में असत्याचरण करता है, वह मातृ-जाति का घोर विरोध करता है। इस महापाप से बचने के लिए शास्त्र में कन्यालीक में विवेक करने हेतु, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारों की अपेक्षा से कन्या के निमित्त असत्य का त्याग बताया है।

द्रव्य से तात्पर्य है कि कन्या रूपवती हो, सुन्दर हो, अंग-उपांग में किसी प्रकार का दोष न हो, उच्चवर्ग की हो, परन्तु स्वार्थवश या और किसी कारणवश उसे कुरूपा, अंगहीना, नीच कुल की, आदि, जो है, उससे सर्वथा विपरीत या न्यूनाधिक बतला देना अथवा किसी प्रकार का कन्या में दोष होते हुए भी उसे प्रकट न करके निर्दोष बतला देना।

क्षेत्र से तात्पर्य है—कन्या है तो किसी दूसरे जनपद या देश की, या प्रान्त की, अथवा गाँव की, परन्तु उसे बतलाना किसी दूसरे जनपद, देश या प्रान्त की अथवा शहर की।

काल से तात्पर्य है कि कन्या उम्र में काफी बड़ी हो, अथवा छोटी हो, लेकिन उसे बताना कम उम्र की या अधिक उम्र की।

भाव से मतलब है—कन्या चतुर हो उसे मूर्ख बताना अथवा फूहड़ कन्या को चतुर और विवेकी बताना। अथवा कन्या में जो गुण या अवगुण हों, उन्हें छिपाकर न्यूनाधिक या विपरीत बताना।

जिस तरह कन्या के लिए असत्य का भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से विचार किया जाता है, उसी तरह कन्या के लिए वर के विषय में भी द्रव्य, क्षेत्रादि की दृष्टि से विचार करना भी कन्यालीक है। जैसे वर कुरूप हो, बुड्ढा हो, मारवाड़ी हो और अपढ़ हो, किन्तु उसे सुन्दर, जवान, गुजराती एवं विद्वान् बताना। इसी प्रकार अन्य मनुष्यों या स्त्रियों के लिए भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से झूठ बोलना भी इसी कन्यालीक के अन्तर्गत समझ लेना चाहिए।

सारांश यह है कि कन्या से लेकर किसी भी मनुष्यजाति के सम्बन्ध में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की दृष्टि से मन, वचन, काया से किसी भी प्रकार का क्रोध, अभिमान, लोभ, मोह, स्वार्थ, कपट आदि किसी भी कारण से अयथार्थ भाषण करना कन्यालीक कहलाता है।

कन्या के सम्बन्ध में आज जो झूठ बोलने की प्रवृत्ति हो रही है, उसके कारण ही समाज में कहीं विधवाओं की संख्या बढ़ रही है, कहीं पारिवारिक कलह हो रहा है, कहीं परिवार के लोगों द्वारा लड़की को सताया जाता है, और आत्महत्या करने पर विवश किया जाता है, कहीं बेमेल विवाह के कारण दम्पती में परस्पर असन्तोष और अन्त में तलाक तक की नौबत आ जाती है।

एक जगह एक विवाह के दलाल से बूढ़े धनिक ने कहा—"भाई! अगर तू किसी तरह से मेरी शादी करा देगा तो मैं तुझे मुँहमाँगा इनाम दूँगा और मालामाल कर दूँगा।" बूढ़ा अस्सी वर्ष का तो था ही, एक आँख से काना भी था। लेकिन रुपये के लालच में आकर दलाल ने उस बूढ़े की शादी करा देने का बीड़ा उठाया।

वह एक गरीब लड़की वाले के यहाँ पहुँचा, जिसकी कन्या लगभग १८-१९ साल की थी। लड़की वाले ने दलाल की खूब आवभगत की। दलाल ने इस ढंग से अतिशयोक्ति पूर्ण बात की कि कन्या का पिता और माता उसके चक्कर में आ गए। सभी बातें पसंद आने के बाद उन्होंने दलाल से पूछा—"अच्छा, यह तो बताइए कि वरराजा की उम्र कितनी है और स्वभाव का कैसा है?'

दलाल ने मारवाड़ी में तपाक् से कहा—"उगणीसा बीसी, बीसा इक्कीसी, ऐंसी ऐसी कहे हैं।" वर के स्वभाव का क्या कहना—"वह तो सब को एक आँख से देखता है।"

कन्या के पिता-माता ने समझा कि 'वर उन्नीस, बीस या इक्कीस साल का होगा और बड़ा समभावी भी है।'

अतः उन्होंने उक्त वर के साथ कन्या की सगाई पक्की कर दी और दलाल को वचन दे दिया। दलाल ने वहीं १०१) रुपये व नारियल देकर सगाई तय कर दी और वहाँ से रवाना होकर वृद्ध महाशय के पास पहुँचा। बूढ़े ने जब सगाई पक्की होने की बात सुनी तो उसकी बांछें खिल गईं। उसने दलाल को मुँहमाँगा इनाम देकर सन्तुष्ट किया। विवह की तिथि निकट ही थी। समाज के पंचों ने कुछ विरोध किया तो कुछ रुपये देकर बूढ़े ने उनका मुँह बंद कर दिया। बूढ़ा दूल्हा बनकर बारात लेकर जब कन्या वालों के यहाँ पहुँचा तो सब उसे देखते ही रह गए। दलाल भी बारात में था। दलाल को एकान्त में ले जाकर कन्या के पिता ने पूछा—"तू तो १९-२० वर्ष का कहता था, यह तो लगभग ७०-७५ का होगा और एक आँख से काना भी है।" दलाल ने सफाई देते हुए कहा—"साहब! मैंने १९+२०+२०+२१ का कहा था, चारों को जोड़ लीजिए। कुल मिलाकर ८० होते हैं, सो वरराजा ८० वर्ष के हैं। और मैंने कहा भी था कि एक आँख से देखते हैं, सो तो है ही। अब बताइए मेरा क्या कसूर है?"

इस प्रकार कन्या के सम्बन्ध में झूठ बोल कर लोग भारी पापकर्म का उपार्जन कर लेते हैं।

कई लोग यह कहा करते हैं, कोई कन्या अंगहीन हो, कुरूप हो या मोटी हो तो गरीब पिता यदि झूठ नहीं बोलता है तो उस कन्या की शादी होनी कठिन हो जाएगी, बताइए उस कन्या को बेचारा गरीब पिता कब तक घर में रखेगा, इसलिए ऐसी कन्या के सम्बन्ध में अगर झूठ बोलकर काम बनाया जाय तो क्या हर्ज है ?

इसका समाधान यह है कि आजकल तो लोग दलालों के भरोसे न रहकर स्वयं वर कन्या को देखते हैं, लड़के-लड़की भी एक-दूसरे को देख-परख कर फिर विवाह की हाँ भरते हैं। इसलिए कन्या के विषय में झूठ बोलने पर कलई खुल जाएगी, वह झूठ चलेगा नहीं। मान लो, कदाचित् कोई व्यक्ति विश्वास में आकर वर या कन्या को देखे बिना ही सगाई पक्की कर लेता है या शादी कर लेता है, तो आगे चलकर जब पता चलता है, तब कन्या पर आफत आ जाती है। उस कन्या को सता-सता कर रिबा-रिबा कर आत्महत्या करने को विवश कर दिया जाता है। इसलिए कन्या के विषय में बोला गया झूठ भयंकर परिणाम लाने वाला बन जाता है।

संसार में कन्या ही अंगहीन आदि नहीं होती, पुरुष भी तो ऐसे होते हैं। जब कन्या कुंआरी नहीं रह सकती तो क्या पुरुष यह नहीं कह सकता कि मैं कुंआरा क्यों रहूँ ? इसलिए यह निरा भ्रम है। बल्कि पहले से ही बताकर सगाई करने से भ्रम का निराकरण हो जाता है और उनका दाम्पत्य जीवन भी सुखी रहता है।

गाँधीजी के पास एक दिन एक परिवार आया, जिसकी कन्या में कुछ दोष था, वह किसी युवक के साथ एक बार शीलभ्रष्ट हो चुकी थी। किन्तु जिस लड़के के साथ उसकी सगाई हुई थी, उससे तथा लड़के वालों से उन्होंने यह बात छिपाकर रखी थी। गाँधीजी से वे इस विषय में परामर्श लेने आए थे। गाँधीजी के सामने जब कन्यापक्ष वालों ने सारी बात खोलकर रखीं तो वे बोले—"मेरी राय में आपको लड़के वालों को बुलाकर उनके सामने यह स्पष्टीकरण कर देना चाहिए। अन्यथा बाद में कन्या के लिए संकट पैदा हो सकता है।" गाँधीजी की बात मानकर वे लड़के वालों को, खासतौर से लड़के को ससम्मान बुलाकर आश्रम में लाए। गाँधीजी ने लड़के वालों के सामने लड़की तथा लड़की वालों की उपस्थिति में सारी वस्तुस्थिति स्पष्ट कर दी और पूछा—"ऐसी स्थिति में मैं मानता हूँ कि आपको इस कन्या को स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। अगर बात छिपाकर रखी जाती तो आपको बाद में मानसिक क्लेश होता।"

लड़के और लड़के वाले गाँधीजी की बात से सहर्ष सहमत हो गए। उन्होंने उदारतापूर्वक उक्त लड़की के साथ लड़के की शादी करना स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार कन्या के सम्बन्ध में सत्य बात कहने से बहुत-सा संकट टल गया।

इस प्रकार गृहस्थ श्रावक के लिए पुत्र-पुत्री या पुरुष-स्त्री के लिए असत्य बोलना अपराध है। गृहस्थ श्रावक अपने पुत्र-पुत्री का विवाह करने या उसके लिए रेलयात्रा आदि में आधी टिकट लेने एवं विद्यालय में प्रविष्ट कराने हेतु उनकी आयु

को कम या ज्यादा नहीं बता सकता और वह उनकी आदतों व गुणावगुणों के सम्बन्ध में न्यूनाधिक या विपरीत बात भी नहीं कह सकता। उसे सत्यमार्ग का ही अवलम्बन लेना चाहिए।

गाय के लिए असत्य

दूसरा स्थूल असत्य है—गाय के सम्बन्ध में झूठ बोलना। जैसे कन्या के सम्बन्ध में असत्य बोलने से उपलक्षण से सारी मनुष्यजाति के सम्बन्ध में झूठ असत्य समझा जाता है, वैसे ही गाय के सम्बन्ध में झूठ बोलने से उपलक्षण से समस्त पशु-जगत् के विषय में झूठ बोलने का त्याग समझना चाहिए।

जिस प्रकार मनुष्यों में कन्या उत्तम है, उसी प्रकार पशुओं में गाय प्रधान मानी गई है। गाय के विषय में झूठ बोलने का त्याग समस्त पशु-जाति के विषय में झूठ बोलने का त्याग समझना चाहिए।

गाय पशुओं में उत्तम इसलिए मानी गई है कि गाय मानव-जाति के लिए विशेषरूप से आधार है। आनन्द कामदेव आदि बड़े-बड़े श्रमणोपासक अपने यहाँ गायों के कई व्रज रखते थे। एक व्रज में लगभग १० हजार गायें होती थीं। गाय की सहायता के बिना गृहस्थी भली-भाँति निभ नहीं सकती। प्राचीनकाल में आज की तरह पैसे फेंक कर दूध बाजार से लाने की प्रथा ही नहीं थी। दूध बेचना अनैतिक समझा जाता था। दूध बेचना, पूत बेचने के बराबर माना जाता था। सूखे तिनके खाकर बदले में घी, दूध देने वाला पशु गाय के जैसा और कोई नहीं है। खेती के लिए बैल की जरूरत होती है, वह गाय से ही मिलता है। साथ ही खेती के लिए खाद की जरूरत होती है, वह भी गोधन से प्राप्त होता है। भारत में जैन समाज ही नहीं समस्त हिन्दू समाज में गाय सब पशुओं में प्रधान मानी है, इतना ही नहीं, विदेशों में भी गाय को बड़े आदर के साथ पाला जाता है। डेनमार्क की गायें बहुत ही अच्छी नस्ल की होती हैं, वे दूध भी बहुत देती हैं। इसी कारण श्रीकृष्ण जी ने गायें चराकर अपना गोपाल नाम प्रसिद्ध कर दिया था। संसार में ऋद्धि सिद्धि की दाता गौ ही मानी जाती है। सारांश यह है कि गाय सर्वोत्कृष्ट पशु है, इसे लेकर समस्त पशुओं के लिए भी असत्य न बोलने का शास्त्रीय विधान है।

कन्या के समान गाय के विषय में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से असत्य का त्याग करना चाहिए। द्रव्य से अच्छी या बुरी गाय को बुरी या अच्छी कहना, इसी तरह कम या ज्यादा दूध देने वाली गाय को ज्यादा या कम दूध देने वाली बताना, एक देश की गाय को दूसरे देश की गाय बताना और सीधी या मारने वाली गाय को मारने वाली या सीधी बताना आदि स्थूल असत्य का त्याग करना चाहिए।

इसी तरह घोड़ा, हाथी, ऊँट, भैंस, बकरी आदि सभी पालतू जानवरों के विषय में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से मन-वचन-काया से असत्याचरण करना स्थूलमृषावाद है। उसका त्याग श्रावक को करना चाहिए। यानी गाय, भैंस, बैल,

अश्व आदि पालतू व उपयोगी जानवरों के सम्बन्ध में भी श्रावक अयथार्थ बात नहीं कहेगा। उनके दूध देने, बोझ ढोने, तेज या मंद चलने आदि गुणों का एवं मारने-काटने आदि दोषों का यथार्थ उल्लेख करेगा।

भूमि के विषय में असत्य

भूमि गृहस्थ के लिए जीवन-निर्वाह का एक बहुत बड़ा साधन है। उसके लिए स्वार्थवश, लोभ, अहंकार, छल-कपट, मोह, क्रोध आदि से प्रेरित होकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव से असत्य बोलना भूम्यलीक कहलाता है।

भूमि विषयक असत्य के त्याग के साथ ही उन सब वस्तुओं के विषय में झूठ बोलने का त्याग आ जाता है, जिनकी उत्पत्ति भूमि से होती है। वे वस्तुएँ सचेतन हों या अचेतन, सबका आधार भूमि है। जैसे फल, वृक्ष, शाकभाजी व अन्य वनस्पति आदि सचेतन हैं, जो भूमि से पैदा होती हैं, साथ ही सोना, चांदी, पत्थर, ताँबा, अभ्रक, मिट्टी, घर आदि अचेतन वस्तुएँ हैं, जो भूमि में होती हैं। भूमि के साथ ही भूमि से उत्पन्न होने वाली और उससे बनी हुई वस्तु मकान, दूकान, महल आदि से सम्बन्धित असत्य का त्याग भी भूम्यलीक समझ लेना चाहिए। चूंकि भूमि आधार है और उस पर के या उससे उत्पन्न पदार्थ आधेय हैं। आधार को ग्रहण करने से आधेय का भी ग्रहण स्वतः हो जाता है।

भूमि-सम्बन्धी असत्य का भी कन्या और गाय के समान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से विचार करके त्याग करना चाहिए। भूमि से सम्बन्धित चीजों में रुपया पैसा, नोट आदि भी हैं। उनके सम्बन्ध में भी असत्य का त्याग करना अत्यावश्यक है। मतलब यह है कि श्रावक भूमि एवं भूमि से निकलने वाले तथा भूमि में पैदा होने वाले पदार्थों के सम्बन्ध में भी सत्य ही बोलेगा, असत्य नहीं। वह किसी पड़ौसी व्यक्ति पड़ौसी देश की जमीन पर अपना झूठा अधिकार जताने का प्रयत्न नहीं करेगा। वह सोना, चाँदी, लोहा आदि धातुओं रत्न आदि बहुमूल्य खनिज पदार्थों में से किसी नकली को असली या असली को नकली बताने का प्रयत्न नहीं करेगा। वह इन भूमिजनित पदार्थों के विषय में किसी के साथ धोखेबाजी नहीं करेगा।

उदा मेहता को कौन नहीं जानता? वह मारवाड़ का जैन ओसवाल था, किन्तु विपत्ति का मारा मारवाड़ से गुजरात आया। सिद्धपुर पाटन के जैन उपाश्रय के द्वार पर इस आशा में बैठा रहा कि कोई न कोई व्यक्ति साधर्मी के नाते मुझे कुछ पूछेगा? वहाँ एक के बाद एक भाई-बहन आते-जाते रहे, लेकिन किसी ने कुछ पूछा नहीं। पर्युषण के दिन थे। अन्त में एक बहन आई, जिसका नाम लच्छी (लक्ष्मी) बहन था। उसने पूछा—"भाई! यहाँ कैसे बैठे हो? कौन हो? कहाँ के आये हो?" उदा मेहता ने कहा—"इतने भाई-बहनों में तुम एक ही मुझे भाई कहकर पुकारने वाली निकलीं।" और उसने अपना परिचय देकर सारी कष्टकथा सुनाई। लक्ष्मी बहन ने कहा—"भाई! चलो मेरे घर पर, भोजन करो। फिर सारी व्यवस्था भी कर दूँगी।"

इस बहन ने उदा मेहता को अपने यहाँ रखा। मकान बनाने के लिए जमीन दी। मकान की नींव खोदते समय स्वर्णमुद्राओं से भरा हुआ ताँबे का घड़ा निकला। उदा मेहता ने भूमि में से निकले हुए उस धन को चुपचाप नहीं रखा। वह उस धर्म बहन के पास उस घड़े को लेकर गया, सारी घटना बताई और कहा—"बहन, अपनी अमानत संभालो।" बहन ने कहा—"भाई ! यह तो तुम्हारे हक का है, क्योंकि मैं तो तुम्हें यह जमीन दे चुकी। इस जमीन में जो कुछ निकले वह तुम्हारा है।" भाई कहने लगा—'नहीं, बहन ! तुमने मुझे जमीन दी है, धन थोड़े ही दिया है। धन की मालिक तुम्ही हो।" आखिर इस प्रेमपूर्ण विवाद का निर्णय यह हुआ कि इस धन का उपयोग धर्म-कार्य में किया जाय। यही उदा मेहता आगे चलकर अपने बुद्धि-वैभव से गुजरात के सोलंकी राजाओं का मंत्री उदयन बना।

हाँ तो मैं कह रहा था कि श्रावक इसी प्रकार भूमि में से निकली हुई किसी चीज के बारे में असत्य नहीं बोलते, अपितु धन का लोभ छोड़कर सत्य-सत्य कह देते हैं।

धरोहर के विषय में असत्य

चौथा स्थूल असत्य है—धरोहर के विषय में। लोभ ऐसी चीज है कि वह सम्बन्ध, नाता-रिश्ता आदि सबको भुला देता है, और झूठ बोलकर किसी की रखी हुई अमानत या धरोहर को मुकरने या कम-ज्यादा बताने या अच्छी के बदले दूसरी घटिया चीज वापिस दे देने अन्यथा धरोहर को हड़पने के विचार से कोई कानूनी पाइंट निकाल कर धरोहर से सर्वथा इन्कार कर देना। इसी प्रकार धरोहर को न रखने पर भी माँगने, या न लौटाने के लिए जो मिथ्या भाषण किया जाता है, वह धरोहर विषयक स्थूल झूठ है। यद्यपि धरोहर को हजम करना चोरी में शुमार है। मनुस्मृति में इसे चोरी माना है—

यो निक्षेपं नार्पयति, यश्चानिक्षिप्य याचते।
तावुभौ चोरवच्छास्यौ, दाप्यौ वा समं फलम्॥

—जो अपने यहाँ रखी हुई धरोहर को न दे, अथवा जो बिना रखे ही माँगे ये दोनों चोर की तरह दण्डित किये जाने चाहिए। दोनों को समान दण्ड देना चाहिए। न्यासापहार को जैन-शास्त्रों में असत्य में इसलिए परिगणित किया गया है, क्योंकि यह कुकृत्य असत्य बोलकर ही किया जाता है। गौणरूप में यह चोरी भी है। इसमें भी द्रव्य, क्षेत्र, काल' भावानुसार असत्य के अलग-अलग प्रकारों का विचार कर लेना आवश्यक है। जैसे—किसी ने धरोहर के रूप में सोना बढ़िया रखा था, किन्तु घटिया सोना बताना। या घटिया सोना रखा था, लेकिन माँगना बढ़िया।

इसी प्रकार कोई घड़ी अमेरिका की बनी हुई गिरवी रखी थी, लेकिन झूठ बोल कर कहना कि इंग्लैंड की बनी हुई है। कुछ ही दिनों पहले नई की नई चीज गिरवी के समय रखी थी, लेकिन दूकानदार कहता है कि पुरानी बरती हुई चीज रखी थी आदि।

झूठी साक्षी : झूठ का मूल

कूट साक्षी भी असत्य का एक बहुत बड़ा अंग है। आजकल इसका बाजार गर्म है। कूट साक्षी का अर्थ है—किसी प्रलोभन, भय, दबाव, स्वार्थ या आदत के वश होकर झूठी गवाही देना। किसी दूसरे या अपने लाभ के लिए अथवा दूसरे की हानि के लिए न्यायाधीश, पंचायत, संघ आदि के समक्ष जो मिथ्या भाषण किया जाता है या झूठे बयान दिये जाते हैं, झूठी गवाही दी जाती है, झूठा समर्थन किया जाता है, मिथ्या प्रशंसा की जाती है या खुशामद-चापलूसी की जाती है, अतिशयोक्ति पूर्ण कथन किया जाता है, वह सब कूट साक्षी में समाविष्ट है। झूठी साक्षी निन्दित और घृणित कार्य एवं घोरातिघोर पाप हैं। मनुस्मृति में झूठी साक्षी देने वाले के सम्बन्ध में कहा गया है—

वाच्यार्थनियताः सर्वे, वाङ्मूलावाग् विनिःसृताः।
तास्तु यः स्तेनयेद् वाच्यः, तसर्वस्तेयकृन् नरः॥

शब्दों में ही वाच्य—भाव से नियत हैं और शब्दों का मूल वाणी है। क्योंकि सब बातें शब्दों से ही जानकर की जाती है। जो वाणी को चुराता है, यानी अन्यथा या न्यूनाधिक कहता है, वह सब तरह से चोरी करने वाला होता है।

जिस मनुष्य पर जनता विश्वास करती है, वह यदि किसी व्यक्ति या पदार्थ में दोष होते हुए भी उसके गुणों के रूप में बढ़चढ़ कर प्रशंसा करता है, उसे प्रतिष्ठा देता है, उसका समर्थन करता है, तो वह एक तरह से कूटसाक्षी है। इसी प्रकार अपने स्वार्थ के लिए या अपनी झूठी बात को सच्ची सिद्ध करने के लिए तथाकथित शास्त्रों की झूठी साक्षी देता है, शास्त्रों के अर्थों को तोड़-मरोड़कर अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करता है; तो यह सब झूठी साक्षी है।

विश्वस्त व्यक्ति यदि किसी सच्चे सोने को नकली बतलाता है, या नकली सोने को सच्चा बताता है, वह व्यक्ति शास्त्रीय दृष्टि से सोने के वर्तमान और भविष्य के के अन्तराय देने का अपराध करता है। क्योंकि ऐसा करने पर असली सोने के स्वामी स्वामी की तथा नकली सोने के खरीदार की आत्मा को बड़ी चोट पहुँचती है। या तो इस आघात से सदमा पहुँचने के कारण उनकी हृदयगति बंद हो जाती है, या फिर वे इस प्रकार झूठ बताने वाले को हानि पहुँचाने की चेष्टा करते हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रकार झूठ का प्रचार करने वाला सत्य को तिलांजलि देकर धृष्टता धारण कर लेता है, इसीलिए कूटसाक्षी के रूप में असत्य भाषण करने वाले की दुर्गति बताई है—

ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोकाः, ये च स्त्रीबालघातिनः।
मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य, ते ते स्युर्वदतो मृषा॥

ब्राह्मण, स्त्री और बालक के हत्यारे, कृतघ्न एवं मित्रद्रोही को जो लोक (गतियाँ) मिलते हैं, वे ही लोक झूठी साक्षी के रूप में असत्य बोलने वाले को मिलते हैं।

यथार्थ बात कहने पर न तो उक्त दोष पनपते है और न ही सत्य को तिलांजलि देने की जरूरत पड़ती है।

कूटसाक्षी के विषय में भी पूर्ववत् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से विचार करके उसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

जो धर्मात्मा श्रावक होते हैं, वे अपने पुत्र के भी गलत एवं अनैतिक कार्यों के विषय में झूठी साक्षी कदापि नहीं देते।

आजकल झूठी गवाही देने वाले बात-बात में तैयार हो जाते हैं। अदालतों में कुछ पैसे देने पर ऐसे झूठे गवाह तैयार हो जाते हैं और पैसे के लालच में आकर झूठ बोलने को तैयार हो जाते हैं।

दो मित्र थे। वे व्यापार के लिए साथ-साथ विदेश गए। वहाँ दोनों ने अपना व्यवसाय शुरू किया। एक ने बहुत प्रामाणिकता से व्यापार किया और काफी धन कमाया। दूसरे ने कोई खास ध्यान न दिया, अतः अधिक न कमा सका। दूसरे ने वापस देश लौट जाने का विचार किया, इसलिए अपने मित्र से कहा—'चलो, देश चलें।' उसके मित्र ने कहा—"भाई ! मुझे तो व्यापार को समेटने में काफी समय लगेगा। तुम चले जाओ और अपनी भाभी को कुशल समाचार कह देना।" उसने एक कीमती लाल खरीदा और अपने मित्र से कहा—"यह लाल अपनी भाभी को दे देना और कह देना—जल्दी ही मैं व्यापार समेट कर आ रहा हूँ।" मित्र ने लाल ले लिया। देश पहुँचा। गाँव में आए कई दिन हो गए, पर मित्र की पत्नी को कोई समाचार देने नहीं गया। उसने जब सुना तो कुशल समाचार पूछने आई—'तुम्हारे मित्र नहीं आए ?" "वह तो पूरा लोभी है, इसलिए अभी नहीं आया।"

"वे कुशल से तो हैं ? कुछ भेजा है या नहीं ?" मित्र-पत्नी ने पूछा—

उसने कहा—"कुशल तो है; पर कुछ नहीं भेजा।"

कुछ ही दिनों बाद मित्र अपना व्यापार समेट कर देश पहुँचा। पत्नी ने पूछा—"मुझे तो तुम बिलकुल ही भूल गए। कुछ भी नहीं भेजा !" "वाह ! कैसी बात करती हो ? अगर मैं भूल जाता तो मित्र के साथ लाल क्यों भेजता ?" पति ने कहा।

"कैसा लाल? कब भेजा था ? तुम्हारे मित्र ने तो मुझे कुछ भी नहीं दिया।" पत्नी ने साश्चर्य कहा।

पति को विचार आया कि हो न हो, मित्र के मन में कपट आ गया। उसने लाल अपने पास रख लिया है। वह सीधा अपने मित्र के पास पहुँचा। मित्र को आया देख उसके चेहरे की हवाइयाँ उड़ने लगीं। उसने औपचारिक स्वागत किया और कहीं जाने का बहाना बनाया। परन्तु मित्र ने बात-बात में पूछा—"वह लाल कहाँ है, जिसे मैंने तुम्हें अपनी भाभी को देने का कहा था ?" मित्र—"वह तो मैंने

भाभी को दे दिया था। वह झूठ बोलती है। स्त्रियों का क्या भरोसा ? आयन्दा मुझसे इस विषय में बात मत करना।"

मित्र समझ गया कि यह यों सीधे लाल नहीं देगा। इसके मन में कपट आ गया है। वह सीधा न्यायाधीश के पास पहुँचा, सारी बातें स्पष्ट बताईं। उन्होंने आश्वासन दिया कि मैं तुम्हें लाल दिलवा दूँगा। कुछ समय लगेगा। न्यायाधीश ने कपटी मित्र को बुलाने के लिए सिपाही भेजे। वह न्यायाधीश के पास पहुँचा। कपटी मित्र कुछ नकली गवाह भी साथ ले गया था। न्यायाधीश ने जाते ही उसे अपने मित्र के द्वारा दिये गए लाल के बारे में पूछा। कपटी मित्र ने कहा—"मैंने उसकी पत्नी को लाल दे दिया है। वह झूठा है। देखिए, मेरे द्वारा लाल देते समय ये गवाह थे।" न्यायाधी ने ४-५ गवाहों को देखकर उन्हें अलग-अलग बुलाकर पूछा—"कहो, लाल कैसा था ? कितना बड़ा था ? किस रंग का था ? वजन में कितना था ?" किसी ने लाल देखा तो था नहीं, अतः अलग-अलग बातें बताईं। न्यायाधीश समझ गया कि ये सब झूठे गवाह हैं। अतः उसने कपटी मित्र को बुलाकर धमकी दी कि या तो लाल सौंप दो, अन्यथा सरकार तुम्हें भारी सजा देगी। तुम्हारे गवाह सब झूठे हैं।" कपटी मित्र ने दाल गलती न देखकर झट अपना अपराध स्वीकार कर लिया; और तुरन्त घर जाकर लाल को लेकर न्यायाधीश को सौंप देने की बात कही। सिपाहियों के साथ कपटी मित्र अपने घर गया। लाल एक कपड़े में लपेट कर वह न्यायाधीश के पास पहुँचा और लाल उन्हें सौंप दिया। न्यायाधीश ने सरल मित्र को बुलाकर तुरन्त वह लाल सौंप दिया।

सचमुच, झूठे गवाहों की कलई खुलते देर नहीं लगती। असत्य के पैर हमेशा कमजोर होते हैं। असत्य में कोई बल नहीं होता।

सत्यवादी श्रावक अपने सत्य के लिए किसी का झूठा समर्थन नहीं करता। असत्य साक्षी ही वाणी के तेज और तप को फीका कर देती है।

झेलम के पास रोहतास (वर्तमान में पाकिस्तान में) में एक प्रामाणिक सत्यवादी एवं दृढ़धर्मी जैन श्रावक रहता था। नाम था—बूढ़ेशाह। वह कभी किसी बात के लिए झूठ नहीं बोलता था।

एक बार उनके पुत्र ने बहियों में से कुछ पन्ने फाड़ लिए और उनके बदले नये पन्ने इस खूबी से जोड़ दिये कि किसी को कुछ भी पता न चले। उसने ऐसा किया था—केवल कर्ज बचाने के लिए। अगर बही में कर्ज की रकम लिखी होगी तो देनी पड़ेगी, इस लिहाज से वे पन्ने (जिन पर कर्ज की रकम लिखी थी) सिफ्त से फाड़कर छिपा लिए। जब साहूकार ने कर्ज वसूल करने के लिए उस पर मुकद्दमा चलाया, तो बूढ़ेशाह के लड़के ने झूठी बहियाँ पेश कर दीं ताकि रकम न देनी पड़े और बात सही सिद्ध हो जाय कि कुछ भी रकम देनी बाकी नहीं है। इस कारण से साहूकार मुकदमा हारने लगा। आखिर उसे एक तरकीब सूझी। उसने अंग्रेज न्यायाधीश से कहा—

"साहब ! अगर इसका पिता यह कह दे कि बहियों में जो लिखा है, वह सच है तो मैं कुछ भी उज्र न करूँगा।"

अंग्रेज न्यायाधीश ने कहा—"जब बहियों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि तुम्हारे रुपये लेने नहीं हैं, तब उसका पिता क्या कहेगा ? वह तो अपने पुत्र का ही पक्ष लेगा न ?"

साहूकार बोला—"साहब ! वह जैन है। वह कभी झूठ नहीं बोलता।" अंग्रेज न्यायाधीश ने कहा—"अच्छा जैन है ? झूठ नहीं बोलता ? तो बुलाओ उसे।"

दूसरे दिन मजिस्ट्रेट साहब ने बूढ़ेशाह को हाजिर होने के लिए कहलाया। उनके लड़के को पता लगा कि मेरे पिताजी के बयान पर सारा दारोमदार है तो उसने अपने पिताजी को बहुत समझाया कि आप इतना ही कह दें कि बहियों में जो लिखा है, वह सत्य है।

परन्तु सत्यवादी पिता ने कहा—"बेटा ! वैसे तो तू मेरा पुत्र है। लेकिन मैं पुत्र आदि के सम्बन्धों की अपेक्षा धर्म (सत्य आदि) को बढ़कर मानता हूँ। मैं कोई भी झूठी बात नहीं कहूँगा। जो भी बात जैसी होगी, वैसी ही कहूँगा। असत्य का पक्ष कदापि नहीं लूँगा।"

बूढ़ेशाह ठीक समय पर न्यायाधीश के सामने पहुँचे। न्यायाधीश ने आदर-पूर्वक कुर्सी पर बिठाया और साहूकार की ओर उंगली करते हुए उनसे पूछा—"क्या इन (साहूकार) का रुपया तुम्हारे लड़के से लेना नहीं है ? क्या इन बहियों में लिखा हुआ सत्य है ?"

लड़के ने पहले से ही अपनी सफाई से सबको प्रभावित कर दिया था। वह अपनी झूठी बात भी सच्ची सिद्ध करके गया था। परन्तु अंग्रेज न्यायाधीश के पूछने पर उसके पिता ने कहा—"महोदय ! वैसे तो यह मेरा पुत्र है। मुझे इसकी सजा से बहुत अधिक दुःख होगा। समाज में मेरी बदनामी भी होगी। लेकिन मुझे इसकी अपेक्षा भी धर्म प्यारा है, अतः मैं कभी असत्य नहीं कहूँगा और न ही असत्य का पक्ष लूँगा। मेरे लड़के से उक्त साहूकार के रुपये लेने हैं। इसने बहियों में झूठा जमा-खर्च लिखा है। यह दण्ड का अधिकारी है।" यों कहते ही बूढ़ेशाह बेहोश हो गए। न्यायाधीश पर उनकी सत्यता का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने इस शर्त पर लड़के की सजा माफ कर दी कि भविष्य में वह कभी असत्याचरण नहीं करेगा। उसने इस बात को स्वीकार किया। अतः बरी कर दिया गया। बूढ़ेशाह जब होश में आए और फैसला सुना तो उनके नेत्रों से हर्षाश्रु टपक पड़े। उन्होंने अपने पुत्र को कहकर शीघ्र ही उस साहूकार के रुपये चुकता करवा दिये।

वास्तव में, सत्यता का फल बहुत ही शुभ मिलता है। जो व्यक्ति सत्यवादी होता है, वह झूठी साक्षी देकर असत्य को कभी प्रश्रय नहीं देता।

सत्यव्रत में लगने वाले दोष

पिछले प्रवचनों में मैंने सत्य और असत्य के स्वरूप के सम्बन्ध में काफी विस्तृत रूप में विवेचन किया है, फिर भी श्रावक कई बार सावधानी रखता हुआ भी भ्रान्तिवश कोई न कोई भूल कर सकता है, इसलिए सत्यव्रती को नम्रतापूर्वक अपनी जीवनचर्या पर चिन्तन-मनन, आलोचन-प्रत्यालोचन करते रहना चाहिए । शास्त्रकारों ने आवश्यकसूत्र में स्थूलमृषावादविरमण व्रत (सत्य-अणुव्रत) के साथ ही सावधानी रखने के लिए पांच अतिचार बतलाए हैं—

थूलगमुसावायवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा आणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा-सहस्सब्भक्खाणे, रहस्सब्भक्खाणे, सदारमंतभेए, मोसुवएसे, कूडलेहकरणे ।

श्रावक के योग्य स्थूलमृषावाद विरमण व्रत (सत्याणुव्रत) के ये पाँच अतिचार (दोष) हैं, जिन्हें उसे जानना चाहिए, वे आचरण करने योग्य नहीं हैं । उन पांचों के नाम इस प्रकार हैं—सहसाभ्याख्यान, रहस्याभ्याख्यान, स्वदारमंत्रभेद, मृषोपदेश, कूटलेखकरण । श्रावक को इनसे बचना उचित है ।

व्रत का अतिक्रमण होने की चार कक्षाएँ

किसी भी व्रत का उल्लंघन करने की चार कक्षाएँ हैं । पहला क्रम यह है कि व्रती उस व्रत के त्याज्य कार्य को करने का विचार करता है, इसे अतिक्रम कहते हैं, उसके पश्चात् वह उस कार्य को पूर्ण करने के लिए साधन एकत्रित करता है, इसे व्यतिक्रम कहते हैं । तीसरा कदम उक्त त्याज्य कार्य को करने की बिलकुल तैयारी कर लेने का होता है, लेकिन अभी त्याज्य कार्य किया किया नहीं है, तब तक अतिचार है, और जब निःशंक होकर त्याज्य कार्य पूर्ण कर डालता है, तब अनाचार हो जाता है । मतलब यह है कि व्रत के उल्लंघन का प्रारम्भ अतिक्रम के रूप में होता है और अन्त होता है—अनाचार के रूप में । उदाहरण के तौर एक सत्यव्रती श्रावक को लाचारी की हालत में असत्य बोलने का विचार आया, तब अतिक्रम हो गया, यानी व्रत की मर्यादा टूट गई । किसी व्रत को भंग करने की दुर्मति पैदा होना अतिक्रम है । उसके पश्चात् उस दुःसंकल्प को पूर्ण करने के लिए झूठ बोलने के साधन जुटाता है, यह सत्यव्रत की दूसरी मर्यादा का उल्लंघन है, जिसका नाम व्यतिक्रम है । और फिर 'व्रत तो मेरा सुरक्षित है ही ।' इस प्रकार व्रत की अपेक्षा रखता हुआ, कुछ अंश में व्रत का भंग करता है, तब अतिचार हो जाता है और जहाँ व्रत की अपेक्षा न करके बेधड़क प्रमाद और मोह के वश होकर सत्यव्रत का संकल्पपूर्वक भंग किया जाय, वहाँ अनाचार हो जाता है । शास्त्र में जहाँ अतिचार का उल्लेख है, वहाँ व्रत की तीसरी मर्यादा का उल्लंघन समझना चाहिए ।

सहसाऽभ्याख्यान : प्रथम दोष

सहसा—अकस्मात् बिना ही किसी कारण के या किसी प्रकार का विचार या सत्यासत्य का निर्णय किए बिना पूर्वाग्रह, द्वेष, क्रोध, अहंकार, लोभ या अन्य किसी आवेशवश किसी व्यक्ति पर दोषारोपण कर देना, झूठा कलंक लगा देना—सहसाभ्याख्यान नाम का अतिचार है। जैसे किसी सती या पतिव्रता नारी को कुलटा या दुराचारिणी कहना, किसी व्यक्ति पर व्यभिचारी, चोर, जार या अन्य किसी प्रकार के दोष का आरोप लगाना।

कई बार आँखों देखी बात भी असत्य निकलती है, कई बार लोग किसी से सुनी-सुनाई बात पर से कोई भी निर्णय किये बिना शीघ्र ही उक्त व्यक्ति पर कलंक लगा देते हैं या उसकी निन्दा या चुगली करना शुरू कर देते हैं। किसी भी व्यक्ति का दोष आँखों से देख लेने पर भी कई बार भ्रान्ति हो जाती है, व्यक्ति अपनी कल्पना के सहारे मनगढंत बातें बना लेता है।

महात्मा गांधी जी ने जब से देश सेवा का व्रत लिया, उन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य अंगीकार कर लिया था। महात्मा गाँधी जी कोई जैन साधु तो नहीं बने थे कि स्त्री का स्पर्श भी न करते। वे आवश्यकता पड़ने पर कस्तूरबा वैगरह से सेवा लेते थे। बुढ़ापे में वे अपनी पौत्री और पौत्रवधू का सहारा लेकर चलते थे। इसके कारण गाँधी जी के चरित्र पर कई लोगों ने, जो गाँधी जी के कार्यों से तथा प्रसिद्धि से जलते थे, झूठा इलजाम लगाया कि "ये तो इन लड़कियों से प्रेम करते हैं, चरित्रभ्रष्ट हैं। इनके साथ तो महिलाएँ सोती हैं आदि।"

इसी प्रकार कई लोग साधुओं के प्रति भी केवल सुनी-सुनाई बातों या गलतफहमी से मिथ्या दोषारोपण कर देते हैं।

अहमदाबाद में एक नामी साधु अपने संघाड़े के साधुओं के साथ रहते थे। वे विद्वान् थे, व्याख्यान भी वे ही देते थे।

एक बार वे बीमार पड़े। एक श्रद्धालु भाई उन्हें वैद्य को दिखाने ले गया। वैद्य ने उनके शरीर की जाँच की और निदान करके कई दिनों की औषधि की पुड़ियाँ एक साथ बांधकर सिगरेट का एक खाली डिब्बा पड़ा था, उसे साफ देख कर दवा की पुड़िया रख दीं और वह डिब्बा उन्हें दे दिया। संयोगवश व्याख्यान का समय हो जाने से उन्होंने वह डिब्बा व्याख्यान के पट्टे पर रखा और व्याख्यान देने बैठ गए। किन्तु व्याख्यान में बैठे हुए एक श्रोता ने उस डिब्बे को देख कर कल्पना करली कि "महाराज सिगरेट पीते हैं।" व्याख्यान उठने के बाद उसने मुनिजी से पूछकर कोई निर्णय नहीं किया और सीधे ही गया नगरसेठ के पास और सारी बात कही। नगरसेठ बुद्धिमान थे। उन्होंने उक्त भाई से पूछा—"तुमने मुनिश्री से पूछकर खुलासा किया था ?" "खुलासा क्या करता, डिब्बा एकदम नया था, मैंने खुद अपनी आँखों से देखा था। फलां-फलां भाई ने भी मुझे यही बात कही कि 'महाराज, सिगरेट

पीते हैं।" अब तो नगरसेठ भाई ने उससे कहा—"चलो, मुनिश्री के पास अपन इसके बारे में चलकर निर्णय कर लें।" वे सभी मुनिश्री के पास आए। नगरसेठ ने नम्रता-पूर्वक मुनिश्री से पूछा—"आपके पास कल कोई सिगरेट का डिब्बा था?" मुनिश्री ने सरल भाव से कहा—"हाँ, मैं कल वैद्यजी को दिखाने के लिए गया था। उन्होंने कई दिनों की दवा की पुड़िया बांध कर इस डिब्बे में रख दी। मैं इस डिब्बे को लेकर उपाश्रय आया, इतने में तो व्याख्यान का समय हो चुका था। इसलिए व्याख्यान के पट्टे पर इसे रखकर बैठ गया।" नगरसेठ ने मुनिश्री से लेकर वह डिब्बा खोलकर देखा तो उसमें दवा की पुड़िया रखी थी। अतः नगरसेठ ने उस भाई से कहा—"तुमने यों ही अपने मन से कल्पनाएँ कीं और मुनिश्री के विषय में झूठा आक्षेप किया। इसके बजाय यदि तुम इनके पास आकर स्पष्टीकरण कर लेते तो कितना अच्छा होता?" उस भाई को अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ी।

इसी प्रकार कई लोग गलतफहमी, भ्रान्ति या द्वेषवश साधु-साध्वियों के विषय में भी झूठे आक्षेप लगा कर तिल का ताड़ बना देते हैं। ऐसे लोग पवित्र एवं सदाचारी व्यक्तियों पर भी वहम के कारण कीचड़ उछालते हैं। उनके पास आकर स्पष्टीकरण नहीं करते और दूर-दूर से ही लोगों में उनके बारे में झूठी अफवाहें उड़ाया करते हैं। गाँधीजी के आश्रम में एक बार एक भाई ने किसी आश्रमवासी के बारे में झूठी शिकायतें गाँधीजी से कीं। गाँधीजी ने कहा—"तुमने जो बातें अमुक भाई के बारे में कही हैं, उनका स्पष्टीकरण उस भाई से कभी किया था, या यों ही मन से हांके जा रहे हो?"

उसने कहा—"जी हाँ, फलां-फलां भाई ने मुझसे कहा था। मैंने भी एक बार देखा था।"

गाँधीजी ने उक्त आश्रमवासी को उसी समय बुलाया, और उसके सामने उस व्यक्ति से पूछा—"बताओ, इन्हें वैसा करते हुए तुमने कब देखा?" अब तो वह शिकायत करने वाला भाई सकपका गया और कहने लगा—"मैंने तो फलां भाई के कहने से ऐसा कहा था।" और नीचे मुँह करके बगलें झांकने लगा।

गाँधी जी ने उसे खूब आड़े हाथों लिया और फटकारा—"पहले तो तुम्हें सुनी-सुनाई बात पर कोई विश्वास नहीं करना चाहिए था। फिर भी तुम्हें इनके बारे में कोई शंका थी, तो इनसे रूबरू मिलकर पूछताछ करनी चाहिए थी। इस प्रकार बिना पूछताछ किये, गलतफहमी से किसी के प्रति कोई दोषारोपण कर देना, बहुत बड़ा असत्य है। इसका प्रायश्चित्त लो, तभी तुम आश्रम में रह सकते हो। और यह प्रतिज्ञा करो कि भविष्य में किसी की कोई भी बात हो, उसे ही पूछकर स्पष्टीकरण करो, दूसरों के सामने बिलकुल न उड़ाओ।"

यह थी गाँधीजी की सहसाभ्याख्यान दोष के सम्बन्ध में सतर्कता। आजकल बिना सोचे-विचारे एकदम किसी पर दोषारोपण कर देना सहज कार्य बन गया है।

दोष की सत्यता पर विचार किये बिना तथा किसी व्यक्ति के बारे में शंका होने पर उससे पूछने की नैतिक हिम्मत किये बिना, सहसा किसी के गले किसी दोष का मढ़ देना, अत्यन्त अनुचित है। इससे कई दफा कुलीन व्यक्ति मिथ्या कलंक को सहन न कर सकने के कारण आत्महत्या तक कर बैठता है। सम्भवतः किसी कारणवश किसी में कोई दोष हो गया हो तो उसे नम्रतापूर्वक सूचित करके भविष्य के लिए सावधान कर दिया जाय, लेकिन इसके बाद में नीचों की तरह पराये दोषों का ढिंढोरा पीटते फिरना या नमक-मिर्च लगा कर तिल का ताड़ बना देना, चुगली करते फिरना या आपस में एक-दूसरे को भिड़ाने का कार्य करना महानीचता है। आजकल इस दुर्गुण को फैलाने के साधन भी खूब बढ़ गए हैं।

कई जातीय या सामाजिक पंच या मध्यस्थ भी किसी व्यक्ति पर द्वेष, अदावत, ईर्ष्या या जलन के कारण झूठा दोषारोपण करने या अन्याय करने या पक्षपात करने से नहीं चूकते। वे किसी पर किसी के द्वारा लगाए हुए अपराधों की सत्यता की जाँच-पड़ताल किये बिना यों ही सुनी-सुनाई बातों पर से उसे अपराधी मान लेते हैं। सम्भवतः ऐसे प्रपंची, अन्यायी एवं पक्षपाती पंचों को भी रिश्वत खाने का लोभ या दूसरे को नीचा दिखाने का द्वेषपूर्ण या ईर्ष्या युक्त विचार आता होगा। लेकिन पंच की जिम्मेवारी लेकर इस प्रकार का अन्याय, पक्षपात या मिथ्या दोषारोपण करना शोभास्पद नहीं है।

आजकल पंचों के लिए ही नहीं, समाज या परिवार के लोगों के लिए भी यह सुना जाता है, कि समाज या परिवार के कई लोग सदस्यों में भी अपने-पराये का पक्षपात करके मन के खाने में पराये के प्रति मिथ्या दोषारोपण लगाकर उसे बहिष्कृत करने या नीचा दिखाने का उपाय किया करते हैं। यह कितना घृणित या नीच कार्य है। तलवार का घाव तो मरहमपट्टी कर देने से अच्छा हो सकता है, लेकिन झूठे कलंक का घाव, इतना गहरा व भयंकर होता है कि जिंदगी भर तक अच्छा होना कठिन हो जाता है। इसलिए किसी पर झूठा कलंक लगाने का अत्यन्त घृणित कार्य कदापि नहीं करना चाहिए।

सत्यव्रतधारी श्रावकों को तो इस दोष से अवश्य ही बचना चाहिए। सारा संसार ही ऐसा करता है, यह सोचना गलत है। संसार सुधरे या न सुधरे, श्रावक को अपने कर्तव्य का पालन करते रहना चाहिए। आप यह विचार कीजिए कि मैंने व्रत ग्रहण किया है, इसलिए मुझे ख्याल रखकर इस दोष से बचना ही चाहिए। आम आदमी की तरह मुझे किसी के प्रति सहसा दोषारोपण नहीं करना चाहिए।

रहस्याभ्याख्यान : असत्य का स्रोत

कुछ व्यक्ति एकान्त में बैठकर किसी महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर विचार कर रहे हों, उस समय झूठे अनुमान बाँधकर या कल्पना के सहारे अटकलबाजी लगाकर उसका ढिंढोरा पीटना कि ये तो फलां-फलां व्यक्ति के बारे में या अमुक-अमुक बात पर गुप्त

मंत्रणा कर रहे थे। अनुमान कई दफा बहुत ही गलत साबित हुआ है, और फिर जब तक किसी विषय में पूरी तहकीकात न कर ली जाय, तब तक वहम ही वहम में घुल कर उसके विषय में गलत अनुमान लगा लेना, मन में उसके प्रति पूर्वाग्रह की गाँठ बाँध लेना, या लोगों में गलत बातें फैलाना असत्य का भयंकर दोष है।

आजकल बहुत-से लोगों में यह आदत है कि चाहे कोई स्त्री या पुरुष परस्पर भाई-बहन ही हों, कोई महत्त्वपूर्ण वार्तालाप कर रहे हों, फिर भी लोग बिना विचार किये ही उनके प्रति सन्देह करने लगते हैं, गलत बातें उड़ाने में भी वे नहीं हिचकिचाते, और कलंक लगाकर उन्हें नीचा दिखाने की अवधि तक वे सत्यभ्रष्टता करते हैं। लेकिन विचारशील व्यक्ति को सहसा उन लोगों के चक्कर में नहीं आना चाहिए और न ही स्वयं ऐसे कुविचार या मिथ्या सन्देह करना चाहिए। सन्देह के आधार पर कलंक लगाने का दोषारोपण पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक पाया जाता है। वे जरा-सी बात को, चाहे फिर वह सत्य हो या झूठ, काफी समय तक घोटती रहती हैं, नीचवृत्ति के लोगों के सामने फैलाती रहती हैं, इधर-उधर की झूठी गप्पें हाँकती रहती हैं।

व्रतधारी श्रावक-श्राविका को इस प्रकार किसी को परस्पर बात करते देखकर सन्देह लाना और दोष लगाना उचित नहीं है।

स्वदारमंत्रभेद : असत्य का रूप

'सदारमंतभेए' का एक अर्थ, जो प्रचलित है, यह है कि अपनी पत्नी ने कुछ मर्ममरी गुप्त बात कही हो, जिसे छिपाने की आवश्यकता है, या स्वयं ने जो कुछ कहा हो, दूसरे के सामने उसे प्रगट करना सदारमंत्रभेद कहलाता है। परन्तु सदारमंत्रभेद का दूसरा अर्थ यह भी सम्भव है कि सदार यानी दारा=पत्नी सहित पुत्रादि के विषय में भी जो बात गुप्त रखनी हो, उसे उसके सामने प्रगट करना 'सदारमंत्रभेद' कहा जा सकता है। एक परिवार में बहुत वर्षों बाद एक पुत्र हुआ। पति-पत्नी दोनों की खुशी का पार न था। परन्तु जब ज्योतिषी को उन्होंने उस लड़के की जन्मकुण्डली बताई तो ज्योतिषी ने सिर हिलाते हुए लड़के के माता-पिता को एकान्त में ले जाकर कहा—"इस लड़के के ग्रह बहुत खराब हैं। सोलह साल की उम्र होते-होते यह लड़का तुम्हारे घर में नहीं रहेगा।" माता-पिता को यह सुनकर बड़ा रंज हुआ कि यह बड़े मनोरथों के बाद तो लड़का हुआ, और फिर सोलह साल की उम्र तक समाप्त हो जाएगा। अतः उसकी माँ को उसके लालन पालन का जो आनन्द था, उत्साह था, वह समाप्त हो गया। माँ उसको खिलाती-पिलाती जरूर थी, पर वह वात्सल्य व उत्साह उसमें नहीं रहा। पिता भी पुत्र के प्रति उपेक्षा करने लगा, वह भी उसके लिए कोई कीमती चीज नहीं लाता, और न ही ज्यादा खर्च करता था। अब्बल तो ज्योतिषी को ऐसी बात कहानी ही नहीं चाहिए थी अगर उसने कह भी दी तो उसकी बात पर विश्वास न करके पुत्र के प्रति अपना कर्तव्य-पालन करना चाहिए था। परन्तु

माता पिता दोनों ने उपेक्षा भाव रखा सो तो रखा ही, एक दिन लड़के के सामने माँ ने उस रहस्य को खोल भी दिया। लड़के को सुनकर बहुत धक्का लगा। उसके मन में भी अपने प्रति हीन भावना आ गई। और माता-पिता के प्रति उसके मन में कृतज्ञता के बदले विद्रोह की भावना ने जन्म ले लिया।

इसी प्रकार स्त्री की किसी गुप्त बात को प्रकाशित कर देने से भी कई बार अनर्थ परम्परा खड़ी हो जाती है। या तो वह अपनी हत्या कर लेती है या फिर दूसरे की हत्या कर देना आदि अनर्थ परम्परा की सम्भावना रहती है। कुछ वर्षों पहले एक घटना पत्रों में प्रकाशित हुई थी कि एक स्त्री ने अपने पति को निर्धन एवं दरिद्र समझकर कुंए में धक्का दे दिया। वह अपने पीहर चली गई। संयोगवश उसके पति को कुंए में से किसी ने निकाल दिया। वह बनजारों के साथ रहने लगा। व्यापार में खूब पैसा कमाकर वह अपने ससुराल पहुँचा। भलमानसाहत रखकर वह अपनी पत्नी को लेकर अपने घर आया। अब पत्नी की पति भक्ति बढ़ चुकी थी। पुत्र बड़ा हुआ। उसकी शादी कर दी गई। लेकिन पुत्रवधू ऐसी कर्कशा आई कि रोजाना सास के साथ झगड़ा करती थी। वह इस ताक में रहती थी कि कहीं कोई छिद्र मिले तो इसे वश में करूँ। एक दिन उसके ससुर भोजन करने बैठे थे, धूप आ रही थी, इसलिए सास एक हाथ से कपड़ा लगाए हुए दूसरे हाथ से पंखा झल रही थी। यह देख उसके ससुर को कुछ हँसी आई। इस पर पुत्रवधू को अपने प्रति बहम हुआ। उसने अपने पति के सामने झूठी जिद ठान ली कि "पहले मुझे बताइए कि आपके पिताजी मेरे लिए क्यों हँसे? बाद में ही मैं भोजन करने दूँगी।" लड़का भी उसकी जिद के मारे परेशान होकर पिताजी के पास पहुँचा। पिता ने पहले तो बहुत आनाकानी की कि यह तुमसे या तुम्हारी पत्नी से सम्बन्धित बात नहीं है। पर बहू इससे कहाँ मानने वाली थी। उसका हठ देखकर लड़के ने अपने पिता से बता देने का आग्रह किया। अतः सेठ ने कहा–"मुझे तो इसलिए हंसी आ गई थी कि एक दिन तो वह था, जबकि तेरी मां ने मुझे कुंए में गिरा दिया था, परन्तु आज वह मेरी इतनी भक्ति कर रही है, यह संयोग की बात है।" लड़के की बहू ने सुना तो अब सोच लिया कि इस बार लड़ाई होने पर सास को खूब जलीकटी सुनाऊँगी। बस, जिस दिन लड़ाई हुई, उस दिन पुत्रवधू ने व्यंगवश सास को मर्मस्पर्शी बात सुना दी—"मैं जानती हूँ, तुम तो अब सती बनने चली हो, एक दिन तो ससुरजी को कुंए में गिराते कोई संकोच न हुआ।" बस, इतना कहना था कि सास चुप हो गई। गुप्त रहस्य का भंडाफोड़ हो जाने के कारण सास ने आत्म-हत्या कर ली, उसके पीछे ससुर, पुत्र व पुत्रवधू सबने बदनामी से बचने के लिए आत्महत्या कर ली। यह था स्वदारमंत्रभेद का कटु परिणाम। इसलिए तथ्य होते हुए भी ऐसा करना सत्य नहीं है। सत्यव्रत का यह अतिचार है।

आजकल कई पुरुष स्त्रियों को अत्यन्त तुच्छ और हेय समझते हैं। अगर सरल भाव से वह कभी अपने अपराध से हलके होने के लिए पुरुष के सामने अपना हृदय

खोलकर रख भी देती है, तो पुरुष उसके प्रति अविश्वास की गाँठ मन में बाँध लेता है, या वह उसे मारने-पीटने, घर से निकालने या अपमानित करने से नहीं चूकता। इसके कारण पत्नी से किसी प्रकार की सम्मति लेना तो दूर रहा, उनकी गुप्त बातों को प्रगट करने में भी नहीं हिचकते। लेकिन ऐसा करना पुरुषों की उद्दण्डता है, उच्छृंखलता है। स्त्रियों को पराधीनता के सींखचों में बंद करके वह उन्हें गुलाम बनाकर रखना चाहता है। उन्हें हर बात में पराधीन और पंगु बना रखा है। स्त्रियों को इस तरह पराधीन बनाए रखने से ही भारत का प्राचीन गौरव छिन्न-भिन्न हो रहा है।

स्त्रियों की शक्ति कम नहीं है। जैनशास्त्र में तीर्थंकरों को जन्म देने वाली माताओं को रत्नकुक्षिधारिणी कहकर प्रशंसा की है, इन्द्रों तक ने उनकी स्तुति की है। मनुस्मृति में भी कहा है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

जहाँ स्त्रियों का सत्कार होता है, वहाँ देवगण रमण करते हैं। जिस महिला वर्ग की इतनी महत्ता है, उसे तुच्छ समझ कर उसे अपमानित करने से पारिवारिक और सामाजिक जीवन कैसे सुखी हो सकता है? सुखी होना तो दूर रहा, इन दोनों क्षेत्रों की उन्नति महिलाओं के सहयोग के बिना होनी कठिन है।

महिलाओं की उच्चता, लज्जा और कोमलता को दृष्टिगत रखकर ही शास्त्रकारों ने उनकी किसी गोपनीय बात को दूसरे से कहने की मनाही की है। चाणक्य नीति में भी इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है—

अर्थनाशं मनस्तापं गृहिणीचरितानि च।
वंचनं चापमानं च, मतिमान्न प्रकाशयेत्॥

धन की हानि, मन का संताप, पत्नी के आचरण सम्बन्धी बात, अपनी ठगाई एवं अपमानित होने की बात बुद्धिमान् व्यक्ति किसी के समक्ष प्रगट न करे।

इस अतिचार में जैसे स्त्री के विषय की गुप्त बात प्रगट करने का निषेध पुरुष के लिए कहा गया है, वैसे ही पुरुष के विषय की गुप्त बात स्त्रियों के लिए निषिद्ध समझनी चाहिए। महिलाओं का भी कर्तव्य है कि वे पुरुषों द्वारा कही हुई गुप्त बात को किसी के समक्ष प्रगट न करें। इससे दाम्पत्यकलह पैदा हो जाता है, तथा जिन्दगी भर पति-पत्नी में आपस में मनमुटाव चलता है।

मिथ्या-उपदेश : असत्य का द्वार

दूसरों को असत्य का उपदेश देना मृषोपदेश कहलाता है। असत्य के उपदेश का मतलब है—झूठ बोलने, चालाकी करने, तौल-नाप में गड़बड़ी करने, छलकपट करने, ठगी और बेईमानी करने की प्रेरणा देना, ट्रेनिंग देना, प्रोत्साहित करना।

मिथ्या-उपदेश अतिचार भी तब कहलाता है, जब वह असावधानी से किसी को दे दिया जाय, अथवा अपने पास सम्मति पूछने आए हुए व्यक्ति को असावधानी से

कोई गलत सलाह दे दी जाय। किन्तु जब इस प्रकार का मिथ्योपदेश धड़ल्ले के साथ बेखटके दिया जाता है, बार-बार दिया जाता है, अपने सत्यव्रत का कोई विचार नहीं किया जाता, तब वहाँ अनाचार हो जाता है, यानी व्रत का सर्वथा भंग हो जाता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी से दुःखित होकर अपने पर आए हुए संकट से बचने का उपाय पूछता है, उस समय वह (श्रावक) कहे—मैंने तो अमुक समय पर इस प्रकार मिथ्या-भाषण करके यह काम बनाया था। यद्यपि ऐसा कहने वाला कोई मिथ्या बात नहीं कहता, किन्तु सुनने वाला उसके मुँह से मिथ्या भाषण करके काम बनाने की मिथ्या-प्रवृत्ति में प्रवृत्त हो जाता है, इसलिए यह सत्यव्रत में अतिचार (दोष) है।

आजकल जहाँ देखो वहाँ, मिथ्या उपदेश देने की प्रवृत्ति बहुत दृष्टिगोचर होती है। कई लोग स्पष्ट रूप से मिथ्या उपदेश देकर गुमराह नहीं करते, किन्तु घुमा-फिराकर इस ढंग से कहेंगे कि सुनने वाले को उससे करने की प्रेरणा मिल जाएगी। कई लोग इस बात का विचार नहीं करते कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ, इसका प्रभाव सुनने वाले पर कैसा पड़ेगा। उसका नतीजा क्या आएगा? जैसे एक आदमी ने दूसरे से कहा—मुझे खाना ठीक से हजम नहीं होता, इस कारण मैं गैस की बीमारी से पीड़ित हूँ। इसके उत्तर में सुनने वालों ने कहा—"यार! मेरा भी यही हाल रहता था। मैंने तो शराब थोड़ी मात्रा में प्रतिदिन लेना शुरू किया, तब से मेरा पेट ठीक रहता है, कोई शिकायत नहीं रहती।" इस प्रकार शराब पीने का सीधा उपदेश न देकर इस ढंग से कह दिया कि वह शराब पीए। इसी प्रकार किसी ने कहा—"मैं बहुत गरीब था। लेकिन झूठ बोलकर अथवा जुआ खेलकर मालदार बन गया।" इस प्रकार के मिथ्या उपदेश द्वारा दूसरे व्यक्ति को गुमराह कर देना, सन्मार्ग से विमुख कर देना सत्यव्रत का अतिचार है। कई भंगेड़ी-गंजेड़ी भांग-गांजे का उपदेश देकर अपने सरीखे दुर्व्यसनियों की संख्या बढ़ाते रहते हैं। बहुत-से लोग अपनी शेखी बघारने के लिए लोगों को गुमराह करते रहते हैं। मतलब यह है कि ऐसे उपदेश, जिनसे असत्य प्रवृत्ति की प्रेरणा मिलती हो, मनुष्य गुमराह हो जाता हो, पतित होकर बुरे कार्य में प्रवृत्त हो जाता हो, वह मृषोपदेश कहलाता है। श्रावक को इस अतिचार से बचने के लिए ऐसे झूठे उपदेशकों के भी चक्कर में नहीं आना चाहिए।

कूटलेखकरण : झूठफरेब की प्रक्रिया

श्रावक इस भ्रान्ति में रहता है कि मैंने मुँह से स्थूल झूठ न बोलने का त्याग किया है, हाथ से लिखने का तो त्याग ही नहीं किया है। इस लिहाज से हाथ से झूठे लेख, असत्य विज्ञापन, लिखकर अखबारों में प्रकाशित कराता है। झूठे दस्तावेज, जाली हुंडी, जाली बिल्टी, जाली नोट, नकली सिक्के बनाना, जाली लेख, किसी दूसरे के अक्षर सरीखे अक्षर लिख लेना, नकली मुहर छाप आदि बनाना कूटलेखकरण है। यह दोष अतिचार की कोटि में तब तक है, जब तक असावधानी या भ्रम से हो जाय। जैसे किसी ने कहा—अमुक बात ऐसी है, यद्यपि उस बात की सत्यता में अभी सन्देह

है, फिर भी झूठी बात पर विश्वास करके उस बात को समाचार-पत्रों में छपवा देना अतिचार है, किन्तु झूठ मालूम होने पर भी जानबूझकर उस असत्य समाचार को छपवा देना अनाचार है। इसी प्रकार दस्तावेज आदि या बही खातों में झूठा जमाखर्च करना भी अतिचार है। परीक्षा में नकल करना भी कूटलेखकरण है।

आजकल लोगों में यह प्रवृत्ति बहुत दिखाई देती है। वे झूठे लेख लिख कर झूठे जमाखर्च करके या झूठे दस्तावेज बनाकर यह समझते हैं कि इसमें हमने कौन-सा असत्य बोला ? किसको हानि पहुँचाई ? परन्तु लोभ के कारण उनकी बुद्धि पर ऐसा पर्दा पड़ जाता है कि वे सत्यासत्य का विचार नहीं करते। कभी-कभी तो गिरवी का धन्धा करने वाले किसी ने कोई चीज रखी है, उसको हजम करने के लिए बहीखातों में लिखा हुआ ही बदल देते हैं, या वे पन्ने ही फाड़ दिये जाते हैं। इसी प्रकार ब्याज-बट्टे का धन्धा करने वाले भी लोभवश ५०० के ५००० बनाकर गरीबों का गला काटे लेते हैं। इस कार्य में चाहे मुँह से झूठ न बोला गया हो, किन्तु काया से असत्य लिखने का कार्य हुआ है, वह भयंकर झूठ है। इसी प्रकार संस्था का खर्च लिखते समय जितना खर्च हुआ है, उससे अधिक लिख देना, बाकी के पैसे हजम कर जाना, झूठ और चोरी दोनों हैं। किसी के खिलाफ समाचार-पत्रों में झूठे समाचार लिख कर छपवा देना भी आजकल फैशन हो गया है। परन्तु वे भूल जाते हैं कि इस असत्य कार्य का परिणाम कितना भयंकर होगा ? भेद खुलने पर वह व्यक्ति निन्द्य एवं घृणित समझा जाता है। लोगों में फिर वह व्यक्ति विश्वसनीय नहीं रहता।

इस अतिचार से सावधान करने का उद्देश्य यह है, ऐसे लेखन कार्य से बचा जाए, जो असत्य की परिभाषा के दायरे में आता है।

इस प्रकार प्रत्येक धर्मनिष्ठ श्रावक को असत्य के इन कार्यों से मन-वचन-काया से स्वयं बचना चाहिए, साथ ही दूसरों को भी मन-वचन-काया से असत्य की ओर प्रेरित नहीं करना चाहिए।

सत्य ही जीवन का परम उद्देश्य है, वही आराध्य है, इस बात को मद्देनजर रखते हुए श्रावक को अपने जीवन में असत्य प्रतीत होने वाले विचारों, वचनों और कार्यों से अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। ✡

6

अस्तेयव्रत : साधना और स्वरूप

☆

धन की अपेक्षा चरित्र की महत्ता

भारतीय संस्कृति के उन्नायकों ने धन को इतना महत्त्व नहीं दिया है, जितना धन्य कार्यों को। उन्होंने मानव की श्रेष्ठता धन से नहीं, धन्यकार्यों से मानी है। धन की अधिकता के कारण कोई मनुष्य श्रेष्ठ नहीं माना जाता, श्रेष्ठकार्य ही अथवा श्रेष्ठतापूर्वक किया गया कार्य ही मनुष्य को श्रेष्ठ बना सकता है। चोरी करके, छीना-झपटी करके या अन्य अनैतिक उपायों—अप्रमाणिकता, छलफरेब एवं धोखेबाजी या बेईमानी से कमाया हुआ धन प्रतिष्ठा के योग्य नहीं होता; किन्तु जो व्यक्ति प्रामाणिकता, ईमानदारी, नैतिकता एवं पवित्रता से धन कमाता है, वही समाज में, राष्ट्र में या परिवार में प्रतिष्ठा पाता है, उसी का विश्वास किया जाता है। वह व्यक्ति निर्धन हो तो भी ईमानदारी का धन उसके पास होता है। इसीलिए कवि कहता है—

सच्चा धन ईमान, आदमी, सच्चा धन ईमान ॥
जिसमें है ईमान वही जन सच्चा गौरववान् ॥आ०॥
चोरी में क्या हुई कमाई ? जीवनभर की शान्ति गंवाई।
पाने से अधिकाधिक खोया, लाभ बना नुकसान ॥आ०॥१॥
एक चोर चोरी करता है, घर-घर में चिन्ता भरता है।
खुद भी गौरव शान्ति गमाता, कैसा वह नादान ? ॥आ०॥२॥
चोरी से जो धन आता है, इधर-उधर से बह जाता है।
नंगा का नंगा रहता है, बनता है हैवान ॥आ०॥३॥

संसार में ऐसे भी लोग थे, जो बहुत ही गरीबी में पले थे, अत्यन्त दरिद्र थे, लेकिन उनके जीवन में नीति, प्रामाणिकता और पवित्र-जीविका का गौरव था, वही उनके लिए धन था। मनुष्य को सच्ची श्रमनिष्ठा, ईमानदारी एवं प्रामाणिकता से विश्वास, प्रेम और आदर मिलता है। किन्तु जब मनुष्य ईमानदारी, प्रामाणिकता एवं श्रमनिष्ठा को छोड़कर बेईमानी, अप्रामाणिकता एवं आलस्य का कुपथ स्वीकार

कर लेता है, तब उससे सामाजिक जीवन में अविश्वास पैदा होता है, कई खतरे पैदा होते हैं, व्यक्ति चरित्रहीन बनता है। समाज का सारा कार्य विश्वास के आधार पर चलता है समाज में जब चोर, डाकू, या बेईमान लोग बढ़ जाते हैं, तब संकट पैदा होता है, परस्पर विश्वास कम होता जाता है, इसीलिए सत्य, अहिंसा के साथ-साथ अस्तेय व्रत की आवश्यकता है।

आर्थिक दृष्टि से अस्तेय का महत्व

अस्तेय व्रत मनुष्य की आर्थिक दृष्टि से विशेष सम्बन्धित है। अर्थ का मतलब है—पदार्थ। जीवन जीने के लिए मनुष्य को—चाहे वह साधु-संन्यासी ही क्यों न हो गया हो, अन्न, वस्त्र, आवास आदि कुछ पदार्थों की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। परन्तु सवाल उन-उन पदार्थों के लेने या उपभोग करने का ही नहीं है, धर्म या अध्ययन की दृष्टि यह कहती है कि सांसारिक (भौतिक) पदार्थों को, जब तक देह है तब तक लेना ही पड़ेगा, लेने की कोई भी शास्त्र मनाही नहीं करता, किन्तु लेने से पहले जरा सोचो कि तुम्हारी मर्यादा क्या है? तुम्हें कितना और कौन-सा पदार्थ लेने का अधिकार है? तुम्हें अमुक पदार्थ किस विधि से और कैसे लेना चाहिए? और फिर सवाल उठेगा कि जो पदार्थ ले रहे हो, उसका उपभोग करना तुम्हारे लिए योग्य है या नहीं? यदि योग्य है तो कितनी मात्रा में या कितनी संख्या में उपभोग करना उचित है? ताकि दूसरों के अधिकार का हनन न हो, दूसरे के जीवन जीने में कठिनाई पैदा न हो। ये ही प्रश्न अस्तेयव्रत की आवश्यकता बताते हैं। अस्तेयव्रत के बिना मनुष्य पशु की तरह जीवन बिताता या दानवीय जीवन बिताता। पाशविक जीवन में यह है कि जिसको जितना खाने-पीने या जीने के लिए जरूरी चीजें मिल गईं, दूसरा पशु पास में ही खड़ा है, वह भूखा प्यासा है, उसको खाने-पीने की चीजें नहीं मिलीं या पर्याप्त मात्रा में नहीं मिली, इसकी चिन्ता पशुजगत् में नहीं होती। पशु चौर्य-अचौर्य में कुछ नहीं समझता, न ईमानदारी-बेईमानी या अधिकार-कर्तव्य का उसे कुछ ज्ञान होता है। उसे भूख लगती है तो जो कुछ मिल गया, अकेला ही खा जाएगा, दूसरे के लिए कुछ बचा कर रखने की उसे चिन्ता नहीं होती। बच जाय, वह उसके भाग्य का। इससे भी भयंकर जीवन होता है—दानवीय जीवन, जिसमें दूसरे के मरने-जीने, आवश्यकता-अनावश्यकता, अधिकार-कर्तव्य का कोई भान नहीं होता, सिर्फ अपने जीने की चिन्ता होती है, और वह भी पर्याप्त न मिला, तो दूसरे से छीन-झपट कर, लड़भिड़कर, मार-पीट करके ले लेना, यही नीति होती है। मानव समाज में अगर पाशविक या दानवीय जीवन प्रारम्भ हो जाय तो सर्वत्र अराजकता, मारकाट या तू-तू, मैं-मैं, फैल जाएगी, सबका जीवन अशान्त हो जाएगा। कोई भी व्यक्ति किसी पर भी विश्वासपूर्वक जी नहीं सकेगा। सुख-शान्ति हवा हो जाएगी। अस्तेयव्रत की इसीलिए जरूरत है कि मनुष्य पाशविक एवं दानवीय जीवन से मुक्त होकर शुद्ध मानवीय या दिव्य जीवन व्यतीत करे। अपनी

जीविका के लिए या यों कहिए कि जीवन की आवश्यकताओं के लिए न्यायनीति पूर्वक यथोचित पुरुषार्थ करे और उससे जो न्याययुक्त पदार्थ प्राप्त हो, उसी से गुजारा चलाए, परन्तु यह न सोचे कि दूसरे व्यक्ति को मुझसे ज्यादा मिल गया है या दूसरे को कुछ अच्छे पदार्थ प्राप्त हो गए हैं तो उससे छीना-झपटी करे या उसकी आँख बचाकर चीज उठा ले, उसकी सम्मति के बिना ही चीज ले ले, अपने कब्जे में कर ले और चुपचाप स्वयं उसका उपभोग कर ले। या उससे जबरन, शस्त्रास्त्र के बल पर या सत्ता के बल पर उस चीज को छीन ले या हथिया ले। अतः अचौर्यव्रत पालन से ही मानव समाज में सुख-शान्ति प्रवर्तित हो सकती है।

समाज में जब अधिकांश लोग अपने अधिकार के लिए संघर्ष करते हैं, जबरन अधिकार जमा लेते हैं, या संघर्ष करके निर्बलों पर हावी होकर उनका अधिकार छीन लेते हैं, अथवा अपनी आवश्यकताएँ बढ़ा कर उसकी पूर्ति के लिए बेईमानी, ठगी, चोरी, डकैती आदि अनेक प्रकार के अनैतिक उपाय अजमाते हैं। समाज में जब ऐसे लोग बढ़ते हैं, तो विषमता फैलती है, यही सारे संघर्ष और असन्तोष की जड़ है। इसलिए अस्तेयव्रत व्यक्ति की शास्त्रीय अधिकार मर्यादा का निर्णायक है। यह मर्यादा सबके लिए हितावह है, सुख-शान्तिदायिनी है।

अध्यात्मदृष्टि से देखें तो अस्तेयव्रत मानव की आर्थिक मर्यादा निश्चित करता है, जिससे समाज को असीम लाभ होता है। क्योंकि जहाँ मर्यादा आती है, वहाँ मनुष्य के जीवन में संयम शुरू हो जाता है। संयम से कई प्रकार के प्रत्यक्ष लाभ हैं ही। सामाजिक लाभ भी कम नहीं है। जो व्यक्ति अपने पर आर्थिक अंकुश रखता है या अपनी आवश्यकताओं पर नियंत्रण रखता है, वह कुछ हद तक समाज में आर्थिक विषमता दूर करने में सहायक होता है। अगर व्यक्ति दूसरे के हिस्से को लेने का सोचता है तो उसका अर्थ यह है कि वह समाज में विषमता लाने में निमित्त बनता है। सबको अन्न-वस्त्र आदि आवश्यक सुविधाओं का समान अवसर मिलना चाहिए।

अगर व्यक्ति इस धर्म का पालन करता है तो इसका लाभ सबको मिलता है। अस्तेयव्रत के पालन से अपने लिए संयम का लाभ और समाज के लिए समानता प्राप्त कराने में मदद के रूप में लाभ, इस प्रकार दोहरा लाभ है। क्योंकि भेद यानी अपनी मर्यादा एवं अधिकार का पालन करके अभेद यानी समता व आत्मौपम्य की प्राप्ति करना, यह असीम लाभ है।

अस्तेयव्रत का व्यापक रूप से पालन होने लगता है तो समाज से कृपणता मिटती है। कृपणता का अर्थ है दीनता। गीता की परिभाषा के अनुसार, **कृपणाः फल हेतवः** कृपण वे हैं, जो तृष्णा के अधीन होकर फलप्राप्ति के लिए कर्म करते हैं। 'फलासक्ति से कार्य करने वाला व्यक्ति दीन बनता है। इसके विपरीत फलप्राप्ति के लिए दीनता छोड़कर भिक्षावृत्ति से अस्तेयव्रत का पालनकर्ता स्वतन्त्र एवं स्वाधीन होता है। अस्तेयव्रत के पालन से समाज में चलने वाला वर्गसंघर्ष या विग्रह टल जाता

है। समाज में प्रायः संघर्ष द्वेष, मत्सर, तिरस्कार आदि तभी पैदा होते हैं, जब सबको विकास का समान अवसर नहीं मिलता। ऐसी दशा में स्पर्धावृत्ति जोर पकड़ती है इस विग्रह की परिस्थिति को बदलने के लिए एवं समाज में समत्व स्थापित करने के लिए अस्तेयव्रत की आवश्यकता है। कानून से या दण्डशक्ति से जो समता आती है, वह ऊपर से लादी हुई या बलात् थोपी हुई समता होती है, उसमें स्थायित्व नहीं होता और जो समता समाज में व्याप्त विषमताओं को मिटाने के लिए अस्तेयव्रत के माध्यम से स्वेच्छा से स्वीकृत की जाती है, उसमें परस्पर सहयोग भावना और चिरस्थायित्व रहता है।

अस्तेयव्रत से इहलौकिक और पारलौकिक लाभ भी कम नहीं हैं। सिन्दूर प्रकरण में इस व्रत की महिमा बताते हुए कहा है—

'तमभिलषति सिद्धिस्तं वृणीते समृद्धिः।
तमभिसरति कीर्तिर्दुञ्चते तं भवार्तिः।
स्पृहयति सुगतिस्तं नेक्षते दुर्गतिस्तम्।
परिहरति विपत्तिर्यो न गृह्णात्यदत्तम्॥'

जो अदत्त (बिना दिये) ग्रहण नहीं करता, सिद्धि उसकी अभिलाषा करती है। समृद्धि उसे स्वीकार करती है, कीर्ति उसके पास आती है, सांसारिक पीड़ाएँ उसका पीछा छोड़ देती हैं, सुगति उसकी स्पृहा करती है, दुर्गति उसे देखती भी नहीं। विपत्ति उसे छोड़ देती है।

योगदर्शन में अस्तेयव्रत के निष्ठापूर्वक पालन का फल 'सर्व रत्नप्रदाता' बताया गया है। यानी अस्तेयव्रत का व्यापक पालन होने लगे तो सबके लिए सारी सुविधाएँ और विकास के लिए सब अनुकूलताएँ एवं समान अवसर प्राप्त हो सकेंगे। यह अस्तेय व्रत के पालन का अद्भुत परिणाम है। योगदर्शन के साधनपाद में बताया गया है—

'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्'

जीवन में अस्तेय के प्रतिष्ठित हो जाने पर—अस्तेय व्रत पालन में सफलता प्राप्त होने पर सर्वरत्न उपस्थित होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सारी सुविधाएँ एवं समस्त अनुकूलताएँ प्राप्त होती हैं।

सभी व्रत एक-दूसरे से सम्बन्धित

शास्त्र में बताए हुए पाँचों व्रत तथा अन्य सारे उपव्रत एक-दूसरे से जुड़े हुए है। वे परस्पर इस प्रकार से सम्बन्धित हैं कि एक भी व्रत का पूर्णरूप से पालन करने पर सब व्रतों का पालन स्वतः हो जाता है। यद्यपि सभी व्रतों का स्वरूप भिन्न-भिन्न दिखाई देता है, व्रत सम्बन्धी कल्पनाएँ अलग-अलग प्रकार की दिखाई देती हैं, फिर भी सबका अर्थ एक ही है, यानी सब व्रतों का हेतु—उद्देश्य एक ही है। वह है—देहाध्यास क्षीण करके विकारों का प्रतिबन्ध दूर करके सर्वभूतात्मभूत बनाना—प्राणिमात्र

के साथ अद्वैतभाव का अनुभव करना, जीवमात्र के साथ आत्मौपम्य की अनुभूति करना।

दूसरी दृष्टि से देखें तो सब व्रतों में परस्पर अभिन्नता है। व्रतों के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध मानते हैं तो सब एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए भले हों, परन्तु कल्पनाएँ भिन्न-भिन्न है। परन्तु जब व्रतों में परस्पर अद्वैत—अभेद सम्बन्ध मानते हैं तो सबका अर्थ, उद्देश्य अन्ततोगत्वा एक ही हो जाता है। इस दृष्टि से अन्य व्रतों की उपेक्षा करके सिर्फ एक हीं व्रत का, अथवा एक व्रत की उपेक्षा करके अन्य व्रतों का पालन करना सम्भव नहीं है। इसलिए अस्तेयव्रत का पालन करना है तो सत्य-अहिंसा आदि अन्य व्रतों का पालन भी अनिवार्य मानना चाहिए। इसलिए अस्तेय व्रत का खण्डन होने पर शेष सभी व्रतों का खण्डन हो जाता है, अतः शेष चार व्रतों का पालन करने के लिए भी इस व्रत को धारण करना आवश्यक है। सत्य को पहचानने और अहिंसा को आचरण में लाने के लिए ब्रह्मचर्य, अस्तेय आदि अन्य व्रतों की योजना आवश्यक है।

अस्तेयव्रत : सामाजिक धर्म का दिग्दर्शक

अस्तेयव्रत हमें सामाजिक धर्म का दर्शन कराता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में रहने में संघर्ष न आए और सुख-शान्ति से जीवनयापन किया जा सके, इसके लिए विनिमय की व्यवस्था की गई। इतनी वस्तु या इतने परिश्रम के बदले इतना मूल्य दिया जाय, यह मर्यादा निर्धारित की गई। उस विनिमय-मर्यादा का उल्लंघन करना चोरी समझा गया। इसलिए अचौर्यव्रत सामाजिक मर्यादाओं के पालन के लिए प्रेरित करता है। सभी मनुष्य समाज-शरीर के अंग हैं। इसलिए समाज के प्रति लापरवाही या उपेक्षा नहीं की जा सकती। समाज के अंग होने के नाते सभी मनुष्य समान हैं। सभी अंगों का समान विकास हो, धारण, पोषण और संरक्षण हो, यह जरूरी है। इस समाज धर्म का पालन करने के लिए अस्तेयव्रत का पालन करना आवश्यक है; जिससे आवश्यक वस्तुओं का अतिभोग या अति-उपयोग कोई न करे, कोई किसी का शोषण न करे। इस धर्म का ज्ञान अस्तेयव्रत कराता है।

वर्तमान युग में आवश्यकताएँ बढ़ गई हैं, तथा धन का लोभ बढ़ गया है। मनुष्य उन झूठी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अथवा धन से प्रतिष्ठा अर्जित करने के लिए येन-केन-प्रकारेण धन बटोरने की कोशिश करता है। वह नीति-अनीति, अन्याय, हिताहित, कर्तव्याकर्तव्य का विचार नहीं करता। वह दूसरे की चीज पर अपना स्वामित्व स्थापित करने तथा अपने कब्जे में करने के लिए लालायित रहता है। वह लालसा चाहे धन हड़पने की हो, शोषण कर जाने की हो, राज्य हथियाने की वृत्ति हो या अमानत हजम कर जाने की हो, है यह दुःखदायी ही। ऐसी परस्वहरण वृत्ति से परिवार राष्ट्र एवं समाज में सुख-शान्ति नहीं रहती। प्रत्येक व्यक्ति के मन में

आतंक छाया रहता है, लोगों की नींद हराम हो जाती है। चूंकि गृहस्थ जीवन में जीवनयापन के लिए धन आवश्यक साधन है, उसके चुराये जाने या छीने जाने से हर क्षेत्र में संघर्ष मच जाता हैं। मनुष्य अपनी इच्छा से चाहे जिसको चाहे जितना धन दे दे या कोई वस्तु दे दे, अपने अधिकार की चीज देने में उसे किसी प्रकार का दुःख नहीं होता। परन्तु जब उसके स्वामित्व या अधिकार की चीज पर कोई व्यक्ति जबरन अपना हक जमा लेता है, या अधिकार का हरण कर लेता है, अथवा चुरा या छीन लेता है, या हड़प जाता है, तो उसे बड़ा दुःख होता है। उससे एक प्रकार की अन्याय-परम्परा फैलती है। इसीलिए सत्य के बाद अचौर्य व्रत का नम्बर आया है, क्योंकि इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहाँ आचरण में सत्य आ गया, वहाँ प्रामाणिकता रूप अस्तेय आ ही जाता है।

ईमानदारी : अस्तेयव्रत का मूल

जिस व्यक्ति के मन में ईमानदारी होती है, जो चोरी और ठगी नहीं करता, उसके लिए सारा जगत् ही अपना है, वह सारे विश्व का बन्धु हो जाता है। वह समाज, परिवार या राष्ट्र के लोगों का विश्वास और सहयोग प्राप्त कर लेता है। जगत् में यदि ईमानदारी हो तो पहरेदारी से बच जाता है, निर्भय हो जाता है। यदि जगत् में पूर्ण ईमानदारी हो तो चोरों की गुजर नहीं हो सकती। चोर तभी पनपते हैं, जब जगत् में बेईमानी एवं संग्रहवृत्ति बढ़ जाती है। यदि चौर्यकर्म बन्द हो जाय तो चोरों की या चौर्यवृत्ति वालों की शक्तियाँ लूटने-खसोटने के बजाय रक्षण एवं अर्जन में लग जाती हैं। दुनिया में सम्पत्ति बढ़ जाती है सभी धन-सम्पन्न बन सकते हैं। मनुष्य को अपने धनमाल के जाने की चिन्ता रात-दिन सताती है, किन्तु अचौर्य व्रत का ग्रहण करने पर व्यक्ति की चिन्ताएँ घट जाती हैं। मन शान्ति का धाम बन जाता है। जीवनयात्रा सरल हो जाती है, व्यवहार भी सरल, सरस हो जाता है। किन्तु जब मनुष्य ईमान खो देता है तो इज्जत मिट्टी में मिल जाती है, विश्वास समाप्त हो जाता है, ऐसे चौर्यवृत्ति वाले व्यक्ति से सभी सावधान होकर चलते हैं, चौकन्ने हो जाते हैं। अथवा वह अपनी मानवता खोकर पशुता को अपना लेता है। इसलिए चोरी जीवनकला की दृष्टि से घाटे का सौदा है। अचौर्यव्रती अपना ईमान नहीं खोता और न ही लोकविश्वास खोता है। धन न होते हुए भी इज्जत और नाम अवश्य पाता है। जिसके मन में ईमानदारी और सच्चरित्रता है, जो मन-वचन-कर्म से सच्चाई और ईमानदारी का व्यवहार करता है। नम्रता, उदारता, सज्जनता एवं सत्यता जिसके स्वभाव की शोभा है, वह व्यक्ति स्वयं भी अपनी दृष्टि में सम्मानित रहता है। जो अपनी दृष्टि में स्वयं सम्मानित है, उठा हुआ है, उसका दूसरों की दृष्टि में सम्मानित एवं उन्नत रहना स्वाभाविक है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य का जो मूल्यांकन खुद अपनी दृष्टि में होता है, वही मूल्य प्रायः दूसरों की दृष्टि में भी हुआ करता है। अपनी दृष्टि में स्वयं सम्माननीय व्यक्ति वही हो सकता है, जो कभी किसी

को धोखा नहीं देता, किसी के धन पर बुरी नीयत नहीं करता, जो लोभ एवं स्वार्थ की भावना से पीड़ित नहीं होता। समाज में यथोचित सत्य और न्याय का व्यवहार करता है। ये ही कुछ कारण हैं, जो अस्तेय व्रत की जीवन में उपादेयता को प्रमाणित करते हैं।

भारत में अचौर्यवृत्ति का व्यापक प्रभाव

भारतवर्ष की सचाई और ईमानदारी प्राचीनकाल से संसार भर में प्रसिद्ध रही है। कहा जाता है, चन्द्रगुप्त के युग तक, जिसे अभी ढाई हजार वर्ष ही व्यतीत हुए हैं, यहाँ के लोग घरों में ताले नहीं लगाते थे। यहाँ रास्ते में गिरी हुई चीज को कोई सहसा उठाता नहीं था। चोरी का कोई नाम भी नहीं जानता था। बड़े-बड़े लेन-देन जबानी ही कर लिये जाते थे। उपनिषद्काल में प्रसंग आने पर राजा अश्वपति ने कहा था—

'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न च मद्यपः'

मेरे राज्य में कोई चोर या लुटेरा नहीं है, न कोई भ्रष्टाचारी है, न कृपण है और न शराबी है।

भारतीय इतिहास के पन्नों पर हमें प्राचीन और मध्यकालीन कुछ ऐसे राजाओं का वृत्तान्त पढ़ने को मिलता है, जो अपने निजी खर्च के लिए खजाने से एक पाई भी नहीं लेते थे, किन्तु स्वयं परिश्रम करके अपना जीवन-निर्वाह करते थे। कई ऐसे शासक भी हुए हैं, जो समय-समय पर अपना सर्वस्व दान कर देते थे। उनका उद्देश्य यही था कि वे प्रजा से विभिन्न रूपों में प्राप्त धन को अपना नहीं समझते थे, और फिर उसको प्रजा की भलाई के कार्यों में खर्च कर देते थे।

आज बेईमानी और लूट का बाजार गर्म है

आज आपको यह जान कर खेद के साथ आश्चर्य होगा कि जो भारतवर्ष एक दिन आध्यात्मिकता के उच्च शिखर पर था, जहाँ चोरी, व्यभिचार आदि दोषों का नामोनिशान नहीं था। वह आज इतना नीचे गिर गया है कि लोग दिनदहाड़े बेईमानी, लूट, चोरी और ठगी करते हुए नहीं हिचकिचाते। रवीन्द्रनाथ ठाकुर जब चीन-जापान की यात्रा पर गये थे तो वहां के लोगों ने उनसे कहा कि हमने सुना है, भारतवर्ष बहुत उच्च एवं धार्मिक देश है। भगवान् बुद्ध की जन्मभूमि है, वहाँ कोई व्यक्ति चोरी, बेईमानी, ठगी आदि नहीं करता, यहाँ तक कि रास्ते में पड़ी हुई वस्तु को छूता तक नहीं।" जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने यह सुना तो उनकी आँखों में आंसू आगए। उन्होंने सिर नीचा किये हुए कहा—'आप जैसा सोचते हैं, वैसा आज भारतवर्ष है नहीं। आज भारत में चोरी, लूटपाट और डकैती विपुलमात्रा में होती है।'

स्वामी रामतीर्थ ने अपने एक भाषण में जापान की एक घटना का जिक्र किया है। वहाँ के किसी विश्वविद्यालय में एक भारतीय छात्र शिक्षा प्राप्त कर रहा था।

वह पढ़ने के लिए वहाँ के किसी विद्यालय के पुस्तकालय से एक बड़ा ग्रन्थ ले आया। उस ग्रन्थ में विज्ञान तथा यन्त्र विद्या सम्बन्धी अनेक चित्र तथा नक्शे थे। विद्यार्थी ने उसमें से आवश्यकीय अंशों की तो नकल कर ली, पर चित्र तथा नक्शों की नकल करना सम्भव नहीं था, अतः उसने उन चित्रों तथा नक्शों को फाड़ कर चुरा लिये और ग्रन्थ को वापस लौटा आया। ग्रन्थ बड़ा होने के कारण उस समय तो किसी को कुछ पता न चला। परन्तु कुछ दिनों बाद एक जापानी छात्र ने उन चित्रों को उस भारतीय विद्यार्थी के कमरे में पड़े देख लिये। उसने इस बात की सूचना उक्त पुस्तकालय के अधिकारियों को दे दी। पुस्तकालयाध्यक्ष ने उक्त पुस्तक निकाल कर देखी तो सचमुच उसमें वे नक्शे तथा चित्र नहीं थे। अतः उन्हें उस विद्यार्थी पर पक्का शक हो गया कि उसने पुस्तक में से पन्ने चुराए हैं। तब से उस पुस्तकालय में यह नियम बना दिया गया कि किसी भी भारतीय छात्र को घर पर पढ़ने के लिए पुस्तक नहीं दी जाएगी। इस प्रकार उक्त चौर्यवृत्ति के कारण भारतीय युवक ने अपने साथी भारतीय छात्रों के मार्ग में ही कांटे नहीं बिछाए, अपितु अपने देश को भी बदनाम किया।

निराशा में भी आशा की किरणें

भारतीय जन-जीवन में भ्रष्टाचार, अन्याय, अनीति, धोखाधड़ी एवं बेईमानी की अनेक घटनाएँ हमारे लिए खेदजनक अवश्य हैं और उनसे हमारे देश की हर तरह से हानि और अवनति भी हो रही है, परन्तु ऐसी बात नहीं है, जिससे निराश और हताश होकर बैठ जाएँ। आप जानते हैं कि भारत सदा से एक आध्यात्मिक देश रहा है, उसमें आध्यात्मिकता की प्रवृत्तियाँ अब भी सर्वथा नष्ट नहीं हुई हैं। यद्यपि विशेष परिस्थितियों के वशीभूत होकर भारतीय जनता भी प्रायः भौतिकवाद की ओर आकृष्ट हो रही है, भौतिकता की ऊपरी चकाचौंध से प्रभावित होकर सन्मार्ग से च्युत भी हो रही है, परन्तु हमारे अन्तस्तल में अब भी प्राचीन सदाचरण का बीज निहित है, जो अवसर आने पर प्रस्फुटित हो जाता है। इसलिए हमें सत्य और ईमानदारी का ह्रास देखकर निराशा लाना नामर्दी और कायरता होगी, बल्कि उत्साहपूर्वक परिस्थितियों को बदलने और सत्प्रवृत्तियों को पुनःस्थापन करने का प्रयत्न जोर-शोर से करना चाहिए। हमें अपने मन में दृढ़ श्रद्धा रखनी चाहिए कि हम उन्हीं लोगों की सन्तान हैं, जिन्होंने उच्च स्वर से **'परद्रव्येषु लोष्ठवत्'** की घोषणा की थी। जो राज्य के धन या किसी भी अन्यायोपार्जित या अनधिकृत धन को दानस्वरूप ग्रहण करना भी हलाहल विष के समान समझते थे। जो खेतों में अपने आप उगे हुए अन्नकण बीन कर जीवन-निर्वाह करने को बहुत बड़ा आत्मसम्मान का चिह्न मानते थे, बड़े-बड़े सम्राट् भी उन सम्पत्तिहीन व्यक्तियों के सम्मुख नतमस्तक होते थे।

आज भी हमारे देश में उन प्राचीन मनीषियों के चरण-चिह्नों पर चलने वाले अस्तेयव्रत के मूर्त स्वरूप लोगों का सर्वथा अभाव नहीं हुआ है। हाँ, इतना अवश्य है कि जहाँ बड़े-बड़े और प्रसिद्ध लोग असत्य और बेईमानी का आश्रय लेकर धन कमाने

में जुटे हैं, वहाँ इन निर्धन और सामान्य श्रेणी के किन्तु दृढ़चरित्री, ईमानदार व्यक्तियों द्वारा ईमानदारी और सचाई के सत्कर्म किये जा रहे हैं। समाचार-पत्र में पढ़ी हुई एक सच्ची घटना का मुझे स्मरण आ रहा है।

पैठण (बिहार) के निवासी श्री एम. एन. जुत्शी नामक सज्जन सुबह की ट्रेन से बाहर से आए और रिक्शे में बैठकर घर पहुँचे। उन्होंने सामान उतरवा कर नीचे रखा और बटुआ निकाल कर रिक्शे वाले को किराया दिया, परन्तु भूल से वे अपना बटुआ रिक्शे में ही भूल गए। रिक्शे वाला चला गया। कुछ देर बाद जब रिक्शेवाला अपनी घण्टी ठीक कराने के लिए रिक्शे से उतरा तो उसने रिक्शे के पायदान पर एक बटुआ पड़ा देखा। रिक्शेवाला उस बटुए को लेकर तुरन्त जुत्शी के घर पहुँचा। उन्हें बुलाकर उनका बटुआ लौटाया। उस बटुए में पांच-सौ रुपये के नोट थे। जिन्हें पाकर उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई। उन्होंने रिक्शाचालक को बहुत धन्यवाद दिया और पुरस्कार भी देने लगे, पर उसने पुरस्कार लेने से इन्कार कर दिया।

महिलाओं में भी पुरुषों की अपेक्षा ईमानदारी कम नही होती। वे भी समय आने पर अपनी प्रामाणिकता का परिचय देती हैं।

रांची (बिहार) में एक फौजी मेजर के घर की दो महिलाएँ बाजार से कुछ सामान खरीद कर लाईं। भूल से दूकानदार ने सामान के साथ एक थैला भी बांध दिया, जिसमें उसके छह हजार के नोट रखे थे। घर जाकर जब स्त्रियों को सामान के साथ वह थैला मिला, तो उन्होंने उसी समय उसे दूकानदार को वापिस कर दिया।

अब सवाल यह है कि अस्तेय किसे कहा जाय ? अहिंसा की तरह अस्तेय भी, निषेधवाचक है। अतः अस्तेय का नाम यहाँ शास्त्रकार ने 'अदत्तादान विरमण' रखा है। इसे अचौर्य भी कहते हैं, जिसका निषेधात्मक दृष्टि से अर्थ होता है चौर्य या स्तेयकर्म का अभाव।

चोरी का अर्थ है—अपनी मालिकी की वस्तु को छोड़कर दूसरी किसी भी वस्तु को अपने अधिकार या कब्जे में कर लेना, रास्ते में पड़ी हो तो उठा लेना, दूसरे की वस्तु को उसके मालिक की अनुमति या इच्छा के बिना उपयोग में लाना, किसी व्यक्ति का अधिकार छीनना, उसकी वस्तु पर अपना अधिकार जमा लेना, किसी की धरोहर को हड़प लेना, किसी की आंखों में धूल झोंक कर या धोखा देकर उसके धन माल को हथिया लेना, सेंध लगा कर या किसी की अनुपस्थिति में उसकी चोरी या हरण कर लेना।

अन्याय, अनीति, शोषण एवं अप्रामाणिकता के द्वारा धन का उपार्जन करना भी स्तेय कर्म है।

निष्कर्ष यह है कि मन, वचन और काया के द्वारा दूसरे के अधिकारों का स्वयं हरण करना, दूसरे से हरण करवाना या इसका अनुमोदन करना चोरी कहलाती है। अर्थात् जिस वस्तु पर वास्तविक रूप से अपना अधिकार नहीं, फिर वह अधिकार

चाहे पहले न रहा हो, या रहा हो, लेकिन त्याग दिया हो, उस पर उसके स्वामी की अनुमति के बिना अधिकार करने, उसका उपयोग करने और उससे लाभ उठाने को चोरी कहते हैं।

वस्तु चाहे बहुत ही तुच्छ हो, नगण्य हो, बहुत ही कम कीमत की हो, परन्तु उसके मालिक की इच्छा या अनुमति के बिना, अथवा उस पर कब्जा करने की नीयत से ले लेना, रख लेना या हजम कर लेना चोरी है। इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है—

'चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंत सोहणमेत्तं पि उग्गहंसि अजाइया॥'

वस्तु सजीव (सचित्त) हो या अचित्त (निर्जीव), कम हो या ज्यादा, अथवा अल्प मूल्य हो या बहुमूल्य, मालिक की आज्ञा के बिना लेना या बिना मांगे लेना या उसका उपभोग करना नहीं चाहिए। दांत कुरेदने के लिए तिनका भी बिना अनुमति लिए उठाना या लेना अपराध है।

हाँ, तो चोरी की व्याख्या हम इसलिए कर रहे हैं कि आप भलीभांति अचौर्य व्रत को समझ सकें। चोरी का निषेध ही अचौर्य का आचरण या विधान है।

शास्त्रकारों ने चोरी के विभिन्न प्रकार बताये हैं, जिनसे आप अचौर्यव्रत का स्वरूप भलीभाँति हृदयंगम कर सकेंगे।

वैसे तो सामान्य रूप से चोरी उसे ही कहा जाता है, जहाँ दूसरे की वस्तु, चाहे वह धन हो या वस्त्रादि अन्य कोई पदार्थ, उसकी सम्मति या अनुमति के बिना उठा लिया जाता हो। परन्तु ढंग अलग-अलग होते हैं। मुख्यतया चोरी के ढंग निम्नोक्त होते हैं—छन्न, नजर, ठग उद्घाटक, बलात् और घातक। छन्न का मतलब है—किसी के घर में अनेक वस्तुएँ हैं, चाहे वे अपने ही घर में पड़ी हों, फिर भी घर के सदस्यों या उस वस्तु के मालिक के परोक्ष में गुप्त रूप से, उनकी अनुपस्थिति में चीज उठा कर ले लेना, अपने अधिकार में रख लेना या उपयोग कर लेना छन्न चौर्य कर्म है। नजर चौर्य कर्म वह है, जहाँ उस वस्तु के मालिक की या घर के सदस्यों की आंख बचाकर चुपचाप किसी चीज को उठाकर अपने कब्जे में कर लेना या उपयोग कर लेना।

ठगी वह चौर्य कर्म है, जिसमें वस्तु तो उसके मालिक से प्रत्यक्ष में ली जाती है, पर लेने का तरीका है ठगी, धोखेबाजी, बेईमानी। चीज बढ़िया दिखाकर घटिया दे देना, वस्तु में मिश्रण या मिलावट कर देना, तौल-नाप में गड़बड़ करना, वस्तु के दाम ज्यादा ले लेना, पैसे लेकर बदले में चीज देना ही नहीं, अथवा दूसरे की सम्पत्ति पर अपना कब्जा जमा लेना, धोखे से हस्ताक्षर करा लेना, बेईमानी से रुपया ऐंठ लेना, ठग लेना, ये सब चौर्य कर्म 'ठग वृत्ति' में आते हैं।

चौथा है—उद्घाटक चौर्य कर्म, जिसमें किसी व्यक्ति की गांठ खोलकर, जेब काट कर सेंध लगाकर, ताले तोड़ या खोल कर दरवांजे तोड़ कर, या तिजोरी खोल कर चोरी कर लेना। यह चौर्य कर्म बहुत ही निन्द्य है। पांचवा है—बलात् चौर्यकर्म। बलात् चौर्य लूट और डकैती के माध्यम से लोग करते हैं, छीन कर, झपट कर, या मारपीट कर या चाकू दिखा कर किसी से कोई चीज जबरन ले लेना, लूट लेना या घर पर आकर शस्त्र-अस्त्र का भय दिखाकर लूट लेना, डाका डालना ये सब बलात् चौर्यकर्म में शुमार हैं। रिश्वत लेना, अधिक कर ले लेना आदि सब बलात् चौर्य कर्म हैं। घातक चौर्य कर्म में चोर चोरी ही नहीं करता, वह हत्या भी कर देता है, गला घोंट कर किसी से गहने छीन लेता है। हत्या करके उसके पास से जो भी मिल जाए, ले लेता है।

ये सब चौर्यकर्म प्रत्यक्ष हैं, जो आम आदमियों की नजरों में चोरी कहलाते हैं। इन सबसे बचना अस्तेय या अचौर्यव्रत है। ये सब चोरियाँ मालिक की असावधानी से होती हैं।

अर्थ, नाम, उपयोग और उपकार इन चार चीजों की संसार में चोरियाँ होती हैं। अर्थचोरी को तो सभी चोरी कहते हैं, जिसमें धन, साधन या अन्य पदार्थ की चोरी उपर्युक्त सभी ढंगों से की जाती है।

नामचौर्य

नाम चोरी भी चोरी में शुमार है। दूसरे के द्वारा किये गए सुन्दर काम अपने नाम से प्रगट करना नामचोरी है। थोड़ा-बहुत कुछ बदल कर अपने नाम की उस पर छाप लगा देना भी इसी चोरी के अन्तर्गत है। किसी कवि, लेखक या वक्ता के लेख को या भावों को लेकर उस पर अपना रंग चढ़ा कर अपना ही बताना भी नामचोरी है। शास्त्र या ग्रन्थ के भावों को या आशयों को पलटना या छिपाना भी चोरी और असत्याचरण दोनों हैं। दूसरों की निन्दा-चुगली करके दूसरों के दोष बताकर अपना बड़प्पन या महत्त्व प्रगट करना भी नामचोरी है। दूसरे के नाम पर लायी हुई या संस्था के जिस काम के लिए अर्थराशि आई हो, या जिस संस्था के नाम से आई हो, उसका स्वयं उपभोग करना, संस्था में दूसरे कार्य में या दूसरी संस्था में उस धन का उपयोग करना भी नामचोरी है। इसी आशय की एक शास्त्रीय गाथा है, जो इस प्रकार के चौर्यकर्म का स्पष्ट निषेध करने के साथ उसका दुष्परिणाम भी बताती है—

"तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे।
आयार भावतेणे य कुव्वइ देवकिव्विसं।"

जो व्यक्ति तपस्या का चोर है, वचन या वय का चोर है, रूप का चोर है, तथा आचार और भावों का चोर है, वह दूसरों के यह पूछने पर कि आप ही तपस्वी हैं ? धन्य है आपके तप को ! अथवा ये वचन आपके हैं ? ऐसे उत्तम वचनों से मेरा

मस्तक आपके प्रति श्रद्धानत है, आप ही तरुण तपस्वी हैं। आप ही साधु या श्रावक हैं, धन्य है आपको ! आपका आचार-विचार बहुत उत्तम है। मैं आपके सरीखा आचार वान किसी को नहीं मानता, अथवा ऐसे उन्नत विचार या भाव आपके ही हैं, आप ही ऐसे क्रान्तिकारी विचार को प्रकट करते हैं, इस प्रकार तप, वचन या वय, रूप, आचार और भाव (विचार) के सम्बन्ध में प्रशंसात्मक शब्द कहने या पूछने पर अपनी स्थिति छिपाना या स्पष्ट न करना अथवा प्रशंसात्मक शब्दों के सहारे यश लूट लेना नाम-चोरी है। ऐसी नामचोरी करने वाला व्यक्ति साधुवेश में हो या श्रावकवेश में, स्पष्टतः चोरी करता है।

उपयोग चौर्य

तीसरा चौर्यकर्म उपयोगचौर्य है। उपयोग चौर्य के तीन चार पहलू हैं, उन्हें समझ लेना अत्यावश्यक है। पहली उपयोग चोरी तो यह है कि वस्तु दूसरे की हो, उसकी बिना सम्मति के लेकर उसका उपयोग करना शुरू कर दिया। कई लोग किसी व्यक्ति या संस्था की चीज का उस व्यक्ति या संस्था से बिना पूछे या अनुमति लिये बिना ही उपयोग करते रहते हैं। वे सोचते हैं कि उस व्यक्ति या संस्था को पता नहीं है, इसलिए कौन देखता या पूछता है, मजे से निजी काम में उसका उपयोग करो। परन्तु ऐसा करना उपयोगचोरी है। वह व्यक्ति या संस्था मांगेगी, तब चीज लौटा देंगे। पहले क्यों लौटाएँ ? ऐसा सोच कर उस चीज का बेधड़क इस्तेमाल करते रहना उपयोग चोरी है। कोई चीज उस व्यक्ति या संस्था से बिना पूछे ले ली है, किन्तु काम पूरा हो जाने के बाद वापस लौटा देंगे, यह सोचकर उपयोग करते रहने पर भी उपयोग चोरी का दोष तो लगेगा ही।

लोग प्रायः यह भी मानते हैं कि मांगी हुई वस्तु समय पर यानी काम पूरा हो जाने के बाद लौटाते नहीं तो यह चोरी नहीं है। कई लोग प्रामाणिकता से यहाँ तक मानते हैं कि हमारा काम तो पूरा हो गया है, लेकिन जिससे वस्तु लाए हैं, वह जब तक वापिस मांगता नहीं, तब तक क्यों दें ? उसे जरूरत पड़े और वापस मांगे तो हम तुरंत लौटा दें। अपने पास रख लेने का हमारा इरादा नहीं है, लेकिन जब तक उसे उस वस्तु की जरूरत न पड़े, तब तक हमारे पास ही पड़ी रहे तो क्या हर्ज है ? लेकिन शास्त्रीय दृष्टि से यह भी उपयोगचोरी है। क्योंकि जब उन्हें उस वस्तु की जरूरत नहीं रही, तब उसे अपने पास क्यों रखी जाय ? भले ही मांग कर लाये हों, किन्तु बिना जरूरत के मांगते हैं और अपने पास रख लेते हैं तो वह चोरी ही है।

इस विषय में एक वैचारिक पहलू और है, वह यह है कि वस्तु चाहे मांग कर लाते हों या खरीद कर लाते हों, जिन्हें जिस वस्तु की आवश्यकता न हो, बिना जरूरत के वह वस्तु लेना भी चोरी है। अस्तेय का इस व्यापक और गहरे अर्थ पर विचार करने पर प्रतीत होगा कि पेट भरने और तन ढंकने के लिए जरूरत हो, उससे अधिक संग्रह करना भी चोरी है, क्योंकि जब मनुष्य आवश्यकता से अधिक संचय करता है,

या उपभोग करता है तो उस वस्तु की कमी होने से दूसरे को हानि पहुँचती है। वह चीज दूसरे को नहीं मिलती, इसलिए दूसरे के अन्तराय भी लगाती है। जैसे किसी को दो जोड़ी कपड़ों की जरूरत है, उसके बजाय वह बीस जोड़ी कपड़े रखे तो इससे दूसरे ५-७ आदमियों को वस्त्रहीन रहना पड़ेगा।

ली हुई वस्तु यदि वापस नहीं लौटाते हैं तो चोरी का दोहरा दोष हो गया। यहाँ तो बिना सम्मति के लेने की बात है। यद्यपि चार डाकुओं के समान चोजों को चुराने का जिक्र यहाँ नहीं है, उपयोग हो जाने के बाद वापिस लौटाने की नीयत से ही लेने की बात है, तथापि बिना सम्मति के लेने पर चोरी का दोष लग ही जाता है। यहाँ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि सम्मति के साथ लेने पर भी यदि वह चीज वापस लौटाई नहीं जाती, उसके बारे में विस्मृति हो जाती है, या अनुपयोगी समझकर फैंक दी जाती है, तो भी वह चोरी का दोष गिना जाएगा। अस्तेयव्रत की भाषा में वह चोरी ही मानी जाएगी।

मान लो, घर की ही वस्तु है। फिर भी घर के अन्य सदस्यों को ज्ञात न हो, इस नीयत से आँख बचाकर उनकी अनुपस्थिति में या उनकी असम्मति में घर का कोई व्यक्ति उसका उपयोग करता है, तो यह भी उपयोग चोरी है। एक घर का नौकर है, वह दूसरों की नजर बचाकर या कहीं मालिक की असावधानी से रखी हुई चीज को उठाकर अपनी जेब के हवाले करता है, अपने घर जाकर उसका उपयोग करता है; भले ही मालिक को उस पर शक न हो या पता न लगे, वह भी एक प्रकार से उपयोगचोरी ही है।

असल में, ऐसा व्यक्ति घर का सदस्य ही क्यों न हो, मगर दूसरों की नजर बचाने की नीयत पैदा हो जाती है, तो यह चोरी ही है। घर की वस्तु के समान ही कुटुम्ब और समाज की वस्तु के उपयोग के बारे में समझ लेना चाहिए। सामूहिक जीवन में अक्सर ऐसा होता है। सामूहिक वस्तुओं का उपयोग सबको समानरूप से करना होता है, बीमारी या किसी आपवादिक कारण की बात अलग है। इसलिए वस्तुओं के सामूहिक उपयोग में चुनाव या निजी पसंद का मौका कम ही आता है। इसलिए कुछ लोग, खासकर जिनके जिम्मे व्यवस्था का भार होता है, वे अपने लिए अच्छी चीज सुरक्षित करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु जब तक समूह के लोग उसके लिए सम्मत न हों, वह एक तरह से चोरी है। होना तो यह चाहिए कि व्यवस्थापक स्वयं अपने लिए उस चीज का कम से कम उपयोग करे, दूसरों या जिनको अधिक जरूरत है, उन्हें देने का प्रयत्न करे। परन्तु वे ही आग्रह करके दे दें तो व्यवस्थापक अच्छी चीज ले सकता है। यही बात कार्य के सम्बन्ध में है। व्यवस्थापक अपने जिम्मे अधिक काम लेता है, दूसरों पर अधिक काम का बोझ नहीं डालता, तब तक तो ठीक है, किन्तु वह अपने जिम्मे के काम का अधिक भार दूसरों पर डालने का प्रयत्न करता है, यह भी एक प्रकार से चोरी है। वास्तव में समूह का कल्याण इसी में है कि

व्यवस्थापक आदि ऊपरी वर्ग के लोग अपना वैयक्तिक जीवन पवित्र, सादा तथा उत्तरदायित्वपूर्ण निभाएँ; सर्वसाधारण की अपेक्षा अधिक काम करें।

उपयोग चोरी का एक पहलू यह भी है कि व्यक्ति को जो कुछ बुद्धि, धन, या अन्य शक्तियाँ समाज से प्राप्त हुई हैं, उनको न तो वह अपने उपयोग में लेता है, न समाज के पुण्यकार्यों में खर्च करता है, न वह परिवार के आश्रितों के लिए खर्च करता है या उपयोग करता है तो वह समाज एवं परिवार का हक मारता है। अतः दूसरे का हक मारने के कारण यह भी एक प्रकार की चोरी है। इस प्रकार की उपयोग चोरी करने वाला कृपण होकर सदा अशान्त रहता है, निरर्थक कष्ट सहता है, आर्त्त रौद्र ध्यान में ग्रस्त रहता है।

उपयोगचोरी के साथ एक बात विचारणीय है, वह यह है कि किसी को कोई चीज रास्ते में पड़ी मिली। उसका मालिक कौन है ? इसका पता नहीं चला। वह व्यक्ति उठाकर उसे बतौर अमानत अपने पास रख लेता है, किन्तु उसका उपयोग नहीं करता। वह वस्तु जो मिली है, चाहे छोटी या बड़ी कीमती हो या तुच्छ-अल्प मूल्य, अगर वह उसके मालिक को खोजने की फिराक में रहता है, तब तक उसे चोरी नहीं कहा जा सकता, परन्तु अगर कुछ दिनों तक प्रयत्न करने के बाद भी उस वस्तु का असली मालिक न मिलने पर वह उसे अपने पास उस चीज को नही रखता है तो भी चोरी नहीं मानी जा सकती। परन्तु मालिक न मिलने के बावजूद भी वह उस वस्तु को अपने पास आग्रहपूर्वक या आसक्ति पूर्वक रखता है तो वह चोरी में परिगणित होगी। उसे पास के ही किसी थाने में जमा करा देना चाहिए, या सार्वजनिक संस्था के संचालक के हवाले कर देना चाहिए। मतलब यह है कि व्यक्ति की नीयत उस वस्तु को अपने अधिकार में करने की न होनी चाहिए। इस दृष्टि से जब तक मालिक का पता न लगे, तब तक वह उस वस्तु को अपने पास भले ही रखे लेकिन मालिक का पता लगते ही उसे उसकी वस्तु को सौंपने के बजाय अपने पास अपने लिए रख लेना चोरी में शुमार होगा।

प्राचीनकाल में तो भारतवर्ष में इस प्रकार के अस्तेय का पालन खासतौर से होता था कि मार्ग में पड़ी हुई कोई चीज मिल जाती तो उसे कोई उठाता नहीं था। अगर उठाता तो उसके मालिक को ढूँढ़कर उस चीज को सौंप देता था। परन्तु इन वर्षों में भारत में एक प्रकार से ईमानदारी का दुष्काल-सा हो गया है कि बहुत ही इने गिने ईमानदार आदमी मिलते हैं। परन्तु विदेशों में आज भी प्रचुर मात्रा में ईमानदार आदमी मिल जाते हैं, जो रास्ते में पड़ी हुई चीज को उसके असली मालिक को ढूँढ़कर देने का प्रयास करते हैं।

एक अमेरिकन प्रवासी यूरोप की यात्रा करने के लिए निकला। उसने साथ में एक केमरा भी लिया था। वह जब स्विट्जरलैंड पहुँचा तो वहाँ के प्राकृतिक दृश्य देखकर उनके फोटो लिये। वापिस लौटते समय पेरिस में अपने एक मित्र के यहाँ

ठहरा। मित्र की मोटर में बैठकर वह पेरिस की सैर करता रहा। जहाँ भी रमणीय दृश्य देखे, अनेक फोटो लिये। वहाँ से वह लंदन गया। लंदन में अपना केमरा संभाला तो केमरा गुम! बहुत ढूंढ़ने पर भी केमरा न मिला। केमरे पर कोई नाम-पता भी न था। इसलिए अगर किसी को वह मिलता तो भी किसको, कहाँ भेजता? इंग्लैंड पहुँचकर उसने पेरिस में अपने मित्र को पत्र लिखा, उसमें केमरे खो जाने की बात लिखी। मित्र ने पत्र पढ़ते ही तुरन्त जवाब दिया—'तुम्हारा केमरा मिल गया है। वह दो रोज बाद तुम्हें दे जाएगा। तुम वहीं रहना।' दो रोज बाद पार्सल से भेजा हुआ केमरा मिल गया। मित्र ने अपने पत्र में केमरे के मिलने का सारा वृत्तान्त विस्तार से लिखा था। केमरे में लिए हुए फोटो में से एक फोटो का इन्लार्ज करने पर मोटर के नम्बर से केमरे का पता लग गया। फिर उन्होंने थाने में उसे जमा करा दिया, वहाँ से तुम्हें भेजा गया।

यह है कुछ विदेशियों की ईमानदारी कि वे रास्ते में पड़ी हुई चीज को स्वयं अपने उपयोग में न लेकर या स्वयं कब्जा न करके उसके असली मालिक का पता लगाकर सौंप देने की वृत्ति!

उपकार चोरी

चौर्यकर्म का चौथा प्रकार है—उपकार चोरी। जो व्यक्ति किसी के द्वारा किये हुए उपकार को भूल जाता है, बल्कि अपने उपकारी को बदनाम करता है, या अन्य प्रकार से अपकार करता है, वह कृतघ्न उपकार चोर है। वस्तुतः जब मनुष्य के पास धन हो जाता है या सुख के साधन बढ़ जाते हैं, तब अहंकारवश वह अपने पूर्व उपकारी का नाम छिपाता है, कोई पूछता है कि आपको यह कार्य किसने सिखाया? अथवा आपने यह मंत्र किससे सीखा? तब वह उत्तर देता है—"यह तो मैंने अपने आप सीखा है, अथवा इस मंत्र की मैंने स्वयं साधना की है। भगवद्गीता में भी स्पष्ट कहा है—

'तैर्दत्तान्नप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः'

समाज के अमुक-अमुक लोगों से लेकर बदले में कुछ भी न देकर जो अकेला सब चीजों का उपयोग करता है, वह स्तेन (चोर) ही है।

इसके अतिरिक्त चोरी के और भी अनेक प्रकार हैं, जिनसे प्रत्येक व्यक्ति को बचना चाहिए।

विनिमय चोरी

विनिमय चोरी व्यापार-धन्धे से खास सम्बन्धित है। यह चोरी विशेषतः नाप और तौल में गड़बड़ से, वस्तु में मिलावट से, एक चीज दिखाकर दूसरी घटिया किस्म की चीज देने से, अथवा चीजों के दाम दुगुने, ड्योढ़े बढ़ाकर कहने से होती है।

आजकल इस प्रकार की चोरी बहुत अधिक प्रचलित है। जो व्यक्ति सेंध लगा कर या डाका डालकर चोरी करते हैं, वे तो शीघ्र गिरफ्तार किये जा सकते है, मगर ऐसे विनिमय चोरों को गिरफ्तार करना बड़ी टेढ़ी खीर है।

मिलावट की समस्या इन दिनों भयंकर रूप धारण कर रही है। खाद्य पदार्थों तथा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं में मिलावट करना आज आम बात हो गई है। यद्यपि घटिया और बढ़िया चीजें तो बाजार में सदा से बेची जाती थीं, और कुछ चीजें, जो बहुत महँगी होती थीं, नकली बनाकर भी बेची जाती थीं। जैसे कपूर, केसर, कस्तूरी वंशलोचन आदि। परन्तु इस समय प्रायः सभी चीजों में नकलीपन की बाढ़-सी आ गई है। नमक जैसी वस्तुओं में भी पत्थर का चूरा, मिट्टी आदि हानिकर वस्तुएँ डाल दी जाती हैं, जिसकी शिकायत गृहणियाँ बार-बार करती रहती हैं।

इसी प्रकार आटा, चीनी, घी, तेल, पिसे हुए मसाले, चाय आदि प्रतिदिन के इस्तेमाल की चीजें हैं, जिनके खरीदे बिना गृहस्थी का काम नहीं चल सकता, उन सब में ऐसी मिलावट की जा रही है, जिसका पता प्रकट में नहीं चलता, पर व्यवहार में लाने पर उनमें कई तरह के दोष मालूम पड़ने लगते हैं। आटे में गेहूँ के साथ जौ, मक्का, ज्वार आदि मिला देना तो सामान्य बात हो गई है। लोग उसे घटिया किस्म का आटा मानकर काम में भी लाते हैं। चीनी और बूरे में भी सीरा और सज्जी आदि हानिकारक पदार्थ मिलाये जाते हैं। लाल मिर्चों में गेरू, हल्दी में पीले रंग की मिट्टी, धनिये में जानवरों की लीद, अमचूर में लकड़ी का बुरादा, काली मिर्चों में पपीते के बीज, जीरे में सींकों से निकलने वाला फूहड़, हींग में उर्द का आटा आदि की मिलावट करना भी आम बात हो गई है। एक ओर तो इन सब चीजों का भाव पहले से दुगुना चौगुना कर दिया गया है, फिर ऊपर से ऐसी निकम्मी और हानिकारक चीजों की मिलावट, इस प्रकार दुहरी बेईमानी से ग्राहक को लूटना, एक बहुत बड़ी चोरी और अनैतिकता है।

दूध, दही, घी आदि ऐसे पदार्थ हैं, जो भारत में निरामिषभोजियों में शक्ति-वर्द्धक साधन माने जाते हैं। दूध तो बच्चों और बीमारों के लिए अनिवार्य खाद्य पदार्थ है। पर उसमें इतनी मिलावट की जाता है कि आजकल शुद्ध दूध मिलना दुर्लभ हो गया है। दूध में पानी मिलाने की बात तो सुनते थे, पर अब उसे गाढ़ा करने के लिए अरारोट, सिंघाड़े का आटा और सपरेटा मिलाकर बेचने का काम जोरों पर है। दूध में से मक्खन निकाल कर उसका पूरा दाम वसूल कर लेना और फिर उसमें से फेंक दिये जाने वाले पदार्थ को भी ज्यों का त्यों अथवा असली दूध में थोड़ा-बहुत मिलाकर रुपया बारह आना सेर बेच देना भी मामूली काम हो गया है। यों वह दूध चिकनाई की दृष्टि से सर्वथा निःसार हो जाता है।

एक बार तो समाचार पत्र में यह समाचार छपा था कि इलाहाबाद के किसी इन्कमटैक्स अधिकारी ने एक बड़े हलवाई की आमदनी का पता लगाने के लिए उसके

बहीखातों की जाँच की तो उसमें कहीं सौ रुपये के ब्लाटिंग पेपर खरीदने का भी हिसाब मिला। अधिकारी ने पूछा—'क्या आपने स्टेशनरी बेचने का भी व्यवसाय कर रखा है ? जिसके लिए ब्लॉटिंग मंगाया जाता है ? तब उसे बतलाया गया कि अधिकांश लोग दूध पर कड़क मलाई की माँग करते हैं, इसलिए दूध पकने पर उस पर एक पतला ब्लॉटिंग डाल दिया जाता है, जो थोड़ी देर में फूलकर असली मलाई के साथ मिलकर मोटी मलाई-सा दिखाई देने लगता है। इस घटना से यह रहस्य खुल गया कि मिलावट करने वाले कैसी-कैसी अखाद्य वस्तुएँ लोगों के पेट में पहुँचा देते हैं।

और तो और अब तो दवाइयों में भी मिलावट करके असली के दाम में बेची जाती हैं। सीबाजोल जैसी चीजें अब रोगी पर कोई असर नहीं करतीं। जो दवाइयाँ जीवन-रक्षा के लिए काम में ली जाती थीं, उनका भी सर्वसाधारण को कोई भरोसा नहीं रह गया है। डाक्टरों द्वारा नुस्खे में लिखी हुई पेटेंट दवाइयों और इंजेक्शनों में भी नकलीपन की बाढ़ आ गई है। रोगी के प्राण संकट में हों, उस समय डाक्टर कोई विशेष इंजेक्शन या केपसूल लाने को कहे और ये बेईमान दूकानदार पूरा मूल्य लेकर भी खरीददार को कोई निःसार पदार्थ या पानी से भरी शीशी दे दें, जिसका प्रयोग करते ही बीमार की जीवन-लीला समाप्त हो जाय तो बताइए कितना भयंकर अपराध है, उस दवा विक्रेता का ? इस प्रकार निर्दोष व्यक्तियों की जिंदगी के साथ खिलवाड़ करना निःसन्देह घातक चोरी है। कुछ वर्षों पूर्व पटना में एक नकली दवा बनाने का कारखाना पकड़ा गया था, जिसमें लाखों रुपयों की ऐसी नकली दवाइयाँ थीं, पर अपराधी रिश्वत दे-दिलाकर छूट गए। वास्तव में यह एक बहुत बड़ा विश्वासघात का काम है। एक तो इंजेक्शनों की चिकित्सा बड़ी खर्चीली है, फिर ये दूकानदार नकली दवा और इंजेक्शन देकर रोगी के परिवार की आशाओं पर पानी फेर देते हैं। यह भयंकर दुष्कर्म है।

घटिया चीजों को देखने में आकर्षक और विशेष सुन्दर बनाने के लिए जो उपाय काम में लिए जाते हैं, वे जन-साधारण के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक और धोखा देने वाले सिद्ध हुए हैं। उदाहरण के तौर पर मिठाइयों में तरह-तरह के रंग डालना, आइसक्रीम को रंगीन करना, शर्बतों में रंग मिलाना, हल्दी को पीले रंग में रंग देना, मिर्च को लाल रंग से रंगना आदि रंगों में शीशे के कुछ अंश मिश्रित होने के कारण स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुए हैं। इनसे अनेक बार लकवा आदि रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। आजकल बाजार में बिकने वाले सुगन्धित तैल इतने बनावटी होते हैं कि उन्हें निर्गन्ध मिट्टी के तेल और एसेंस से बनाए जाते हैं, जो भयंकर हानिकारक हैं।

मिलावट की सुरसा का कहाँ तक वर्णन करें, जहर तक में भी यह पहुँच चुकी है। अखबारों में एक दिलचस्प घटना प्रकाशित हुई थी कि किसी व्यक्ति ने सांसारिक

झंझटों से ऊब कर आत्म-हत्या करने का विचार किया। इसके लिए वह बाजार से कोई विष खरीद लाया, जिसे खाकर रात्रि को सो गया। वह निश्चय करके सोया था कि आज रात को मेरी जीवन-लीला समाप्त हो जाएगी, पर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब दूसरे दिन प्रातःकाल वह भला चंगा उठ खड़ा हुआ। उसे यकीन हो गया कि इस जमाने में जहर का शुद्ध मिलना भी असम्भव-सा हो गया है।

सरकारी कर्मचारी या अधिकारी मिलावट की रोकथाम करने के लिए नियुक्त किये जाते हैं, इसकी विशेष जांच करने के लिए गुप्तचर और इन्सपेक्टर भी नियत किये जाते हैं, पर नतीजा बहुत कम आता है। दस-बीस व्यक्ति पकड़े भी जाते हैं, तो उन्हें कुछ अर्थदण्ड और कुछ महीनों की कारावास की सजा देकर छोड़ दिया जाता है रिश्वत देकर भी कई चालाक लोग छूट जाते हैं। यह कार्यवाही तो प्यास मिटाने के लिए ओस की बूंद चाटने के समान है। ऐसी छुटपुट कार्यवाहियों से मिलावट का दौर कैसे रुक सकता है ? प्रथम तो सरकारी कर्मचारियों में भी भ्रष्टाचार का बोलबाला हैं। वे सैकड़ों मामलों को रिश्वत लेकर छोड़ देते हैं। एकाध को कभी थोड़ा-बहुत अर्थदण्ड देना भी पड़े तो उसे हजारों रुपये प्रतिमास की आय में से सो-दो सौ रुपये देने भी पड़े तो वह घाटे की चिन्ता नहीं करता।

जूट एवं रुई आदि में भी पानी मिलाकर उनका वजन बढ़ा दिया जाता है और इस प्रकार व्यापारी लोगों द्वारा अनैतिक कमाई की जाती है। पर यह सब विनिमय चोरी, व्यापारी स्वयं चाहे, तभी मिट सकती है।

महात्मा गांधीजी के विचारों में रंगे हुए श्री जमनालाल जी बजाज रुई के व्यापारी थे। उनकी गांठें भी विदेशों में जाती थीं, परन्तु भारत के माल में विदेशी व्यापारियों को पानी मिलाने की शंका होने से वे रुई के दाम कम लगाते थे। जमना लाल जी बजाज को जब इस बात का पता लगा तो उन्होंने अपने मुनीमों से कह दिया कि हमारी रुई की गांठों पर जिनमें पानी डाला गया हो 'W' का मार्का लगाकर भेजो और बिना पानी मिली गांठों पर ऐसा कोई मार्का न लगाओ।" मुनीमों ने कहा— "इससे तो दाम बहुत कम आएँगे। ऐसा क्यों किया जाय ?" जमनालालजी ने कहा— इसकी चिन्ता मत करो। जिसे बढ़िया माल खरीदना होगा, वह ऊँचे भाव में लेकर खरीदेगा। जिसे घटिया माल लेना होगा, वह कम दाम देगा, हम अपनी ईमानदारी क्यों खोएँ।" मुनिमों ने सेठ की बात मानकर ऐसा ही किया। जब जमनालाल जी की रुई की गांठें विदेश में पहुँचीं तो व्यापारी जगत् में तहलका मच गया। पहले तो उन्हें विश्वास नहीं हुआ कि भारत का माल इतनी बढ़िया क्वालिटी का हो सकता है, परन्तु उन्होंने स्वयं गांठों की जाँच कराई, तब प्रसन्न होकर बिना भीगे माल को ऊँचे भावों में खरीदा। उसके बाद जमनालाल जी की साख इतनी जम गई वे पानी मिली हुई गांठें भेजना तो बंद कर दिया, बिना पानी मिली बढ़िया रुई की गांठें भेजते, वह उनके विश्वास पर ऊँचे भावों में खरीद ली जाती।

इसलिए विनिमय चोरी का मूल-आधार व्यापारी है, वह चाहे तो स्वयं इसे बंद कर सकता है।

परन्तु आजकल तो बड़े-बड़े लखपती लोगों द्वारा भी यह मिलावट का धंधा अपनाया जा रहा है। कानपुर में कई स्थानों पर नकली सीमेंट पकड़ा गया। गुप्तरूप से कई जगह ऐसी चक्कियाँ लगाई गई थीं, जिनमें काली मिट्टी को बहुत बारीक पीसा जाता था। आधी सीमेंट और आधी मिट्टी मिलाकर, उसे थैलों में भरकर मुहर आदि लगाकर बड़े ऊँचे दामों में बेचा जाता था, पुलिस भी कई बार पता नहीं लगा सकती, ऐसे नकली माल बनाने वालों का।

सोने-चांदी आदि बहुमूल्य धातुओं में तो सदा से मिलावट होती आई है। पर पहले जहाँ रुपये में दो-चार आने भर मिलावट होती थी, वहाँ अब रुपये में दस-बारह आना भर मिलावट करने में भी कोई संकोच नहीं किया जाता। दूकानदार लोग जो पैरों के तोड़िया, बिछियाँ, कानों के इयररिंग, अंगूठी आदि छोटे-छोटे गहने बने हुए बेचते हैं, वे खरीदते समय तो बहुत चमकते हैं, लेकिन बाद में बिलकुल काले पड़ जाते हैं। पर ये कितने ही जेवर असली चांदी के जेवरों की तरह पूरे दामों में ही बेचे जाते हैं।

रिश्वत और घूसखोरी की वृद्धि : चोरी का भयंकर रूप

इससे भी बढ़कर चोरी का भयंकर रूप है—सरकारी कर्मचारियों द्वारा घूंस, रिश्वत आदि। हर सरकारी महकमे में रिश्वतखोरी और घूसखोरी का बाजार गर्म है। पुलिस विभाग, न्यायालय, रेलवे विभाग आदि तो रिश्वतखोरी में पूरी तरह डूबे हुए हैं। हर जगह पद-पद पर दक्षिणा लेने वाले बैठे हैं। बिना दक्षिणा लिये वे कोई कार्य ही नहीं करते। वे सरकार से चाहे वेतन लेते हों, पर उन्हें इस ऊपरी आमदनी की चाट इतनी लग गई है कि कोई भला ईमानदार व चरित्रवान कर्मचारी या अधिकारी इनके साथ टिक ही नहीं सकता। उसे तो ये कोई न कोई इलजाम लगाकर उखाड़ फेंकते हैं या उसका तबादला करा देते हैं। रेलवे माल गोदामों के कई बाबू तो अपनी तनख्वाह से दुगुनी रकम तक घूस द्वारा प्राप्त कर लेते हैं। जब किसी चीज को अधिक मात्रा में भेजने के लिए मालगाड़ियों के वैगनों की जरूरत पड़ती है, तब तो ये बाबू लोग प्रति वैगन सौ-पचास रुपया तक अपना कमीशन वसूल कर लेते हैं।

बाजार के साधारण व्यापारी तो जो जानते हैं कि बिना कुछ दिये लिये उनका काम जल्दी और ठीक तरह से न हो सकेगा, मजदूरों के मारफत प्रत्येक बिल्टी के पीछे बंधा हुआ चार-आठ आना, भेज देते हैं। पर जब कभी सरकारी लोगों से ही काम अटक जाता है तो झगड़ा पैदा हो जाता है। कुछ वर्षों पूर्व दिल्ली के किसी सरकारी महकमे को कुछ दवाइयाँ बाहर भेजनी थीं। दफ्तर का आदमी कई बार मालगोदाम गया, पर उसे वापस खाली लौटना पड़ा। काम जरूरी था और बड़े अधिकारियों की ओर से उसे जल्दी पूरा करने की ताकीद भी थी। अतः विवश होकर उस विभाग का

सर्वोच्च अधिकारी स्वयं स्टेशन पर गया और उसने स्टेशन मास्टर से इसकी शिकायत की। उसे सरकारी हुक्म भी बतलाया। स्टेशन मास्टर ने उसे स्पष्ट कह दिया कि मालगाड़ी के डिब्बे किसी व्यक्ति या संस्था को निर्धारित कमीशन लिए बिना नहीं दिये जाते, चाहे वह सरकार ही क्यों न हो। क्योंकि यह रकम किसी एक कर्मचारी की नहीं होती, वरन् दूर-दूर के लोगों का भी उसमें हिस्सा होता है। अगर मैं आपके कहने से इस माल को यहाँ से बिना कुछ लिए भिजवा भी दूँ तो आगे चलकर इस तरह रोक दिया जाएगा कि काम समय पर नहीं हो सकेगा।" कहा जाता है, वह मामला बड़े सरकारी मंत्रियों के पास भी पहुँच गया, पर कोई भी इस सम्बन्ध में प्रभावशाली कदम न उठा सका।

इसी प्रकार अदालतों में किसी सम्पत्ति या लेन-देन की रजिस्ट्री कराने के अवसर पर प्रति सैकड़ा कुछ कमीशन लेने का नियम बना दिया गया है, और बड़ी सम्पत्ति की रजिस्ट्री के मामलों में तो क्लर्क और अफसर सैकड़ों रुपया वसूल कर लेते हैं।

एक जानकार ने तो एक बार इसकी चर्चा उठाने पर बतलाया था कि रजिस्ट्री कार्यालयों में तो रिश्वत की यह प्रथा इतनी जड़ जमा चुकी है कि वहाँ छोटे-बड़े किसी का काम बिना लिये-दिये हो सकना असम्भव है। नियत दस्तूरी अदा किये बिना किसी का भी काम नहीं हो सकता।

दो-चार नहीं प्रायः सभी सरकारी महकमों की ऐसी ही गति है। उद्योग-धन्धों के विस्तार, व्यापारिक प्रतिबन्धों, कन्ट्रोल, लायसेंस आदि की प्रथा के कारण जन-जीवन में सरकारी कर्मचारियों का हस्तक्षेप बहुत बढ़ गया है। पचासों जीवनोपयोगी पदार्थों के लिए सरकार से लायसेंस लेना पड़ता है। चीनी, सीमेण्ट, मिट्टी का तेल, लोहा, कोयला, जैसे सामान्य पदार्थों के लिए परमिट की प्रायः आवश्यकता रहती है। इन सब कारणों से सरकारी कर्मचारियों के अधिकार और शक्ति पहले की बनिस्पत काफी बढ़ गए हैं। इसीलिए घूसखोरी दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। शासन के मुख्य संचालनकर्ता इन सब बातों से भलीभाँति परिचित भी हैं, इन्हें रोकने के लिए भ्रष्टाचार-उन्मूलन विभाग भी कायम किया गया है। लेकिन बड़े चालाक और दुःसाहसी लोगों या गुण्डे-बदमाशों द्वारा उसे छिपाकर लाने का प्रयत्न किया जाता है। कई बार चुंगी विभाग के गुप्तचरों के प्रयत्न से कई तस्करियों का पता लग जाता है। प्रतिवर्ष करोड़ों का सोना और घड़ियाँ आदि माल पकड़ा जाता है। बम्बई, मद्रास, पाँडीचेरी आदि के समुद्रतटों पर अनेक बार तस्करी का सोना और घड़ियाँ आदि अन्य माल कई बार पकड़ा गया है, कई बार तो नाव वाले पुलिस को आते देखकर माल को समुद्र में फेंककर भाग जाते हैं। बड़े-बड़े सरकारी अफसरों की पलियाँ हवाई जहाजों से लाखों रुपयों की घड़ियाँ लाते हुए पकड़ी गई हैं। विदेशों के कई राजदूत भी अपने विशेष अधिकारों का दुरुपयोग करके तस्कर

व्यापार में सहयोग देते पाये गए हैं। यह बेईमानी की प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ी हुई है कि स्वार्थी व्यापारी लड़ाई के समय चोरी छिपे चावल, चीनी, गुड़ और सीमेण्ट नेपाल होकर तिब्बत भेजते रहे और उनके बदले में चीन के बने ट्रांजिस्टर, रेडियो, घड़ियाँ, अफीम आदि वस्तुएँ भारत लाई जाती रहीं। इस तरह के तस्कर व्यापार में नामी बदमाशों के अतिरिक्त कई सरकारी अधिकारियों का भी सहयोग रहता था।

ब्लैक मार्केट या काले बाजार की उत्पत्ति : चोरी का नया रूप

विभिन्न प्रकार के सरकारी कन्ट्रोलों और राशनिंग आदि की प्रथा ने चोरी (चोर बाजारी) से अधिक कीमत पर माल बेचने की वृत्ति में भयंकर वृद्धि की है जिससे जन-भाषा में ब्लैक या काला बाजार नामक नया शब्द जुड़ गया हैं, जिसे ३० वर्ष पहले कोई जानता ही न था। किसी चीज की कमी के कारण जब सरकार की ओर से उसकी कीमत बाँध दी जाती है अथवा उसे लायसेंस लेकर बेचने की व्यवस्था की जाती है तो अनेक व्यापारी उसे छिपे तौर पर अधिक भाव में खरीदने और बेचने लगते हैं। आजकल ऐसी खरीद-बिक्री निःसंकोच की जाती है, यह कहना आम बात हो गई है कि अमुक पदार्थ का कण्ट्रोल दाम तो इतना है, पर ब्लैक में कितने में मिलेगा ? लोग इसप्रकार के गैर कानूनी और दण्डनीय व्यापार में अभ्यस्त हो गए हैं कि न कहने वाले को कोई संकोच होता है, और न सुनने वाले को आश्चर्य होता है। बेईमानी को इस काले बाजार से बहुत अधिक प्रोत्साहन मिलता है, आम जनता भी लूटी जाती है। आम जनता को आवश्यक सामग्री खरीदने में बहुत ही परेशान होना पड़ता है।

इस काले बाजार के काले धन और तस्कर व्यापार की सम्पत्ति से वह तब तक कामयाब नहीं हो सकता, जब तक सरकारी कर्मचारी भ्रष्टता से दूर न हों। यह दुष्प्रवृत्ति घटने के बजाय नित-नये रूपों में बढ़ती ही जा रही है। यह अनैतिकता भी विनिमय चोरी का भयंकर रूप है।

विद्या के पवित्र मन्दिरों (विद्यालयों) में भी रिश्वत और घूंस का बाजार गर्म है। सावनेर (मध्यभारत) में एक ऐसे स्कूल का पता लगा है, जहाँ ६ मास से कोई स्कूल नहीं है, पर शिक्षकों का वेतन बराबर दिया जा रहा है। इसी प्रकार जहानाबाद (गया) में एक आयुर्वेदिक स्कूल की जांच करने पर पता चला कि वह एक फर्जी संस्थान है। परन्तु उसके नाम से कई साल से हजारों रुपया प्रति वर्ष संस्कृत शिक्षा विभाग से वसूल किया जा रहा है। इसी प्रकार वीरपुर शिक्षा केन्द्र (पटना) में प्रान्तीय शिक्षा बोर्ड की परीक्षा देने वालों से खुलकर घूंस ली गई। प्रथम श्रेणी में पास होने की फीस ५००), द्वितीय श्रेणी में ३००) और तृतीय श्रेणी में पास करने की २००) फीस रखी गई थी। प्रश्नों के उत्तर ब्लेक बोर्ड पर लिख दिये गये, जिनकी सारे विद्यार्थियों ने नकल कर ली। फीस के अनुसार पास कर दिये गए। बाद में

सारा भंडाफोड़ हुआ, अतः उस केन्द्र में परीक्षा देने वाले ४७२ परीक्षार्थियों का परीक्षा फल रद्द कर दिया गया।

तस्कर व्यापार : विनिमय चोरी की विभीषिका

सरकारी नियन्त्रणों, अनेक विदेशी पदार्थों पर बहुत अधिक टैक्स, बड़ी आमदनी पर लगाए गये विशेष आयकर आदि ने एक नये प्रकार के व्यापारिक भ्रष्टाचार को जन्म दिया है, जिसे 'तस्कर व्यापार' कहा जाता है।

इसमें बड़े-बड़े करोड़पतियों का हाथ रहता है, जो विदेशों से चोरी से माल मंगाते हैं और उसे बहुत नफे पर इस देश में बेचते हैं। ऐसे पदार्थों में सबसे मुख्य सोना है, जिसकी कीमत भारत वर्ष में अन्य देशों की अपेक्षा लगभग दुगुनी है। इस गहरी असमानता ने बहुत से लक्ष्मीनन्दनों को विदेशों से चोरी छिपे सोना लाकर एक ही रात में करोड़ों रुपये कमा लेने को प्रेरित किया है। चूंकि प्रत्येक समुद्री बन्दरगाह पर सरकारी कस्टम विभाग के कर्मचारी तैनात रहते हैं, जो बाहर से आने वाले माल की तलाशी करते हैं। पर ये तस्कर व्यापारी ऐसी-ऐसी तरकीबें ढूंढते रहते हैं कि जिनसे बहुधा उनकी पकड़ में नहीं आते।

सोना लाने के लिए प्राइवेट नावों, मोटरों, जीपों और हवाई जहाजों तक का प्रयोग किया जाता है। भारतवासी ही नहीं, यूरोप-अमेरीका के बड़े-सेठ लोग बड़ी-बड़ी आलीशान कोठियाँ बनाते हैं, कार खरीदते हैं, अन्य मौज-शौक की सामग्री भी खरीदते हैं। करोड़ों का काला धन तिजोरियों, तहखानों और लॉकरों में घर के अलग-अलग सदस्यों के नाम से रखा जाता है। ऐसे धन को छिपाकर रखा जाता है, जिस पर आयकर भी किसी तरह का नहीं दिया जाता। सरकार ने आयकरके नियम बना रखे हैं, पर ये ब्लैकमार्केट एवं तस्करी के व्यापारी नम्बर दो की अपनी ऊपरी आमदनी को बिलकुल छिपा कर रखते हैं और टैक्स वसूल करने वालों की आँखों में धूल झोंकने के लिए तीन-तीन तरह के हिसाब के रजिस्टर और बहियाँ बना कर रखते हैं। पिछले वर्षों में इस दुष्प्रवृत्ति को रोकने के लिए कई जगह छापे भी मारे गए, लगभग ४०-५० करोड़ के सोने, जवाहरात, नोटों आदि का भी पता लगाया गया, लेकिन फिर भी यह दो नम्बर का धन अभी तक बहुत अधिक मात्रा में लोगों के पास पड़ा है।

इसी प्रकार सड़कों और मकानों आदि के ठेकेदार और अधिकारी मिलकर करोड़ों रुपयों की हेराफेरी करते हैं। कई जगह सरकारी रजिस्टरों में सड़क बनाई हुई बता दी, ठेकेदार को रुपये भी दे दिये गये, पर उस सड़क का अभी तक पता नहीं लगा। कई जगह सड़क या पुल आदि में मेटेरियल बहुत कम, घटिया किस्म का लगाया गया, जो कुछ ही महीनों में टूट-फूट कर साफ हो गए।

देश में फैले हुए व्यावसायिक भ्रष्टाचार को देखते हुए भ्रष्टाचार की रोकथाम के लिए 'सदाचार समिति' 'अध्ययनदल' आदि की स्थापना बहुत ही मामूली कदम

था। 'फिर भी इनकी सूचनाओं के अनुसार देश में काला धन अनुमानतः १० अरब से १०० अरब तक के बीच में माना जाता है, इस परिस्थिति में देश के कुछ लोग तो ऐसे हो गये हैं कि जिनके पास इतना अधिक धन छिपा पड़ा है कि उनकी समझ में भी नहीं आता कि वे उसका क्या करें ? दूसरी ओर कितने ही करोड़ व्यक्तियों के पास एक सप्ताह के लायक खाद्य-सामग्री खरीदने के लिए भी पैसा नहीं है। नतीजा यह होता है कि धनिक लोग तो किसी भी कीमत पर जीवन-निर्वाह की आवश्यक सामग्री खरीद लेते हैं, किन्तु साधारण लोगों को उसकी कमी पड़ने लगती है। उसे हर तरह के अभाव में जीवन व्यतीत करना पड़ता है। अमीर लोग ऐश-आराम, मौजशौक, विदेश यात्राओं तथा सैर-सपाटों में अपना पैसा पानी की तरह बहाते हैं, जबकि गरीब लोगों को खाने के भी लाले पड़ते हैं।

जनता में बेईमानी की प्रवृत्ति

व्यावसायिक एवं मुफ्तखोर लोगों की इस अर्थलोलुपता का प्रभाव साधारण जनता पर भी बहुत बुरा पड़ रहा है। उनमें बेईमानी की प्रवृत्तियाँ दिन पर दिन बढ़ती जाती है। जब जनता यह देखती है कि केवल व्यापारी और उद्योगपति ही नहीं, बल्कि सरकारी कर्मचारी, अधिकारी, बड़े-बड़े देश नेता, मन्त्री तक भी ऐसे गैरकानूनी उपायों से धनोपार्जन करते हैं, भ्रष्टाचारी लोगों की सहायता भी करते हैं, तो वह भी इसी तरफ झुकती है और हर क्षेत्र में कानून की अवज्ञा करके बेईमानी से अपना स्वार्थ सिद्ध करने में कोई बुराई नहीं समझती। जब यह प्रवृत्ति राशनिंग और कंट्रोल के साथ जुड़ जाती है, तो उसके परिणाम और भी विषैले हो जाते हैं। कदम-कदम पर प्रत्येक क्षेत्र में चालाकी, धूर्तता, बेईमानी और असत्य व्यवहार से व चोर-बाजारी से काम चलाया जा रहा है। यह दूषित मनोवृत्ति इस समय देश-व्यापी हो गई है।

एक तत्कालीन केन्द्रीय खाद्यमन्त्री ने बतलाया था कि अकेले कलकत्तानगर में दस लाख जाली राशनकार्ड चल रहे हैं, जिनसे अनाज का बड़ा अपव्यय होता है। राय-बरेली की एक तहसील में चीनी की राशन-दूकान की जांच करने पर पता चला कि जिन उपभोक्ताओं के नाम से चीनी बेची जा रही है, उनमें से अधिकांश मृत या अज्ञात थे, जिनके नाम से प्रति सप्ताह चीनी दी जा रही थी।

इन सब बेईमानी और धूर्तता के कामों को साधारण जनता ही नहीं, सुशिक्षित कहलाने वाले व्यक्ति भी करते हैं। उत्तर प्रदेश के पुलिस विभाग की वार्षिक रिपोर्ट में बतलाया गया था कि कितने ही कालेजों के छात्र और अध्यापक पढ़ते-पढ़ते अब हथियारबन्द डकैतियों में भाग लेने लगे हैं। ऐसे एक दल ने एक कस्बे में पुलिस की तरह खाकी वर्दी पहन कर डाका डाला था। कानपुर में दो अप-टू-डेट पोशाक पहने शिक्षित युवकों ने चुंगी के अफसर का बेश बना कर एक बाहरी व्यक्ति के थैले की तलाशी ली, और उसमें से २८०) रुपये गायब करके भाग गए।

इस प्रकार देश के बड़े और छोटे वर्गों में बेईमानी, हराम की कमाई की प्रवृत्ति दिन पर दिन वृद्धि पर है और हर एक व्यक्ति की यही मनोवृत्ति रहती है कि वह कम से कम परिश्रम में अधिक से अधिक धनोपार्जन कर ले। इस चौर्यकर्म में क्या पाप है? कैसी बदनामी होगी? अथवा देश और समाज की कितनी क्षति होगी? इसका किसी को ख्याल तक नहीं आता। रिश्वत लेने वाले भी ऐसे धृष्ट हो गए हैं कि अफसरों के बार-बार कहने पर भी सुनी-अनसुनी कर देते हैं, काम में ढील करते रहते हैं और जब तक उनको अपनी दक्षिणा नहीं मिलती, कोई न कोई बहाना निकाल कर काम को पूरा नहीं होने देते। दिल्ली कॉर्पोरेशन के एक बड़े अधिकारी ने बतलाया कि उनको किसी मामले की फाइल निकलवानी थी, पर वह कई बार कहने पर भी नहीं निकाली गई। उन्होंने असिस्टैंट इंजीनियर से कहा कि 'फाइल तीन दिन के अन्दर अवश्य निकाल कर उपस्थित की जाय।" असि० इंजीनियर दफ्तर के कर्मचारियों के भेद को समझता था। इसलिए उसने किसी प्रकार का हुक्म देने के बजाय अपने पास से ५ रुपये देकर अपने क्लर्क को रिकार्ड आफिस भेजा। फलतः वह क्लर्क तुरन्त फाइल लेकर आ गया। घूंसखोर कर्मचारियों ने अपने विभाग के इन्जीनियर के साथ भी रियायत नहीं की।

अधिकांश व्यक्ति इस दूषित परिस्थिति का उत्तरदायित्व सरकार पर डालते हैं। यह सच है कि इस प्रकार असत् कार्यों को रोकने का दायित्व सरकार पर है, सरकार के अधीन चलने वाली अदालतों और पुलिस दल पर है। पर साथ ही हमें यह भी ध्यान में रखना है कि सरकारी कर्मचारी किसी दूसरे लोक के जीव नहीं होते। वे भी हमारे भाई, बेटे या सम्बन्धी होते हैं, जो सरकारी कार्यालयों और विभागों का संचालन करते हैं। अतः यदि हम सब लोगों का, समस्त समाज या राष्ट्र का नैतिक आदर्श नीचा है, आचार-विचार निम्न कोटि का है, हम सच्चाई और कर्तव्य की अपेक्षा धन कमाने को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं, तो ऐसी 'सरकार' से इस परिस्थिति के सुधार की अपेक्षा कैसे रखी जा सकती है? यों तो सरकार के बड़े-बड़े अधिकारी अपने नियमों और साधनों के अनुसार इसे रोकने की चेष्टा अवश्य करते हैं और उन्हें कुछ सफलता भी मिल जाती है। पर यह केवल ऊपरी उपचार होता है, रोग की जड़ इससे नहीं कटती। अतः उचित यही है कि केवल सरकार के भरोसे ही न रहा जाय, जनता भी इस विनिमय चोरी को मिटाने में जोरशोर से सामूहिक रूप से जुट जाए।

विभाग चोरी

कई बार व्यक्ति को बँटवारा या विभाग करने का काम सौंपा जाता है, या परिवार वगैरह में व्यक्ति बहुत-सी बार कोई चीज लाता है तो बाँटता है। परन्तु बँटने के समय अपने बच्चों और अपनी पत्नी या अपनों को पक्षपात करके अधिक दे

दिया और दूसरे के (भाई वगैरह के) बच्चों या पत्नी आदि को कम दिया तो यह भी अधिकारहरण होने के कारण चोरी है। अचौर्यवृत्ति वाले गृहस्थ या साधु को अपने-पराये का भेदभाव छोड़कर विभाजन के समय समत्वभाव रखना चाहिए।

बाजार से कोई व्यक्ति मिठाई लाया। बच्चे स्कूल गये हुए हैं, या खेलने में लगे हुए हैं, अतः उनके परोक्ष में चुपचाप मिठाई का दोना अकेला चट कर जाना, भी विभाग चोरी है। बच्चों का उस पर सबसे पहले हक है, उनका हक हरण करके अकेले ही किसी चीज को गटका जाना सचमुच कर्तव्यहीनता है और विभाग चोरी है। कई लोग बाजार में चाट पकौड़ी वाले से चाट आदि लेकर अकेले ही खा जाते हैं। उन्हें अकेले खाना कैसे अच्छा लगता है ? कोई व्यक्ति तो दुष्काल वगैरह के समय भी परिवार को छोड़कर अकेले खाने में हिचकते नहीं हैं।

एक जगह सर्वोदयी बहनों की पदयात्री टुकड़ी पहुँची। उनके पास खाने की चीज कुछ अधिक थी। अतः उन्होंने जहाँ पड़ाव रखा था, वहाँ एक गरीब बहन ने उनकी बहुत सेवा की, अतः उन्होंने उस बहन को बची हुई सारी मिठाई देदी और कहा—"यह लो मिठाई, खालो यहीं।" उसने मिठाई का दोना अपने पास रख लिया, जब पदयात्री बहनों ने उसे खाने का अधिक आग्रह किया एक कौर मुँह में डाल कर बाकी का रख लिया। उसने कहा—"मैं अपने बच्चों को छोड़कर अकेली यह मिठाई नहीं खा सकती।" सचमुच उस बहन में बच्चों के लिए विभाग करके खाने की वृत्ति थी। यही समाजवाद है। समाज में भी सबके हिस्से में थोड़ा-थोड़ा अन्नादि आए, यही नीति होनी चाहिए अन्यथा, विभाग चोरी का दोष लगता है। उपनिषद् में बताया है—

केवलाघो भवति केवलादी

जो अकेला खाता है, वह पाप खाता है, पाप का संग्रह करता है। इसीलिए जैनशास्त्र में स्पष्ट कहा है—

'असंविभागी न हु तस्स मुक्खो'

जो संविभाग नहीं करता, केवल अकेला उपभोग करता है उसको मोक्ष नहीं मिलता।

कर्तव्य चोरी

माता, पिता, संतान आदि परिवार, संस्था, समाज एवं राष्ट्र आदि के प्रति व्यक्ति के विभिन्न कर्तव्य होते हैं। उन कर्तव्यों के प्रति उपेक्षा करना या कर्तव्य से जी चुराना भी कर्तव्य चोरी है। आजकल अधिकांश व्यक्ति अधिकार चाहते हैं। वे अधिकार के लिए संघर्ष करते हैं, आन्दोलन करते हैं, हड़ताल और बन्द करते हैं। लेकिन कर्तव्य के प्रति लापरवाही करते हैं, जो कार्य एक दिन में ही नहीं, एक घंटे में हो सकता है, उसके लिए कई दिन, सप्ताह या महीनों लगा देते हैं। सरकारी

महकमों में यह दीर्घसूत्रता बहुत अधिक पाई जाती है । लालफीताशाही देश की उन्नति में बहुत ही बाधक है। जब तक सरकारी कर्मचारियों की मुट्ठी गर्म न करो, तब तक वे देश और समाज के प्रति अपना कर्तव्य समझ कर कोई भी काम नहीं करते।

एक डाक्टर है, उसका कर्तव्य है कि कोई भी बीमार किसी भी समय आए या देखने के लिए बुलाए तो अन्य सब कार्य छोड़कर तुरन्त वहाँ पहुँचे। झंडु भट्ट सहृदय वैद्य थे। कोई गरीब से गरीब व्यक्ति भी आ जाए तो वे उसे देखने में आनाकानी नहीं करते थे। तुरन्त उसके यहाँ चल देते थे। एक डॉक्टर था। वह अत्यन्त प्रामाणिक एवं कर्तव्यपरायण था। एक दिन वह अपने दवाखाने से घर आकर चाय पी रहा था, तभी एक व्यक्ति अपने रोगी को दिखाने हेतु बुलाने आया । बोला—केस बहुत ही गम्भीर है, इसी समय चलिए।" डॉक्टर चाय अधबिच में छोड़कर तुरन्त चलने को उद्यत हुए। उनकी पत्नी ने कहा—"ऐसी क्या जल्दी है ? चाय पीकर जाइए। पाँच मिनट बाद जाइए।" परन्तु कर्तव्यनिष्ठ डॉक्टर ने उत्तर दिया—जब मुझे रोगी का बुलावा आ गया तब यहाँ एक मिनट भी ठहरना और चाय पीना ठीक नहीं है। अगर मैं रोगी की पुकार सुनकर एक मिनट भी ठहरता हूँ तो कर्तव्य से च्युत होता हूँ।" यों कहकर डॉक्टर उसी समय रोगी को देखने चल पड़ा।

इसी तरह सिपाही एवं सैनिक भी कर्तव्यनिष्ठ होने चाहिए। ज्यों ही रक्षा के लिए बुलावा या पुकार आए तो तुरंत दौड़ कर जाए। अपने प्राण होम कर भी देश की रक्षा करना सैनिक का कर्तव्य है, लेकिन अगर वह देश-रक्षा के लिए युद्ध के मोर्चे पर जाने में आनाकानी करता है तो वह अपने कर्तव्य से च्युत होता है।

व्यापारी, उद्योगपति एवं कारखानेदार आदि के भी देश व समाज के प्रति कुछ कर्तव्य हैं, लेकिन उन कर्तव्यों के प्रति निष्ठा रखने के बदले देश के गद्दार या द्रोही बनकर समाज के प्रति बेवफा बनकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लग जायं तो यह भी कर्तव्यचोरी है।

इसी प्रकार देश व समाज के प्रति वकीलों, अध्यापकों, विद्यार्थियों एवं न्यायाधीशों के भी कुछ कर्तव्य हैं, परन्तु आज ये सब अपने कर्तव्यों को कितने अंशों में निभाते हैं, यह विचारणीय है। इनमें से अधिकांश लोग अपने कर्तव्य-पालन में पीछे ही रहते हैं।

साधु-समाज से भी लोग कर्तव्य-पालन और दायित्व-निर्वाह की आशा रखते हैं। अधिकांश साधु समाज से केवल लेना ही लेना जानते हैं, देने के नाम पर कह देते हैं, साधु को संसार से क्या वास्ता ? कोई मरे, चाहे जीए, हमें तो भगवान् का भजन करना है, या अपना कल्याण करना है। वास्तव में साधुवर्ग गृहस्थ की जिम्मेवारी तथा एक परिवार के भार से मुक्त होकर सारे विश्व का कुटुम्बी बनता है, उस पर छह काया (प्राणिमात्र) के प्रतिपादन की जिम्मेवारी है, षड्जीवनिकाय का वह रक्षक

होता है, प्राणिमात्र का माता-पिता होता है। जब संसार गलत रास्ते पर जा रहा हो, समाज और राष्ट्र में बुराइयाँ पनप रही हों, धर्मसंघ में नीति-न्याय विरुद्ध प्रवृत्ति हो रही हो, उस समय वह उदासीन और निरपेक्ष होकर चुपचाप नहीं बैठ सकता, वह उस उस समाज, राष्ट्र या वर्ग को अपना कर्तव्य निर्देश करेगा, मार्गदर्शन देगा, जहाँ उपदेश की जरूरत होगी, उपदेश देगा, प्रेरणा भी देगा, पर यह सब देगा, अपनी साधुता की मर्यादा में रहकर ही।

सारा संसार कर्तव्य विमुख हो जाय, उत्तरदायित्व से अलग हो जाय, पर साधुवर्ग अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से विमुख नहीं हो सकता। उसे सर्वप्रथम उत्तरदायित्व का निर्वाह करना है। जीवन की अटपटी गुत्थियों को सुलझाने और कर्तव्य जगत् को सत्पथ पर चढ़ाने का उसका दायित्व उसे पूरा करना है। अन्यथा कर्तव्यचोरी होगी! कर्तव्यपालक साहूकार है और कर्तव्यविमुख चोर है। जो अपने दायित्वों और कर्तव्यों से भागता है, वह पलायनवादी है, कायर है, कृपण है।

शक्तिचोरी भी चोरी है

मनुष्य के मन, बुद्धि, इन्द्रिय शरीर आदि में विशिष्ट शक्तियाँ छिपी हैं। कई बार मनुष्य को अपनी शक्ति का अंदाजा नहीं होता। परन्तु बहुत-सी बार कार्य करते करते उसमें बौधिक क्षमता, मानसिक दक्षता, कर्तृत्वकुशलता और शरीर शक्ति बढ़ जाती है। आत्मबल इतना बढ़ जाता है कि स्वयं उसे आश्चर्य होता है, परन्तु इतनी शक्ति होते हुए भी जानबूझ कर उसे छिपाना, शक्ति होते हुए भी स्वयं उस कार्य के करने से जी चुराना दूसरों पर भार डाल देना, स्वयं आलस्य करना, या स्वार्थवश होकर कार्य करने से इन्कार करना, अशक्ति का बहाना करना भी एक प्रकार से चोरी है। आचार्य जिनदास महत्तर ने बहुत ही अनुभवयुक्त बात इस सम्बन्ध में कही है—

संते वीरिए ण णिगूहियव्वं।
संते वीरिए अण्णो ण आणाइयव्वो।

शक्ति होने पर उसे छिपाना नहीं चाहिए। शक्ति होते हुए भी स्वयं न करके दूसरे को आज्ञा नहीं देनी चाहिए।

किसी व्यक्ति में वाणी की महत्वपूर्ण शक्ति है। वह अवसर आने पर उचित सलाह, योग्य मार्गदर्शन न देकर उस शक्ति को छिपाता है, चुप रहता है तो यह ठीक नहीं है। कहा भी है—

रुसऊ मा वा परो मा वा, विसं वा परिअत्तउ।
भासियव्वा हिया भासा सपक्खगुणकारिया॥

दूसरा चाहे रुष्ट हो या तुष्ट, अथवा विषमरूप से ले, साधक को अपने पक्ष में गुणकारी, हितकर भाषा बोलनी चाहिए। जिसमें अपना और दूसरों का हित हो, वह वचन कहना चाहिए।

इसी प्रकार किसी की बौद्धिक शक्ति उर्वरा है। वह सुन्दर एवं तर्कसंगत विचार दे सकता है, उसे अपनी शक्ति स्वार्थवश छिपानी नहीं चाहिए। किसी को उत्तम विचार दे देने से बुद्धि घिस नहीं जाती, बल्कि बार-बार विचार, चिन्तन करने से बुद्धि पैनी और सूक्ष्मतर होती जाती है।

परिवार और समाज से प्राप्त शक्ति को जो मनुष्य छिपाता है, उसे वह शक्ति पुनः प्राप्त नहीं हो सकती। इसके विपरीत जो भी अपनी शक्तियों का खुलकर स्वपरहित में उपयोग करता है, उसकी शक्तियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं। वह लोकवन्द्य व पूज्य बन जाता है। दान देने की शक्ति है तो उसे छिपाओ मत, शील-पालन करने की ताकत है तो पीछे मत हटो, तपस्या करने का सामर्थ्य है तो उससे मुख मत मोड़ो और शुद्ध भावों में विचरण करने की शक्ति है तो उससे विमुख मत बनो। शक्ति को छिपाना ही चोरी है। संसार में कई व्यक्ति ऐसे थे, जो अंगविकल, अंधे, गूंगे और बहरे थे, उन्होंने अपनी शक्ति को छिपाया नहीं, विकसित किया और स्वपरहित में उसका उपयोग किया।

भिक्षाचोरी से बचो

आचार्य हरिभद्रसूरि ने तीन प्रकार की भिक्षा बताई है—

त्रिधा भिक्षाऽपि तत्राद्या सर्वसंपत्करी मता।
द्वितीया पौरुषघ्नी स्याद् वृत्तिभिक्षा तथान्तिमा॥

सर्व सम्पत्करी, पौरुषघ्नी और वृत्तिभिक्षा। जो व्यक्ति अपना घरबार, कुटुम्बकबीला छोड़ कर समाज पर निर्भर रहता है, संयम का पालन करता है। समाज से कम से कम और वह भी सम्मान सहित लेकर बदले में समाज को बहुमूल्य उपदेश देता है, जीवन-निर्माण की शिक्षा देता है, समाज की उलझी हुई गुत्थी को सुलझाता है उसकी भिक्षा सर्वसम्पत्करी है।

दूसरी भिक्षा पौरुषघ्नी है। जो लोग हट्टे-कट्टे हैं। जिनके पास मकान है, धन है और आजीविका कमाने के योग्य हैं, फिर भी आलसी और अकर्मण्य होकर जीवन बिताते हैं, विलासिता और मौजशौक में तल्लीन रहते हैं। ऐसे लोगों का समाज से माँगकर मुफ्त में खाना पौरुषघ्नी भिक्षा के अन्तर्गत है।

तीसरी भिक्षा, उन लोगों से सम्बन्धित है, जो अंगविकल, अन्धे, अशक्त एवं अपाहिज हैं, कमाने-खाने के अयोग्य हैं, बच्चे हैं, बूढ़े हैं, वृद्धाएँ हैं, वे समाज से दान-रूप में उपकृत भाव से लेकर निर्वाह करने के अधिकारी हैं, उनको भिक्षा देना समाज का कर्तव्य है।

परन्तु आज भारत में भीख मांग कर जीने वाला वर्ग भी छोटा नहीं है। भीख उनकी आदत में इतनी घुलमिल गई है कि न तो भीख मांगने में वे शर्म महसूस करते हैं, न स्वाभिमान और आत्मप्रतिष्ठा की बात वे कभी सोचते हैं। एक प्रकार की घृणित अवस्था का जीवन बिताते हैं। ऐसे लोगों को किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सेवाकार्य जैसे कि रोगी-सेवा, अंगविकल-सेवा या अन्य किसी प्रकार के

समाज निर्माण के कार्य में हिस्सा लेने या वैसा श्रम करके खाने की बात उन्हें जचती ही नहीं, इसी दृष्टि से ऐसे लोगों द्वारा भीख मांगना एक प्रकार से पौरुषघ्नी भिक्षा है और वह चोरी के अन्तर्गत है।

वैसे आम गृहस्थ को भिक्षा माँगने का अधिकार नहीं है, क्योंकि गृहस्थ अपनी आजीविका के हेतु पुरुषार्थ करने के लिए खुला है। किन्तु आजकल मुफ्त में लेने की वृत्ति भारत में बहुत अधिक पनप रही है। जो व्यक्ति हाथ-पैर हिला सकता है, गृहस्थ है, उसके पास जीवन निर्वाह के साधन हैं या साधन जुटा सकता है, फिर भी लोभवश मुफ्त में लेने की वृत्ति रखता है, वह पौरुषघ्नी भिक्षा में शुमार है और भिक्षाचोरी है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति को भिक्षा मांगने का अधिकार नहीं है, किन्तु वह अनधिकार चेष्टा करके अधिकारी के लिए भी जन-मन में अश्रद्धा पैदा करता है।

प्रमादमूलक चोरी

वैसे तो प्रत्येक चोरी प्रमाद भाव से होती है, लेकिन प्रमादमूलक चोरी से यहाँ आशय यह है कि व्यक्ति के पास जब धन एकत्र हो जाता है, तब वह खर्च करने में प्रायः अविवेकी एवं प्रमादी बन जाता है। वह अपने आमोद-प्रमोद में, सामाजिक कुरूढ़ियों में, वाहवाही के लिए, नामबरी के लिए हजारों रुपये व्यर्थ खर्च कर देता है। अथवा समाज या संस्था के पैसों को पराया पैसा समझ कर खूब खर्च करता है, अनापसनाप अपव्यय करता है। ऐसे अपव्यय के कारण समाज के जो जरूरतमन्द, अनाथ, अपाहिज या अशक्त लोग हैं, जिन्हें सहायता की जरूरत है, सहायता नहीं मिल पाती। प्रायः उन जरूरतमन्द व्यक्तियों के प्रति लापरवाही दिखाई जाती है। यह रवैया एक तरह से उनको अधिकारों से वंचित रखता है। इसलिए इसे प्रमादमूलक चोरी कहा जा सकता है।

कई लोग प्रत्यक्ष चोरी, बेईमानी अथवा अन्याय आदि नहीं करते, किन्तु सम्पन्न होते हुए भी जब वे समाज के बेकार, बेरोजगार एवं अनाथ एवं जरूरतमन्दों को कोई सहायता नहीं करते। इस विषय में वे लापरवाही दिखाते हैं। इसलिए ऐसे लोग बरबस चोरी या अनैतिक कार्यों में लग कर अपना गुजारा चलाने को विवश हो जाते हैं। यद्यपि चोरी करने की सीधी प्रेरणा उन सम्पन्न लोगों ने नहीं दी, लेकिन जब वे उनकी परिस्थिति खराब होती देख कर भी कुछ नहीं करते, तब उन्हें लाचार होकर अपना पेट भरने को चोरी आदि का अनैतिक धन्धा करना पड़ता है। अगर वे ऐसे लोगों को अपना बन्धु समझ कर सहयोग दे दें तो उन्हें चोरी आदि अनैतिक धन्धे करने की गुंजाइश ही न रहे।

उरण चोरी के प्रकार

मनुष्य जरूरत पड़ने पर दूसरे से कर्ज लेता है। यह कोई बुरा नहीं है, किन्तु कर्ज लेने के बाद उसे चुकाने की चिन्ता कर्जदार को होनी चाहिए। और कर्ज देने

वाले का उपकार भी मानना चाहिए। किन्तु अधिकांश लोग इस बात की परवाह नहीं करते। वे कर्ज लेकर चुकाने का नाम नहीं लेते। जब उनसे तकाजा किया जाता है तो वे कह बैठते हैं—दे देंगे, जब होगा तब! तुम्हें इतनी जल्दी क्या है? कौन-से भूखे मर रहे हो?" यह उरणचोरी तो नहीं, पर उपकार चोरी जरूर है।

कई तो इससे भी आगे बढ़कर साहूकार से कह देते हैं—'कब लिया था तुमसे कर्ज? हमने तुमसे कोई कर्ज नहीं लिया है। इस प्रकार छल-बल से परधन हड़प कर जाने वाले लोग उरणचोर हैं। अथवा माता-पिता आदि उपकारी का ऋण प्रत्येक मनुष्य पर है, उनका ऋण न चुकाकर उनको अपशब्द कहना, मारना-पीटना या उनको दुःखित करना भी इसी के अन्तर्गत है।

बड़े-बड़े व्यापारी अपना सारा धन्धा प्रायः बैंकों से या सरकार से कर्ज लेकर उसी के आधार पर चलाते हैं। और भी कई लोग कई प्रकार की सच्ची-झूठी आवश्यकताओं के नाम पर कई जगहों से कई प्रकार के कर्ज लेते हैं। उनकी मनोवृत्ति मुख्यतया 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' 'कर्ज लेकर घी पीओ' की होती है। सामान्यतया कई लोगों में कर्ज चुकाने की, कर या ऋणमुक्त होने की चिन्ता होती ही नहीं। इतना ही नहीं, कर्ज चुकाने से बचने की वृत्ति तथा कोशिश रहती है।

विस्मृति चोरी

कोई व्यक्ति कहीं चीज रखकर भूल गया हो, उस वस्तु को उठाकर अपने कब्जे में कर लेना विस्मृति चोरी है। विस्मृति चोरी में मनुष्य अपना ईमान खो बैठता है, उसकी नीयत बदल जाती है।

कई दफा मनुष्य कोई चीज किसी से मांग कर ले जाता है, किन्तु कुछ समय बाद देने वाला इसे भूल जाता है। लेने वाला उसकी विस्मृति का लाभ उठाकर उस चीज को लौटाता नहीं, अपने कब्जे में कर लेता है।

मौन चोरी

कई दफा मनुष्य बाहर से तो कुछ चोरी करता नहीं दिखता परन्तु मौन ही मौन में लोगों के सामने त्याग का सब्जबाग दिखाकर उनको भक्ति एवं श्रद्धा से वश में करके बहुत-सी चीजें लूट लेना, उनका धन भी लूट लेना, मौन चोरी है। मौन चोर बाहर से चोर नहीं दिखता पर मन ही मन चोरी के प्लान रचता रहता है। दूसरे के धन या अधिकार को हड़पने की स्कीमें बनाता रहता है। इस प्रकार के संकल्प-विकल्प करना मानसिक चोरी के अन्तर्गत है।

शब्द-छल चोरी

मन में पराये धन का हरण करने की बात हो, पर वाणी में मधुरता हो, इस प्रकार मीठी-मीठी चिकनी-चुपड़ी बातों से लुभाना शब्द-छल चोरी है। अथवा ऐसी वाणी बोलकर दूसरों को धोखे में डाल देना भी शब्दछल चोरी है। एक व्यापारी ने

एक बहुत बड़ी कम्पनी में प्रवेश किया। कम्पनी में बाकायदा मिट्टी के तेल के खाली टीन लगे हुए थे। कई आदमी काम कर रहे थे। एक आदमी ने उठकर उस व्यापारी का स्वागत किया। फिर बात ही बात में उसे ऐसा छकाया कि हम तुम्हें मिट्टी के तेल की एजेंसी दे देंगे। दस हजार रुपये जमा करा दीजिए। बस, माल आपके पास पहुँच जाएगा।' व्यापारी ने चकमे में आकर दस हजार रुपये जमा करा दिए। रसीद दे दी गई। लेकिन एक महीने तक जब कोई माल या बिल्टी नहीं आई तब उसे सन्देह हुआ, वह वापिस वहाँ आया तो न तो वहाँ वह कम्पनी है और न ही कोई आदमी है। इस प्रकार नकली कम्पनी बनाकर लोग लाखों रुपये हजम कर लेते हैं। इसे वाचिक चोरी भी कह सकते हैं।

जैसे कई व्यापारी ग्राहक को कहते जाते हैं—अधिक ले तो, छोरा-छोरी खाय, या गौ खाय।" ग्राहक समझते हैं कि व्यापारी कसम खा रहा है, परन्तु व्यापारी यह कहकर भी वस्तु का मूल्य अधिक लेता है। अधिक ली हुई रकम छोरा-छोरी या गाय के खाते में जमा कर लेता है। लड़के-लड़की के खाते की रकम उनके खाने-पीने या विवाहशादी आदि में लगा देता है और गाय के खाते में जमा रकम गाय के खिलाने-पिलाने आदि में खर्च कर देते हैं। गाय के खर्च से बची रकम गौशाला आदि में देकर चोर होते हुए भी अपनी गणना दानवीरों में कराने लगते हैं। यह वाचिक चोरी एक प्रकार से शब्दछल चोरी ही है।

इसी प्रकार जिन कार्यों को करने से दूसरों के अधिकारों को आघात पहुँचता है, दूसरे के हकों का हरण किया जाता है, दूसरा अपने हकों से वंचित रहता है, उन सबकी गणना कायिक चोरी में है।

सभ्य चोरी के प्रकार

इस सभ्य कहलाने वाले युग में उन्हीं स्थूल उपायों से होने वाली चोरियों की गणना चोरी में की जाती है, जिन उपायों से चोरी करने पर राज्य नियमानुसार दण्डित हो सके। लेकिन यह भ्रान्त धारणा है। शास्त्रानुसार उन सब कार्य, बात या विचार की गणना चोरी में है, जिनके द्वारा दूसरे के हकों का अपहरण किया जाए या अनुचित फायदा उठाया जाए। वर्तमान कानून की धाराओं ने कुछ इने-गिने उपायों द्वारा दूसरे के अधिकार-हरण को चोरी में माना है, प्रकारान्तर से सभ्य उपायों से जो दूसरे के अधिकार का हरण किया जाता है, वे सब मार्ग खुले रख दिये हैं, वे कार्य दण्डनीय नहीं माने जाते। पर शास्त्र उन सभी गलत एवं अनैतिक उपायों को दण्डनीय मानता है। परन्तु सभ्य उपायों से चोरी करने वाले, हजारों, लाखों और करोड़ों रुपयों की ऊपर ही ऊपर डकार जाने वाले साहूकार ही बने रहते हैं, राज्य-दण्ड से भी वे बचे रहते हैं। परन्तु सभ्य उपायों से चोरी करने वालों से जनता की जितनी हानि होती है, उतनी असभ्य उपायों द्वारा चोरी करने वालों से शायद ही होती हो।

क्योंकि असभ्य उपायों द्वारा चोरी करने वालों से तो जनता सावधान रहती है, पर सभ्य चोरों से, शाहनामधारी सफेदपोशों से जनता सावधान नहीं रहती।

कई लोग झूठे विज्ञापनों से लोगों को उल्लू बनाकर ठग लेते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञापन में अपनी चीज की बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा करते हैं, किन्तु न तो विज्ञापन के अनुसार माल देते हैं, न कार्य ही करते हैं। इसी प्रकार झूठे विज्ञापनों द्वारा लोग लाखों रुपये कमा लेते हैं, माल का आर्डर देने वाले लोगों के पल्ले माल पूरा नहीं पड़ता।

कई लोग किसी सार्वजनिक या लोकोपयोगी कार्य के लिए धन एकत्र करके या तो एकदम हजम कर जाते हैं या नाममात्र के लिए थोड़ा-सा खर्च करके शेष राशि हजम कर जाते हैं। वे ऐसी संस्था को भी तब तक चलाते रहते हैं, जब तक कि उसके नाम पर धन प्राप्त होता रहता है और अपना मतलब भी उसमें से गांठते रहते हैं।

कई व्यापारी अपनी सम्पत्ति के जोर से वस्तु का भाव एकदम घटा या बढ़ा कर बाजार पर कब्जा कर लेते हैं। इस तरह प्रायः सभी बाजारों पर अपना आधिपत्य जमा कर वे दूसरे के हकों का हरण कर लेते हैं।

कई व्यापारी व्यापार में अपनी स्थिति का झूठा रौब दिखाकर लोगों से माल ले आते हैं, दूसरों का रुपया अपने यहाँ जमा रखते हैं। इस प्रकार दूसरों का धन खींच कर झूठा जमाखर्च करके बाद में अचानक ही दिवाला निकाल देते हैं।

कई व्यापारी अपढ़ कर्ज लेने वाले को सौ रुपये देकर एक शून्य बढ़ा कर एक हजार की राशि दस्तावेज में लिखकर अँगूठा लगवा लेते हैं। इसी प्रकार ब्याज के मामले में भी वे छल से ड्योढ़ा, दुगुना, तिगुना लिख देते हैं।

इस प्रकार की विभिन्न मानसिक, वाचिक और कायिक, सभी प्रकार की चोरियों से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से मुक्त होना ही अस्तेय व्रत का आचरण है।

द्रव्य से तात्पर्य है—वस्तु का। वस्तु चाहे सजीव हो या निर्जीव, बहुमूल्य हो या अल्पमूल्य। क्षेत्र का अर्थ है—स्थान। जैसे घर, बाग, मार्ग आदि। काल से मतलब है—समय। जैसे वर्ष, महीना, दिन आदि। भाव का अर्थ है—विचार व कार्य। जीवधारियों—पशुओं, मनुष्यों आदि की चोरी हो, या अजीव धन, सिक्के, आदि की हो, वह द्रव्य की चोरी में शुमार है। किसी पशु, स्त्री, बालक आदि को उसके स्वामी की आज्ञा के बिना अपने अधिकार में करना द्रव्य की चोरी है।

किसी के घर, खेत, बाग, मार्ग, गाँव, देश या राज्य पर बिना उसके स्वामी की आज्ञा के अधिकार जमा लेना, अपने काम में लेना या फायदा उठाना क्षेत्र की चोरी है।

वेतन, किराया, सूद, कमीशन आदि देने या लेने के लिए समय को न्यूनाधिक बताना और उससे लाभ उठाना काल की चोरी है।

किसी कवि, लेखक या वक्ता के भावों को अपना बताना, उसके लेख, कविता या वक्तव्य पर अपने नाम की छाप लगाना, आशय बदलना, अर्थ छिपाना भाव चोरी है। दूसरे का उपकार न मानने के लिए लोगों को उपदेश देना भी भाव चोरी है।

जैसे कि अदत्तादान विरमण का उपदेश देते हुए प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है—

इस व्रत को धारण करने वाला दूसरों की निन्दा न करे, दूसरों के दोष न निकाले, द्वेष न करे, दूसरे के नाम पर लायी हुई वस्तु आप न भोगे, दूसरे के सुकृत, सच्चरित्रता और उपकार का नाश न करे, दूसरों को दान देने में विघ्न न डाले, दूसरे के गुण सुन कर असहिष्णुता न बतावे। क्योंकि ऐसा करना भाव-चोरी है।

बन्धुओ ! अस्तेयव्रत की आवश्यकता, उपयोगिता, महत्ता और विराट् स्वरूप के सम्बन्ध में मैं बहुत विस्तार से कह चुका हूँ। आप इसे हृदयंगम करें और अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करें। जीवन के सर्वांगीण निर्माण के लिए अस्तेयव्रत का आचरण बहुत ही आवश्यक है। ✡

7

श्रावक जीवन में अस्तेय की मर्यादा

☆

दो तटों के मध्य में बहने वाली नदी मानव-जीवन के लिए वरदान होती है। वह प्यासों को पानी पिलाती है। आस-पास के क्षेत्र को सरसब्ज और फल-द्रूप बनाती है। तट पर स्थित सभी पेड़-पौधों को हरा-भरा कर देती है। किन्तु वही नदी जब तटों की सीमा को लाँघ कर बाढ़ का रूप धारण कर लेती है, तब वह जीवन के लिए अभिशाप बन जाती है। यही बात मानव-जीवन के लिए है। मानव अपनी मर्यादा में रहता है, तब अपने और समाज के लिए हितकर एवं सुख-दायक प्रतीत होता है, किन्तु जब वही मानव अपने कर्तव्यों और दायित्वों की सीमाओं को लाँघकर उच्छृंखल बन जाता है, तब वह मानवजाति के लिए अभिशाप बन जाता है।

पिछले प्रवचन में मैंने बताया था, मानव किस-किस प्रकार से चौर्यकर्म करके अपने और समाज के जीवन को अभिशप्त एवं विडम्बित कर देता है! अपने समाज के जीवन को सुखद, सुन्दर एवं सुव्यवस्थित बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वह चौर्यकर्म का पूर्णरूपेण त्याग कर दे। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका अलग-अलग होती है, हर व्यक्ति की क्षमता, शक्ति, सामर्थ्य और रुचि भी पृथक्-पृथक् होती है। इसलिए आम आदमी के लिए यह सम्भव नहीं है कि इस समस्त प्रकार की चोरी का वह मन-वचन-काया से सर्वथा त्याग कर दे। पूर्ण त्यागी पुरुष किसी के हित को जरा भी ठेस नहीं पहुँचा सकता, पूर्ण त्यागी अनगार के लिए स्थूल-सूक्ष्म सर्वथा प्रकार से अदत्तादान (बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करने) का त्याग करना होता है। पूर्ण अदत्तादान-विरमण महाव्रत धारक मुनि यह प्रतिज्ञा करता है—

'समणे भविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपसु परदत्तभोई पावकम्मं णो करिस्सामित्ति समुट्ठाए सव्वं भंते अदिण्णादाणं पच्चक्खामि।'[1]

—हे पूज्य! मैं गृहत्यागी, अकिंचन, पुत्र, पशु, धन, गृह आदि का त्यागी तथा दूसरे के द्वारा दिये हुए पदार्थ का उपभोक्ता अनगार (साधु) बनता हूँ। मैं सावधान

---

१ आचारांग द्वि० श्रु० १६वां अध्ययन

होकर प्रतिज्ञा करता है कि मैं अदत्तादान का पाप नहीं करूंगा, किन्तु मैं उन्हीं चीजों का उपभोग करूंगा, जो दूसरे ने मुझे दी होंगी। मतलब यह है कि तीसरा महाव्रत (अदत्तादान विरमण) धारण करते समय साधु को यह प्रतिज्ञा लेनी होती है कि साधु बिना दी हुई किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकता। चाहे वह वस्तु देव की हो, राजा की हो, गुरु की हो, अपने समानधर्मा साधु की हो, या और किसी भी व्यक्ति या प्राणी की हो। यहाँ तक कि जिस वस्तु पर किसी का अधिकार नहीं है, जो वस्तु सार्वजनिक है, उसका उपयोग भी वह किसी की आज्ञा के बिना नहीं कर सकता। क्योंकि संसार की किसी भी वस्तु पर उसका स्वामित्व या अधिकार नहीं रहा है। साधु संसार की सभी वस्तुओं पर से अपना अधिकार हटा चुका है। इसलिए वह उसी वस्तु का उपयोग कर सकता है, जो किसी ने उसे दी हो। साधु यदि किसी को अपना शिष्य बनाएगा, तो भी वह उसके संरक्षक या अभिभावक की आज्ञा के बिना नहीं बना सकता। बिना आज्ञा के शिष्य बनाने से तीसरे महाव्रत का भंग हो जाता है। इसी प्रकार अन्य सम्प्रदाय के साधु को भी उसके गुरु की अनुमति प्राप्त किये बिना अपने में मिला लेना अदत्तादान है।

दशवैकालिक सूत्र में तृतीय महाव्रत की प्रतिज्ञा के विषय में बताया गया है कि तृतीय महाव्रत कैसे ग्रहण किया जाता है ?

शिष्य पूछता है—भन्ते ! तृतीय महाव्रत क्या है ? उसमें क्या करना पड़ता है ?"

गुरु कहते हैं—'गाँव, नगर या जंगल आदि में, थोड़ी या ज्यादा, छोटी या बड़ी, सचित्त या सचित्त वस्तु को किसी के दिये बिना ग्रहण न करे, न ग्रहण करावे और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन न करे, मन से, वचन से और काया से।'

तब शिष्य कहता है—मैं अदत्तादान को बुरा समझकर आपके कथनानुसार उससे निवृत्त होता हूँ। मैं अदत्तादान का प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा करता हूँ, और इस पाप को आत्मा से अलग करके तीसरे महाव्रत—सर्वथा अदत्तादान-विरमण के पालन में उपस्थित होता हूँ।

तात्पर्य यह है कि अदत्तादान-विरमण रूप महाव्रत को धारण करने वाला किसी भी वस्तु को दूसरे के द्वारा दिये बिना काम में नहीं ला सकता। गृहस्थ-श्रावक यदि सूक्ष्मव्रत धारण करे तो सार्वजनिक चीज तो क्या, घर की भी उन चीजों को नहीं ले सकता, जिन पर किसी दूसरे का यत्किञ्चित अधिकार हो।

गृहस्थ श्रावक इतनी हद तक इस व्रत का पालन नहीं कर सकता। उसे मिट्टी पानी, लकड़ी, घास, बाग-बगीचे आदि सार्वजनिक चीजों का उपयोग करना पड़ता है। इसलिए सूक्ष्म अदत्तादान-विरमणव्रत का पालन करने पर उसका गृहस्थ जीवन निभ नहीं सकता। इसी बात पर विचार करके शास्त्रकारों ने गृहस्थ श्रावक के लिए स्थूल अदत्तादान विरमणव्रत बताया है। आवश्यक सूत्र में उसका पाठ इस प्रकार है—

"थूलगं अदिन्नादाणं समणोवासओ पच्चक्खाइ, से अदिन्नादाणे दुविहे पन्नत्ते, तंजहा—सचित्तादत्तादाणे, अचित्तादत्तादाणे य।"

—श्रमणोपासक स्थूल अदत्तादान का त्याग करता है। वह स्थूल अदत्तादान दो प्रकार का बताया है—सचित्तअदत्तादान, अचित्त-अदत्तादान। स्थूल अदत्तादान की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

दुष्ट अध्यवसायपूर्वक अपने अधिकार से बाहर की, यानी की दूसरे के अधिकार की वस्तु को, उस वस्तु के अधिकारी की आज्ञा के बिना ग्रहण करना स्थूल अदत्तादान है। आचार्यों ने स्थूल चोरी का लक्षण इस प्रकार बताया है—जिसे समाज में आम आदमी चोरी कहते हैं, जिस चोरी के करने से समाज में चोर, बेईमान एवं अन्यायी कहा जाता है। तथा लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं। जो वस्तु सार्वजनिक है, जिस वस्तु पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं है, उसे लेने का उसका उपभोग करने का त्याग श्रावक नहीं करता।

निष्कर्ष यह कि स्थूल अदत्तादान-विरमणव्रत में दुष्ट अध्यवसाय पूर्वक दूसरे के हक का हरण करने वाले जो-जो विचार, वाणी या व्यवहार हैं, उन सबसे निवृत्त होने की मर्यादा आ जाती है। अस्तेयव्रत का पालन साधु तीन करण तीन योग से करता है, जबकि गृहस्थ श्रावक दो करण तीन योग से करता है। उपासकदशांग सूत्र में आनन्द आदि श्रावकों ने इस व्रत की मर्यादा इस प्रकार की थी—

तयाणंतरं च थूलगं अदिन्नादाणं पच्चक्खाई। दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा।

—स्थूल मृषावादविरमण के पश्चात् आनन्द श्रमणोपासक ने स्थूल अदत्तादान का त्याग दो करण (करूँ नहीं, कराऊँ नहीं) और तीन योग (मन-वचन-काया) से किया।

स्थूल चोरी का त्याग करने पर श्रावक का जीवन लोक-व्यवहार में विश्वस्त और प्रामाणिक माना जाता है। इससे श्रावक के कोई भी सांसारिक काम नहीं रुकते ऐसे श्रावक का चरित्रबल बहुत ही उन्नत होता है, क्योंकि चरित्रबल का मूल आधार अस्तेयव्रत है।

आपने देखा होगा कि साइकिल सैकड़ों मील की यात्रा कर लेती है। उस पर आदमी भी बैठ जाता है और वजन भी रख लिया जाता है। सबको लेकर चलती है। लेकिन यह तभी सम्भव होता है, जब ट्यूब में हवा भरी होती है। अगर हवा की शक्ति अंदर न हो तो वह गाड़ी चलती नहीं, खड़ी हो जाती है। यदि आप उसे चलाएँगे तो वह आपको लेकर नहीं चलेगी, उसे ही आपको घसीट कर ले चलना पड़ेगा। साइकिल में जब पंचर हो जाता है तो उसकी हवा निकल जाती है, फिर उसे आप घसीट कर तो चाहे जितनी दूर ले जायें, किन्तु उसमें स्वयं में चलने की शक्ति नहीं होती। यही बात जीवन की गाड़ी के सम्बन्ध में है। यदि उसमें अंदर की साधना है, चरित्रबल है, तो जीवन ठीक रूप में चलेगा। यदि अंदर की शक्ति क्षीण हो जाय या

चरित्रबलरूप पवन निकल जाय या हो ही नहीं, तो साधु-जीवन हो या श्रावकजीवन वह स्वयं आगे बढ़ नहीं सकता, प्रगति नहीं कर सकता, उसे तो घसीटते-घसीटते ले जाना पड़ता है। वह साधक प्रगतिशील पथ पर कदम नहीं बढ़ा सकता। उसकी साधना उसके लिए भार बन जाएगी। चाहे उसे ४०-५० वर्षों तक ढोना पड़ेगा, वह आपको ढोएगी नहीं, आपको ही उसे ढोए चलना पड़ेगा।

यही बात श्रावकजीवन में अस्तेयव्रत के सम्बन्ध में समझ लीजिए। कई लोग यह कह दिया करते हैं कि अस्तेयव्रत बहुत ही कठिन है। उसका पालन श्रावक से हो नहीं सकता। परन्तु जैसे परिवार में घर के लोगों में परस्पर प्रेम होने के कारण कोई किसी की चोरी नहीं करता। इसी प्रकार समाज और राष्ट्र में ही जब प्रेम व्यापक हो जाता है, तब अस्तेय वृत्ति का पालन सहज ही हो सकता है। लेकिन अज्ञानवश जब प्रेम सीमित हो जाता है, तब वह अशुद्ध हो जाता है। प्रेम विशुद्ध होता है तो वह छोटे दायरे तक सीमित न रह कर व्यापक हो जाता है, तब मनुष्य में अस्तेयवृत्ति का पालन होता है। इसके विपरीत जब प्रेम सीमित हो जाता है, तब धन, तृष्णा, भोग-लालसा, वैभवलिप्सा आदि हीन वृत्तियाँ पनपने लगती हैं इसलिए अपनी हीन वृत्तियों पर नियंत्रण तो अस्तेयव्रतधारी श्रावक को रखना ही पड़ता है। अगर अपनी महत्त्वाकांक्षाओं, अपनी आवश्यकताओं, और अपनी हीनवृत्तियों पर अंकुश रखा जाय तो अस्तेयव्रत का पालन कोई कठिन प्रतीत नहीं होगा।

अस्तेयव्रत के स्वाभाविक रूप से पालन के लिए श्रावक को अपनी महत्त्व-कांक्षाएँ कम करनी होंगी। किसी के पास कोई वस्तु देखी और मन में इच्छा पैदा हुई कि काश, वह वस्तु हमारे पास होती! किसी की अच्छी स्थिति देखकर मन में चाह पैदा हुई कि अगर हमारी भी वैसी ही स्थिति होती! किसी को बढ़िया भोजन करते देख कर विचार आया कि मुझे भी वैसा ही भोजन मिलता तो कितना अच्छा होता। इस प्रकार मन में जो महत्त्वाकांक्षा के विचार उठते हैं, अगर उनमें काट-छांट न की जाय और ज्यों का त्यों मन की आज्ञा में चला जाय तो मन स्वार्थ का भंडार बन कर शुद्ध प्रेम को तिलांजलि देते देर नहीं लगाएगा।

समाज में किसी व्यक्ति को ऐसी किसी चीज से वंचित नहीं रखा जाना चाहिए, जिसकी उसे अनिवार्य जरूरत हो। अगर किसी व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा के कारण दूसरे व्यक्ति को उस अनिवार्य वस्तु से वंचित रहना पड़े, तो यह अन्याय है। इस सामाजिक अन्याय को दूर करने का उपाय अस्तेयव्रत में है। लेकिन सारे समाज की व्यवस्था बदले या राज्य इस प्रकार की व्यवस्था करे, यह बात आसान नहीं है। जब तक ऐसी व्यवस्था न हो, तब तक व्यक्ति को अस्तेयव्रत का पालन करना चाहिए। समाज में निम्नतम कोटि के व्यक्ति के साथ एकरूपता साधते हुए अपनी आवश्यकताएँ कम से कम रखनी चाहिए। प्रयत्न यह होना चाहिए कि इस प्रकार की स्पर्धा की इच्छा या महत्त्वाकांक्षा मन में पैदा ही न हो। अगर ऐसी इच्छा पैदा होती है,

तो वह मानसिक चोरी कहलाएगी, जो कायिकचोरी की जननी है। जिस वस्तु पर व्यक्ति का वास्तविक अधिकार न हो, फिर भी मन में उसे पाने की अभिलाषा पैदा होती हो तो वह बीज-रूप चोरी मानी जाएगी।

कोई सोचता है कि मैं अमुक संस्था का व्यवस्थापक बन जाऊँ। अथवा अमुक राज्य का मंत्री बन जाऊँ। इस प्रकार अपने पास जो अधिकार या पद नहीं हैं, उनकी अभिलाषा करता है। अपने में योग्यता न होते हुए भी वैसी वस्तु या स्थिति पाने की कामना करता है, अथवा अपार धनराशि की इच्छा करता है, यह सब मानसिक चोरी या बीजरूप चोरी है।

कई लोगों का कहना है कि महत्त्वाकांक्षा नहीं करेंगे तो आगे विकास कैसे कर सकेंगे ? इसके उत्तर में यही कहना है कि अगर व्यक्ति में योग्यता है तो उसके अनुकूल वस्तु या कार्य उसे मिले, इस प्रकार की व्यवस्था करना समाज का कर्तव्य है, वह करेगा भी। जब समाज उस व्यक्ति में योग्यता नहीं देखता है तो, वैसी व्यवस्था नहीं करता, उस समय महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति पहले कामना करता है, फिर पाने का प्रयत्न करता है, फिर प्रतिस्पर्धा तथा ईर्ष्या पैदा होती है और अन्त में संघर्ष भी हो सकता है। इस तरह वह बीजरूप चोरी प्रत्यक्ष चोरी के रूप में अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित है।

इस मानसिक चोरी को पहचानना मन का ही काम है। इसे पहचानने का कोई बाहरी साधन नहीं है। दूसरा कोई इसका पता भी नहीं लगा सकता। वैचारिक चोरी का जन्म मन में होता है। यह दूसरे को मालूम भी नहीं हो सकती। मन की बात जानने का कोई वैज्ञानिक साधन भी नहीं है। विज्ञान की कक्षा के बाहर की यह वस्तु है। इस प्रकार मन की चोरी को मन ही पहचान सकता है और वही दूर कर सकता है। इस चोरी से बचने का साधन या उपाय भी मन ही है।

अस्तेयव्रत के पालन का दूसरा उपाय है—आवश्यकताओं को कम करना। जीवन में बहुत-सी आवश्यकताएँ हो सकती हैं। लेकिन अस्तेयव्रत में निष्ठा रखने पर जो भी आवश्यकता काल्पनिक यानी अनावश्यक और अतिरिक्त प्रतीत हो, उसे कम किया जा सकता है। उसे घटाने का संकल्प करने से वह अनायास ही घट भी सकती है। मनुष्य चाहे तो उसे छोड़ भी सकता है। अगर गृहस्थ श्रावक का संकल्प सच्चा हो तो अन्तःस्थ शुद्ध आत्मा उसे उस संकल्प को पूरा करने का बल देता है।

अस्तेय के पालन का तीसरा उपाय है—अनुचित या गलत उपायों से धन कमाने की इच्छा न करना। गलत या अनुचित व्यापार से धन कमाना भी चोरी है। सच्चा व्यापारी अत्यन्त प्रामाणिकता से व्यापार करता है। उचित मुनाफा ही कमाने की वृत्ति रखता है, अधिक नफा करने की कोशिश नहीं करता। वह किसी को लूटता नहीं, ठगता नहीं, गलत चीजों की मिलावट करके अधिक धन कमाने की इच्छा नहीं करता।

सच्चा और ईमानदार व्यापारी समाज की सच्ची सेवा करता है, वह समाज को आवश्यकतानुसार चीजें मुहैया करके उस पर उपकार करता है। अस्तेयव्रत से एक चीज खास सम्बन्धित है, वह है—ईमानदारी। ईमानदारी का वैसे तो जीवन के सभी क्षेत्रों से सम्बन्ध है, चाहे वह सामाजिक हो, कौटुम्बिक हो, धार्मिक हो, शैक्षणिक हो या सांस्कृतिक हो। ईमानदारी की ज्योति सर्वत्र जलती रहनी चाहिए। खासतौर से व्यावसायिक क्षेत्र में तो ईमानदारी की खास जरूरत है। व्यापारी श्रावक हो या सामान्य गृहस्थ, उससे ईमानदारी की विशेष अपेक्षा रखी जाती है। व्यापारी का जनता से अधिक वास्ता पड़ता है। इसलिए उसे इस बात का ध्यान रखना है कि हजारों-लाखों में अपने जीवन की प्रामाणिकता की छाप डाल सके। जो भी व्यक्ति उसके सम्पर्क में आए, वह दूसरी बार भी उसके पास आने की इच्छा करे। जहाँ कहीं भी वह जाए उस व्यापारी के सम्बन्ध में महान् विचार रख कर जाए। उसके सम्पर्क में बच्चा आए, बहन आए, बूढ़ा आए या भोला-भाला ग्रामीण आए, सबके साथ ईमानदारी या प्रामाणिकता का व्यवहार करे। सम्भव है, व्यापारी के जीवन में बाहर की चोरियाँ न दिखलाई दें। वह डाका डालता, ताला तोड़ता, जेबकतरता न दिखाई दे, वह आँख बचाकर किसी की चीज उठाता हुआ न दिखाई दे, किन्तु कुछ चीजें ऐसी हैं, जो व्यापारी के जीवन में चलती रहती हैं, वे गलत हैं। उन पर अगर ध्यान न दिया जाय और पूरी तरह प्रामाणिकता न रखी जाय तो व्यापारी का पद नीचे गिरता चला जाएगा।

जैन सभ्यता के आदिकल से व्यापारी ने विनिमयकार का काम एवं हिसाब-किताब का काम संभाला था। उसकी दृष्टि समाज सेवा की रही। फिर वह एक जगह से दूसरी जगह सार्थवाह के रूप में घूम कर जनता की आवश्यकता की पूर्ति करता और अपनी आजीविका भी व्यापार के द्वारा कमा लेता। वह अपना समय और शक्ति जनता की इसी सेवा में लगाता था। अपनी तथा अपने परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरा कोई धंधा नहीं करता था। आखिर तो व्यापारी के साथ भी पेट लगा है, उसके भी स्त्री-बाल-बच्चे हैं, उनके भरण-पोषण का दायित्व उसके सिर पर है। ऐसी स्थिति में अगर वह इस आयात-निर्यात-विनिमय में से ही अपने निर्वाह का साधन न जुटाए तो क्या करे? बस, इसी आयात-निर्यात एवं विनिमय के साथ तीसरी चीज पारिश्रमिक—नफा का प्रादुर्भाव हुआ।

यही भारतीय व्यापारी के विकास का इतिहास है। व्यापारी का आविर्भाव जनता के मंगल के लिए हुआ था। व्यापारी अपने कुटुम्ब के साथ-साथ समाज से भी कौटुम्बिकता बढ़ाता रहता था। इसीलिए वह महाजन कहलाता था। महाजन समाज के सुख-दुःख के समय साथ रहता था। इसीलिए समाज के लोग उसे सहर्ष मेहनताना देते थे। आधी रात को भी महाजन के पास अगर कोई अपनी पुकार लेकर चला आता तो वह उसका दुःख दूर करने को तत्पर रहता था। इसीलिए महाजन को लोग माई-बाप कहते थे। व्यापारी का सम्पर्क किसान की अपेक्षा अधिक लोगों से होता था।

इसीलिए सच्चा व्यापारी जहाँ भी जाता था, वहाँ कौटुम्बिक भावना लेकर पहुँचता था। उत्तराध्ययन सूत्र में चम्पानगरी के एक विद्वान व्यापारी श्रावक का महिमामय वर्णन मिलता है। वह चम्पानगरी से चल कर पिहुण्डनगर में व्यापार के लिए पहुँचा। वहाँ के लोगों पर अपनी प्रामाणिकता, मिलनसारी और कौटुम्बिकता की ऐसी छाप डाली कि वहाँ के ही एक व्यापारी ने उसके गुणों से मुग्ध होकर पालित श्रावक को अपनी कन्या दे दी। इतिहास के पन्नों पर जब व्यापारी के उदार हृदय की गुणगाथाएँ पढ़ते हैं तो हृदय गद्गद हो जाता है। कहाँ तो उस जमाने का व्यापारी समाज के साथ कौटुम्बिक भावना से ओतप्रोत हो जाता था, और कहाँ आज का व्यापारी, जो समाज के साथ स्वार्थ भावना से, लूटने-खसोटने की वृत्ति से और केवल पूँजी बटोरने की नीयत से सम्पर्क में आता है। उसके अन्दर कौटुम्बिक भावना लगभग समाप्त-सी हो चली है। अगर व्यापारी दूकानदारी के साथ मकानदारी रखे तो उसके जीवन में ईमानदारी आ सकती है। ईमानदारी का गुण ही व्यापारी को लोकप्रिय बना सकता है। इसके लिए व्यापारी को एकमात्र धन बटोरने की लालसा नहीं रखनी चाहिए।

कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि धार्मिक व्यक्ति को धन से विरक्ति होनी चाहिए। धन के प्रति अत्यधिक लगाव मोहबन्धन का कारण हो जाता है और उससे फिर आत्मिक आनन्द की अनुभूति नहीं होती।

यद्यपि गृहस्थी की सुख-सुविधाओं के लिए तथा अपने दायित्वों एवं कर्तव्यों की पूर्ति के लिए श्रावक को धन की आवश्यकता रहती है। शास्त्रकार इसका निषेध नहीं करते। उनका निषेध अनावश्यक लोभ, वित्तैषणा के कारण अनुचित तरीकों से धन कमाने की वृत्ति का है। बेईमानी, भ्रष्टाचार, अनाचार एवं दुराचार के द्वारा कमाया हुआ धन मनुष्य को व्यसनों की ओर आकर्षित करता है जुआ, सट्टा, लाटरी, नशेबाजी तथा वेश्यावृत्ति आदि में धन का अपव्यय करने वाले लोग प्रायः सभी अनुचित तरीकों से धनार्जन करते हैं।

बड़े-बड़े व्यापारी प्रायः अपना धंधा बैंकों से या सरकार से कर्ज लेकर उसी के आधार पर चलाते हैं। और भी कई लोग कई प्रकार की कर्जदारी से पीड़ित रहते हैं। ऐसे लोग कर्ज चुकाने का नाम भी नहीं लेते। इस तरीके से कर्ज ले-लेकर बहुत से व्यापारी धन एकत्र करने में लगे रहते हैं। यह भी अनुचित तरीका है, धन बटोरने का। ऐसे लोग, जब ऋण लिया हुआ धन बहुत ज्यादा इकट्ठा हो जाता है, तब अचानक दिवाला निकाल देते हैं और ऋणदाताओं को अंगूठा बता देते हैं।

वर्तमान में कई महाजन और साहूकार केवल सूद पर अपनी कमाई करते हैं। ब्याज ही ब्याज में वे लखपति हो जाते हैं। और कितने ही लोग बेघर और बेजमीन होकर बरबाद हो जाते हैं, दीन-हीन और गुलामी का जीवन जीने को विवश हो जाते

है। श्रावक के लिए दूसरे का शोषण करके अन्याय-अनीति युक्त जीवन बिताना वर्जनीय बताया है। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने बताया है—

न्यायोपात्तं हि वित्तमुभयलोकहिताय

न्याय से उपार्जित धन उभय लोक के लिए कल्याणकारी होता है। धन अपने आप में बुरा नहीं है। उसकी पृष्ठभूमि में निहित मनोवृत्ति ही भलाई और बुराई की जननी है। धन इन्सान के लिए अभिशाप भी है और वरदान भी। वह धन व्यक्ति के लिए अभिशाप है, दुःख का कारण है, जो दूसरों के जीवन को संतप्त, त्रस्त एवं पीड़ित करके प्राप्त किया जाता है। ऐसा धन, जो अन्याय, अत्याचार एवं अनीति से प्राप्त किया जाता है, मनुष्य को कदापि सुख की साँस नहीं लेने देता। वह धन उसकी एवं उसके परिवार की शान्ति को नष्ट कर देता है। इसी कारण अन्याय, अनीति एवं अप्रामाणिकता के द्वारा धन के उपार्जन को स्तेयकर्म बताया गया है। इसके विपरीत जो धन, न्याय, नीति एवं प्रामाणिकता से उपार्जित किया जाता है, वह अहितकर नहीं होता, वह व्यक्ति एवं परिवार के जीवन को सुखशान्ति प्रदान करता है, उसके पारलौकिक व इहलौकिक जीवन को उज्ज्वल बनाता है। सचमुच में, वह धन उसके लिए वरदान रूप है।

भारतीय संस्कृति के उन्नायकों ने धन को ही नहीं, चरित्र, ईमानदारी एवं नैतिकता को महत्त्व दिया है। बाह्य धन को चरित्र के सामने नगण्य माना गया है। विद्वानों का कहना है—'जिसका धन चला गया, समझो कुछ ही गया, किन्तु जिसका चरित्र चला गया, साख मिट गई तो मानो सर्वस्व चला गया।' चरित्र बल को खोना जीवन को खोना है, चरित्र और नैतिकता को बनाए रखना ही, जीवन को बनाए रखना है। इस नैतिकता एवं प्रामाणिकता को ही सच्चरित्र एवं अस्तेयव्रत कहते हैं।

इसी प्रकार चोरी के जो मूल कारण हैं, उन कारणों पर विचार किया जाय तो आस्तेयव्रतधारी श्रावक के लिए उनका निवारण करना अथवा उन कारणों से बचना कोई कठिन नहीं है। सर्वप्रथम हमें विचार करना है कि मनुष्य चोरी या बेईमानी, ठगी, अनैतिकता आदि जो चोरी में ही शुमार हैं, क्यों करता है? आज से ही नहीं, सहस्र-सहस्र वर्षों से शासन-व्यवस्था चली आ रही है। प्रत्येक युग के शासक ने चोरी को जघन्य अपराध घोषित किया था, और उसके लिए अपराधी को कड़ी से कड़ी दण्ड-व्यवस्था भी रखी थी। कुछ राजा लोग चोरी करने वालों को शिकारी कुत्तों से नुचवा डालते थे, अथवा उनके हाथ-पैर या अन्य अंगोपांग कटवा डालते थे। प्रश्नव्याकरण सूत्र में चोरी करने वालों को किस-किस तरीके से कठोरतम दण्ड दिया जाता था, इसका रोचक वर्णन मिलता है। अन्य धर्मों के शास्त्रों और ग्रन्थों में चोरी की सजा का वर्णन मिलता है। इन सब पर से यह बात निश्चित है कि चोरी करना जघन्य अपराध, पाप एवं अधर्म है। इस बात का उपदेश भी हजारों वर्षों से शास्त्र और धर्मोपदेशक करते आ रहे हैं। चोर को न इस लोक में सुख मिलता है, न परलोक

में। इस जन्म में वह अपकीर्ति, बदनामी, तिरस्कार एवं सजा पाता है, और दूसरे जन्म में उसे नरक की भयंकर यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। दण्डशक्ति और नैतिकशक्ति यानी राज्य और धर्म इन दोनों के भय के बावजूद भी चोरी का पेशा एक या दूसरे रूप में चलता रहा। इसका समूल नाश कदापि नहीं हुआ; इसका क्या कारण है? राज्य-शासन का डण्डा सिर पर घूमता रहता है, धर्म-शासन का भी दण्ड बताया जाता है, फिर भी मनुष्य चोरी करने में नहीं चूकता, इसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए।

अगर आप कारणों की तह में जाएँगे तो उनका निवारण आपको अपने हाथ में प्रतीत होगा, आप उन कारणों को स्वतः मिटा सकेंगे।

चोरी एक अनैतिक वस्तु है, नैतिक-पतन है, अपराध है। संसार का कोई भी व्यक्ति अपना पतन नहीं चाहता, न घृणित जीवन बिताना पसन्द करता है, फिर भी वह चोरी के विविध उपायों और रूपों को क्यों अपनाता है? क्यों अजमाता है?

चोरी करने का सर्वप्रथम मूल और अन्तरंग कारण है—अर्थ-लोलुपता। मैंने पहले बताया था कि मनुष्य अपनी महत्त्वाकांक्षाओं, वित्तैषणाओं, आवश्यकताओं, कामनाओं और स्पर्धाओं के चक्कर में पड़कर किस तरह चोरी करने में प्रवृत्त होता है। ऐसी मनोवृत्ति से प्रेरित होकर अधिकांश लोग जीवन और चरित्र की अपेक्षा धन को अथवा पदार्थों को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के ३२वें अध्ययन में शास्त्रीय भाषा में चोरी का मूल कारण बताते हुए कहा है—

'रूवे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तो व सत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययइ अदत्तं॥'

अर्थात्—रूप के ग्रहण करने में जो तृप्त नहीं है, यानी जो रूप और रूपवान् के परिग्रह में अनन्त आसक्त हो गया है, और इनके संग्रह की सदैव लालसा बनी रहती है। वह लोभ का मारा हुआ तथा असन्तोष के वेग से व्याकुल पुरुष दूसरे की चोरी करता है।

जैसे रूप की आसक्ति के कारण मनुष्य चोरी करता है, वैसे ही मनोज्ञ रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श इनके प्रति भी आसक्ति के कारण मनुष्य लुब्ध होकर चोरी करता है। प्रायः स्वाद पर काबू प्राप्त न होने तथा सभी इन्द्रियों पर काबू खो जाने और विलासिता के बढ़ने से मनुष्य चोरी पर उतर आता है।

निष्कर्ष यह है कि रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शमय पदार्थ—जिसमें धन भी शामिल है—के प्रति आसक्ति और लालसा से प्रेरित होकर मनुष्य चौर्यकर्म में प्रवृत्त होता है। परन्तु जो व्यक्ति धन के मोह में डूबकर अनैतिक कर्म करते रहते हैं, वे चरित्रसम्पत्ति को तिलाञ्जलि दे देते हैं। जब धन की बाढ़ आने लगती है तो उसमें उनकी इज्जत, अन्तःकरण की पवित्र वृत्तियाँ, नैतिकता और सत्यता आदि सब कुछ डूब जाते हैं। धन के उन्माद में वे इस अमूल्य चरित्र-सम्पत्ति के नाश की ओर

ध्यान ही नहीं देते। परन्तु जब बाढ़ का प्रवाह निकल जाता है तब वे पूर्णतः हताश हो जाते हैं। इस प्रकार धन और धर्म—दोनों से हाथ धो बैठते हैं।

आज मनुष्य धन कमाने में इतना मशगूल हो गया है कि अपने हाथ से नाना प्रकार की स्थूल-सूक्ष्म चोरी होती जाती है, इसका कोई भान ही उसे नहीं रहता। यदि बाद में ध्यान भी आ जाय तो उससे छूट पाना उसके वश की बात नहीं रहती। क्योंकि मनुष्य विलासिता का इतना अधिक अभ्यस्त हो जाता है या आदतों में इतना अधिक शिकार हो जाता है कि आवश्यकताएँ कम कर पाना उसके लिए सम्भव नहीं होता। कोई भी नया परिवर्तन वह नहीं कर सकता। विलासिता में डूबकर मनुष्य विवेकभ्रष्ट हो जाता है। विवेक के बिना अस्तेयव्रत का पालन नहीं हो सकता।

चोरी के बाह्यकारणों में से सर्वप्रथम कारण है—आवश्यकताओं की अनाप-सनाप वृद्धि और उसकी पूर्ति न होना। मनुष्य कई बार अपनी आवश्यकताओं के बारे में ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाता। अस्तेयव्रत के पालक में यह विवेक जरूर होना चाहिए कि कौन-सी वस्तु अत्यन्त आवश्यक है? कौन-सी वस्तु अभी आवश्यक नहीं है? इस बात के निर्णय करने का काम दूसरे नहीं कर सकते। दूसरे जो निर्णय करेंगे, वह उसके काम नहीं आएगा। इसमें तो प्रत्येक व्यक्ति को ही आत्मनिरीक्षण करना पड़ता है। अन्यथा, आवश्यकताओं के प्रवाह में बहकर मनुष्य अपना भान भूल जाता है। आवश्यकताओं का बढ़ना ही चोरी का कारण बन जाता है।

खाद्य वस्तुओं की आवश्यकता भी मनुष्य को चोरी की ओर प्रेरित करती है। इस आवश्यकतावृद्धि के कारण स्थूल-सूक्ष्म चोरी सहज होने लगती है। फिर मनुष्य अविवेक के कारण इतना विवेकहीन हो जाता है कि उसे जानबूझ कर चोरी करके जीवन जीना कुछ भी खटकता नहीं है। फिर येन-केन-प्रकारेण अन्याय से, अनीति से, छलबल से धन कमाने की वृत्ति बढ़ती है। बिना चोरी किये ऐशोआराम करना सम्भव ही नहीं होता। लेकिन चोरी के अनेक स्थूल-सूक्ष्म प्रकार जीवन में घुल-मिल जाते हैं कि पता ही नहीं लगता कि उससे चोरी हो रही है। इससे समाजव्यवस्था का सन्तुलन बिगड़ जाता है। सन्तुलन बिगड़ने से समाज का स्वास्थ्य यानी समाज की सुख-शान्ति नष्ट होती है। इसलिए भोग और विलासिता के लिए आवश्यकतावृद्धि अस्तेयव्रत का नाश कर देती है। आवश्यकताएँ जब बढ़ती हैं तो जीवन का आधार सच्ची आमदनी का नहीं रह सकता और तब मनुष्य को चोरी करनी पड़ती है।

स्वादिष्ट खाद्य, पेय, सुगन्धित, कोमल, फेशनेबल, चटकमटक वाली कर्णप्रिय वस्तु की आसक्ति मनुष्य को विलासिता की ओर खींचती है। इसी कारण उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। इन्द्रियतृप्ति के लिए जिन-जिन वस्तुओं को वह पसन्द करता है, उन सबको आवश्यकता की वस्तु कहने लगता है। वही चोरी का कारण बनती है।

चोरी के बाह्य कारणों में दूसरा कारण है—भुखमरी और बेकारी। बेकार

लोग भूखे मरते अपने पेट की ज्वाला मिटाने के लिए चोरी का आश्रय लेते हैं। 'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्' की कहावत के अनुसार भूखे आदमी को धर्मकर्म नहीं सुहाता, वह उचित-अनुचित उपायों का ध्यान नहीं रखता। जैसे-तैसे दूसरों का धन हरण करके वे अपना पेट भरते हैं। समाचारपत्रों से यह ज्ञात होता है कि केवल भारतवर्ष में ही प्रतिवर्ष हजारों मनुष्य बेकारी से तंग आकर आत्महत्या कर लेते हैं या चोरी, जेबकटी आदि अनैतिक धन्धों को अपनाते हैं। भुखमरी भी चोरी का कारण है। दुष्काल के दिनों में जब मनुष्य भूखे मरने लगता है, तब चोरी आदि उपायों का अवलम्बन लेता है। भुखमरी में भी मनुष्य को किसी प्रकार का भान नहीं रहता। बेकारी बढ़ाने में मुख्यतः कलकारखानों का हाथ है। गाँवों में पहले जहाँ १०-२० जुलाहे कपड़ा बुनकर अपनी जीविका चलाते थे, १०-२० तेली तेलघानियों से तेल पीलकर अपना गुजारा चलाते थे, आज उसी गाँव में या उसके पास के कस्बे में मिल लग जाने या एक्सपेलर लग जाने से सब बेकार हो जाते हैं। जिस काम को करके लाखों-करोड़ों आदमी अपना गुजारा चलाते थे; कारखाने लग जाने पर उन सबकी आजीविका कुछ ही लोगों को मिल पाती है। इस तरह कल-कारखानों के लगने से बेकारी बढ़ गई है। बेकार आदमी चोरी की तरफ झुकते हैं। बेकारी बढ़ने का दूसरा कारण है—देश के वाणिज्य और कला-कौशल का नष्ट होना। जब देश का वाणिज्य और हस्तोद्योग कला-कौशल नष्ट होने लगते हैं, तब उनके द्वारा आजीविका चलाने वाले लोग बेकार और भूखे मरते चोरी करने में प्रवृत्त हो जाते हैं।

बेकारी के ऐसे और भी कई कारण है, जिनका वर्णन करना यहाँ अप्रासंगिक है।

चोरी के बाह्य कारणों में से तीसरा कारण फिजूलखर्ची है। आज लोग अनाप-सनाप खर्च अपने आमोद-प्रमोद के पीछे करते हैं। वे अपने बजट का सन्तुलन नहीं रखते और न ही अपने आय-व्यय का विवेक करते हैं। इस प्रकार की फिजूलखर्ची के कारण जरूरत पड़ने पर जेब खाली होती है, तब वे चोरी या पाकेटमारी आदि अनैतिक उपाय अजमाते हैं।

फिजूलखर्ची बढ़ाने में भी कुछ कारण हैं। जुआ, सट्टा, लाटरी या फीचरसौदा आदि से हजारों रुपये बिना ही श्रम के आ जाते हैं, तब ऐसे लोग फिजूलखर्ची पर उतर आते हैं। जब उनकी सम्पत्ति जुए आदि में स्वाहा हो जाती है, तब वे चोरी करने पर उतर आते हैं। प्रारम्भ में तो ऐसे लोगों की चोरी अपने परिवार व अड़ौस-पड़ौस तक ही सीमित रहती है, परन्तु जब घरवाले चौकन्ने हो जाते हैं, वहाँ उसकी दाल नहीं गल पाती, तब दूसरे के घरों में घुसकर धन पर हाथ साफ करते रहते हैं। फिजूलखर्ची का एक कारण दुर्व्यसनों की आदत है। शराब, भंग, अफीम, गाँजा, तम्बाकू, चरस, व्यभिचार या वेश्यागमन आदि बुरे कार्यों का दुर्व्यसन लग जाता है। जब मनुष्य उन दुर्व्यसनों की पूर्ति बिना पैसे के कर नहीं पाता, तब वह चोरी आदि उपायों से पैसे जुटाकर अपनी आदत का पोषण करता है।

फिजूलखर्ची का एक जबर्दस्त कारण है—सामाजिक कुप्रथाओं एवं कुरूढ़ियों का पालन। विवाहशादी, नुकते, मृत्युभोज, जन्म या अन्य खुशी-गमी के प्रसंग पर समाज के अगुआ लोग गरीब आदमियों पर प्रभाव व दबाव डालते हैं या गरीब आदमी भी अपनी प्रतिष्ठा बरकरार रखने के लिए उक्त कुरूढ़ियों में खर्च करने को विवश हो जाता है। इतना कपड़ा, इतना गहना, इतना दहेज होने पर ही विवाह हो सकता है, इस प्रकार बाध्य किया जाता है, तब विवश होकर इस कुप्रथा की पूर्ति के लिए गरीब आदमी चोरी करता है। यह बात दूसरी है कि ऐसे लोग असभ्य उपायों से दूसरों के हकों का अपहरण करने के बजाय सभ्य उपायों से हरण करे। परन्तु ऐसा करना भी तो चोरी ही है। मतलब यह है कि फिजूलखर्ची भी चोरी का जबर्दस्त कारण है।

चोरी के बाह्य कारणों में चौथा कारण है—यशकीर्ति या प्रतिष्ठा की भूख। मनुष्य अपनी वाहवाही, नामबरी, प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि होती देखता है तो आडम्बर, प्रदर्शन, गाजे-बाजे, प्रकाश, शो (दिखावा) आदि में हजारों रुपये फूंकने को तैयार हो जाता है। उस समय वह अपनी हैसियत नहीं देखता कि मेरी आय कितनी है? कितना खर्च करना मेरे लिए उचित है? इस प्रकार सेठ, साहूकार, राजा, रईस और अमीर लोग कई बार अपनी प्रसिद्धि के लिए दूसरे के धन का चोरी आदि उपायों से हरण करके विवाह-शादी मेहमानबाजी आदि में खर्च कर देते हैं। या दानी बनने के लिए किसी संस्था आदि को दान दे देते हैं। इसी प्रकार दूसरों का राज्य छीन कर वीर कहलाना चाहते हैं, अथवा जो दूसरों का रोजगार छीनकर अपने को बड़ा व्यापारी या उद्योगपति प्रसिद्ध करने के इच्छुक रहते हैं। इसी तरह अपने को क्रिया-पात्र या चारित्रचूड़ामणि तपस्वी या विद्वान् न होते हुए भी वैसा बताने का उपक्रम करते रहते हैं।

कई लेखक, वक्ता या कवि भी अपनी प्रसिद्धि के लिए दूसरों के शब्दों, भावों या लेखों को अपने नाम से प्रसिद्ध कर देते हैं। इसी प्रकार मान-बड़ाई के लिए लोग दूसरे के द्वारा आविष्कृत वस्तु को अपने नाम से प्रसिद्ध कर देते हैं। और भी अनेक रूप में चोरी करते सुने जाते हैं, जिन्हें आप लोग जानते-सुनते हैं। चालाक लोग चोरी के अनेक नये-नये हथकंडे करते हैं।

चोरी का पाँचवां कारण है—स्वभाव। अशिक्षा और कुसंगति के कारण बहुत से लोगों का स्वभाव ही ऐसा हो जाता है कि उनके पास किसी प्रकार की कमी न होने पर भी या अन्य रोजगार-धन्धा होने पर भी चोरी करने की आदत या मुफ्तखोरी की आदत के कारण दूसरों की चीज का हरण करने को अच्छा समझते हैं और चोरी करते हैं।

चोरी का सबसे बड़ा कारण सामाजिक विषमता और शासन-पद्धति की दुर्बलता है। जिस समाज या राष्ट्र में व्यक्ति को पेट भर खाना नहीं मिलता हो,

जिसमें रोटी भी चुरा कर खानी पड़ती हो, उस समाज या राष्ट्र का सबसे ज्यादा नैतिक पतन और क्या होगा ? भारतीय संस्कृति के प्रचारकों ने उस व्यक्ति या समाज को भी चोर की संज्ञा दी है, जो भूखों के हिस्सों का भोजन अपने पेट में अकेला ठूंस लेता है। मनुष्य को उतना ही खाने और संग्रह करने का अधिकार है जिसमें स्वयं भी भूखा न रहे और दूसरे को भी भूखा न रहना पड़े। जब वह समाज एवं राष्ट्र के व्यक्तियों की बुभुक्षा का विचार न करके केवल अपने स्वार्थ को पूरा करने का प्रयत्न करता है, तो वह चोर है। क्योंकि वह अन्य व्यक्तियों के अधिकार पर छापा मारता है, उन्हें चोरी करने को बाध्य कर देता है।

कई बार राष्ट्र एवं समाज चोरी करने के अपराधी को दण्ड नियत कर देता है, परन्तु साथ ही समाज एवं राष्ट्र का भी यह कर्तव्य हो जाता है कि उस व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरा करने का ध्यान रखे। याद रखिए, व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र का अंग है। उसका नैतिक पतन समाज व राष्ट्र का नैतिक पतन है। राज्य द्वारा बेकारी और बेरोजगारी तथा भुखमरी को मिटाने की व्यवस्था नहीं की जाती, दुर्व्यसन मिटाने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया जाता, सामाजिक कुप्रथाओं तथा मान-बड़ाई के लिए चोरी करने वालों को रोका नहीं जाता और शिक्षा का प्रबन्ध नहीं किया जाता, तब चोरी न हो, ऐसा होना कठिन है। एक तरफ समाज एवं राष्ट्र में पूंजी एकत्रित करने की होड़-सी लगी हो, फलतः समाज एवं राष्ट्र में पूंजी सिमट-सिमट कर कुछ हाथों में आ जाती हो, वहाँ स्वाभाविक है कि अधिकांश व्यक्ति गरीब हो जाते है। उनके पास व्यापार एवं उद्योग का साधन होने से और नौकरी या मजदूरी न मिलने से उन्हें बाध्य होकर चोरी करनी पड़ती है। अतः चोरी के इस अपराध का दायित्व केवल व्यक्ति पर ही नहीं, समाज, राष्ट्र या धन-सम्पन्न व्यक्ति पर भी आता है।

कई लोग लाचारी से चोरी करते हैं, जब समाज या राष्ट्र से भूखे मरते समय किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं होती।

काठियावाड़ (सौराष्ट्र) में एक बार भयंकर दुष्काल पड़ा। गरीब किसान व मजदूर भूखों मरने लगे। एक कोइरी (कोली) ने कस्बे के 'राजा' से अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए अन्न माँगा, परन्तु उसे देने से साफ इन्कार कर दिया गया। लाचार होकर उस कोली ने दस सेर की एक थैली बनाई। फिर कोठार में लोहे के छड़ से एक छेद कर दिया। उस छेद में से थैली में अनाज भर कर वह कोली निकालने लगा। एक साल एक यह क्रम चलता रहा। किसी को भी कुछ पता नहीं लगा कि कोठार में से अनाज निकाला जा रहा है। दूसरे साल चौमासा आया, खूब वर्षा हुई। मजदूरी भी खूब मिली। बहुत अनाज किसान-मजदूरों के पास हो गया। अतः उस ईमानदार चोर किसान ने चुराया हुआ अनाज ड्योढ़ा भर कर ठाकुर साहब को वापस लौटाने की सोची। उसने दो गाड़ियों में अनाज भरा

और उसे लेकर वह किले में पहुँचा। उसने राजा से हाथ जोड़ कर प्रार्थना की—"अन्नदाता! दो गाड़ियों में भरकर आपका अनाज वापस लौटाने आया हूँ।" राजा ने अपने कामदार को बुलाकर पूछा—"इस कोली ने कितना अनाज कोठार से लिया है?" कामदार ने कहा—"हजूर! इसने कोठार से एक दाना भी अनाज नहीं लिया।" तब किसान से पूछा गया—यह कौन-सा अनाज देने आये हो?" अब तो किसान ने अपना चोरी का अपराध स्वीकार किया और घटना यथातथ्य बतला दी।' राजा ने उस किसान की ईमानदारी से प्रभावित होकर सारा अनाज माफ कर दिया। और कहा—"यह अनाज मैं तुम्हें खेत में बोने के लिए वापस देता हूँ।" फिर कामदार को बुलाकर राजा ने कहा—इसे अच्छी जमीन दो और अपना जोतदार बना दो। बैलों की जोड़ी भी दो, जिससे यह सुखपूर्वक खेती कर सके। ऐसा ईमानदार किसान दुःखी रहे, यह ठीक नहीं है।"

यह है राज्य-व्यवस्था की कमी के कारण लाचारी से की गई चोरी का उदाहरण। कुछ भी हो, समाज में जब किसी व्यक्ति को बेकारी और बेरोजगारी से पीड़ित देखे तो उसकी उपेक्षा करने वाले सम्पन्न लोग भी उसे तुरन्त सहायता न देकर चोरी करने के लिए विवश कर देते हैं। ऐसा व्यक्ति स्वयं चोरी करना नहीं चाहता, किन्तु समाज की परिस्थितियाँ उसे बाध्य कर देती हैं।

धारानगरी का सेठ जिनदास प्रतिदिन के नियमानुसार उपाश्रय में सामायिक करने पहुँचे। धर्मस्थान में जाते ही उन्होंने अपना कमीज और कोट उतारा और एक कीमती हार भी उतार कर कोट की जेब में रख दिया और दोनों वस्त्रों को खूँटी पर टाँग दिये। उसी समय एक भूतपूर्व धनिक, किन्तु वर्तमान में बेकारी और बेरोजगारी से पीड़ित गरीब वणिक् 'शान्तनु' यह देख रहा था। उसके पत्नी व बच्चे तीन दिन से भूखे थे। अतः उसने विचार किया—"अगर यह हार सेठ जिनदास के कोट की जेब से निकाल कर ले लूँ तो कोई भी व्यक्ति इसके बदले मुझे अच्छी खासी रकम दे देगा, और मैं अपना व्यापार पहले की तरह सुखपूर्वक चला लूंगा।" यों सोचकर उसने इधर-उधर देखा और सेठजी को मौन, आँखें बन्द किये अपने आत्म-चिन्तन में लीन देखा तो आँख बचाकर झटपट उनके कोट की जेब से हार निकाला और अपनी जेब के हवाले किया। फिर भारी कदमों से अपने घर की ओर चला।

सेठ जिनदास ने सामायिक पूर्ण होने पर अपने कपड़े पहने, किन्तु कोट की जेब में वह हार न मिला देख सोचा—"शायद घर ही रह गया होगा।" यों सोच सेठजी भी घर आए परन्तु हार नहीं मिला अतः निश्चिन्त होकर अपने कार्य में लग गए। इधर जब शान्तनु ने अपनी पत्नी को वह हार बताया तो उसने राय दी कि सेठ जिनदास बहुत भले आदमी हैं, उनके यहाँ यह हार गिरवी रख कर इस पर रुपये ले आओ। सेठ कुछ भी नहीं कहेंगे। वे मन-ही-मन आपकी परिस्थिति पर विचार करके सब कुछ समझ जाएँगे।"

शान्तनु वह हार लेकर सेठ जी की दूकान पर पहुँचा और हार गिरवी रखकर उस पर रुपये देने की प्रार्थना की। सेठ बुद्धिमान थे। शान्तनु की सारी परिस्थिति समझ ली, और कहा—"भाई ! हार गिरवी रखने की कोई जरूरत नहीं ! तुम्हें रुपये चाहिए तो यों ही उधार ले जाओ।" परन्तु शान्तनु के बार-बार आग्रह पर जिनदास ने वह हार अपने यहाँ गिरवी रख लिया और यथेष्ट रुपये दे दिये।

शान्तनु के चले जाने पर सेठ ने सोचा—शान्तनु ने मेरा हार चुराया, इसमें इसका दोष नहीं है। इसे अत्यन्त लाचारी की स्थिति में यह हार चुराना पड़ा है। परन्तु इसकी ऐसी दयनीय परिस्थिति देख कर भी मैंने इसे किसी प्रकार रोजगार धन्धा न दिया, न इसे धन्धे में मदद दी। एक जाति भाई व साधर्मिक की स्थिति का मुझे ज्ञान होना चाहिए।" यों सेठ मन ही मन पश्चात्ताप कर रहे थे।

इधर शान्तनु ने उन रुपयों से ईमानदारी से धन्धा शुरू कर दिया। व्यापार चमक उठा। एक ही वर्ष में बारे-न्यारे हो गए। घरखर्च के अलावा भी काफी पूँजी एकत्रित हो गई। अतः सेठ के रुपयों की अब आवश्यकता न समझ कर एक दिन थैलियों में सारी अर्थराशि मय ब्याज के भर कर शान्तनु जिनदास सेठ के यहाँ पहुँचा। सेठजी ने उससे रुपये लेने से पहले तो आनाकानी की, किन्तु शान्तनु की ओर से बहुत कुछ कहने-सुनने के बाद सेठ ने वे रुपये रख लिए और हार वापिस लौटा दिया। इस पर शान्तनु ने कहा—"सेठ जी ! आप मुझे लज्जित क्यों कर रहे हैं ? यह हार तो आपका ही है। मैंने विषम परिस्थिति में यह हार चुराया था। अतः आप इसे मुझे न लौटा कर आप ही रखिये।"

सेठ ने कहा—"भाई ! यह हार अब मेरा नहीं रहा, क्योंकि यह हार उस समय लिया गया था, जब मैं सामायिक में था। सामायिक में तो मैं सब वस्तुओं पर से ममत्व छोड़ कर बैठा था। इस पर मेरा स्वामित्व उस समय नहीं था। अतः यह हार अब मेरा नहीं कहा जा सकता। मुझे तुम्हारी दयनीय स्थिति देख कर स्वयमेव सहायता देनी चाहिए थी, लेकिन मैंने तुम्हारे प्रति उपेक्षा की, उसी के फलस्वरूप तुम्हें लाचार होकर यह चोरी करनी पड़ी। इसलिए इस चोरी में अपराध मेरा है।"

शान्तनु ने कहा—"सेठ जी ! कुछ भी हो। अपराध मेरा है। मैं ऐसी कठिन परिस्थिति में अपने स्त्री-बच्चों को भूखे देख न सका। मैं बेरोजगार था। अतः ऐसी संकटापन्न स्थिति में मुझे आपका हार चुराना पड़ा। परन्तु अब मेरी स्थिति आपकी कृपा से अच्छी है। अतः मैं ब्याज सहित आपकी रकम और यह हार न लौटाऊँ, यह मेरे लिए भयंकर अपराध होगा। अतः यह हार आप रखिए। जब दोनों में से कोई भी उस हार को रखने के लिए तैयार न हुआ तो काफी चर्चा-विचारणा के पश्चात् दोनों महानुभावों ने उस हार की कीमत मानव-सेवा के कार्य में लगाने का निश्चय किया।

बन्धुओ ! जो समाज में सम्पन्न हैं, किन्तु ऐसे निर्धन एवं बेरोजगार साधर्मिक

बन्धु को विपन्न स्थिति में देखकर भी सहायता देने को तैयार नहीं हैं, क्या वे चोरी के लिए जरा भी जिम्मेवार नहीं है ?

इसके पश्चात् चोरी का एक अन्य कारण है—ब्रह्मचर्य पालन न होने के कारण अमर्यादित संतति-वृद्धि तथा अनारोग्य। कई लोग अपनी परिस्थिति तंग देख कर भी संतान-वृद्धि करते रहते हैं, अपने जीवन में संयम नहीं रख सकते। फिर जब ज्यादा सन्तान हो जाती है, तब उन्हें उनके भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, विवाह आदि के लिए पूरा खर्च करना पड़ता है, या तो वे जिंदगीभर कर्जदार बनकर पिसते रहते हैं, या फिर चोरी जैसे अनैतिक धन्धों से उसकी पूर्ति करते हैं।

बीमारी की समस्या भी मनुष्य के सामने चोरी का संकट पैदा कर देती है। बीमारी लम्बी हो, पति की हो या पत्नी की, अथवा किसी बच्चे की हो, तब मनुष्य उसके इलाज में हजारों रुपये कर्ज लेकर खर्च करता है, जब उस कर्ज को चुकाना पड़ता है, तब नानी याद आ जाती है, और व्यक्ति मुफ्त में कहीं से अधिक से अधिक धन प्राप्त करने के लिए इधर-उधर हाथ-पैर मारता है, चोरी भी करता है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में यह स्पष्ट रूप में बताया गया है कि संसार में कौन-कौन और कैसे-कैसे चोरी करते हैं ?

दूसरों का धन हरण करने में चतुर, इसके लिए अवसर के ज्ञाता, साहसी, और हाथ की सफाई वाले लोग ही चोरी करते हैं। वे अपने हुलिए को छिपा कर, बातों का आडम्बर रच कर, मीठी-मीठी बातों में लोगों को फँसा कर दूसरों को ठगते हैं। जिसकी आत्मा नीच है, जिसकी धनलिप्सा बढ़ी हुई है, जो देश या समाज से बहिष्कृत है, जिसे मर्यादा-भंग करने में जरा भी हिचक नहीं है, जो जुआ खेलता है, जो चोरी में विघ्न-बाधा डालने वाले को या धन मिलने की जिससे आशा है, उसकी हत्या करने में जिसे कोई झिझक या भय नहीं होता। जो अपने साथियों की घात करते हुए भी नहीं हिचकिचाता, जो नगर, ग्राम और जंगल आदि को जला देता है, वह चौर्य कर्म करता है। जो ऋण लेकर वापिस लौटाना नहीं जानता, जो सन्धिभंग करता है, जो सुव्यवस्था करने वाले शासक का बुरा चाहता है, जो साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका में भेद डालता है और जो चोरी करने वालों को उनके चौर्य कर्म में किसी भी रूप से सहायता देता है, वह चोर है। चोर लोग जबर्दस्ती या गुप्त रहकर एवं वशीकरणादि मन्त्रों का प्रयोग करके गांठ काट कर, जेब काट कर या अन्य उपायों से दूसरे का धन, स्त्री, पुरुष, दास-दासी, गाय-घोड़ा आदि हरण कर लेते हैं। इसी प्रकार सरकारी खजाना खोलकर धन हरण करते हैं। इसी तरह दूसरे के धन को हरण करने के त्याग से रहित, विपुल बल, परिवार वाले, अपने धन से असन्तुष्ट, परधनलोलुप, बहुत-से राजा लोग दूसरे राजाओं के राज्य को नष्ट या अपहृत करने के लिए युद्ध के निमित्त चतुरंगिणी सेना सजा कर अहंअहमिका से गर्वित

योद्धाओं को लेकर व्यूहरचना करके दूसरे के बल का नाश करके उसका धन लूट लेते हैं।

और भी कहा गया है—अनुकम्पारहित, परलोक के भय से विमुख चोर लोग ग्राम, नगर, खान, आश्रम, आदि तथा समृद्ध देशों को लूट लेते हैं तथा उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर डालते हैं। चोरी करने में ही रातदिन मशगूल, कठोर हृदय, दारुण बुद्धि निर्लज्ज पुरुष लोगों के घरों में सेंध लगा कर, घर में रखे हुए धन-धान्यादि का हरण कर लेते हैं, सोये हुए गाफिल लोगों को लूट लेते हैं। धन की टोह में ऐसे लोग काल-अकाल, गम्य-अगम्य स्थान का विचार नहीं करते। जहाँ रक्त से जमीन लथपथ हो रही हो, जहाँ मृतकों के शव रक्त से सने पड़े हों, जहाँ डाकिनी-शाकिनी बेखटके घूम रही हो, उल्लू, सियार आदि भयानक पशु-पक्षी आवाज कर रहे हों, ऐसे घोर श्मशानों में, सूने मकानों में, पर्वतीय गुफाओं में, सांप-बिच्छू आदि भयंकर जहरीले जन्तु रहते हैं, ऐसे विषम जंगलों में रहकर शर्दी-गर्मी की पीड़ा सहते हैं तथा रातदिन इसी उधेड़-बुन में रहते हैं, कि किसका धन हरण करें। ऐसे भयंकर स्थानों में रहते हुए वे लोग कभी तो लड्डू भात, मदिरा आदि का भोजन-पान करते हैं, और कभी कन्दमूल, मुर्दे की लाश या जो कुछ भी मिल जाए, वही खा लेते हैं। जिस प्रकार भेड़िया खून की तलाश में इधर-उधर घूमता रहता है, उसी प्रकार परधनहरणकर्ता चोर डाकू आदि भी पराये धन की तलाश में जान हथेली में लिये इधर-उधर घूमते-फिरते हैं और तिर्यंचयोनि में होने वाले कष्टों को सतत यहीं भोग लेते हैं। चौर्यकर्म में प्रवृत्त ये लोग सज्जनों द्वारा निन्दित, पापी, राजाज्ञा-भंजक एवं प्राणियों के दुःख के कारण हैं। वे सतत अनेक मानसिक चिन्ताओं से तथा इसी लोक में सैकड़ों दुःखों से ग्रस्त रहते हैं।

चोरी घृणित एवं त्याज्य कर्म है

इसी प्रश्नव्याकरण सूत्र के तीसरे आश्रवद्वार में चोरी को निन्दित एवं घृणित कर्म बताते हुए कहा है—

"हे जम्बू! तीसरा आश्रवद्वार अदत्तादान यानी नहीं दिये हुए धनादि का ग्रहण करना है। यह अदत्तादान हरण करने, जलाने, मरने, भय पाने आदि पापों से लिप्त है। अदत्तादान की उत्पत्ति दूसरे के धन में रौद्रध्यानयुक्त मूर्च्छा होने से होती है। यानी जिसकी तृष्णा धन से नहीं मिटी है, चोरी करता है। चोरी करने वाले लोग आधीरात, पर्वतादि के ऊबड़-खाबड़ स्थानों में बसेरा करते हैं। उत्सवादि में गाफिल, तथा सोये हुए को लूट लेना, ठग लेना, दूसरे के चित्त को व्यग्र करना, दूसरे को मार डालना ही उनका काम होता है। यह चौर्यकर्म राग-द्वेष से पूर्ण, निर्दयता से युक्त, आर्यजनों तथा साधुजनों द्वारा निन्दित तथा तस्करों को अत्यन्त प्रिय है। चौर्यकर्म भय, अपकीर्ति, वध, नाश, संग्राम, प्रियजनों तथा मित्र स्नेहीजनों की अप्रीति तथा जन्ममरण का कारण है। यह कार्य दुखों का प्रवेशद्वार है, राजादि द्वारा दण्डनीय

है। इसका फल अत्यन्त भयंकर है। यह महापाप का आगमन स्रोत है, इसलिए इस कार्य को आश्रवद्वार कहते हैं।

चोरी करने वाले का यश नष्ट हो जाता है। ऐसे आदमी का विश्वास करना तो दूर रहा, उसके पास भी फटकना नहीं चाहते, उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। चोरी करने वाले की इस लोक तथा परलोक में जो दुर्गति होती है, उसका विशद वर्णन भी प्रश्नव्याकरण सूत्र में किया गया है। यहाँ उसकी संक्षिप्त झांकी देखिए—

निन्द्य कर्मों से परास्त लोग अपनी इन्द्रियों को संयम में नहीं रख सकते, तब शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त होकर इनके मोह में मुग्ध बन कर जो दूसरे के धन में तृष्णा बढ़ी हुई होने से ठग कर, मीठे-मीठे बोलकर और सेंध आदि लगाकर दूसरे का धन हरण करते हैं, उन नरकगामी चोरों को बेरहमी से पकड़ कर राजपुरुष अपने अधीन करते हैं, फिर उन्हें बाँध कर प्रसिद्ध-प्रसिद्ध मार्गों से घुमाते हैं और लात, घूंसे, डंडे, लकड़ी आदि से मारते-पीटते हैं आदि-आदि।

यह तो चोरी के कारण मिलने वाले इहलौकिक कष्टों का वर्णन है, पारलौकिक कष्टों का भी कोई पार नहीं है। परलोक में सबसे भयंकर गति तो नरक की है। नरक में भयंकर सर्दी, गर्मी तथा भयंकर रूप, भयंकर शब्द, भयंकर दुर्गन्ध तथा भयंकर रस आदि का सहन करना तथा भयंकर यातनाओं का सामना करना होता है, जिनके नाम सुनते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। ऐसा नीचवृत्ति का मायिक व्यक्ति यदि तीर्यञ्चगति में जाता है, तब भी वहाँ उसे नरकगति के समान ही भयंकर दुःख सहने पड़ते हैं। अनेकों बार तिर्यञ्चगति एवं नरकगति में भ्रमण करने के पश्चात् मनुष्यगति प्राप्त करते हैं, लेकिन यहाँ भी वही हाय-हाय और परेशानी होती है, न तो यहाँ उसको उच्चकुल में जन्म होता है, न ही उसे विकास के कोई अवसर मिलते हैं। यहाँ भी तिर्यञ्च और नरकगति का-सा दुःख भोगते हैं तथा हिंसा, झूठ, चोरी, कामभोग की लालसा आदि निन्द्य एवं नरकगमनयोग्य कुकर्म करते हैं।

निष्कर्ष यह है कि निन्दित, घृणित एवं चौर्यकर्म के पाप के फलस्वरूप मिलने वाले कष्टों एवं यातनाओं से छुटकारा पाने के लिए सज्जन मानव को सभी प्रकार के चौर्यकर्मों का त्याग करना उचित है।

चौर्यकर्म से मुक्त होने के लिए····

पिछले प्रवचन में मैंने चोरी के विभिन्न प्रकार और स्वरूप बताए थे, उन्हें आपको पहचान लेना चाहिए। सूक्ष्मचिन्तन और सतत विचार करने से यह स्पष्ट हो सकेगा।

चोरी के जो-जो कारण बताए हैं, उनसे दूर रहने का प्रयास अस्तेयव्रती को करते रहना चाहिए। साथ ही आवश्यकता-अनावश्यकता का विवेक और आवश्यकताओं पर संयम करने से चोरी से सहज ही छुटकारा हो सकता है। संयम की

मात्रा—सातवें व्रत—उपभोग-परिभोग परिमाण द्वारा बढ़ाते रहने, और इसके लिए हमेशा परीक्षण और छानबीन करते रहना चाहिए। अस्तेय व्रत के साधक या मुमुक्षु का यह एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है कि वह सदा आत्म-निरीक्षण-परीक्षण करता रहेगा और जहाँ भी अपने में जो दोष या न्यूनता दीखे, उसका उसी क्षण परिमार्जन करते रहना चाहिए। अस्तेय की दिशा में प्रगति का प्रतिक्षण परीक्षण करते रहना आवश्यक है। अस्तेय का हार्द कम से कम वस्तु से अपना जीवन चलाना है। जीवन में बहुत-सी आवश्यकताएँ हो सकती हैं, लेकिन अस्तेयव्रत में निष्ठा रखने वाला श्रावक जो आवश्यकताएँ, अतिरिक्त, काल्पनिक, गौण अथवा अनावश्यक प्रतीत हों, उन्हें कम करना या धीरे-धीरे छोड़ने की दिशा में प्रयत्न करना चाहिए। यदि आवश्यकताओं को घटाने का संकल्प सच्चा हो तो साधक में त्याग का बल आ ही जाता है। आवश्यकताएँ कम करने में नियम, संयम और विवेक बहुत हद तक सहायता दे सकते हैं। आवश्यकताएँ तथा धन की तृष्णा जितनी कम होगी, उतना ही आत्मसन्तोष बढ़ेगा, देहासक्ति कम होगी, मनुष्य कष्टसहिष्णु बनेगा और हर परिस्थिति का मुकाबला करने में सक्षम होगा। इससे शरीर भी आरोग्य सम्पन्न और पुष्ट होगा, समाज में असमानता या वर्गभेद मिटने से अस्तेयव्रत से समाज भी पुष्ट होगा। इस प्रकार अस्तेयव्रत का पालन सहज भाव से हो सकेगा। चाहिए अपने में आत्मविश्वास, निष्ठा और दृढ़तापूर्वक आचरण।

जब चोर भी सुधर जाते हैं, तब जो अस्तेयव्रत का साधक है, उसके लिए सुधारना कौन-सी बड़ी बात है ? वर्तमान युग के तस्कर, डाकू, चोर या व्यापारी भी सुधारना चाहें तो सुधर सकते हैं। जर्मनी का एक चोर किसी धनिक के यहाँ चोरी करने गया। किन्तु उसके घर में प्रविष्ट होते ही उसे विचार आया कि मेरा यह धन्धा अत्यन्त घृणित और नीच है। मुझे इसे अभी ही छोड़ देना चाहिए। मैं हृष्ट-पुष्ट हूँ, स्वस्थ हूँ तो क्या मैं सात्विक धन्धा अपनाकर अपना जीवनयापन नहीं कर सकता ? बस, मन में यह शुभ संकल्प आते ही उसने पुलिस स्टेशन पर फोन किया कि 'मैं यहाँ चोरी करने आया हूँ, मुझे यहाँ आकर पकड़ लो।'

इस प्रकार एक चोर को भी चोरी करने के स्थान पर सद्बुद्धि सूझती है तो साहूकारों को या अस्तेयव्रती साधकों को अपने व्यवसायिक कार्यों में सुबुद्धि सूझे और वह निष्ठापूर्वक अस्तेयव्रत पालन करे यह कुछ कठिन नहीं है।

अस्तेयव्रत-पालन में ये सावधानियां रखी जायें

अस्तेयव्रत का भली-भाँति पालन तो तभी हो सकता है, जब व्रत पालन करते समय प्रमाद या असावधानी से होने वाले दोषों से दूर रहा जाय। व्रत का निरतिचार पालन करने से ही व्रत धारण करने का पूर्ण लाभ है। शास्त्रीय भाषा में अस्तेयव्रत में आने वाले दोषों को अतिचार कहते हैं। ये अतिचार तभी तक अतिचार हैं, जबकि उन्हें संकल्पपूर्वक न किये जाएँ। संकल्पपूर्वक का मतलब है—जान-

बूझ कर, इरादे पूर्वक इन अतिचारों को करना। अगर संकल्पपूर्वक इन्हीं कामों को किया जाय तो ये अतिचार न रह कर अनाचार की कोटि में आ जाते हैं। अनाचार से तो व्रत भंग हो जाता है। अतः भगवान् ने अस्तेयव्रत के निम्नोक्त पाँच अतिचार उपासकदशांग सूत्र में इसलिए बताए हैं कि श्रावक अपनी गृहस्थी में रह कर भी इन कामों को समझ कर इनसे बचने की सावधानी रखे, अन्यथा व्रत भंग होने का अंदेशा है—

थूलग-अदिन्नादाणवेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा तंजहा —तेनाहडे, तक्करपओगे, विरुद्धरज्जातिकम्मे, कुडतुल्लकूडमाणे, तप्पडिरूवगववहारे।

अर्थात्—स्थूल अदत्तादान विरमणव्रत के पाँच अतिचार जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं। वे अतिचार ये हैं—स्तेनाहृत, तस्कर-प्रयोग, विरुद्धराज्यातिक्रम, कूटतुल-कूटमान, और तत्प्रतिरूपक व्यवहार।

अस्तेय व्रत के पाँच अतिचारों में सर्वप्रथम अतिचार स्तेनाहृत है। इसका मतलब है—चोर के द्वारा दूसरी जगह से हरण करके लाई हुई वस्तु का लोभ से सस्ती समझ कर ग्रहण करना या खरीद लेना।

कई लोग वस्तु को सस्ती देख कर लोभ फँस जाते है। सोचते है, हमें मुफ्त में तो खरीदना नहीं है, दाम देकर ही खरीद रहे हैं, इसमें कोई चोरी जैसी बात नहीं है, यों सोच कर चोरी की वस्तु को बिना कुछ छान-बीन किये ही सस्ती जान कर खरीद लेते हैं। चोरी से लाई हुई वस्तु हमेशा सस्ती ही बेची जाती है, जिससे लेने वाले का दिल भी ललचाता है। किन्तु श्रावक को विवेकपूर्वक उसकी छानबीन करनी चाहिए और चोरी की वस्तु हो तो उसे खरीदने का लोभ नहीं करना चाहिए। प्रत्येक वस्तु लेते समय श्रावक को जाँच कर लेना उचित है कि यह वस्तु चोरी की या नकली आदि तो नहीं है। चोरी की वस्तु खरीदने वाले को राज्य भी चोर के समान दण्ड देता है। कोई व्यक्ति शक्कर, चावल या अन्य राशन की वस्तुएँ चोरबाजारी से लाया हो और आप उन्हें खरीद लेते हैं, आप चाहे दाम ज्यादा देकर खरीदते हैं, तो भी वह चोरी का ही माल खरीदना समझा जाएगा, जो इस व्रत का अतिचार है।

यहाँ प्रश्न होता है कि यह माल चोरी का है? इसकी पहचान कैसे हो सकती है? क्योंकि कई दफा व्यक्ति जरूरतमन्द होता है अथवा किसी को विदेश या स्वदेश में जाना होता है तो वह अपने फर्नीचर या अन्य अनावश्यक चीजें सस्ते दामों में बेचने को तैयार हो जाता है। अतः सस्ते दामों में मिलने वाले सभी वस्तुएँ चोरी की होती हैं, यह निश्चित रूप से कैसे कहा जा सकता है?

संसार में यह आम कहावत है कि जब कोई व्यक्ति किसी चीज को बाजार-भाव से कम में माँगता है, तब वह चीज लाने वाला माँगने वाले से छूटते ही प्रायः यह कहता है कि "यह चोरी का माल नहीं है, सस्ता माल लेना हो तो चोरी का

ढूंढो।" मतलब यह है कि बाजार-भाव से विशेष कम दाम में प्रायः आधे दामों में जो चीज मिलती है, वह प्रायः चोरी की समझनी चाहिए। वैसे जिसका काम अटक जाता है या जिसे वैसे ही जरूरत होती है, उसकी चीज भी बाजारभाव से सस्ती मिलती है, लेकिन वह इतनी सस्ती नहीं होती, जितनी कि चोरी की वस्तु होती है। दबा-छिपा कर गुपचुप बेचने वाले लोगों की चीज के विषय में चोरी की वस्तु होने का सन्देह हो सकता है। अतः ऐसी वस्तु, जिसके विषय में सन्देह हो, जाँच करने पर भी उसके विषय में विश्वास न हो ऐसी वस्तु का न खरीदना ही अच्छा है।

केवल खरीदना ही नहीं, चोर की चुराई हुई वस्तु को अपने घर में रखना, अथवा चोर, डाकू आदि को अपने घर में आश्रय देना भी न केवल सरकार की दृष्टि से अपराध है, इस व्रत का अतिचार भी है।

कई लोग डाकुओं या चोरों या तस्करों द्वारा लूटा हुआ, चोरी किया हुआ, या करचोरी से लाया हुआ माल धड़ल्ले के साथ खरीदते हैं, ऐसे चोरों, डाकुओं या तस्करों को पहले से ही रुपये देकर उनके द्वारा चुराये हुए माल को लेने का वादा कर लेते हैं। यह श्रावक के लिए सरासर अनाचार है, व्रतभंग है, क्योंकि इसमें तो जानबूझकर बेधड़क दोष का सेवन होता है।

तस्कर-प्रयोग : दूसरा अतिचार

चोरों को चोरी करने की प्रेरणा देना या तस्करों को तस्करी, स्मगलिंग द्वारा करचोरी से माल लाने की प्रेरणा करना तस्कर-प्रयोग नामक अतिचार है। चोरों को चोरी करने की प्रेरणा करना, अथवा उसके कार्य में सहमत होना, उसे प्रोत्साहन देना, उसकी प्रशंसा करके उसके कार्य को उत्तेजना देना भी तस्कर-प्रयोग के अन्तर्गत है। राज्य नियमानुसार चोरी की प्रेरणा करने वाला भी चोर के ही समान दण्डनीय माना जाता है। श्रावक को इस अतिचार से बचने के लिए सावधान रहना उचित है।

किसी चोर को जानते हुए भी अगर आप उसे साहूकार ठहराते हैं, या साहूकार कहकर प्रशंसा करते हैं, अथवा कोई वकील किसी को चोर जानते हुए भी सिर्फ अपने मेहनताने के लिए उसे निर्दोष सिद्ध करने का प्रयास करता है, ऐसा करना भी प्रकारान्तर से चोर की सहायता करके चोरी की प्रेरणा करना है, जो चोरी के समान ही पाप है। कई लोग चोरबाजारी से चोरी से अनाज आदि लेकर बड़े-बड़े भोजन समारोह करते हैं, अथवा उस भोज में सम्मिलित होते हैं, विवाह आदि प्रसंगों पर रूढ़ियों या वाहवाही के वशीभूत होकर काला बाजार से चीज खरीदते हैं, इससे काला बाजार करने वालों को प्रोत्साहन मिलता है। इसलिए इस व्रत में अतिचार लगता है। शास्त्रकारों ने केवल चोरी करने वाले को ही चोर नहीं कहा है, बल्कि चोरी का माल खरीदने, बेचने, खाने, भोजन बनाने, तथा कार्य की प्रशंसा करने और निःशंक होकर चोरी से माल लाने की प्रेरणा करने वाले सभी चोरी के अपराधी हैं। यानी १८

प्रकार के चोर शास्त्र में बताए हैं। श्रावक को इस विषय में सावधान रहना चाहिए।

विरुद्ध राज्यातिक्रम : तीसरा अतिचार

जो राजा परस्पर विरोधी हैं, यानी शत्रु हैं, लड़ते हैं, उन दोनों के राज्यों को एक-दूसरे राज्य वाले परस्पर विरुद्ध राज्य मानते हैं। ऐसे विरुद्ध राज्य का उल्लंघन करना—यानी राज्य की सीमा का अतिक्रमण करना, **विरुद्ध राज्यातिक्रम** है। खासतौर से लड़ाई के समय विरोधी राजा के राज्य की सीमा में जाना अथवा उस राजा के राज्य की सीमा का अतिक्रमण करके इस राजा के राज्य की सीमा में आना, ये दोनों ही अतिचार हैं। लड़ाई के समय सुव्यवस्था के लिए एक राज्य वाले का दूसरे राज्य में आवागमन निषिद्ध किया जाता है, क्योंकि ऐसा करने से एक राज्य का भेद या गुप्त बात दूसरे राज्य में चले जाने का खतरा रहता है। इसलिए श्रावक को इस अतिचार से बचने की कोशिश करनी चाहिए।

विरुद्ध राज्यातिक्रम का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि विरोधी राज्य की सीमा का उल्लंघन करके करचोरी बचाकर वहाँ के लोगों को माल देना और वहाँ से माल लाना, इस प्रकार राज्यातिक्रम भी करचोरी का कारण होने से अतिचार है।

इस अतिचार का तीसरा अर्थ राज्यविरुद्ध कार्य करना भी हो सकता है। यानी राजा ने जनता के हित के लिए जो कानून-कायदे बनाए हों, उनका भंग करना अतिचार है। अथवा शासक ने सुव्यवस्था के लिए कोई नियम बनाया हो, उसका भंग करना भी इस अतिचार के अन्तर्गत है।

श्रावक इस अतिचार से बचने की सावधानी रखेगा।

कूटतुला-कूटमान : चौथा अतिचार

तराजू से तौलने में या गज आदि से नापने में कम देना, अथवा बाँट या गज आदि तौल-नाप में कम रखना।

सरकार ने जो बांट नियत किये हों, अथवा जो पैमाना निश्चित किया है, उस से कम-ज्यादा वजन के बांट तथा नापने में मापदण्ड कम-ज्यादा रखना न्यूनाधिक मान-उन्मान नामक अतिचार है। इस अतिचार से बचने की श्रावक को कोशिश करनी चाहिए। श्रावक जानबूझ कर ऐसी ठगाई नहीं करेगा। अगर व्यापारी बांट-पैमाने पूरे रखकर भी तोलते समय डंडी मारता है, नापते समय हाथ सरकाता है तो सरासर चोरी है। भूल या असावधानी से कम-ज्यादा नापना-तौलना अतिचार है। इसलिए श्रावक को इस विषय में सावधानी रखना उचित है कि उसकी दूकान पर बच्चा आए, बूढ़ा आए, नासमझ या भोला-भाला ग्रामीण आए, महिला आए, चाहे दिन हो या रात, एकान्त में हो या सरेआम बाजार में हो, ऐसी अप्रामाणिकता का व्यवहार भी सभ्य चोरी में है। ऐसी चोरी दिनदहाड़े चोरी है। ऐसा स्याह-सफेद करने वाला व्यक्ति चाहे धर्मात्मा कहलाता हो, वह सभ्य चोर की गणना में ही आएगा।

सुनते हैं, कई लोग दो तरह के बाँट रखते हैं, लेते समय अधिक वजन के और देते समय कम वजन के, इसी तरह पैमाने भी दो तरह के रखते हैं, लेते समय के अधिक नाप के, और देते समय कम नाप के। तौलने-नापने में वे ऐसी चालाकी से काम लेते हैं कि दी जाने वाली वस्तु तौल-नाप में कम होती है, और ली जाने वाली वस्तु तौल-नाप में ज्यादा।

तत्प्रतिरूपक व्यवहार : पाँचवां अतिचार

किसी अच्छी वस्तु में उसी के सदृश नकली अथवा उसमें खप जाने वाली हल्की वस्तु मिलाकर देना, तत्प्रतिरूपक व्यवहार है।

किसी अच्छी वस्तु में घटिया चीज का मिश्रण करना आज के व्यापारी जगत् में आम बात हो गई है। कई व्यापारी नमूना बढ़िया चीज का दिखाते हैं और देते समय घटिया किस्म की चीज दे देते हैं। ग्राहक के साथ ऐसी धोखेबाजी करना आम बात हो गई है। गेहूँ में कंकर, मसालों में विभिन्न चीजें, काली मिर्च में पपीते के बीज, दवाइयाँ नकली घटिया किस्म की मिलाकर बेचना—सरासर अनाचार है। यदि कभी भूल से ऐसा हो जाता है तो अतिचार है। पैसे कमाने के लिए इस प्रकार की बेईमानी और धोखेबाजी करना चोरी है। जीरे में रेत मिलाना, जूट या रुई में पानी, घी में वनस्पति घी, तेल में नकली चीज, दूध में पानी मिलाना चोरी नहीं तो क्या है? श्रावक को अतिलोभ में पड़कर इस अप्रामाणिकता से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि इससे श्रावक का सत्य और अस्तेय दोनों व्रत भंग होते हैं।

परिवार, समाज और राष्ट्र में इस प्रकार सावधान रहकर अस्तेयव्रत का पालन किया जाय तो सर्वत्र सुख-शान्ति, सुव्यवस्था और आत्म-विकास हो सकता है। आप भी अस्तेयव्रत के प्रशस्त-पथ पर चलकर अपना कल्याण करें। ✡

8

ब्रह्मचर्य की सार्वभौम उपयोगिता

☆

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके सामने ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में प्रकाश डालूँगा। अस्तेयव्रत के बाद ब्रह्मचर्यव्रत का क्रम आता है। जिन दिनों दुनिया इस व्रत को जानती ही नहीं थी, उस प्रागैतिहासिक युग में आज से लाखों वर्ष पहले हमारे ऋषि-मुनियों ने ब्रह्मचर्य का उपदेश किया था। उस युग में भारतवर्ष के सिवाय दुनिया के शेष लोग जंगलों में नंगधडंग रहकर जीवन बिताते थे। पेड़-पौधे, फल-फूल और पत्ते, झरने का पानी, हवा और सूर्य का प्रकाश ही उनका जीवन था। अधिकांश लोग कच्चा मांस खाकर अपना जीवन यापन करते थे। उन दिनों भारतवर्ष संस्कृति और सभ्यता में सिरमौर था। यहाँ के ऋषि-मुनि, योगी और यति, अहर्निश, ध्यान, मौन, योगाभ्यास, संयम, तप और त्याग के अनुष्ठान में संलग्न रहते थे। उन्होंने ब्रह्मचर्य को पहले स्वयं अपनाकर, उसके महत्व, उपयोगिता और लाभ को स्वयं अनुभव करके विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया था। जब से विश्व में धर्म की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई, तभी से ब्रह्मचर्य का श्री गणेश हुआ।

आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने धर्म के अंगों में ब्रह्मचर्य को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया। उन्होंने अपने ज्ञान और अनुभव के प्रकाश में देखा कि ब्रह्मचर्य के बिना न तो साधु-जीवन की साधना हो सकती है, और न ही गृहस्थ-जीवन की साधना।

ब्रह्मचर्य के विचार के साथ आचार भी

भगवान ऋषभदेव ने जैन-परम्परा में विचार के साथ आचार को समान रूप से जीवन में उपयोगी माना। उन्होंने बताया कि अगर कोई व्यक्ति उच्च विचार अपने मन-मस्तिष्क में भरता रहे, किन्तु उसका कण भर भी आचरण न करे तो वह विचार बोझ रूप हो जाता है, परिग्रह हो जाता है। वह वन्ध्यविचार, जीवन की साधना के उत्तम फल को प्राप्त नहीं कह सकता। इसलिए ब्रह्मचर्य का विचार करने के साथ-साथ साधक को ब्रह्मचर्य के आचार को भी अपनाना चाहिए। ज्ञान एवं विवेक हमारे गन्तव्य-पथ को प्रकाशित अवश्य कर देता है, किन्तु उस प्रकाशमान पथ पर हम

अपने चरण न बढ़ाएँ तो लक्ष्य तक पहुँच नहीं सकेंगे। इसलिए ब्रह्मचर्य द्वारा उच्च लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसके विचार और आचार दोनों को समान रूप से स्थान देना होगा।

ब्रह्मचर्य के बिना किसी भी साधना में प्रगति नहीं

ब्रह्मचर्य के बिना योग, ध्यान, मौन, जप, तप आदि साधनाएँ नहीं हो सकतीं। योग-साधना में वासना, कामना, आसक्ति और तृष्णा आदि बाधक तत्व हैं। इन क्षुद्र वृत्तियों को अपना कर कोई भी व्यक्ति योग साधना नहीं कर सकता। इसलिए जो व्यक्ति योग की साधना करना चाहता है, तथा उसके द्वारा अपने ध्येय को प्राप्त करने का इच्छुक है, उसके लिए सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य साधना आवश्यक है। इसीलिए यम-नियम आदि आठ अंगों में से पाँच यमों में ब्रह्मचर्य को भी एक यम माना है! भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक चौबीस तीर्थंकरों ने आचार योग में ब्रह्मचर्य को साधु के लिए महाव्रत के रूप में और गृहस्थ के लिए अणुव्रत के रूप में स्वीकार किया है।

किसी भी व्रत या नियम के पालन के लिए, धर्म की साधना के लिए, जप-तप की साधना के लिए या ध्यान आदि के लिए मन की पवित्रता आवश्यक है। और मन की पवित्रता ब्रह्मचर्य से आती है। मनुष्य का मन पवित्र नहीं होगा, इधर-उधर की वासना की गलियों में भटकता रहेगा, तथा विविध वासनाओं एवं इन्द्रियविषयों के आकर्षणों में घूमता रहेगा तो उसमें एकाग्रता नहीं आएगी, वह विशृंखलित रहेगा। विशृंखलित मन किसी भी साधना को ठीक ढंग से नहीं कर सकेगा। इसलिए शुद्ध साधना का सिंहद्वार ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के बिना किसी भी साधना में आगे गति नहीं हो सकती।

ब्रह्मचर्य के बिना मन व इन्द्रिय की शक्ति केन्द्रित नहीं

आपने देखा होगा कि रेलगाड़ी का इंजिन भाप से चलता है। किन्तु भाप तो आपके घरों में खिचड़ी बनती है, तब उसकी पतीली में से बहुत निकलती है, क्या आप उससे इंजिन चला सकते हैं? कदापि नहीं। इंजिन या स्टीमर जो चलते हैं, वे वाष्प की शक्ति से ही चलते हैं, पर किस वाष्प-शक्ति से वे चलते हैं? जो वाष्प यंत्र में एकत्रित हो जाती है, उसी की शक्ति से वे चल सकते हैं। यदि वाष्प को वाष्पयन्त्र में एकत्रित न की जाय और उसे हवा में बिखरने दिया जाय तो उस बिखरी हुई भाप से इंजिन या स्टीमर नहीं चल सकते। यही बात हमारी मन और बुद्धि की आन्तरिक शक्ति के सम्बन्ध में है। यदि हम मन, बुद्धि, चित्त और हृदय की तथा मन के आदेश में चलने वाली इन्द्रियों की शक्ति को केन्द्रित नहीं करते, उन्हें विविध विषयों में भटकाते रहते हैं, तो उनकी शक्ति भी बिखर जायेगी। इन्द्रियों तथा मन आदि की बिखरी हुई शक्तियाँ, शक्तियाँ नहीं रहतीं, बल्कि वे शक्तियाँ नष्टभ्रष्ट हो जाती हैं। क्योंकि वे व्यर्थ चली जाती हैं। यदि उन्हीं शक्तियों को संयम में रखा

जाय तो उनसे बहुत अद्भुत और महान् कार्य हो सकते हैं, स्वपरकल्याण के । मन और इन्द्रियों पर तथा अन्तःकरण पर संयम ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा ही हो सकता है। इसीलिए आचारांगसूत्र और ऋग्वेद जैसे प्राचीन धर्मशास्त्रों में ब्रह्मचर्य का विस्तार पूर्वक उल्लेख मिलता है।

वर्तमान युग में ब्रह्मचर्य अनिवार्य हो

कई व्यक्ति सीधा ही यह आक्षेप करते हैं कि ब्रह्मचर्य की जरूरत ही क्या है? यह तो इन्द्रियों और मन की स्वतन्त्रता पर ताला लगाना है, मन, बुद्धि और इन्द्रियों को स्वतन्त्र रूप से विचरण करने से रोकना तो उनके विकास को रोकना है । कुछ मानसशास्त्रियों का मत है कि "ब्रह्मचर्य इच्छाओं का दमन है और इच्छाओं के दमन से आदमी विक्षिप्त हो जाता है। बलपूर्वक रोकी हुई मन और इन्द्रियों की वासना द्विगुणित वेग से उछलती है। परन्तु यह सब भ्रान्ति है।

ये संकट अब्रह्मचर्य की ही देन हैं

आज देश एवं समाज में यत्र-तत्र रोग, शोक, दुःख, अकाल, मृत्यु, दरिद्रता आदि संकट उपस्थित हो रहे हैं, वे सब अब्रह्मचर्य, असंयम या वीर्यनाश की देन हैं, वे ब्रह्मचर्य के कारण नहीं हैं। आज अश्लील सिनेमा, नाटक, अश्लील चित्र, गलत खान-पान, गलत रहन-सहन एवं अत्यधिक भोगविलास में इन्द्रियों और मन की शक्ति का अपव्यय किया जा रहा है। बेकार वस्तु की तरह वीर्य का नाश किया जा रहा है। विषयभोग को खुल्ले आम छूट दी जा रही है, उसके परिणाम तो हम देख ही रहे हैं, बहुत ही दुर्बल, क्षतवीर्य बालक-बालिकाओं का जन्म, असमय में ही वृद्ध बने हुए युवक-युवतियाँ अनेक रोगों के शिकार बने हुए लोग !

मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या ये दुष्परिणाम ब्रह्मचर्य की देन हैं? आप कहेंगे कि नहीं, ये सब दुष्परिणाम इन्द्रियों और मन को खुली छूट देने के हैं। ये बुरे नतीजे इन्द्रियों और मन को नियन्त्रण में न रखने और उन्हें स्वच्छन्दतापूर्वक विषयों के दल-दल में फँसाने के हैं।

आज हम देख रहे हैं कि कई युवकों और युवतियों की आँखें कमजोर हैं, गाल पिचके हुए हैं, चेहरा मुर्झाया हुआ है, जब देखो तब किसी न किसी बीमारी का आक्रमण उनके शरीर पर होता रहता है, आए दिन सिर में दर्द रहता है, असमय में ही बुढ़ापा आकर उन्हें घेर लेता है, उनकी कमर झुक जाती है। यह सब कृपा ब्रह्मचर्य की है या अब्रह्मचर्य की? याद रखिये, ये सब खुराफातें अब्रह्मचर्य—इन्द्रिय-मन पर असंयम—की हैं। इसलिए स्वेच्छा से ब्रह्मचर्य या इन्द्रियसंयम व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अत्यन्त हितकारी है। यह भ्रम है कि ब्रह्मचर्य रखने से मनुष्य की वासना द्विगुणितवेग से उछलती है, बल्कि वासना सेवन से ही वासना अधिकाधिक भड़कती है, शान्त नहीं होती। इस बात की साक्षी मनुस्मृति का यह कथन है—

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

अर्थात्—कामवासनाओं के उपभोग करते रहने से कामवासना कदापि शान्त नहीं होती। आग में घी डालते रहने पर आग शान्त नहीं होती, बल्कि बार-बार अधिकाधिक भड़कती रहती है।

वर्तमान युग की एक देन और है—आजकल के युवकों में किसी भी अच्छे कार्य को करने का उत्साह बहुत कम पाया जाता है थोड़ा-सा परिश्रम का कार्य करते ही थकान आ जाती है, हाँफने लगते हैं, किसी भी नये कार्य को करने का प्रायः साहसा नहीं होता, जरा-सी विघ्नबाधा से, जरा-सी विपत्ति से या जरा-से भय दिखाने मात्र से वे घबरा उठते हैं। किसी भी विपत्ति, संकट या कष्ट का सामना करने को सहस तैयार नहीं होते। जरा-सी सर्दी, गर्मी या वर्षा अधिक हुई कि उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, किसी भी कष्ट को अधिक बर्दाश्त करने की उनमें शक्ति नहीं होती। कष्ट देखते ही दूर से पलायन करने लगेंगे, खतरा उपस्थित हो जाने पर हृदय की धुकधुकी बढ़ जाएगी, कई दफा भय के मारे उनका ब्लडप्रेशर बढ़ जाएगा। क्या ये सब मानसिक एवं शारीरिक दुर्बलताएँ ब्रह्मचर्य की देन हैं? नहीं, ये सब अमर्यादित अब्रह्मचर्य की देन हैं।

और फिर आजकल विद्यार्थियों की स्मरणशक्ति अत्यधिक दुर्बल होती जा रही है। आज याद किया हुआ पाठ, दूसरे दिन प्रायः भूल जाते हैं। अथवा उनकी यह शिकायत रहती है कि पाठ याद नहीं होता, पढ़ने में मन नहीं लगता। बात-बात में माता-पिता से लड़ने-झगड़ने को तैयार हो जाते हैं, अपने प्रिय अध्यापकों से भी कलह करने और उन पर प्रहार करने को आमादा हो जाते हैं।

माता-पिता की प्रायः अपने लड़कों के विषय में यह शिकायत रहती है कि वे उनकी आज्ञा का पालन नहीं करते, जब देखो तब इधर-उधर आवारा फिरते रहते हैं, ऐसे ही दुर्व्यसनियों की टोली में मटरगश्ती करते रहते हैं, उनके न तो खाने-पीने की कोई मर्यादा है, न धर्म और संस्कृति का कोई विचार है। सिनेमा के लिए बार-बार माता-पिता से आग्रह करके पैसा ले जाएँगे। परन्तु पढ़ने-लिखने के नाम पर बारह बजे रहते हैं। जब परीक्षा आती है, तब प्रायः नकल करके या तिकड़मबाजी करके पास हो जाते हैं।

माता-पिता कहलाने वाले भी प्रायः यह नहीं समझते कि जब हम में कमाने या भरणपोषण करने की अधिक शक्ति नहीं है, तब अधिक सन्तान क्यों पैदा की जाए किन्तु वीर्य की शक्ति न पहिचान कर उसे अन्धाधुन्ध विषय-भोगों में खर्च की जा रही है, उसी में आनन्द माना जा रहा है? ऐसा करने से जब अधिक सन्तान उत्पन्न हो जाती है और आर्थिक बोझ बढ़ जाता है, तब उनकी आँखें खुलती हैं, तब वे घबराते हैं और रो-रोकर, कर्जदारी करके जिंदगी बिताते हैं। अब आप स्वयं सोच सकते

है कि ब्रह्मचर्य से दुःख है या अब्रह्मचर्य से ? मैथुन त्याग में सुख है अथवा मैथुन सेवन में ?

ब्रह्मचर्य की महत्ता को समझो

विदेशी लोग भले ही ब्रह्मचर्य की महत्ता न समझने के कारण पांचों इन्द्रियों के विषय-भोग में ही आनन्द मानते हों, यद्यपि वहाँ के लोगों की भी अब आँखें खुलने लगी हैं और वे पांचों इन्द्रियों के भोगों से इतने ऊब गये हैं, शरीर निचुड़ जाने के कारण इतने सन्तप्त हो गये हैं, कि कई लोग आत्महत्या करने पर उतारू हो जाते हैं, कई हिन्दुस्तान के योगियों, ऋषि-मुनियों एवं संन्यासियों की शरण में आकर सुखशान्ति का रास्ता पूछते हैं। किन्तु भारतवासी लोगों को तो ऋषि-मुनियों के द्वारा ब्रह्मचर्य का उत्तम मूलमंत्र वरदान रूप में मिला है, उसे पाकर भी वे इसे आँखों से ओझल क्यों कर देते हैं ? इसका अर्थ तो यह हुआ कि रत्न पाकर भी वे इसे पामर जीव की तरह फेंक देते हैं और उसके बदले कांच को उससे चमकीला समझ कर ग्रहण कर लेते हैं। हिन्दुस्तान के लोगों को तो यह विचार करना चाहिए। भारत के महान् ऋषि-मुनियों ने ब्रह्मचर्य रूप चिन्तामणिरत्न पाकर जगत् के समक्ष महान् आदर्श प्रस्तुत कर दिया है कि विषय-भोगों से मनुष्य का जीवन सुखी नहीं हो सकता, ब्रह्मचर्य ही सुख-शान्ति का मार्ग है, सर्वेन्द्रियसंयम ही कल्याण का पथ है, स्वेच्छा से मनोनिग्रह या वासना नियंत्रण ही रोग-शोक-दुःख निर्बलतानाशक है, स्वस्थता एवं आत्मशक्ति का प्रदाता है। यह समझ-बूझकर भी विषय-भोगों में सुख मानना, वीर्य को व्यर्थ ही बहाने में आनन्द मानना कितनी घोर मूर्खता व अज्ञान है।

विषय-भोगों में आनन्द कहाँ ?

एक भावुक भक्त एक संन्यासी के पास गया और उनसे धन की याचना की। संन्यासी ने कहा—'मेरे पास कुछ भी नहीं है।"

भक्त ने बहुत आग्रह किया—"किसी भी तरह से आपको मेरी दरिद्रता दूर करनी पड़ेगी।" संन्यासी बोले—"अच्छा जाओ, सामने नदी के तट पर जो पत्थर पड़ा है, उसे उठा ले आओ।" वह गया और उस पत्थर को उठा लाया। संन्यासी ने उससे कहा—'यह पारसमणि है। इससे लोहा सोना बन जाता है।" यह सुनकर भक्त बहुत प्रसन्न हुआ और संन्यासी को प्रणाम करके वहाँ से चल पड़ा। कुछ दूर जाने पर उसे विचार आया कि यदि पारसमणि ही सबसे श्रेष्ठ और आनन्ददायक होता तो वह संन्यासी इसे क्यों छोड़ता ? संन्यासी के पास इससे भी उत्तम कोई चीज है, जो उन्हें अधिक आनन्द देती है।" वह लौटकर वापस आया और संन्यासी से कहने लगा—"बाबा ! मुझे वह चीज दो, जिसे पाकर आपने अधिक आनन्द पाया और इस पारसमणि को ठुकरा दिया।"

पारसमणि को ठुकराने की शक्ति किसी भौतिक सत्ता में नहीं होती, अध्यात्म

ही एक ऐसी सत्ता है, जिसकी दृष्टि में पारसमणि का पाषाण से बढ़कर कोई मूल्य नहीं है।

कामभोग को आप पारसमणि मान लें, क्योंकि भौतिक जगत् में वह अच्छी चीज मानी जाती है, लेकिन वह आध्यात्मिक जगत् की दृष्टि से दुनिया में सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वाधिक आनन्ददायी साधन नहीं है। सर्वाधिक आनन्ददायी एवं सर्वश्रेष्ठ साधन तो ब्रह्मचर्य है, जिसे संन्यासी ने ग्रहण कर रखा था। जिसके लिए उपनिषदों के ऋषियों ने गाया—'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।' ब्रह्म को हमने आनन्दमय अनुभव कर लिया है। यदि ब्रह्मचर्य आनन्दमय नहीं होता तो हमारा जीवन बुझी हुई ज्योति जैसा होता। हमारी समग्र चेतना में आनन्द का सागर लहरा रहा है, हमारे मन बुद्धि चित्त, हृदय एवं समस्त इन्द्रियों में आनन्द की अभिव्यक्ति हो रही है। परन्तु हमारा मन आनन्द की खोज में बाहर भटक रहा है। कस्तूरी मृग की नाभि में कस्तूरी होती है, किन्तु वह कस्तूरी की खोज में इधर-उधर मारा-मारा फिरता है, यही दशा आज भौतिकवादियों की हो रही है, जो चाहते स्थायी आनन्द हैं, असीम सुख की जिन्हें वाञ्छा है, किन्तु वे असीम सुख या परम आनन्द-स्रोत ब्रह्मचर्य को (जो स्वयं के पास है,) न अपना कर विषयों के उपभोग में, स्वच्छन्द वासना सेवन में, अपने अमूल्य वीर्य को लुटा कर स्थायी आनन्द एवं सुख की आशा रखते हैं। विषयों की अनुभूति में जो सुख है, वह असीम नहीं है तथा शारीरिक-मानसिक अनिष्ट के परिणामों से मुक्त नहीं हैं। शास्त्रीय शब्दों में कहें तो—

'खाणी अणत्थाण हु कामभोगा,

कामभोग क्षणिक एवं अनर्थों की खान हैं। उनमें आनन्द कहाँ ?

चिन्तामणि रत्न से गाजर-मूली खरीदना मूर्खता

एक चरवाहे को गायें चराते-चराते एक जगह एक चमकीला पत्थर मिल गया। वह उस चिन्तामणि रत्न को पत्थर समझ कर बाजार से कई दिनों की सड़ी-गली गाजर-मूली खरीद लेता है। क्या चिन्तामणिरत्न का उपयोग केवल गाजर-मूली खरीदना ही है कि मनोवाञ्छित वस्तुओं को पाना ? उसका यथार्थ उपयोग अपने मन के संकल्पों और उद्देश्य को पूर्ण करना है। परन्तु मूर्ख इस बात को नहीं समझता। उसने चिन्तामणिरत्न की वास्तविक कद्र नहीं की, उसका मूल्यांकन वह नहीं कर सका।

मानव-जीवन भी चिन्तामणिरत्न के तुल्य है। आपको जो मनुष्य-जीवन मिला है, वह इतना सुन्दर, बल-बुद्धि आदि गुणों से परिपूर्ण मिला है कि उससे आप लौकिक एवं लोकोत्तर सभी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकते हैं, जितना ऊँचा उठना चाहें, उठ सकते हैं। इस जीवन के द्वारा समस्त लौकिक सुख-समृद्धि एवं लोकोत्तर आध्यात्मिक समृद्धि प्राप्त की जा सकती है। इतना शानदार उन्नत एवं श्रेयस्कर जीवन बनाया जा सकता है कि उससे यहाँ भी आनन्द और जन्म-जन्मान्तर में भी आनन्द प्राप्त किया

जा सकता है। ऐसे महान् एवं अनमोल जीवन को वासनो-पूर्ति में व्यय कर देना, विषय-भोगों को पाने में लुटा देना, आचार्य की दृष्टि में वैसी ही महामूर्खता है, जैसी चिन्तामणिरत्न को गाजरमूली के बदले दे डालने वाले चरवाहे ने की। चिन्तामणि देकर बदले में गाजरमूली लेकर पेट भरना कोई बुद्धिमानी नहीं है, तथैव मानव-जीवन पाकर विषय-वासना में लिप्त रहना भी बुद्धिमानी नहीं है। यदि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य भोगों में ही लिप्त रहना और सांसारिक विषय-वासनाओं में रचे-पचे रहकर जीवन को बर्बाद कर देना है तो फिर पशु-जीवन से मानव जीवन में क्या विशेषता रही? फिर 'दुल्लहे खलु माणुसे भवे' कहकर शास्त्रों ने मानव-जीवन की महिमा का गुणगान क्यों किया है? सांसारिक वासनाओं की पूर्ति तो पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि सभी करते हैं, मनुष्य में कुछ विशेषता होनी चाहिए। इसीलिए ऋषि मुनियों ने अनमोल एवं दुर्लभ मानव-जीवन को विषय-वासनाओं की पूर्ति में न लगाकर ब्रह्मचर्य के द्वारा जीवन को शानदार एवं उन्नत बनाने का संकेत किया है।

ब्रह्मचर्य : जीवन-अमरत्व की साधना

महापुरुषों ने ब्रह्मचर्य को जीवन और अब्रह्मचर्य को मृत्यु कहा है। ब्रह्मचर्य अमृत है, और अब्रह्मचर्य या वासना पर असंयम विष है। ब्रह्मचर्य अनुपम सुख शान्ति का मूलस्रोत है, जबकि वासना अशान्ति और दुःख का अपार सागर है। ब्रह्मचर्य आत्मा का शुद्ध प्रकाश है, जबकि वासना कालिमा है। ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व एवं विनय का मूल है, जबकि अब्रह्मचर्य अज्ञान, भ्रान्ति, अश्रद्धा, अविनय, भोग और रोग का मूल है।

ब्रह्मचर्य द्वारा सोने की खेती करो

मनुष्य का शरीर इतना मूल्यवान है कि उससे स्वर्ण की खेती हो सकती है, हीरे और जवाहरात भी उत्पन्न किये जा सकते हैं। किन्तु बचपन में जब तक वासनाएँ पैदा नहीं होतीं, तब तक वह उसका यथोचित विकास कर लेता है, शरीर और मन स्वस्थ सुडौल, सुन्दर और उन्नत बन जाते हैं, किन्तु यौवन काल आते ही संसार की वासना के चक्र में पड़ जाता है, उसके शरीर का ओज और तेज रिसरिस कर समाप्त होने लगता है। अकाल में वृद्धावस्था बीमारी आ घरती है। सैकड़ों बीमारियाँ उसके शरीर में अड्डा जमा लेती हैं। इस प्रकार वासनाओं और विकारों में ग्रस्त शरीर का ह्रास हो जाता है। तब वह न तो भोग के योग्य रहता है, न योग साधना के योग्य ही रह जाता है। कच्ची उम्र में भोग के द्वारा जिसका शरीर निचुड़ गया है, वह क्या खाक योग का अभ्यास करेगा, क्या त्याग और वैराग्य को जीवन में अपनाएगा? जिस भोग के लिए उसने तन को गला दिया, उस भोग की उपलब्धि भी उससे नहीं हो पाती।

इसलिए ब्रह्मचर्य एक ऐसी साधना है, जिससे तन भी शक्तिशाली बनता है, मन भी बलवान बनता है और आत्मा भी बलवान बनती है। ब्रह्मचर्य अन्दर और

बाहर दोनों साधनों को ठीक रखता है। जब बाहर के साधन खोखले हो जाते हैं, तब अन्दर के साधन भी काम नहीं देते, न पवित्र एवं ऊँचे विचार आते हैं, न वाणी ही वजनदार होती है, न आचरण के क्षेत्र में ही चरण बढ़ते हैं। जीवन सूना-सूना और भारभूत लगने लगता है, ब्रह्मचर्य के अभाव में। इसलिए मानव शरीर वासनाओं की आग में झोंककर नष्ट कर देने के लिए नहीं, विवेक भ्रष्ट होकर विकारों के उत्पथ पर दौड़ने के लिए भी नहीं है, अपितु सर्वेन्द्रिय-संयम के द्वारा उत्तमोत्तम आत्मगुणों का उपार्जन करने के लिए है। यही सोने की खेती है।

सौन्दर्य का मूल : ब्रह्मचर्य

मनुष्य कामिनी का रूप-सौन्दर्य निहार कर उसमें लुब्ध हो जाता है, कई दीवाने तो रूप पर पतंगे के समान अपना सर्वस्व होम देते हैं। उनके पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता, प्रत्युत वे अपने ही रूप, सौन्दर्य, मनोबल, इन्द्रियबल को खो बैठते हैं अपने ही हाथों से अपने सौन्दर्य में आग लगा देते हैं।

आकाश में काले-कजरारे बादल मंडरा रहे हैं। सन्ध्या की सुहावनी बेला है। सूर्य अपनी मन्द-मन्द किरणों के साथ विहँसता हुआ अस्ताचल की ओर गमन कर रहा है। ऐसे समय में आकाश में तना हुआ इन्द्रधनुष कितना सुन्दर लगता है ? ऐसा लगता है, मानो आप अपलक दृष्टि से उसे नीहारते ही रहें !

शीत ऋतु है। खेतों में गेहूँ के हरे-भरे पौधे लहलहा रहे हैं। इधर मेघगर्जन भी हो रहा है। उधर हरी-हरी दूब पर ओस की बूंदें टपक रही हैं, मानो मुक्ता-कण हों।

वसन्तऋतु है। वन में विविध प्रकार के वृक्षों से वनराजि सुशोभित हो उठी है। लतामण्डप विकसित हो रहे हैं। फुलवाड़ी में रंगबिरंगे फूल खिल उठे हैं। केवड़ा गुलाब, मोगरा, चम्पा, चमेली, जाई, जूही आदि मनभावने फूलों की सुगन्ध ने प्रकृति के वातावरण में मादकता भर दी है। प्रकृति रूपी रमणी ने अपनी अद्भुत छटा और लावण्य चारों ओर बिखेर दिया है।

ये सब सौन्दर्य के स्रोत हैं, परन्तु इन्हें देखने के लिए आँखें ही न हों तो ? आँखें तो हों, किन्तु वैसा मानस न हो तो ? नेत्र और मानस तो हो, लेकिन यदि सौन्दर्य-निरीक्षण की रस वृत्ति कुण्ठित हो तो ? चित्त-वृत्ति मनहूस-सी बनी हुई हो, उसमें प्रसन्नता न हो, अथवा आत्मा के पास उसे देखने की सूक्ष्म दृष्टि न हो तो ? कहना होगा कि इन वस्तुओं के अभाव में प्रकृतिनटी का सारा सौन्दर्य व्यर्थ होगा।

निष्कर्ष यह है कि सौन्दर्य का मूल-स्रोत चेतना की स्वस्थ सूक्ष्म दृष्टि है; जो ब्रह्मचर्य से ही उद्भूत होती है। ब्रह्मचर्य के अभाव में न तो आँखों में देखने का तेज होगा, न मन की दिव्य पैनी आँखें होंगी, न चित्तवृत्ति ही इतनी सजग, स्वस्थ और प्रसन्न होगी, और न आत्म-शक्ति ही होगी।

एक सुन्दर, गौरवर्ण स्वस्थ एवं हृष्टपुष्ट नवयुवक था। उसके बाल घुंघराले थे। मनमोहक वस्त्र पहने हुए, गर्दन में नेकटाई लगाये हुए था। उसे अपनी सुन्दरता पर अत्यन्त गर्व था।

एक दिन एक दार्शनिक ने उससे पूछा—"क्या तू बता सकता है कि तेरा इतना सौन्दर्य, इतना स्वस्थ, सुडौल शरीर किस कारण से है? इतनी सुन्दर, स्वस्थ एवं बलिष्ठ काया में से यदि आत्मा निकल जाए तो क्या तेरा यह सौन्दर्य टिका रहेगा?"

युवक इसे सुनकर क्षणभर विचार में पड़ गया। उसने कहा—"फिर तो यह सब खेल बिखर जाएगा? न सौन्दर्य रहेगा और न ही स्वस्थता और बलिष्ठता। मैं जिस शरीर सौन्दर्य पर इतना गर्व कर रहा हूँ, वह तो सिर्फ हड्डियों का ढांचा और मांस का ढेर है। उसमें सौन्दर्य आदि की अभिव्यक्ति का स्रोत तो आत्मा ही है। उस सौन्दर्यमय आत्मा के दर्शन तो ब्रह्मचर्य के पालन से ही हो सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि परिवार, सन्तान, समाज एवं राष्ट्र को स्वस्थ, सशक्त एवं उत्साही बनाए रखने के लिए वर्तमान युग में ब्रह्मचर्य की बहुत आवश्यकता है।

ऋषि-मुनियों द्वारा ब्रह्मचर्य का विधान

ऋषि-मुनियों ने ब्रह्मचर्य की प्रेरणा उस समय के समाज को इसलिए दी कि पशुओं में भी प्रायः ऋतुकाल के सिवाय अन्य समय में मैथुन (अब्रह्मचर्य) क्रिया नहीं होती, किन्तु मनुष्य होकर भी अगर ब्रह्मचर्य मर्यादा को स्वीकार न करे तो फिर मनुष्य और पशु में क्या अन्तर रहा? वर्तमान युग में मनुष्य वासना सेवन में पशुओं को भी मात कर गया। प्राकृतिक मर्यादाओं को ठुकरा कर वह जब भी इच्छा हो, उच्छृंखल रूप से भोग वासना में प्रवृत्त हो जाता है इसलिए कहना होगा कि मनुष्य आज इस बारे में अज्ञानी पशुओं से भी बाजी मार गया है। ऐसे लोगों को मनुष्य केवल सूरत-शक्ल से भले ही कह दिया जाय, परन्तु मनुष्य के लक्षणों से मनुष्य कहना व्यर्थ है। पशुओं की अपेक्षा उनमें शरीर रचना के सिवा कौन-सी विशेषता रही? इसीलिए नीतिकारों ने, आयुर्वेदशास्त्रियों ने, धर्म-शास्त्रों ने और ऋषि-मुनियों ने मनुष्य के लिए ब्रह्मचर्य का विधान किया।

प्राणिमात्र में मानव श्रेष्ठ है। क्योंकि अन्य प्राणी तो प्रायः निसर्ग के अधीन हैं, जबकि मानव चाहे तो प्रकृति को भी अपने अधीन कर सकता है। वर्तमान युग का मानव अनेक वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण प्रकृति पर विजय प्राप्त कर रहा है, करता जा रहा है। वर्तमान युग की विकृतियों और प्रबल कामवासना के वातावरण को देखते हुए मानव को प्रकृति का गुलाम न बनकर ब्रह्मचर्य या सर्वेन्द्रिय-संयम के द्वारा प्रकृति पर विजय प्राप्त करना चाहिए।

इसलिए भारतीय ऋषि-मुनियों ने इस बात का जोरशोर से प्रतिपादन किया कि ब्रह्मचर्य मानवीय संस्कृति का मूलभूत प्रश्न है। भारतीय समाज ने केवल 'सन्ताना

वाय मैथुनम्' की बात क्षम्य मानी थी, लेकिन आज यदि ऐसी विकृत सन्तान की आवश्यकता नहीं है तो ब्रह्मचर्यव्रत का खण्डन क्षम्य नहीं माना जाना चाहिए, उसे अपराध समझा जाना चाहिए तभी वर्तमान मानव समाज उत्तम होगा, आत्मशक्ति सम्पन्न होगा। क्योंकि अब्रह्मचर्य के साथ अनेक अपराध, दोष अथवा शास्त्रीय भाषा में कहूँ तो **अधर्म** जीवन के साथ चिपक जाते हैं। उदाहरणार्थ—ब्रह्मचर्य खण्डित करने वाले व्यक्ति द्वारा स्त्रीयोनि में ९ लाख जन्तुओं की उत्पत्ति मैथुन सेवन से होती है। एक-दो के सिवाय बाकी के प्रायः नष्ट हो जाते हैं, इसलिए हिंसा का दोष तो है ही। आत्मभाव को छोड़कर इन्द्रियादि विषय रूपी विभाव में रमण करना असत्य होने से असत्य का दोष भी है। शारीरिक, मानसिक पतन, दुर्बलता, धातुक्षय, कई दुःसाध्य रोग आदि से अपने शरीर के सत्व को नष्ट करना भी पाप है, अधर्म है। अब्रह्मचर्य सेवन से व्यक्ति कामी, क्रोधी, लोभी, द्रोही, स्वार्थी आदि अनेक दोषाक्रान्त बन जाता है। इसीलिए भगवान् महावीर से जब पूछा गया कि आपने अब्रह्मचर्य को क्यों छोड़ दिया ? तो उन्होंने निम्नोक्त उद्गार व्यक्त किये—

मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गं निग्गंथा वज्जयंति णं॥[1]

—इन्द्रियों का असंयम (अब्रह्मचर्य) अधर्म का मूल है। अब्रह्मचर्य महान् दोषों का उत्पत्ति स्थान है। इसलिए निर्ग्रन्थ साधक अब्रह्मचर्य (मैथुन) का त्याग करते हैं।

एक बात निश्चित है कि जहाँ ब्रह्मचर्य से स्खलित होने की बात आती है, वहाँ असत्य, दम्भ, द्रोह, मोह, जड़ एवं भौतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण, अहर्निश भोगों का चिन्तन आदि जीवन में एक बार तो आए बिना नहीं रहते। मुनि रथनेमि गिरनार पर्वत की गुफा में ध्यानस्थ थे, किन्तु वर्षा से वस्त्र भीग जाने के कारण उन्हें सुखाने के लिए सती राजीमती भी अनजाने उसी गुफा में जब प्रवेश करती है और अपने गीले वस्त्रों को उतारकर सुखाने लगती है, तभी राजीमती के अंगोपांग देख कर रथनेमि का मन चलायमान हो जाता है। राजीमती से वह मुनिदीक्षा छोड़कर ब्रह्मचर्य को तिलांजलि देकर कामभोग की तृप्ति के लिए प्रार्थना करता है, उस समय राजीमती साध्वी अपने अंगोपांग वस्त्रावृत करके कहती है—

"जिन भोगों को तुच्छ समझकर तुमने वमन कर दिया था, उन्हें ही पुनः अंगीकार करने—अर्थात् अब्रह्मचर्य को अपनाने से तो अच्छा है, तुम मृत्यु को स्वीकार कर लो। यों तुम जिस किसी नारी को देखकर विकारग्रस्त हो जाओगे तो वायु के झोंके से प्रेरित हड नामक वनस्पति की तरह, तुम्हारी आत्मा भी हरदम अस्थिर, अशान्त, उद्विग्न रहेगी। तुम्हें शान्ति नहीं मिल सकेगी।"

---

१ दशवैकालिक सूत्र ६

मुनि रथनेमि ने जो अब्रह्मचर्य की प्रार्थना की उसमें असत्य, दम्भ, चोरी (जिनाज्ञा की चोरी), हिंसा, समाज द्रोह, शरीर एवं भोगों के प्रति मोह आदि अनेक अधर्म थे। जीवन में फिर अनेक शारीरिक-मानसिक विकार एवं दोष पैदा होते। इसलिए अब्रह्मचर्य को अधर्म का मूल एवं अनेक दोषों का आश्रम (स्थान) कहा गया है।

मानव समाज को स्वस्थ, स्वच्छ एवं वीतराग भगवान् के निवास के योग्य बनाना है तो रूस के महर्षि टाल्सस्टाय के अनुभव युक्त कथनानुसार ब्रह्मचर्य को स्वाभाविक और अब्रह्मचर्य को अस्वाभाविक माने बिना कोई चारा नहीं है।

अहिंसा एवं सत्य के पालन के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक

यह बात भी निश्चित है कि अहिंसा-सत्य के पालन में ब्रह्मचर्य प्रबल साधन है। शास्त्रीय भाषा में कहूँ तो जिसने एक ब्रह्मचर्यव्रत की आराधना कर ली, उसने सभी उत्तमोत्तमव्रतों की आराधना की है, ऐसा समझना चाहिए। तात्पर्य यह है,[1] एक ब्रह्मचर्यव्रत के भंग होने पर दूसरे प्रायः सभी व्रतों का भंग हो जाता है। इसलिए निपुण साधक को अहिंसा, सत्यादि व्रतों की सम्यक् साधना के लिए ब्रह्मचर्यव्रत का सदा आचरण करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि काया, वाचा और मन से अहिंसा का पूर्ण पालन करना हो तो बिना ब्रह्मचर्य के वह संभव नहीं है। अहिंसा-पालन का अर्थ है—काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों से रहित होना। अगर ब्रह्मचर्य का रूढ़ और संकुचित अर्थ लें तो भी, उसके पालन के लिए पुरुष को मन से स्त्रीविषयक विकार और स्त्री को पुरुषविषयक विकार नष्ट करना होगा। स्त्रीविषयक या पुरुषविषयक विकार भी साधारण विकार न समझें, वह भयंकर है, महान् मोह, मूर्च्छा है। इस विकार में फँसने वाले विवेकहीन हो जाते हैं। इसलिए स्थूल अर्थ में भी ब्रह्मचर्य का भंग होना, अहिंसा का भंग है।

संयम और तप अहिंसा भगवती के दो चरण हैं। संयम और तप के बिना अहिंसा का सुचारुरूप से पालन दुष्कर है। इसलिए अहिंसा का एक अर्थ है—बाह्य और आन्तरिक संयमवृत्ति। इससे देहासक्ति क्षीण होती है। अहिंसा का फलितार्थ भी देहासक्ति का क्षीण होना है। ब्रह्मचर्य का अर्थ भी संयम की पराकाष्ठा है। ब्रह्मचर्य संयम अर्थ में प्रसिद्ध भी है। इसलिए संयमवृत्ति का ह्रास या देहासक्ति होना अब्रह्मचर्य है और वह हिंसा भी है।

अहिंसा का विधेयात्मक अर्थ—अनासक्त प्रेम भी है। आसक्ति युक्त प्रेम संकु-

---

१ 'एक्कम्मि बंभचेरे जम्मि य आराहियंमि, आराहियं वयमिणं सव्वं····तम्हा निउणेण बंभचेरं चरियव्वं।' —प्रश्नव्याकरण० संवर० ४, सू० १

चित होता है, जबकि आत्मसक्ति युक्त प्रेम व्यापक। पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन आदि कुटुम्बियों में प्रकट होने वाला प्रेम अनासक्त होता हो, ऐसा एकान्त नहीं है। इस प्रेम में अनासक्ति न होने पर भी विशदता-पवित्रता पाई जाती है। कुटुम्ब के सदस्यों जैसी प्रेम की उत्कटता प्रायः सेवकों या साधकों में नहीं पाई जाती। इस कमी को दूर करना उनका कर्तव्य है। उत्कटता की दृष्टि से कौटुम्बिक प्रेम आदर्श है, पर उसमें निहित आसक्ति त्याज्य है। अहिंसा में अनासक्ति और प्रेम दोनों समान रूप से उत्कट होने चाहिए। ये दोनों चीजें जिसने साध ली, वह स्वात्मा राम है, आत्मतृप्त है या आत्मसन्तुष्ट है। ब्रह्मचर्य जहाँ होगा वहाँ ये चीजें अवश्य होनी चाहिए।

लेकिन जिसकी वासना पंचेन्द्रिय विषयों में फँसी हुई है, उसके पीछे काम, क्रोध, लोभ, मद, तृष्णा आदि विकार लगे ही रहेंगे। ये विकार उसका पीछा नहीं छोड़ेंगे। विषयों के प्रति आसक्तिमूलक सम्बन्ध के कारण क्रमशः विषयों का चिन्तन, आकर्षण, लालसा, तृप्ति में भोग का लोभ, अतृप्ति में क्रोध, क्रोध से मूढता, मूढता से स्वात्मज्ञान का लोप होता है। फिर इससे कार्याकार्य-विवेक शक्ति का नाश—बुद्धि-नाश हो जाता है।

इसी प्रकार विकार सेवन हुआ, वहाँ सत्यनिष्ठा समाप्त हो जाती है। जहाँ सत्य है, वहाँ काम आदि विकार (अब्रह्मचर्य) रह नहीं सकता। जिन्हें विकारों को क्षीण करना है, वहाँ विकारों का सेवन या विकारों के गुलाम बनकर रहना कैसे सम्भव है? जिन्हें सत्य-दर्शन करना है, उन्हें निर्विकार होना है। अर्थात् उनके जीवन में ब्रह्मचर्य—सर्वेन्द्रियसंयम स्वाभाविक होना चाहिए।

जहाँ सत्य की आराधना में ही सारी प्रवृत्तियाँ और सारी जिन्दगी रंग गई हों, वहाँ विषयवृत्ति, विषयेच्छा, विषयवासना या विषयभोग कैसे हो सकता है? विषयोपभोग नियन्त्रित होता है—सर्वेन्द्रिय-संयम—ब्रह्मचर्य से। अतः विषयोपभोग में रत व्यक्ति सत्य का दर्शन कदापि नहीं कर सकता। सत्य की प्रेरणा संयम या निर्विकारता की ओर रहती है। असंयम या विकार विषयों के अधीन होने से पैदा होता है। इसलिए सत्य की आराधना के लिए भी ब्रह्मचर्य-आराधना आवश्यक है। सत्य, अहिंसा दोनों व्रतों का ब्रह्मचर्यव्रत से मेल हैं। एक व्रत का पालन दूसरे व्रत के पालन पर अवलम्बित है। एक के पालन के बिना दूसरे का यथार्थ पालन नहीं हो सकता। अतः अहिंसा-सत्य के यथार्थ पालन के लिए ब्रह्मचर्य पालन आवश्यक है।

चारों आश्रमों की नींव : ब्रह्मचर्य

भारतीय संस्कृति में ब्रह्मचर्य को महत्त्वपूर्ण स्थान इसलिए दिया गया है कि यह चारों आश्रमों की नींव है। चारों आश्रमों में ब्रह्मचर्य को न्यूनाधिक रूप में आराध्य-साध्य बताया है। चार आश्रमों में ब्रह्मचर्य को निहित करके भारतीय तत्त्व-

चिन्तकों ने ब्रह्मचर्य को समग्र समाजव्यापी बनाने का पुरुषार्थ किया है। भारत के धर्म-विचार में इसका व्यवस्थित रूप से आयोजन किया गया है। मनुष्य-जीवन में सबसे प्रथम महत्त्वपूर्ण काल=अध्ययनकाल होता है। इसमें गुरु-निष्ठा, संस्कार-निष्ठा और अध्ययननिष्ठा, तीनों होनी जरूरी हैं। इन तीनों निष्ठाओं के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक माना गया है। बाल्यकाल से ही जन्मघुटी में बालक को ब्रह्मचर्य की तालीम मिल जाय तो उसके भावी जीवन का निर्माण भली-भाँति हो सकता है। इस दृष्टि से ब्रह्मचर्याश्रम सर्वप्रथम और आवश्यक माना गया है। ब्रह्मचर्याश्रम का उद्देश्य है—मनुष्य-जीवन के प्रारम्भ में जीवन को अच्छी खाद मिले।

आपने देखा होगा, जब तक वृक्ष छोटा होता है, तब तक उसकी सुरक्षा के लिए उसे अधिक खाद की जरूरत होती है। किसान अच्छी और उन्नत खेती के लिए अच्छी से अच्छी खाद देता है। पर्याप्त खाद देने पर थोड़ी-सी भूमि में अधिक से अधिक अनाज आदि पैदा हो जाता है। अच्छी और ठीक समय पर दी हुई खाद से दो-तीन तोले वाले टमाटर भी सेर-दो सेर तक के भी पैदा किये जाते हैं। अगर ठीक समय पर अच्छी खाद न दी जाए तो अधिक भूमि में भी अच्छी फसल लह-लहाती हुई नजर नहीं आएगी।

यही बात जीवन की खेती के सम्बन्ध में समझ लीजिए। जीवन में उत्तम आध्यात्मिक और उत्तम गुणों की फसल के लिए भी बाल्यावस्था में ही ब्रह्मचर्य की उत्तम खाद डालनी चाहिए। इससे शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की शक्तियाँ बढ़ जाती हैं। बुद्धिबल और आत्मबल को बढ़ाने के लिए भी ब्रह्मचर्यरूपी खाद की आवश्यकता रहती है। बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचर्यरूपी खाद डालने का तथ्य ऋषियों ने हमारे सामने रखा—ब्रह्मचर्याश्रम के रूप में। ब्रह्मचर्याश्रम का हेतु यह है कि मनुष्य को जिन्दगी के प्रारम्भ से ही ब्रह्मचर्य की अच्छी खाद मिले। वृक्ष के बड़े होने पर खाद देने से जितना लाभ होता है, उसकी अपेक्षा छोटा हो तभी खाद देने से अधिक लाभ होता है। मनुष्य-जीवन के सम्बन्ध में भी यही बात है। यह ब्रह्मचर्यरूपी खाद मनुष्य-जीवन को अन्त तक मिलता रहे, यह तो बहुत अच्छा है, परन्तु जीवन के प्रारम्भकाल में तो यह बहुत आवश्यक है। बालक को बचपन में दूध पर अधिक रखा जाता है, वह दूध उसे अन्त तक मिलता रहे, तो अच्छा ही है, परन्तु जीवन के अरुणोदय में तो वह मिलना ही चाहिए। शरीर की तरह आत्मा और बुद्धि को भी जीवन के प्रारम्भकाल में—गुलाबी बचपन में तो वह खुराक मिलनी चाहिए। इसीलिए तो ब्रह्मचर्याश्रम की कल्पना की गई है। इसका उद्देश्य है कि जीवन के अरुणोदय से लेकर २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करते हुए जीवन की बुनियाद पक्की करके अध्ययन करना। ब्रह्मचर्याश्रम की आवश्यकता इसलिए भी बताई कि शेष तीनों आश्रमों में ब्रह्मचर्यनिष्ठा और ब्रह्मचर्य-साधन का लक्ष्य रहे।

ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम का नम्बर आता है, इसमें पति-पत्नी दोनों की परस्परनिष्ठा और विकास हो, इस रीति से संयमित रहने की बात सूचित कर दी है। सिर्फ सन्तान प्राप्ति के हेतु से ही स्त्री सहवास, शेष समय ब्रह्मचर्य का लक्ष्य रखना चाहिए। इस पर से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गृहस्थाश्रम की आधारशिला भी ब्रह्मचर्य है। कई लोग कहते हैं कि गृहस्थाश्रम भोग के लिए है, परन्तु जैनधर्म या भारतीय धर्म इस बात से सर्वथा इन्कार करते हैं। गृहस्थाश्रम में भी सन्तान प्राप्ति की इच्छा के साथ-साथ सन्तान-सेवा, परिवार-सेवा और क्रमशः समाज और राष्ट्र की सेवा विहित है। इसलिए गृहस्थाश्रमी भी ब्रह्मचर्यलक्षी होना चाहिए, वासनालक्षी नहीं। स्वपत्नी के सिवाय अन्य सब स्त्रियाँ माता, बहन या पुत्री के समान हैं। स्वपत्नी के साथ भी मर्यादित ब्रह्मचर्य से रहे। गृहस्थाश्रम में भी थोड़ी-सी वासना के सिवाय ब्रह्मचर्य ही अधिकांश मात्रा में है। थोड़ी-सी जो वासना है, उस पर भी नियन्त्रण रखने के लिए गृहस्थ-शब्द के साथ आश्रम-शब्द जोड़ा गया है। रूस के महात्मा टॉल्स्टॉय का भी यही मत है कि गृहस्थाश्रम का अन्तिम आदर्श ब्रह्मचर्य है। उसी को साधने के लिए दाम्पत्यमर्यादाएँ हैं। इसका अर्थ यह है—ब्रह्मचर्य के मार्ग पर चलते हुए जहाँ जरा थकान आए, वहाँ गृहस्थाश्रम विश्रामरूप है।

यही कारण है कि ईसामसीह भी आजीवन ब्रह्मचारी रहे थे। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम ने गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी वनवास स्वीकार किया था, तब सीताजी साथ में थीं, फिर भी ब्रह्मचर्यमय जीवन व्यतीत किया। इसका प्रमाण यह है कि जब सीताजी को रावण अपहरण करके ले गया था, तब सीताजी विमान में से नीचे अपने गहने डालती हुई गईं। रामचन्द्रजी को जब पता लगा कि सीताजी को रावण इसी रास्ते से ले गया है, तब वे सीताजी की खोज में निकलते हैं। साथ में लक्ष्मण भी थे। जब उन्हें सीताजी द्वारा डाले गए गहने मिले तो उन्होंने अपने छोटे भाई लक्ष्मण से पूछा—

'भाई, देख तो, ये गहने किसके हैं ? तू तो इन्हें पहिचानता होगा ?" तब श्री लक्ष्मणजी ने उत्तर में कहा—

नाऽहं जानामि केयूरे, नाऽहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि, नित्यं पादाभिवन्दनात्॥

—केयूर (बाजूबन्द) और 'कुण्डल' जो ऊपर के भाग के आभूषण हैं, उन्हें मैं नहीं पहिचानता, किन्तु नूपुरों (पैर के झांझर) को तो जरूर पहिचानता हूँ, क्योंकि मैं सीता माता के चरणों में नित्य वन्दन करता था।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वनवास के समय लक्ष्मण की झौंपड़ी अलग थी, श्री राम और सीताजी दोनों एक ही बड़ी झौंपड़ी में साथ में रहते थे। फिर भी श्री रामचन्द्रजी स्वयं पति होते हुए भी सीता के गहनों को पहिचान न सके, इसके पीछे क्या रहस्य है ? इसमें से यही फलितार्थ निकलता है कि वनवास में श्री रामचन्द्र

जी और सीताजी दोनों सहजरूप से ब्रह्मचर्य का पालन करते थे, दोनों एक-दूसरे को ब्रह्मरूप में ही देखते थे ।

इससे प्रतीत होता है कि भारतीय गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य का कैसा और कितना उच्च स्थान था ।

श्री लक्ष्मणजी भी वनवास के समय चौदह वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्यपूर्वक रहे थे । उनके सामने अनेक प्रलोभन आए, फिर भी वे अपने ब्रह्मचर्य पथ पर आरूढ़ रहे ।

जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य, कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य, आदि इतिहास प्रसिद्ध नर-नारी रत्न भी गृहस्थाश्रम का सेवन न करके ब्रह्मचर्याश्रम से सीधे ही संन्यासाश्रम की कोटि में पहुँच चुके थे । संत विनोबाजी, बालकोबाजी और शिवाजी भावे तीनों भ्राता गांधी-युग के नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं । इससे यह सहज प्रतिफलित होता है कि जो आजीवन पूर्ण ब्रह्मचर्यपूर्वक रह सकता हो, उसे गृहस्थाश्रम स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है ।

गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम आता है । इसमें भी समाजनिष्ठा के साथ ब्रह्मचर्य को अनिवार्यरूप से जोड़ा गया है । पति-पत्नी दोनों रहें, परन्तु दोनों परिवार की आसक्ति और जिम्मेवारी से मुक्त एवं समाजनिष्ठ होकर रहें । वानप्रस्थाश्रम में परिवार के प्रति आसक्ति तथा सन्तानवृद्धि का क्रम चलता रहे, यह चल नहीं सकता । इसीलिए समाजनिष्ठा के लिए वानप्रस्थाश्रम में पति-पत्नी दोनों को ब्रह्मचर्यनिष्ठ होकर रहना अनिवार्य बताया गया ।

महात्मा गांधीजी जब दक्षिण अफ्रीका में थे, तब उनके मन में राष्ट्र सेवा और समाज सेवा का विचार उठा । तुरंत ही उनके मन-मस्तिष्क में एक और विचार स्फुरित हुआ—एक ओर सन्तान-वृद्धि किये जाना और दूसरी ओर समाज या राष्ट्र की सेवा का दम भरना, ये दोनों कार्य साथ-साथ नहीं चल सकते । इसलिए मुझे राष्ट्र या समाज की सेवा करनी हो तो पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करना आवश्यक है ।" बस, उन्होंने कस्तूरबा से इस विषय में परामर्श किया । वे पूर्ण ब्रह्मचर्य के लिए सहमत हो गईं । तब गांधीजी ने समाज और राष्ट्र की सेवा के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का स्वीकार किया । यह था महात्मा गांधीजी का वानप्रस्थाश्रम ।

जैनागमों में विजयसेठ और विजया सेठानी दोनों पति-पत्नी के पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन का आदर्श वर्णन मिलता है । एक ने कृष्णपक्ष में ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा ली थी, दूसरे ने शुक्लपक्ष में ब्रह्मचर्य पालन का प्रण किया था । दोनों ने निश्चय कर लिया कि हम इसी प्रकार पति-पत्नी के रूप में आजीवन ब्रह्मचारी रहेंगे । एक ही शय्या पर शयन करते हुए उन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया था ।

इस सम्बन्ध में बौद्ध संघ का एक उदाहरण जातक में मिलता है—

मगध देश के महातीर्थ गाँव में ब्राह्मण परिवार में महाकाश्यप का जन्म हुआ ।

यौवन में प्रवेश करते ही उसका विचार आजीवन ब्रह्मचर्य-पालन करने का था। परन्तु अपनी माता के अत्यन्त प्रेमाग्रह के कारण मद्रदेश के कौशिक ब्राह्मण की पुत्री भद्रा के साथ विवाह सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ा। महाकाश्यप ब्रह्मचर्य पालन करना चाहता था, वैसे भद्रा भी आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करना चाहती थी। परन्तु उस समय की प्रथा के अनुसार दोनों को एक ही शयनगृह में, एक ही शय्या पर सोना पड़ता था। भद्रा दोनों के बीच दो पुष्पमालाएँ रख देती और कहती—"जिसकी पुष्पमाला मुर्झा जाय, समझा जाएगा कि उसके मन में काम विकार उत्पन्न हुआ।" माता-पिता के जीवित रहते महाकाश्यप प्रच्छन्नरूप से ब्रह्मचारी रहा। माता-पिता के स्वर्गवास होने के बाद वह बौद्ध भिक्षु बन गया, भद्रा ने भी उसी मार्ग का अनुसरण किया। वह बौद्धभिक्षुणी बन गई।

गृहस्थाश्रम में रखते हुए वानप्रस्थाश्रमीवत् ब्रह्मचर्यमय जीवन बिताने का एक ज्वलन्त उदाहरण बंगाल के अश्विनीकुमारदत्त का है। विवाह होने के दो वर्ष पश्चात् एक दिन वे ईसाई धर्म के संत सेंट पाल की वाणी का स्वाध्याय कर रहे थे। एक जगह देह को पवित्र रखने का उपदेश पढ़कर उनके मन में विचार स्फुरित हुआ —"मैं तो विवाहित हूँ, शरीर की पवित्रता कैसे रख सकता हूँ?" अश्विनीकुमार ने अपना मन्थन अपनी धर्मपत्नी के सामने प्रगट करने हेतु ८ पृष्ठ का पत्र लिखा। उस समय पत्नी की उम्र १५ वर्ष की थी, लेकिन उस सुसंस्कृत भारतीय बाला ने अविचल भाव से उत्तर दिया—मैं आपकी सहधर्मिणी हूँ। आप धार्मिक जीवन में जिस पथ पर प्रगति करना चाहते हैं, उस पर सुखपूर्वक प्रगति करें। मैं आपके श्रेयमार्ग में बाधक नहीं, अपितु सहायक बनूंगी।" बस, फिर क्या था। अश्विनीकुमार ने परिणीत होते हुए भी अपना समग्र जीवन ब्रह्मचर्य-पूर्वक बिताया। उन्होंने समाज और राष्ट्र की सेवा के लिए ब्रह्मचारी भाई-बहनों का एक मण्डल भी स्थापित किया था।

रामकृष्ण परमहंस और शारदामणि देवी दोनों विवाहित होकर भी आजीवन ब्रह्मचर्य से युक्त रहे। विवाह होते ही रामकृष्ण परमहंस ने अपनी धर्मपत्नी शारदामणिदेवी को 'मां' के रूप में माना। शारदामणि ने भी पत्नी होते हुए भी 'मां' का उत्तरदायित्व निभाया। वासना की बात अपने मन, वचन या शरीरचेष्टा से नहीं आने दी। दोनों पवित्र भाव से रहे।

ये उदाहरण सिद्ध करते हैं कि गृहस्थाश्रम में भी आजीवन ब्रह्मचर्यपूर्वक रहा जा सकता है। इसी को 'वानप्रस्थाश्रम' कहते हैं।

चौथा संन्यास-आश्रम है। संन्यासाश्रम में तो मुख्य रूप से सम्पूर्ण ब्रह्मचर्यनिष्ठा होती है। इसलिए संन्यास आश्रम में ब्रह्मचर्य पर पूरा जोर दिया गया है।

इस प्रकार सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रम, उसके बाद कुछ समय के लिए वासना पर अंकुश लाने वाला गृहस्थाश्रम, उसके बाद पति-पत्नी दोनों के ब्रह्मचर्यपूर्वक वानप्रस्थाश्रम और अन्त में संन्यासाश्रम। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में मनुष्य जीवन का

भव्य प्रासाद ब्रह्मचर्य की नींव पर प्रतिष्ठित किया गया है। अतः मानव जीवन की सम्पूर्ण उन्नत साधना और सार्थकता के लिए ब्रह्मचर्य जीवन के हर मोड़ पर अंगीकार करना चाहिए।

समग्र समाज को शक्तिशाली, उन्नत, विकसित एवं बुद्धिशाली बनाने के लिए जीवनभर की यह ब्रह्मचर्य-योजना कितनी लाभदायक है? ब्रह्मचर्य-आराधक व्यक्ति सारे समाज, परिवार एवं राष्ट्र में विश्वसनीय बन जाता है। कहीं भी उसका अविश्वास नहीं होता।

जीवन की आधारशिला : ब्रह्मचर्य

मनुष्य का यह महान् जीवन ब्रह्मचर्य की आधारशिला पर व्यवस्थित रूप से टिका हुआ है। क्योंकि चरित्र का मूल ब्रह्मचर्य है। मनुष्य के पास विद्वत्ता हो, वक्तृत्व हो, लेकिन चारित्र में वह खोखला हो तो उसका जीवन सफल नहीं हो सकता न ही वह सुखी और शान्ति से सम्पन्न रह सकता है। पाश्चात्य दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर के शब्दों में कहें तो—

'Not education, but character is man's greatest need and man's greatest safe-guard.'

अर्थात्—केवल शिक्षण ही नहीं, मनुष्य का चारित्र्य ही उसकी सबसे बड़ी आवश्यकता है और जीवन का सबसे बड़ा सुरक्षक है। इसलिए चारित्र्य को सुरक्षित रखने के लिए ब्रह्मचर्यपालन आवश्यक है। ब्रह्मचर्य से शरीर और मन दोनों ही सशक्त बनते हैं, जीवन भी निर्भय, सुखी, शान्तिमय एवं शक्ति सम्पन्न बनता है। विचारों में बल भी ब्रह्मचर्य से आता है और आचरण का बल भी उसी से प्राप्त होता है। धर्मपालन में उद्यम, साहस, शौर्य, उत्साह, बल, धैर्य, सहिष्णुता, क्षमता आदि जिन उत्तमोत्तम गुणों की आवश्यकता होती है, वे सब ब्रह्मचर्य से प्राप्त होते हैं। सबल जीवन वाला मानव यदि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करेगा तो वहाँ भी अपनी जीवनयात्रा सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकेगा, और यदि वह साधुजीवन अंगीकार करेगा, तब भी अपनी जीवनयात्रा श्रेष्ठरीति से स्वपर-कल्याण साधना के माध्यम से पार करेगा। ब्रह्मचर्य से सम्पन्न व्यक्ति को जहाँ भी आप खड़ा कर देंगे, जिस परकल्याणकारी मोर्चे पर आप उसे नियुक्त कर देंगे, वह अपने प्राणों को झोंक देगा, पर कर्तव्य से विमुख नहीं होगा। वह उत्साह और साहसपूर्वक निर्दिष्ट या निर्धारित कर्तव्य को पूर्ण करेगा। वह जहाँ भी जाएगा, शक्ति का प्रचण्ड झरना प्रवाहित किये बिना नहीं रहेगा।

शक्ति का मूलस्रोत : ब्रह्मचर्य

हनुमानजी में प्रचण्ड शक्ति थी। तुलसी रामायण के अनुसार जिस समय लक्ष्मणजी के शरीर में मेघनाद का शक्तिबाण लगा, उस समय वे बेहोश हो गए।

श्री रामचन्द्रजी के शिविर में सन्नाटा छा गया। श्रीरामचन्द्रजी तथा अन्य योद्धागण चिन्तित हो उठे कि अब क्या होगा ? उसी समय विभीषण रावण के प्रसिद्ध राजवैद्य सुषेण को लेकर आया। सुषेण वैद्य ने लक्ष्मणजी की नब्ज तथा अन्य लक्षण देखकर कहा—"संजीवनी बूटी की जरूरत है। यदि जरा-सी दे दी जायेगी तो लक्ष्मण की मूर्च्छा शीघ्र ही दूर हो जायेगी। परन्तु संजीवनी बूटी लाएगा कौन ? इसकी व्यवस्था आप सोच लें। हनुमानजी ने श्रीरामचन्द्रजी का चेहरा देखकर तत्काल कहा—"स्वामिन् ! संजीवनी बूटी लाने की चिन्ता न करें। मैं आपकी कृपा से उसे ले आऊँगा। परन्तु मैं पहिचानता नहीं हूँ, उस जड़ी को। इसलिए मुझे वैद्यजी यह बता दें कि वह कहाँ, किस पर्वत पर मिलेगी ?" वैद्यराज सुषेण ने पर्वत का नाम द्रोण और संजीवनी बूटी की पहिचान बता दी। कहते हैं, हनुमानजी को ब्रह्मचर्य के प्रभाव से आकाशगामिनी विद्या प्राप्त हो गई थी। वे तुरन्त वहाँ से उड़े और वायुवेग से वैद्य द्वारा निर्दिष्ट पर्वत पर पहुँचे। वहाँ देखा तो तरह-तरह की कई जड़ीबूटियों के पौधे लगे हुए थे। हनुमानजी संजीवनी बूटी को ठीक तरह पहिचान न सके। अतः उन्होंने जड़ीबूटियों की वह सारी पहाड़ी ही एकदम उठाई और उसे हथेली पर रखकर वहाँ से उड़े। सीधे लंका में आकर उतरे। श्रीरामचन्द्रजी के खेमे में खुशियाँ छा गई। हनुमानजी के आते ही सुषेण वैद्य ने वह संजीवनी बूटी लेकर लक्ष्मणजी को सुंघाई तथा उनके मुँह में जरा-सा टुकड़ा दिया। फौरन ही उनकी चेतना लौट आई। एकदम स्वस्थ होकर लक्ष्मण खड़े हो गए। सबके जी में जी आ गया।

हनुमानजी में इतना पराक्रम कहाँ से आया ? इस प्रचण्ड शक्ति का स्रोत क्या था ? ब्रह्मचर्य ही तो था। योग दर्शन में ब्रह्मचर्य के परम लाभ के सम्बन्ध में बताया है—

'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः'

जब साधक में ब्रह्मचर्य की पूर्णतया दृढ़ स्थिति हो जाती है, तब उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर में अपूर्व शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। साधारण मनुष्य उसकी समता नहीं कर सकते।

अखण्ड ब्रह्मचारी में अद्भुत शक्ति होती है। उसके लिए कोई भी बात असम्भव जैसी नहीं होती। अखण्ड ब्रह्मचारी अकेला सारे ब्रह्माण्ड को हिला सकता है। अखण्ड ब्रह्मचारी उसे कहा जा सकता है, जिसने समस्त इन्द्रियों और मन पर पूर्ण आधिपत्य कर लिया हो। इन्द्रियाँ जिसे फुसला नहीं सकतीं, मन जिसे विचलित नहीं कर सकता। जो अपनी समस्त इन्द्रियों और मन को आत्मा या परमात्मा की सेवा में सतत लगाये रखता हो, वासना और विकारों का एक कण भी जिसके मन के किसी कोने में प्रवेश नहीं कर सकता है। वीर्य की एक बूँद भी जो वासना और काम-भोग के मार्ग में व्यय नहीं करता हो। ऐसे अखण्ड ब्रह्मचारी की शक्ति अजबगजब की होती है। उसके पास रोग भी सहसा नहीं फटकता और न चिन्ता ही उसके दिमाग

पर सवार होती है। बल्कि वह अपने संकल्प से दूसरे के रोगों और कष्टों को दूर कर सकता है।

अखण्ड ब्रह्मचारी ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है। ब्रह्मचर्य सम्पन्न महान् आत्मा में आत्मा की समस्त शक्तियाँ केन्द्रित हो जाती हैं। और वह केन्द्रीकरण जितना-जितना सुदृढ़ होता है, उतनी-उतनी ब्रह्मचर्य की शक्ति में अभिवृद्धि होती जाती है।

सभी इन्द्रियों पर, मन पर उसका आधिपत्य हो जाता है, मन उसके अनुकूल चलता है, इन्द्रियाँ भी उसकी आज्ञा में चलती हैं। तो साधक अपने जीवन पर, अपनी इन्द्रियों, शरीर और मन पर यथार्थरूप में अपना अधिकार कर लेता है, उसकी आत्मा में राग-द्वेष की परिणति कम हो जाती है। रागद्वेष की परिणति कम होने से ब्रह्मचर्य का विकास और विशुद्धि उतनी ही अधिक होती जाएगी।

ब्रह्मचर्य साधना का शरीर पर अद्भुत प्रभाव पड़ता है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में शारीरिक शक्तियों के विकास का मूल स्रोत ब्रह्मचर्य को बताते हुए कहा है—

चिरायुषः सुसंस्थानां दृढ़संहनना नराः।
तेजस्विनो महावीर्या भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः।

—ब्रह्मचर्य से मनुष्य चिरायु होते हैं, उनके शरीर का संस्थान (ढांचा) सुन्दर सुडौल हो जाता है, उनका शारीरिक संहनन मजबूत हो जाता है, ये तेजस्वी और महाशक्तिशाली (पराक्रमी) होते हैं।

ब्रह्मचर्य ही हमारे आरोग्य मन्दिर का आधार स्तम्भ है। आधार स्तम्भ के टूटने से जैसे सारा भवन ढह जाता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाने से सम्पूर्ण शरीर का द्रुतगति से नाश हो जाता है। ब्रह्मचर्य ही हमारी सम्पूर्ण विद्या, वैभव, सौभाग्य का आदि कारण है। ब्रह्मचर्य ही हमारी श्रेष्ठता, सम्पूर्ण उन्नति और स्वतन्त्रता का बीजमन्त्र है। ब्रह्मचर्य पर ही हमारा सुख, आरोग्य, तेज, बल, सामर्थ्य, विद्या, स्वातन्त्र्य और धर्म अवलम्बित है। ब्रह्मचर्य ही हमारी सम्पूर्ण सिद्धियों का एकमात्र रहस्य है।

ब्रह्मचर्य सर्वप्रथम हमारे शरीर को सशक्त, स्वस्थ एवं सुदृढ़ बनाता है। जैनधर्म का यह एक सिद्धान्त है कि शरीर जितना भी सुदृढ़, सशक्त, स्वस्थ एवं सुडौल बनता है, उतना ही वह दुःखों, कष्टों और परिषहों एवं उपसर्गों की चोटों को समभावपूर्वक सहने में समर्थ होता है। वह जिन्दगी में आने वाले विकट संकटों, उलझनों, परिस्थितियों, चिन्ताजनक दुःखों से घबराता नहीं, बल्कि समभाव से उनका सामना करता है, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, दारिद्रय-असहायत्व आदि अवसरों पर भी वह दुःख महसूस नहीं करता है। जो समभावपूर्वक कलहों, परिषहों आदि को सह लेता है, वही आध्यात्मिक साधना में प्रगति कर सकता है, वही मनोबल की वृद्धि से साथ

आत्मगुणों की साधना कर सकता है। तात्पर्य यह है कि मानसिक एवं शारीरिक शक्ति जीवन को तितिक्षु, कष्टसहिष्णु, समभावी एवं साहसी बनाती है, और यही आध्यात्मिक साधना की पूर्वभूमिका है। जिस व्यक्ति का शरीर अत्यन्त दुर्बल है, रुग्ण है, शरीर का ढाँचा भी बेडोल है, मजबूत नहीं है, वह कष्टों, परिषहों, उपसर्गों या दुःखों को समभावपूर्वक सह नहीं सकेगा, ऐसी दशा में उसका मनोबल भी कमजोर होगा और वह आध्यात्मिक साधना नहीं कर सकेगा।

जिस व्यक्ति का शरीर कष्टों और परिषहों को सहने में सशक्त नहीं है, वह आफतों और उपसर्गों के समय भाग खड़ा होगा, बात-बात में इन्द्रियों और मन का गुलाम बन जाएगा। कठोपनिषद् में भारतीय मनीषियों ने इसी बात का समर्थन किया है—

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।'
'बलवति शरीरे, बलवत आत्मनोनिवासः।'

—जिस शरीर में बल नहीं, क्षमता नहीं, शक्ति नहीं, वह आत्मा को—आत्मगुणों को—उपलब्ध नहीं कर सकता। बलवान शरीर में ही बलवान आत्मा का निवास होता है।

इसका तात्पर्य यह है कि परीषहों, आपत्तियों और संकटों के तूफान के समय पर अपने सिद्धान्त—आत्म-स्वभाव पर मेरुसम स्थिर रहने वाला ही आत्मा की शुद्ध ज्योति एवं आत्मगुणों का साक्षात्कार कर सकता है। कष्टों से घबरा कर पथभ्रष्ट होने वाला व्यक्ति आत्मदर्शन नहीं कर सकता।

अतः आध्यात्मिक साधना के लिए शरीर का स्वस्थ, सक्षम, सुदृढ़ और सुडौल होना नितान्त आवश्यक है। शरीर को स्वस्थ, सशक्त, सुसंस्थान एवं सुदृढ़ बनाने हेतु ब्रह्मचर्य का परिपालन अनिवार्य है।

जैनदर्शन में जितना आत्मा का विचार किया गया है, उतना ही शरीर आदि निकटवर्ती भौतिक पदार्थों का भी विचार किया गया है। आत्मा पर लगे हुए चार घनघाती कर्मदलिकों के बन्धन को, और फिर चार अघाती कर्मों के बन्धन को तोड़ने और समस्त कर्मों से रहित होकर मोक्ष प्राप्त करने की बात आई, वहाँ जिस आध्यात्म साधना की बात बताई गई है, उसके लिए शरीर का भी उतना सशक्त एवं सुदृढ़ होना अनिवार्य बताया है। शास्त्रीय परिभाषा में वज्रऋषभ नाराच संहनन का होना आवश्यक बताया है—मोक्ष प्राप्ति के लिए, सम्पूर्ण कर्मबन्धनों को काटने के लिए। मोक्ष के लिए जो अनेक आध्यात्मिक अनिवार्यताएँ हैं, उनके साथ भौतिक अनिवार्यता में वज्रऋषभनाराच संहनन भी आवश्यक बताया है। शरीर चाहे कितना सुन्दर, सुरूप, सुडौल क्यों न हो, आकृति या कद चाहे भव्य और ऊँचा हो, लेकिन अगर उस शरीर में वज्रऋषभनाराच संहनन नहीं है, तो मोक्ष के अनुरूप साधना करने की शक्ति नहीं आएगी और शक्ति की इतनी मात्रा नहीं है तो मुक्ति भी शीघ्र प्राप्त

हो नहीं सकेगी। यद्यपि मोक्ष प्राप्ति के समय इस भौतिक शरीर को सदा के लिए छोड़ना होगा, वज्रऋषभनाराच संहनन भी तो यहीं छूट जाएगा, किन्तु आत्मा के साथ लगे हुए कार्यों को तोड़ने के लिए साधनाकाल में वज्रऋषभनाराचमय सुदृढ़ शरीर होगा, तभी यह शरीरादि छोड़ना और मुक्ति पाना सम्भव होगा।

इतने विश्लेषण से आप समझ गए होंगे कि मोक्ष के लिए जो भी आध्यात्मिक साधना की जाएगी, उसके लिए शरीर का सुदृढ़, सबल एवं स्वस्थ होना परम आवश्यक है, जिसकी पूर्ति ब्रह्मचर्य करता है। वासनाओं और विकारों से निर्बल आत्मा, कमजोर मन और दुर्बल शरीर कभी जूझ नहीं सकते, उनसे जूझे बिना शुद्ध आत्मा—या परमात्मा के दर्शन नहीं हो सकते।

अतः आत्मदर्शन करने का मूलमन्त्र यह है कि अपनी वासना पर नियन्त्रण रखो, विकारों पर अंकुश रखो, संयम से बोलो, चलो, उठो, बैठो, खाओ, पीओ और जीओ। भोगेच्छा और विषयकामना का त्याग करो। यही सच्चे माने में ब्रह्मचर्य है, जो अपने आप में शक्ति का भण्डार है। शारीरिक एवं स्नायुविक, मानसिक एवं बौद्धिक सभी शक्तियाँ ब्रह्मचर्य से प्राप्त होती हैं ये चारों शक्तियाँ ब्रह्मचर्य के अभाव में नहीं होतीं। अतएव इन शक्तियों द्वारा आध्यात्मिक क्षमता को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता होती है। ब्रह्मचर्य की महिमा आयुर्वेदिक ग्रन्थों में भी बताई गई है—ब्रह्मचर्य ही उत्तम ज्ञान है, वही परम बल है, आत्मा निश्चय रूप में ब्रह्मचर्यमय है। और ब्रह्मचर्य से ही शरीर में टिका हुआ है।[1]

कहते हैं कि हनुमान जी जब छोटे-से बच्चे थे, तब विमान से नीचे गिर गये थे, एक पर्वत की चट्टान पर। उनके मामा और माता अंजना दोनों अत्यन्त चिन्तित होकर आर्त्तनाद करने लगे—"हाय! बालक का क्या हुआ होगा?" लेकिन ज्यों ही विमान से नीचे उतरकर वे उस चट्टान की ओर देखते हैं तो वह चूर-चूर हो गई है और हनुमान जी वहीं एक दूसरी शिला पर आनन्द से सहीसलामत बैठे खेल रहे हैं। उन्हें कहीं जरा भी चोट नहीं लगी! यह किस शक्ति का चमत्कार था? यह था—माता-पिता के द्वारा १२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन का प्रभाव, सदाचारी माता-पिता की सन्तान इतनी सुदृढ़, स्वस्थ एवं शक्तिशाली होती है कि वे संसार की चोटों, आघातों, कष्टों और आफतों से तनिक भी नहीं घबराते। किन्तु इसके विपरीत ब्रह्मचर्य मर्यादा का उल्लंघन करने वाले माता-पिता की सन्तान भी क्षतवीर्य, दुर्बल, कायर, डरपोक, दब्बू, बुद्धू और प्रायः कामी होती है। जरा-सी बीमारी से वह निस्तेज और निष्प्राण हो जाती है। उनका शरीर बचपन से ही जर्जर होने लगता है।

---

१ ब्रह्मचर्यं परं ज्ञानं, ब्रह्मचर्यं परं बलम्।
ब्रह्मचर्यमयो ह्यात्मा, ब्रह्मचर्येणैव तिष्ठति॥—चरक

ब्रह्मचर्य से दीर्घजीविता

जिस कुल में ब्रह्मचर्य का पालन होता है, उस कुल की सन्तान दीर्घजीवी होती है। जो व्यक्ति या कुल रात-दिन इन्द्रिय विषयों की वासना में फंसा रहता है, संयम नहीं रखता, वहाँ की सन्तान कैसे दीर्घजीवी हो सकती है ? मुझे बौद्ध जातक का एक उदाहरण याद आ रहा है। तक्षशिला प्राचीनकाल से विश्व विद्याओं का धाम था। वहाँ ब्रह्मचर्य पूर्वक रह कर हजारों विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। मगध देश के एक गाँव का धर्मपाल ब्राह्मण का पुत्र धर्मकुमार भी वहीं पढ़ता था। एक दिन सभी विद्यार्थी शोकमग्न होकर धर्मकुमार से कहने लगे—"भाई ! अत्यन्त खेद है कि आचार्य के इकलौते तरुण पुत्र का देहान्त हो गया।"

इस पर धर्मकुमार बोला—'क्यों शोक करते हो ? मेरा विश्वास है कि तरुण अपने पिता के रहते नहीं मरता, बशर्ते कि उस कुल में ब्रह्मचर्य-पालन होता हो।'

आचार्य के कानों में यह बात पहुँची। उन्होंने धर्मकुमार की बात पर सहसा विश्वास नहीं किया। अतः वे स्वयं तीर्थाटन के बहाने इस बात की परीक्षा करने निकले। कुछ ही दिनों बाद धर्मकुमार के घर पर पहुँचे। उसके पिता ने आचार्य का स्वागत किया। आगमन का प्रयोजन पूछने पर आचार्य ने कहा—"तुम्हारा पुत्र मेधावी विद्यार्थी धर्मकुमार मर गया है।" उसके पिता ने कहा—"यह बात मैं मान नहीं सकता, क्योंकि मेरा धर्मकुमार मेरे रहते मर नहीं सकता।" आचार्य ने कहा—"आपकी बात बिलकुल सत्य है। मैं इसी बात की प्रतीति करने के लिए आया था। कि आपके परिवार में तरुण क्यों नहीं मरता है ?" धर्मपाल ने कहा—"आचार्य श्री ! मेरे कुल में कोई भी स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते, इसलिए मेरे कुटुम्ब में तरुण की मृत्यु कदापि नहीं होती।"

बन्धुओ ! जरा विचार करिये, ब्रह्मचर्य की कितनी महान् शक्ति और क्षमता है ? क्या वर्तमान भोग-परायण समाज में जहाँ, अकाल मृत्यु का घंटा बज रहा है, वहाँ उसके निरोध के लिए और स्वस्थ तथा दीर्घजीवी सन्तति के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता नहीं है ?

ब्रह्मचर्य से बौद्धिक लाभ

ब्रह्मचर्य से ज्ञानतन्तु शक्तिशाली बनते हैं, मस्तिष्क में शक्ति आती है, जिससे स्मृति, मेधा, बुद्धि आदि सब विकसित होती हैं। इसीलिए भारतीय संस्कृति में विद्याध्ययन काल में विद्यार्थी के लिए ब्रह्मचर्य-पालन का अनिवार्य रूप से विधान है। विदुरनीति में स्पष्ट कहा है—

"विद्यार्थी ब्रह्मचारी स्यात्।"

अर्थात्—विद्यार्थी ब्रह्मचारी बने।

भारतवर्ष के मनीषियों का अभिमत है कि ब्रह्मचर्य के बिना विद्या नहीं आती। अथर्ववेद भी इसी बात का समर्थन करता है—

'ब्रह्मचर्येण विद्या'

विद्याध्ययन के लिए स्मरणशक्ति का तीव्र होना आवश्यक है। स्मरणशक्ति की तीव्रता मन और बुद्धि की एकाग्रता, इन्द्रिय-संयम, मनोनिग्रह आदि से होती है। ये सब बातें ब्रह्मचर्य पर निर्भर है।

स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था—"एकमात्र ब्रह्मचर्य के भलीभांति पालन से समस्त विद्याएँ थोड़े ही समय में प्राप्त हो जाती हैं।"

ब्रह्मचर्य के बल से चाहे जो व्यक्ति श्रुतिधर या स्मृतिधर बन सकता है। ब्रह्मचर्य की रक्षा से ही ऐसी अतिमानवीय शक्ति प्राप्त होती है। आज ब्रह्मचर्य रक्षा के अभाव के कारण ही हमारे देश का अधःपतन हुआ है। जो ब्रह्मचर्य की साधना करता है, वह विचारों को पवित्र बनाए रख सकता है, उस विचार को अमृत बना लेता है। समय आने पर वह स्मृतिपट पर आ जाता है। किसी भी ग्रन्थ को देखे ३०-४० वर्ष व्यतीत हो गए फिर भी उसकी स्मृति मस्तिष्क में ज्यों की त्यों बनी रहती है। ब्रह्मचर्य की साधना जीवन में वर्षों से पड़े हुए विकारों के मैल और विचारों की गन्दगी को दूर कर देती है। उसका चिन्तन भी उज्ज्वल परिष्कृत और शुद्ध होता है। वह मनुष्य को महान् बना देती है।

आचार्य मल्लवादी जैन शासन आकाश के देदीप्यमान सूर्य थे। बचपन से वे प्रखर बुद्धिशाली और मनीषी थे। एक दिन उज्जैननरेश की सवारी उपाश्रय के पास से होकर निकली। साथ में जैन मन्त्री था। सम्राट् ने बालमुनि मल्ल को देखकर मंत्री से पूछा—"यह लड़का उपाश्रय में बैठा-बैठा क्या कर रहा है? क्या यह साधु बनेगा?" मन्त्री ने कहा—"राजन्! यह साधु बनेंगे नहीं, बन गए हैं।"

"इतनी छोटी उम्र में गुरु?" राजा ने यों कहकर गुरुत्व की परीक्षा की दृष्टि से पूछा—**'किम् मिष्टम्?** (क्या मीठा है?)'

बालमुनि ने राजा की ओर देखे बिना ही कहा—"**दुग्धम्।**" और छह महीने की अवधि के बाद जब राजा की सवारी पुनः वहाँ से निकली तो देखा, वह मुनि उसी प्रकार एकाग्रता से अध्ययन में लीन है। राजा ने अपने पुराने प्रश्न के सन्दर्भ में पूछा **'केन सह?**" (किसके साथ?)"

तरुण साधक ने तपाक् से उत्तर दिया—"**शर्करया सह।**" (शक्कर के साथ)

सम्राट ने ज्यों ही सुना, वह हाथी से उतर पड़ा और बालमुनि के चरणों में गिरकर श्रद्धाभाव से कहा—"महाभाग! सचमुच आपकी साधना अद्भुत है। छह महीने पहले पूछा गया प्रश्न आपकी स्मृति में ज्यों का त्यों पड़ा रहा। इतनी प्रखर स्मृति!" यही तरुण साधक आगे चल कर मल्लवादी नाम से प्रख्यात हुआ।

जहाँ ब्रह्मचर्य का बल होता है, उसके मस्तिष्क में छह महीने तो क्या, अनेक वर्ष पुरानी स्मृतियाँ भी ज्यों की त्यों उपस्थित रहती है । ब्रह्मचारी का मस्तिष्क अत्यन्त उर्वर एवं संचयशील होता है ।

श्रीमद्राजचन्द्रजी की ब्रह्मचर्यनिष्ठा के कारण उनकी स्मरण-शक्ति इतनी तीव्र थी कि वे एक साथ एक हजार अवधान कर लेते थे। 'सहस्रावधानी' के नाम से वे प्रसिद्ध थे ।

जिस भाषा का उन्होंने अध्ययन नहीं किया था, उसके कठिनतम शब्दों को वे आसानी से स्मृतिकोष में रख लेते थे, और बाद में ज्यों का त्यों कह देते थे। यह सब ब्रह्मचर्य साधना का परिणाम है ।

जैन शास्त्रों में पदानुसारिणी लब्धि का उल्लेख है, एक पद या कुछ पदों के देखते सुनते ही उस सम्बन्ध में उल्लेखनीय सारा विषय या उन विषयों के पद याद हो जाते थे। जैन इतिहास में आचार्य आर्यरक्षित को यह विद्या उपलब्ध थी। इस युग में स्वामी विवेकानन्द को भी इसी प्रकार की उपलब्धि प्राप्त थी। छोटा बालक एक-एक अक्षर पढ़ता है, पर शिक्षित व्यक्ति एक ही नजर में सारी लाइन पढ़ लेता है, मगर स्वामी विवेकानन्द की आँखें तो सारा पेरेग्राफ या सारा पृष्ठ एकदम पढ़ सकती थीं ।

एक बार स्वामी विवेकानन्द जर्मन विद्वान् डायसन के यहाँ भोजन करने पहुँचे । वहाँ उसकी टेबल पर एक पुस्तक पड़ी थी । स्वामीजी ने खड़े-खड़े ही थोड़ी-सी देर में सारी पुस्तक देख डाली, फिर वे डायसन से बातचीत करने लगे । बात-चीत के दौरान जब वे इस पुस्तक के उद्धरण देने लगे, तब डायसन ने साश्चर्य पूछा—'आपने यह पुस्तक कब पढ़ी है ?'

विवेकानन्द—"अभी कुछ देर पहले ही ।" यह सुनकर डायसन ने आश्चर्य प्रगट किया—"इतने कम समय में इतनी बड़ी पुस्तक कैसे पढ़ डाली ?" विवेकानन्द ने कहा—"इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। मैं तो एक साथ अध्याय के अध्याय पढ़ डालता हूँ। और मेरे मस्तिष्क में वे विचार जम जाते हैं।"

स्वामी विवेकानन्द को इतनी बौद्धिक शक्ति कहाँ से प्राप्त हुई थी ? कहना होगा कि यह शक्ति उन्हें ब्रह्मचर्य—इन्द्रियनिग्रह, मनःसंयम, वीर्यरक्षा आदि से प्राप्त हुई थी ।

ब्रह्मचर्य से धर्मरक्षा

धर्म मानव-जीवन का सर्वोत्कृष्ट अमृत है। उसकी रक्षा मानव-जीवन की सुरक्षा है । परन्तु धर्म की रक्षा का प्रमुख साधन ब्रह्मचर्य है । वास्तव में यह धर्म का प्रधान अंग है । प्रश्नव्याकरण सूत्र में इसी बात का समर्थन किया गया है—

"ब्रह्मचर्य धर्मरूप पद्मसरोवर की पाल के समान रक्षक है, यह दया, क्षमा

आदि गुणों का आधारभूत एवं धर्म की शाखाओं का आधार स्तम्भ है। ब्रह्मचर्य धर्म रूप महानगर का कोट है, धर्म रूप महानगर का रक्षक द्वार है। ब्रह्मचर्य के खण्डित हो जाने पर सभी प्रकार के धर्म, पर्वत से गिरे हुए कच्चे घड़े के समान खण्ड-खण्ड हो जाते हैं। यह विनय, शील, तप, नियम आदि गुणों का पुंज है।[1]

ब्रह्मचर्य तप है

कहने को तो लोग उपवास आदि को तप कह देते हैं, परन्तु कोरा उपवास सिवाय लंघन के और कुछ नहीं है। वास्तविक तप तो वह है, जिसमें इन्द्रिय विषयों के उपभोग पर नियन्त्रण हो, मनोविकारों पर संयम हो। इसीलिए ब्रह्मचर्य के लिए सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया—**'तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं'** तपस्याओं में ब्रह्मचर्य उत्तम तप है। वैदिक धर्मग्रन्थों में ब्रह्मचर्य[2] को ही वास्तविक तप कहा है। भगवद्गीता में भी कहा है—

'ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।'

—ब्रह्मचर्य और अहिंसा, ये दोनों शारीरिक तप हैं।

ब्रह्मचर्य रूप तप से शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि सभी विकसित होते हैं। यही नहीं, ब्रह्मचर्य[3] रूप तप के प्रभाव से देवों ने मृत्यु को भी जीत लिया था।' ब्रह्मचर्य-रूपी तप तेज और ओज को बढ़ा देता है।

ब्रह्मचर्य से पारलौकिक लाभ

ब्रह्मचर्य से इहलौकिक लाभ तो मैंने अगणित बता दिये हैं, इससे पारलौकिक लाभों की भी कमी नहीं है। क्या जैन, क्या वैदिक और क्या बौद्ध सभी धर्मों ने ब्रह्मचर्य को महत्व दिया है। इहलौकिक एवं पारलौकिक सभी साधनाओं के लिए ब्रह्मचर्य को सभी धर्मों ने आवश्यक माना है। जैन एवं वैदिक धर्म-शास्त्रों में ब्रह्मचारी[4] के लिए स्वर्गगमन तो अनिवार्य माना है, लेकिन मोक्ष के लिए भी ब्रह्मचर्य को मूल कारण बताया है। स्मृतिकार कहते हैं—

'समुद्रतरणे यद्वत् उपायो नौः प्रकीर्तितः।
संसारतरणे तद्वत् ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम्।'

—जैसे समुद्र पार करने के लिए नौका श्रेष्ठ साधन बताया है, वैसे ही संसार

---

१ पउमसरतलागपालिभूयं, महासगड अरगतुम्बभूयं महानगरपागारकवाडफलिह भूयं रज्जुपिणद्धोव्व इंदकेऊ विसुद्धणेगगुण संपिणद्धं जम्मिय भग्गंमि होइ सहसा सव्वं संभग्ग महियचुण्णियकुसल्लियट्ट पव्वय पडिय खंडिय परिसडियविणासियं, 'विणयसीलतवनियमगुणसमूहं। —प्रश्नव्याकरण सूत्र ६

२ तपो वै ब्रह्मचर्यम् —उपनिषद्

३ ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।

४ स्वर्गे गच्छन्ति ते सर्वे ये केचिद् ब्रह्मचारिणः।

समुद्र पार करने के लिए ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट साधन कहा है। प्रश्नव्याकरण सूत्र इस बात का साक्षी है, वहाँ उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य के धनी तीर्थंकर महावीर ने अपना अनुभव बताया है कि "ब्रह्मचर्य अन्तःकरण को पवित्र व स्थिर रखता है, साधुजनों द्वारा आचरित है, मोक्ष मार्ग है, सिद्ध गति का धाम है, शाश्वत है, बाधा-रहित है, पुनर्जन्मनाशक (अपुनर्भव) है, प्रशस्त है, रागादिक का अभाव करने से सौम्य है, सुखरूप होने से शिव है, दुःखद्वन्द्वादि से रहित होने से अचल, अक्षय है, मुनिवरों द्वारा सुरक्षित, सुचरित, सुनिरूपित, भव्य है, भव्यजनों द्वारा आचरित है, शंकारहित, भयरहित है। विशुद्ध है, प्रपंचों से मुक्ति दिलाने वाला, खेद एवं अभिमान का नाशक है।[1]

विद्वान् लोग ब्रह्मचर्य की प्रशंसा करते नहीं थकते। ब्रह्मचर्य के गुणों का एवं उससे होने वाले लाभों का वर्णन करते हुए विद्वान् कहते हैं—

"ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभो भवत्यपि।
सुरत्वं मानवो याति, चान्ते याति परां गतिम्॥
ब्रह्मचर्यं पालनीयं देवानामपि दुर्लभम्।
वीर्ये सुरक्षिते यान्ति सर्वलोकार्थसिद्धयः।"

ब्रह्मचर्य की निष्ठा प्राप्त करने से वीर्य (शक्ति) का लाभ तो होता ही है, मनुष्य भी देवत्व (दिव्यता) प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मचर्य साधना परिपक्व हो जाने पर परमगति को प्राप्त करता है। इसलिए देवताओं के लिए भी दुर्लभ ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। वीर्य को सुरक्षित रखने से समस्त लोकों का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

ब्रह्मचर्य का बाह्य जगत् पर प्रभाव

आजकल अधिकांश लोग चमत्कारों के चक्कर में पड़े हैं। पर वे यह नहीं जानते कि समस्त चमत्कारों का मूल क्या है? जिन्हें साधारण लोग चमत्कार कहते हैं, वह तो जादू का खेल दिखाने वाले जादूगर या टोना-टोटका करने वाले भी बता सकते हैं। परन्तु जिस चमत्कार का प्रभाव केवल मनुष्यों पर ही नहीं, भौतिक जगत् पर भी पड़े, वह चमत्कार इन जादूगरों या मंत्रविदों के पास भी नहीं हैं। वह है—अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रतधारी के पास। क्या देवताओं के पास चमत्कार दिखाने की

---

१. अज्जव साहूजणाचरियं मोक्खमग्गं, विसुद्धसिद्धिगइनिलयं सासयब्बाबाहमपुणब्भवं पसत्थं, सोयं, सुभं, सिवमक्खयकरे।

जइवर सारक्खियं सुचरियं, सुभासियं, नवरि मुणिवरेहिं महापुरिस-धीरसूर धम्मिय धिइमंताणा व समा विसुद्धं भव्वं भव्वजणाणुचिण्णं निसंकियं, निब्भयं, वित्तुसं निरायासं। —प्रश्न व्याकरण

शक्ति कम है, पर वे भी इन ब्रह्मचर्य के चमत्कारियों के सामने नत मस्तक हो जाते हैं। जैनशास्त्रों में स्पष्टतः इस बात को प्रकट किया है—

देव-दाणव-गंधव्वा जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति तं॥

—जो महान् आत्मा दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसके चरणों में देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि समस्त दैवी शक्तियाँ समक्ति भाव से नमस्कार करती हैं।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य आत्मा की आन्तरिक शक्ति है, फिर भी बाह्य पदार्थों में परिवर्तन करने की अद्भुत क्षमता रखता है।

सीता सती के चमत्कार को कौन भारतीय नहीं जानता। वे अपने सत्य एवं शील की परीक्षा के लिए धधकते हुए भयानक अग्निकुण्ड में कूद पड़ी। हजारों दर्शकों के मुख से टीस निकल पड़ी थी, किन्तु दूसरे ही क्षण पलक मारते ही वह अग्निकुण्ड शीतल शान्त सरोवर के रूप में बदल गया। विकसित कमलों पर देवी-सी शील के अद्भुत तेज से प्रदीप्त सीता सती विराजमान थी।

लाखों वर्षों बाद भी ब्रह्मचर्य के अद्भुत चमत्कार की यह कहानी हम सबको प्रेरणा दे रही है।

और वह सुदर्शन सेठ, जिस पर ब्रह्मचर्य भंग का कलंक लगाकर शूली पर चढ़ा दिया गया था। नागरिकों का दिल उस दृश्य को देख कर दहल उठा था, लेकिन दूसरे ही क्षण जब शूली के बदले सिंहासन पर विराजमान सुदर्शन को देखा तो राजा-प्रजा सभी आश्चर्य चकित हो उठे। यह सब ब्रह्मचर्य के सिवाय और किसका चमत्कार था?

शीलवती सोमा को मारने के लिए एक घड़े में विषधर सांप डाल कर रखा गया और उसे कहा गया—"घड़े में फूलों की माला रखी है, उसे ले आओ।" जब उसने माला लेने के लिए घड़े में हाथ डाला तो सबके आश्चर्य के बीच सचमुच वह सांप पुष्पमाला ही बन गया। वह प्रसन्न भाव से पुष्पमाला ले आई। यह चमत्कार ब्रह्मचर्य का ही तो था।

ब्रह्मचारी हनुमानजी के आदेश से लंका का समुद्र भी छोटी नदी-सा बन गया था। अन्य ब्रह्मचारी पुरुषों के प्रभाव से सिंह, सर्प जैसे क्रूर प्राणी भी मित्र बन गये थे। स्वामी रामतीर्थ ने जब हिमालय की बर्फीली चट्टानों को आदेश दिया—ओ हिमालय की बर्फीली चट्टानो! शाहंशाह राम तुम्हें हट जाने का आदेश देता है। तब सचमुच वे बर्फीली चट्टानें पिघल गईं। इसीलिए तो योगीराज भर्तृहरि अपने अनुभव की आँच में तपे हुए उद्गार निकालते हैं—

वह्निस्तस्य जलायते, जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्।
मेरुः स्वल्प शिलायते, मृगपतिः सद्यः कुरंगायते॥

व्यालो माल्यगुणायते, विषरसः पीयूषवर्षायते ।
यस्यांगेऽखिललोकवल्लभतरं शीलं समुन्मीलति ॥

जिसके अंग-अंग में अखिल लोक का वल्लभतर शील (ब्रह्मचर्य) अठखेलियाँ कर रहा है, उसके लिए अग्नि जल बन जाती है, समुद्र छोटी-सी नदी बन जाता है, मेरुपर्वत शिलाखण्ड बन जाता है, सिंह शीघ्र ही हिरण की तरह व्यवहार करने लगता है, सर्प पुष्पमाला बन जाता है, विष अमृत वर्षा करने लगता है। सचमुच ब्रह्मचर्य का प्रभाव इतना दूरगामी और आश्चर्यजनक है।

कालड़ी के देवड़ा राजपूत की कन्या सती राणक देवी की सगाई जूनागढ़ के राजा रायखेंगार से हुई थी, लेकिन सिद्धराज ने उस पर कुदृष्टि रख कर उसे हथियाने के लिए जूनागढ़ पर आक्रमण किया। आश्चर्य यह हुआ कि बारह वर्ष तक वह जूनागढ़ दुर्ग को जीत न सका। आखिर कपट से रायखेंगार को पराजित किया। राणक देवी को ले जाने के लिए सिद्धराज ने बहुत पापड़ बेले। लेकिन वह सिद्धराज के चंगुल में न फँसी। जिस समय सिद्धराज उसे जबरन ले जाने को तैयार हुआ, उस समय उसके मुख से वाणी फूट पड़ी—

"ऊँचा गढ़ गिरनार, बादल से बातें करें।
हारत राणा खेंगार, तू क्यों ना गिर पड़े ॥"

—बस, यों कहते ही, देखते ही देखते, गिरनार पर्वत से टूट कर चट्टानें धड़ाधड़ गिरने लगीं। यह था ब्रह्मचर्य का अद्भुत प्रभाव!

ब्रह्मचारी के मुख से जो कुछ भी निकल जाता है, वह यथार्थ होकर रहता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य के एक से एक बढ़कर अद्भुत चमत्कार देख कर क्या इसकी उपयोगिता में सन्देह हो सकता है? क्या लौकिक, क्या लोकोत्तर सभी क्षेत्रों में ब्रह्मचर्य की उपयोगिता, महत्ता और आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

आप भी इस महान् व्रत को जीवन में अपना कर स्वयं इसका चमत्कार देख सकते हैं। ✡

9

श्रावक जीवन में ब्रह्मचर्य की मर्यादा

ब्रह्मचर्य मानव-जीवन का मेरुदण्ड है। चारों आश्रमों और चारों वर्णों में, तथा सभी वर्गों में ब्रह्मचर्य की आवश्यकता को एकस्वर से स्वीकृत किया गया है। इसीलिए भगवान् महावीर ने सद्गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओं के लिए ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करने का विधान किया है।

प्रश्न होता है—गृहस्थ ब्रह्मचर्य-पालन करने का ध्यान रखे, किन्तु वह व्रत-रूप में ब्रह्मचर्य का स्वीकार करके अपने आपको बन्धन में क्यों बांधे? अगर ब्रह्मचर्य का व्रत स्वीकार किये बिना ही ब्रह्मचर्य का पालन किया जाय तो क्या आपत्ति है?

बात यह है कि जो मनुष्य व्रत, संकल्प या प्रतिज्ञा न लेकर यों ही उसका पालन करने का कहता है; समझ लो, उसके मन में अभी दुर्बलता है। प्रतिज्ञाबद्ध या संकल्पबद्ध न होने पर जरा-सी भी अड़चन आने या बाधा उपस्थित होने पर व्रत से विचलित होने की आशंका रहती है। थोड़ा-सा संकट उत्पन्न होते ही वह फिसलने लगेगा। किन्तु व्रत या संकल्प लिया होगा तो कार्य में होने वाले संकटों, विघ्न-बाधाओं या अड़चनों को सहने की शक्ति आ जाएगी, मन में दृढ़ता रहेगी। प्रतिज्ञा भ्रष्ट होने का डर रहेगा। इसके अतिरिक्त व्रत या संकल्प न लेने पर इहलोक या परलोक में जो पुण्यलाभ या पुण्यफल अथवा धर्मलाभ या धर्मफल जितना मिलना चाहिए, उतना नहीं मिलेगा। इसीलिए जितने भी श्रावक-श्राविका हुए हैं, सबने व्रत बद्ध या संकल्प लेकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया है। अन्य धर्मग्रन्थों में भी इसी बात का समर्थन किया गया है—

संकल्पेन बिना राजन्! यत्किंचित् कुरुते नरः।
फलं चाऽप्यल्पकं तस्य, धर्मस्यार्द्धक्षयं भवेत्।[1]

"राजन्! संकल्प के बिना जो कुछ किया जाता है, उसका फल बहुत थोड़ा होता है। और उस कार्य से होने वाले धर्म का आधा भाग नष्ट हो जाता है।

संसार में भी आप देखते हैं कि विवाह आदि मंगल कार्यों को करने के लिए

---

१ पद्मपुराण

वर-वधू को प्रतिज्ञाबद्ध होना पड़ता है। किसी भी राष्ट्र के शासनकर्त्ता शासन का अधिकार या पद ग्रहण करते हैं, तब शपथ लेते हैं। प्राचीनकाल में जो व्यक्ति दान देता था, वह संकल्प करता था। इसलिए ब्रह्मचर्य जैसे उच्च यम-नियम का पालन करने के लिए संकल्प या व्रत ग्रहण करना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य व्रत के संकट के रूप में स्वीकार करने से लाभ ही है, हानि नहीं है। व्रतरूप में ब्रह्मचर्य का स्वीकार न करने से जो इहलौकिक-पारलौकिक लाभ मिलना चाहिए, वह पूर्णतः नहीं मिल पाता।

व्रत-स्वीकार करने से पारिवारिक, सामाजिक और आत्मिक लाभ

ब्रह्मचर्यव्रत का स्वीकार करने से परिवार और समाज को भी लाभ है, क्योंकि ब्रह्मचर्य—चाहे मर्यादित रूप में ही क्यों न हो, जब गृहस्थ स्वीकार कर लेता है, तब ब्रह्मचर्य की मर्यादाओं का पालन करने से शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक लाभ तो अगणित हैं, जो मैंने पिछले प्रवचनों में बताए हैं, साथ ही पारिवारिक जीवन को बहुत बड़ा लाभ है। उस मर्यादित ब्रह्मचारी के परिवार में संयम, सादगी और सेवा का वातावरण होगा। उसके परिवार में ब्रह्मचर्य-पालन की परम्परा बढ़ेगी। कृत्रिम संतति नियमन के बदले स्वैच्छिक और संयमपूर्ण संततिनियमन करने में किसी को कोई कठिनाई न होगी। मर्यादित ब्रह्मचारी की संतान स्वस्थ, सशक्त, दीर्घायु, चरित्रवान् और बुद्धिमान होगी। देश और समाज को भी उसके व उसके परिवार के द्वारा अच्छे राष्ट्र सेवक या समाज सेवक मिल सकेंगे। ऐसी स्वस्थ परम्परावाले परिवार में से ही आचार्य आर्यरक्षित, कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र जैसे बालब्रह्मचारी साधुरत्न मिल सकेंगे।

मोक्षमार्ग की आराधना के लिए चारित्रधर्म के अन्तर्गत जिन पांच व्रतों (यमों) का विधान भगवान महावीर या भारतीय ऋषि-मुनियों ने किया है, उनमें से ब्रह्मचर्य चौथा व्रत है। मोक्षप्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्यव्रत का स्वीकार और पालन अत्यावश्यक है। ब्रह्मचर्यव्रत के बिना अन्य व्रत मोक्ष के लिए पूर्णतया सार्थक नहीं हो पाते, और न ही ब्रह्मचर्यव्रत के अभाव में अन्य व्रतों की सम्यक् आराधना ही की जा सकती है। इसीलिए तो कहा है—

एस धम्मे धुए निच्चे, सासए जिणदेसिए।
सिज्झा सिज्झंति चाणेण, सिज्झिस्संति तहावरे॥

—यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, वीतरागप्रभु द्वारा उपदिष्ट है, इसी से अनेक मुमुक्षु सिद्ध (मुक्त) हुए हैं, अनेक वर्तमान में मुक्त हो रहे हैं और भविष्य में भी अनेक सिद्ध (मुक्त) होंगे। गृहस्थाश्रम में भी ब्रह्मचर्य (मर्यादित) का स्वीकार करने वाला सद्गृहस्थ पूर्ण ब्रह्मचर्य को अपना लक्ष्य मानकर अपने ज्येष्ठ पुत्र के समझदार और घर-बार संभालने लायक होते ही पूर्ण ब्रह्मचर्य की आराधना करके मोक्ष प्राप्त करता है। यह धर्मलाभ या आत्मिक लाभ ब्रह्मचर्य से प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्यपालन से पुण्यलाभ भी कम नहीं होता। यद्यपि ब्रह्मचर्यव्रत धारी की आकांक्षा ब्रह्मचर्य पालन के पीछे पुण्य लाभ की दृष्टि न होकर धर्मलाभ की होनी चाहिए; क्योंकि पुण्यलाभ तो अनायास ही उसे प्राप्त होता है, जिसका फल इहलौक में स्वस्थ, सशक्त, सुदृढ़, सहिष्णु शरीर, उन्नत एवं उदार विचारक मन, स्मरणशक्ति से ओत-प्रोत बुद्धि, कर्तव्यपरायण सुखी शान्तिमय जीवन एवं स्वस्थ संयमी पारिवारिक वातावरण प्राप्त होना है। समाज को भी उक्त सद्गृहस्थ के ब्रह्मचर्य-पालन से बहुत अच्छा स्वस्थ एवं प्रेरणादायक वातावरण मिलता है। वह समाज का खासतौर से महिला वर्ग का विश्वसनीय पुरुष माना जाता है। परलोक में भी पुण्यफल स्वरूप उसे उत्तम सद्गति, स्वस्थ वातावरण एवं सुन्दर विचार मिलते हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्यपालन से पुण्यफलस्वरूप इहलौकिक और पारलौकिक हित एवं सुख-समृद्धि का लाभ अनायास ही मिलता है।

ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करने वाला गृहस्थ यह शुभ-चिन्तन भी करता है—"मुझे ये इन्द्रियाँ पाप से नहीं, पुण्य से मिली हैं। पुण्य से प्राप्त इन्द्रियों (साथ ही मनुष्यजन्म, स्वस्थ शरीर आदि) को पुण्य की ओर लगाना ही उचित है, पाप की ओर लगाने से तो पाप की परम्परा ही बढ़ेगी, न उससे आत्मा का विकास ही होगा, बल्कि जन्म-मरण का चक्र ही वृद्धिगत होगा। इसलिए जब इन पुण्य से प्राप्त इन्द्रियों द्वारा धर्मलाभ लिया जा सकता है, तब इनसे पाप की परम्परा क्यों बढ़ाई जाय? इन्द्रियों को विषय-भोगों में प्रवृत्त करना पुण्योपार्जित इन्द्रियों को पाप के उपार्जन में लगाना है। इन्द्रियों की सार्थकता तभी है, जब इन्हें असंयम या विषयों में न लगाकर आत्मा की सेवा में, संयम में लगाया जाय।"

मानवजीवन की सार्थकता उच्छृंखल रूप से विषयोपभोग में नहीं

मनुष्य का जन्म, शरीर और मन अन्य सर्वप्राणियों से उत्तम है, दुष्कर है और देवदुर्लभ है। अतः इसकी सार्थकता ब्रह्मचर्य पालन करने में है, न कि विषयोपभोग करने में। ब्रह्मचर्य रूप धर्म का पालन करने पर ही मनुष्य समस्त प्राणियों में उत्तम हो सकता है। अमर्यादित रूप से विषयोपभोग करने या अब्रह्मचर्य-सेवन करने से मनुष्य की श्रेष्ठता नहीं है।

आप से मैं पूछता हूँ, यह आत्मा मनुष्य जन्म को कैसे प्राप्त कर सका है? आप कहेंगे पुण्य राशि के बढ़ने से! आपकी बात सच है, पर आप यह तो बताइए कि मनुष्य का पुण्य दूसरे प्राणियों की अपेक्षा क्यों बढ़ा-चढ़ा है? मनुष्य ने किस साधना से इतना पुण्यपुंज प्राप्त किया? शास्त्र कहते हैं कि मनुष्य इस जन्म से पूर्व निगोद, एकेन्द्रिय से लेकर तिर्यंच-पञ्चेन्द्रिय तक जिन-जिन योनियों में गया, वहाँ इसे धर्म और पुण्य का कोई भी बोध प्राप्त न हो सका। वहाँ इसने दुर्विषयभोगों को ही ईष्ट मान रखा था, इसलिए उन्हें खूब भोगा, लेकिन उन दुर्विषयों को बार-बार भोगने पर भी उसे तृप्ति नहीं हुई; न मुक्ति या मुक्ति-कारणरूप धर्म प्राप्त हुआ। उस समय तो

उस जीव को न तो धर्म, पुण्य का ज्ञान था, न बुद्धि विकसित थी, इसलिए दुर्विषय-भोगों का मनमाना सेवन किया, लेकिन उन-उन योनियों में बलात् कष्टसहन या तप करने से पुण्यराशि बढ़ने के कारण वह आत्मा निगोद से निकलकर अनेक जन्मों एवं योनियों में परिभ्रमण करके अनेक प्रकार के कष्ट सहता हुआ इस मनुष्य जन्म को प्राप्त कर सका है। अगर अब मनुष्यजन्म पाकर भी यह पशु आदि तिर्यंचयोनियों में भोगे जाने वाले दुर्विषयभोगों का सेवन करे, उन्हीं में रचापचा रहे, उन्हीं में सुख माने जन्ममरण से मुक्त होने का या कम से कम पुण्य लाभ का उपाय न करे तो इससे बढ़कर भूल या मूर्खता और क्या होगी ? यह तो चिन्तामणि रत्न खोकर कांच का टुकड़ा पाने के समान है। पशु शरीर में भोगे जा सकने वाले भोगों को भोगकर मनुष्य शरीर को नष्ट करना कौन-सी बुद्धिमत्ता है ?

निष्कर्ष यह है कि मनुष्य शरीर दुर्विषयों के उपभोग के लिए नहीं है, किन्तु उन्हें त्याग करके संयम और ब्रह्मचर्य के पथ पर चलने के लिए है। इसलिए मनुष्य-जन्म प्राप्त होने की सार्थकता दुर्विषयभोगों को त्यागकर ब्रह्मचर्य-तप का आचरण करने में है। यही कारण है कि आदितीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने अपने ९८ पुत्रों को यही उपदेश दिया था—

"पुत्रो ! देवदुर्लभ यह मनुष्यतन दुःखदायक विषयभोगों के उपभोग के योग्य नहीं है, क्योंकि दुःखदायी विषयभोग तो विष्ठा खाने वाले तिर्यंच जीवों को भी मिल जाता है। अतएव मेरा सुझाव है कि यह शरीर दिव्यतप में लगाना श्रेयस्कर है, जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो और अनन्त ब्रह्मसुख प्राप्त हो।"

सचमुच, भगवान ऋषभदेव का यह अमूल्य उपदेश केवल अपने पुत्रों के लिए ही नहीं, भारत के ही नहीं, विश्व के सभी मानवपुत्रों—अमृतपुत्रों के लिए है। इसलिए ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करना मानव-जन्म को सार्थक करना है, पुण्य प्राप्त मानव शरीर को ब्रह्मचर्य-साधना द्वारा मोक्षरूपी उत्तम लाभ पाना है।

गृहस्थजीवन में ब्रह्मचर्यव्रत आवश्यक क्यों ?

कुछ लोगों का यह कहना है कि गृहस्थजीवन तो ब्रह्मचर्य पालन के लिए नहीं होता। अगर ब्रह्मचर्य ही पालन करना होता तो गृहस्थजीवन का स्वीकार ही क्यों किया जाता ? गृहस्थजीवन तो भोग-विलास के लिए है।"

परन्तु यह एक भ्रान्ति है, जो जनसाधारण में प्रचलित है। वास्तव में देखा जाय तो साधु हो या गृहस्थ, दोनों के ध्येय, दोनों का दृष्टिकोण, दोनों के जीवन की सार्थकता भोगों में शरीर को नष्ट करने में नहीं, अपितु शरीर से भोगों के त्याग और इन्द्रिय-विषयों पर संयम की साधना—ब्रह्मचर्य की आराधना के द्वारा आत्मा को अनन्त शक्तिमान सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनाने में है। यह बात दूसरी है कि साधुजीवन में जैसे पूर्ण ब्रह्मचर्य की आराधना की जाती है, वैसे न करके गृहस्थजीवन में मर्यादित ब्रह्मचर्य की आराधना हो। परन्तु दोनों की मंजिल एक है, दोनों को ब्रह्मचर्य के उच्च

शिखर पर पहुँचना है, दोनों को मुक्त बनना है, दोनों अपनी आत्मा को अनन्त बल-वीर्य से सम्पन्न करना चाहते हैं, दोनों का पथ भी एक है, भगवान महावीर ने साधु और गृहस्थ दोनों के ब्रह्मचर्य की आराधना का मार्ग एक बताया। दोनों के ब्रह्मचर्य को चारित्र धर्म, अनुत्तर योग, आर्य धर्म, उत्तम मार्ग कहा है। अन्तर केवल चलने का है।

गन्तव्य स्थान—मोक्ष एक है, ब्रह्मचर्य-पथ भी एक है—ब्रह्मचर्य पालन के नियम जो साधु के हैं, वे ही गृहस्थ के लिए हैं, अन्तर है उस पथ पर चलने वाले साधकों का। गृहस्थ साधक उसी ब्रह्म पथ पर धीमी गति से—रास्ते में विश्राम लेता हुआ चलता है, जबकि साधु उसी ब्रह्मपथ पर तीव्रगति से विश्राम की अपेक्षा रखे बिना चलता है। परन्तु यह तो मानना ही होगा कि गृहस्थाश्रम का अन्तिम आदर्श पूर्ण ब्रह्मचर्य है, उसी की साधना हेतु पति-पत्नी दोनों मिलकर एक-दूसरे को संयम मार्ग में प्रेरित करते हुए, सहयोग देते हुए ब्रह्मचर्य के उच्च शिखर पर पहुँचते हैं। गृहस्थाश्रम में वासना के आक्रमण के समय कदाचित् जूझा न जा सके, फिर भी कुल मिलाकर ब्रह्मचर्य-पालन का अंश गृहस्थाश्रम में अधिक है। थोड़ा-सा वासना का अंश है, वह भी पति-पत्नी दोनों मिलकर गृहस्थाश्रम स्वीकार करने पर केवल धर्मज सन्तान प्राप्ति के लिए होता है। गृहस्थाश्रम की अधिकतर मर्यादाएँ ब्रह्मचर्य-पालन के लिए हैं, जिनसे शीलवान सदाचारी बना रहकर गृहस्थ अपनी जीवनयात्रा करता हुआ एक दिन मंजिल तक पहुँच जाता है। मैं गृहस्थाश्रम की वे ब्रह्मचर्य मर्यादाएँ आपको बताऊँगा, किन्तु आप यह हृदय में निश्चित कर लीजिए कि गृहस्थाश्रम ब्रह्मचर्य के शिखर पर पहुँचने के लिए है। इसलिए गृहस्थजीवन में ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करना अनिवार्य, स्वाभाविक एवं उपयोगी है।

गृहस्थजीवन में ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण न करने पर

जो लोग यह कहते हैं कि गृहस्थजीवन में स्वपत्नी-सन्तोषव्रत की आवश्यकता क्यों है ? क्या स्वपत्नी और क्या परपत्नी, अब्रह्मचर्य-सेवन में पाप तो एक सरीखा ही लगता है, तब यों मर्यादाओं में बँधने से क्या लाभ है ?

भारतीय संस्कृति और धर्मों का मत इसके बिलकुल विपरीत है। भारतीय धर्मों का मत है कि गृहस्थ जीवन में जो लोग इतनी मर्यादा का भी पालन नहीं करते, उनके ध्यान में गृहस्थाश्रम का लक्ष्य केवल वासनापूर्ति करना ही नहीं, अपितु ब्रह्मचर्य के आदर्श को प्राप्त करना है। वहाँ पत्नी केवल भोगवासना की पूर्ति की पुतली नहीं, अपितु ब्रह्मचर्य मार्ग पर बढ़ने में सहायिका है। शास्त्रों में उसके 'धम्म-सहाया', धर्मपत्नी, सहचारिणी, पतिव्रता आदि अनेक सुन्दर और सार्थक नामों का उल्लेख किया गया है। इसलिए वहाँ ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करने के साथ स्वपत्नी-सन्तोष ही नहीं, अब्रह्मचर्य-सेवन पर अन्य कई अंकुश आ जाते हैं। किन्तु ब्रह्मचर्यव्रत का स्वीकार न करने पर व्यक्ति उच्छृंखल, अमर्यादित और अविश्वसनीय हो जाता है।

ऐसे उच्छृंखल व्यक्ति कामी कुत्ते बनकर जगह-जगह कामवासना की झूठन के लिए ताकते-फिरते हैं। उनकी भद्र घरों में बेइज्जती होती है, समाज में ऐसे व्यभिचारियों का अपमान होता है, राष्ट्र में उनकी कोई प्रतिष्ठा नहीं होती। चाहे उनके पास पर्याप्त धन हो, सत्ता भी मिल गई हो, परन्तु इस लोक में उनका व्यभिचारी जीवन उन्हें बर्बाद कर देता है। लाखों वर्ष बीत जाने पर भी आज तक जो अपमान और घृणा का भाव राक्षस जाति और रावण के नाम पर बरस रहा है, वह केवल इसी दुर्गुण के कारण ही तो है? परस्त्री के अपहरण और स्वस्त्री सन्तोष न होने के कारण रावण को आज तक प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हो पाई है। संसार का असाधारण वैभव पाकर भी राक्षस-जाति और यादव जाति क्यों बर्बाद हो गई? लंका और द्वारिका दोनों सोने की नगरियाँ थीं। किन्तु सोने की चकाचौंध में दोनों अपने जीवन का निर्माण करना भूल गए। एक ओर रावण का विशाल साम्राज्य इसी उच्छृंखल व्यभिचारी वृत्ति के कारण धूल में मिल गया तो दूसरी ओर द्वारिका को यादवों के इसी असंयमी जीवन ने आग में झोंक दिया।

निष्कर्ष यह है कि ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण न करने के कारण व्यभिचार का शिकार बना हुआ व्यक्ति धन और वैभव में कितना ही बढ़ा-चढ़ा हो, नैतिक बल न होने के कारण संसार में उसे प्रतिष्ठा और सुख-शान्ति प्राप्त नहीं होती। इसलिए गृहस्थ-जीवन में इस चतुर्थ अणुव्रत का ग्रहण करना बहुत ही आवश्यक है। इस व्रत को ग्रहण करने वाला गृहस्थ अपनी एक पाणिगृहीत पत्नी के सिवाय संसारभर की नारियों को माता समझता है, वह उन्हें पवित्र मातृ भावना से देखता है।

बुन्देलखण्ड के राजा छत्रशाल की परस्त्री के प्रति पवित्र दृष्टि थी। वे प्रजा-वत्सल एवं धर्मनिष्ठ शासक थे। वे प्रतिदिन सन्ध्यासमय प्रजा के सुख-दुःख का पता लगाने के लिए नगर में भ्रमण करने निकलते थे। एक धनिक विधवा स्त्री उनका रूप देखकर मोहित हो गई। उसने अपनी नौकरानी को भेज कर राजा छत्रशाल से कहलाया कि वह बहुत दुःखी है, और आपसे अपना दुःख कहना चाहती है। प्रजा-वत्सल राजा यह सुनकर शीघ्र ही उसके घर में पहुँच गए। महिला ने उन्हें अत्यन्त आदरपूर्वक एक सुसज्जित कमरे में उच्च आसन पर बिठाया। महिला से उसके दुःख का कारण पूछे जाने पर उसने कहा—"मैं बहुत दुःखी हूँ मेरे पति गुजर चुके हैं। कोई पुत्र नहीं है। मैं आप जैसा सुन्दर पुत्र चाहती हूँ। कृपया आप मुझे स्वीकार करें, मैं अपना हृदय आपको समर्पित करती हूँ।"

राजा छत्रसाल ने कुछ देर विचार करके कहा—"पुत्र होगा तो पता नहीं, मेरे जैसा सुन्दर होगा या नहीं? तुम मुझे ही अपना पुत्र समझ लो। तुम मेरी माता और मैं तुम्हारा पुत्र! स्वीकार कर लो!"

महिला यह सुनते ही अत्यन्त लज्जित हो गई, उसका कामविकार वात्सल्य-भाव के रूप में परिणत हो गया। राजा छत्रसाल उसी दिन से उसे अपनी माता

मानने लगे और प्रतिवर्ष कुछ न कुछ भेंट उसे दिया करते थे। जब तक वह जीवित रही, उस माता के भरणपोषण का वे ध्यान रखते थे।

यह है गृहस्थ-जीवन में मर्यादित ब्रह्मचर्य का ज्वलन्त उदाहरण! राजर्षि नमि ने एक बार अपनी सेना को इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण नैतिकबल का सन्देश दिया था—"जब तुम दूसरे देश के विजेता बन जाओगे, तब तुम्हारे सामने वहाँ की प्रजा का वैभव और भोग-विलास की सामग्री होगी, सैनिक के हाथ में शक्ति रहती है और वह उसके मद में पागल हो जाता है। परन्तु तुम्हारे अन्दर इतना चरित्रबल होना चाहिए कि तुम वहाँ की जनता की एक भी वस्तु न छुओ। उस देश की सुन्दरी महिलाएँ तुम्हारी माताएँ और बहनें होनी चाहिए।"

जिन सैनिकों में नैतिक बल होता है, वे किसी देश को जीतने पर भी न तो धन लूटने का प्रयास करते हैं, और न वहाँ की महिलाओं की इज्जत लूटने का प्रयास करते हैं। जनता के हृदय में ऐसे सैनिकों के उच्च चरित्र की छाप अंकित हो जाती है।

ऐसे सैनिकों के जीवन जैसा ही गृहस्थ का जीवन होना चाहिए। गृहस्थ में यदि चरित्र बल है तो वह जिस घर में रहता है, वहाँ भी प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और जहाँ भी वह नाते-रिश्तेदारों में जाता है, तब भी आदर पाता है। जिसमें चरित्र-बल है, उसके लिए **'मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत्'** अप्सरा-सी सुन्दरियाँ (पर-स्त्रियाँ) माताएँ, बहनें हैं, परद्रव्य चाहें लाखों का ढेर हो, उसके लिए ढेले के समान है।

एक व्यापारी या दूकानदार किसी भी देश या प्रान्त में रहे, कोई भी सात्त्विक व्यवसाय या व्यापार-धन्धा करे, मगर उसमें इतना चरित्रबल होना चाहिए कि कोई भी महिला उसके सम्पर्क में आए, कुछ भी सौदा ले, देखे, किन्तु उसकी दृष्टि में उसके प्रति मातृभाव या भगिनीभाव होना चाहिए। अगर उसकी दृष्टि में सात्त्विकता होगी तो संसार में उसके लिए किसी वस्तु की कमी न रहेगी, उसका जीवन सबके लिए विश्वसनीय, स्पृहणीय और आदरणीय बन जाएगा। उसके सदाचार का प्रभाव अमिट होगा।

परस्त्री के प्रति ऐसी मातृभावना या भगिनी भावना से उक्त गृहस्थ का जीवन आदरणीय एवं विश्वसनीय तो बनता ही है, साथ ही उसके अपने हृदय में भी विकारभाव नहीं आता। उसका दाम्पत्य-जीवन भी सुखी और शान्तिमय बनता है। वह एक सुन्दर परम्परा भी अपने परिवार में छोड़ जाता है।

एक लखारा था। वह अपनी गधी पर बैठकर आसपास के गाँवों में चूड़ियाँ बेचने जाया करता था। एक दिन वह गधी पर बैठे कहीं जा रहा था। गधी धीरे-धीरे चलने लगी। तब लखारा उसे हाँकते हुए कहता जाता था—बेटी चल! बहन

चल, चल माँ ! लखारे के इस सम्बोधन को सुनकर कुछ राहगीर उससे कहने लगे—"तू भी कैसा मूर्ख है, इस गधी को माँ, बहन, बेटी कहता है। क्या यह गधी तेरी माँ, बहन या बेटी हो सकती है ?" लखारे ने यह सुना तो बोला—'आपका कहना ठीक है। यह गधी होने के कारण मेरी माँ, बहन या बेटी नहीं हो सकती। लेकिन स्त्री जाति के प्रति माँ, बहन या बेटी की भावना जगाने वाली तो हो सकती है न ? अगर मैं इस गधी को माता, भगिनी और पुत्री की भावना से नहीं देखूँगा, तो महिलाओं के प्रति ऐसी भावना कैसे रख सकूँगा ? मैं लखारा हूँ। महिलाओं को चूड़ियाँ पहनाता हूँ। बड़े-बड़े घरों में मेरा आना-जाना रहता है। प्रतिदिन सुन्दर-सुन्दर नारियों के कोमल-कोमल हाथ चूड़ियाँ पहनाने के लिए मेरे हाथों में आया करते हैं। यदि मैं उनके प्रति माता, भगिनी और पुत्री भाव न रखूँ—किसी प्रकार की कुभावना रखूँ, तो मैं लोगों में अपना विश्वास भी खो दूँ तथा व्यवसाय से भी हाथ धो बैठूँ। इसलिए मैं इस गधी को भी माँ, बहन और बेटी के समान मानता हूँ; ताकि मैं अन्य महिलाओं को भी मां, बहन और बेटी के समान मान सकूँ।"

लखारे की बात सुनकर सबने उसकी भावना की हार्दिक प्रशंसा की। तात्पर्य यह है—गृहस्थ चाहे जिस व्यवसाय को करता हो, अपने सम्पर्क में आने वाली प्रत्येक बहन को माता, भगिनी या पुत्री की दृष्टि से देखे तो उसका ब्रह्मचर्यव्रत भी सुरक्षित रह सकता है, विश्वस्त भी।

यूरोप में जहाँ चारों ओर भोगविलास का वातावरण है, वहाँ विश्व के प्रसिद्ध साहित्यकार '**जार्ज बनार्डशा**' उससे निर्लिप्त रहे। उन्होंने अपने जीवन में कामवासना के गलत रूप को कभी स्थान नहीं दिया। उनके हृदय में संसारभर की स्त्रियों के लिए पवित्रभाव का झरना ही बहता रहा। इतना ऊँचा चरित्रबल रखा, तभी तो वे ९४ वर्ष की आयु तक संसार को उत्तम, संयमपूर्ण विचार देते रहे। उनके स्वस्थ एवं स्वच्छ चिन्तन की धारा अन्तिम समय तक बहती रही।

इसी प्रकार डॉक्टर, वैद्य या चिकित्सक में भी इतना चरित्रबल होना चाहिए कि जो भी महिला उसके पास इलाज के लिए आए उसके प्रति माँ, बहन या बेटी की पवित्र दृष्टि रखे।

लेकिन आज भारत के गृहस्थों की भावना और दृष्टि ही पश्चिम के अत्यधिक सम्पर्क से प्रायः बदल गई है। डाक्टर, अध्यापक या अन्य बड़े-बड़े अधिकारीगणों का यह हाल है कि वे अपनी स्त्री होते हुए भी इधर-उधर ताक-झांक करते रहते हैं। किसी न किसी भोलीभाली महिला को चंगुल में फँसा लेते हैं, जब भण्डाफोड़ होता है तो वहाँ से अन्यत्र खिसक जाते हैं। दूसरे शहर में जाकर अपना डेरा जमाते हैं। परन्तु ऐसे लोगों का जीवन भी प्रायः अशान्त, भयभ्रान्त, और अप्रतिष्ठित बना रहता है।

श्रावक के ब्रह्मचर्य व्रत की मर्यादा

इन सब दृष्टियों से गृहस्थ-जीवन में भी मनुष्य ब्रह्मचर्य से रह सकता है। यद्यपि पूर्ण ब्रह्मचारी और गृहस्थ ब्रह्मचारी में बहुत अन्तर होता है। तथापि यदि गृहस्थाश्रम में भी संयम, नियम से चले तो वह भी वासना के जहर को बहुत अंशों में कम कर देता है। यद्यपि पूर्ण ब्रह्मचर्य में मैथुनांगों सहित सभी प्रकार के मैथुनों का मन-वचन-काया से करने कराने और अनुमोदन करने का त्याग किया जाता है, इस अपेक्षा से आंशिक ब्रह्मचर्य (देशविरति ब्रह्मचर्य) बात का आदर्श काफी नीचा है, तथापि देशविरति, ब्रह्मचर्य धारक भी बहुत अंशों में अब्रह्मचर्य का त्याग कर देता है, प्रत्येक विवाहित स्त्री-पुरुष इस देशविरति ब्रह्मचर्य व्रत का भली-भांति पालन भी कर सकते हैं। देशविरति ब्रह्मचर्य का स्वीकार करने से विवाहित स्त्री-पुरुष के सांसारिक कार्यों में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। इसलिए देशविरति ब्रह्मचर्य का पालन करना नैतिक, धार्मिक सभी दृष्टियों से प्रत्येक गृहस्थ के लिए उचित है। देशविरति ब्रह्मचर्यव्रत को अंगीकार करने वाला सद्गृहस्थ इस प्रकार प्रतिज्ञा लेता है—

"सदार-संतोसिए अवसेसं मेहुणं पच्चक्खामि जाव-जीवाए (देवदेव सम्बन्धी) दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा (मनुष्य मनुष्यणी तथा तिर्यन्च-तिर्यंचणी सम्बन्धी) एगविहं एगविहेणं न करेमि कायसा।"

—"मैं (देशविरति ब्रह्मचर्य व्रत में) स्वदार-सन्तोष के अतिरिक्त शेष समस्त (स्त्रीजाति के प्रति) मैथुन का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ, यावज्जीव तक, देव-देवी-सम्बन्धी मैथुन का दो करण—तीन योग से (यानी मैथुनसेवन न करूंगा, न कराऊँगा, मन से, वचन से और काया से) इसी प्रकार मनुष्य-मनुष्यणी सम्बन्धी, तथा तिर्यञ्च-तिर्यञ्ची सम्बन्धी मैथुन सेवन का एक करण एक योग से (अर्थात् काया से) त्याग करता हूँ।"

जरा विचार कीजिए, गृहस्थ-जीवन में ब्रह्मचर्यव्रत की इस प्रतिज्ञा से श्रावक का कोई भी कार्य रुकता नहीं, साथ ही वासना का विष भी कितना अल्पतम हो गया। मान लीजिए, विष से परिपूर्ण एक कलश है, उसमें से सारा विष निकल जाए और केवल एक बिन्दु विष रह जाए तो वह भी कितनी उच्च स्थिति है! यद्यपि एक बूंद जो विष रह जाता है, उसका भी उपयोग वह बहुत विवेकपूर्वक विवश होकर करता है। औषध के रूप में ही वह उसका उपयोग करता है। इसलिए कहना होगा कि गृहस्थ-जीवन में भी ऐसा मर्यादित ब्रह्मचारी श्रावक सारे विश्व में पवित्रता की लहर दौड़ा देता है। वह घर, बाहर, कुटुम्ब-परिवार या समाज में जहाँ भी जाता है वह सर्वत्र पवित्र मन, पवित्र नेत्र, पवित्र श्रवण, पवित्र हृदय रखता है। उसकी दृष्टि में अपनी विधिवत् विवाहिता पत्नी के सिवाय संसारभर की समस्त महिलाओं के प्रति मातृभाव और भगिनीभाव का पवित्र निर्झर प्रवाहित होता रहता है। संसार के किसी कोने में चला जाएगा, तब भी वह मातृजाति के प्रति इसी

निर्मल दृष्टि को रखेगा। आप अनुमान लगाइए, उस सद्गृहस्थ की कितनी उच्च भूमिका है ? कितना विष उसने त्याग दिया है।

कई लोग कहते हैं कि "विवाह तो ब्रह्मचर्य का भंग है। जब कोई व्यक्ति विवाह के क्षेत्र में उतरता है, तब वासना की दृष्टि लेकर ब्रह्मचर्य से नीचे उतरता है। जैनधर्म जैसा निवृत्तिवादी धर्म विवाह का समर्थन कैसे कर सकता है ? अथवा स्वदारसन्तोष भी स्वकीय पत्नी के साथ मैथुन प्रवृत्ति-परक होने से उसका विधान भी कैसे कर सकता है ?"

वास्तव में यह प्रश्न बड़ा विकट भी है, और महत्त्वपूर्ण भी है। इस अटपटे प्रश्न को हल करने में कभी-कभी महान् दार्शनिक और विचारक भी उलझ जाते हैं, और उचित निर्णय नहीं कर पाते।

इस प्रश्न को हल करने के लिए हमें विवाह प्रथा के श्रीगणेश के इतिहास को टटोलना होगा। जैन इतिहास की दृष्टि से आदिम युग में भगवान् ऋषभदेव ने सर्व प्रथम विवाह के क्षेत्र में प्रवेश किया। उससे पहले यौगलिक-युग था, उस समय विवाह की प्रथा नहीं थी। सामाजिक विधान के रूप में इस प्रकार का विवाह विहित नहीं था। भाई-बहन दोनों स्त्री-पुरुष साथी बनकर जीवन के क्षेत्र में चल पड़ते थे। जैन इतिहास कहता है—उसमें जब विकृति आने लगी तो भगवान् ऋषभदेव ने सर्वप्रथम समाज की साक्षी से विधिवत् पाणिग्रहण किया। उस विधि को उन्होंने विवाह-विधि नाम दिया। उस समय की जनता से उन्होंने कहा—"आज से यदि किसी को अपनी जीवन-यात्रा का संगी-साथी चुनना चाहे—चाहे स्त्री-पुरुष को या पुरुष-स्त्री को—तो उसे विवाह के रूप में ही चुनना चाहिए। विवाह के अतिरिक्त जो भी पुरुष-स्त्री के सम्बन्ध होंगे, वे वैध नहीं समझे जायेंगे। पशुओं की तरह उच्छृंखल सम्बन्धों में नैतिकता नहीं होती, प्रत्युत अनैतिकता और व्यभिचार ही होता है।

इससे यह समझा जा सकता है कि भगवान ऋषभदेव जैसे ज्ञानी पुरुषों ने विवाहप्रथा को प्रचलित करके वासना के व्यापक विष को, अत्यन्त अल्प करने की विधि बताई है। उन्होंने कर्मभूमि के आदिकाल में गृहस्थ-जीवन के प्रवेश में विवाह करने की बात कहकर जीवन की एक बहुत बड़ी अनैतिकता को दूर कर दी। उन्होंने विवाह करने वाले को बहुत बड़ा पाप करने वाला नहीं बताया। इन्होंने इस रूप में गृहस्थ को अपनी जीवनयात्रा पवित्रतापूर्वक तय करनी सिखाई है।

पशु-पक्षी भी अपनी जीवनयात्रा तय करते हैं, परन्तु वहाँ विवाह जैसी कोई सीमा नहीं बाँधी हुई है। उनकी वासना की लहरें समुद्र की तरह असीम और तूफानी हैं। किन्तु गृहस्थ अपनी जीवनयात्रा तय करते समय विवाह के रूप में वासना का जरा-सा द्वार खुला रखकर शेष वासना—समुद्र को बन्द कर देता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वासना के लहराते हुए सिन्धु को प्याले में बन्द कर देता है।

नैपाल में एक बहुत बड़ा ग्रह है। वहाँ वर्षाऋतु में चारों ओर से पानी इकट्ठा हो जाता और तटों को तोड़कर जब उच्छृंखल रूप से बहने लगता तो कई गाँवों को जलमग्न कर देता था। कुछ बुद्धिमान इंजीनियरों ने गाँवों को जलमग्न होने से बचाने के लिए वहीं एक पहाड़ी के नीचे एक बाँध बांध दिया। साथ ही इंजीनियरों ने यह भी अनुमान लगाया कि बाँध बांध देने पर भी अगर पानी अत्यधिक आ गया तो बांध उस पानी को हजम नहीं कर पाएगा। पानी बाँध की दीवार को तोड़कर बाहर निकल जाएगा तो फिर उसी तरह गाँवों की तबाही हो जाएगी। अतः इंजीनियरों ने बाँध बनाते समय ही एक बहुत बड़ा कपाट बना दिया, ताकि पानी बहुत जोरों से आने लगे और बाँध में पानी को सामने की क्षमता न रहे, तो इस बड़े कपाट को खोल दिया जाय।

बाँध में क्षमता से अधिक भरा हुआ फालतू पानी अपने निकलने के मार्ग से निकल जाए और बाँध की दीवार सुरक्षित रहे। सचमुच, एक बार उस जलाशय में पानी इतना अत्यधिक भर गया कि बांध की दीवार के टूटने का खतरा पैदा हो गया, अतः कुशल इंजीनियरों ने बांध का बड़ा कपाट खोल दिया, इससे पानी का उच्छृंखल प्रवाह एक निश्चित मार्ग से बाहर निकल गया। ऐसा करने से नुकसान कम हुआ, आसपास के गाँव विनाशलीला से बच गए।

क्या इंजीनियर ने फालतू पानी को निकलने का बड़ा कपाट खोलकर कोई अपराध किया ? नहीं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। कुशल इंजीनियर का बड़ा कपाट खोलने का उद्देश्य तो यही था कि सारा का सारा बांध न टूट जाए और जन-धन की अपार क्षति और भयंकर बर्बादी होने का अवसर न आए।

यही बात गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध में है। कामवासना के उफनते हुए प्रवाह को रोकने के लिए आदि तीर्थंकर ऋषभदेव जैसे कुशल जीवन-इंजीनियर ने गृहस्थ जीवन में ब्रह्मचर्यव्रत रूपी बाँध बाँध दिया वासनाओं के उफनते हुए प्रवाह को नियंत्रण में रखना गृहस्थ साधक का कर्तव्य है। यदि उसकी क्षमता उस पर पूर्ण नियंत्रण करने की है, तब तो सोने में सुगन्ध की तरह शास्त्रीय भाषा में वह पूर्ण ब्रह्मचर्य के शिखर पर पहुँच सकता है। परन्तु अगर वह वासनाओं के तूफानी प्रवाह को पूरी तरह से रोकने की क्षमता नहीं रखता है, समस्त वासनाओं एवं विकारों को वह पचा नहीं सकता, उसके लिए विवाह के रूप में एक बड़ा कपाट छोड़ा गया है, ताकि वासना का अतिरिक्त जल पति-पत्नी के रूप में विहित एवं नियत मार्ग से बह जाय। आप देखेंगे कि श्रावक के ब्रह्मचर्यव्रत की मर्यादा में चारों ओर ब्रह्मचर्य का अखण्ड, अभेद्य बाँध है, केवल एक विवाह रूपी कपाट है, जिसके जरिये वासना का जल दम्पति रूपी विहित व निश्चित मार्ग से प्रवाहित हो सकता है। यों तो विवाह रूपी कपाट बंद रहता है, किन्तु अत्यधिक विवशता में, अतिरिक्त ऐसे संकटापन्न समय में ही खोला जाता है, जिससे अतिरिक्त वासना जल सारे बांध को ही न तोड़ दे। किन्तु ऐसे समय में

कपाट के उद्घाटन से संसार में कोई उपद्रव नहीं होता, कोई धन-जन की बर्बादी, प्रतिष्ठा की हानि नहीं होती। सामाजिक मर्यादा रूपी बांध की दीवार के टूटने का अवसर नहीं आता और जीवन की पवित्रता भी सुरक्षित रहती है।

इस प्रकार विवाह-प्रथा के प्रचलन के पीछे भगवान ऋषभदेव का आशय यह था कि गृहस्थ विराट् वासना को एक पत्नी के साथ विधिवत् संलग्न होकर बंद करके और ब्रह्मचर्य की काफी अंशों में रक्षा करते हुए भविष्य में पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर बढ़े। वासना को पशु-पक्षी की तरह उच्छृंखल रूप से सेवन करते हुए मानव-समाज को उन्होंने एक पत्नी में केन्द्रित करने की बात कही। अन्यथा, मानव की जिंदगी पशुओं की-सी बन जाती। इस प्रकार मूल में, श्रावक के लिए आंशिक ब्रह्मचर्यव्रत की प्रेरणा है, विवाह के क्षेत्र में भी उनका आशय ब्रह्मचर्य रक्षा का है।

इस दृष्टिकोण को आप हृदयंगम कर लेंगे तो आपको विवाह की मर्यादा और ब्रह्मचर्यव्रत के रहस्य को भलीभाँति समझ सकेंगे।

शास्त्रों के गहन चिन्तन-मनन पर से मैं यह दावे के साथ कह सकता हूँ कि जो विवाह पूर्णतया दायित्व समझ कर ईमानदारी के साथ उसे निभाने के लिए किया जाता है, तो वह भी ब्रह्मचर्य-साधना का ही एक रूप है। विवाह कर लेने पर गृहस्थ श्रावक के स्वस्त्री के रूप में सिर्फ एक द्वार के सिवाय संसारभर के समस्त वासना द्वार बंद हो जाते हैं। इस प्रकार विवाह के अर्थगाम्भीर्य को समझ कर जब स्वीकार किया जाता है, तभी विवाह सच्चे माने में सार्थक होता है। तभी उससे ब्रह्मचर्य साधना में चमक आती है।

इस रूप में जैनधर्म की दृष्टि से विवाह वासनाओं का केन्द्रीकरण है। असीम वासनाओं को सीमित करने का मार्ग है। पाशविक जीवन से मुक्त होकर मानवीय जीवन को नैतिक रूप में व्यतीत करने का साधन है। अन्ततोगत्वा पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर गति करने का कदम है। अतः जैनधर्म में विवाह के लिए स्थान है परन्तु पशु-पक्षियों की तरह निरंकुश भटकने के लिए कोई स्थान नहीं है। यहाँ वेश्यागमन और परस्त्रीगमन के लिए अथवा अप्राकृतिक मैथुन के लिए कोई छूट नहीं है। जैनधर्म वासना को केन्द्रित एवं मर्यादित करने की बात को तो स्वीकार करता है, साधक की शक्ति के अनुरूप उसे उपयुक्त भी मानता है। मगर वासना को उच्छृंखल रूप से सेवन करने की बात बिलकुल उपयुक्त नहीं मानता।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विवाह अधिकाधिक विषयोपभोग का साधन नहीं, किन्तु कामवासना को नियंत्रित करने का साधन है। यह एक प्रकार का मरहम है, और मरहम का उपयोग तो तभी किया जाता है, जब शरीर के किसी अंग-प्रत्यंग में घाव हो गया हो। मगर घाव के भरने के बाद कोई भी बुद्धिमान मानव शरीर पर मरहम लगाकर पट्टी नहीं बाँधता। मरहम की अपेक्षा घाव को मिटाने तक थी, उसके बाद हरदम मरहम लगाते रहना उचित नहीं, न वह सुख का साधन है।

इसी प्रकार विवाह भी काम-विकारों के प्रबल रोग को क्षणिक शान्त करने के लिए एक मरहम है। पर न उससे विषय-विकार रोग सदा के लिए शान्त होता है। इसलिए विवाह के बाद भी दम्पत्ति के जीवन में उच्छृंखल-मुक्त सहचार नहीं होना चाहिए। कोई मर्यादाहीन क्रीड़ा नहीं होनी चाहिए, जिससे वासना को भड़कने का प्रोत्साहन मिलता है।

यद्यपि विवाह के क्षेत्र में दोनों चीजें हैं—वासना भी है, ब्रह्मचर्य भी। इन दोनों चीजों के होते हुए भी, देखना होगा कि विवाह में ब्रह्मचर्य का अंश अधिक है या वासना का ? हमें यह मालूम करना होगा कि यदि कोई विवाह के क्षेत्र में प्रवेश करता है तो ब्रह्मचर्य की दृष्टि से करता है, या वासना की दृष्टि से ? विवेकी, समझदार और ब्रह्मचर्याणुव्रत धारक गृहस्थ की दृष्टि तो विवाह के पीछे ब्रह्मचर्य की ही होगी, किन्तु जो बेसमझी से, लकीर का फकीर बनकर दुनियादार लोगों की तरह विवाह के क्षेत्र में प्रवेश करता है, उसकी दृष्टि तो वासना की ही होगी।

एक बगीचे में गुलाब का पौधा लहलहा रहा था। उसमें सुन्दर और सुगन्धित गुलाब के पुष्प खिले हुए थे। उसी समय दो व्यक्ति उस गुलाब के पौधे के निकट पहुँचे। दोनों ने गुलाब का पौधा देखा। उनमें से एक ने कहा—"इस पौधे में कितने सुन्दर और सुगन्धित गुलाब के फूल लगे हैं ?" यह सुनकर दूसरा बोला—'इसमें तो कांटे ही कांटे दिखते हैं। देखो न, जरा-से पौधे में कितने कांटे हैं ?" एक की दृष्टि फूलों की सुन्दरता और सौरभ की ओर गई, जबकि दूसरे की दृष्टि गई नुकीले कांटों की ओर।

इसी तरह विवाह के क्षेत्र में भी दो दृष्टियाँ हैं, एक ब्रह्मचर्य की, दूसरी वासना की। शास्त्रकार और विवेकवान् व्रती श्रावक की दृष्टि तो ब्रह्मचर्य की ही होगी, जबकि अविवेकी और गतानुगतिक की दृष्टि वासना की होगी।

विवाह : किसके लिए आवश्यक, किसके लिए अनावश्यक ?

अब यह सोचना है कि क्या विवाह सभी पुरुषों या स्त्रियों के लिए आवश्यक है ? यदि ऐसा नहीं है तो कौन-सा थर्मामीटर है, जिससे कामज्वर को नापा जा सके, और विवाह को आवश्यक या अनावश्यक बताया जा सके। वस्तुतः मानव-जीवन की सफलता और चरित्र की सम्पूर्ण आराधना तो पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन में है, लेकिन पूर्ण ब्रह्मचर्य की आराधना गृहत्यागी साधु-साध्वी के लिए तो अनायास और आसान है। उनके लिए विवाह अनावश्यक है। इसी प्रकार जो व्यक्ति गृहस्थ-जीवन बिताना चाहते हैं, उनमें भी पुरुष को कम से कम २५ वर्ष तक और महिला को कम से कम १६ वर्ष तक विवाह करना आवश्यक नहीं है तब तक तो उन्हें अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए।

वैदिक धर्म में विधान है कि चार आश्रमों में पूरी आयु के ४ भाग में पहला

भाग यानी १०० में से २५ वर्ष तक, गुरुकुल में रहकर अविलुप्त रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करके फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें।[1]

तात्पर्य यह है कि २५ और १६ वर्ष की आयु तक तो पुरुष और स्त्री को विवाह के सम्बन्ध में कुछ भी सोचना नहीं है, सिर्फ अखण्ड ब्रह्मचारी रहकर अपना जीवन अध्ययन में बिताना है। तत्पश्चात् उन्हें अपने आपको परखना है, अपनी शक्ति को विवेक के बांटों से तौलना है, अपने आपको जांचना है कि मेरी कितनी क्षमता है? मैं कौन-सा मार्ग तय कर सकता हूँ, कौन-सा नहीं?

भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य धर्म के दो रूप बताए हैं—(१) वासनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण और (२) वासनाओं का सादा बन्धन। दूसरे शब्दों में इन्हें पूर्ण ब्रह्मचर्य और आंशिक ब्रह्मचर्य कहा जा सकता है। जिस साधक में पूर्णरूप से वासनाओं पर कण्ट्रोल करने का सामर्थ्य नहीं है, वह अगर उच्छृंखलरूप से बहते हुए वासना प्रवाह को विवाह करके एक परिगृहीत पत्नी में सीमित कर लेता है, तो वह कोई भयंकर पाप नहीं करता, बल्कि आत्मा को भयंकर अधःपतन से बचा लेता है। क्योंकि वासना का अनियन्त्रित रूप तो जीवन की बर्बादी है, आत्मा का पतन है। परन्तु जिस साधक में यह क्षमता होती है कि मैं पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन कर सकता हूँ, वह विवाह के झंझट में नहीं पड़ता। भीष्म पितामह पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने में समर्थ थे। उन्होंने विवाह करने का मन में विचार ही नहीं किया। बल्कि उन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने की भीष्म प्रतिज्ञा ले ली थी।

लेकिन जो लोग संसार में रहते हुए पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन करने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं, वे विवाह करके मर्यादित ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, लेकिन दुराचार में प्रवृत्त नहीं होते।

आजकल पाश्चात्य देशों के या पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आए हुए भारतीय स्त्री-पुरुषों में यह धारणा बढ़ती जा रही है कि हम विवाह करके क्यों बन्धन में पड़ें? क्यों अपनी स्वतन्त्रता खोएँ? क्यों किसी एक स्त्री या पुरुष के साथ आजीवन बँध कर बालक-बालिका आदि के पालन-पोषण तथा स्त्री आदि के स्थायी व्यय में पड़ें? इससे तो यही अच्छा है कि कुछ देर के लिए किसी स्त्री या पुरुष से सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाय।

ऐसे लोगों की यह मान्यता बनती जा रही है कि सहवास चाहे स्वस्त्री या स्वपति से किया जाए अथवा परस्त्री या पर-पुरुष से किया जाय, ब्रह्मचर्य का नाश दोनों अवस्थाओं में एक सरीखा ही होगा। बल्कि विवाहित जीवन में इनकी क्षति अपेक्षाकृत अधिक है। क्योंकि स्वस्त्री या स्वपति के साथ तो जरा-सी इच्छा होते ही

---

१. चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽद्यं गुरोः कुले।
अविलुप्तब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥ —मनुस्मृति

सम्भोग किया जा सकता है, लेकिन परस्त्री या परपुरुष के साथ तो दुर्विषय तभी भोगेंगे, जब कामेच्छा बहुत प्रबल और दुर्निवार्य होगी। इस प्रकार की युक्तियों द्वारा पाश्चात्य या पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क में आए हुए भारतीय लोग विवाहित जीवन की जिम्मेवारियों से बचने के लिए और स्वच्छन्द रहने के लिए ब्रह्मचर्य न पाल सकने पर भी अविवाहित रहना अच्छा समझते हैं। इन विचारों के समर्थक कुछ भारतीय अपनी नवीन युक्ति भी प्रस्तुत करते हैं कि "स्वस्त्री या परस्त्री, अथवा स्वपति तथा परपुरुष के साथ सहवास करने में पाप तो एक ही समान होता है, फिर विवाह के बन्धन में नाहक क्यों पड़ा जाय ? बल्कि विवाह करने में अधिक पाप होता है। विवाह के समय कितना आरम्भ-समारम्भ व दहेज आदि का प्रपंच करना होता है, तथा विवाह के पश्चात् भी स्त्री के भोजन-वस्त्र आदि में और सन्तान के भरण-पोषण, विवाह आदि में नाना आरम्भ-समारम्भ होता है। इस तरह के आरम्भ-समारम्भों से कितनी अधिक पाप-परम्परा बढ़ती है। इसलिए परस्त्री तथा परपुरुष से मैथुन-सेवन करने की अपेक्षा विवाहित होने में अधिक पाप है। अतः विवाह न करना ही इष्ट है।"

ये और इस प्रकार के कई कुतर्कजाल बिछा कर वे मुक्त सहचार की आकर्षक बातों का समर्थन करते हैं। विवाह-व्यवस्था को मानव-जीवन के लिए निरुपयोगी और बन्धनरूप समझते हैं।

ऐसे विचार वाले लोग प्रथम तो विवाह के उद्देश्य से ही अनभिज्ञ हैं, दूसरे वे ब्रह्मचर्य की महिमा और उपयोगिता को भी नहीं समझ पाए हैं। वे मानो यही समझे बैठे हैं कि विवाह का प्रयोजन केवल विषयोपभोग है। इससे अधिक विवाह की कोई महत्ता, सार्थकता, नीतिमत्ता, उपयोगिता या आवश्यकता वे नहीं समझते। अपनी इस भूलभरी मान्यता पर वे दूरदर्शिता से कोई विचार नहीं करते। जो स्त्री-पुरुष नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहकर आजीवन ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवनयापन करना चाहते हों, उनके लिए विवाहित जीवन की आवश्यकता नहीं है, इस बात से सभी धर्मशास्त्र सहमत हैं।

परन्तु जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी तो नहीं रहना चाहते, लेकिन विवाह न करके, स्वेच्छाचार से जीवनयापन करना चाहते हैं, विवाह-व्यवस्था को परतन्त्रता मानकर उसका भंग करते हैं, वे दोनों तरफ से चूकते हैं। एक ओर वे अपना नैतिक पतन करते हैं, दूसरी ओर भावी संतति को प्राप्त होने वाले सुसंस्कारों तथा दायित्वों की भी हत्या करते हैं। समाजशास्त्री ऐसी स्वतन्त्रता को सरासर स्वच्छन्दता का नमूना मानते हैं, फिर भले ही उसे 'प्रगतिशील सुधार' जैसा आकर्षक नाम दिया जाय।

विवाह का अर्थ है—विशेषरूप से एक-दूसरे के उत्तरदायित्वों तथा गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों को वहन करना, उनकी रक्षा करना, उन्हें निभाना। विवाह तभी

सार्थक हो सकता है, जब पति-पत्नी एक दूसरे के सुख-दुःख एवं दायित्व को वहन करने का प्रयत्न करें।

स्त्री-पुरुष के धर्म-पालन में सहचारिणी बने। पुरुष स्त्री के धर्मपालन में सहचर बने। विवाह में केवल वहन करना ही नहीं है। अपितु विशेषरूप से अपने जीवन की आहुति देकर भी उसे वहन करना है।

इसका पर्यायवाची शब्द 'लग्न' है, जिसका अर्थ होता है—पति-पत्नी दोनों का एक-दूसरे से संलग्न होना—मिलना—लीन होना। लग्न (विवाह) केवल पति-पत्नी का देहमिलन (देहलग्न) ही नहीं, अपितु मनोमिलन और आत्ममिलन है। इस दृष्टि से विवाह का आदर्श है—पति-पत्नी के निर्दोष प्रेम का निर्झर एकरूप होकर बहना। यही गृहस्थाश्रम का मंगलमय प्रवेशद्वार है।

अगर विवाह का प्रयोजन केवल विषयभोग ही माना जाता अथवा विवाह प्रथा का प्रचलन न होता तो संसार में मानव जाति में अराजकता, स्वच्छन्दता और अशान्ति का बोलबाला होता। यह काम-मनोविज्ञान का अनुभव सिद्ध मत है कि एक प्रेमी पुरुष अपनी प्रेमिका के साथ दूसरे पुरुष का लगाव नहीं सह सकता। अतः प्रायः देखा जाता है कि कामिनियों के लिए संसार में अनेक लड़ाई-झगड़े व मारकाट मची है। एक ही पुरुष को चाहने वाली अनेक स्त्रियाँ अथवा एक ही स्त्री को चाहने वाले अनेक नर भ्रमर आपस में लड़झगड़कर मर जाते हैं। आए दिन समाचार-पत्रों में हम पढ़ते हैं, अमुक सुन्दरी या वेश्या के पीछे अनेक नर हत्याएँ हुई। यदि वह सुन्दरी या वेश्या किसी एक की ही विधिवत् पत्नी होती तो इतनी मारकाट या हिंसा का अवसर न आता। इसी प्रकार विवाहप्रथा न होती तो पुरुष-स्त्री दोनों के स्वच्छन्द हो जाने पर कुत्ते-कुतियों की तरह केवल दुर्विषयभोग भोगने तक ही सम्बन्ध रहता, उक्त स्वार्थपूर्ति होते ही, पुरुष-स्त्री एक-दूसरे को आँखें दिखा देते, कोई किसी के सुख-दुःख, बीमारी, आपत्ति या संकट के समय सहयोग न देता। सहानुभूति, दया, प्रेम और मानवता तक भी देखने को न मिलती। पुरुष या स्त्री दोनों में से कोई विकलांग या सहचार के अयोग्य या अशक्त, असाध्यव्याधि से पीड़ित हो जाने पर किसी की सेवा भी न करता, बल्कि विषयभोग भोगने की शक्ति क्षीण होते ही जीवन दुःखमय, आश्रयरहित, असहाय व पश्चात्तापमय बन जाता।

विवाहप्रथा के बदले यदि स्त्री-पुरुष का नैमित्तिक सम्बन्ध ही प्रचलित होता तो जितने समय तक विषयभोग नहीं भोगा गया है, जब तक स्त्री-पुरुष विषयभोग भोगने के लिए लालायित हैं तब तक ही एक-दूसरे से प्रेम करते, एक-दूसरे को चाहते व परवाह करते। विषयभोग भोग चुकने पर या उसके योग्य न रहने पर स्त्री-पुरुष एक-दूसरे को उसी प्रकार फेंक देते, जिस प्रकार वेश्या की उसका जारपति और जारपति की वेश्या अपेक्षा कर देती है।

विवाहप्रथा अगर प्रचलित न होती तो सन्तान की जिम्मेवारी से जिस प्रकार

पुरुष बचना चाहते हैं, उसी प्रकार महिलाएँ भी बचना चाहतीं। फलतः या तो भ्रूण हत्या होती या बाल हत्या होती। या सन्ततिनिरोध के कृत्रिम उपाय अजमाए जाते और धीरे-धीरे जनन-क्रिया के साथ ही नारी में जो सन्तान के प्रति नारीसुलभ दया, वात्सल्य, सहानुभूति या कोमलता होती है, उसका भी लोप हो जाता।

विवाहप्रथा का स्थान स्त्री-पुरुष-स्वैराचार के ले लेने पर स्त्री-पुरुषों का सांसारिक जीवन नीरस, निरुद्देश्य, मनहूस एवं रुक्ष हो जाता। तब तो जीवन का उद्देश्य धर्मपालन द्वारा आत्मोन्नति या मुक्ति न होकर अच्छे से अच्छा वस्त्र, खानपान आदि तथा सुन्दर से सुन्दर स्त्री या अधिक सुरूप पुरुष के साथ स्वच्छन्दतापूर्वक काम-भोग-सेवन करना ही होता। पशुओं की तरह रात-दिन इन्हीं भोग-विलास के साधनों की टोह में मनुष्य आवारा-गर्द भटकता। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि धर्माङ्ग इस स्वच्छन्द भोगविलास पूर्ण उद्देश्य में बाधक माने जाते। इसलिए विवाह का उद्देश्य दुर्विषयभोग होकर स्त्री-पुरुष का मुक्त सहचार माना जाए तो जीवन की शान्ति, स्वस्थता, स्वस्थ सांस्कृतिक परम्परा आदि सब चौपट हो जाते हैं।

निष्कर्ष यह है कि जो व्यक्ति पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन करने में असमर्थ हैं, उनके लिए जैनधर्म जबरन पूर्ण ब्रह्मचर्य पालने की बात नहीं कहता, लेकिन पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन में असमर्थ लोगों के लिए विवाह न करके स्वच्छन्दाचार या दुराचार में प्रवृत्त होने का सख्त निषेध करता है। वह कहता है, यदि किसी से विवाह नहीं करना है तो पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करो, किन्तु दुराचार या स्वच्छन्दाचार में प्रवृत्त न होओ। जैन-शास्त्रों में दुराचार प्रवृत्ति का निषेध विवाहित एवं अविवाहित दोनों प्रकार के जीवन में है। जो परस्त्रीगमन या वेश्या-गमन करता है, वह विवाहित हो या अविवाहित दुराचारी माना गया है, लेकिन विवाहित होकर परस्त्रीगमन या वेश्यागमन से बचने वाले व्यक्ति को दुराचारी नहीं कहते, अपितु शीलवान या सदाचारी कहते हैं।

जो लोग यावज्जीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने में सक्षम हैं, दुर्विषयों में इन्द्रिय और मन को प्रवृत्त न होने देने का सामर्थ्य रखते हैं, उनके लिए विवाह न करना ही श्रेयस्कर है। लेकिन जो ऐसा करने में अभी अपने को असमर्थ समझते हैं, जिन्हें विवाह न करने पर दुराचार में प्रवृत्त होने का डर है, नीतिज्ञों की दृष्टि में ऐसे व्यक्तियों का विवाह करना दुराचार में प्रवृत्त होने की अपेक्षा बुरा नहीं, अच्छा माना जाता है।

एक रूपक द्वारा इसे समझने का प्रयत्न करिये—एक मकान है, उसमें आग लगने की आशंका थी, किन्तु कुशल गृहपति ऐसा प्रयत्न करता है कि उसमें आग लगे ही नहीं, अथवा आग लगने पर तत्काल ही विवेकपूर्वक बुझा दी जाती है। किन्तु यदि वह गृहपति आग को लगने न देने का सामर्थ्य नहीं रखता, और न ही तत्क्षण आग लगने पर बुझा सकता है, ऐसी दशा में आग के बढ़ जाने पर जिस मकान में आग लगी होती है, उस मकान से सटे हुए दूसरे मकानों का सम्बन्ध वह गृहपति तोड़ देता है;

ताकि वह आग दूसरे मकानों में न फैले। यानी उस मकान की सीमा बाँधकर उस आग को बुझाने का प्रयत्न किया जाता है। वह आग जो लगने के समय नहीं बुझाई जा सकी, इस उपाय से बुझ जाती है, बढ़ने नहीं पाती। अतः वह आग लगने के समय ही बुझाई न जाने के कारण केवल सीमान्तर्गत घर की हानि कर सकी, लेकिन उस आग के सीमित कर दिये जाने से अनेक मकान भस्म होने से बच गए। ठीक यही बात विवाह के विषय में कही जा सकती है। यदि मनुष्य अपने में कामवासना की आग ही उत्पन्न न होने दे, अथवा उत्पन्न होते ही विवेक व संयम द्वारा बुझा सके, तब तो विवाह करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। लेकिन न दबा सकने पर वह आग विवाह द्वारा सीमित कर दी जाए तो वह आगे बढ़ने से रुक जाती है। इस प्रकार मनुष्य असीम हानि से बच जाता है।

यदि कामवासना की आग का प्रादुर्भाव न होने देने या विवेक द्वारा उसे दबा सकने की क्षमता न होने पर भी उत्पन्न विषयेच्छा की पूर्ति विवाह द्वारा न करके स्वच्छन्दता से दुराचार द्वारा की जाए तो वह भयंकर हानिकारक हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि विवाह दुर्विषयभोग की इच्छा को बढ़ाने या सिर्फ दुर्विषय-भोग-सेवन के लिए ही नहीं है; अपितु ब्रह्मचर्यपालन की निर्बलता को शनैः-शनैः घटाकर एवं पति-पत्नी दोनों के परस्पर धर्म्य सहयोग से मिटाकर ब्रह्मचर्यपालन की पूर्ण क्षमता प्राप्त करने के लिए है। यदि प्रतिक्षण बढ़ती हुई दुर्विषयभोगलालसा को विवाह किये बिना ही विवेक से दबाने की शक्ति हो तो विवाह करना आवश्यक नहीं है। उक्त शक्ति के अभाव में ही विवाह किया जाता है। इसके अतिरिक्त विवाहित जीवन बिताने में दया, अनुकम्पा, सेवा, सहयोग, सहानुभूति आदि सद्गुणों के विकास का लाभ हो सकता है, वह स्वच्छन्द-सहचार में कहाँ सुलभ है? इसलिए ब्रह्मचर्य न पाल सकने पर दुराचारपूर्ण जीवन नीतिरिद्ध एवं निन्दनीय है। महात्मा गाँधीजी के विचारों में विवाह सामाजिक जीवन का केन्द्र है, एकपत्नीव्रत या एकपतिव्रत उसका आदर्श है। यह तभी हो सकता है, जब स्वच्छन्दता को विवाह-बन्धन द्वारा त्याज्य समझा जाए।"

पाश्चात्य संत फ्रांसिस का कथन है कि विवाह कामवासना की दवा के रूप में बड़ी अच्छी वस्तु है, लेकिन वह कठोर है। इसलिए यदि उसका व्यवहार संभल कर न किया जाय तो खतरनाक भी है।" दवा लेने की आवश्यकता उन्हीं लोगों को होती है, जो रोग को और किसी उपाय से नहीं मिटा सकते। तात्पर्य यह है कि विवाह वे ही लोग करते हैं जो विवेक रूपी औषधि से कामवासना रूपी रोग को दबाने में असमर्थ हैं। जिनके पास विवेक रूप औषधि नहीं है, या इसकी कमी है, अथवा पूर्ण विवेकी होते हुए भी पुण्यफलों की निर्जरा करना जिनके लिए आवश्यक है और जो निकाचित बन्ध में पड़े हुए हैं; वे ही विवाह करते हैं। पश्चिम के एक विचारक का कहना है—"कामवासना इतनी प्रबल नहीं होती कि उसका पूर्णतया दमन, विवेक या

नैतिक बल से किया न जा सके। विषयेच्छा भी निद्रा एवं क्षुधा के समान ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी तृप्ति अनिवार्य हो।

निष्कर्ष यह है कि कामवासना का दमन विवेक द्वारा भावना एवं सम्यग्ज्ञान के बल से किया जा सकता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए विवाह करना कोई आवश्यक नहीं है।

कई लोगों का कहना है—**"प्रजार्थं गृहमेधिनाम्"** या **"सन्तानार्थाय मैथुनम्"** इन सूत्रों के अनुसार सन्तानोत्पत्ति की दृष्टि से गृहस्थ बनने हेतु विवाह करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। अगर सभी लोग ब्रह्मचारी होने लगेंगे तो जगत् का अन्त हो जाएगा।" ऐसे लोगों की शंका निर्मूल है। संसार अनादि है, इस कारण न तो कभी उसका अन्त आ सकता है, न सभी लोग पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन ही कर सकते हैं। कदाचित् ऐसा मान भी लें तो भी सन्तानोत्पत्ति और संसार के अन्त की आपको चिन्ता क्यों ? अगर सारा संसार ब्रह्मचर्य पालन करने लगेगा तो इससे किसी की हानि ही क्या है ? आपको तो यह देखना चाहिए कि हमारा उद्धार विवाह करके प्रजावृद्धि (संसारवृद्धि) करने से है या ब्रह्मचर्य पालन से है ? महात्मा गाँधीजी का इस सम्बन्ध में बहुत सुन्दर चिन्तन है—"आदर्श ब्रह्मचारी को कामेच्छा या सन्तानेच्छा से कभी जूझना नहीं पड़ता। ऐसी इच्छा उसे होती ही नहीं।"

भीष्म पितामह के उद्गार भी इस सम्बन्ध में मननीय है—"ब्रह्मचारी को सन्तान या संसार की इच्छा नहीं होती, न इनकी उत्पत्ति या वृद्धि के लिए वह अपने ब्रह्मचर्य को खण्डित कर सकता है।"

अतः सभी लोगों के लिए विवाह करना आवश्यक नहीं है।

स्वपत्नीसन्तोष-परदारविरमणव्रत की निष्ठा

श्रावक के ब्रह्मचर्याणुव्रत की मर्यादा यह है कि विवाह होने से पहले तक समस्त स्त्रियों को माता या बहन समझे। विवाहबद्ध हो जाने पर पुरुष को उन सभी स्त्रियों के प्रति किसी भी प्रकार की कामवासना या मैथुन-भावना का मन, वचन, काया से पूर्वोक्त अंगों सहित त्याग करना आवश्यक है, जो स्त्री अपने साथ विधिवत् विवाहित नहीं है। जिस स्त्री का अपने साथ विधिवत् पाणिग्रहण नहीं हुआ है, वह स्त्री चाहे कुमारिका हो, वेश्या हो, विधवा हो, रखेल हो या कितनी ही सुन्दरी और चाहने वाली क्यों न हो, वह परस्त्री ही समझी जाती है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्याणुव्रत धारी स्त्रियों के लिए अपने पति के सिवाय सभी पुरुष परपुरुष समझे जाते हैं; इसीलिए इस व्रत का नाम शास्त्रकारों ने स्वदारसन्तोष (स्त्रियों के लिए स्वपति सन्तोष) व्रत रखा गया है, इसमें परस्त्री के साथ सर्वप्रकार से मैथुनसेवन का त्याग किया जाता है।

स्वदारसन्तोषव्रत की निष्ठा तभी समझी जाती है, जब पुरुष एकपत्नीव्रत का और स्त्री एकपतिव्रत का पालन करे। बहुविवाह किसी जमाने में समाज में वैध माना

जाता होगा, परन्तु वर्तमान युग में वह सर्वथा अवैध है। इससे पुरुष में भी कामवासना की वृत्ति अधिकाधिक भड़कती है, और स्त्रियों के भी प्रायः असन्तुष्ट होकर व्यभिचारिणी बन जाने की सम्भावना रहती है। बहुत-से पुरुष अपनी पत्नी को तो पतिव्रता देखना चाहते हैं, उसे परपुरुषगामिनी नहीं देखना चाहते, मगर स्वयं पत्नीव्रत का पालन नहीं करना चाहते, स्वयं परदारगमन की छूट चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति बबूल बोकर आम खाने की इच्छा रखते हैं। जब तक पुरुष इस नियम का यथार्थरूप से पालन नहीं करेगा, तब तक स्त्री को इस नियम के पालन के लिए बाध्य करने का उसे अधिकार भी नहीं है; न उसे उस नियम का पालन कराने में सफलता ही मिलती है, जिसका पालन स्वयं नहीं करता। यह बात दूसरी है कि परस्त्रीगामी पुरुष की पत्नी अपना धर्म समझकर स्वयं सदाचारिणी एवं पतिव्रता रहे। भारतीय स्त्रियाँ प्रायः परपुरुषगामिनी नहीं होतीं, किन्तु परदारसेवी-पुरुष ही प्रायः उसे परपुरुषगामिनी बनने को बाध्य कर देते हैं। अतः जो अपनी स्त्री को सदाचारिणी, पतिव्रता एवं स्वपति-सन्तुष्टा रखना चाहते हैं, दाम्पत्य-प्रेम स्थायी रखना चाहते हैं, उन पुरुषों को स्वयं स्वदारसन्तोषव्रत के अन्तर्गत एकपत्नीव्रत धर्म का पालन करना चाहिए। इसीलिए इस व्रत के साथ-साथ **'परदारगमनविरमण'** शब्द भी जोड़ा गया है।

परस्त्री-सेवन से अपार हानियाँ

स्वदार सन्तोषव्रत रहित यानी परदारगामी पुरुष दुराचारी, निन्द्य एवं समाज में अप्रतिष्ठित समझा जाता है, परलोक में भी उसको दुर्गति प्राप्त होती है। इहलोक में भी उसका परिवार सुखी नहीं रहता, ऐसे पुरुष का विश्वास न उसकी स्त्री करती है और न ही परस्त्री ही। उसके घर में गृहिणी से सदा कलह होता रहता है। घर क्लेशमय हो जाता है। सन्तान या तो होती ही नहीं, होती है तो रोगिष्ठ, अल्पायु और व्यभिचारिणी होती है। परस्त्रीगामी पुरुष का जीवन कलंकित, दूषित और पापपूर्ण रहता है। उसमें बल, साहस और धैर्य समाप्त प्राय हो जाता है। प्रायः सभी सद्गुण एक-एक करके विदा हो जाते हैं। उसे भय, क्रोध, रोग, शोक, अपमान, दैन्य आदि दुःख घेर लेते हैं। वह सदा नीति-धर्म से विरुद्ध कार्य करता रहता है। इस लोक में भी वह राजदण्ड के भय से आशंकित रहता है, लोकनिन्दा के भय से सदा चिन्तित रहता है। धम्मपद में परस्त्रीगामी के लिए चार फल बताये हैं—(१) अपयश, (२) निद्रानाश (३) चिन्ता, (४) नरक। परस्त्रीगमन से केवल आयुष्यबल ही क्षीण नहीं होता, किन्तु अन्यबल, साहस, धनवैभव आदि सब नष्ट हो जाते हैं। परस्त्रीगामी स्वयं ही बदनाम नहीं होता, अपने साथ-साथ वह अपने कुल, जाति, वंश समाज, धर्म और राष्ट्र को भी बदनाम कराता है।

राजा रावण में बल कम न था, लेकिन स्वदारसन्तोषी न होने के कारण परिवार सहित नष्ट हो गया। उसका बल-वैभव किसी काम न आया। यही बात मणिरथ, पद्मोत्तर आदि परस्त्रीगामी राजाओं के लिए कही जा सकती है। महात्मा

गांधीजी ने परस्त्री-गामी को रोग का घर कहा है। उन्होंने कहा कि 'जहाँ परस्त्री-गमन न होगा, वहाँ ५० प्रतिशत डॉक्टर बेकार हो जायेंगे। परस्त्रीगमन से होने वाले दुःसाध्य रोगों का इलाज भी सहसा नहीं हो पाता। जहरीली दवाइयों से एक रोग दबने के साथ-साथ अनेक रोग उभर आते हैं, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहते है। परस्त्रीगामी के इस भयंकर दूषण का फल भावी सन्तान को भी भोगना पड़ता है। कुरल में परस्त्रीत्याग के सन्दर्भ में कहा है[1]—"मनुष्य की श्रेष्ठता किस काम की जबकि वह व्यभिचारजन्य लज्जा का किंचित् भी विचार न कर परस्त्रीगमन करता है।"

स्वदार-सन्तोषव्रत से लाभ

स्वदारसन्तोषव्रत को अंगीकार करने वाला पुरुष असीम कामवासना के पाप से बच जाता है। परस्त्री सेवन का त्याग करने वाले पुरुष का चित्त परस्त्री की ओर जाता ही नहीं। ऐसा पुरुष राज्य मंडार अन्तःपुर में, साहूकार के महल में या कहीं भी चला जाए, किसी को उसके प्रति अप्रतीति नहीं होती। समाज, राष्ट्र, परिवार और जाति में सभी लोग उस पर विश्वास करते हैं। उसका शरीर और मन प्रायः स्वस्थ, मेधावी, सुडौल, बलिष्ठ एवं दीर्घायु होता है। उसकी सन्तान भी ऐसी ही होती है। व्यास-स्मृति में इस व्रत की बहुत महिमा बताई है—

स्वदारे यस्य सन्तोषः परदार-निवर्तनम्।
अपवादोऽपि नो यस्य, तस्य तीर्थफलं गृहे॥

'जो पुरुष अपनी स्त्री में सन्तुष्ट रहता है और परस्त्री-सेवन से विरत हो जाता है, उसकी कोई निन्दा नहीं होती, न किसी प्रकार का अपवाद होता है। घर में ही उसे तीर्थ का फल मिल जाता है।'

स्वदार-सन्तोषव्रत का स्वीकार करने से दाम्पत्य कलह कदापि नहीं होता, दोनों में शुद्ध प्रेम, परस्पर विश्वास एवं निष्कपट हृदय रहता है। लोक में खास कर महिलाओं में वह विश्वास भाजन माना जाता है। उसमें धन, वैभव, बल, यश, बुद्धि, कीर्ति, निर्भयता एवं साहस आदि सद्गुण सुरक्षित रहते हैं। परलोक में भी उत्तमगति प्राप्त होती है, यहाँ तक कि वह मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है।

स्वदार-सन्तोष की मर्यादाएं

कई लोग अज्ञानवश यह समझ बैठते हैं कि इस व्रत में स्व-स्त्री सेवन खुला रखा है तो चाहे जब और चाहे जिस परिस्थिति में वे स्वदार के साथ मैथुनसेवन करने के लिए स्वतंत्र है। लेकिन स्वदारसन्तोष का अगर यही उद्देश्य या अर्थ होता तो

---

१ कोऽर्थस्तस्य महत्त्वेन रमते यः परस्त्रियाम्।
व्यभिचारात् समुत्पन्ना, लज्जा येन च हेलिता॥
—कुरल परिच्छेद १५, ४

फिर उसे **ब्रह्मचर्याणुव्रत** या **देशविरति ब्रह्मचर्यव्रत** नाम न दिया जाता। क्योंकि स्वस्त्री के साथ दिन हो या रात, समय हो या असमय, गर्भवती हो या लघु सन्तानवती हो, अष्टमी हो, चतुर्दशी हो, पर्वतिथि हो या स्त्रीऋण, विपद्ग्रस्त, चिन्तित कैसी भी अवस्था में हो, विषय-सेवन किया जाता और फिर ब्रह्मचर्य का कोई भी अर्थ न रहता, न कोई अंकुश रहता। मगर ऐसी बात नहीं है, स्वदारसन्तोषव्रत में स्वच्छन्दता को कोई स्थान नहीं होता।

महात्मा गांधीजी, विनोबाजी तथा भारतीय ऋषियों एवं नीतिकारों ने बताया है कि विवाह करने में केवल सन्तानोत्पत्ति का ही विचार होना चाहिए। कामेच्छा की तृप्ति नहीं। कामेच्छा के वश होकर जिस सन्तान को मनुष्य जन्म देता है, वह कामज कहलाती है, वह धर्मज सन्तान नहीं है। जहाँ धर्मज सन्तान की उत्पत्ति ही विवाह का उद्देश्य हो, वहाँ अधिक सन्तान पैदा करने का अधिकार नहीं है।

आजकल विवाहितों में उच्छृंखल कामवृत्ति तथा अविवाहितों में अनाचार प्रायः देखने में आता है, इस पर ब्रह्मचर्य की दृष्टि से प्रत्येक स्त्रीपुरुष को विचार करना चाहिए। नीतिकारों का इस विषय में स्पष्ट कथन है—

'सन्तानार्थाय मैथुनम्'

मैथुन का विधान सिर्फ सन्तानोत्पत्ति के लिए है—

स्वदार-सन्तोषव्रती को निम्नलिखित मर्यादाओं का पालन करना आवश्यक है—

(१) नीतिज्ञों और वैद्यकमत के अनुसार रजोदर्शन से पहले स्त्री-पुरुष सहचार न हो, क्योंकि ऋतुस्नान के पूर्व किए गए सम्भोग से वीर्य व्यर्थ जाता है।

(२) स्वच्छन्दता से स्वस्त्री के साथ भी अति मैथुन न करे। इससे कई रोगों की उत्पत्ति होती है। साथ ही असमय में मैथुन भी न करे। दिन के समय, रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में, तथा स्त्री गर्भवती हो, बालक अभी छोटा हो, तब स्त्रीप्रसंग न करे। यह भी अत्यन्त हानिकारक है।

(३) द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी अमावस्या एवं पूर्णमासी आदि पर्वतिथियों में ब्रह्मचर्य का पालन किया जाए। विशेष धर्माराधन के लिए जैनआचार्यों ने ६ अठाइयाँ (आठ-आठ दिनों के ६ पर्व) नियत किये हैं बैठती, उठती और फाल्गुनी (होली) तीन चौमासी की तीन, दो नव-पद-आराधना के लिए आयम्बिल की ओली (चैत्र और आसोजमास में) की एक पर्युषणपर्व की इस प्रकार सालभर में ६ अठाइयाँ आती हैं। इन ६ अठाइयों में धार्मिक सद्गृहस्थ को ब्रह्मचर्यपालन करना चाहिए। इस प्रकार वर्ष में १४४ दिन ब्रह्मचर्य पालन करें। तात्पर्य यह है कि करीब ६ महीने तो ब्रह्मचर्य का पालन करना ही चाहिए।

शेष ६ महीनों में भी पूर्वोक्त अवस्थाओं में स्त्रीप्रसंग न करे। उनमें भी दिन

के १२ घंटे और निद्रा के ६ घंटे, यों १८ घंटे तो वैसे ही अब्रह्मचर्य सेवन से बचना चाहिए।

(४) स्वदारसन्तोषी को स्वस्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्री, फिर वह चाहे विधवा हो, रखैल हो, कुमारिका हो, वेश्या हो या सिनेमा तारिका हो, के साथ हंसी-मजाक, छेड़छाड़, कुचेष्टा, कुदृष्टि से देखना, एकान्त में वार्तालाप, अतिसंसर्ग आदि से बचना चाहिए।

(५) इसी प्रकार अप्राकृतिक मैथुन (हस्तमैथुन, गुदामैथुन) या जननेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य अंगों से कामक्रीड़ा करना भी स्वदार-सन्तोषी के लिए वर्जित है।

(६) स्वस्त्री के साथ भी उसकी इच्छा के विरुद्ध गमन करना बलात्कार है, वह भी व्रतभंग माना जाएगा। पति-पत्नी परस्पर मिलें, तब गंदी चाह प्रगट करना, कामोत्तेजक बातें करना या गन्दी-अश्लील भद्दी गालियाँ बकना भी उचित नहीं है।

(७) परस्पर विधिवत् विवाह न हो जाय, तब तक प्रणय (प्रेम) पत्र-व्यवहार एकान्त में मिलन, अकेले सहभ्रमण, आलिंगन या चुम्बन आदि भी वर्जित होना चाहिए, ताकि शील की मर्यादा पवित्र रह सके।

(८) पतिपत्नी दोनों के दाम्पत्य सम्बन्ध में दरार पड़े, या परस्पर अविश्वास पैदा हो, इस प्रकार का कोई भी कारण उपस्थित न किया जाय, न दोनों में किसी प्रकार का दुराव-छिपाव रखा जाय, और न ही एक-दूसरे पर सहसा मिथ्यारोपण किया जाय।

(९) घर में बहन, बेटी या पुत्रवधू विधवा हो जाय, तो उस समय घर के प्रौढ़ या वृद्ध स्त्री पुरुषों को स्वयं शील-पालन करके उसके समक्ष सुन्दर वातावरण प्रस्तुत करना चाहिए।

(१०) जब बड़ा पुत्र घर सँभालने लायक हो जाय तो पति-पत्नी दोनों को पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत अंगीकार करके कौटुम्बिक कार्यों से निवृत्त होकर समाज-सेवा के कार्यों में संलग्न हो जाना चाहिए।

(११) अपनी पत्नी का देहान्त हो जाने के बाद दूसरा विवाह न करके पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने का आदर्श उपस्थित करना चाहिए।

(१२) विवाहबद्ध हो जाने के बाद भी यदि पति-पत्नी दोनों के उच्च विचार हों, विश्वात्मभाव से सर्वस्व-अर्पण की वृत्ति या विश्वव्यापक भावना हो तो उसे क्रियान्वित करने के लिए रामकृष्णपरमहंस एवं शारदामणि की तरह या महात्मा गाँधी एवं कस्तूरबा की तरह पति-पत्नी दोनों को पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत का स्वीकार कर लेना चाहिए। इसका उपाय यह है कि जो विवाह हो गया है, उसे भूल जाय। अर्थात् पत्नी और बालकों के बीच रहते हुए भी मन में से यह भावना निकाल दें कि हमारा विवाह हुआ है। पति-पत्नी दोनों आपस में अविवाहित व्यक्तियों की तरह—भाई-बहन

की तरह या गाँधीजी तथा रामकृष्णपरमहंस की तरह पत्नी को माता मानकर रहें। फिर उन दोनों के सम्बन्धों में विकार को कोई स्थान नहीं रहेगा।

पति-पत्नी दोनों का सम्बन्ध शुद्ध, निर्विकार रहेगा। इस प्रकार काम विकार की वृत्ति, जो दुःख की जड़ हैं, और पति-पत्नी के सम्बन्ध के साथ जुड़ी हुई हैं, कट जाएगी।

इसके साथ ही एक बात और विचारणीय है, वह यह कि केवल पत्नी के प्रति भावना को बदल देने से पुरुष कामविकार से मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य किसी स्त्री को देखकर मन में विकार पैदा हो सकता है। इसलिए पत्नी सहित समूची नारी जाति के प्रति उक्त ब्रह्मचर्यव्रती गृहस्थ को अपनी भावना बदलने की आवश्यकता है। वह भावना है—मातृभावना, जो कामविकार से मुक्ति पाने के लिए अचूक उपाय है।

ऐसा होने पर पति-पत्नी के बीच जो वासनामय आकर्षण था, वह समाप्त हो जाता है और विकाररहित सम्बन्ध में सात्त्विक आकर्षण विशेष रूप से उत्पन्न होता है। वासनामूलक आकर्षण चित्त में समता और शान्ति को नष्ट कर देता है, जबकि सात्त्विक आकर्षण से चित्त में समता, स्वस्थता और आनन्द बने रहते हैं। इस प्रकार पति-पत्नी सम्बन्ध की संकुचित वृत्ति समाप्त होने पर सीमित कौटुम्बिक दायरा टूट-कर विशाल और असीम होने लगता है। संकुचित सम्बन्धों के बारे में ममत्व कम हो जाता है, विशाल व्यापक सम्बन्धों के प्रति वात्सल्य-भावना विकसित होने लगती है। यानी शनैः-शनैः कुटुम्ब वात्सल्य विश्ववात्सल्य के रूप में परिणत होने लगता है। स्वार्थी, संकुचित और एकांगी प्रेम का स्थान विश्वप्रेम लेने लगता है। यह है—स्वदार-सन्तोषव्रती श्रावक की मर्यादित ब्रह्मचर्य से लेकर पूर्ण ब्रह्मचर्य तक की यात्रा!

यद्यपि शिवाजी पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं थे, फिर भी जब उनके समक्ष एक सिपाही किसी सुन्दरी को जबर्दस्ती ले आया। उसने सोचा कि महाराजा शिवाजी को भेंट करूँगा तो वे मुझ पर प्रसन्न होंगे। परन्तु जब उन्होंने रोती-कलपती हुई रमणी की करुण आवाज सुनी तो वे तुरन्त गुफा से बाहर निकलकर आए और कड़ककर सिपाही से कहा—अरे मूर्ख! इस बहन को यहाँ किसलिए लाया है। जाओ! इस बहन को पालकी में बिठाकर आदर के साथ इसके घर पहुँचा आओ।" सिपाही 'बहन' शब्द सुनते ही चौंक उठा। उसके सिर पर कई घड़े पानी पड़ गया। वह लज्जित होकर चुपचाप उस महिला को वापिस यथास्थान पहुँचा आया।

इसी प्रकार वीर दुर्गादास पर औरंगजेब बादशाह की बेगम गुलेनार मोहित हो चुकी थी। दुर्गादास को कैद कराकर वह जेलखाने में उससे मिली और हावभाव के साथ दुर्गादास के सामने स्वयं के हृदयसमर्पण का प्रस्ताव रखा। लेकिन दुर्गादास ने

कहा—'मां' ! मुझे क्षमा करो। तुम मेरी मां के समान हो। मैं पराई स्त्रियों को जगज्जननी दुर्गा के समान समझता हूँ।"

बेगम गुलेनार ने वीर दुर्गादास को बहुत ही भय और प्रलोभन दिखाए, मगर वह अपने व्रत से जरा भी विचलित न हुआ। आखिर वीर दुर्गादास की जीत हुई।

धर्मवीर सेठ सुदर्शन के सामने भी अभयारानी, पुरोहितानी आदि कई नारियों ने कामजाल में फँसाने का उपक्रम किया, मगर वह दृढ़शीलव्रती नरपुंगव जरा भी भ्रष्ट न हुआ।

श्रावक को इसी प्रकार अपने ब्रह्मचर्य-अणुव्रत पर दृढ़ रहना चाहिए।

ब्रह्मचर्य-रक्षा के उपाय

श्रावक को अपने ईष्टदेव को नमस्कार करके अपनी प्रतिज्ञा या व्रत संकल्प पर प्रतिदिन विचार करना चाहिए और प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि "मैं अपने व्रत-संकल्प पर दृढ़ रहूँ।" उसे ब्रह्मचर्य रक्षा के हेतु कामवासना पर विजय पाने के लिए वीर बनना होगा। वीर बनने के लिए वीर्यरक्षा अनिवार्य है। उसे वीर्य का एक बिन्दु भी व्यर्थ न गिराना चाहिए। व्यर्थ वीर्यपात करना वीर्य का अपमान है। वीर्य ही हमारा जीवन है, माता-पिता है, हमारा तेज व बल है, हमारा सर्वस्व है। निर्णय सिन्धु में बताया है कि **'वीर्य को वृथा खोने से ब्रह्महत्या का पाप लगता है।'**[1] वह उस मूर्ख के समान है, जो करोड़ रुपये तोले का इत्र गधे के शरीर पर चुपड़ देता है। वह नहीं समझता कि वीर्य रक्षा में बड़ी शक्ति है। इस शक्ति के प्रभाव से इन्द्र आदि बड़े-बड़े देव भी हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। अतः श्रावको ! वीर्य का अपमान मत करो। क्षुभावने रंगराग में लीन होकर भोग विलासमय जीवन व्यतीत करना और गृहस्थ धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करके परस्त्री के मोह में पड़ना, वेश्यागामी होना अथवा अप्राकृतिक कुचेष्टाएँ करके वीर्यनाश करना वीर्य का अपमान है। अपनी विवाहिता पत्नी के साथ भी सन्तानोत्पत्ति के सिवाय—ऋतुदान के अतिरिक्त वीर्यनाश न करना चाहिए। महिलाओं को भी चाहिए कि वे अपने मोहक हावभाव से अपने पति को विलासी बनाने का प्रयत्न न करें। जो स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा के सिवाय सिर्फ विलास के लिए अपने पति को भोगवासनाओं में फँसाती है, वह धर्मपत्नी नहीं, पति का सत्व चूसने वाली पिशाचिनी है।

महाभारत में एक जगह वर्णन आता है कि अर्जुन ब्रह्मचर्य-पालन करता हुआ तप कर रहा था। इन्द्र ने अपनी पदभ्रष्टता की आशंका से रम्भा नामक अप्सरा को अर्जुन का ब्रह्मचर्य खण्डित करने के लिए भेजा। रम्भा सुसज्जित होक अर्जुन को विचलित करने आई। उसने कहा—"प्रियतम ! आओ, जिसके लिए आप तप कर

---

१ 'व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्यामवाप्नुयात्।'

रहे हैं, वह मैं आपके सामने उपस्थित हूँ। मुझसे बढ़ कर और कौन-सी श्रेष्ठ वस्तु आप तप से प्राप्त करेंगे। लो, मुझे अपना कर अपना जीवन सफल बनाओ और छोड़ो इस कायाकष्ट को।

अर्जुन अपनी तपस्या में मग्न था, रम्भा को माता के रूप में देख रहा था। अतः रम्भा ने अपना सारा कौशल अजमा लिया, फिर भी अर्जुन ब्रह्मचर्य से रंचमात्र भी भ्रष्ट न हुए। आखिर रम्भा ने अन्तिम अस्त्र फैंका। वह नग्न हो गई। रूप सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति अप्सरा ने मोहित करने के लिए दैवी बल से आकर्षक रूप बनाया। फिर भी वह अर्जुन का वीर्य न खींच सकी, न तपोभ्रष्ट कर सकी। अन्त में अर्जुन ने कहा—"माता ! अगर आपने इस सुन्दर शरीर से मुझे जन्म दिया होता तो मुझमें और अधिक तेज आ जाता।" रम्भा लज्जित और परास्त होकर वहाँ से चल दी।

अर्जुन ने जिस प्रकार ब्रह्मचर्य रक्षा की, वैसे ही श्रावक को अपने जीवन में ब्रह्मचर्य रक्षा को महत्त्व देना चाहिए।

वीर्यनाश होने की किसी प्रवृत्ति में न तो स्वयं भाग लेना चाहिए और न ही दूसरों को प्रेरित करना चाहिए। वीर्यरक्षा की साधना करने वाले को अपनी भावना पवित्र रखनी चाहिए। कुत्सित विचारों को अपने पास न फटकने देना, सदा शुद्ध वातावरण में रहना, पवित्र विचार रखना, आहार-विहार सम्बन्धी विवेक रखना वीर्यरक्षा के लिए आवश्यक है।

जो वीर्यरक्षा का पक्षपाती है, उस श्रावक को अपनी संतान का भी बाल्यवय में विवाह करके वीर्यनाश कराना उचित नहीं है। न उसे अनमेल विवाह और वृद्ध विवाह करना-कराना चाहिए। उन्हें बालकों में भी ब्रह्मचर्य के उत्तम संस्कार भरना चाहिए।

वीर्यनाश का एक कारण स्त्री-पुरुष का एक ही कमरे में एक ही शय्या पर शयन करना भी है। ऐसा करने से वीर्य स्थिर नहीं रह सकता।

निष्क्रिय बैठे रहना भी वीर्यनाश का कारण है। जो लोग अपने तन और मन को किसी सत्कार्य में लगाए नहीं रखते, उनका भी वीर्य-स्खलन हो जाता है। शरीर और मन को निष्क्रिय न रखा जाय तो वीर्य को कोई आंच नहीं पहुँचती।

रात्रि में देर तक जागना और सूर्योदय के बाद भी सोते रहना, अश्लील सिनेमा एवं नाटक व नृत्य देखना, भद्दे व गंदे उपन्यासों एवं कहानियों को पढ़ना, अश्लील गीत, असभ्य हँसीमजाक शृंगारिक सिनेचित्र और गंदे उपन्यास ये सब वीर्य में आग लगाने के समान हैं।

स्वदार-संतोषव्रती को अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए विलासपूर्ण वस्त्रों, आभूषणों, मादक वस्तुओं, मिर्च-मसालेदार गरिष्ठ, दुष्पाच्य तामस पदार्थों से सदैव बचना चाहिए।

स्पर्शेन्द्रिय की तरह उसे रसनेन्द्रिय पर भी संयम रखना आवश्यक है। श्रावक को अपने भोजन में विवेक की बहुत आवश्यकता है, जब भी जी चाहा, जैसा चाहा अंटसंट खा लिया, यह वीर्य विघातक है।

इसके अतिरिक्त सर्वविरति ब्रह्मचारी के लिए जो शास्त्रीय नियम (नव बाड़, दस समाधि) आदि बताए गए हैं, उनका पूर्णरूपेण नहीं तो आंशिक रूप से पालन करना आवश्यक है।

इसके साथ ही भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्याणुव्रत में ५ अतिचार (दोष) लगने की सम्भावना बताई है। उनसे बचना अत्यावश्यक है। वे पांच अतिचार ये हैं—

स्वदार सन्तोषव्रत के ५ अतिचार जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं हैं। वे पाँच अतिचार यों हैं—**इत्वरिक परिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीड़ा, परविवाहकरण** और **कामभोग-तीव्राभिलाषा**।

इत्वरिक परिगृहीतागमन—यह स्वदारसन्तोषव्रत का प्रथम अतिचार है। इसका अर्थ है—थोड़े समय के लिए पैसे देकर या और किसी तरह से अपने यहाँ रखी हुई स्त्री के साथ गमन करना। व्रती श्रावक भ्रान्तिवश यह गुंजाइश निकालने लगता है—मैंने स्वपत्नी का तो आगार (छूट) रखा ही है, अतः किसी स्त्री को कुछ दिनों के लिए धन या अन्य वस्तु देकर अपनी बना लूं और उसके साथ स्वपत्नी की तरह गमन करूँ, इसमें क्या दोष है ? किन्तु वह यह नहीं सोचता कि 'स्वदार' से शास्त्रकार का आशय, उसी स्त्री से है, जिसके साथ विधिवत् पंचों या समाज के समक्ष पाणिग्रहण हुआ है। इसलिए जो अपनी नहीं है, उस महिला को कुछ देर के लिए अपनी बना लेने से वह विधिवत् विवाहिता पत्नी नहीं हो जाती। किन्तु पूर्वोक्त भ्रम से उसके साथ सम्भोग के लिए तैयार हो जाना अतिचार है, लेकिन उसके साथ मैथुन क्रिया कर लेना अनाचार है। इस शब्द का एक अर्थ यह भी निकलता है कि जो इत्वरिक यानी अल्पवयस्का पाणिगृहीता पत्नी है, जो अभी बालिका है, सम्भोग योग्य नहीं है, उसके साथ सहचार करने को तैयार होना—बलात्कार करना—अतिचार है। ऐसा कार्य बाल-विवाह के कारण होता है।

अपरिगृहीतागमन—परदारविरमण का अर्थ जो लोग भ्रम से यह लगाते हैं, जो दूसरे की विवाहिता पत्नी है, उससे निवृत्त होना। परन्तु जो वेश्या है, विधवा है, परित्यक्ता है या कुमारिका है, वह तो वर्तमान में किसी की परिगृहीता नहीं है, पतिविहीना है अतः उनके साथ गमन किया जाए तो क्या आपत्ति है ? मगर परस्त्री-त्याग में उन सभी स्त्रियों का त्याग हो जाता है, जिनके साथ विधिवत् गृहस्थ का

---

१ सदारसंतोसिए पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तंजहा-इत्तरिय परिग्गहियागमणे, अपरिग्गहियागमणे, अनंग क्रीडा, परविवाहकरणे कामभोगतिव्वाभिलासे। —आवश्यकसूत्र

विवाह नहीं हुआ है। लेकिन भ्रान्तिवश पूर्वोक्त प्रकार की गुंजाइश निकालकर जो अपनी विवाहिता स्त्री नहीं है, उसके साथ गमन करने को तैयार हो जाना अपरिगृहीता गमन अतिचार है।

इस शब्द का एक अर्थ यह भी है—जिस कन्या के साथ सगाई तो हो गई है, लेकिन अभी तक पंचसाक्षी से विधिवत् विवाह नहीं हुआ है, उसके साथ गमन करना भी अतिचार है।

अनंग-क्रीड़ा—काम सेवन के लिए जो प्राकृतिक अंग नहीं है, वे अनंग कहलाते हैं, उनसे काम क्रीड़ा करना अनंग क्रीड़ा है—जैसे हस्तमैथुन, गुदामैथुन, कुचमर्दन, मुखमैथुन, कर्णमैथुन या चुम्बन आदि। स्वस्त्री के साथ भी इस प्रकार का मैथुन सेवन करना अतिचार है।

परविवाहकरण—प्रतिज्ञा करते समय जिस स्त्री का नाम लेकर—स्वदारसन्तोषव्रत लिया गया है, उसके पागल हो जाने, रुग्ण हो जाने, मर जाने या अनबन हो जाने पर भी उसके अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री के साथ विवाह करना परविवाहकरण अतिचार है। अथवा अपनी सन्तान के विवाह के सिवाय दूसरे लोगों के विवाह को पुण्य समझकर या मेरिज ब्यूरो आदि खोलकर व्यवसायिक दृष्टि से करना-कराना परविवाहकरण नामक अतिचार है।

कामभोगतीव्राभिलाषा—स्वदारसन्तोषव्रत कामभोग की इच्छा को मन्द करने के लिए है, लेकिन कई लोग असमय में, विपरीत परिस्थिति में, रुग्ण, अस्वस्थ, असहमत पत्नी से भी कामसेवन के लिए तैयार हो जाते हैं, या वाजीकरण या कामोद्दीपन करने वाली औषधियों का सेवन करके अतिमैथुन करते हैं, बार-बार स्त्री प्रसंग करते हैं, यह कामभोग की तीव्र अभिलाषा सूचित करता है, जो इस व्रत का अतिचार है।

देशविरति ब्रह्मचर्यव्रतधारी श्रावक को ब्रह्मचर्यरक्षा के लिए इन पांच अतिचारों से बचना आवश्यक है। तभी वह श्रावक मर्यादित ब्रह्मचर्य से व्रत का प्रारम्भ करके एक दिन ब्रह्मचर्य के उच्च शिखर तक पहुंच सकेगा। आप भी इस व्रत की मर्यादाओं को समझकर इसे अपने जीवन में अपनाइए।

10

इच्छा का सरोवर : परिमाण की पाल

☆

अब तक हम ब्रह्मचर्य-व्रत तक पहुँच चुके। अब हम अपरिग्रहव्रत को छूने जा रहे हैं। अपरिग्रह व्रत के सम्बन्ध में अधिक विश्लेषण करने से पूर्व मैं आपको मानव-जीवन में इसकी उपयोगिता और आवश्यकता समझा दूँ।

आप जानते हैं कि इस वसुन्धरा में अनन्त पदार्थ हैं, उनमें एक से एक बढ़कर बहुमूल्य पदार्थ भी हैं। सोना, चांदी, आदि धातु भी हैं, हीरा, पन्ना, माणिक्य आदि रत्न भी हैं, और सिक्के भी हैं, मोती भी हैं, तथा एक से एक बढ़कर सुख के साधन हैं, शृंगार प्रसाधन की सामग्री भी है, शरीर और शरीर से सम्बन्धित अगणित पदार्थ हैं। परन्तु उन सब पदार्थों को कोई एक ही व्यक्ति अपने कब्जे में कर ले या करना चाहे तो उसका परिणाम क्या आएगा ? यही कि तू-तू-मैं-मैं और छीनाझपटी शुरू हो जाएगी। कंट्रोल के दिनों में आपने देखा होगा कि लोग अधिक से अधिक चीजों का संग्रह करने लग जाते हैं। कपड़ों से चाहे उनकी पेटियों पर पेटियाँ भरी हों, फिर भी मन में अभाव और असन्तोष महसूस करते हैं और सोचते हैं कि 'कुछ और संग्रह कर लिया जाय तो अच्छा रहेगा।' क्या किसी एक ही व्यक्ति को असीम धन का ढेर दे दिया जाय, तो उसे शान्ति मिल जाएगी ?

भगवान् महावीर के केवलज्ञान रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित इसका उत्तर यह है—

सुवण्ण-रूवस्स हु पव्वया भवे,
सिया हु केलास समा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया॥ —उत्तरा० ९।४८

—कैलाश के समान सोने और चांदी के असंख्य पर्वत भी किसी के पास हो जांय, परन्तु अगर वह मनुष्य लोभी है, तृष्णातुर है, तो वे उसकी तृप्ति के लिए कुछ भी नहीं हैं। क्योंकि इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं।

क्या इच्छाओं का कभी अन्त आ सकता है ? मनुष्य की आयु का तो एक दिन अन्त आ सकता है, परन्तु इच्छाओं का अन्त सहसा नहीं होता। मनुष्य की देह बूढ़ी

हो सकती है, लेकिन इच्छा, तृष्णा और आशा कभी बूढ़ी नहीं होती। इच्छाएँ पानी में उठने वाली तरंगों की तरह हैं। एक इच्छा पूरी नहीं होती, उससे पहले दूसरी सौ इच्छाएँ तैयार रहती हैं। मनुष्य जब लोभ और तृष्णा के अधीन हो जाता है, तब उसे इच्छापूर्ति की हविस उठती है, उस समय व्यग्रमनस्क मनुष्य पशोपेश में पड़ जाता है कि किस-किस इच्छा की पूर्ति करूँ ? अन्त में वह इसी निर्णय पर पहुँचता है कि उसे सभी इच्छाओं की पूर्ति करनी है और फलतः वह अपना सारा जीवन तेली के बैल की तरह अपनी इच्छाओं की पूर्ति में ही लगा देता है। जीवन समाप्त हो जाता है, लेकिन इच्छाएँ समाप्त नहीं हो पातीं।

मनुष्य इच्छाओं का पुतला है। उसके व्यावहारिक जीवन में प्रतिक्षण अनेक इच्छाएँ—आकांक्षाएँ उत्पन्न होती हैं। कभी स्वास्थ्य की, कभी धन की, कभी सत्ता-प्राप्ति की, कभी स्त्री और कभी पुत्र की तो कभी यश, पद एवं प्रतिष्ठा की कामना उदित होती है। इच्छा के विविध काल्पनिक चित्र मानस में उभरने लगते हैं, कई कल्पनाएँ मनुष्य के मस्तिष्क में घुड़दौड़ लगाने लगती हैं।

स्थिर शान्त सरोवर के जल में कोई व्यक्ति कंकड़ या मिट्टी का ढेला फेंकता है तो तुरंत उसमें लहरें उठने लगती हैं। कंकड, पत्थर या मिट्टी के ढेले के वजन तथा उसके फेंकने की गति के अनुरूप ही तीव्र-मन्द लहरें उठा करती हैं। ठीक इसी प्रकार मनुष्य के मन में ज्यों ही कोई इच्छा प्रविष्ट होती है, त्यों ही उसकी तीव्र-मन्द गति एवं प्रबलता-निर्बलता के अनुरूप मानस में लहरें उठने लगती हैं। अर्थात् वह मूल इच्छा अपने समान छोटी-बड़ी अनेक इच्छा तरंगों को जन्म दे देती है। इस प्रकार शान्त एवं स्थिर मन-मस्तिष्क में तूफान उठने लगता है, हलचल मच जाती है, वह अशान्त और चंचल हो जाता है।

वह सोचने लगता है कि जिंदगी बहुत लम्बी-चौड़ी है। इस इच्छा को तो मिनटों में ही पूरी कर लूंगा। वह अपनी इच्छा की तृप्ति के लिए कल्पनाओं के घोड़े दौड़ाता है, उस इच्छा के साथ उत्पन्न हुई अन्य इच्छाओं को साथ लेकर उनके पीछे-पीछे भागता है। लेकिन वे इच्छाएँ परछांई की तरह आगे से आगे बढ़ती जाती है—दिन दुगुनी और रात चौगुनी ! इच्छा पर जब तक ब्रेक नहीं लगाया जाता, तब तक वह न तो कम होगी और नष्ट होना तो बहुत दूर की बात है, बल्कि वह नये-नये तेवर बदलेगी और आदमी को परेशान कर देगी।

उत्तराध्ययन सूत्र में महर्षि कपिल के जीवन की झांकी इच्छाओं के प्रतिक्षण बदलते हुए नये-नये रूपों को प्रगट करते हुए उनके इशारे पर नाचने वाले मनुष्य की मनोवृत्ति का सुन्दर चित्रण किया है।

कपिल ब्राह्मण पुत्र था, धन और मन दोनों से दरिद्र। उसने सुना कि यहाँ का राजा का यह नियम है कि जो ब्राह्मण उसे प्रातः-काल सबसे पहले जाकर आशीर्वाद देगा, उसे वह दो माशा सोना इनाम देगा।" दो माशा सोना पाने के लिए

उस युग में न मालूम कितने ब्राह्मणों का समय नष्ट होता होगा। पर सोना पाने की लालसा जब जाग जाती है तो वह जैसा नाच नचाए उसके इशारे पर नाचना ही पड़ता है। उस शहर में भी दो माशा सोना पाने के लिए प्रतिदिन हजारों मनुष्यों का जमघट लग जाता था। परन्तु उस भीड़ में से उसी भाग्यशाली को इनाम मिलता था, जिसका नम्बर सबसे पहला होता। बाकी के सब विप्र हताश होकर लौट जाते थे।

कपिल ने भी कई बार अपना भाग्य अजमाया, लेकिन हर बार निराशा ही पल्ले पड़ती थी। महीनों तक दौड़-धूप करने के बाद भी जब दोमाशा सोना नहीं मिला, तो एक दिन उसकी सहचरी ने तमककर कहा—"यों तुम-से आलसियों को सोना थोड़े ही मिल सकता है? सोना उसी को मिल सकता है, जो समय पर उठ कर राजा के पास पहुंचे।"

कपिल ने अपनी प्रियतमा की बात मान ली और उसी दिन सोने से पहले कहा—'अच्छा, आज मैंने जल्दी उठकर राजा को सबसे पहले आशीर्वाद देने की ठान ली है। तुम भी ध्यान रख कर मुझे जल्दी उठा देना।' यों शीघ्र जागने का संकल्प करके कपिल बिछौने पर लेट गया। मगर आज निद्रा देवी रूठ गई थी। इधर-उधर करवटें बदलते-बदलते आधी रात हो गई। आकाश में चांद उदित हो गया था। चारों ओर चन्द्रमा की चांदनी देखकर कपिल ने सोचा—'समय काफी हो गया है, अब तो जल्दी उठकर चल देना चाहिए।' वह उठ-बैठा और वहाँ से सीधे राजमहल की ओर भागने लगा। सड़क पर गश्त लगाते हुए पहरेदारों ने देखा कि एक आदमी भागा जा रहा है। आधी रात का समय है। इस समय यों भागने वाला कोई चोर ही हो सकता है।

अतः पहरेदारों ने कपिल को चोर समझ कर गिरफ्तार कर लिया। कपिल ने कहा—"मैं चोर नहीं हूं। मैं तो दो माशा सोना लेने के लिए जल्दी-जल्दी राजमहल की ओर जा रहा था, ताकि सबसे पहले पहुंच कर राजा को आशीर्वाद दे दूं।' पर किसी ने कपिल की बात पर विश्वास नहीं किया। बल्कि डाँटते हुए कहा—"हमें क्यों बेवकूफ बना रहे हो? क्या यह समय सोना पाने का था? अपनी सफाई रहने दो।'

प्रातः काल होते ही कपिल को राजदरबार में राजा के सामने उपस्थित किया गया। राजा ने कपिल का मुर्झाया हुआ उदास चेहरा देखकर पूछा—"क्यों क्या बात थी, सड़क पर यों आधीरात को क्यों भागे जा रहे थे? "क्या कहीं चोरी की थी?"

कपिल ने कहा—"नहीं, महाराज! मैं चोर नहीं हूं। मैं आज सबेरा होने के भ्रम में जल्दी ही उठ गया और जल्दी-जल्दी पैर बढ़ा रहा था, ताकि सबेरा होते ही सर्वप्रथम मैं आपको आशीर्वाद देकर दो माशा सोना प्राप्त कर लूं। परन्तु दुर्भाग्य मेरा कि इन सिपाहियों ने चोर के सन्देह में मुझे गिरफ्तार कर लिया।' राजा कपिल

की भोली सूरत देखकर समझ गया कि यह कोई दरिद्र ब्राह्मण है, सचमुच यह दो माशा सोने की इच्छा से इतनी जल्दी उठ-बैठा होगा। इसकी आँखों में आँसू हैं। न मालूम कितने दिनों से इसे दो माशा सोने की लालसा भटका रही होगी।'

राजा का हृदय दयार्द्र हो गया। उसने सहानुभूति प्रगट करते हुए कहा—"विप्र ! मैं तुम्हारी बात समझ गया हूँ। दो माशा सोने की क्या बात है, मैं तो तुम्हें वही दे दूंगा, जो तुम मांगोगे ! तुम्हारी जो भी इच्छा हो मांग लो।"

कपिल यह सुनते ही आश्वस्त होकर सोचने लगा—"राजा ने इच्छानुसार मांगने का कह दिया है, तो क्या माँगना चाहिए ?" कपिल के सामने इच्छाओं का विशाल सरोवर लहरा रहा था। इच्छा हुई कि राजा ने जब इच्छानुसार माँगने का कह दिया है तो दो माशा सोना ही क्यों माँगू ? सेर-दो-सेर सोना माँग लूं। पर वह भी तो जल्दी ही समाप्त हो जाएगा, घर के खाने-पीने के खर्च में। फिर प्रियतमा के लिए बढ़िया नये वस्त्र, सुन्दर आभूषण एवं साजसज्जा के लिए प्रसाधन सामग्री आदि वस्तुएँ कहाँ से आएँगी ? अतः इच्छा होती है—एक मन सोना माँग लूं। पर टूटी-फूटी झोंपड़ी में सोने के आभूषण क्या शोभा देंगे ? एक महल हो, तभी अच्छा रहेगा। परन्तु महल का शाही खर्च किसी जागीर के बिना कैसे चलेगा ? एक गाँव ही क्यों न माँग लूं ! पर गाँव से क्या होगा ? जब राजा ने इच्छानुसार माँगने का कह दिया तो एक प्रान्त ही क्यों न माँग लिया जाए। परन्तु एक प्रान्त मिल जाने पर भी अगर दूसरे प्रान्त वाले शासक ने आक्रमण करके उसे छीन लिया तो ? अतः राजा का सारा राज्य ही माँग लेना उचित होगा; ताकि सेना, महल, सोना, प्रसाधन सामग्री, वस्त्र आदि सब कुछ मिल जाएँगे।

इस प्रकार कपिल की इच्छाएँ आगे-से-आगे बढ़ने लगीं। उस पर कोई भी ब्रेक नहीं था। **'जहा लाहो, तहा लोहो'** (जैसे-जैसे लाभ बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे लोभ भी बढ़ता जाता है) की उक्ति कपिल की मनोवृत्ति पर चरितार्थ होने लगी।

इतने में ही फिर कपिल की मनोवृत्ति ने नया मोड़ खाया—"लेकिन यह राज्य भी मेरे पास कैसे टिक सकेगा, जबकि कोई भी विरोधी राजा पता चलने पर इस राज्य को लड़-झगड़ कर ले लेगा। और मान लो, राज्य की मेरी इच्छा की पूर्ति हो जाने पर क्या मेरी तृप्ति हो जाएगी ? और भी तो नई-नई इच्छाएँ जागेंगी। फिर किसी सज्जन ने अपनी भलमनसाहत से मुझे इच्छानुसार माँगने का कह दिया है तो क्या उसका सर्वस्व ले लेना उचित होगा ? किसी ने मेरी इच्छापूर्ति करने का वचन दिया तो क्या उसके सर्वस्व राज्य को लेकर मैं अपनी इच्छापूर्ति करूँ ? मेरी भी नीचता की हद है। क्या राजा अपने लिए राज्य की इच्छा नहीं करेगा ? इस प्रकार कपिल गहन विचार सरोवर में डूबने-उतराने लगा। इधर काफी विलम्ब होते देख राजा ने आशंकित होकर सोचा—"यह इतने गहरे पानी में उतर गया, हो न हो मेरा राज्य माँगने के लिए शायद मचल पड़े ! अतः राजा ने कपिल की विचारतन्द्रा भंग करते हुए

कहा—"विप्रवर ! जो कुछ माँगना हो, शीघ्र ही माँग लो, अधिक लम्बा-चौड़ा क्या विचार कर रहे हो ?"

कपिल की विचारनिद्रा उड़ गई। आँखें खोलकर देखा तो उसे राजा की आँखों में उद्विग्नता दीखी। सोचा—"अगर मैंने राज्य दे देने की अपनी इच्छा व्यक्त कर दी तो राजा न मालूम कितना भयभीत हो जाएगा, सम्भव है, वह अपने आपे में न रहे।"

कपिल की विचारधारा ने नया मोड़ लिया, बिलकुल नये मोड़ पर वह आ गया। सोचने लगा—"कितना नीचे उतर गया मैं। इच्छाओं के घोड़े पर बैठकर मैंने उसे कितना आगे बढ़ा दिया। सचमुच, बिना लगाम के घोड़े पर मैं सरपट दौड़ने लगा। मुझे तो सिर्फ दो माशा सोने से प्रयोजन था। मगर राजा ने यथेष्ट इच्छापूर्ति का वचन दिया तो मेरा मन मचल उठा—राजा का सारा राज्य लेने को ! धिक्कार है ऐसी निम्नकोटि की इच्छा को। इच्छा वह आग है, जिसे शान्त करने के लिए ज्यों-ज्यों तृप्ति की आहुति डाली जाती है, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक तीव्र होकर भभक उठती है। इच्छाओं की प्यास क्या कभी बुझ सकती है ? उसे शान्त करने का सरलतम उपाय है—इच्छाओं के वशवर्ती न होकर उन्हें अपने वशवर्ती बनाना।" इस प्रकार कपिल ने जहाँ से इच्छा उठी थी, वहीं पर आकर दम लिया। राजा से स्पष्ट कह दिया—"मुझे अब कुछ नहीं चाहिए। मुझे जो चाहिए था, वह मिल गया है।"

राजा ने बहुत कुछ अनुनय-विनय किया, लेकिन कपिल ने यह कह कर एक-दम रास्ता पकड़ा कि "मुझे वह वीतरागता का राज्य मिल गया है, जिसकी मुझे इच्छा थी।" बस, इच्छा के दास बने हुए कपिल इच्छाओं के स्वामी कपिल महर्षि बन गए। समस्त इच्छाओं, लालसाओं की पूर्ति की जो आसक्ति थी, वह समाप्त हो गई।

संसार में धन सीमित है, किन्तु इच्छाएँ असीम हैं। इच्छाओं का गड्ढा सीमित धन के टीलों से कदापि नहीं भर सकता। राजस्थान के सन्त सुन्दरदासजी ने इच्छाओं की असीमता का चित्रण करते हुए कहा है—

जो दस बीस पचास भये, सत होई हजार तू लाख मँगैगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य, पृथ्वीपति होने की चाह जगैगी॥
स्वर्ग पाताल को राज करौं, तृष्ना अधिकी अति आग लगैगी।
'सुन्दर' एक सन्तोष बिना शठ, तेरी तो भूख कबु न भगैगी॥

संसार की सारी सम्पत्ति मिल जाने पर भी मनुष्य की इच्छा की भूख कभी शान्त होने वाली नहीं है।

राजस्थान के सन्त इस सम्बन्ध में गुरु-शिष्य का एक रोचक संवाद प्रस्तुत किया करते हैं। एक सन्त विचरण करते-करते एक गाँव में पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक लोभी मनुष्य को देखा, जिसके पास अथाह धन होते हुए भी नाना प्रकार की इच्छाओं के कारण वह परेशान था। सन्त ने उसकी इच्छाओं की लम्बी-चौड़ी सूची सुनी और

उनकी पूर्ति के लिए उसे व्यग्र देखा तो वह वापस लौट गए। उन्होंने अपने रूपक की भाषा में शिष्य से कहा—

देखा रे, चेला ! बिन पाल सरवर ।

अर्थात्—शिष्य ! आज में एक ऐसे सरोवर को देखकर आया हूं, जिसका कोई ओर-छोर नहीं था।

शिष्य ने गुरु जी के मनोभाव को ताड़ कर शीघ्र उत्तर दिया—

'इच्छा गुरुजी ! बिन पाल सरवर !'

अर्थात्—गुरुजी ! आपने जो बिना पाल का सरोवर देखा है, वह और कोई नहीं इच्छा ही है। और सरोवरों के तो पाल होता है, किनारा होता है, लेकिन इच्छा का सरोवर ऐसा है, जिसके कहीं भी ओर-छोर नहीं होता, किनारा ही नहीं होता।'

गुरु ने सन्तोष व्यक्त करते हुए कहा—'वत्स ! तुमने ठीक वस्तुस्थिति प्राप्त करली है। तुम्हारा कथन यथार्थ है।'

इस सत्य का आप सभी अनुभव कर सकते हैं, करते होंगे। विश्व में असंख्य पदार्थ हैं, जिनके लिए मनुष्य के मन में इच्छा पैदा होती है। मनुष्य अपनी उस इच्छा की पूर्ति के लिए नाना साधनों को जुटाता है, परन्तु आश्चर्य यह है कि उस इच्छा की पूर्ति होते न होते, कुछ नई इच्छाएँ और उत्पन्न हो जाती हैं, फिर वह उनकी पूर्ति के लिए नये साधनों को अपनाता है, लेकिन फिर वही दशा होती है। इच्छाओं का यह खेल उसके जीवन में लम्बे अर्से तक चलता रहता है। निष्कर्ष यह कि इच्छाओं की पूर्ति करते जाना इच्छाओं की अग्नि को शान्त करने का उपाय नहीं है। इस उपाय से वह आग बुझती नहीं, बल्कि और अधिक भड़कती है। इच्छापूर्ति का मार्ग कोई सफल पथ नहीं है। यह धर्म और मोक्ष का मार्ग नहीं, संसारवृद्धि का मार्ग है, इस मार्ग के अपनाने पर शान्ति कभी नहीं मिल सकती।

जैन धर्म का यह मार्ग नहीं है कि विभिन्न इच्छाओं की शान्ति धन आदि वस्तुओं की प्राप्ति से होगी। इच्छा शान्ति का सच्चा मार्ग यह है कि उन इच्छाओं को पीठ देकर चलो। जब मनुष्य अपनी छाया को पकड़ने जाता है, तो वह छाया दूर से दूर भागती चली जाती है, किन्तु जब वह छाया को पीठ देकर चलता है तो छाया अपने आप उसके पीछे भागती चली आती है। यही हाल इच्छाओं का है। उन्हें पकड़ने के लिए दौड़ोगे तो वे आगे भागती जाएँगी, किन्तु इच्छाओं को पीठ देकर दौड़ोगे तो इच्छित वस्तु स्वतः आपके पीछे आएगी।

इच्छाओं को पीठ देकर चलने का मतलब है, इच्छाओं से विमुख हो जाना, उनके प्रति उपेक्षा भाव धारण कर लेना, सन्तोष धारण कर लेना। इच्छापूर्ति की आसक्ति न रखना।

यहाँ एक प्रश्न होता है कि इच्छा एक भाव है, जो किसी अभाव, सुख या आत्मतुष्टि के लिए उदित होता है। इस प्रकार की इच्छाओं का सम्बन्ध भौतिक जगत् से होता है। गृहस्थ को अपने दैनिक जीवन में पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्वों एवं विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन, साधन एवं अन्य अधिकारों की अपेक्षा रहती है, कामेच्छा भी गृहस्थ-जीवन में सहसा मिट नहीं सकती, तो क्या जीवन को गतिमान बनाए रखने के लिए स्वप्रधान इच्छाएँ आवश्यक नहीं है ? मनुष्य को अपने विकास और प्रगति के लिए क्या इच्छाओं की उपयोगिता नहीं है ? संसार में जो बड़े-बड़े निर्माण और सृजन दृष्टिगोचर हो रहे हैं, क्या ये मनुष्य की इच्छाओं का मूर्तरूप नहीं है, अथवा मनुष्य की प्रारम्भिक इच्छा का क्रमानुगत परिणाम नहीं है ? बिना इच्छा के मनुष्य सृजन, विकास, उन्नति और प्रगति कैसे कर सकेगा ?

इसके उत्तर में जैन सिद्धान्त की दृष्टि से कहा जा सकता है कि वीतरागता की भूमिका से पहले इच्छा का उदय होना कोई अस्वाभाविक प्रक्रिया नहीं है। क्योंकि मनुष्य भौतिक ही नही, आध्यात्मिक विकास की जो साधना करता है, उसके मूल में भी इच्छा की प्रधानता रहती है। मनुष्य जब से अपना होश सम्भालता है, और अपने चारों ओर प्राकृतिक प्रचुर साधन बिखरे हुए देखता है, उस समय उसे उनको अपनी सुख-सुविधा के लिए प्रयोग में लाने की इच्छा करता है। यहीं से उसकी इच्छा का विकास प्रारम्भ हो गया। यह ठीक है कि इच्छा ने ही मनुष्य की सृजन-शक्ति और विवेकबुद्धि को उत्तेजित किया है, उसने ऊँचे-ऊँचे महल, लम्बे-लम्बे राजमार्ग बनाए, बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना की, विविध कलाकौशलों के साथ अच्छी से अच्छी सभ्यता और संस्कृतियों का विकास किया।

इच्छाएं निकृष्ट न हों

इच्छा करना गृहस्थ-जीवन के लिए कोई पाप या बुरी बात नहीं है। परन्तु इच्छाओं का विश्लेषण अवश्य करना चाहिए, और जो निकृष्ट इच्छाएँ हैं, उनका त्याग करना सद्गृहस्थ श्रावक के लिए आवश्यक है। इच्छा के दो रूप होते हैं—एक शुभरूप और दूसरा अशुभ रूप। एक मनुष्य समाज-सेवक, देश-सेवक बनने की इच्छा करता है, यह शुभ इच्छा है। इसी प्रकार दूसरों से प्रेम करने, मैत्री करने परोपकार करने और आत्मीयता स्थापित करने, तथैव स्वपरकल्याण की शुभ इच्छा रखता है। इसी प्रकार हर परिस्थिति में समता रखने, कषायभाव कम करने, ममत्व कम करने, आत्मभाव में रमण करने, मुक्ति प्राप्त करने आदि आध्यात्मिक इच्छाएँ उत्कृष्ट हैं। इच्छा का दूसरा रूप अत्यन्त निकृष्ट एवं अशुभ है। इच्छा की निकृष्टता उसके सीमित या साधारण होने में नहीं है, अपितु उसके उद्देश्य की तुच्छता में अथवा इच्छापूर्ति के लिए अनुचित उपायों या साधनों को काम में लाने में है।

एक व्यक्ति डॉक्टर या वकील इसलिए बनना चाहता है कि वह डॉक्टर बन

कर रोगियों से तथा वकील बनकर मवक्किलों से प्रचुर मात्रा में रुपये बटोरेगा, इसी प्रकार यदि कोई यह इच्छा करता है कि यदि वह किसी प्रकार से मैट्रिक पास हो जाता तो पंचायत मन्त्री बनकर अनपढ़ ग्रामीणों से खूब लाभ उठाता। ये इच्छाएँ अपने आप में कोई बड़ी न होते हुए भी निकृष्ट नहीं हैं, किन्तु इन सब इच्छाओं का उद्देश्य गलत होने के कारण इन्हें निकृष्ट बना देता है। यदि ये ही इच्छाएँ जनता की सेवा करने के उद्देश्य से प्रेरित होतीं तो शुभ हो जातीं। यदि इसी इच्छा के साथ पंचायतमन्त्री बन कर निरक्षर ग्रामीणों को साक्षर बनाने तथा गाँवों का यथा-सम्भव विकास करने में योग देने का उद्देश्य जुड़ जाता तो यही साधारण इच्छा उच्चकोटि की परिधि में पहुँच जाती। निकृष्ट उद्देश्य से विशिष्ट इच्छा भी निकृष्ट कोटि की बन जाती है।

इच्छा की निकृष्टता न केवल स्वयं में एक व्यावहारिक या सामाजिक पाप है, वरन् यह एक आध्यात्मिक पाप भी है। निकृष्ट इच्छा की प्रतिक्रिया आत्मा पर अहितकर होती है। निकृष्टता से आत्मा का दिव्य आलोक मन्द होता है, आत्मा संकुचित होती है, जिसमें ईर्ष्या, द्वेष, रोष, आदि मनोविकार घेर लेते हैं। मानव मनुष्य से पशु बन जाता है। यही इच्छा जब किसी को मारने, रुग्ण बनाने, अप्रतिष्ठित करने या दूसरों को समाज की नजरों में गिराने की होती हैं तो ये निकृष्टतम बन जाती हैं। जैनधर्म की भाषा में ऐसी इच्छाएं कृष्णलेश्या या नीललेश्या में अथवा रौद्रध्यान में परिगणित होती हैं।

जहाँ उच्च इच्छाएँ संसार में शान्ति, सुख, विकास एवं सुव्यवस्था में वृद्धि करती है, वहाँ निकृष्ट इच्छाएँ संसार में अशान्ति एवं संघर्ष को जन्म देती हैं। निकृष्ट इच्छा से युक्त मानव स्वयं भी सुख-शान्ति नहीं पाता, वह अपनी आत्मा का पतन कर लेता है, लोक-परलोक दोनों बिगाड़ लेता है, ऐसा व्यक्ति वैभव के बीच प्रायः तड़प-तड़प कर इस लोक से प्रयाण करता है।

इच्छाएँ निकृष्ट तब भी हो जाती हैं, जब उनकी पूर्ति के लिए अशुद्ध साधनों व उपायों का सहारा लिया जाता है। एक आदमी दीर्घजीवी बनकर समाज की या देश की सेवा करना चाहता है, परन्तु वह दीर्घजीवी बनने के लिए किसी देवी को बकरे का बलिदान करता है, या किसी उच्चपद की प्राप्ति की इच्छा की पूर्ति के लिए कई लोगों को बदनाम करके अपदस्थ करता है

इच्छाओं का एक विषाक्त पहलू

इच्छाओं का एक और विषाक्त पहलू है, वह है अति और अनुचित इच्छाएं।

मनुष्य जीवन को क्लेशदायक परिणामों की ओर ले जाने में अति और अनुचित इच्छाओं का प्रमुख हाथ है। ऐसी इच्छाएँ मनुष्य के भय और चिन्ताओं की कारण हैं। जब एक इच्छा के बाद दूसरी इच्छा और दूसरी के बाद तीसरी, इस

प्रकार हृदय में अन्धाधुन्ध इच्छाएँ उठती रहें तो इच्छाओं की एक भीड़ जमा हो जाएगी और उनकी पूर्ति की आसक्तिवश अपूर्ण रहने की पीड़ा पैदा होगी, जो मानव का जीना हराम कर देंगी। जिसका हृदय अज्ञानवश ऐसी अपूर्ण इच्छाओं का क्रीड़ा-स्थल बन जाता है, उसके लिए किसी अन्य नरक की आवश्यकता नहीं रहती। उसकी वे इच्छाएँ ही नारकीय यंत्रणा देने के लिए पर्याप्त हैं।

इस प्रकार इच्छाओं की अति के साथ प्रायः फलासक्ति या उन इच्छाओं की पूर्ति की तीव्र आसक्ति जुड़ जाती है, तो व्यक्ति की तृप्ति न होने से वह अत्यधिक दुःखी हो जाता है। कोई व्यक्ति यह सोचे कि मैं करोड़पति बन जाऊँ। परन्तु परिस्थिति, शक्ति, योग्यता और तदनुरूप परिश्रम का विचार न करे, साथ ही यह विवेक भी न करे कि क्यों और किसलिए मैं करोड़पति बनना चाहता हूँ? तो इच्छापूर्ति होगी नहीं, वह इच्छा के पीछे मारा-मारा फिरेगा, दुःखी होगा। किसी की शैक्षणिक योग्यता मेट्रिक की भी न हो और वह कलेक्टर बनना चाहे तो उसकी यह इच्छापूर्ति कैसे सम्भव होगी? इसलिए विचारशील व्यक्ति वैसी इच्छा नहीं करते, जिसकी पूर्ति के लिए उनके पास योग्य साधन, परिस्थिति, शक्ति, योग्यता एवं क्षमता न हो।

अति और अनुचित इच्छाएँ कभी-कभी महत्त्वाकांक्षा का रूप ले लेती हैं। महत्त्वाकांक्षा के भी इच्छा की तरह दो रूप होते है। एक महत्त्वाकांक्षा शुभ होती है—जो अपनी आत्म-शक्ति बढ़ाने, साधना में आगे बढ़ने और संसार के कल्याण में योगदान देने की होती है। परन्तु दूसरी महत्त्वाकांक्षा अशुभ होती है—जो अति और अनुचित दोनों ही प्रकार की होती हैं। जैसे किसी गरीब की महत्त्वाकांक्षा हुई कि मैं मिलमालक, उद्योगपति, धनकुबेर बन जाऊँ, मेरी प्रतिष्ठा दशों दिशाओं में फैल जाए, मेरे पास प्रचुर सम्पत्ति हो, जीवन का स्तर उच्च हो, मैं महामन्त्री, मन्त्री या शासनकर्ता का कोई पद प्राप्त कर लूँ। किन्तु ऐसी महत्त्वाकांक्षा के पीछे प्रायः कोई उद्देश्य स्पष्ट नहीं होता और होता भी है तो व्यक्तिगत सुखभोग की कामना होती है। इसलिए ये महत्त्वाकांक्षाएँ शुभ नहीं मानी जा सकतीं।

अशुभ महत्त्वाकांक्षी इतिहास के पृष्ठ पर तो अंकित होता है, परन्तु वह देखा-सुना जाता है पतित और कलंकी के रूप में, घृणा और तिरस्कार के साथ।

सारे संसार पर विजय प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला सिकन्दर महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। यद्यपि उसकी आकांक्षा बहुत ही बड़ी थी, जिसे मूर्तरूप देने के लिए अपार कष्ट उठाए, बहुत उद्योग किया, परन्तु उसकी महत्त्वाकांक्षा अशुभ थी। वह उसके व्यक्तिगत दम्भ और शक्ति प्रदर्शन की उद्धतता से दूषित थी। उसने अपने व्यक्तिगत अहंकार को तुष्ट करने के लिए न जाने कितने देशों को रौंद डाला, हजारों-लाखों निरपराधों को मौत के घाट उतारा और अपनी सेना के असंख्य सैनिकों को निरुद्देश्य समराग्नि में आहुति बना डाला। निरर्थक अशान्ति, अराजकता, युद्ध और

रक्तपात का दावा होने के कारण सिकन्दर की महत्त्वाकांक्षा अशुभ और निकृष्ट ही मानी जा सकती है।

अतः महत्त्वाकांक्षा में शुभ-अशुभ का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। किसी व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा धनवान, यशस्वी, अथवा बलवान बनने की है, किन्तु उसमें लोकरंजन, सामाजिक हित अथवा आत्मोद्धार की भावना के स्थान पर शोषण, प्रतिशोध, प्रतिहिंसा, अथवा भोगवृद्धि आदि के विषैले बीज सन्निहित हैं तो वह महत्त्वाकांक्षा भी अशुमता के दोष से दूषित है। श्रावक को ऐसी महत्त्वाकांक्षा को तिलांजलि दे देनी चाहिए या उसके उद्देश्य में सुधार या संशोधन करना चाहिए, अन्यथा उससे लोक-परलोक के बिगड़ने की संभावना है।

महत्त्वाकांक्षा के सम्बन्ध में आत्म-विवेचना करते समय निष्पक्ष और निःस्वार्थ रहने की आवश्यकता है। स्वार्थ और पक्षपात के दोष दृष्टि को विषाक्त बना डालते हैं, जिससे असत्य सत्य, और अहित हित दिखलाई देने लगता है, अपने ही गलत दृष्टिकोण से स्वयं प्रवंचित हो जाता है।

महत्त्वाकांक्षा भी इच्छा का विशद और व्यापक रूप है, अतः इसे भी दूषित होने से बचाना चाहिए।

इच्छाओं का क्रम बढ़ते-बढ़ते असीम

किसी भी प्राणी को जन्म के साथ ही पूर्वजन्म के संस्कारवश तत्सम्बद्ध सांसारिक पदार्थों की इच्छा भी साथ ही पैदा होती है। फिर ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता है, उसे पदार्थ जगत् का परिचय भी होता जाता है, पूर्व संस्कार विकसित होते जाते हैं और मनमस्तिष्क में संकल्प-विकल्पों का तूफान भी बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों इच्छाओं की भी क्रमशः वृद्धि होती जाती है। पदार्थों का सम्पर्क, आयु, मानस, संकल्प-विकल्प शक्ति आदि की वृद्धि होती जाता है, त्यों-त्यों इच्छाएँ हनुमानजी की पूँछ की तरह बढ़ती जाती हैं। मनुष्य जब तक बच्चा रहता है, तब तक उसकी इच्छा माँ के दूध तक ही सीमित रहती है, उसके पश्चात् जब वह किशोरवय में पदार्पण करता है, तब वह मातृदुग्ध की इच्छा के बदले मिठाई आदि खाने की वस्तुओं या खेलने की सामग्री अथवा ऐसी ही दूसरी चीजों की इच्छा करने लगता है। जब कुछ वयस्क हो जाता है, तब वस्त्र, आभूषण, घड़ी, पेन, तेल, साबुन आदि तथा कुछ पैसों की चाह होती है। उसके बाद युवक हो जाता है, स्त्री, पुत्र, पौत्र, धन-सम्पत्ति, व्यवसाय वृद्धि आदि की इच्छा जागती है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों मनुष्य की अवस्था अधिक होती जाती है, सांसारिक पदार्थों से उसका अधिकाधिक परिचय होते जाने के कारण उसकी इच्छा भी बढ़ती जाती है।

इहलौकिक सांसारिक पदार्थों की इच्छा शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इनमें से किसी एक विषय से सम्बन्धित होती है। और प्रत्येक पदार्थ की इच्छा

इन्द्रियों और मन की विषयासक्ति से होती है। अतः स्पष्ट शब्दों में हम कह सकते हैं कि मन की चंचलता और इन्द्रियों की निरंकुशता से इच्छाओं का जन्म होता है। पूर्वोक्त क्रम से इच्छाएँ बढ़ती जाती हैं और मनुष्य उन-उन पदार्थों की भी कल्पना करता रहता है, जिन्हें उसने देखा तक नहीं है, किन्तु कभी सुनकर, कभी किसी ग्रन्थ में पढ़कर उसकी इच्छा बलवती होती जाती है। अर्थात् इहलौकिक पदार्थों की इच्छा के साथ-साथ उसकी पारलौकिक पदार्थों की इच्छा भी असीम हो जाती है। उसके मन में वृद्धावस्था आने पर भी इच्छा कम नहीं होती। ऐसा नहीं होता कि अब इच्छा नहीं है। आयु क्षीण होती जाती है, लेकिन इच्छा क्षीण नहीं होती।

असीमित इच्छाएँ : संघर्ष का कारण

आज विश्व में जो संघर्ष है, जोकि प्रागैतिहासिक काल से चला आ रहा है, उसके मूल को खोजें तो पता लगेगा कि इच्छाओं की विपुलता ही उसका प्रधान कारण है। विश्वयुद्धों के पीछे ये असीम इच्छाएँ ही प्रधान कारण हैं। मनुष्य की इन असीमित एवं दूषित उद्देश्यों से युक्त इच्छाओं ने ही विश्व में लाखों मनुष्य का रक्त बहाया है।

श्रेणिक और कोणिक दोनों में पिता-पुत्र का रक्त-सम्बन्ध था। लेकिन कोणिक में इस बात को न समझकर श्रेणिक से शीघ्र ही राज्य पाने की लालसा (इच्छा) जाग उठी। कोणिक को राज्य की कोई आवश्यकता हो, ऐसी बात भी नहीं थी। पिता के सारे साम्राज्य का उत्तराधिकारी तो कोणिक ही था। उसकी सब आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। कोणिक को अब भी इतना अधिकार था कि वह मनचाहा उपभोग कर सकता था, हजारों का पालन-पोषण भी कर सकता था, कोई रोक-टोक नहीं थी उसे। श्रेणिक तो सिर्फ एक-दो घंटे के लिए सिंहासन पर बैठ जाते थे, राज्य का संचालन तो सारा कोणिक के हाथ में था। फिर भी कोणिक में अनुचित इच्छा (महत्त्वाकांक्षा) जाग गई, उसी से प्रेरित होकर श्रेणिक के प्रति दुर्भावना भी उसके मन मे उत्पन्न हुई कि बूढ़ा न तो सिंहासन खाली करता है, और न ही परलोक विदा होता है। अतः अब इनसे दोनों कार्य जबरन करा देने चाहिए। इस प्रकार की निरंकुश एवं अनुचित इच्छा का शिकार बना हुआ कोणिक पिता को कैदखाने में डाल देता है। और अपनी दूषित महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए स्वयं सम्राट बन बैठा। मैं आपसे पूछता हूँ, क्या कोणिक को इस प्रकार की अनुचित एवं दूषित इच्छाओं की पूर्ति करने के बाद तृप्ति एवं शान्ति हो गई ? कदापि नहीं। ऐसी निरंकुश इच्छाओं से कभी तृप्ति नहीं होती। विश्व के पामर लोगों की तरह कोणिक पिता को कारागार में डालकर एवं स्वयं सम्राट् बनकर भी तृप्त नहीं हुआ। उसकी दृष्टि अपने भाई हल्ल-विहल्लकुमार के पास जो हार और हाथी था, उन पर पड़ी और किसी भी तरह से हार और हाथी को अपने कब्जे में करने की हविस (अनुचित इच्छा) जागी। कहाँ मगध का विशाल साम्राज्य और कहाँ हार और हाथी !

कोई यह कह सकता है कि कोणिक के मन में हार और हाथी लेने की इच्छा स्वयं स्फुरित नहीं हुई थी, वह तो उसकी रानी की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रेरणा के कारण हुई थी। किसी की भी प्रेरणा से ऐसी अनुचित इच्छा जागी हो, पर इस कुत्सित इच्छा की पूर्ति के लिए जिम्मेवार तो वही था! चाहे किसी के कहने से हार और हाथी को अपने कब्जे में करने की दुष्ट इच्छा जागी हो पर वह इच्छा कितनी निकृष्ट एवं अधम थी! दुष्ट इच्छा की पूर्ति के लिए कोणिक ने एकदिन सीधे ही हल्ल-विहल्लकुमार से कहा—"भैया! अपना हार और हाथी मुझे दे दो!"

हल्ल-विहल्लकुमार कोणिक की इस अप्रत्याशित और अनधिकार मांग को देख सहसा आश्चर्य में पड़ गए। उन्होंने कहा—यह हार और हाथी तो हमारे अधिकार का है। हमने राज्य का कोई हिस्सा नहीं लिया उसके बदले में दो चीजें मिली हैं। अगर ये दोनों चीजें चाहिए तो हमें राज्य का हिस्सा दे दीजिए।"

पर कोणिक कब मानने वाला था, वह अपनी अनुचित इच्छा की पूर्ति के लिए अड़ गया! सत्ता में मदान्ध होकर उसने भाइयों पर अनुचित दबाव डाला, और धमकी दे दी—या तो हार और हाथी सीधी तरह से दे दो, अन्यथा जबर्दस्ती छीन लिया जाएगा! जब अनुचित इच्छाओं की पूर्ति के लिए कोणिक ने भाइयों के साथ प्रेम को तोड़ डाला। बेचारे भयभीत होकर अपने नानाजी श्री चेटकनृप के पास पहुंचे। उनसे शरण मांगी। मातामह ने शरण दी। जिसका परिणाम यह हुआ कि कोणिक इस घटना को लेकर अपने भाइयों के आश्रयदाता अपने नाना के साथ भी भयंकर युद्ध छेड़ बैठा। अपनी अनुचित इच्छा की पूर्ति के लिए इच्छाओं के घोड़े पर चढ़ा हुआ कोणिक करोड़ों मनुष्यों का संहार करने में नहीं हिचकिचाया, गुरुजनों की हत्या करने में उसके हाथ नहीं कांपे। आखिर मनुष्य इतना नरपिशाच क्यों बन जाता है? कौन-सा दोष उसकी विवेकबुद्धि को आवृत्त कर देता है? वे ही अनुचित स्वच्छन्द बढ़ती हुई इच्छाएँ हैं, जिनके प्रताप से मानव दानव बन जाता है। अनियंत्रित इच्छाएँ मनुष्य को कहाँ से कहाँ तक पतन के गड्ढे में डाल देती हैं।

ऐसे लोग अपने-परायों का खून बहाकर जनता की दृष्टि में धर्मात्मा, भक्त या उच्च बनने के लिए किसी न किसी महापुरुष के अनुयायी बनने का ढोंग भी करते हैं। यही कोणिक ने किया। इस प्रकार अपनी अनुचित इच्छा-पूर्ति के लिए महायुद्ध ठान कर एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्यों का संहार किया और तत्पश्चात् भगवान महावीर का अनुयायी बन गया, ऐसा भक्त बना कि जब तक उनके कुशल समाचार नहीं सुन लेता था, तब तक मुँह में एक घूँट पानी भी नहीं डालता था। किन्तु क्या इस प्रकार महापुरुष के केवल चरणों का आश्रय ले लेने मात्र से कभी वे पाप धुल सकते हैं? कदापि नहीं, जब तक मनुष्य स्वेच्छा से अपनी स्वच्छन्द इच्छाओं पर अंकुश नहीं लगाता, तब तक वह अपने पाप को नहीं धो सकता। जिसने अपनी इच्छाओं को बेरोक-टोक स्वच्छन्द भागने दिया, उनका गुलाम बन कर स्वयं दौड़धूप करता रहा, जिसने

इच्छाओं का परिमाण नहीं किया—नियंत्रण नहीं किया, जो महारम्भ और महापरिग्रह की भूमिका पर ही रहा, वह चाहे हजार बार महापुरुष के चरण छूले, उससे क्या उसकी दुर्गति रुक जाएगी ? कदापि नहीं।

भारत के मुगल सम्राट औरंगजेब ने क्या किया था ? उसने भी अपनी अनुचित राज्यलिप्सा की पूर्ति के लिए अपने पिता को कैद कर लिया, भाइयों को बुरी तरह मरवा डाला और स्वयं सिंहासन पर बैठ गया। अपने इस अत्याचार (पाप) पर पर्दा डालने के लिए उधर वह कट्टर धर्मांध मुसलमान बना पांच बार नमाज पढ़ता, रोजे करता तथा अन्य धार्मिक क्रिया काण्ड करता था। पर इससे क्या वह परमात्मा की दृष्टि में धर्मात्मा कहला सकता है ? औरंगजेब भी निरंकुश इच्छाओं का शिकार बनकर इस प्रकार के घोर अत्याचार करता रहा।

दुर्योधन के सिर पर भी अनुचित एवं स्वच्छन्द इच्छाओं का भूत सवार था। उसने जब देखा कि पाण्डवों को एक छोटा-सा राज्य मिला था, लेकिन उन्होंने अपने पराक्रम से बहुत बड़ा साम्राज्य प्राप्त कर लिया है और मुझे तो जितना साम्राज्य मिला था उतना का उतना ही पड़ा है। वह बढ़ नहीं सका। अतः दुर्योधन ने अपने भाइयों का साम्राज्य हथियाने की दुष्ट इच्छा से प्रेरित होकर पाण्डवों को जुआ खेलने के लिए बहकाया और शर्त यह रखी कि जो जुए में सर्वस्व हार जाएगा, उसे अपना सर्वस्व साम्राज्य विजेता को देना पड़ेगा। पाण्डव दुर्योधन की इस कुटिल चाल को भांप नहीं सके। बाद में जुए में हार जाने के कारण पाण्डवों को अपना राज्य दुर्योधन को छोड़कर वन की राह लेनी पड़ी। आखिर पाण्डव १२ वर्ष का वनवास, एक वर्ष का अज्ञातवास करके लौट गए।

श्री कृष्णजी के समक्ष पाण्डवों ने अब अपनी न्यायोचित मांग रखी, लेकिन दुर्योधन जब बिलकुल कुछ भी देने को तैयार न हुआ तो पाण्डवों ने अपनी इच्छाओं को रोक कर अपने पूर्वोपार्जित साम्राज्य में से सिर्फ पांच गाँव लेने को तैयार हो गए। उन्होंने कहा कि हम इतने से ही अपना काम चला लेंगे, अधिक कुछ नहीं चाहिए।

मगर जब श्री कृष्णजी दुर्योधन की राजसभा में शान्तिदूत बन कर गए और पाँच गाँव दे देने के लिए मनवाने लगे, तो दुर्योधन अपनी इच्छा को रोक न सका। उसने साफ कहा—"सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव !" "केशव ! युद्ध के बिना तो मैं सुई की नोंक पर आए, इतनी-सी जमीन भी देने को तैयार नहीं हूँ।"

भला बताइए, दुर्योधन के पास किस बात की कमी थी ? खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने या अन्य किसी चीज का अभाव नहीं था, जिसके लिए उसे इतनी निरंकुश इच्छा से ग्रस्त होकर इतनी उखाड़-पछाड़ करने की आवश्यकता पड़ती। आखिर दुर्योधन की इसी निरंकुश इच्छा के कारण महाभारत हुआ, जिसमें रक्त की नदियाँ बह चलीं। लाखों मनुष्यों का संहार हुआ, सिर्फ एक दुर्योधन की राज्यलिप्सा के कारण !

अगर मनुष्य अपनी उद्दाम इच्छाओं को आवश्यकताएँ समझने के भ्रम में न पड़े तो उसका जीवन इच्छापरिमाण करने से सुखपूर्वक व्यतीत हो सकता है।

श्रमणोपासक आनन्द ने भगवान महावीर के समक्ष अपनी इच्छाओं का परिमाण (सीमा) कर लिया। उसके पास जो कुछ भी सम्पत्ति थी, उसमें वृद्धि करने पर उसने स्वेच्छा से रोक लगादी। उसने अपनी इच्छा और ममता पर इस प्रकार से नियन्त्रण कर लिया कि मैं अपने पास जो सम्पत्ति है, उससे न अधिक बढ़ाऊँगा और न उससे अधिक रखूँगा।

इस रूप में जब इच्छापरिमाणव्रत आनन्द श्रावक के जीवन में उतरा तो उसे स्वयं को असीम आनन्द की अनुभूति हुई।

वास्तव में जो व्यक्ति, चाहे वह सम्राट् हो या सम्पत्तिशाली हो, जितनी इच्छाएँ उसके अन्तर्मन में पैदा होती हैं, उन्हें अपनी आवश्यकताएँ समझने की भूल करता है, तब जीवन गलत रूप धारण कर लेता है। इसीलिए जैनधर्म कहता है, ऐसी इच्छाएँ, जो तुम्हारी आवश्यकताओं के साथ संगत नहीं हैं, और झूठमूठ निरर्थक आवश्यकता के भुलावे में डालकर आगे बढ़ती जाती हैं, उन्हें वहीं काटकर अलग कर दो, उन इच्छाओं से अपने को विमुख कर दो। जो इच्छाएँ, तुम्हारी वास्तविक आवश्यकताओं की सीमा में हैं, उन्हीं तक उन्हें सीमित करदो। अन्यथा, इच्छाएँ वास्तविक आवश्यकताओं से आगे बढ़कर तुम्हें परेशान कर देंगी, तुम अपने आप ही नरकवत् यन्त्रणा पाकर दुःखी बन जाओगे।

जो अपनी अति, अनुचित, निकृष्ट एवं घातक अशुभ इच्छाओं और महत्त्वाकांक्षाओं का त्याग करके शेष इच्छाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं को नियन्त्रित नहीं करता, उसकी जिन्दगी रूपी गाड़ी बिना ब्रेक की, अनियन्त्रित और खतरनाक है। वह जीवन विकास के मैदान में अंधी दौड़ लगाएगा तो उसकी गाड़ी ब्रेकरहित होने के कारण या तो स्वयं दुर्घटनाग्रस्त हो जाएगी अथवा दूसरों को भी कुचल देगा और स्वयं चकनाचूर हो जाएगा।

यह ठीक है कि श्रावक पर गृहस्थजीवन की कई जिम्मेवारियाँ होती हैं, उसके साथ उसका परिवार भी है, समाज और राष्ट्र के प्रति भी उसका उत्तरदायित्व है, वह इन सबको छोड़कर अलग-अलग नहीं रह सकता। अतः वह इच्छा और मूर्च्छा का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, न वह सांसारिक पदार्थों से सर्वथा निःसंग एवं अनासक्त रह सकता है। उसके लिए सांसारिक पदार्थों का संग्रह तथा उनके प्रति इच्छा या मूर्च्छा का होना स्वाभाविक है। वह अपनी उन आवश्यकताओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। गृहस्थ श्रावक को धन कमाने की इच्छा भी होगी, जीवन-व्यवहार के लिए आवश्यक साधनों की आकांक्षा भी होगी, अपने (जिसमें दूसरों के हित को हानि न पहुँचे, ऐसे) जीवन विकास की महत्त्वाकांक्षा भी होगी, प्राप्त साधनों को सुरक्षित रखने की लगन भी होगी। इसलिए भगवान महावीर ने इस बात को ध्यान में रखकर

गृहस्थों के लिए इच्छा-मूर्च्छा का सर्वथा त्याग आवश्यक नहीं है, किन्तु उनके लिए इच्छाओं का परिमाण (सीमित) करना आवश्यक है। क्योंकि वीतराग प्रभु जानते थे कि गृहस्थ श्रावक के लिए संसार-व्यवहार में रहते हुए इच्छा का सर्वथा निरोध दुष्कर है। जिस दिन वह इच्छा का सर्वथा त्याग कर देगा, उस दिन या तो वह संथारा (आजीवन अनशन) कर लेगा, या संसार व्यवहार में रहने का त्याग कर देगा। लोक-व्यवहार में रहते हुए गृहस्थ श्रावक को पूर्ण अपरिग्रह व्रत बता दिया जाएगा, तो उसका पालन भी न होगा, दम्भ और अनाचार बढ़ेगा तथा अनेक अनर्थ पनपेंगे। इसलिए जब तक गृहस्थ श्रावक में संसार व्यवहार से निकलने का सामर्थ्य न हो, वह पूर्ण सन्तोष और धैर्यवृत्ति से अभ्यस्त न हो, तब तक उस पर सर्वथा अपरिग्रहव्रत का बोझ डालना अनुचित है, वह उस बोझ को उठा नहीं सकेगा। इन सब दृष्टिकोणों से भगवान महावीर ने श्रावकों के लिए इच्छापरिमाणव्रत बताया है।

इच्छा और आवश्यकता की भेद रेखा

एक बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि धर्मशास्त्रों में श्रावक के पाँचवें व्रत को 'इच्छापरिमाणव्रत' बताया है 'आवश्यकता परिमाणव्रत' नहीं। क्योंकि आवश्यकताएँ तो आवश्यकताएँ हैं, वे तो जीवन-निर्वाह के लिए जरूरी हैं, उनकी मर्यादा क्या होगी ? मर्यादा इच्छाओं की होगी। आवश्यकता अलग चीज है, और इच्छा या मूर्च्छा अलग चीज। आज बहुत-से संघर्ष तो आवश्यकता और इच्छा के अन्तर को न समझने के कारण होते हैं। मनुष्य अपनी इच्छा, हविस या पदार्थासक्ति को ही प्रायः आवश्यकता मान बैठता है और उसकी पूर्ति के लिए इन्सानियत को भी भूला बैठता है, रक्त सम्बन्धों को भी विस्मृत कर देता है। इसीलिए भगवान ने स्पष्ट कहा—इच्छाओं पर नियन्त्रण करो, उनकी सीमा करो।

चाहे कोई सम्राट् हो या सम्पत्तिशाली हो, सर्व साधन-सम्पन्न एवं सम्पत्ति-सम्पन्न होते हुए भी स्वेच्छा से गरीबी धारण करता है, अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण करता है, वही इच्छा परिमाणव्रत को भलीभाँति समझता है। बाहर से लादी हुई या सरकार के द्वारा बलात् कण्ट्रोल की गई इच्छाओं या आवश्यकताओं से शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति मिलती है, अपनी इच्छा से अपनी इच्छाओं को सीमित करके दूसरों को सुखपूर्वक जीने और विकास करने का अवसर देने से।

वल्लभाचार्य के समय में कुम्भनदास नामक एक वैष्णवभक्त हुए हैं, वे भगवान् की स्तुति में भक्तिरसपूर्ण मधुर गीतों को तन्मय होकर गाते थे तो राह चलते लोग खड़े होकर सुनने लगते थे। वे स्वयं कृषक थे। कृषिकार्य करने के बाद इतना समय बचा लेते थे कि उसमें वे भक्तिरसपूर्ण सुन्दर गीतों की रचना करते थे। वे चाहते तो अनेक धनिकों से भगवद्भक्ति के गीत सुनाने के बदले पर्याप्त पुरस्कार पा सकते थे, किन्तु भगवान् का यह परमभक्त निर्धनता को वरदान समझता था। स्वेच्छा से

निर्धनता स्वीकार करके सादा जीवन जीने वाले भक्तों को ही परमात्मा का सदैव स्मरण हो सकता है।"

कुम्भनदास स्वेच्छा से गरीबी धारण किये हुए थे। वे इतने निर्धन रहते थे कि एक दर्पण तक भी वे नहीं खरीद सकते थे। स्नान करने के बाद जब चन्दन लगाने की आवश्यकता होती तो किसी बर्तन में जल भर कर अपना चेहरा देखते थे।

एक दिन कुम्भनदास जलपात्र को सामने रखकर तिलक लगा रहे थे कि सहसा राजा मानसिंह उनके दर्शन हेतु आ गए। महाराजा ने अभिवादन करके 'जय श्रीकृष्ण' कहा, उत्तर में कुम्भनदास भक्त ने भी उन्हें बैठने का संकेत करते हुए जय श्रीकृष्ण कहा। पर इसी हड़बड़ी में उस बर्तन का पानी फैल गया। अतः कुम्भनदास ने अपनी पुत्री से पुनः जल भर लाने का संकेत किया। राजा मानसिंह को वस्तुस्थिति समझते देर न लगी। उनको बड़ा दुःख हुआ कि एक भगवद्भक्त दर्पण के अभाव में कष्ट पाए। राजा मानसिंह ने अपने एक सेवक को भेजकर स्वर्णजटित दर्पण मँगवाया और भक्त को भेंट करके क्षमा माँगी। कुम्भनदास ने जब स्वर्णजटित दर्पण देखा तो घबराए हुए-से बोले—न न, राजन्! भगवान् के भक्त को यह बहुमूल्य वस्तु शोभा नहीं देती। मैं इसे स्वीकार करना तो दूर रहा, इसे प्राप्त करने की इच्छा भी नहीं कर सकता। मुझे क्या जरूरत है दर्पण की, जबकि जल से ही मेरा दर्पण का काम चल जाता है। जिस दिन भक्त भी इस प्रकार का भोगविलासमय जीवन बिताने लगेंगे या बिताने की इच्छा करेंगे, उस दिन उनकी भक्ति समाप्त हो जाएगी।"

"मेरी ओर से आपको यह तुच्छ भेंट तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी। और भी जिन-जिन वस्तुओं की आपको आवश्यकता हो, उसकी एक सूची बनाकर मुझे दे दीजिए। घर जाकर मैं आपकी सुख-सुविधा को ध्यान में रखते हुए सब वस्तुओं की व्यवस्था करा दूँगा।" राजा मानसिंह ने आग्रहपूर्वक कहा। कुम्भनदास निःस्पृहभाव से बोले—"राजन्! आप निश्चिन्त रहिए। अपनी प्रजा के प्रति उदार और कर्तव्य-परायण रहिए। मुझे किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं। भगवान् की कृपा से मुझे सब प्रकार से आनन्द है। आप देख लीजिए, यहाँ भगवत्-स्मरण, अर्चन, भजन आदि के लिए सभी आवश्यक चीजें मौजूद हैं। कृपया, यह दर्पण आप वापस ले जाइए।"

इस प्रकार भक्त कुम्भनदास ने स्वेच्छा से निर्धनता धारण करके अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं पर नियन्त्रण कर लिया था।

इच्छापरिमाणव्रत से लाभ

इसीलिए भगवान् महावीर ने अपने भक्त श्रावकों को इच्छाओं को बढ़ाकर उनकी पूर्ति के लिए रात-दिन बेचैन होने से बचने और सम्यक् प्रकार से भगवद् भक्ति करने हेतु इच्छापरिमाणव्रत बताया।

इच्छापरिमाणव्रत के स्वीकार से गृहस्थ श्रावक का कोई भी व्यावहारिक कार्य रुकता नहीं, न विकासकार्य में कोई रुकावट आती है, बल्कि भगवद्भजन, आत्मचिन्तन,

धर्मध्यान, आत्मकल्याण के कार्य कर सकता है, सुख शान्तिपूर्वक निश्चिन्तता से जीवन-यापन कर सकता है, गार्हस्थ्यजीवन भी सुखमय हो जाता है। इच्छाओं और तृष्णाओं पर जिसने नियन्त्रण नहीं किया, वह असीम इच्छाओं के चक्कर में पड़कर रात-दिन अशान्त रहता है। आग में घी डालने से वह और अधिक भड़कती है, उसी प्रकार वस्तुओं के मिलने से इच्छा और अधिक बढ़ती जाती है, कम नहीं होती। इच्छाओं के भार से आक्रान्त मनुष्य का जीवन कितना भारभूत, कितना चिन्तातुर और कितना व्यथामय बन जाता है ? ऐसा व्यक्ति न तो शान्ति से खा-पी सकता है, न निश्चिन्तता से जीवनयापन कर सकता है, और न ही परमात्म-भजन आदि आत्मकल्याण के कार्य ही कर सकता है ? उसके पास कितना ही वैभव बढ़ जाए, यहाँ तक कि सारे संसार का वैभव मिल जाए तब भी उसे अशान्ति रहती है, वह अपनी प्रबुद्ध इच्छा की पूर्ति की चिन्ता में प्रतिक्षण डूबा रहता है। किन्तु इच्छापरिमाणव्रत स्वीकार कर लेने पर इस प्रकार की कोई भी अशान्ति नहीं रहती।

इच्छापरिमाणव्रत स्वीकार करने पर श्रावक को अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की चिन्ता नहीं रहती, न दुःख होता है। यदि वह नयी डिजाइन के, नूतन ढंग से बने हुए पदार्थों के विषय में सुनता है या उन्हें देखता है, तब भी इच्छापरिमाणव्रती उन पदार्थों को पाने की न तो इच्छा करता है, न ही चेष्टा करता है; तथा उनके न मिलने पर दुःखित नहीं होता है। यदि व्रत में रखी हुई सीमा के बाहर की कोई भी वस्तु बिना इच्छा या परिश्रम के प्राप्त होती हो तो भी वह उसे स्वीकार नहीं करता, और न ही किसी वस्तु की इच्छा से पीड़ित रहता है।

इच्छापरिमाणव्रतधारी धर्मकार्य में रुचिपूर्वक झटपट तल्लीन हो जाता है। उसके मन में उतनी चंचलता या अस्थिरता नहीं होती; जितनी चंचलता और अस्थिरता असीम इच्छा वाले में रहती है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि जो अपनी इच्छाओं का जितना अधिक निरोध कर लेता है, उसका मन धर्मध्यान में उतना ही अधिक लगता है। वह धर्मध्यान भी बिना किसी नामना-कामना के करता है। इच्छा-परिमाणव्रत स्वीकार करने पर श्रावक निर्ग्रन्थ धर्म के योग्य पात्र बन जाता है। परन्तु जिसकी इच्छाएँ अनियन्त्रित हैं, उसकी निर्ग्रन्थ धर्म पर हार्दिक रुचि नहीं होती।

मरणवेला में भी आनन्द

इच्छापरिमाणव्रत ग्रहण करने वाले श्रावक को मृत्यु के समय किसी प्रकार का दुःख नहीं होता; जबकि इच्छापरिमाणव्रत से विमुख महापरिग्रही को मृत्यु के समय में घोर कष्ट होता है। उसे खासकर अपने धन और साधनों के वियोग होने का दुःख होता है, जिनमें उसके प्राण अटके रहते हैं।

कहते हैं, मुहम्मदगजनवी जब मरने लगा, तब उसने अपनी सारी सम्पत्ति, जिसे उसने भारत को बड़ी बुरी तरह लूटकर संचित की थी, अपने सामने मँगवाई। उस सम्पत्ति का अवलोकन करके उसके मुँह से दुःखपूर्ण उद्गार निकले—"हाय ! आज

मेरी प्यारी दौलत मुझसे छूट रही है।" और इसके पश्चात् वह फूट-फूटकर रोने लगा। सचमुच, शास्त्र के कथनानुसार महापरिग्रही को मरते समय आर्त्त-रौद्र ध्यान आता है, जो दुर्गति का कारण है; लेकिन इच्छापरिमाणव्रती श्रावक के पास ऐसा दुःख नहीं फटकता।

इच्छापरिमाणव्रत स्वीकार करने वाला कभी इस बात से चिन्तित या दुःखी नहीं होता कि मेरी वस्तु कोई छीन लेगा, चुरा लेगा या नष्ट कर देगा। क्योंकि वह यह जानता है कि वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है। जब तक मेरा पुण्य प्रबल है, तब तक ही ईष्ट वस्तु मेरे पास टिक सकती है, उस अवधितक कोई भी उसे नहीं ले जा सकता, और जब मेरा पुण्य निर्बल हो जाएगा, तब लाख प्रयत्न करने पर भी वह वस्तु मेरे पास टिक न सकेगी। फिर मुझे चिन्ता करने या दुःखी होने की क्या जरूरत है?

एक सघन वृक्ष है। उसका सहारा एक बंदर भी लेता है और एक पक्षी भी। पक्षी वृक्ष पर बैठा हुआ भी वृक्ष के आश्रय पर नहीं रहता, वह अपने पंखों के आश्रय पर रहता है, वृक्ष के गिरने पर उसे कोई कष्ट न होगा, वह पंखों के सहारे उड़ जाएगा। मगर बन्दर के लिए वृक्ष का ही आश्रय है। अगर वृक्ष टूट पड़े तो बन्दर को बहुत हानि पहुँच सकती है। यही अन्तर इच्छापरिमाणव्रत स्वीकार करने वाले और न करने वाले में है। इच्छापरिमाण करने वाले को अपनी मर्यादा में गृहीत सांसारिक पदार्थों का आधार छूट जाने पर भी पक्षी की तरह कोई दुःख नहीं होता, क्योंकि वह उन पदार्थों पर भी इतनी ममता नहीं रखता, जिससे कि उसे दुःख हो, जबकि इच्छा परिमाण न करने वाले को बन्दर की तरह बहुत ही दुःख होता है, पदार्थों के छूट जाने पर।

इच्छापरिमाणव्रत स्वीकार करने वाला महान् परिग्रह से बच जाता है, क्योंकि उसने इच्छाओं को सीमित कर दिया है। इस कारण जितने अंश में उसकी इच्छा शेष है, उतने अंश के परिग्रह के सिवाय शेष समस्त परिग्रह से निवृत्त हो जाता है। उसे सम्पूर्ण परिग्रह की क्रिया नहीं लगती, अपितु जितने अंश में परिग्रह रहा है, उसी की क्रिया लगती है। इसलिए वह महापरिग्रही न रहकर अब अल्पपरिग्रही हो जाता है। जितना परिग्रह शेष है, उसमें भी वह जल कमलवत् निर्लिप्त रहता है तो उसी भव में, नहीं तो सात-आठ भवों में मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यद्यपि उसने पूर्णतया परिग्रह त्याग नहीं किया है, तथापि आंशिक रूप से परिग्रह त्याग एवं इच्छा-परिमाण किया है, अतः उतने अंशों में वह जन्म-मरण के कष्टों से छूट जाता है, नीच गति का पथिक होने से बच जाता है, या तो वह सुगति में जाता है, या मोक्ष मार्ग का पथिक हो जाता है।

इच्छापरिमाण करके भी मर्यादा में रहते हुए पदार्थों के प्रति निर्ममत्व रहे, उनमें वृद्धि न करे तो वह परिग्रह से निर्लिप्त व्यक्ति शीघ्र ही अपना बेड़ापार कर लेता है। जैसे भरत चक्रवर्ती षट्खण्डाधिपति होते हुए भी राज्य-वैभव के प्रति

निर्ममत्व, निर्लेप-से रहते थे, इस कारण उन्हें शीशमहल में खड़े-खड़े ही केवलज्ञान हो गया था। नमिराज के पास समस्त राज्य सम्पदा थी, फिर भी वे निरासक्त होकर राज्य करते थे, इस कारण वे राजर्षि कहलाते थे और अपना आत्म-कल्याण भी शीघ्र ही कर सके थे।

इच्छापरिमाणव्रत का अर्थ और उद्देश्य

इन सब पूर्वोक्त पहलुओं को दृष्टिगत रखते हुए इच्छा परिमाण व्रत का अर्थ है—सांसारिक पदार्थों से सम्बन्धित अशुभ (निकृष्ट, अति और अनुचित) इच्छाओं को छोड़कर शुभ (उत्कृष्ट, और उचित दूसरों के हितों को हानि न पहुँचाने वाली) इच्छाओं को सीमित करना।

यह संकल्प करना कि मैं अमुक, इतने पदार्थों से अधिक की इच्छा नहीं करूंगा इच्छापरिमाणव्रत है। सम्पूर्ण अपरिग्रह व्रत का स्वीकार करने वाले को तो संसार के समस्त पदार्थों पर से इच्छा और मूर्च्छा का त्याग करना होता है, लेकिन इच्छा परिमाणव्रतधारक को संसार के समस्त पदार्थों पर से इच्छा-मूर्च्छा का त्याग नहीं करना पड़ता, उसे उन्हीं पदार्थों पर से इच्छा-मूर्च्छा का त्याग करना पड़ता है, जो पदार्थ महापरिग्रह में माने जाते हैं, या जिन पदार्थों की इच्छा निकृष्ट है, दूसरों के लिए घातक है, अनुचित है, बलबूते से बाहर है।

इच्छापरिमाणव्रत के ग्रहणकर्त्ता को इस बात का संकल्प करना होता है कि मैं इन-इन पदार्थों से अधिक पदार्थों पर स्वामित्व और ममत्व नहीं रखूंगा, न ही उन पदार्थों के अतिरिक्त किसी पदार्थ की इच्छा करूंगा। आंशिक रूप से परिग्रह से विरत होकर महान् परिग्रही न होने की जो प्रतिज्ञा ली जाती है, उसे भी इच्छा-परिमाणव्रत कहते हैं। इस व्रत को स्वीकार करने के बाद कुछ पदार्थों के सिवा शेष पदार्थों की ओर अपनी इच्छाओं का निरोध करना पड़ता है।

इच्छापरिमाणव्रत का उद्देश्य दुनियाभर के समस्त पदार्थों की विस्तृत इच्छाओं से अपने मन को खींचकर एक सीमित दायरे में कर लेना है।

इच्छापरिमाण में मर्यादा जितनी कम होगी, उतना ही दुःख एवं संसार-भ्रमण कम होगा। इसलिए इच्छापरिमाणकर्ता को विस्तीर्ण मर्यादा को संकीर्ण और अल्पतम करना है। क्योंकि उसका ध्येय तो एक दिन परिग्रह या इच्छा का सर्वथा त्याग करने का होता है। वह अपनी मंजिल तक तभी पहुँच सकता है, जब इच्छा-मूर्च्छा को न्यून से न्यूनतम कर लेगा।

यद्यपि सांसारिक पदार्थों का जितना भी त्याग किया जा सके, इच्छाओं को जितनी सीमित एवं नियन्त्रित की जा सके, उतना ही अच्छा है। परन्तु जहाँ श्रावक यह देखता है कि इच्छाओं को इतना अधिक सीमित करने पर गार्हस्थ्य जीवन निर्भर नहीं रहा है, वहाँ वह आवश्यकताओं और इच्छाओं का तालमेल बिठाता है।

जैसे एक व्यक्ति के पास पांच सौ रुपये हैं। अब वर्ष भर की आवश्यकता के अनुरूप मर्यादा न करके एक लाख रुपयों की मर्यादा करता है। वैसे तो इस मर्यादा में भी लाख रुपये से अधिक की इच्छा का त्याग हो जाता है, किन्तु ऐसा करना वर्तमान में तृष्णा और इच्छाओं का समुचित निरोध करना नहीं है। इसलिए प्रशस्त मार्ग यही है कि आवश्यकताओं के साथ इच्छाओं की संगति बिठा कर मर्यादा की जाय।

निष्कर्ष यह है कि आवश्यकता के अनुरूप इच्छाओं को घटाया जाय, परन्तु यथार्थ आवश्यकता का सम्यक् पर्यवेक्षण न करके, इच्छाओं के अनुरूप आवश्यकताएँ बना ली जाएँ तो वह मार्ग-प्रशस्त नहीं होता। श्रावक का उद्देश्य इच्छा और मूर्च्छा के साथ-साथ आवश्यकता में भी कटौती करना है, तभी वह एक दिन निर्ग्रन्थ-निस्परिग्रह की मन्जिल पर पहुंच सकेगा। उसका उद्देश्य इच्छाओं की मर्यादा को बढ़ा कर वर्तमान स्थिति से पीछे हटना नहीं है, अपितु इच्छाओं की मर्यादा को क्रमशः घटाते हुए आगे बढ़ना है।

आशा है, आप इच्छापरिमाणव्रत के हृदय को समझ चुके होंगे और इसी पथ पर चल कर अपने जीवन को उज्ज्वल बनाने का प्रयास करेंगे। ☆

11

परिग्रह : हानि, परिमाणविधि, अतिचार

☆

पाप और सांप दोनों ही जगत् में हानिकारक माने जाते हैं, दोनों से बच कर चलना विवेकी मनुष्य के लिए अनिवार्य है। दोनों ही त्याज्य हैं, इसलिए उनका संग न करना ही उचित है।

परिग्रह भी एक प्रकार का पाप है। क्योंकि वह मानवजीवन को पतन के गहरे गर्त में डाल देता है। उसकी विवेक-बुद्धि, विचार-शक्ति और सत्यशोधन की रुचि को नष्ट कर देता है।

'परिग्रह पाप है', इस बात को आज समाज में से विस्मृत कर दिया है। जो जितना अधिक धन-वैभव से सम्पन्न होता है, उसे उतना ही बड़ा आदमी माना जाता है। बड़े आदमी का मतलब ही आज अधिक परिग्रहसम्पन्न हो गया है। उसे ही पुण्यवान समझा जाता है, जिसके पास अपार धन हो। यह कैसी विचित्र बात है कि धन की आकांक्षा रख कर रात-दिन धन की धुन में बहने वाला, धन के ही सपने देखने वाला येन-केन-प्रकारेण स्याह-सफेद करके धन कमाने वाला व्यक्ति आज पुण्यात्मा माना जाता है, और जिसके पास धन नहीं है, किन्तु सच्चरित्र है, सेवाभावी है, उसे लोग अकसर पुण्यहीन कह देते हैं, कदाचित् उसके मुंह पर उसे पुण्यहीन नहीं कहते हैं तो भी अपने मनमस्तिष्क में उसे वैसा समझते हैं। उसे किसी सभा, सोसाइटी या सार्वजनिक संस्था का सभापति, अध्यक्ष या प्रमुख बनाने में प्रायः हिचकिचाते हैं और उस परिग्रहसम्पन्न को, जिसने गरीबों का चूरा कर, उनके श्रम का शोषण करके पैसा कमाया है, उसे ही प्रायः उच्चासन या अग्रासन दिया जाता है, उसे ही उच्च पद पर अधिष्ठित किया जाता है। पुण्य के ४२ भेदों में धन का नामोनिशान भी नहीं आता, फिर भी पता नहीं, धनसम्पन्न को किस आधार पर पुण्यवान् माना जाता है ? धन मिलना कोई पुण्य नहीं है, अपने आप में। मनुष्य-जन्म मिलना ही पुण्य का फल है। लेकिन आज तो परिग्रह—धन के संग्रह को ही पुण्य कहा जाता है। परिग्रह को शास्त्रकार तो पाप (पापास्रव) कहते हैं। परिग्रह के आसपास भी कई पाप लगे हुए हैं। जहाँ तक मूल पाप को नहीं छोड़ा जाएगा, वहाँ तक दूसरे पाप कैसे समाप्त हो सकते हैं ?

इसीलिए तो भगवान् ने पांच आस्रवों को मूल पाप बताया है, और सर्वप्रथम इन पापों के द्वार बंद करने के लिए पांच मूलगुण बताए हैं। ये ही पाँच मूलगुण साधु के लिए महाव्रतों के रूप में और गृहस्थ श्रावक के लिए अणुव्रतों के रूप में बताए हैं। इन पांचों में से पांचवां मूल गुण परिग्रहपरिमाणव्रत बताया है।

अगर आप इन ५ मूलगुणों—मूल अणुव्रतों को छोड़कर अगर उपवास, पौषध सामायिक आदि बाह्य क्रियाएँ करें और उतने से सन्तोष मान लें तो उससे कोई आत्मिक लाभ होना सम्भव नहीं है।

अगर कोई व्यक्ति वृक्ष की जड़ों में पानी सींचने की अपेक्षा उसके पत्तों और शाखाओं को ही सींचता रहे तो क्या इससे वह वृक्ष हरा-भरा रह सकता है ? कदापि नहीं। इसी प्रकार यदि आप मूलव्रतों का पालन करने के बजाय केवल उत्तर व्रतों (सामायिक पौषध, देशावकाशिक आदि धर्मक्रियारूप उपव्रतों) का ही पालन करते रहेंगे तो उससे धर्मरूपी वृक्ष को पुष्पितफलित नहीं रख सकेंगे।

एक आचार्य ने बहुत ही मार्मिक शब्दों में इस सम्बन्ध में चेतावनी दी है—

यमानभीक्ष्णं सेवेत, न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो, नियमान् केवलान् भजन्॥

—विवेकी साधक यमों (मूलव्रतों) का आचरण प्रतिदिन बार-बार करे, किन्तु नियमों (उत्तरव्रतों) का आचरण नित्य नहीं, कभी-कभी करे। जो साधक यमों का आचरण प्रतिदिन नही करता, वह पतित हो जाता है, और वह भी भटक जाता है, जो केवल नियमों का आचरण करता है।

यम यहाँ मूलव्रतों के अर्थ में है, और नियम है उत्तरव्रतों के अर्थ में। जब-जब मूलव्रतों (यमों) की उपेक्षा कर दी जाती है और केवल उत्तरव्रतों (नियमों) को मुख्यता दे दी जाती है, तब-तब धर्म और धार्मिक दोनों निस्तेज हो जाते हैं। जीवन में जब यम मुख्य बन जाते हैं और नियम गौण, तभी धर्म और धार्मिक का तेज बढ़ता है। आज धर्म की शक्ति इसलिए क्षीण हो रही है कि उसमें मूलव्रतों की अनिवार्यता समाप्त कर दी है, उत्तरव्रतों को मुख्यता दे दी गई है। वे अनिवार्य बन गए हैं। वास्तव में नियम का उपयोग यम के होने पर ही है। अपरिग्रह या परिग्रह परिमाण यम (मूलव्रत) है। आज इस मूलव्रत की उपेक्षा करके परिग्रह को बहुत इकट्ठा किया जा रहा है, दूसरी ओर उत्तरव्रतों (नियमों) पर जोर दिया जा रहा है। अतः यह याद रखिये कि परिग्रह का पाप छोड़े बिना अथवा परिग्रह की मर्यादा किये बिना धर्मक्रियाओं के रूप में उत्तरव्रतों का पालन राख पर लेपन करने के समान है।

पापों का केन्द्र : परिग्रह

यह तो सर्वविदित है कि परिग्रह पापबन्ध का कारण है। यह पाँचवाँ आश्रवद्वार है। पहले के चार आश्रवों को पोषण प्रायः इस परिग्रह-आश्रव से मिलता

है। भगवतीसूत्र के दूसरे शतक में गणधर इन्द्रभूति गौतमस्वामी के प्रश्न के उत्तर में श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है—"गौतम ! इच्छा, मूर्च्छा और गृद्धि (परिग्रह) से क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों का तादात्म्य सम्बन्ध है। जहाँ परिग्रह होता है, वहाँ क्रोधादि चार कषाय अवश्य होते हैं, जहाँ क्रोधादि चार कषाय होते हैं, वहाँ परिग्रह आदि पाप अवश्य होते हैं। इस प्रकार परिग्रह क्रोध, मान, माया और लोभ इन पापानुबन्ध चतुष्टय का जनक है। परिग्रह समस्त पापों का केन्द्र भी है। समस्त पाप परिग्रह से उत्पन्न होते हैं।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है—"परिग्रह के लिए लोग हिंसा करते हैं, असत्य-भाषण करते हैं, बड़ी-बड़ी चोरियाँ-डकैतियाँ परिग्रह के कारण होती हैं। मिलावट, तौलनाप में गड़बड़ी, बेईमानी, जालसाजी, धोखेबाजी, गिरहकटी आदि सब पाप भी परिग्रह को लेकर किये जाते हैं, परस्त्रीगमन और पर-नारीहरण भी परिग्रह के लिए करते हैं, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि कष्ट भी लोग परिग्रह के लिए सहते हैं, परिग्रह के कारण सम्बन्धित व्यक्तियों से मनुष्य क्रोध करता है, लोभ करता है, द्रोह और कपट करता है, अभिमान करता है, कलह भी करता है, दम्भ भी करता है, दूसरे पर झूठा दोषारोपण भी परिग्रह के लिए करता है, दूसरे को अपशब्द कहकर अपमानित भी परिग्रह के लिए किया जाता है। स्वयं भी अपमानित होता है।

मनुष्य परिग्रह के कारण सदैव चिन्तित, आतंकित, त्रस्त एवं भयभीत रहता है। व्यक्ति दूसरों के हृदय को आघात पहुँचाता है, वह भी परिग्रह के लिए। इस प्रकार शास्त्रकारों ने समस्त पापों का उत्पत्ति स्थान परिग्रह को बताया है। आप भी संसार-व्यवहार में यह अनुभव करते होंगे कि संसार में जितने भी पाप हैं, वे प्रायः परिग्रह को लेकर होते हैं। कोई भी ऐसा पापकर्म न होगा, जो परिग्रह के निमित्त से न होता हो। अपनी निकृष्ट इच्छाओं, गलत महत्वाकांक्षाओं एवं वस्तुओं के प्रति आसक्ति तथा मोह-ममता को लेकर संसार में बड़े-बड़े पाप होते हैं। इसलिए जहाँ इच्छा-मूर्च्छा नहीं होती या सीमित होती है, वहाँ प्रायः पापकर्म नहीं होता।

हिंसा को लीजिए। संसार में परिग्रह के लिए लोग बड़ी हिंसा—मानवहत्या तक कर बैठते हैं। पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति के कारण, सत्ता, सम्पत्ति, पद-प्रतिष्ठा और नारी के लिए संसार में बड़े-बड़े घमासान युद्ध हुए हैं। आज भी होते देखे जाते हैं। कोणिक ने जो अपने मातामह चेटक राजा के साथ शिलाकंटक महायुद्ध छेड़ा था, वह किसलिए ? हार और हाथी के परिग्रह को लेकर ही तो ! परस्त्री सती (मदनरेखा) को अपने अधीन (परिगृहीत) करने के लिए मणिरथ राजा ने अपने भाई युगबाहु की कपटपूर्वक हत्या कर दी थी। औरंगजेब ने अपना सिंहासन सुदृढ़ करने के लिए अपने पिता शाहजहाँ को कैदखाने में डाल दिया था, और अपने भाइयों को बुरी मौत मरवा डाला था। रावण ने राजा रामचन्द्रजी की पत्नी सीता-

सती को अपने कब्जे में करने के लिए भयंकर युद्ध किया था, किसलिए ? स्त्रीरूप परिग्रह के लिए ही तो ! परिग्रह के लिए मनुष्य मनुष्य की हत्या कर डालता है। इतना ही नहीं, परिग्रह के लिए अपने निकट सम्बन्धी माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी, साले, ससुर, सास, मामा, मौसी आदि की हत्या करते भी मनुष्य देर नहीं लगाता। कौरव-पाण्डवों के बीच महाभारत संग्राम हुआ था, जिसमें अगणित सेना का ध्वंस हो गया, वह राज्य लिप्सारूप परिग्रह के लिए ही तो हुआ था ! इसी प्रकार धन की आशंका से बड़े-बड़े महन्तों और जागीरदारों की हत्या कर दी गई। पिछले दो विश्वयुद्ध हुए थे, जिसमें लाखों मनुष्य गाजरमूली की तरह काट दिये गए; हिरोशिमा और नागासाकी शहरों पर जो अमेरिका द्वारा बम वर्षा की गई थी, जिसके कारण लाखों निर्दोष निरपराध लोगों के प्राण गए, क्या यह लोभवृत्ति (परिग्रह) से प्रेरित नहीं थी ? युद्ध में मनुष्य हत्या करने में योद्धाओं को किसी प्रकार की घृणा न हो, इसके लिए राजा लोग उन्हें शराब पिलाते थे, उन्हें धार्मिक शिक्षा से वंचित रखते थे, मांस खिलाते थे, और किसी भी सुन्दरी के साथ व्यभिचार के लिए उन्हें खुल्ली छूट दे देते थे, ताकि वे मन लगाकर युद्ध कर सकें। पश्चिमी पाकिस्तान ने बंगला देश के निर्दोष नर-नारियों पर जो अमानुषिक अत्याचार किये, सरेआम कत्ल की, स्त्रियों के साथ बलात्कार किया, बुद्धिजीवियों को गोलियों से भून डाला, क्या यह हिंसाकाण्ड परिग्रह के सिवाय और किसी के लिए हुआ था ? पुराने तथाकथित धर्मग्रन्थों में प्रलोभन दिया गया कि सैनिकों को युद्ध में मरने से वीरगति प्राप्त होती है, स्वर्ग की देवांगनाएँ उनके लिए वरमाला लिये खड़ी रहती हैं। ये सब हथकंडे परिग्रह के लिए ही तो हुए ! ये तो वे हिंसाएँ हैं— जिनके करने को तथाकथित समाज, राष्ट्र या धर्मसम्प्रदाय घृणा की दृष्टि से नहीं देखता था, निन्दनीय नहीं मानता था, बल्कि ऐसी हिंसा करने वाले को 'वीर' 'बहादुर' आदि पद दिया जाता था।

अब आइए उस हिंसा की ओर, जिसे समाज द्वारा निन्द्य, सरकार द्वारा दण्डनीय और धर्म द्वारा घृणित समझी जाती है। चोर, डाकू, परस्त्रीगामी व्यभिचारी, लुटेरे, हत्यारे आदि साहसिक लोग भी परिग्रह के लिए नरहत्या करते हैं। परिग्रह के लिए ऐसे लोग बात की बात में मनुष्य को मौत के घाट उतार देते हैं। यहाँ तक कि ऐसे साहसिक लोग परिग्रह के लिए स्वजनों तक की हत्या कर डालते हैं। आत्महत्या का घोर पाप भी परिग्रह के लिए होता है।

मनुष्य परिग्रह के लिए अपने शरीर को भी कष्ट में, संकट में, और खतरे में डाल देता है। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, अनिद्रा, ऊबड़-खाबड़ जगह में निवास, रात-दिन भय, आतंक, चिन्ता, मन में उद्विग्नता, आदि सब कष्ट भी मनुष्य परिग्रह के लिए सहकर शरीर को सादा, नियमित भोजन, निरापद स्थान, समय पर शयन, शीत, ताप, वर्षा आदि से शरीर की रक्षा के लिए उपाय आदि सुख-साधनों से वंचित

रखता है। अधिक गरिष्ठ, प्रकृति विरुद्ध, भोजन, अनियमित शयन, अनिद्रा आदि कष्ट देकर शरीर के प्रति द्रोह परिग्रह के लिए किया जाता है। मिथ्या आहार-विहार, अनियमित शयन-जागरण आदि सब शरीर के प्रति द्रोह होता है।

परिग्रह के लिए मनुष्य अपने सहोदर भाई-बहन, सगे माता-पिता, दादा-दादी, नाना-मामा, मित्र, स्वजन एवं पुत्र-पुत्री तक से ही द्रोह कर बैठता है। जिन माता-पिता के मनुष्य पर अनन्त उपकार थे, तो क्या उन सम्राट् श्रेणिक और महारानी चेलणा के प्रति मात्र सिंहासन (राज्य) पाने की लिप्सा से कोणिक ने द्रोह नहीं किया था। सम्राट् श्रेणिक को तो उसने पींजरे में बन्द कर दिया था। फिर अपने मातामह से, भाइयों से भी केवल हार और हाथी के परिग्रह के लिए द्रोह कर दिया था। कंस ने अपने पिता उग्रसेन को परिग्रह के लिए ही तो कारागार में डाला था। कई नराधमों ने तो अपनी जन्मदात्री माता को परिग्रह के लिए परलोक धाम पहुँचा दिया था।

परिग्रह के लिए माता-पिता द्वारा अपने पुत्रों या पुत्रियों के वध के उदाहरण भी इतिहास में अनेक मिल सकते हैं। पुत्र और पुत्री में जो भेदभाव किया जाता है, वह परिग्रह की दृष्टि से ही तो किया जाता है। पुत्री का जन्म होते ही माता-पिता का मुख क्यों मुर्झा जाता है? क्योंकि उसको धन देना पड़ेगा। इसी कारण से प्राचीन-काल में राजपूत लोग जन्म लेते ही पुत्री का गला घोंट कर मार डालते थे। परिग्रह के लिए पुत्र या पुत्री को बेच दिया जाता है। पुत्र वाला पुत्रीपक्ष के लोगों से मुँह मांगा धन मांगता है, दहेज, तिलक, आदि के रूप में। परिग्रह के लिए माता-पिता अपनी पुत्री के सुख-दुःख की चिन्ता न करके बूढ़े या अनमेल वर के साथ उसका गठ-बन्धन कर देते हैं।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की माता चूलनी ने विषयभोग में मूर्च्छा रूप परिग्रह के लिए ही अपने पुत्र ब्रह्मदत्त को लाक्षागृह में जलाकर समाप्त कर डालने का कुकृत्य किया था।

परिग्रह के लिए भाई-भाइयों के परस्पर युद्ध के तो अनेक उदाहरण मिलते हैं। औरंगजेब ने दारा, शूजा और मुराद नामक भाइयों को परिग्रह के लिए मरवा डाला था। भरत चक्रवर्ती ने राजरूप परिग्रह के लिए ९८ भाइयों की स्वाधीनता छीन लेने का प्रयत्न किया था। कौरवों और पाण्डवों की लड़ाई परिग्रह के लिए ही हुई थी। दोनों भाई-भाई ही थे।

इसी प्रकार परिग्रह के लिए बहन की हत्या या द्रोह भाई द्वारा या भाई की हत्या या द्रोह बहन द्वारा होने के भी अनेक उदाहरण हैं। मित्रद्रोह भी परिग्रह के लिए होता है। परिग्रह के लिए मित्र अपने गाढ़ मित्र के साथ विश्वासघात कर देता है। परिग्रह के लिए पत्नी द्वारा पति के प्रति तथा पति द्वारा पत्नी के प्रति द्रोह के उदाहरणों की भी कमी नहीं है। सूरीकान्ता रानी ने विषयभोगों के प्रति मूर्च्छारूप

परिग्रह के लिए ही अपने पति राजा प्रदेशी को भोजन में विष मिला कर हत्या कर डाली थी। इसी प्रकार के द्रोह पतियों के द्वारा पत्नियों के साथ हुए हैं। कई नर-पिशाचों ने तो अपनी, सीधी, सरल, वफादार पत्नी को कुरूप समझकर या अपनी दूसरी प्रियतमा (प्रेमिका) से स्वच्छन्दाचार में बाधक समझकर विष देकर या धोखे से मरवा डाली।

समाज एवं जाति के प्रति द्रोह भी परिग्रह के लिए किया जाता है। मनुष्य लोभ के वश होकर दूसरे धर्म-सम्प्रदाय में, दूसरी जाति में चला जाता है। सुख-सुविधाओं से आकृष्ट होकर धर्मान्तर, जात्यन्तर या सम्प्रदायान्तर करता है, यह सब परिग्रह से प्रेरित होकर ही। कुछ लोगों से रिश्वत खाकर या प्रलोभन के चक्कर में आकर समूची जाति या सम्प्रदाय के प्रति द्रोह करते परिग्रहवृत्तिग्रस्त मनुष्य नहीं चूकता। परिग्रह के लिए देशद्रोह भी अनेक लोग करते देखे-सुने जाते हैं। आज धन सत्ता या पद के लोभ (परिग्रह) में आकर मनुष्य दलबदल करता है, अपने राजनैतिक दल के प्रति विश्वासघात करके उसे छोड़ देता है। कई लोग देशद्रोह करते हैं, वह भी परिग्रह के लिए ही। परिग्रह के लिए ऐसे-ऐसे भयंकर कुकृत्य किये जाते हैं, जिनसे समाज, राष्ट्र और धर्मसम्प्रदाय का अहित हो।

शासनकर्ता मंत्री आदि राष्ट्र एवं राज्य के रक्षक एवं हितैषी माने जाते हैं, लेकिन वे भी परिग्रह (रिश्वत, भ्रष्टाचार, प्रलोभन या किसी स्वार्थ) से प्रेरित होकर जनता के प्रति द्रोही बन जाते हैं। जनता को डरा-धमका कर उनसे रुपये ऐंठ लेते है, जनता पर नये-नये अनुचित टैक्स लगाकर या व्यर्थ हैरान करके संकट में डालते हैं। ये सब जनद्रोह प्रायः परिग्रह के लिए होते हैं। फिर वह चाहे सत्ता, धन, पद या और किसी पदार्थ के प्रति आसक्तिरूप परिग्रह से प्रेरित होकर जनद्रोह या राष्ट्रद्रोह करते हों। जनता भी राष्ट्र के प्रति द्रोह करती है—कर चोरी, तस्कर व्यापार, राष्ट्रीय कानूनों का उल्लंघन, खाद्य पदार्थों में व दवाइयों में मिश्रण, नाप-तौल में गड़बड़ी, रिश्वत देकर अनुचित अनैतिक कार्य कराना आदि के रूप में। यह भी परिग्रह के लिए ही वह करती है। परिग्रह का भूत जिस पर भी सवार हो जाता है, वह कोई रिश्ता-नाता नहीं देखता, अपने राष्ट्र, जाति, धर्मसम्प्रदाय आदि का विचार नहीं करता, न धर्म-अधर्म का या पुण्य-पाप का ही कोई विचार करता है। जैसे नीतिकार कहते हैं—'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किंचित्'—भूखे आदमी को कुछ भी नहीं सुहाता, उसी प्रकार जो परिग्रह का भूखा है, धन का पिपासु है, उसे कुछ भी नहीं सुहाता और न ही कोई अच्छी बात सूझती है। भर्तृहरि के शब्दों में—

जातिर्यातु रसातलं, गुणगणस्तत्राप्यधो गच्छता—
च्छीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः संदह्यतां वह्निना।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतन्वर्थोऽस्तु नः केवलम्,
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे॥

—जाति चाहे रसातल में चली जाए, समस्त गुण चाहे रसातल से भी नीचे चले जांय, शील पहाड़ से गिरकर चूरचूर हो जाय, स्वजन स्नेही चाहे आग में जल जांय, वैरिणी वीरता पर शीघ्र ही वज्र गिर पड़े तो कोई आपत्ति नहीं, हमें तो केवल धन चाहिए। हमारा धन सुरक्षित रहे, वह नष्ट न हो, क्योंकि उस एक धन के बिना मनुष्य के सारे ही गुण तिनके के समान व्यर्थ हैं।

सारांश यह है कि परिग्रह के लिए मनुष्य धर्म, राष्ट्र, जाति और यहाँ तक कि परमात्मा के प्रति भी द्रोह कर लेता है। धर्म के नाम पर अनीश्वरवाद की स्थापना और प्ररूपणा करने को मनुष्य उद्यत हो जाता है, एकमात्र पद, सत्ता, प्रतिष्ठा, सम्पत्ति आदि की इच्छामूर्च्छा से प्रेरित होकर। परिग्रह से प्रेरित होकर मनुष्य छल-कपट, व्यभिचार, अन्याय, अत्याचार, दुर्व्यसन, मद्य-मांस-मैथुन आदि अनाचार को भी धर्म का रूप दे देता है। परिग्रह के खप्पर को भरने के लिए कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को अपनाने से भी मनुष्य नहीं हिचकिचाता। धर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन भी परिग्रह के लिए किया जाता है। परिग्रह के लिए मांसभक्षण, मद्यपान, द्यूतकर्म, चोरी, व्यभिचार, निन्दा-चुगली आदि सब दुर्व्यसनों का सेवन कराने को मानव उद्यत हो जाता है। परिग्रह के लिए दम्भ, गुरुडम, तथाकथित धर्मध्वजी साधुवेश, मायाजाल, तिकड़म आदि रचे जाते हैं। विश्वासघात-सा भयंकर पाप, जासूसी, व्यभिचार-सेवन द्वारा गुप्तचरी भी परिग्रह के लिए की जाती है। न्यायाधीश कहलाने वाले लोग भी परिग्रहवश न्याय के नाम पर अन्याय करते हैं। यहाँ तक कि समस्त ईश्वरीय नियम विरोधी कार्य परिग्रह के लिये किये जाते हैं।

निष्कर्ष यह है कि संसार में जितनी भी मानव हिंसा होती है, उन सबके कारणों की गहराई से छानबीन करने पर पता लगेगा कि वह एक या दूसरे परिग्रह निमित्त से होती है। इच्छा-मूर्च्छा से प्रभावित मानव के लिए नर-हिंसा करने में कोई विचार नहीं आता कि ये मेरे भाई या सम्बन्धी हैं, मेरे मित्र हैं या सहायक-सेवक हैं, मैं इनकी हत्या क्यों करूँ या कराऊँ ?

नर-हिंसा के समान मूक पशु-पक्षियों की हिंसा भी प्रायः परिग्रह के लिए होती है। बेचारे दीन, मूक, तृण-वनस्पति-चारी, स्वतंत्र विचरण करने वाले और किसी का कोई अहित न चाहने या करने वाले पशु-पक्षियों को भी मानव किसी न किसी पदार्थ की इच्छा या मूर्च्छा से प्रेरित होकर ही मारता है, उनका शिकार करता है, उन्हें निर्दयतापूर्वक पीटता-सताता है, उन पर बलबूते से अधिक बोझ लाद देता है, कत्लखानों या मांस के केन्द्रों में उनका वध निर्दयतापूर्वक करता है, उनका रक्त, मांस, हड्डियाँ, चर्बी दाँत, चमड़ा आदि सबको बेच डालता है, अपने मनोविनोद के लिए या शृंगार-प्रसाधन के लिए उन्हें बंदूक से मार डालता है। यदि इनमें से किसी पदार्थ की चाह न हो तो पशु पक्षियों को मनुष्य क्यों मारता ? जो भी पशु-पक्षियों की हिंसा करता है, वह ऊपर बताए हुए कारणों से ही करता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि पशु

पक्षियों की हिंसा तथा अन्य जीवों की हिंसा भी परिग्रह के लिए की जाती है। आप गहराई में उतर कर देखेंगे तो पता लगेगा कि छोटे या बड़े किसी भी प्राणी की हिंसा एक या दूसरे प्रकार से किसी न किसी पदार्थ के प्रति इच्छा या मूर्च्छा (परिग्रह) से प्रेरित होकर होती है। आरम्भ-समारम्भ आदि से होने वाली हिंसा भी परिग्रह के लिए ही होती है। महारम्भ या विशेषारम्भ के रूप में होने वाली हिंसा भी प्रायः परिग्रह के लिए होती है। बड़ी-बड़ी मिलों और कारखानों से जो काम होता है, वह काम प्रकारान्तर से छोटे-छोटे अल्पारम्भी उद्योग-धन्धों से भी हो सकता और अनेकों को रोटी-रोजी मिल सकती थी, किन्तु बढ़ी हुई इच्छा और तृष्णा वाले लोग बड़ी-बड़ी मिलें या बड़े-बड़े कारखाने स्थापित करके उन कार्यों को करते हैं, जिनसे अनेकों को होने वाला लाभ एक या कुछ व्यक्तियों को होता है। ऐसे विशेषारम्भ या महारम्भ से अधिकांश श्रमिक बेकार हो जाते हैं, जनता में बेकारी और बेरोजगारी बढ़ती है, सार्वजनिक कला नष्ट हो जाती है, छोटे-छोटे अनेक उद्योग-धंधों वाले बेकार हो जाते हैं, महारम्भ होता है, लेकिन परिग्रहग्रस्त मानव इन बातों का कोई विचार नहीं करता।

मनुष्य असत्य भी परिग्रह से प्रेरित होकर बोलता है, असत्य आचरण, या झूठा लेख, झूठा दस्तावेज, आदि सब असत्य व्यवहार परिग्रह से प्रेरित होकर करता है। झूठ चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल, मनुष्य किसी न किसी महत्त्वाकांक्षा या वासना से प्रेरित होकर बोलता है। परिग्रह (चाहे पद, प्रतिष्ठा सत्ता, या धन अथवा किसी पदार्थ की इच्छा-मूर्च्छा) से प्रभावित होकर बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी शास्त्रों के पाठ और अर्थ को बदल देते हैं। परिग्रह के लिए असलियत छिपाकर ढोंग, दम्भ, कृत्रिमता या दिखावा (जो कि असत्य का रूप है) किया जाता है। झूठी साक्षी प्रदान, झूठी बहियों का निर्माण, सत्य बात का गोपन, आशय में परिवर्तन, कपटमय वाग्जाल आदि सब असत्य व्यवहार परिग्रह के लिए किया जाता है। परिग्रह के लिए वर-कन्या सम्बन्धी झूठ बोला जाता है, पशु सम्बन्धी असत्य, भूमि सम्बन्धी असत्य, धरोहर के सम्बन्ध में इन्कार आदि असत्य बोला जाता है। इस प्रकार असत्य सम्बन्धी पाप भी परिग्रह के लिए किया जाता है।

चोरी, बेईमानी या ठगी तो परिग्रह के लिए होती ही है। यह तो स्पष्ट है कि जितने भी बेईमानी या चोरी से सम्बन्धित दुष्कर्म हैं, वे सब परिग्रह के लिए होते हैं।

इसी प्रकार वेश्या, कुलटा या पेशेवर स्त्रियाँ तो सरासर परिग्रह के लिए कसब कमाती हैं, अपना शरीर बेचती हैं। आजकल कई व्यभिचार एवं अनाचार के केन्द्र भी खोले जाते हैं, जो सुन्दर स्त्री-पुरुषों से व्यभिचार करा कर प्रचुर धन कमाते हैं। स्त्री पुरुष का वासना-सेवन भी मैथुनेच्छा या पुत्रैषणा रूप परिग्रह के लिए होता है।

इस तरह चारों वे पापाश्रव, जो परिग्रह से पहले के चार आश्रव द्वार माने जाते हैं, परिग्रह के लिए ही प्रायः होते हैं।

यदि परिग्रह का पाप न हो तो उपर्युक्त चारों पापों से भी छुटकारा हो सकता है। इसलिए यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है कि परिग्रह सभी पापों का मूल है, सभी पापों का केन्द्र है, तमाम अनर्थों की जड़ है। सुज्ञ श्रावक को परिग्रह के पाप से बचने का सर्वप्रथम प्रयत्न करना चाहिए।

दोषों का आगार : परिग्रह

जहाँ परिग्रह होता है वहाँ अनेक दोष आकर मनुष्य में जमा हो जाते हैं। एक बार वे दोष प्रविष्ट हो जाते हैं, फिर उन दोषों को निकालना दुष्कर हो जाता है। जिसके जीवन में परिग्रह आ जाता है उसमें दूसरों के प्रति ईर्ष्या भाव बना रहता है। वह सदैव मन में कुढ़ता रहता है, और उसकी इच्छा यही रहती है कि दूसरा, मेरे से आगे क्यों बढ़ गया ? उसके पास इतना धन क्यों हो गया ? इस प्रकार की ईर्ष्या की जलन से वह दूसरों के गिरने, समानता न होने आदि की दुर्भावना करता रहता है। वह दूसरों का अहित ही चाहता है। किसी भी अप्राप्त पदार्थ को वह तभी चाहेगा, जबकि वैसा पदार्थ दूसरे के पास न हो। दूसरों के पास वैसा पदार्थ देखकर तो उसके दिल में आग लग जाती है, उसे अपने पास वाले पदार्थ में सुख नहीं मालूम होता। इसमें क्या है ? ऐसा पदार्थ तो अमुक व्यक्ति के पास भी है, इसमें क्या विशेषता है ? इस प्रकार के दुर्विचारों से वह घिरा रहता है।

परिग्रही व्यक्ति में प्रायः मानवदया या जीवदया के कार्य के प्रति अरुचि हो जाती है। अत्यधिक परिग्रहासक्त मनुष्य के हृदय में कठोरता और निर्दयता आ जाती है। अगर उसमें निर्दयता और कठोरता न हो और वास्तव में दया और कोमलता हो तो वह मनुष्यों को दीन-हीन दुःखी देखकर भी अपने पास ममत्वपूर्वक अधिक संग्रह नहीं रख सकता।

परिग्रही व्यक्ति अपने जरा-से कष्ट को बहुत बड़ा समझता है, जबकि दूसरे के महान् दुःख की भी उसे चिन्ता नहीं होती। परिग्रही प्रायः यही चाहता है कि मेरे कार्य में कोई रुकावट न आए, दूसरे चाहे मरें या जीएं, उसे कोई मतलब नहीं। कई बार परिग्रहासक्त व्यक्ति दूसरों को संकट में पड़े देखकर सोचता है—इसके जैसे कर्म हैं, उनका फल वह भोग रहा है। हम क्या करें ? इसके जैसे भाग्य। हम दूसरे का क्या कर सकते हैं। परन्तु वैसा ही कष्ट जब अपने ऊपर आ पड़ता है, तब इस प्रकार कहकर चुपचाप नहीं बैठ सकता। तब तो बौखला उठता है, तब कर्मों पर नहीं छोड़ता, वह परिवार वालों को परेशान कर देता है। अनेक उपचार कराता है। मेरे लिए दूसरे लोगों को कितना कष्ट होता है ? दूसरे कितने मानसिक व्यथा से आक्रान्त हैं ? इस प्रकार का चिन्तन उसमें बिलकुल नहीं होता। वह आदमी परिग्रह के भँवर-जाल में ऐसा स्वार्थी बनकर फंसा रहता है कि उसे दूसरों के सुख-दुःख की जरा भी परवाह नहीं होती। बल्कि कई लोग तो इतने क्रूर होते हैं कि दूसरों को अत्यन्त कष्ट में पड़े देखकर वे नरपिशाच प्रसन्न होते हैं। रोम का क्रूर सम्राट नीरो इसी प्रकार

का पक्का स्वार्थी था। वह फिडल बजाता और अपनी मस्ती में रहता था, दूसरों के दुःख की उसे जरा भी चिन्ता नहीं थी। ऐसे सत्ता लोलुप परिग्रहियों में इस प्रकार की क्रूर प्रवृत्ति होती है।

ऐसा परिग्रहासक्त कदाचित् किसी दीन-हीन दुःखी व्यक्ति को सहायता के नाम पर कुछ दे भी दे तो प्रायः ऐसा नहीं समझा जाता कि उसने दया या करुणा से प्रेरित होकर यह सहायता दी है, बल्कि अधिकांशतः ऐसे लोग प्रसिद्धि पाने, अपनी प्रशंसा या वाहवाही सुनने, लोगों को दिखाने या अपनी गणना दानियों में करने, अखबारों में नाम फैलाने के लिए संचित या प्राप्त पदार्थ का एक अंश दे देता है। इसे दया या सहृदयता कहना उचित नहीं। अगर उसमें दया और सहृदयता हो तो वह अपने पास परिग्रह संचित करने के लिए किंचित् भी कष्ट नहीं दे सकता और न ही वह स्वयं अधिक रख कर दूसरों को उस वस्तु के अभाव में तड़फा सकता है।

परिग्रहासक्त व्यक्ति में अभिमान का दुर्गुण तो बहुत जल्दी आ जाता है। वह स्वयं का अधिकार जताने के लिए दूसरे का अपमान करते देर नहीं लगाता। परिग्रहरत मनुष्य को समाज की ओर से उच्च आसन, उच्च पद या प्रतिष्ठा मिल जाने से वह अपने को बड़ा आदमी समझने लगता है, इस अभिमान के कारण उसका मेल सामान्य जनता के साथ नहीं खाता, न उसका कोई मित्र ही बनना चाहता है।

परिग्रहासक्त व्यक्ति दूसरों के साथ द्रोह करने में भी नहीं हिचकिचाता। जहाँ द्रोह होता है, वहाँ प्रेम या मैत्री भाव टिक नहीं सकते। अतः परिग्रह प्रेम, स्नेह, मैत्रीभाव, आत्मीयता, सहृदयता या सहानुभूति के आग लगाने वाला है।

यह एक परम सत्य है कि जो जिसका अहर्निश ध्यान करता है, वह वैसा ही बन जाता है। आत्मा चेतन है और सांसारिक पदार्थ जड़ हैं। किन्तु जब चेतन आत्मा रात-दिन जड़-पदार्थों का ही चिन्तन-मनन, ध्यान करता है, अतः उसमें जड़ता आजाए तो कोई अत्युक्ति नहीं। इसके अतिरिक्त आत्मा जड़ दृश्य पदार्थों का ध्यान करने से स्वयं—द्रष्टा को भूल जाता है। वह अज्ञानवश कभी यह विचार भी नहीं करता कि मैं द्रष्टा होकर दृश्य जड़ पदार्थों में क्यों अपने आप को खो बैठा ?

इसके साथ ही सांसारिक पदार्थों के प्रति इच्छा-मूर्च्छा रखने वाला आत्मा, सांसारिक भौतिक पदार्थों को अत्यधिक महत्त्व देता-देता आत्मा और उसके गुणों की उपेक्षा या अवज्ञा कर देता है। रात-दिन सांसारिक जड़-पदार्थों के प्रति अनुराग के कारण वह प्रतिष्ठा भी उसी को देता है, जिसके पास भौतिक कलदारं हो, या सांसारिक पदार्थ अधिक हो। परिग्रह के प्रति आकर्षण होना ही अनर्थ का मूल है। जब तक मात्र धन के कारण धनिक को सम्मान मिलता रहेगा, तब तक मानव के हृदय से द्रव्य-लोभ दूर न हो सकेगा। अतः चाहे परिग्रह का एकान्तनाश सम्भव न हो, परन्तु उसके प्रति आदर-वृत्ति तो दूर होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त जिसके पास सांसारिक पदार्थों की प्रचुरता नहीं है, उसका आदर-सत्कार करना तो दूर रहा, उसकी ओर आँख उठा

कर भी नहीं देखता, न उससे दुःख-सुख की बात पूछता है। वह गुणी हो, तब भी उसके प्रति प्रमोद भावना उसमें नहीं होती, और न ही दुःखी के प्रति उसमें करुणा भावना उमड़ती है। वह रूखा और मनहूस आदमी हो जाता है।

जहाँ परिग्रह का ही अहर्निश सम्पर्क और चिन्तन हो, वहाँ आत्मा की अवहेलना की जाती है, उसके साथ द्रोह किया जाता है। आत्मा को बड़ा न मानकर परिग्रह को ही महान् समझा जाता है, उसी का आदर किया जाता है।

जहाँ परिग्रह बढ़ जाता है, वहाँ आलस्य, अकर्मण्यता, दूसरों के श्रम पर गुलछर्रे उड़ाने की वृत्ति, विलासिता, व्यर्थ अपव्ययवृत्ति, आदि दुर्गुण आ जाते हैं। परिग्रही इन्हीं दुर्वृत्तियों में जीने का आदी हो जाता है। ऐसी स्थिति में परिग्रह गरीबों के लिए द्वेष का कारण भी बन जाता है। गरीबों या श्रमिकों को ऐसा लगता है कि परिश्रम तो सारा हम करते हैं, फिर भी हमें भरपेट खाने को नहीं मिलता, न तन ढकने के लिए वस्त्र ही मिलते हैं, न रहने का ठीक मकान ही मिलता है, जबकि ये धनिक बिना ही श्रम के सात मंजिले मकान में अमनचैन करते हैं, मोटर में घूमते हैं, बगीचों में सैर-सपाटे करते हैं, मेवा-मिष्ठान उड़ाते हैं, रेशमी वस्त्र पहनते हैं। इस प्रकार गरीबों के मन में विद्वेष जागता है। अमर्यादित परिग्रही धनिकों का धन, एवं साधन उनकी आँखों में खटकने लगते हैं।

यूरोपियन लेखक विद्वान् पीटर ने 'निर्धन का वकील' नामक पुस्तक में बड़े ही मार्मिक शब्दों में लिखा है—"यदि धनवान् ईमानदार होते और निर्धनों को अपनी वस्तुओं का उचित मूल्य चुका देते तो गरीब, गरीब न होते। धन का वैभव और कुछ नहीं, केवल अनैतिक विजय—भेंट है, जो गरीबों का स्वत्व-अपहरण करने से मिलती है।"

इन सब बुराइयों का मूल कारण अमर्यादित परिग्रह है। यही साम्यवाद को न्यौता देने वाला है। विषमता और असमानता दूर करने के लिए यदि अमर्यादित-परिग्रही परिग्रह मर्यादा करके गरीबों के साथ आत्मीयता नहीं रखेंगे तो वह दिन दूर नहीं, जब साम्यवाद भारत में आ सकता है।

परिग्रही व्यक्ति भ्रमवश अपने आपको सबसे अधिक गुण-सम्पन्न समझता है, भले ही उसमें अनेक दुर्गुण ही क्यों न भरे हों। यद्यपि आध्यात्मिक महापुरुषों के कथनानुसार परिग्रहासक्त में उपर्युक्त दोष होने के कारण गुण तो जरा-सा ही होना सम्भव है, तथापि परिग्रही यही समझता है कि समस्त गुण मुझ में ही हैं। ऐसे लोगों का रवैया देखकर ही नीतिकार कहते हैं—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति॥

जिसके पास धन (परिग्रह) है, वह व्यक्ति कुलीन न होने पर भी कुलीन कहलाता है, मूर्ख होने पर भी पण्डित माना जाता है, शास्त्रज्ञान न होने पर भी शास्त्रज्ञ माना जाता है, गुणी न होने पर भी गुणी समझा जाता है, वक्ता न हो तो भी वक्ता कहलाता है, कुरूप होने पर भी रूपवान (दर्शनीय) माना जाता है। सच है, सभी गुण एकमात्र सोने में आकर बस गये हैं।

इस प्रकार अज्ञान एवं मोहवश आत्मा भ्रान्ति में पड़ कर अपने दुर्गुणों को गुण मानने लगता है, इसी कारण सांसारिक पदार्थों को अधिकाधिक बटोरने और संग्रह करने में लगा रहता है, ममता-मूर्च्छा करता है और अपनी भारी हानि करता है।

परन्तु जो विवेकी हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, उन्हें समझ लेना चाहिए कि परिग्रह दुःखों का मूल है। सांसारिक पदार्थों में भ्रमवश आत्मा सुख मानता है, लेकिन उनसे कभी सुख नहीं मिल सकता। अतः व्यक्ति चाहे जितना ममत्व करे, संग्रह करे, उनसे दुःख ही पाता है।

यही कारण है कि अमेरिका के प्रेसिडेण्ट एब्राहिम लिंकन ने अपने देशवासियों को सम्बोधित करते हुए कहा था—"गरीब लोग परमात्मा के अधिक सन्निकट होते हैं; इसलिए मुझे वैभव पसन्द नहीं है।" महान् दार्शनिक लूथर का कथन है—"हे परमात्मा ! मैं तेरा आभारी हूँ, जो तूने मुझे निर्धन बनाने की कृपा की। ऐसा न करता तो मुझे तेरी उपस्थिति का भान न होता।"

संसार के धनकुबेर हेनरीफोर्ड ने अपनी डायरी में ये वाक्य लिख रखे हैं—"मुझे यदि दूसरा जन्म मिला तो परमात्मा से कहूँगा—मालिक ! तुम मुझे किसी कल-कारखाने का मजदूर या खेत-खलिहान का कृषक बनाना। तूने मुझे निर्धन बनाया तो मैं समझूंगा वरदान मिला। धन का अभिशाप तो मैं इसी जीवन में भोग रहा हूँ।" इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए उसने आगे लिखा है—"धन की अधिकता के कारण सारा जीवन अनियन्त्रित वासनाओं और कामनाओं में बिताने के फलस्वरूप आज मेरी स्थिति ऐसी हो गई है कि विपुल सम्पत्ति होते हुए भी मुझे चाय और सिगरेट के अतिरिक्त और कुछ भी न लेने के लिए डॉक्टरों ने मना कर दिया है।"

यह परिग्रहियों के दुःखों की रामकहानी है। इससे समझा जा सकता है कि परिगृहीत पदार्थों में कितना दुःख है, कितनी चिन्ता है। परिग्रही को संसार के प्राप्त पदार्थ भी दुःख देते हैं और अप्राप्त भी। जो प्राप्त हैं, उन्हें प्राप्त करने में भी दुःख उठाना पड़ा है, उनके प्राप्त हो जाने के बाद भी दुःख है—सुरक्षा की चिन्ता है, और उनके वियोग हो जाने पर भी दुःख होता है। जिसके पास जितने अधिक पदार्थ होते हैं, उसे उतनी ही अधिक व्याकुलता, भय, अशान्ति, चिन्ता और परेशानी है। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति के पास थोड़े-से रुपये हैं, दूसरे के पास बहुत अधिक रुपये हैं। जिसके पास थोड़े-से रुपये हैं, उसे भी चिन्ता और भीति तो होती है, लेकिन उतनी

नहीं, जितनी कि अत्यधिक रुपये वाले को रहती है। उसे रात-दिन भय और चिन्ता लगी रहेगी। धन की सुरक्षा के लिए पहरेदार भी रखने पड़ेंगे, मजबूत गोदरेज की तिजोरी भी रखनी पड़ेगी, इतना होने पर भी उसे चिन्ता और भीति बनी रहेगी कि कहीं कोई मेरा धन चुरा न ले जाए, नौकरों पर भी शंका रहेगी, नींद भी हराम हो जाएगी। चोर, डाकू, आग, पानी आदि अनेक खतरों का भय बना रहेगा। यहाँ तक कि सरकार की ओर से भी परिग्रही को भय बना रहेगा कि कहीं सरकार टैक्स लगाकर या और किसी तरह से छापा मारकर इस धन को ले न जाए। इतना ही नहीं, धनिक परिग्रही अपने पुत्र, स्वजन, राजा (शासक), दुष्ट, चोर, वैरी, बन्धु, स्त्री, मित्र या परचक्र आदि से यहाँ तक कि समस्त परिग्रहत्यागी गुरु से भी शंकित रहता है।

आरुणिकोपनिषद् में बताया है कि आरुणी ऋषि ने एक बार एक कुत्ते को मुँह में माँस से सनी हड्डी दबाए अपनी ओर दौड़ते हुए आते देखा। उस हड्डी को छीनने के लिए दूसरे कुत्ते उसके पीछे दौड़े आ रहे थे। निकट आते ही वे कुत्ते उस हड्डी वाले कुत्ते पर एकदम झपटे, उसे घेर लिया और दाँतों तथा पंजों से उसे मारने लगे। बेचारा कुत्ता घबराया। उसने वह हड्डी नीचे डाल दी। झटपट एक दूसरे कुत्ते ने वह हड्डी अपने मुँह में दबा ली। अब क्या था, शेष कुत्ते उस पर टूट पड़े। परन्तु वह भी अपनी जान-बचाने के लिए हड्डी छोड़कर वहाँ से भागा। अब पीछे रहे हुए कुत्तों में उस हड्डी के लिए बड़ी देर तक जम कर लड़ाई होती रही। वे सब कुत्ते लहूलुहान हो गये। यह तमाशा देखकर आरुणिऋषि ने विचार किया—जो कुछ दुःख है, वह ग्रहण करने में है, त्याग में नहीं। हड्डी को ग्रहण किये, जो भी कुत्ता रहा, उस पर दुःख का पहाड़ टूटा, किन्तु जब जिस कुत्ते ने हड्डी छोड़ दी, वह सुखी हो गया।

बन्धुओ! परिग्रह (ममत्वपूर्ण संग्रह) भी दुःख का कारण है। एक कवि कहता है—

"दुःखमेव धनं व्यालविषविध्वस्तचेतसाम्।
अर्जने रक्षणे नाशे पुंसां तस्य परिक्षये॥"

—धन रूपी विषधर के विष से जिनका चित्त खराब हो गया है, उन लोगों को सदैव दुःख ही दुःख रहता है। उन्हें धनोपार्जन में भी दुःख होता है, रक्षा करने में भी दुःख होता है, और धन के नाश या व्यय में भी दुःख होता है।

निष्कर्ष यह है कि परिग्रह प्राप्त होने से पहले भी दुःख देता है, प्राप्त होकर भी दुःख देता है, और छूटकर भी दुःख देता है। हाँ, इतना अवश्य है कि अधिक परिग्रह के साथ अधिक और कम परिग्रह के साथ कम दुःख लगा हुआ है। किन्तु परिग्रह के साथ दुःख अवश्य लगा हुआ है।

पदार्थों के प्राप्त होने से पहले आत्मा को जो शान्ति और स्वतन्त्रता रहती है,

पदार्थ मिलने पर वह चली जाती है। एक उदाहरण ले लीजिए। एक आदमी पैदल चल रहा है उसे पैदल चलते देख किसी ने उसे घोड़ा देना चाहा। उसने घोड़ा ले लिया। घोड़ा पाकर वह आदमी कुछ देर के लिए तो यही समझता है कि मुझे शान्ति और स्वतन्त्रता मिली है, लेकिन वस्तुतः देखा जाय तो घोड़ा पाकर वह व्यक्ति परतन्त्र हो गया है। अब उसे घोड़े की रक्षा और उसे खिलाने-पिलाने की चिन्ता ने आ घेरा। वह पैदल था, तब चाहे जहाँ और चाहे जब जा सकता था, लेकिन घोड़े पर तो तभी जा सकता है जब घोड़ा उसे ले जाना चाहे, स्वस्थ एवं सशक्त हो। इसी प्रकार संसार की अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा, प्राप्ति, सुरक्षा-चिन्ता आदि सब दुःखों के क्रम से युक्त है।

संग्रहबुद्धि : विषमता का कारण

पदार्थों के प्रति इच्छा और मूर्च्छा होती है, तब उनके संग्रह करने की बुद्धि होती है। इच्छा-मूर्च्छा होने पर उस पदार्थ की ओर से सन्तुष्टि नहीं होती, भले ही वह पदार्थ उसे चाहे जितनी संख्या में या चाहे जितनी मात्रा में मिल जाए। उस व्यक्ति को अधिकाधिक संग्रह करने की इच्छा रहती है; तृप्ति उतने से नहीं होती। संसार में जितने भी दुःखी लोग हैं, वे प्रायः संग्रहबुद्धि के प्रताप से दुःखी हैं।

हमारा शरीर इसीलिए स्वस्थ रहता है कि उसके हर अवयव को रक्त का प्रवाह मिलता रहता है। जब शरीर के किसी भाग में रक्त का प्रवाह रुक जाता है, वह एक ही जगह जमा हो जाता है, तब शरीर में दर्द प्रारम्भ हो जाता है। क्या आज के समाज का दर्द भी यह नहीं है ? जब तक गृहस्थ समाज के हर अवयव तक धन या साधन पहुंचता है, तब तक समाज पीड़ित नहीं होता। जब वह कुछ लोगों तक पहुँच कर ही रुक जाता है, या एक के पास जमा हो जाता है, तब समाज में पीड़ा का प्रारम्भ हो जाता है। वस्तुतः वर्तमान समाज की पीड़ा धन नहीं है, उसका अर्जन भी नहीं है, उसका उपभोग भी नहीं है, उसकी पीड़ा है—धन का संग्रह, वैयक्तिक स्वामित्व का विस्तार।

वैयक्तिक स्वामित्व की असीमता समाज के हित में नहीं है; यह तथ्य स्वानुभव से सिद्ध हो चुका है। समाजवादी शासन-प्रणाली में भी वैयक्तिक स्वामित्व को समाप्त करने की व्यवस्था है। अर्जन के साथ जब परिग्रह (ममत्व) का विसर्जन नहीं होता, तब समाज में अनेक बुराइयाँ फैलती हैं।

संसार में आज अधिकांश लोग नंगे-भूखे दिखाई देते हैं, उसका कारण संग्रह-बुद्धि वाले व्यक्ति हैं। एक ओर पदार्थों का अम्बार लगा है, उनको इतने पदार्थों की आवश्यकता नहीं, दूसरी ओर ऐसे लोग भी हैं, जिनके पास उन पदार्थों का अभाव है; वे उन पदार्थों के उपभोग से वंचित हैं। ऐसी स्थिति में संसार में विषमता पैदा होती है, जिसके फलस्वरूप लूटपाट, मारकाट एवं रक्तपात आदि होते हैं। कुछ लोगों के पास धन का अत्यधिक संग्रह है, जबकि दूसरे लोग एक-एक पैसे के लिए तरस रहे हैं।

एक ओर अत्यधिक अन्न कोठारों में जमा है, जबकि दूसरी ओर अन्न के दाने के अभाव में हाहाकार मचा हुआ है। एक ओर सन्दूकों में वस्त्र पड़े सड़ रहे हैं, उन्हें दीमक खा रहे हैं, जबकि दूसरी ओर लोग सर्दी से ठिठुर रहे हैं। कुछ के पास सीमा से अधिक जमीन है, कुछ लोगों के पास जमीन पर्याप्त नहीं है, जिसे जोत-बोकर वे अपने परिवार के गुजारे लायक अन्न पैदा कर सके। इस प्रकार की विषमता इस संग्रहबुद्धि या जमाखोरी की देन है।

संग्रह से मुख्यतया दो बुराइयाँ जन्म लेती हैं—विलास और क्रूरता। संग्रह की समस्या को सुलझाने के लिए प्राचीन काल में दान की व्यवस्था की गई थी। परन्तु वह दान दूसरों पर एहसान करने या प्रतिष्ठा व प्रसिद्धि पाने के लिए होगा तो एक बुराई को छोड़ने के साथ-साथ अहंकार एवं यशोलिप्सा की बुराइयाँ (जो कि आभ्यन्तर परिग्रह हैं) आ धमकेंगी। अतः दान को या तो समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य समझ कर करे, या अपने दोष (संग्रह दोष) का प्रायश्चित्त समझ कर करे। दान वस्तुतः अपना संयम बढ़ाने और अपने श्रेय के लिए है। यदि दान शब्द के साथ अहंकृति की भीति हो तो उसके बदले विसर्जन—व्यक्तिगत स्वामित्व का विसर्जन शब्द रखा जा सकता है, जो वैयक्तिक संग्रह रोकने का स्वस्थ उपाय है।

जो व्यक्ति संग्रह करते हैं, उनमें भी अधिकांश बिना श्रम किये ही सांसारिक सुख भोगने की इच्छा वाले होते हैं, पर उनकी वे इच्छाएँ पूरी नहीं हो पातीं।

परन्तु परिग्रह या संग्रह में सुख नहीं, दुःख ही है। महाकवि शेक्सपीयर ने ठीक ही कहा है—

[1]मनुष्यों की आत्माओं के लिए सोना निकृष्टतम विष है। इस दुःखमय विश्व में धन का विष अन्य विषों से अधिक रक्त बहाता है।

इसलिए धन या परिग्रह मनुष्य को सुखी बना देगा यह बहुत बड़ी भ्रान्ति है।

परिग्रह का परिमाण ही सुखप्राप्ति का उपाय

इसीलिए भगवान महावीर अपनी आत्मा को सुखी और शान्तिमय बनाने के लिए घरबार, धन-सम्पत्ति, परिवार आदि सबकी ममता छोड़कर निकल पड़े। उन्होंने परिग्रह को सर्वथा छोड़ देने और अपरिग्रहवृत्ति धारण करने की प्रेरणा दी। अगर सारा संसार परिग्रह की मर्यादा भी करले और परिग्रह परिमाणव्रत पर चलकर साधना करने लग जाए, अल्पतम पदार्थों से अपना निर्वाह करने लग जाए तो संसार स्वर्ग बन जाय, यहाँ किसी प्रकार का दुःख, अशान्ति या क्लेश न रहे। सभी लोग आवश्यकता के उपरान्त जो भी पदार्थ हो, उसका अतिथि, साधुसंत, साधर्मी श्रावक श्राविका आदि सभी पात्रों में यथायोग्य वितरण कर दें तो किसी प्रकार के संघर्ष को

---

1 "Gold is worse poison to men's souls doing more murders in this loath some world; than any mortal drug."

अवकाश ही न रहे, युद्धों की विभीषिका भी सदा के लिए समाप्त हो जाए। संसार में सभी लोग सन्तोषपूर्वक सुखमय जीवनयापन करने लग जाएँ। परन्तु मुट्ठीभर महापरिग्रही लोग अपनी इच्छा और मूर्च्छा के कारण संसार में सुख-शान्ति का साम्राज्य होने दें तब न ?

संसार का कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो छूट न सके। छोड़ने की इच्छा न होने पर कई बार वे बलात् छूट जाते हैं। किन्तु यदि सांसारिक पदार्थों का त्याग स्वेच्छा से किया जाएगा तो दुःख भी न होगा और समाज में उस व्यक्ति की प्रतिष्ठा भी होगी। परलोक के लिए भी श्रेयस्कर होगा। यदि व्यक्ति इच्छापूर्वक सांसारिक पदार्थों को नहीं छोड़ेगा तो पदार्थ एक न एक दिन देर-सबेर छूटेंगे तो अवश्य ही, लेकिन उस दशा में हृदय को अत्यन्त दुःख होगा, प्रसन्नता न होगी। लोगों में बदनामी भी नहीं होगी।

मुझे एक रोचक दृष्टान्त याद आ रहा है, जो इस सम्बन्ध में अप्रासंगिक नहीं होगा—

एक जाट था। उसका प्रतिदिन किसी न किसी निमित्त को लेकर अपनी पत्नी से झगड़ा हो जाता था। जब भी झगड़ा होता, जाटनी धमकी भरे स्वर में कहती—'अगर इस तरह झगड़ा करोगे तो मैं चली जाऊँगी।' जाटनी की इस धमकी से जाट जरा सहम जाता और मामले को ठंडा कर देता था।

जाटनी की आए दिन कलह के समय दी जाने वाली इस धमकी को सुन-सुन कर चतुर जाट ने सोचा—"यह रोज-रोज जाने को कहती है, शायद किसी दिन चली भी जाय। अगर यह मेरे साथ झगड़ा और गाली-गलौज करके चली भी गई तो लोगों में मेरी बदनामी होगी। लोग यही समझेंगे कि जाट में ही कोई न कोई दोष है, तभी यह उसे छोड़ कर चली जा रही है। इसलिए जाटनी को मैं ही ऐसी सिफ्त से छोड़ दूँ, ताकि लोगों में मेरी बदनामी भी न हो, लोग मुझे दोषी न कहकर इसे ही दोषी कहें और प्रतिदिन के कलह से भी छुट्टी मिल जाए।"

अतः जाट को एक युक्ति सूझी। उसने मन ही मन जाटनी को निकालने की एक योजना बना ली। आज जब जाटनी के साथ लड़ाई हुई और जाटनी ने उसी धमकी के अस्त्र का प्रयोग किया तो जाट ने पूर्व-विचारित योजना के अनुसार तपाक् से कहा—"भली मानुष ! तुझे जाना हो तो चली जा, रोज-रोज क्या धमकी देती है ? परन्तु जाने से पहले एक घड़ा पानी का तो भर ला।"

जाटनी भी कम माया न थी। उसने सोचा—"आज तो मुझे चली ही जाना है, तभी इन्हें आटे-दाल का भाव मालूम होगा। चलो, इतने वर्षों तक साथ रही हूँ, तो कुँए से एक घड़ा भर लाने में क्या आपत्ति है ?"

वह सहमत होकर उठी और घड़ा लेकर कुँए की ओर चल दी। जाटनी कुँए पर पहुँची ही थी कि जाट भी डंडा लेकर वहाँ पहुँच गया। जाट ने कुँए पर पहुँचते

ही घड़े के एक डंडा जमाया और बकने लगा—"निकल जा कर्कशा, मेरे घर से। मेरे घर को यों लुटाने चली है। मानो कोई रखवाला ही न हो। अब मैं एक दिन भी तुझे नहीं रख सकता।" जाटनी कहने लगी—"तुम क्या निकालोगे, मैं तो स्वयं ही तुम्हारे घर से जा रही थी।" वह जाट डंडा दिखा कर जाटनी को जल्दी से निकालने का प्रयत्न करने लगा। दर्शक लोग जाट का यह रवैया देख कर बीचबिचाव करने लगे, पर जाट उसे निकालने पर ही तुला था, इसलिए कहने लगा—यह चोरटी है, पेटू है, मेरा घर लुटा दिया इसने, स्वार्थी है, कलहकारिणी है आदि।" अतः लोगों ने समझा—"बेचारा जाट तो सीधा-सादा है, इस जाटनी में ही दोष है, इसलिए विवश होकर निकाल रहा है इसे।" यों जाट ने चतुराई से जाटनी को निकाल भी दिया और लोकनिन्दा से भी बच गया।

हाँ तो, यह एक रूपक है। हमें इस पर आध्यात्मिक दृष्टि से सोचना चाहिए कि माया रूपी जाटनी है, आत्मा रूपी जाट है। दोनों का प्रतिदिन झगड़ा होता है। जो साधक उस जाट की तरह समझदार और विवेकी होता है, वह माया के द्वारा प्रतिदिन 'मैं चली जाऊँगी', इस प्रकार की दी हुई धमकी को सुन कर सोचता है—यह माया (परिग्रह—सम्पत्ति) एक न एक दिन तो जाने ही वाली है, टिकने वाली नहीं है। अगर यह मेरे द्वारा आसक्ति करने पर, या जबरन रखने पर भी चली जाएगी तो लोगों में मेरी निन्दा होगी, मुझे भी बड़ा खेद होगा, अफसोस होगा। किन्तु अगर मैं स्वेच्छा से विवेक का डंडा मार कर इसे सिपत्त से निकाल देता हूँ (स्वेच्छा से इसका त्याग कर सकता हूँ) तो मुझे दुःख भी न होगा और लोगों में मेरी निन्दा भी न होगी।

बन्धुओ ! भगवान् महावीर ने यही परामर्श विवेकी श्रावकों को दिया है कि देवानुप्रियो ! अगर तुम परिग्रह के प्रति ममत्व स्वेच्छा से छोड़ कर इसकी मर्यादा कर लोगे तो परिग्रह के चले जाने का तुम्हें दुःख भी नहीं होगा और लोकापवाद भी नहीं होगा। समाज-व्यवस्था भी सुचारुरूप से चलेगी।

धन आपको छोड़े, उससे पहले ही अगर उसके प्रति स्वत्व और ममत्व को तथा स्वामित्व को क्यों नहीं छोड़ देते ? स्वत्व के धागे को तोड़ने का अर्थ उसे फेंकना नहीं है, अपितु त्याग की पहल करके उसे सार्वजनिक सेवाकार्य में लगाइये। आपको बैंक पर इतना विश्वास है कि उसमें रुपये जमा कराने पर ब्याज सहित मिलेंगे। तब क्या आपको धर्म या पुण्य की बैंक पर विश्वास नहीं है कि इस बैंक में जमा कराया हुआ धर्म रूपी धन वापस नहीं मिलेगा ?

सर्वप्रथम आप अपने आपको समझिए कि आप कौन हैं ? तत्पश्चात् तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सोचिए कि क्या ये धन, साधन आदि सांसारिक पदार्थ आपके हैं ? आपका तो यह शरीर भी नहीं है। धन जब आपका नहीं है तो धन के गुलाम न बनिये, धन के स्वामी बनिये। जो धन को अपने अधीनस्थ बना लेगा, वह धन को

साधन समझेगा, साध्य नहीं। वह यही सोचेगा—"धन मेरे लिए व्यावहारिक कार्यों का एक साधन है, मैं धन के लिए नहीं हूँ। फिर क्यों इसके अधीन बनूँ। धन के लिए समय, शक्ति या जीवन बर्बाद क्यों करूँ ?"

सज्जनो ! निर्ग्रन्थ प्रवचन सुनने का लाभ यही है कि आप स्वेच्छा से परिग्रह का त्याग करें या परिमाण करें। व्रत के स्वीकार किये बिना निर्ग्रन्थ प्रवचन का यत्किञ्चित भी भली भाँति पालन नहीं होता। तब तक जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा नहीं हो सकता।

इस व्रत को स्वीकार करने से पारलौकिक लाभ तो जन्म-मरण से मुक्त होना और मुक्ति पाना है। इहलौकिक लाभ भी कम नहीं है। सबसे बड़ा लाभ यह है, इस व्रत के धारण करने से व्यक्ति सब तरह से निर्भय, निश्चिन्त हो जाता है, न उसे राजभय रहता है, न चोरभय, न अग्नि या अन्य किसी प्रकार का भय रहता है। उसके प्रति भी संसार के प्राणी निर्भय एवं आश्वस्त हो जाते हैं।

सांसारिक पदार्थों का स्वेच्छा से त्याग करने वाला व्यक्ति अपनी सन्तान पर भी सांसारिक पदार्थों के स्वेच्छा से त्याग की एक सुन्दर परम्परा छोड़ कर जाएगा। इससे भावी संतति में भी त्याग के संस्कार रूढ़ हो जाएगें।

जो लोग यह कहते हैं कि हमें सांसारिक पदार्थ छोड़ते नहीं, हम तो उन्हें छोड़ने को तैयार हैं, वे आत्मवंचना कर रहे हैं। क्या धन्ना, शालिभद्र, भरत चक्रवर्ती, भृगु पुरोहित आदि ने यह बहाना बनाया था कि ये सांसारिक पदार्थ हमें छोड़ नहीं रहे हैं, बल्कि जब उन्होंने अपने मन में निश्चय कर लिया तब एक ही झटके में सब पदार्थों का ममत्व छोड़ दिया। पदार्थों को पकड़ा तो मन ने ही था, मन ही उन्हें छोड़ सकता है। उन पर से ममत्व का त्याग करना ही उन्हें छोड़ना है।

इस सम्बन्ध में वेदान्तदर्शन का एक उदाहरण प्रसिद्ध है—

एक जिज्ञासु व्यक्ति वेदान्ताचार्य के पास आया और कहने लगा—"गुरुजी ! मैं तो माया को छोड़ना चाहता हूँ, लेकिन माया ही मुझे नहीं छोड़ रही है, क्या करूँ।"

वेदान्ताचार्य ने सोचा—'इसे मौखिक रूप से समझाया जाएगा, तो झटपट समझेगा नहीं। अतः इसे व्यावहारिक रूप से समझा दूँ। वेदान्ताचार्य ने पास में ही खड़े थंभे को दोनों बाहों में पकड़ लिया और चिल्लाने लगे—"दौड़ो दौड़ो ! इस थंभे ने मुझे पकड़ लिया है, यह मुझे छोड़ नहीं रहा है।"

जिज्ञासु ने हँसते हुए कहा—"गुरुजी ! थंभे ने आपको पकड़ लिया है। या आपने थंभे को पकड़ रखा है ?"

वेदान्ताचार्य ने कहा—"तुम्हीं बताओ कि माया ने तुम्हें पकड़ रखा है या तुमने माया को पकड़ लिया है ?"

जिज्ञासु के झटपट बात गले उतर गई, उसने स्वीकार किया—'गुरुजी ! आपका कथन यथार्थ है, मैंने ही माया को पकड़ रखा है।'

इसी प्रकार दुःखकारक सांसारिक पदार्थों को आपने पकड़ रखा है, आप जब चाहें तब छोड़ सकते हैं।

अतः भगवान् महावीर के उपदेशानुसार यदि आपकी शक्ति हो तो समस्त सांसारिक पदार्थों के प्रति स्वामित्व व ममत्व छोड़ कर निष्परिग्रही बनिये, इसी में आत्मा का पूर्णतया कल्याण निश्चित है। अगर इतना त्याग करने का आपका सामर्थ्य न हो तो आप महापरिग्रह का तो त्याग कर दीजिए। परिग्रह परिमाणव्रत स्वीकार करने पर आप अल्पपरिग्रही श्रावक कहलाएँगे, मोक्ष के यात्री तो हो जाएँगे।

परिग्रहपरिमाणव्रत—ग्रहणविधि

यों परिग्रह-परिमाणव्रत को नौ प्रकार के बाह्य परिग्रहों की मर्यादा करके ग्रहण किया जाता है। किन्तु परिग्रह परिमाणव्रत ग्रहण करने वाले को एक बात अवश्य ध्यान में रखनी है कि परिग्रह मुख्यतया इच्छा एवं मूर्च्छा से होता है, इच्छा और मूर्च्छा का उत्पत्ति स्थान मन है। मन का सम्बन्ध आभ्यन्तर परिग्रह के साथ है। आभ्यन्तर परिग्रह के १४ प्रकार मैं पहले बता चुका हूँ। इन १४ प्रकार के आभ्यन्तर परिग्रहों में से जो-जो परिग्रह जितनी-जितनी मात्रा में कम हो सके, कम करने का प्रयत्न करना चाहिए। आभ्यन्तर परिग्रह जितनी-जितनी मात्रा में कम होगा, उतनी-उतनी मात्रा में बाह्य परिग्रह पर से इच्छा-मूर्च्छा कम होती जाएगी। बाह्य परिग्रह तो पदार्थों पर इच्छा-मूर्च्छा के कारण हो परिग्रह कहलाते हैं। इसलिए जब व्यक्ति आभ्यन्तर परिग्रह से बिलकुल विरत हो जाएगा, तब पदार्थ पास में होने पर भी बाह्य परिग्रह बिलकुल न रहेगा।

संसार में जितने भी पदार्थ हैं, उन्हें दो भागों में बांटा जा सकता है—एक वे हैं, जो सचेतन हैं, सजीव हैं, जैसे दो पैर वाले नर-नारी, दास-दासी पशु या पक्षी (तोता, चिड़िया आदि) अथवा चार पैर वाले—घोड़ा बैल आदि पशु तथा पृथ्वी, वनस्पति इत्यादि (भूमि, तालाब, बाग आदि)। दूसरे वे हैं, जो अचेतन हैं, निर्जीव हैं, जड़-पदार्थ हैं, जैसा—सोना, चांदी, तांबा, लोहा, सिक्का, नोट, वस्त्र, बर्तन, औषध, घर, दूकान, नौहरा आदि। पहले प्रकार के सचेतन पदार्थों की गणना सचित्त परिग्रह में होती है, और दूसरे प्रकार के अचेतन पदार्थों की गणना होती है—अचित्त-परिग्रह में।

परिग्रह की मर्यादा करने वाला श्रावक संसार के समस्त सचेतन या अचेतन पदार्थों (जो कि उसके जीवन-निर्वाह के लिए अत्यन्त आवश्यक है) के विषय में इस प्रकार का नियम करेगा कि मैं अमुक पदार्थ इतनी मात्रा या संख्या से अधिक अपने स्वामित्व (अधिकार) में नहीं रखूंगा, अथवा अमुक पदार्थों पर से स्वामित्व का सर्वथा

त्याग करता हूँ। अथवा अमुक पदार्थ की अमुक मात्रा या संख्या से अधिक की इच्छा-मूर्च्छा भी नहीं करूंगा।

शास्त्रों में श्रावक के परिग्रहपरिमाणव्रत ग्रहण करने में सुगमता के लिए सचित्त और अचित्त रूप बाह्य-परिग्रह को ९ भागों में विभक्त कर दिया है। वे ९ भेद ९ प्रकार के बाह्य परिग्रह के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) **क्षेत्र** (खेत या खुली जमीन), (२) **वास्तु** (निवास योग्य स्थान या मकानात), (३) **हिरण्य** (चांदी), (४) **सुवर्ण** (सोना), (५) **धन** (सोने-चांदी के ढले हुए सिक्के, गहने, घड़ी अथवा घी, गुड़, चीनी आदि बहुमूल्य पदार्थ), (६) **धान्य** (गेहूँ, चावल, मूंग, मोठ, चना, तिल आदि अन्न), (७) **द्विपद** (जिसके दो पैर हों, वे जीव—मनुष्य, पक्षी आदि), (८) **चतुष्पद** (चौपाये जानवर, गाय, बैल, घोड़ा, हाथी, भैंस, बकरी आदि) और (९) **कुप्य** (कपड़े, बर्तन, घर का विविध सामान, रथ, मोटर आदि सवारी, पलंग, सोफासेट, अलमारी, तिजोरी, कुर्सी पंखे, बल्ब आदि फर्नीचर, अर्थात् पूर्वोक्त ८ प्रकार के परिग्रह से बचे हुए सभी पदार्थ इस नौवें कुप्य परिग्रह में आ जाते हैं।

इन नौ प्रकारों में सारे संसार के सचित्त-अचित्त या जड़-चेतन व स्थावर-जंगम, समस्त पदार्थों का समावेश हो जाता है। इन्हीं नौ प्रकार के पदार्थों को ग्रहण करने की मनुष्य की इच्छा या ममता-मूर्च्छा होती है। इन्हीं नौ प्रकार के पदार्थों के प्रति मनुष्य की इच्छा या मूर्च्छा हो सकती है, इसलिए इन नौ प्रकार के परिग्रहों का परिमाण करना—संख्या या मात्रा की सीमा निश्चित कर लेना परिग्रहपरिमाणव्रत या इच्छा-परिमाणव्रत कहलाता है।

क्षेत्र में उन सब वस्तुओं का समावेश हो जाता है, जो उपजाऊ तथा खुली (सिंचाई की व बिना सिंचाई की) जमीन हो। इसमें खेत, खलिहान, चारागाह, बाग, पहाड़, खान, जंगल एवं समस्त खुली भूमि आ जाती है। इस व्रत के ग्रहणकर्ता को क्षेत्र के सम्बन्ध में परिग्रह की मर्यादा करनी चाहिए कि मैं इतनी खुली भूमि—खेत, बाग, पहाड़ आदि से अधिक अपने स्वामित्व में न ही रखूंगा, नहीं इससे अधिक अमुक-अमुक भूमि की इच्छा-मूर्च्छा करूंगा।

दूसरा भेद वास्तु है। वास्तु का अर्थ है—मकान, फिर वह चाहे जमीन के भीतर हो, अथवा जमीन के ऊपर हो, निवास के लिए मकान हो या नौहरा हो, अथवा दूकान हो, अतिथिगृह हो, कारखाने का मकान हो, बंगला या कोठी हो। इस प्रकार के अमुक-अमुक मकानों के विषय में परिमाण करना कि मैं इतने और अमुक-अमुक मकानों (जो कि इतने से अधिक लम्बे, चौड़े, ऊँचे न होंगे, जिनका मूल्य वर्तमान में मकानों के मूल्य के अनुसार इतने से अधिक न होगा) से अधिक मकान अपने स्वामित्व में न रखूंगा और न ही इनसे अधिक की इच्छा-मूर्च्छा रखूंगा।

तीसरा भेद धन है। धन के अन्तर्गत सिक्के, नोट, रत्न, हीरा, नीलम, पुख-

राज, पन्ना, माणिक, मोती, आभूषण, घड़ी, आदि बहुमूल्य पदार्थ तथा घी, गुड़, चीनी आदि अधिक मूल्यवान् पदार्थ आ जाते हैं।

इनके सम्बन्ध में परिमाण करना कि मैं अमुक-अमुक पदार्थ इतने वजन, संख्या, मात्रा से या वर्तमान समय के अनुसार इतने मूल्य से अधिक के नहीं रखूंगा, न ही इच्छा-मूर्च्छा करूंगा।

इसके बाद धान्य है, जिसके अन्तर्गत गेहूं, चना, जौ, मूंग, मोठ, चावल आदि तमाम अन्नादि आ जाते हैं। इन सबके लिए परिमाण करना कि मैं अमुक धान्य इतने वजन, इतनी मात्रा से या वर्तमान मूल्यानुसार इतने मूल्य से अधिक का नहीं रखूंगा और न ही इतने से अधिक की इच्छा-मूर्च्छा करूंगा।

हिरण्य का अर्थ चांदी है। चांदी के सम्बन्ध में मर्यादा करना कि मैं इतने वजन या इतने मूल्य (वर्तमान में चांदी के भाव के अनुसार) से अधिक की चांदी या चांदी की बनी हुई आभूषण, बटन, आदि वस्तुएँ नहीं रखूंगा। सुवर्ण का अर्थ सोना है। सोने के सम्बन्ध में भी परिमाण करना कि मैं इतने वजन या इतने मूल्य (वर्तमान भावानुसार) से अधिक का सोना तथा सोने से बने हुए पदार्थ—आभूषण, बटन, घड़ी, अंगूठी आदि नहीं रखूंगा, न ही इच्छा-मूर्च्छा करूंगा।

इसी प्रकार द्विपद यानी दो पैर वाले सभी प्राणी— मनुष्य और पक्षी के विषय में मर्यादा करना। द्विपद में अपनी स्त्री, सन्तान तथा अन्य सम्बन्धी, दास-दासी, नौकर चाकर, मुनीम, गुमाश्ते, कर्मचारी तथा अन्य सम्बन्धी आदि सब आ जाते हैं, साथ ही मोर, सारस, चकोर, कबूतर, तोता, हंस आदि दो पैर वाले सभी पक्षी भी आ जाते हैं। इनके सम्बन्ध में मर्यादा करना कि अमुक द्विपद (नाम खोलकर) इतने से अधिक न रखूंगा, न ही अधिक की इच्छा करूंगा।

इसी प्रकार चतुष्पद की भी मर्यादा करना। चतुष्पद का अर्थ है—चार पैर वाले जानदार प्राणी, खासकर पशु। चतुष्पद के विषय में मर्यादा करना कि मैं हाथी घोड़ा, बैल, बकरी, गाय, भैंस, ऊंट, खच्चर, गधा, भेड़, हिरण आदि चौपाये पशु इतने से अधिक न तो अपने स्वामित्व में रखूंगा, और न ही इतने से अधिक की इच्छा-मूर्च्छा करूंगा।

नौवां भेद कुप्य है। कुप्य में उन पदार्थों या धातुओं (लोहा, तांबा, पीतल, कांसा आदि) की गणना होती है, जो पूर्वोक्त ८ भेदों में न आए हों, यानी पूर्वोक्त आठ प्रकार के परिग्रह से बचे हुए पदार्थ हों। कई आचार्य कुप्य का अर्थ घर की समस्त सामग्री करते हैं। इस अर्थ के अनुसार कुप्य के अन्तर्गत तमाम बर्तन-भांडों, वस्त्रों, सोफासेट, मेज, कुर्सी, अलमारी, पंखे, रेडियो आदि तमाम फर्नीचर, सोने चांदी के अतिरिक्त अन्य धातुओं की बनी हुई चीजों, रथ, मोटर, स्कूटर, बैलगाड़ी साइकिल आदि समस्त वाहन, तथा घर की समस्त खाद्य-पेय सामग्री या छोटी-बड़ी चीजों, (जिसे बोलचाल की भाषा में घर-बाखरा-गृहस्थी का पसारा कहते हैं,) की मर्यादा

करना कि मैं अमुक वस्तु इतनी संख्या, मात्रा (तौल या नाप) या इतने मूल्य (वर्तमान मूल्य के अनुसार) से अधिक की अपनी मालिकी में नहीं रखूँगा, और न ही इतने से अधिक की इच्छा-मूर्च्छा करूंगा।

इस प्रकार नौ प्रकार के बाह्य परिग्रहों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् मर्यादा करना कि मैं अमुक पदार्थ इतने परिमाण से अधिक न तो अपने स्वामित्व में रखूंगा और न ही इतने से अधिक की इच्छा-मूर्च्छा करूंगा। यही इच्छापरिमाणव्रत या परिग्रह परिमाणव्रत की विधि है।

इस व्रत को तीन करण (करना, कराना और अनुमोदन) तथा तीन योगों (मन-वचन-काया) में से अपनी इच्छानुसार ग्रहण कर सकता है। साथ ही द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा भी व्रतधारी अपनी इच्छानुसार कर सकता है। फिर भी श्रावक को अपनी गृहस्थी में रहते हुए अपनी सन्तान को व्यापार-धन्धे में प्रवृत्त करने हेतु अथवा अन्य धनार्जन के कार्यों के लिए प्रेरणा देनी पड़ती है, कई बार उसका कार्य-भार विवश होकर संभालना पड़ता है, अथवा साथ में रहने के कारण सन्तान के परिग्रह सम्बन्धी प्रवृत्ति को संवासानुमति भी देनी पड़ती है, इसलिए हो सके तो दो करण, तीन योग से परिग्रहपरिमाणव्रत स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा एक करण, तीन योग से स्वीकार करना चाहिए।

इसी प्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के सम्बन्ध में भी यों मर्यादा कर ले कि द्रव्य से—मैं अमुक-अमुक वस्तु के सिवाय अधिक की इच्छा नहीं करूंगा, न इनके अतिरिक्त और वस्तु अपने स्वामित्व में रखूँगा, क्षेत्र से—मैं अमुक क्षेत्र से बाहर की कोई भी चीज न अपनी मर्यादा में रखूँगा, और न ही अमुक क्षेत्र से बाहर की वस्तु की इच्छा करूंगा, काल से—मैं इतने दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष या जीवनभर इन-इन वस्तुओं से अधिक की न तो इच्छा करूँगा और न ही अपने स्वामित्व में रखूँगा। इसी प्रकार भाव की भी मर्यादा करना कि इन-इन वस्तुओं से अधिक की न तो इच्छा करूंगा, न ही मूर्च्छा करूंगा। इस मर्यादा को इससे अधिक बढ़ाऊँगा नहीं, बल्कि अधिकाधिक घटाने या संकुचित करने का प्रयत्न करूंगा। क्योंकि इस व्रत का उद्देश्य अपनी इच्छाओं, लालसाओं, मूर्च्छाओं, आसक्तियों या ममताओं को अधिकाधिक घटाना है, इसलिए मर्यादाएँ यथासम्भव अधिक से अधिक संकुचित रखनी चाहिए, विस्तृत नहीं। विस्तृत मर्यादा रखी जाएगी तो दुःख एवं जन्ममरण के बन्धन बढ़ते जाएँगे। मर्यादा जितनी संकुचित होगी, उतना ही शीघ्र साधक परिग्रह समुद्र को पार करके एक दिन पूर्ण परिग्रही बन सकेगा, जो कि श्रावक के तीन मनोरथों में से एक है। अतः यथासम्भव मर्यादा की सीमा बहुत ही संकुचित करना चाहिए। अगर हो सके तो, जो पदार्थ उसके अधिकार में हैं, उनमें से कुछ का त्याग करके फिर मर्यादा करना चाहिए। यदि ऐसा न हो सके तो जो पदार्थ पास में हों, उनसे अधिक की मर्यादा न की जाए। आनन्द आदि श्रावकों ने यही आदर्श रखा था। उन्होंने

सम्पत्ति की उतनी ही मर्यादा की थी, जितनी उनके पास उस समय थी। अतः श्रावक को भी अपनी अधिकृत सम्पत्ति से अधिक सम्पत्ति मर्यादा में नहीं रखनी चाहिए।

बहुत-से लोग व्रत ग्रहण करते समय यह सोचकर कि हमारे पास इतनी अधिक सम्पत्ति तो होने से रही, अपने पास बहुत थोड़ी पूंजी होने पर उससे कई गुना अधिक सम्पत्ति मर्यादा में रख लेते हैं, परन्तु जब भाग्यवश उक्त मर्यादा से भी अधिक पूंजी इकट्ठी होने लगती है, तो वे व्रत में कपट चलाते हैं। अपनी बढ़ी हुई पूंजी को वे अपनी स्त्री या सन्तान के नाम कर देते हैं, या विवाहादि खर्च खाते में अमानत कर लेते हैं, परन्तु यह सरासर व्रत भंग है।

ऐसा करने से श्रावक के गृहस्थ-जीवन में किसी प्रकार की अड़चन या कठिनाई नहीं आती और उसकी इच्छा-तृष्णा भी असीम नहीं रहती। इस व्रत को स्वीकार करने वाला व्यक्ति अव्रती और महापरिग्रही नहीं रहता, बल्कि उसकी गणना धर्मात्मा श्रावकों में होती है, वह महान् पाप से बचकर मोक्ष-पथ का पथिक हो जाता है।

अतिचारों से बचो !

अन्यव्रतों की तरह इच्छा परिमाणव्रत के भी पाँच अतिचार (दोष) हैं, जिनसे श्रावक को बचना आवश्यक है। वे पांच अतिचार ये हैं—क्षेत्र-वस्तु-प्रमाणातिक्रम, धन-धान्य-प्रमाणातिक्रम, हिरण्य-सुवर्णप्रमाणातिक्रम, द्विपद-चतुष्पदप्रमाणातिक्रम और कुप्यप्रमाणातिक्रम।

खेत आदि भूमि, गृह आदि ९ प्रकार के बाह्य परिग्रहों के विषय में किए गए परिमाण का आंशिक और व्रतसापेक्ष उल्लंघन करना, क्षेत्रवास्तु आदि प्रमाण का अतिचार है।

प्रश्न हो सकता है कि धन-धान्यादि के परिमाण का उल्लंघन करने से तो व्रत का सर्वथा भंग (अनाचार) होना चाहिए, अतिचार नहीं ? इसका समाधान यह है कि किये हुए परिमाण का पूर्णतया उल्लंघन करने से व्रतभंग होता है। यहाँ जो उल्लंघन बताया गया है, वह व्रतसापेक्ष—अर्थात् बन्धन, भाव, गर्भ, योजना और दान की अपेक्षा होने से अतिचाररूप है। मतलब यह है कि यहाँ पाँच अतिचारों में क्रमशः पाँच सापेक्षताएँ हैं। जैसे—किसी ने धन-धान्य का जो परिमाण रखा है, वह ऋण की वसूली करने पर उससे अधिक हो जाता है, अतः देनदार से कहना—यह धन या धान्य अभी अपने पास रहने दो, चौमासे के बाद मैं ले लूंगा। इस प्रकार बन्धन करने पर अतिचार लगता है, क्योंकि उस धन-धान्य पर वह अपना स्वामित्व—स्वत्व स्थापित कर चुका है, फिर भी साक्षात् न लेकर समझता है कि मेरा व्रत भंग नहीं हुआ है। बर्तन मर्यादा से अधिक हो जाने पर छोटे-छोटे बर्तनों को तुड़वाकर बड़े बनवा लेना और संख्या को बराबर कर लेना, भाव सापेक्ष अतिचार है। पशुओं की संख्या मर्यादा से अधिक हो जाने पर उनके गर्भ की या छोटे बछड़े आदि की अमुक समय तक गिनती न करना गर्भसापेक्ष अतिचार है। खेतों की संख्या अधिक हो जाने पर बीच की मेंड़

तोड़कर दो खेतों को एक बना लेना योजना-सापेक्ष अतिचार है। इसी प्रकार सोने-चाँदी का परिमाण अधिक हो जाने पर कुछ भाग दूसरों को रखने के लिए दे देना दान सापेक्ष अतिचार है। अथवा यह सोचकर कोई वस्तु अपनी मर्यादा से अधिक रख ले कि इसे बाद में दान कर देंगे या दानशाला में दे देंगे, यह भी दान सापेक्ष अतिचार है।

अथवा अतिचार का एक रूप यह भी हो सकता है कि जो मर्यादा की है, उसका विस्मरण हो जाने पर या अनजान में उस मर्यादा से अधिक पदार्थों के हो जाने पर भी यही समझना कि जो पदार्थ मेरे अधिकार में हैं, वे मर्यादा में ही हैं। यह भी एक तरह से अतिचार है।

पाँच विक्षेप

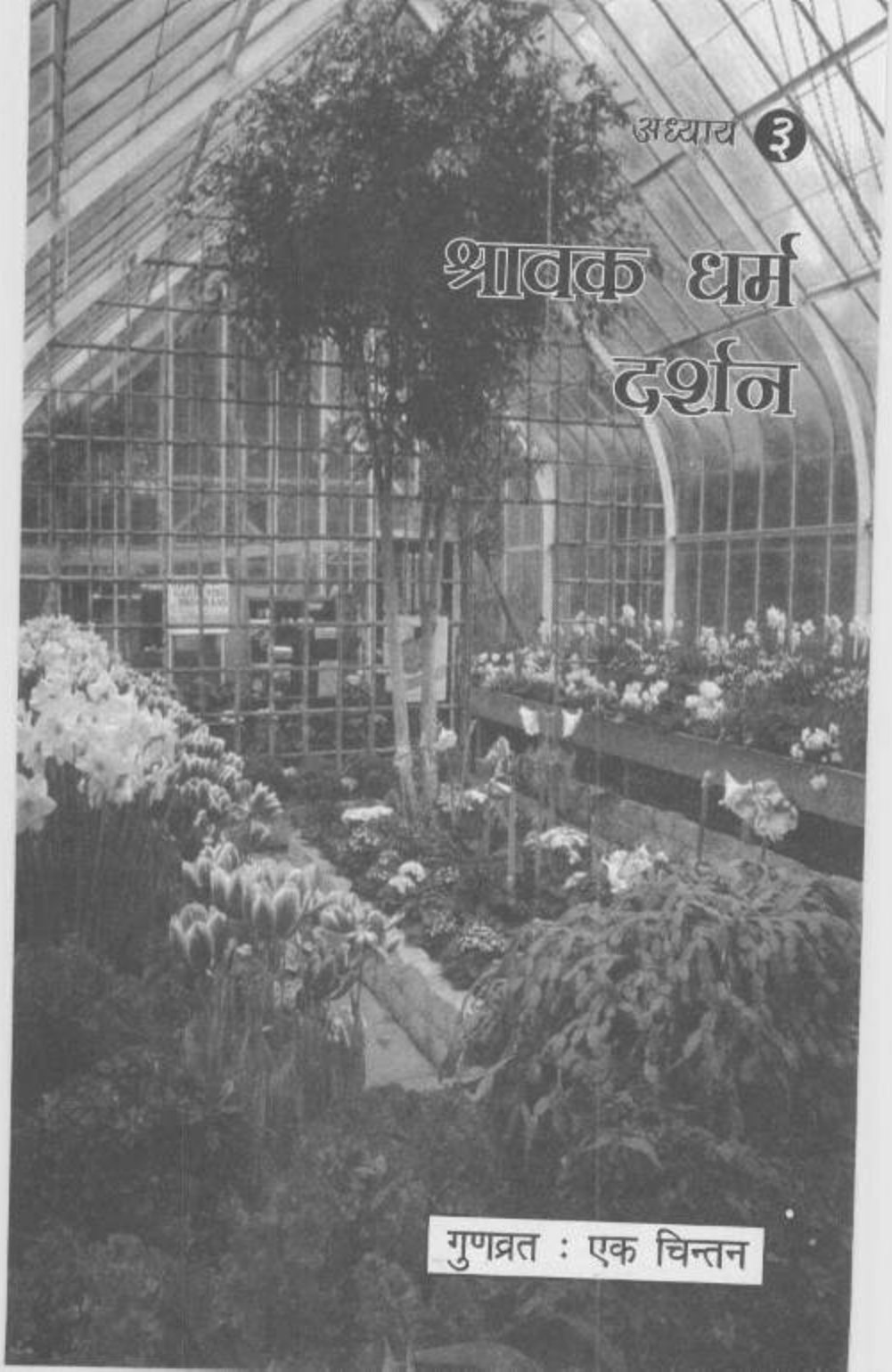
आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इस परिग्रहपरिमाणव्रत के पाँच विक्षेप बताए हैं—

अतिवाहनातिसंग्रह-विस्मय-लोभातिभारवहनानि।
परिमित-परिग्रहस्य विक्षेपाः पंच लक्ष्यन्ते ॥६२॥

अर्थात्—अतिवाहन, अतिसंग्रह, विस्मय, लोभ और अतिभारवहन ये पाँच परिग्रहपरिमाण के विक्षेप—अन्तराय हैं।

जिस पुरुष के पास वाहन (सवारियाँ) बहुत हों, वह उन्हें छोड़ने या मर्यादित करने में हिचकिचाता है, इसी प्रकार अतिसंग्रह भी व्रत में विक्षेप डालता है। अतिसंग्रह के कारण मनुष्य त्याग की ओर झुकने में हिचकता है, इसी प्रकार चक्रवर्ती, धनकुबेर या वैभव सम्पन्न की ऋद्धि और ठाटबाट देखकर विस्मय में पड़ा हुआ व्यक्ति सहसा परिग्रह की मर्यादा करने से कतराता है। जिसकी लोभवृत्ति बढ़ी हुई है, वह भी परिग्रह की सीमा करने में झिझकता है, तथा जो आदमी अनेक प्रकार की जिम्मेवारियाँ ओढ़ लेता है, या किसी प्रकार के एहसान के बोझ से दबा है, वह भी परिग्रह परिमाण करने में आनाकानी करता है। अथवा जिसका जीवन अत्यन्त खर्चीला है, वह उस खर्च की पूर्ति करने हेतु परिग्रह में वृद्धि करेगा, घटाएगा नहीं। अतः व्रतधारी का जीवन सरलता, सादगी और मितव्ययता से ओतप्रोत होना चाहिए।

अतः परिग्रहपरिमाणव्रती को इन पाँच विक्षेपों से भी अपने आपको बचाकर चलना चाहिए। परिग्रहपरिमाणव्रत का स्वीकार दूसरे मूलव्रतों के पालन में सहायक है, ऐसा समझकर इसे अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए। ✡



अध्याय ३

श्रावक धर्म दर्शन

गुणव्रत : एक चिन्तन

गुणव्रत : एक चिन्तन

- ☐ दिशा परिमाण व्रत : एक विश्लेषण
- ☐ उपभोग-परिभोग परिमाण : एक अध्ययन
- ☐ उपभोग-परिभोग मर्यादा और व्यवसाय-मर्यादा
- ☐ अनर्थ-दण्ड-विरमणव्रत : एक चिन्तन

1

दिशा-परिमाणव्रत : एक चिन्तन

☆

गुणव्रत क्या और क्यों ?

आज हम पांच अणुव्रतों की व्याख्या पार करके छठे दिशापरिमाणव्रत में प्रवेश कर रहे हैं। आप सोचेंगे कि पांच अणुव्रत तो ठीक हैं, पर ये दिशापरिमाणव्रत आदि क्या हैं ? ये क्यों आवश्यक हैं, श्रावक के जीवन में ? सचमुच यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। किसी भी व्रत को अपनाने से पहले उसको सभी पहलुओं से सांगोपांग समझ लेना चाहिए।

पांच अणुव्रत तो मूलव्रत हैं। परन्तु इसके पश्चात् श्रावक जीवन में अपनाए जाने वाले जो सात व्रत हैं, वे व्रत तो अवश्य हैं, परन्तु वे गुणव्रत और शिक्षाव्रत हैं। गुणव्रत अणुव्रतों में विशेषता पैदा करने वाले हैं। अणुव्रत सोना है, तो गुणव्रत उस सोने की चमकदमक बढ़ाने के लिए पॉलिश के समान हैं।[1] अणुव्रत पुस्तकें हैं तो गुणव्रत उन पर जिल्द बांध कर और प्लास्टिक कवर लगाकर उनमें सुदृढ़ता, स्थायित्व, और चमक पैदा करने वाले हैं। तीन गुणव्रत पांच अणुव्रतों में शक्ति का संचार करते हैं, उनमें विशेषता पैदा करते हैं, उनके परिपालन में होने वाली कठिनाइयों को दूर करते हैं। मूल अणुव्रतों को स्वच्छ रखते हैं। कुछ आचार्यों ने इन ७ उपव्रतों को 'शीलव्रत' कहा है। उनका कहना है कि जैसे परकोटे नगर की रक्षा करते हैं, वैसे ही शीलव्रत अणुव्रतों की रक्षा करते हैं।[2]

ध्येय की दिशा में आगे बढ़ने के लिए

मानव-जीवन का ध्येय मुक्ति है। वही जीवन की अन्तिम मंजिल है। मुक्ति का अर्थ है—समस्त कर्मों, कषायों और विषयों से सदा से छुटकारा पा लेना और अनन्त सुख (परमानन्द) में लीन हो जाना। परन्तु मुक्ति की मंजिल तक शीघ्र पहुंचने

---

१. दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोग परिमाणम्।
अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥६०॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार

२ 'परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि। —पुरुषार्थ०

के लिए सबसे अच्छा रास्ता महाव्रत है, किन्तु है वह अत्यन्त कठोर, बड़ा ही कष्टप्रद एवं दुष्कर मार्ग। उस मार्ग पर चलने के लिए पूर्णत्याग अपनाना पड़ता है। सभी व्यक्ति इस महामार्ग पर चल नहीं सकते। इसलिए भगवान महावीर ने[1] दूसरा मार्ग बताया—आगारमार्ग—गृहस्थ श्रावक का मार्ग। उसके लिए कुछ रियायतें देकर आसान रास्ता बताया है।

जो लोग पूर्णता के कठोर मार्ग को नहीं अपना सकते, जिनके प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम नहीं हुआ, अथवा विषयोपभोग के साधनों एवं लौकिक कार्यकलापों से जिनकी आसक्ति, ममता पूरी तरह से हटी नहीं है, फिर भी जो मुक्तिरूप परम ध्येय की ओर बढ़ना चाहते हैं, उनके लिए शास्त्रकारों ने पांच अणुव्रतों का विधान किया है, और उस आंशिक त्याग मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा दी है। किन्तु ऐसे देशविरति (आंशिक त्यागी) को भी उसी ध्येय को प्राप्त करने के लिए, धीरे-धीरे बढ़ने के लिए उन्हें अकेले अणुव्रतों का सहारा पर्याप्त नहीं होता। गृहस्थ जीवन में उनके सामने अनेक अड़चनें आकर खड़ी हो जाती हैं कि सहसा उन्हें मार्ग नहीं मिल पाता, अथवा गृहस्थ जीवन में कई प्रलोभन एवं मोहाकर्षण आ जाते हैं, जो उन्हें उक्त ध्येय की ओर बढ़ने ही नहीं देते। अणुव्रतों के अंगीकार करने के बावजूद उनकी गति-मति वहीं ठप्प हो जाती है, वहाँ से एक कदम भी आगे बढ़ नहीं पाती। इस स्थिति में परिवर्तन लाने, गृहस्थ श्रावक को इन कठिनाइयों से बचाने और उसकी स्थगित गति-मति में शक्ति का संचार करके आगे बढ़ाने के लिए शास्त्रकारों ने अणुव्रतों के साथ तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों की योजना की। इन गुणव्रतों के अपनाने पर अणुव्रतों के कारण ठप्प हुई प्रगति अब तीव्रता से होने लगती है और गृहस्थ श्रावक भी महाव्रती साधु की तरह जीवन जीने का कभी-कभी अभ्यास करके मुक्ति रूप ध्येय तक पहुँच जाता है।

उदाहरणार्थ, [2]अणुव्रतों की सहायता के लिए तीन गुणव्रत बताये गए हैं—दिशापरिमाणव्रत, उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत और अनर्थ-दण्डविरमणव्रत। इन तीनों गुणव्रतों द्वारा अणुव्रतों की सीमा में रही हुई मर्यादा में और संकोच किया जाता है। जैसे अणुव्रतों में अमुक मर्यादा में तो हिंसा आदि के त्याग किये जाने के कारण, हिंसा आदि पापों का आंशिक त्याग हो जाता है, किन्तु शेष बहुलांश में सर्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में हिंसादि पाप के द्वार खुले हैं। उन हिंसादि आश्रवद्वारों को अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से बन्द करने में ये गुणव्रत सहायक होते हैं। जैसे

१ दुविहे मग्गे पण्णत्ते तंजहा-आगारिमग्गे य अणगारिमग्गे य। —स्थानांगसूत्र।

२ गुणार्थमणुव्रतानामुपकारार्थं व्रतं गुणव्रतम् दिग्विरत्यादीनानणुव्रतानुबृंहणार्थत्वात्। तथा भवति शिक्षा व्रतम्। शिक्षायै अभ्यासाय व्रतं देशावकाशादीनां प्रतिदिवसाभ्यसनीयत्वात्। अतएव गुणव्रतादस्य भेदः। गुणव्रतं हि प्रायो यावज्जीविकमाहुः। —सागार धर्मामृत टीका ४-४

दिशापरिमाणव्रत में छहों दिशाओं में गमनागमन मर्यादा कर लेने से पहले जो सर्वत्र हिंसा, असत्य आदि अमुक अंश में खुल्ले थे, वे इन छहों दिशाओं में गमन-मर्यादा करने से, उक्त मर्यादा के बाहर गमन न करने से हिंसादिद्वार बन्द हो जाते हैं। इसी प्रकार उपभोग परिभोग-परिमाणव्रत में भी उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं के उपभोग-परिभोग की सीमा हो जाती है, उक्त सीमा के बाहर की समस्त वस्तुओं का उपभोग परिभोग बन्द हो जाता है। इसी प्रकार अनर्थ दण्ड-विरमण व्रत में जो सार्थक दण्ड—अमुक सीमा तक हैं, उनके सिवाय जितने भी अनर्थ (निरर्थक) दण्ड हैं, उनके पाप से श्रावक बच जाता है।

कहना होगा कि अगर दिशाओं में गमन मर्यादा न की जाती, उपभोग-परिभोग की सीमा न बाँधी जाती और अनर्थदण्ड से विरति न की जाती, संक्षेप में गृहस्थ के द्वारा की जाने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति में औचित्य-अनौचित्य का विवेक न किया जाता तो अणुव्रतों के पालन करने में उपस्थित कठिनाइयाँ कैसे दूर होती, और ध्येय की ओर की जाने वाली जो गति-मति ठप्प हो गई थी, वह ध्येय की ओर कैसे प्रगति करती ? अतः पांच मूल-गुणरूप अणुव्रतों के पश्चात् गुणव्रतों का विधान बहुत ही उचित व आवश्यक है।

सर्वप्रथम दिशा परिमाणव्रत क्यों ?

इन तीन गुणव्रतों में सर्वप्रथम दिशा-परिमाणव्रत बताया गया है। इसका मूल कारण है विस्तृत लोभ रूपी समुद्र को बढ़ते हुए रोकना। आज आप देख रहे हैं, विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ मनुष्य के लोभ में भी प्रगति हुई है। प्राचीन काल में विज्ञान इतना विकसित नहीं हुआ था। दुनिया आज की तरह विशाल नहीं प्रतीत होती थी। यातायात के साधन इतने नहीं थे। बड़ी-बड़ी नदियों पर और कहीं-कहीं समुद्रों पर इतने पुल बने हुए नहीं थे। इसलिए एक देश से दूसरे की यात्रा और व्यावसायिक यात्रा करना इतनी आसान नहीं थी। आज विज्ञान की प्रगति के कारण मनुष्य ने भी अपनी यात्रा में प्रगति कर दी है। वह भी दूर-सुदूर की यात्रा कुछ ही घण्टों में तय कर लेता है। वर्तमान युग के मानव ने अपने जीवन के वास्तविक ध्येय को भुलाकर प्रायः भौतिक सुख-सुविधा की सामग्री जुटाना और उसका अधिकाधिक उपभोग करके इन्द्रियजन्य वैषयिक सुखों को प्राप्त करना ही अपना ध्येय बना लिया है। इस भौतिक सुख की दौड़ में मनुष्य किसी प्रकार की सीमा बांधे बिना, कोई मर्यादा रेखा खींचे बिना दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बेतहाशा भागा जा रहा है। कभी वह इस भौतिक सुख-सामग्री एवं तृष्णा के प्रवाह में बह कर अमेरिका आता है तो कभी लन्दन ! कभी वह विमान में बैठकर पक्षी की तरह आकाश में उड़ता है, तो कभी स्टीमर में बैठ कर समुद्री यात्रा करता है। किसी समय वह स्थल-मार्ग से मोटर बस द्वारा या रेलगाड़ी द्वारा यात्रा करता है।

इस तरह दिन-रात दौड़-धूप करता रहता है, पर वह कभी रुककर यह नहीं

सोचता कि आखिर इतनी दौड़धूप का उद्देश्य क्या है ? क्या केवल वैभव बढ़ाना और उससे वैषयिक सुख-शान्ति प्राप्त करने की आशा रखना ही इस दौड़धूप का उद्देश्य है ? सचमुच आज के अधिकांश मानव यही सोचते हैं कि पहले देश-विदेश में यात्रा करके वहाँ से प्रचुर धन कमा लाऊं, और फिर मैं आराम से जिंदगी बिताऊँ। परन्तु उसकी यह भ्रान्ति है कि केवल धन से वह आराम पा सकेगा।

एक बहुत बड़े व्यापारी थे। दूर-दूर तक विदेशों से उनका व्यापारिक सम्बन्ध था। बम्बई जैसे बड़े शहर में उनकी फर्म थी। व्यापार बहुत अच्छा चलता था। किसी बात की कमी न थी। फिर भी सेठ को रात-दिन व्यापार की एवं देश-विदेश से माल मंगाने एवं भेजने की चिन्ता सताती रहती थी। सेठ के चार लड़के थे, परन्तु वह स्वयं फर्म पर बैठता था। बुढ़ापा आने पर भी सेठ को धर्म-ध्यान या भगवद्-भजन की बात नहीं सुहाती थी। कोई उनसे कहता—'सेठ ! अब तो बुढ़ापा आ गया है, आपके चारों लड़के काम संभाल सकते हैं, फिर क्यों स्वयं इस व्यापार की खटपट में पड़े हैं ? छोड़िये इस जंजाल को। अब तो आपको अपनी पिछली जिंदगी सुधारने के लिए व्रतग्रहण करना चाहिए, और भगवद्भजन में समय बिताना चाहिए।" तो सेठ हँसकर कहता—"अजी ! अभी तो मैं सभी कार्य अपने हाथ से कर सकता हूँ। इसी समय तो कमाने का मौका है। जितना कमा सकूं, कमा लूं। फिर जब हाथ-पैर नहीं चलेंगे, तब आराम से बैठ कर जिंदगी बिताऊँगा, भगवान् का भजन कर लूँगा।"

क्या आप विश्वास के साथ यह कह सकते हैं, कि ऐसे लोग, जिनकी दृष्टि रात-दिन धन कमाने की ओर ही लगी रहती है, कभी आराम की जिन्दगी बिता सकेंगे ? क्या यह अर्जित धन उनके लिए सुखदायक बनेगा ? या वे जब शरीर से लाचार हो जाएँगे, तब भी धन के स्वप्न न देखकर धर्म-ध्यान करने में और प्रभु भजन करने में जुट जाएँगे ? अनुभव तो इसके विपरीत साक्षी देता है कि ऐसे लोग, जिन्हें पहले से धर्म-ध्यान का अभ्यास नहीं है या जो लोग धर्म, आत्मा-परमात्मा के चिन्तन से सर्वथा उदासीन हैं, शरीर से लाचार हो जाने पर भी प्रायः धर्म-ध्यान या आत्म-चिन्तन नहीं कर पाते, प्रायः ऐसे लोग अन्तिम समय में आर्त्त-ध्यान करते हुए परलोक के पथिक होते हैं, वे धर्म-ध्यान का आनन्द जीवन में ले नहीं पाते, बल्कि कदाचित् दबाव डालने पर धर्म-ध्यान के नाम पर एकाध माला फेर ली, कुछ देर भजन भी कर लिया, फिर भी उनका चित्त तो धन के चिन्तन में ही डूबा रहता है।

हाँ तो, उस सेठ का जीवन भी धनमय हो गया। व्यापार के सिवाय और कोई बात उन्हें विष-सी कटु लगती थी। कोई निकट के धर्मप्रेमी स्वजन आकर उन्हें कहते तो उन पर क्रोध न करके शान्ति से जवाब देते—"भाई ! मुझे कौन-सा लम्बा-चौड़ा व्यापार करना है ? दो घड़ी फर्म पर आकर बैठता हूँ तो समय भी

आराम से कट जाता है और थोड़ा-सा फर्म की गतिविधि पर ध्यान भी रख लेता हूँ। घर में यों ही खाली बैठे रहना अच्छा नहीं लगता।"

चारों लड़के बड़े समझदार थे, वे भी अपने पिताजी को व्यापार से निवृत्ति लेने और धर्मध्यान में जिन्दगी व्यतीत करने की बार-बार कहा करते थे, पर सेठ उनकी बात सुनी-अनसुनी कर देता था। उनके दूर के सगे-सम्बन्धी लड़कों पर दबाव डालकर कहने लगे—'अब सेठ से कब तक इस प्रकार की बेगार कराते रहोगे ? अब तो इन्हें आराम लेने दो।' लड़के कहते—'हम तो वर्षों से कह रहे हैं। पर पिताजी हमारी बात सुनते ही नहीं। हम क्या करें ?'

लड़कों को जब लोग बहुत कहने लगे तो उन्होंने शहर के कुछ प्रतिष्ठित लोगों को समझाकर उनसे सेठ पर दबाव डलवाया कि "अब तो आपको बम्बई छोड़कर गाँव में जाकर आराम से रहना चाहिए।"

सेठजी उनकी बात को टाल न सके। पर उन्होंने एक शर्त पर गाँव में जाकर रहना स्वीकार किया कि "उन्हें व्यापार की गतिविधि की पूरी खबरें मिलती रहें।" सेठ के चारों पुत्र किसी तरह इस बात से सहमत हुए। सेठ बिना मन से भी शहर छोड़कर गाँव में पहुँचे। धन की कोई कमी न थी। गाँव में भी सेठ के लिए सभी साधन जुटा दिये गए। परन्तु गाँव में सेठ का मन कहाँ से लगता ? उनका मन तो शहर में था, खासकर व्यापार-धंधे में और पैसे में था। 'खारे पानी की मछली मीठे पानी में मर जाती है', वैसे ही सेठजी को व्यापार और धन से विमुख होकर शहर से गाँव में आना जरा भी अच्छा नहीं लगता था। पर क्या करें ? इसी उदासीनता और चिन्ता के मारे उन्हें जीर्ण ज्वर होने लगा। ज्यों-ज्यों इलाज किया, रोग घटने के बदले बढ़ता ही गया। स्वास्थ्य अत्यन्त बिगड़ता देखकर चारों पुत्रों को तार देकर बम्बई से बुलाया। परन्तु वे पहुँचे उससे पहले ही सेठ की जबान बन्द हो चुकी थी। लड़कों ने बहुत कुछ प्रयत्न किया कि वे कुछ कहें, परन्तु उनकी जिह्वा खुली ही नहीं। आखिर बड़े पुत्र ने पिता के कान के पास मुंह लगाकर जोर से कहा—'पिताजी ! कुछ कहना है।' सेठ ने स्वीकृति सूचक सिर हिलाया। पुत्र ने कहा—तो कहिए न, क्या कहना है ?" सेठ अपनी सारी शक्ति बटोरकर सिर्फ इतना ही कह सके—'वा····सा।' किन्तु इस शब्द का अर्थ किसी की समझ में नहीं आया। बहुत देर तक सभी लड़के इस पर विचार करने लगे। आखिर सबसे छोटे पुत्र ने कहा—'जरा बहीखाते तो देख लें कि उनमें कहीं वा. सा. सेठ का खाता हो। सम्भव है, पिताजी के हाथ से उन्हें कोई बड़ी रकम कर्ज में दी गई हो।"

सबने तुरन्त बहीखाते टटोलने शुरू किये। पर इस नाम के किसी सेठ का खाता उनमें मिला नहीं। अन्त में, जब सेठजी ने कुछ नहीं कहा तो सब चुप हो गए। तीसरे दिन सबके देखते ही देखते सेठजी इस लोक से कूच कर गए। उनके

मन की बात मन में ही रह गई। न धर्म-ध्यान कर सके, न आत्म-चिन्तन और प्रभुभजन ही कर सके।

यह है मर्यादाहीन, लोभग्रस्त जीवन की दशा!

दिशापरिमाणव्रत लोभवृत्ति और लोभवृत्ति के कारण होने वाली हिंसा (शारीरिक एवं मानसिक), असत्य, बेईमानी, चोरी, परिग्रहवृत्ति आदि पापों को, जो कि विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए थे, चाहे वे अणुव्रत के दायरे में ही थे, सीमित कर देता है। वह लोभ के बढ़ते हुए सागर को एक गागर में सीमित कर देता है। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने दिग्विरतिव्रत की महिमा बताते हुए कहा है—[१] "जिस मनुष्य ने दिग्विरतिव्रत अंगीकार कर लिया, उसने जगत् पर आक्रमण करने के लिए अभिवृद्ध लोभरूपी समुद्र को आगे बढ़ने से रोक दिया।' इस व्रत को धारण करने के पश्चात् मनुष्य लोभ के कारण दूर-दूर देशों में अधिकाधिक व्यापार करने के लिए जाने से रुक जाता है। फलतः लोभ पर अंकुश लग जाता है।

मनुष्य दूर-सुदूर देश-विदेशों में मुख्यतः तीन कारणों से जाता है—(१) अधिकाधिक धन कमाने के लोभ में विदेशों से व्यापार सम्बन्ध जोड़ने के लिए, (२) आमोद-प्रमोद करने, सैर-सपाटे के लिए, विभिन्न देशों के वैषयिक सुखों का आस्वादन करने के लिए और (३) किसी आध्यात्मिक पुरुष की सेवा में पहुँचकर आत्मकल्याण की दृष्टि से अध्ययन-मनन एवं चिन्तन के लिए, अथवा धर्म-ध्यान के लिए, धर्म-प्रचार के लिए। तीसरे कारण की दृष्टि से श्रावक के लिए देश-विदेशों में गमन कथंचिद् उपादेय हो सकता है, परन्तु अर्थ और काम (लोभ और आमोद-प्रमोद) की दृष्टि से श्रावक का देश-विदेशों में पर्यटन या गमनागमन श्रावक-जीवन के उद्देश्य की दृष्टि से, ध्येय की ओर गति करने की दृष्टि से बाधक है।[२]

यही कारण है कि हेमचन्द्राचार्य ने दिग्विरति का पूर्वोक्त लाभ बताया है। दूसरा लाभ भी उन्हीं के शब्दों में देखिये—

"जैसे तपाये हुए लोहे के गोले को कहीं पर भी रखने से जीवों की हिंसा होती है, वैसे ही मनुष्य के चलने-फिरने से (फिर चाहे वह उड़कर गमन करे या स्टीमर द्वारा पानी पर तैरकर गमन करे) त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती रहती है। किन्तु दिग्परिमाणव्रत के कारण आवागमन मर्यादित हो जाने से जीवों का विनाश कम हो जाता है।"

निष्कर्ष यह है कि तृष्णा को घटाने के लिए और अपरिग्रह की दृढ़ता के

---

१ जगदाक्रममाणस्य प्रसरल्लोभवारिधेः।
स्खलनं विदधे तेन, येन दिग्विरतिः कृता ॥३॥

२ चराचराणां जीवानां विमर्दन-निवर्तनात्।
तप्तायोगोलकल्पस्य सद्वृत्तं गृहिणोप्यदः ॥२॥ —योगशास्त्र प्र. ३, श्लोक, ३-२

लिए तथैव तृष्णा एवं लोभ के कारण होने वाले हिंसा आदि दोषों को कम करने के लिए इस व्रत की आवश्यकता है।

वस्तुतः श्रावक जो पाँच अणुव्रत स्वीकार करता है, व्रतों में स्थिर रहते हुए ध्येय की ओर आगे बढ़ना ही उसका लक्ष्य बिन्दु होता है। परन्तु चित्त में शान्ति न हो तो ध्येयमार्ग में स्थिर रहा नहीं जा सकता, फिर आगे बढ़ना बहुत दूर की बात है। चित्तशान्ति तभी हो सकती है, जब वृत्ति में संकोच हो। जब तक वृत्ति में संकोच नहीं होता, तब तक साधक के चित्त में व्यग्रता एवं चंचलता रहती है। चंचलता एवं व्यग्रता के रहते, व्यक्ति किसी स्थान, या इन्द्रिय-विषयों और लोभ-पोषक पदार्थों के सम्बन्ध में सुनता है तो उसे उन-उन इन्द्रिय-विषयों या लोभपोषक पदार्थों का उपभोग करने, उस स्थान को देखने, उस स्थान-विषयक अनुभव प्राप्त करने का विचार हो ही जाता है। जिसने वृत्तिसंकोच नहीं किया है, उसके मन-मस्तिष्क में चंचलता के कारण गमनागमन होना भी स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति में त्याग भावना न रहकर विलासिता अपना आधिपत्य जमा लेती है। इसलिए व्रतधारी श्रावक के लिए यह उचित है कि वह अपनी सामान्य आवश्यकताओं को देखते हुए दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा करने हेतु दिशापरिमाणव्रत को अंगीकार करे।

धर्मप्रधान जीवन के लिए दिशापरिमाणव्रत आवश्यक

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ माने गए हैं। परन्तु गृहस्थ श्रावक के लिए एकान्त अर्थ और काम त्याज्य हैं। या तो धर्म और मोक्ष ये दोनों उनके जीवन में हों, या फिर व्यावहारिक गार्हस्थ्य जीवन में धर्मयुक्त अर्थ और काम हों। तीर्थंकरों ने मोक्ष को जीवन का ध्येय या साध्य तथा धर्म को उसका साधन बताया था। पाश्चात्य देशों ने भौतिक विज्ञान के अत्यधिक सम्पर्क के कारण काम को साध्य माना और अर्थ को माना उसका साधन। इसी कारण उनका जीवन अर्थ प्रधान बन गया।

वर्तमान में धर्मप्रधान भारतवर्ष को भी पश्चिमी संस्कृति का रंग लग गया है, इसलिए भारतीयों का जीवन भी अर्थ-प्रधान बनता जा रहा है। दुर्भाग्य से जैन कहलाने वाले लोगों को भी इसकी हवा लग चुकी है। परन्तु भगवान् महावीर ने कहा कि श्रावक को अपनी दृष्टि धर्म-प्रधान रखनी चाहिए, अर्थ प्रधान नहीं। धर्म-प्रधान दृष्टि होने से वह अर्थ को साधन और काम को उसके द्वारा साध्य नहीं मानेगा। यद्यपि वह नाना प्रकार के पदार्थों (जिनमें धन भी है) को आवश्यकतानुसार जुटाएगा, उनका उपभोग (काम) भी करेगा, परन्तु उसकी दृष्टि उन्हें हेय समझ कर छोड़ने की होगी। इस धर्मप्रधान दृष्टि के होने पर अर्थ और काम उसके लिए गौण होगा। अपने जीवन का साध्य वह काम को और उसकी पूर्ति के लिए साधन अर्थ को नहीं मानेगा। ऐसी स्थिति में वह अपनी लोभवृत्ति को बहुत ही सीमित करेगा, केवल

शरीर और परिवार के पोषण के लिए सीधेसादे सरल जीवन के योग्य अर्थ ही वह उपार्जित करेगा। क्योंकि वह जानता है कि शरीर और परिवार के लिए आवश्यकता से अधिक अर्थ संग्रह करना बेकार है। शरीर क्षणभंगुर है, उसका कोई विश्वास नहीं है। मुझे केवल अपने शरीर और परिवार को धर्मपालन के लिए उपयोगी एवं सशक्त रखने हेतु कुछ अर्थ की जरूरत है, पर उसके लिए इतनी उखाड़-पछाड़ क्यों ? सुदूर देश-विदेश में इतनी दौड़-धूप क्यों ? सादा, सीधा, सन्तोषी जीवन व्यतीत करने से धर्माराधना भी भली-भाँति हो सकेगी, चित्त में भी शान्ति रहेगी और यथावश्यक इन्द्रिय-सुख भी प्राप्त होगा। इसी दृष्टिकोण से दिशापरिमाणव्रत की योजना गृहस्थ-श्रावक के लिए प्रस्तुत की है। दिशापरिमाणव्रत का ग्रहण करने से गृहस्थ श्रावक के सांसारिक जीवन-व्यवहार को कोई आँच नहीं आती, और न ही शरीर सुख एवं मानसिक शान्ति एवं स्वस्थता में कोई रुकावट आती है। और धर्म की आराधना सुचारु रूप से हो जाती है। किन्तु केवल अर्थ काम की वासना होगी तो उसके कारण मनुष्य सुदूर देश-विदेशों में भाग-दौड़ करता फिरता है, उसके मन को शान्ति नहीं मिलती, न उसकी रुचि धर्माराधना में बढ़ती है।

अर्थप्रधान जीवन की दुर्दशा

मैंने रूस के प्रसिद्ध विचारक टॉल्स्टॉय की एक कहानी पढ़ी थी। एक जमींदार था। वह बहुत लोभी था। रात-दिन उसका चित्त धनवृद्धि में ही निमग्न रहता था।

एक बार एक बहुत बड़े धनाढ्य ने उससे कहा—"तुम्हें जमीन चाहिए तो मैं दूंगा, पर शर्त यह है कि तुम यहाँ से दौड़ लगाओ और सूरज डूबने तक जितनी दूर जाकर वापिस आ जाओ बस, सूर्यास्त से पहले जितनी जमीन अपने पैर से नाप कर वापिस जहाँ तक लौट आओगे, उतनी जमीन तुम्हें मिल जाएगी।" लोभी जमींदार के मन में विचार आया कि इसमें क्या है ? यह तो मेरे बाँये हाथ का खेल है।' अतः दूसरे दिन सूर्योदय होते ही उसने अपने निवास-स्थान से दौड़ प्रारम्भ की। वह दौड़ता गया, दौड़ता गया।

प्रारम्भ में तो उसमें उत्साह और शरीर बल था, इसलिए बहुत तेजी से दौड़ लगाई। परन्तु कुछ दूर जाने पर वह हाँफने लगा, उसकी गति धीमी हो गई। उसके पैर लड़खड़ाने लगे। किन्तु लोभ का भूत उस पर सवार था, इसलिए लोभावेश में आकर कुछ देर धीमा पड़ कर फिर तीव्र गति से दौड़ने लगता। आगे चलकर जब उसने देखा कि सूर्य डूबने में अब थोड़ी ही देर है, अतः वापिस मुड़ा और दौड़ लगाई। सूरज डूबने में अब जरा-सी देर थी, कि वह एक दम हाँफने लगा, चक्कर खाकर धड़ाम से गिर पड़ा और वहीं दम तोड़ दिया।

टॉल्स्टॉय ने कथा का उपसंहार करते हुए कहा—"उक्त लोभी मनुष्य को कितनी जमीन की आवश्यकता थी ? सिर्फ साढ़े तीन हाथ ही जमीन उसके लिए

काफी थी।" किन्तु लोभवश उसने अनापसनाप भूमि दौड़-दौड़ कर नापी। लोभ के नशे में वह अपनी शक्ति को भी भूल बैठा।

इसी प्रकार, मैं आपसे पूछता हूँ कि मनुष्य की आज कितनी आवश्यकताएँ हैं ? एक शरीर और परिवार के लिए बहुत ही थोड़ी, पर मनुष्य अपनी कल्पित आवश्यकताओं के चक्कर में पड़ कर सुदूर देश-विदेश में अनावश्यक दौड़ लगाता है। किस लिए ? इसलिए कि इतना धन कमा लूँ, इतना ऐश-आराम कर लूंगा।

वैभव और ऐश्वर्य की तृष्णा मानव को सुदूर देशदेशान्तर में भटकने के लिए प्रेरित करती रहती है, उसे शान्तिपूर्वक चैन से नहीं बैठने देती।

पश्चिम के एक देश का सम्राट् पायरस चाहता था कि "मैं पहले कुछ देशों पर विजय प्राप्त कर लूं, फिर आराम से जिन्दगी बिताऊँ।' जब वह दूसरे देशों पर विजय पाने के लिए अपनी सेना को लेकर निकला तो एक तत्त्ववेत्ता ने उससे पूछा—"महाराज ! आप कहाँ जा रहे हैं ?"

सम्राट् ने उत्तर दिया—मैं इटली पर विजय पाने के लिए जा रहा हूँ।"

इटली को जीतकर फिर क्या करेंगे ?" तत्त्ववेत्ता ने पूछा।

सम्राट् बोला—"फिर अफ्रीका जीतूंगा।"

तत्त्ववेत्ता—"उसके बाद क्या करेंगे ?"

सम्राट्—उसके पश्चात् मैं शान्ति से जीवन बिताऊँगा।"

तत्त्ववेत्ता ने तपाक् से कहा—"सम्राट् ! बेअदबी के लिए मेरा अपराध क्षमा करें। आप अभी से ही शान्तिपूर्वक जीवन क्यों नहीं बिताते ? क्या इतनी मारकाट और युद्धों की विभीषिका के बाद आपके मन को शान्ति मिल जाएगी ? क्या अभी आपको किसी बात की कमी है, जो इतनी उखाड़-पछाड़ करने को उद्यत हुए हैं ? आपके पास अन्न, वस्त्र, आवास आदि किसी चीज की तो कमी है नहीं, जिसके कारण आप दुःखी हों, और उस दुःख को मिटाने के लिए इतने देशों पर विजय पाने को लालायित हो रहे हैं ?"

मुझे भी उन लोगों से पूछना है कि कौन-सी ऐसी आफत आ पड़ी कि आपको अपना देश या प्रान्त छोड़कर दूसरे देश या प्रान्त की यात्रा करनी पड़ रही है ? प्रश्नव्याकरणसूत्र में परिग्रहियों की मनोदशा तथा जीवन की दशा का बहुत ही स्पष्टतया वर्णन किया गया है कि वे नौकाओं में बैठकर देश-विदेश की दूरसुदूर की साहसिक यात्रा करते हैं, रास्ते में उन्हें कई बार समुद्री लुटेरों से सामना करना पड़ता है। यहाँ तक कि कई तस्कर, दस्यु आदि अपनी जान को जोखिम में डालकर भी धन-सम्पत्ति के लिए ऐसे विषम स्थानों में जाते हैं। ऊबड़-खाबड़ खोहों में छिपते हैं, रात-दिन आशंकित रहते हैं। न उनके खाने का ठिकाना है, न रहने का ठिकाना है, और न ही उनके सोने का कोई ठिकाना है। कितनी बेचैन, अशान्त और दुःख-

मयी कष्टपूर्ण जिन्दगी है, क्या आप समझते हैं कि ऐसे लोग अधिक धन कमाकर या अनेक राज्यों को जीतकर सोना, मोती चुग लेते हैं ? वे भी तो उतना ही भोजन कर सकते हैं, जो उन्हें पचता हो। बल्कि कई बार तो भोजन के भी लाले पड़ जाते हैं ! क्या आप इसे आराम की जिन्दगी कहेंगे ? कदापि नहीं।

मनुष्य में दो बहुत-बड़ी वासनाएँ हैं—भोग और और ऐश्वर्य ! ये दो वासनाएँ ही मनुष्य से इतनी दौड़-धूप कराती हैं।

आपने सुभूमचक्रवर्ती के विषय में सुना होगा। उसने छह खण्ड जीत लिए थे, परन्तु इतने से उसे सन्तोष नहीं हुआ। अतः उसने धातकीखण्ड के छह खण्डों को जीतने का विचार किया और चल पड़ा उन छह खण्डों पर विजय पाने के लिए। जब सुभूमचक्री से किसी हितैषी ने कहा—"सभी चक्रवर्ती छह खण्ड ही साधते हैं, अतः आपका इससे आगे बढ़ना उचित नहीं है।"

"मैं भी छह खण्डों पर विजय प्राप्त करूँ, इसमें मेरी क्या विशेषता रही ?" सुभूम ने उत्तर दिया और वह अपनी विशाल सेना एवं चर्मरत्न आदि को लेकर बारह खण्ड का स्वामी बनने के लिए चल पड़ा।

सेनासहित सुभूमचक्रवर्ती आगे कूचकर रहा था, तभी विशाल समुद्र आया। सुभूम ने सगर्व अपनी सेना को आदेश दिया—"चर्मरत्न को समुद्र की छाती पर रखो और सारी सेना को चर्मरत्न पर बैठ कर इस समुद्र को पार कराओ।" आदेश मिलते ही चर्मरत्न समुद्र के वक्षस्थल पर स्थापित किया गया। चर्मरत्न के रक्षक एक हजार देवता होते हैं, वे उसे समुद्र के पानी पर तिराते रहते हैं। फलतः देवों ने चर्मरत्न को समुद्र पर तिराना प्रारम्भ किया। इतने में एक देव को यह विचार स्फुरित हुआ कि "कब यह सेना समुद्र पार करेगी और कब मुझे यहाँ से छुट्टी मिलेगी ? इसे समुद्र पार करने में तो कई वर्ष पूर्ण हो जाएँगे। इसलिए जरा अपनी देवी से तो मिल आऊँ।" वह वहाँ से चल पड़ा अपनी देवी से मिलने। दूसरे देव के मन में ऐसा ही विचार स्फुरित हुआ और वह भी चला गया। यों एक के बाद एक सभी देव वहाँ से खिसक गए। सेना तो अपनी मस्ती में थी, सुभूम अपने चक्रवर्ती पद के गर्व में था। फलस्वरूप जो चर्मरत्न देवों की शक्ति से समुद्र पर तैर रहा था, वह देवों के जाते ही सहसा समुद्र में डूब गया। सेना सहित सुभूमचक्रवर्ती उसी समुद्र की गोद में समा गया। वह मर कर सातवीं नरक में पहुँचा।

ऐश्वर्य और वैभव के पीछे पागल बनने वालों की यही बुरी दशा होती है। इससे आप समझ गए होंगे कि दिशापरिमाणव्रत के अभाव में मनुष्य ऐश्वर्य पाने के लिए कितनी दूर तक दौड़-धूप करता है।

सच पूछें तो जिन लोगों के इस प्रकार से दिशाओं की मर्यादा नहीं होती; वे ही इस प्रकार से रातदिन दौड़धूप एवं उखाड़-पछाड़ करते रहते हैं। इस प्रकार की

संकटापन्न जिन्दगी में न आराम है, न सन्तोष है और न ही मानसिक शान्ति है। इसीलिए तो भगवद्गीता में कहा गया है—

'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'

त्याग के बाद शीघ्र ही शान्ति प्राप्त होती है।

मनुष्य के इस लोभी, तृष्णातुर स्वभाव को ध्यान में रखकर ही शास्त्रकारों ने इस छठे व्रत की रचना की है, ताकि मानव इस व्यर्थ की दौड़-धूप से बचकर शान्ति और अमनचैन से जीवनयापन कर सके।

सिकन्दर बादशाह ने आधी दुनिया लगभग जीत ली थी, तथा आधी दुनिया की दौलत इकट्ठी कर ली थी। लेकिन जब उसकी मृत्यु होने लगी, तब उसने अपने मन्त्रियों को आदेश दिया—"मेरे दोनों हाथ मृत्युशय्या (जनाजा) से बाहर रखना।" मन्त्रियों ने पूछा—"जहाँपनाह! यह तो शाही परम्परा के खिलाफ है। दोनों हाथ जनाजे के बाहर रखने का कारण क्या है?"

सिकन्दर रोते हुए बोला—"मेरे सामने धन का यह ढेर रखा है, जो आधे विश्व का है, और मैंने आधे विश्व के बराबर साम्राज्य (भूमि) भी प्राप्त कर लिया है, बोलो, ऐसा कोई उपाय है, जिससे यह सारा धन और इतनी भूमि मेरे साथ परलोक में आ सके?"

मन्त्रियों ने दुःख प्रकट करते हुए कहा—"नहीं हजूर! इनमें से एक कण भी आपके साथ परलोक में नहीं चलेगा।"

"इसलिए तो मैंने आदेश दिया है कि मेरे दोनों हाथ जनाजे से बाहर रखना, ताकि सारी जनता यह स्पष्ट देख सके और इससे एक नसीहत ले सके कि आधे विश्व का विजेता और अपार वैभव का स्वामी सिकन्दर भी खाली हाथ जा रहा है। इसी तरह सबको खाली हाथ जाना पड़ेगा। कोई भी अपने साथ परलोक में धन-सम्पत्ति या जमीन-जायदाद नहीं ले जा सकेगा। इसलिए सुख-शान्ति से जीने के लिए इस प्रकार के उखाड़-पछाड़ की जरूरत नहीं है।

आप गहराई से सोचिए, निर्धन हो या धनाढ्य सभी हवा, पानी, धान्य आदि का समान रूप से उपभोग कर सकते हैं। धनिक धन खाकर जिन्दा नहीं रह सकता। सम्पत्ति किसी के बुढ़ापे या मौत को नहीं रोक सकती। किसी भी बीमारी को भी अगर अशुभ कर्म प्रबल हो तो धन नहीं रोक सकता। इतना सब होने पर भी धन-संचय की तृष्णा और उसके लिए भाग-दौड़ करना मूढता है। वास्तव में सन्तोष ही शान्ति का स्रोत है। सन्तोष इस प्रकार से दिग्परिमाणव्रत स्वीकार करने से प्राप्त होता है।

ग्रीस में डायोजिनिस नामक एक प्रखर दार्शनिक हो गया है। वह बहुत ही अल्पसाधनों से अपना जीवन मस्ती से गुजारता था। वह किसी भी शाहंशाह की

परवाह नहीं करता था। सिवाय परमात्मा के वह किसी के प्रति श्रद्धा नहीं रखता था। एक पाश्चात्य विद्वान् ने सिकन्दर और डायोजिनिस दोनों की तुलना करते हुए कहा है—

'Contenment depends upon what we have. A tub was large enough for Diaginous; but the world was too little for Alexander.'

'सन्तोष इस बात पर निर्भर नहीं है, हमारे पास अधिक धन या सत्ता हो। डायोजिनिस के लिए सिर्फ एक टब ही काफी था, जबकि सिकन्दर के लिए सारा विश्व भी छोटा-सा था।'

सुख-शान्ति का मूलाधार सन्तोष है; सत्ता या सम्पत्ति नहीं। सुख-शान्तिमय जीवन बिताने के लिए ही भगवान् महावीर ने श्रावकों के लिए दिशापरिमाणव्रत निश्चित किया है।

विभिन्न सुदूर देशों या प्रान्तों में भी व्यवसाय पर प्रतिबन्ध

वैसे भी देखा जाय तो आज विदेशों से माल मँगाने या भेजने का लायसेंस लेना पड़ता है। कई देशों में तो वहाँ की सरकार दूसरे देशों से अमुक माल मँगाने या भेजने पर प्रतिबन्ध लगाती है। इसका कारण है दूसरे देशों से कच्चा माल मँगाने से या यहाँ से कच्चा माल भेजने से यहाँ के शिल्पी या कारीगर जो पक्का माल बनाते हैं, बेकार और बेरोजगार हो जाते हैं। उन लोगों का धन्धा छिन जाता है। यह वृत्ति परदेशी व्यापारियों और वहाँ के निवासियों में परस्पर संघर्ष पैदा कर देती है।

इसी प्रकार विदेशों या अन्य प्रान्तों में जाकर वहाँ अपना व्यवसाय फैलाने से वहाँ के निवासियों में उन व्यापारियों के प्रति घृणा की भावना फैलती है। इसे प्रत्यक्ष रूप में आज भी बंगाल या तमिलनाडु में देखा जा सकता है। वहाँ के मूल निवासियों की आँखों में दूसरे (राजस्थान या गुजरात) प्रान्त या देश (भारत) से आकर व्यापार का जाल फैलाना और प्रचुर धन कमाकर अपने देश में भेजना खटकता है। वे अपनी प्रान्तीयता की एक अन्धराष्ट्रीयता की भावना के अनुरूप संघर्ष भी करते हैं और जब तब दूसरे देश या प्रान्त के व्यापारियों को खदेड़ने का भी प्रयत्न करते हैं, वहाँ की (अपनी) राज्यीय या राष्ट्रीय सरकार से इस प्रकार के कानून बनाकर दूसरे प्रान्त या राष्ट्र के लोगों द्वारा किये जाने वाले व्यवसाय पर प्रतिबन्ध भी लगाने का अनुरोध करते हैं। कई बार इस प्रकार की प्रान्तीयता एवं अन्तरराष्ट्रीयता के फलस्वरूप दंगे-फिसाद, लूटपाट, आगजनी आदि हिंसाजनक कुकृत्य भी होते हैं। बम्बई के द्विभाषी राज्य घोषित किये जाने पर गुजराती-महाराष्ट्रीयनों में इस प्रकार के संघर्ष एवं दंगों की भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गई थी। बंगाल में भी मारवाड़ियों को खदेड़ देने की कुछ घटनाएँ वहाँ के प्रान्तवादी लोगों द्वारा घटित हुई थीं। अफ्रीका और बर्मा में भी वहाँ वर्षों से व्यापार करने वाले भारतीयों को निकाल दिया था,

तथवा निष्कासित होने को मजबूर कर दिया था। ऐसी स्थिति अन्य राष्ट्रों या प्रान्तों में भी आ सकती है।

इसलिए भावी दुःस्थिति से बचने और सुख-शान्तिपूर्वक जीवनयापन करने के लिए अगर मनुष्य दिशापरिमाण कर ले तो कितना अच्छा हो ! दिशाओं में गमन की मर्यादा (सीमा) कर लेने से, जैसे अन्य देशों से माल मँगाया नहीं जा सकता, वैसे ही उसे भेजा भी नहीं जा सकता। साथ ही सैरसपाटे ऐशोआराम या व्यापार बढ़ाने के लिए भी गमनागमन नहीं हो सकता। इसी तरह दूसरे देशों का सहारा लेने की जो परमुखापेक्षी, परावलम्बी मनोवृत्ति है, वह भी दिशापरिमाण कर से मिट जाती है। अपने राष्ट्र एवं प्रान्त में ही व्यवसाय करने, और अपने देश के ही लोगों को रोजगार देकर सन्तुष्ट करने से स्वप्रान्त एवं स्वराष्ट्र को ही उन्नति करने का अवसर मिलता है; अपने देश को उत्पादन की दृष्टि से आत्मनिर्भर होने का मौका मिलता है। विदेशी माल का आयात बन्द हो जाने से विदेशी व्यापारिक केन्द्र—बन्दरगाहों के लिए होने वाले संघर्ष एवं तज्जन्य विश्वयुद्ध का खतरा ही समाप्त हो जाएगा। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी स्थापित करके ब्रिटिश शासन के मान्धाताओं ने भारत से कच्चा माल भेजकर यहाँ का उत्पादन ठप्प कर दिया था, यहाँ के कलाकौशल और शिल्प प्रायः नष्ट कर दिये गए थे; यहाँ के बहुत-से उत्पादक एवं शिल्पी बेरोजगार हो गए थे। मतलब यह है कि यहाँ का बहुत-सा धन विदेशों में चला जाता था तथा वहाँ से कपड़ा आदि जो पक्का माल यहाँ आता था, वह भी बहुत ऊँचे दामों में बिकता था, इस प्रकार भारतीय जनता का दोहरा शोषण होता था। यह स्थिति किसी भी स्वाभिमानी और स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए अच्छी नहीं मानी जा सकती। इस दुःस्थिति से बचने का सर्वश्रेष्ठ उपाय स्वैच्छिक नियमन के रूप में दिशापरिमाणव्रत ही है।

जो इस प्रकार से दिशापरिमाण के रूप में स्वैच्छिक प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करते, उनको भयंकर स्थिति का सामना करना पड़ता है। इस पर गम्भीरता से प्रत्येक सद्विचारक सद्गृहस्थ श्रावक को विचार करना चाहिए।

जो इस पर गहराई से विचार न करके अपना व्यापार-धन्धा अमर्यादितरूप से सुदूर विदेशों में फैला लेता है, वह लोभ के वश महापरिग्रही बनकर अपना पतन कर बैठता है। ज्ञातासूत्र में वर्णित जिनरक्ष और जिनपाल नामक दो सहोदर भाइयों का दृष्टान्त इस बात का साक्षी है।

दिग्परिमाणव्रत ग्रहण न करने से महा-हानि

जिनरक्ष और जिनपाल के पिता बहुत बड़े व्यापारी थे। उनके पास प्रचुर मात्रा में धन था, सब प्रकार के सुख-साधन भी थे। फिर भी जिनरक्ष और जिनपाल की तीव्र उत्कण्ठा विदेश यात्रा करके अपार धन कमाने की जागी। दोनों ने अपनी इच्छा अपने माता-पिता के समक्ष प्रकट की। माता पिता ने सुनकर आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा—"पुत्रो ! तुम्हारा यह विचार ठीक नहीं है। हमारे पास इतनी

सम्पत्ति है कि सात पीढ़ी भी उसका उपभोग करें तब भी समाप्त नहीं होगी। हमारे देश में ही अपना व्यापार इतना समृद्ध है कि उसे करते हुए भी तुम लोग आनन्द से जीवन बिता सकते हो, फिर तुम्हें विदेश में जाने की क्या आवश्यकता है ? विदेश में जाने से लोभवश महापरिग्रह की भावना तुम्हारे हृदय में घर कर लेगी और इस तरह तुम महापरिग्रह से अभिभूत होकर कहीं के न रहोगे, न तुम माता-पिता या परिवार के लिए उपयोगी रहोगे, न अपने जीवन के प्रति वफादार रह सकोगे, तुम में तब स्वाभाविक रूप स्वार्थ—अतिस्वार्थ, अहंकार, मौजशौक, दुर्व्यसन विलासिता और धर्मकार्य के प्रति अरुचि, सन्तोषवृत्ति का नाश, आत्मकल्याण की भावना का अभाव आदि दुर्गुणों का पैदा हो जाना स्वाभाविक है। महापरिग्रह की भावना आत्मकल्याण में बाधक है, वह नरक आदि दुर्गतियों में भटकाने वाली है। अतः अधिकाधिक धनोपार्जन के लिए विदेश यात्रा करने की इस दुर्भावना को छोड़ो, सन्तोषवृत्ति धारण करके अपने देश में ही धर्मपालन करते हुए अर्थ प्राप्त करो।"

जिनरक्ष और जिनपाल ने माता-पिता के समक्ष साहसवृद्धि, विदेश की संस्कृति, रहन-सहन, भाषा-आदि का अध्ययन, स्वतन्त्र व्यवसाय करने की शक्ति आदि कई समाधान के मुद्दे प्रस्तुत किये।

लेकिन माता-पिता ने उन्हें मानव जीवन के ध्येय और धर्म की दृष्टि से बहुत समझाया, लेकिन उनकी बात जिनरक्ष और जिनपाल को रुचिकर न लगी, बल्कि उनकी बात को उन्होंने अपने विकास में बाधक समझी। तब अनिच्छा से उन्होंने दोनों पुत्रों को विदेश जाने की अनुमति दी। दोनों भाई व्यापार करके प्रचुर धन कमाने के लिए रवाना हो गए। जहाज पर बैठ कर दोनों भाई समुद्रमार्ग से यात्रा कर रहे थे, किन्तु दुर्भाग्य से बीच में ही समुद्र में भयंकर तूफान आया। बचाने का प्रयत्न करने पर भी वह बच न सका, जहाज समुद्र में डूब गया। किन्तु दोनों भाइयों का आयुष्य-बल प्रबल था, इसलिए लकड़ी का एक तख्ता दोनों के हाथ लग गया। उसके सहारे तैरते हुए वे किनारे से जा लगे। वे दोनों उस तटवर्ती द्वीप में पहुँचे, जहाँ उनके सामने मनमोहक विषयी वातावरण था। वे जिस उद्देश्य से विदेश आए थे, उसे तो भूल गए। यहाँ आकर वे इन्द्रियों के वैषयिक वातावरण में लुब्ध हो गए। ऐसे फँस गए कि उससे निकलना भी दुष्कर हो गया। किन्तु पूर्व संस्कारवश दोनों उक्त मोहक वातावरण के चंगुल से छूटने के लिए वहाँ से अन्यत्र चल पड़े। मगर उस द्वीप की अधिष्ठात्री रयणादेवी ने ऐसा मोहक जाल फैलाया कि जिनरक्ष तो मोहित होकर उसके चंगुल में पुनः फँस गया, और वहीं मृत्यु का शिकार हो गया। जिनपाल अपना मन दृढ़ करके किसी तरह से सकुशल घर आ पहुँचा। उसने परिग्रह की असारता से विरक्त होकर मुनिदीक्षा धारण करके स्वपर-कल्याण किया।

बन्धुओ ! यह शास्त्रीय कथा विदेश यात्रा—और वह भी धन लोभ से की जाने वाली विदेश यात्रा से होने वाले अनिष्टों की ओर ध्यान खींचती है। जो इस

प्रकार के अनिष्टों से बचना चाहता है, उसकी जीवन-यात्रा को दिशापरिमाणव्रत दिशादर्शक यन्त्र की तरह सुखद, सन्तुष्ट, आत्मतृप्त और आत्मरत बनाता है।

दिशापरिमाणव्रत का स्वरूप

आप पूछेंगे दिशापरिमाणव्रत का स्वरूप क्या है ? मैं आपको संक्षेप में बता देना चाहता हूँ कि दिशापरिमाणव्रत या दिग्परिमाण शब्द दिशा और परिमाण इन दो शब्दों से मिलकर बना है, जिसका अर्थ होता है—दिशाओं का—दिशाओं में गमनागमन का—परिमाण या मर्यादा अथवा सीमा। दिशाओं में गमनागमन—यातायात करने के सम्बन्ध में जो मर्यादा की जाती है, स्वेच्छा से जो सीमा का निश्चय किया जाता है कि 'मैं अमुक स्थान, नदी, पर्वत, वृक्ष, समुद्र, जनपद, ग्राम या नगर से अमुक-अमुक दिशा में या सब दिशाओं में इतने योजन (कोस, मील, किलोमीटर आदि) से या इतनी दूर तक अथवा अमुक नदी, समुद्र, पर्वत, वृक्ष, ग्राम या नगर आदि तक जाऊँगा, उससे आगे गमनागमन नहीं करूँगा, इस प्रकार की मर्यादाबद्धता, स्वौच्छिक सीमा-प्रतिबन्ध या निश्चय को दिशा परिमाणव्रत कहते हैं।[1]

दिशाएँ मुख्यतया तीन मानी जाती हैं—ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और तिर्यक् (तिरछी) दिशा। इन्हीं तीनों में से तिर्यक् दिशा के ८ भेद हैं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण। ये चार दिशाएँ हैं, इन्हीं चारों की चार विदिशाएँ हैं—ईशान, आग्नेय, नैऋत्य और वायव्य। जिस ओर सूर्योदय होता है, उस ओर मुख करके खड़ा रहने पर सामने की ओर पूर्व दिशा होगी, पीठ की ओर होगी पश्चिम दिशा, बाँये हाथ की ओर उत्तर और दाँये हाथ की ओर दक्षिण दिशा होगी। सिर की ओर ऊर्ध्व दिशा तथा पैर के नीचे की ओर अधोदिशा (नीची दिशा) होगी। पूर्व तथा दक्षिण दिशा के बीच के कोण को आग्नेय कोण, दक्षिण और पश्चिम दिशा के कोण को नैऋत्य, पश्चिम और उत्तर दिशा के बीच के कोण को वायव्य एवं उत्तर एवं पूर्व दिशा के कोण को ईशान कोण कहते हैं। ये चारों कोण विदिशा कहलाते हैं। विदिशाएँ दिशाओं के ही अन्तर्गत हैं। इस प्रकार दशों दिशाओं की मर्यादा करना दिशापरिमाणव्रत है।

दिशा परिमाणव्रत की विधि

दिशापरिमाणव्रत स्वीकार करने के लिए श्रावक को किसी एक स्थान को केन्द्र बना कर उस स्थान से प्रत्येक दिशा के लिए यह मर्यादा करनी चाहिए कि मैं

---

१ दिग्वलयं परिगणितं कृत्वाऽतोऽहं बहिर्न यास्यामि।
इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्यै ॥६८॥
मकराकर सरिदटवी गिरिजन पद योजनानि मर्यादाः।
प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥६९॥
—रत्नकरण्डक श्रावकाचार

अमुक दिशा में इस स्थान से इतनी दूर से अधिक न जाऊँगा। जैसे ऊर्ध्वदिशा की मर्यादा इस प्रकार की जा सकती है—'मैं अमुक केन्द्रस्थान से वृक्ष, पहाड़, घर या महल पर अथवा हवाई जहाज द्वारा या और किसी तरह से ऊपर की ओर इतनी दूर से अधिक दूर नही जाऊँगा। इसी तरह अधोदिशा की मर्यादा इस प्रकार की जा सकती है—मैं अमुक केन्द्र स्थान से नीचे की ओर जल, स्थल, खान, भूमिगृह आदि में इतनी दूर से अधिक नीचा नहीं जाऊँगा। इसी प्रकार तिर्यग्दिशा की मर्यादा करते समय ऐसा संकल्प करना चाहिए कि मैं पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं और आग्नेय आदि विदिशाओं में अमुक केन्द्र स्थान से इतनी दूर से अधिक नहीं जाऊँगा। इस प्रकार की विधि से गमनागमन के क्षेत्र को सीमित करने का प्रण या संकल्प लेना दिशापरिमाणव्रत कहलाता है।[1]

दिशा परिमाणव्रत स्वीकार करने वाला गमनागमन की मर्यादा इस प्रकार भी कर सकता है कि मैं अमुक दिशा में अमुक देश, प्रदेश, नगर, ग्राम, पहाड़, नदी, वन, झील आदि से आगे नहीं जाऊँगा। अथवा इस तरह भी कर सकता है कि मैं अपने मनोनीति केन्द्र स्थान से अमुक दिशा में इतने दिन, सप्ताह, पक्ष या मास में या इतने समय में पैदल या अमुक सवारी से जितनी दूर जा सकूँगा, उससे आगे नहीं जाऊँगा। गमनागमन की मर्यादा वह कोस, मील, किलोमीटर, फर्लांग, गज, फीट, हाथ, इंच आदि के रूप में भी कर सकता है।

यह तो दिशा परिमाणव्रत स्वीकार करने वाले की इच्छा, शक्ति और सुविधा पर निर्भर है कि वह चाहे तो जहाँ व्रत स्वीकार कर रहा है, उसी स्थान को केन्द्र मान ले या जहाँ वह स्वयं रहता है, उस स्थान को केन्द्र मान ले, अथवा किसी अन्य स्थान विशेष को केन्द्र मान ले। वह इस बात के लिए स्वतन्त्र है कि अमुक दिशा में आवागमन का क्षेत्र कम रखे, और अमुक दिशा में अधिक रखे। उस पर यह प्रतिबन्ध नहीं है कि अमुक स्थान विशेष को ही केन्द्र बनाए अथवा अमुक दिशा में आवागमन का क्षेत्र न्यूनाधिक रखे। दिशापरिमाणव्रती को अपनी सुविधा, रुचि, शक्ति, परिस्थिति एवं आवश्यकता का विचार करके ही इसकी मर्यादा निश्चित करनी चाहिए। यों ही सनक में आकर दिशापरिमाण कर लेने से बाद में उसमें रद्दोबदल करना या संकल्प को तोड़ना उचित नहीं है।

उसे अपने जीवन-निर्वाह के लिए जितना क्षेत्र आवश्यक हो, उस पर भी विचार कर लेना चाहिए, केवल लालसा के वशीभूत होकर गमनागमन के लिए अधिक क्षेत्र सीमा में रखना उचित नहीं है। उसे अपनी जीविका की परिस्थिति देखकर जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक क्षेत्र गमनागमन के हेतु रख कर बाकी के क्षेत्र में गमनागमन करने का त्याग कर लेना चाहिए।

---

१ तत्रापि च परिमाणं ग्रामापण-भवनपाटकादीनाम्।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात्॥ १४१—पुरुषार्थ०

यह ध्यान रहे कि दिशापरिमाणव्रत का संकल्प जीवनभर के लिए किया जाता है, एक दिन-रात या कम समय के लिए नहीं। इस बात को दृष्टिगत रखकर ही जिन्दगीभर के लिए सभी दिशाओं में गमनागमन की सीमा करनी चाहिए। केवल एक दिन-रात (अहोरात्रि) या कम समय के लिए की गई गमनागमन की मर्यादा की गणना देशावकाशिक व्रत में होती है।

दिग्परिमाणव्रत में सावधानी

जिस मैदान में फुटबाल का खेल होता है, उसमें खिलाड़ियों को सावधानी रखनी पड़ती है कि कहीं फुटबाल मैदान की सीमा से बाहर न चला जाय। अगर फुटबाल खेल के मैदान से बाहर चला जाय तो आउट हो जाता है, वैसे ही जीवन (व्यापार, व्यवसाय आदि) के खेल का जो मैदान साधक ने निश्चित किया है, उसी में ही श्रावक को खिलाड़ी बन कर खेलना है, यदि वह प्रत्येक दिशा में अपनी निर्धारित सीमा से बाहर निकल जाता है तो उसका भी व्रत आउट हो जाएगा। आउट हो जाने का यहाँ मतलब है—मर्यादा का अतिक्रमण—सीमा का उल्लंघन हो जाना। जीवन-क्षेत्र में आध्यात्मिक खिलाड़ी—श्रावक को इस बात की पूरी सावधानी रखनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जीवन क्षेत्र के खिलाड़ी को अपने मन, वचन, काया के गेंद को स्वेच्छा से निश्चित की हुई सीमा से बाहर नहीं जाने देना चाहिए।

दिशापरिमाणव्रत एक प्रकार की लक्ष्मण-रेखा है, जैसे लक्ष्मण ने अपनी भाभी सीताजी के सतीत्व की सुरक्षा के लिए एक रेखा खींच दी थी, और हिदायत दे दी थी कि वह इस रेखा का अतिक्रमण करके बाहर न जाएँ। उनका सतीत्व इसी रेखा के अन्दर सुरक्षित रहेगा।" किन्तु दुर्भाग्य से राम और लक्ष्मण की अनुपस्थिति में रावण साधु के वेष में भिक्षार्थ आया और उसने सीताजी को रेखा पार करके भिक्षा देने के लिए मना लिया। सीताजी भी रावण के बहकावे में आ गईं और ज्यों ही उस लक्ष्मण-रेखा का सीताजी ने उल्लंघन किया त्यों ही उनके लिए अपहरण का खतरा उपस्थित हो गया। यही बात दिशापरिमाणव्रतियों के लिए समझनी चाहिए। दिशा-परिमाणव्रती साधक भी अपनी खींची हुई इस लक्ष्मण-रेखा मर्यादारेखा का अतिक्रमण न करे। जब भी वह दिग्व्रत की लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन करेगा, उसके जीवन में खतरा पैदा हो सकता है। व्रतधारी को अपनी इस सीमा रेखा का अतिक्रमण न हो, इसकी सावधानी रखनी चाहिए।

दिशापरिमाणव्रत का स्वीकार करने वाले को अपनी वृत्ति का संकोच और ममत्व का त्याग करना पड़ता है। ऐसा किये बिना इस व्रत की रक्षा नहीं हो सकती।

इस व्रत की रक्षा के लिए कभी-कभी व्रतधारी को हानि भी सहन करनी होती है। मान लीजिए, दिशापरिमाणव्रती का कोई आभूषण या वस्त्र कोई मनुष्य, देव या पशु-पक्षी मर्यादित क्षेत्र से आगे उठा ले जाए, या आंधी से उड़कर दूर ऐसी जगह

चला जाय, जहाँ उसकी दिशा की मर्यादा समाप्त हो जाती है। अब वह वस्त्र या आभूषण ऐसी जगह पड़ा है, रखा है, जिसे व्रतधारी देख रहा है, फिर भी वह उस वस्त्र या आभूषण को लाने के लिए नहीं जा सकता, क्योंकि उसने मर्यादा कर रखी है कि मैं अमुक दिशा में इतनी दूर से आगे नहीं जाऊँगा। यह बात दूसरी है कि उक्त वस्त्र या आभूषण जिस तरह से गया था, उसी तरह या किसी दूसरे तरीके से मर्यादित क्षेत्र में वापिस आ जाय या कोई मनुष्य, देव या पशुपक्षी स्वतः लाकर मर्यादित क्षेत्र के अन्दर लाकर रख दे। ऐसी स्थिति हो तो उस वस्त्र या आभूषण को वह दिग्व्रतधारी श्रावक ले सकता है। मगर उस मर्यादित क्षेत्र से बाहर पड़ी हुई वस्तु को लाने के लिए वह जा नहीं सकता, अगर जाता है, तो उसका व्रतभंग हो जाता है। इस प्रकार वह किसी दूसरे को भी उक्त कार्य के लिए भेज नहीं सकता। अर्थात् यह व्रत दो करण तीन योग से ग्रहण किया जाता है, प्रत्येक दिशा में गमन की जो मर्यादा की है, उससे आगे स्वयं गमन न करना और दूसरों को भी मर्यादित दूरी से आगे न भेजना—मन, वचन और काया से।

इस प्रकार जो व्रतपालन करने में आने वाली कठिनाइयों को झेलता है, वृत्ति-संकोच करके ममत्व का त्याग करता है, उसकी आत्मशक्ति और त्याग करने की क्षमता बढ़ती जाती है।

दिग्व्रत का अन्य व्रतों पर प्रभाव

दिशापरिमाणव्रत के धारण करने और भलीभाँति सावधानीपूर्वक पालन करने से वह आत्मबल और त्यागबल बढ़ाने के अतिरिक्त श्रावक के द्वारा गृहीत पांचों अणुव्रतों पर भी प्रभाव डालता है।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं—'दिशापरिमाणव्रत धारण करने वाले श्रावकों के द्वारा प्रत्येक दिशा में नियत मर्यादित भूमि के बाहर स्थूल—सूक्ष्म सभी पापों से निवृत्ति हो जाने के कारण उसके पांच अणुव्रत भी पंच महाव्रत के रूप में परिणत हो जाते हैं।'[१]

श्रावक जब स्थूल अहिंसाणुव्रत ग्रहण करता है तो उसने स्थूल आरम्भजा उद्योगिनी एवं विरोधिनी हिंसा का आगार रखा है। इस आगार (छूट) की स्थूल अहिंसाव्रत में सीमा नहीं की है, किन्तु दिशापरिमाणव्रत का स्वीकार कर लेने पर इस आगार की भी सीमा हो जाती है। तात्पर्य यह है कि प्रथम अणुव्रत में श्रावक ने जो तीन प्रकार की स्थूल हिंसा खुली रखी है, वह भी दिशापरिमाणव्रत स्वीकार करने पर सीमाबद्ध (सीमित) हो जाती, उतनी ही भूमि के अन्तर्गत रह जाती, जितनी भूमि

---

१ अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरते दिग्व्रतानि धारयताम्।
पंचमहाव्रत परिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥७०॥

—रत्नकरण्डक श्रावकाचार

की जिस-जिस दिशा में मर्यादा की है, उसके उपरान्त क्षेत्र में वह हिंसा भी बिलकुल बन्द हो जाती है। यानी श्रावक दिशापरिमाणव्रत स्वीकार करने अहिंसाणुव्रत में रखी हुई स्थूल आरम्भजादि हिंसा को भी प्रत्येक दिशा की मर्यादा के बाहर नहीं कर सकता। इससे अहिंसाव्रत की मर्यादा विस्तृत हो जाती है और आगार में रखी हुई आरम्भजा हिंसा का क्षेत्र सीमित हो जाता है।

श्रावक का दूसरा अणुव्रत है—स्थूल सत्य। सत्याणुव्रत को अंगीकार करने वाला श्रावक स्थूल असत्य का तो सभी क्षेत्रों के लिए त्याग करता है, परन्तु गृहस्थाश्रमी होने से जिस सूक्ष्म असत्य का वह त्याग नहीं कर सका है, इस दिशापरिमाण व्रत का धारक दिशाओं के गमन मर्यादा कर लेने पर उक्त सूक्ष्म झूठ का भी मर्यादित-क्षेत्र से बाहर त्याग कर देता है, वह सूक्ष्म झूठ उसके सीमित क्षेत्र में रह जाता है, जो क्षेत्र उसने गमनागमन के लिए दिशापरिमाणव्रत में रखा है। उसके अतिरिक्त शेष क्षेत्र में जाकर सूक्ष्म असत्य बोलने का भी उसके त्याग हो जाता है।

तीसरा अणुव्रत स्थूल चोरी से निवृत्त होना है। श्रावक स्थूल चोरी का त्याग तो सभी क्षेत्र के लिए करता है, लेकिन सूक्ष्म चोरी सभी क्षेत्र के लिए खुली है, दिशा-परिमाणव्रत धारण करने पर वह सूक्ष्म चोरी भी उतने ही क्षेत्र में सीमित हो जाती है, जितना क्षेत्र श्रावक ने गमनागमन के लिए प्रत्येक दिशा में खुला रखा है, बाकी के सभी क्षेत्र में जाकर सूक्ष्म चोरी का उसके त्याग हो जाता है।

श्रावक का चौथा अणुव्रत स्वदार-सन्तोष-परदारविरमणव्रत कहलाता है। श्रावक इस व्रत को भी आंशिक रूप से ही ग्रहण करता है, क्योंकि गृहस्थ जीवन में रहते हुए श्रावक परदार विरमण का त्याग भी एक करण एक योग से ही कर सकता है, तीन करण तीन योग से नहीं। उसे अपनी सन्तान को अनैतिक पथ में जाने से रोकने के लिए उनका विवाह सम्बन्ध करना पड़ता है। परस्त्री का त्याग तो उसका सभी क्षेत्र के लिए होता है, लेकिन स्वस्त्री का जो त्याग वह नहीं कर सका है, स्वस्त्री का सम्बन्ध सभी क्षेत्र के लिए खुला हुआ है, लेकिन दिशापरिमाण कर लेने पर स्वस्त्री का क्षेत्र भी सीमित हो जाता है। मर्यादित क्षेत्र के बाहर जा कर न तो वह स्वस्त्री के साथ दाम्पत्यव्यवहार कर सकता है, न किसी को अपनी पत्नी ही बना सकता है। इस प्रकार दिशापरिमाणव्रत से चौथे व्रत में भी विशेषता पैदा हो जाती है।

अब रहा श्रावक का पांचवाँ परिग्रहपरिमाणव्रत। दिशापरिमाणव्रत के धारण कर लेने पर इस व्रत में भी विशेषता पैदा हो जाती है। परिग्रह की जो मर्यादा उसके सभी क्षेत्र के लिए खुली हुई थी, वह मर्यादित क्षेत्र में ही सीमित हो जाती है। मर्यादित क्षेत्र से बाहर तो मर्यादाकृत और अमर्यादाकृत सभी प्रकार के परिग्रहण का त्याग दिशापरिमाणव्रती के हो जाता है। इसके अतिरिक्त जब तक दिशापरिमाणव्रत

का स्वीकार नहीं किया जाता, तब तक तृष्णा का क्षेत्र भी सीमित नहीं होता और क्षेत्र सीमित न होने से तृष्णा बढ़ती ही जाती है।

इसलिए पंचम अणुव्रत में भी दिशापरिमाणव्रत के ग्रहण करने से प्रशस्तता आ जाती है।

यों दिक्षापरिमाणव्रत पांचों अणुव्रतों में एक विशेषता, एक चमक और त्याग वृद्धि की प्रगति पैदा कर देता है।

दिशापरिमाणव्रत के पांच अतिचार

इस व्रत के आराधक को पांच अतिचारों से बचना चाहिए। भगवान महावीर ने पांच अतिचारों का स्वरूप बताकर श्रावक को इनसे बचते रहने का निर्देश दिया है। शास्त्रीय भाषा में ये पांच अतिचार इस प्रकार हैं—

"**उड्ढदिसि पमाणाइक्कम्मे, अहोदिसि पमाणाइक्कम्मे, तिरियदिसि पमाणाइक्कम्मे, खेत्तवुड्ढी, सइअंतरद्धा।**" अर्थात्—दिशापरिमाणव्रत के ५ अतिचार जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं, वे पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—ऊर्ध्वदिशा प्रमाणातिक्रम, अधोदिशाप्रमाणातिक्रम, तिर्यक्दिशाप्रमाणातिक्रम, क्षेत्रवृद्धि, स्मृत्यन्तर्धान।

(१) ऊर्ध्वदिशा में गमनागमन के लिए जो क्षेत्र मर्यादा में रखा है, उस क्षेत्र को जानबूझ कर नहीं, परन्तु अनजाने में भूल से उल्लंघन (अतिक्रमण) हो जाना **ऊर्ध्वदिशा परिमाणातिक्रम है।**

(२) नीची दिशा में गमनागमन के लिए जो क्षेत्र मर्यादा में रखा है, उस क्षेत्र मर्यादा का जानबूझ कर नहीं, किन्तु भूल से अज्ञातरूप में उल्लंघन हो जाना **अधोदिशापरिमाणातिक्रम' है।**

(३) पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण इन चार दिशाओं, नैऋत्य, वायव्य, ईशान एवं आग्नेय इन चार विदिशाओं, (तिर्यक् दिशा) में गमनागमन का जो क्षेत्र-परिमाण किया गया है, उस क्षेत्र मर्यादा का असावधानी से, अनजाने में अतिक्रमण करना **तिर्यग्दिशापरिमाणातिक्रम है।**

(४) चौथा अतिचार है—**क्षेत्रवृद्धि**। इस अतिचार का अर्थ यह है कि एक दिशा के लिए की गई सीमा को कम करके दूसरी दिशा की सीमा में जोड़कर दूसरी दिशा की सीमा बढ़ा लेना। उदाहरणार्थ—किसी व्यक्ति ने व्रत लेते समय पूर्वदिशा में गमनागमन करने की सीमा ४० कोस की रखी है, परन्तु कुछ दिनों के अनुभव के पश्चात् उसने सोचा—मुझे पूर्व दिशा में ४० कोस तक जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, और पश्चिम दिशा में मुझे मर्यादा में रखे हुए क्षेत्र से अधिक जाने का काम पड़ता है। इसलिए पूर्वदिशा के लिए नियत मर्यादा में १० कोस कम करके पश्चिम दिशा की नियत मर्यादा में बढ़ा दूँ। इस तरह सोचकर यदि कोई व्यक्ति अपना मर्यादा

क्षेत्र एक दिशा में घटा कर दूसरी दिशा में बढ़ाता है तो वह 'क्षेत्रवृद्धि' नामक अतिचार होगा। यद्यपि व्रतधारी ऐसा समझता है कि मैंने एक दिशा का क्षेत्र घटा दिया है, फिर अतिचार क्यों लगेगा ? यद्यपि उसे अपने मर्यादित क्षेत्र को घटाने का अधिकार तो है, मगर दूसरी ओर दिशा विशेष के नाम पर जो मर्यादा नियत की है, उस मर्यादित क्षेत्र में बढ़ाने का उसे अधिकार नहीं है। इस कारण एक ओर की क्षेत्र-मर्यादा कम करने के साथ ही दूसरी ओर की नियत क्षेत्र-मर्यादा में वृद्धि करना व्रत की अपेक्षा से अतिचार है।

(५) पांचवां अतिचार है—'स्मृति भ्रंश'। कई दफा व्रतधारी प्रत्येक दिशा में नियत की हुई अपनी क्षेत्रमर्यादा को भूल कर मर्यादित क्षेत्र से आगे चला जाता है, अथवा शायद मैं मर्यादित क्षेत्र तक तो आ चुका हूंगा, इस प्रकार की संदिग्ध अवस्था में भी आगे बढ़ते जाना, स्मृति भ्रंश नामक अतिचार है।

प्रत्येक दिशापरिमाणव्रतधारी श्रावक को इन पांच अतिचारों से सावधान रहकर अपने व्रत का निरतिचार रूप से पालन करना चाहिए। ऐसा करने वाला सद्गृहस्थ श्रावक ही अपने मूल अणुव्रतों में विशेषता ला सकता है।

आशा है, आप दिशापरिमाणव्रत के उद्देश्य, महत्त्व, स्वरूप, विधि और अतिचार इन सबको भलीभांति समझ गए होंगे तथा इस व्रत का विधिवत् आचरण करने के लिए उद्यत होंगे।



2

उपभोग, परिभोग-परिमाण : एक अध्ययन

मनुष्य जीवन केवल संग्रह या उपभोग के लिए ही नहीं है। इसमें उपभोग के साथ त्याग भी अनिवार्य है। मनुष्य विवेकशील और सामाजिक प्राणी है, इसलिए उसे अपने परिवार और समाज में दूसरों के लिए त्याग भी करना पड़ता है। इस त्याग में उसे कोई कष्ट नहीं होता, वह सहज स्वाभाविक रूप से होता रहता है। इसी प्रकार यदि वह अपने जीवन में स्वार्थी न बन कर अपने परिवार और समाज को और अधिकाधिक व्यापक मान कर चले और उनके लिए त्याग करता हुआ, यत्किंचित् अनिवार्य वस्तुओं का ही उपयोग करे तो उसका जीवन भी सुखपूर्वक चल सकता है, और उसके साथ-साथ अनेक लोगों का जीवन भी आनन्द से व्यतीत हो सकता है।

त्यागपूर्वक उपभोग सुखदायक

किन्तु त्यागपूर्वक उपभोग के इस सूत्र को भूलकर जब वह केवल अकेला ही सब चीजों का संग्रह कर लेता है, दूसरों को उसके जरा-से अंश का भी उपभोग करने नहीं देता, तब समाज और परिवार में विषमता और संघर्ष फैलते हैं, उससे जीवन की सुख-शान्ति और स्वस्थता नष्ट हो जाती है।

एक मन्दिर में हम ठहरे हुए थे। सन्ध्या की बेला थी। आरती के समय पुजारी आया और उसने दीपक जलाया, आरती की। दीपक की पतली-सी लौ हवा के सहारे इधर-उधर घूम रही थी, उसमें से बहुत ही सूक्ष्म-सी धूमशिखा निकल रही थी। मेरे मन ने कहा—दीपक धुंए को त्याग रहा है, इसीलिए वह प्रकाश दे रहा है। त्याज्य वस्तु का त्याग करने पर ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र स्वस्थ रह सकता है, दूसरों को प्रकाश दे सकता है। इसीलिए मस्तसंत कबीर बोल उठता है—

'पानी बाढ़ो नाव में, घर में बाढ़ो दाम।
दोनों हाथ उलीचिए, यही सयानो काम॥'

नौका में पानी भर जाय और इतना भर जाए कि वह डूबने लगे, तब बुद्धिमान मल्लाह उस पानी को उलीच कर बाहर निकाल देता है, इसी प्रकार विवेकी सद् गृहस्थ का भी कर्तव्य है कि घर में धन बढ़ जाए तो उसे भी दोनों हाथों से निःस्वार्थ-

भाव से दान करके बाहर निकाल दे। यदि घर में धन बढ़ जाने पर विवेकी गृहस्थ बाहर नहीं निकालेगा तो वह धन परिवार में क्लेश, अशान्ति, असन्तोष और ममत्व के कारण कलह का कारण बन जाएगा, सारे परिवार की सुख-शान्ति को ले डूबेगा।

गृहस्थजीवन मे विनिमय से कार्य चलता है, ले-दे से यहाँ जीवन-व्यवहार सुरक्षित रहता है। दीपक जैसे तेल लेता है, तो धूंआ छोड़ देता है, तभी वह प्रकाश दे सकता है, वैसे ही जीवन में सद्गृहस्थ जो समाज से ले, उसके बदले में समय आने पर त्याग भी देता है, उसके जीवन में प्रकाश है, सुख है, स्वास्थ्य है। जो इस जीवन के स्वर्णसूत्र से परिचित नहीं हैं, केवल लेना ही लेना जानते हैं, या उपभोग करना ही जानते हैं, किन्तु त्याग करना नहीं जानते, उन्हें न प्रकाश प्राप्त है, न सुख और न स्वास्थ्य।

जो सांसारिक पदार्थों का संग्रह और उपभोग ही करना जानते हैं, वे स्वास्थ्य की उपेक्षा करके दूषित वायु को अपने भीतर संचित कर रहे हैं। वे धन और साधनों को इकट्ठा कर लेते हैं, उनका उपभोग भी स्वयं ही करते हैं, किन्तु उनका त्याग नहीं करते, वे प्रकाश की उपेक्षा करके धुंए को अपने अन्दर संचित कर रहे हैं।

प्रकृति का कण-कण त्याग की प्रेरणा दे रहा है। क्या ये वृक्ष, बेलें, नदियाँ, सरोवर, बादल, सूर्य, चन्द्रमा आदि थोड़ा-सा लेकर बदले में त्याग नहीं करते? अगर मैं त्याग न करके केवल उपभोग ही करता रहा तो मैं सुखी एवं प्रसन्न नहीं रह सकूंगा।

इसीलिए तो ईशोपनिषद् में ऋषि की वाणी गूंज उठी—

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'

'उसका त्याग करके उपभोग कर।'

मनुष्य यदि मल का विसर्जन न करे और केवल भोजन ही भोजन करता जाय तो उसका स्वास्थ्य, सुख, शान्ति और ज्ञान का प्रकाश चौपट हो जाएगा। इसीलिए गृहस्थ-जीवन केवल उपभोग के लिए नहीं है, उसमें त्याग भी होना चाहिए।

जितना कम उपभोग : उतना ही अधिक सुख

मनुष्य-जीवन की जो प्राथमिक और अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं, उनकी पूर्ति के लिए विचार करते समय-गृहस्थ को इस स्वर्णसूत्र के माध्यम से चलना चाहिए। उसे चिन्तन करना चाहिए कि वस्तुएँ असीम हैं, पदार्थों की कोई संख्या नहीं है, व्यक्ति मैं अकेला हूँ। अकेले व्यक्ति को इतनी सब चीजों की आवश्यकता भी नहीं और वे चीजें जो मेरे स्वास्थ्य, धर्म और नीति को चौपट करने वाली हैं—शराब, मांस आदि वे तो सर्वथा त्याज्य हैं। उनका त्याग तो अनिवार्य है और फिर वे चीजें, जो मेरे दैनिक जीवन में काम नहीं आतीं उनको भी उपभोग्य वस्तुओं की सूची में से निकाल देनी

चाहिए, इसके बाद जितनी किस्म की वस्तुएँ रहें, वे चीजें भी सारी की सारी (जितनी मात्रा या संख्या में दुनिया में हैं) उपभोग में आती नहीं। अतः उनका भी त्याग करके उन चीजों की संख्या या मात्रा नियत कर लूं। इस प्रकार श्रावक अनेक प्रकार की चीजों का प्रचुर मात्रा या संख्या में त्याग करके फिर नियत वस्तुओं का निश्चित मात्रा (वजन) या संख्या में उपभोग करता है तो उसके जीवन में ज्ञान एवं विवेक का प्रकाश बढ़ता जाता है। उनको स्वास्थ्य एवं सुख-शान्ति का लाभ भी मिलता है। दूसरे व्यक्ति भी उन पदार्थों से वंचित नहीं रहते।

यों भी गहराई से सोचा जाय तो भोगों से जो सुख मिलता है, वह विद्युत की तरह चंचल और क्षणिक है, जबकि त्याग का सुख सूर्य के प्रकाश के समान स्थिर होता है। कई पदार्थों का उपभोग तो मनुष्य को प्राप्त न हो, वहाँ तक रमणीय एवं आकर्षक लगता है, प्राप्त हो जाने के बाद उसे उसमें ग्लानि एवं अरुचि होने लगती है। उदाहरण के तौर पर स्पर्शेन्द्रिय का (कामजन्य) सुख ले लीजिए। खुजली को खुजलाने की तरह कामजन्य भोग प्रारम्भ में बड़े सुखकर प्रतीत होते हैं, लेकिन उसका परिणाम दुःखकर आता है, कामभोगों से मनुष्य को अरुचि होने लगती है, बल्कि वह अपने जीवन से ऊब जाता है। Old age, its cause and prevention' का लेखक सेन्फोर्ड बेनिट अपनी संक्षिप्त जीवनी लिखता है कि "मैंने अपने जीवन में सभी प्रकार इन्द्रियजन्य भोगों का सेवन किया। पैसे की मेरे पास कोई कमी न थी, ऐसे ही मित्रों की सोहबत भी मिल गई, जिन्होंने मुझे इन्द्रियजन्य विषयभोगों में आकण्ठ डुबा दिया। मैं भी उनमें अपार सुख मानता रहा। किन्तु जब मेरी इन्द्रियाँ क्षीण होने लगीं। शरीर जर्जर एवं खोखला हो गया। दिमाग में सोचने-समझने की शक्ति का ह्रास हो गया, मैं अत्यन्त अशक्त हो गया, मुझे जरा-सा खाया-पीया हजम नहीं होता था, मुझे भली-भाँति नींद भी नहीं आती थी, गोलियाँ खाकर मैं नींद लेने की कोशिश करता था, फिर भी वह उचट जाती थी। किसी चीज में अब मुझे रुचि नहीं रही। मैं अपने जीवन से ऊब गया। और जंगल में जाकर आत्महत्या करने को उतारू हो गया। तभी एक हितैषी सज्जन ने मुझे भारत के किसी महात्मा की संयम पर अंग्रेजी में लिखी हुई पुस्तक पढ़ने को दी। मैंने उसके अनुसार अपने जीवन को ढालने का निश्चय किया। पहले जहाँ विषयोपभोगों के कारण मैं असमय में ही जवानी में बूढ़ा-सा हो गया था, वहाँ अब इन्द्रिय-संयम, व्यायाम, प्राणायाम, सादे आहार-विहार आदि चर्या के नियमित अभ्यास में ७० वर्ष के इस बुढ़ापे में ३०-३५ वर्ष के युवक-सा अपने को अनुभव करता हूँ। यह मेरी भोगों से विरति और संयम में प्रवृत्ति की रामकहानी है।"

अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि भौतिकवादी या सच कहें तो भोगवादी देशों के अधिकांश लोगों की इसी से मिलती-जुलती रामकहानी है। वे भोगों से ऊब गये हैं, भोगों से उन्हें शान्ति नहीं मिलती, इसीलिए वे हिप्पी बनकर भारतवर्ष में शान्ति

पाने के लिए आते हैं, उन्हें अब त्याग में सुख-शान्ति प्रतीत होने लगती है। अतिभोग का जीवन उन्हें नीरस प्रतीत होने लगता है।

कुछ वर्षों पहले जर्मनी से एक धनाढ्य महिला 'ऑगस्ता ग्लातार' रविशंकर महाराज का नाम सुनकर उनसे मिलने भारतवर्ष आई थी। जब वह गुजरात में रविशंकर महाराज से मिली तो उन्होंने उस महिला से पूछा—"बहन! तुम अपना समृद्ध देश छोड़ कर इतनी दूर भारत में आई हो, इसका क्या प्रयोजन है? क्या धन कमाने के लिए भारत में तुम्हारा आगमन हुआ है?"

उसने हाथ जोड़ते हुए कहा—'जी नहीं, मैं यहां धन कमाने के लिए नहीं आई हूँ। धन की तो हमारे यहां कोई कमी नहीं है। हमारे पास इतना धन है और इतने सुखोपभोग के साधन हैं, जिनकी कोई हद नहीं। मैं स्वयं सोचती हूँ, इस धन को कैसे और कहां खर्च किया जाय? न मैं यहां सुखोपभोग के लिए आई हूँ। मैं तो सिर्फ शान्ति प्राप्त करने के लिए हिन्दुस्तान में आपके पास आई हूँ। आप मुझे शान्ति प्राप्त करने का उपाय बताइए। हमारे पास इतना धन एवं सुख के साधन होते हुए भी शान्ति नहीं है।"

रविशंकर महाराज ने उक्त जिज्ञासु महिला को शान्ति प्राप्त करने के नुस्खे बताए। वह कुछ दिन यहां रह कर अपने देश को लौट गई।

क्या आप भी सुख-शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं? आप कहेंगे कि सुख-शान्ति कौन नहीं प्राप्त करना चाहता। परन्तु हमारे पूर्वज निर्ग्रन्थ ऋषि-मुनियों ने भोगोपभोगों को बढ़ाने में कभी सुख-शान्ति नहीं मानी, जबकि कुछ वर्षों पहले तक भौतिकवादी वैज्ञानिकों की यह भ्रान्त धारणा थी की मनुष्य अपनी आवश्यकताओं और भोगोपभोग के साधनों को जितना-जितना बढ़ाता है, उतना-उतना ही उसका जीवनस्तर ऊँचा उठता है, उसका जीवन विकास उत्तरोत्तर अधिक होता जाता है। किन्तु इसका दुष्परिणाम हमारे सामने आ गया है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र अपनी आवश्यकताएं बढ़ाते गए, भोगोपभोग के साधनों में वृद्धि करते गए, त्यों-त्यों उनमें परस्पर संघर्ष और तू-तू-मैं-मैं होने लगी, वे एक-दूसरे की प्रतिस्पर्धा में उतरकर एक-दूसरे को समाप्त करने पर तुल गए। पाश्चात्य देशों में, जहां कि धन एवं सुखोपभोग के साधन अत्यधिक बढ़ गए, वहां आए दिन परस्पर संघर्ष, हत्या, मारकाट, विलासिता का दौर, पति-पत्नी में तलाक, अनिद्रा, अपाचन आदि दुःख बढ़ गए हैं। भारत में भी अधिकांश लोगों को इसका चेप लगता जा रहा है। भारतीय अपनी त्यागप्रधान संस्कृति को भूल कर लोग विलासमयी भोगप्रधान संस्कृति को अपनाने में लगे हैं, जिसका नतीजा हमारे सामने है। यहां भी आए दिन हत्या, दंगा, मारपीट, चोरी, डकैती, संघर्ष, विलासिता का दौर आदि दुःख बढ़ते जा रहे हैं। वैदिक संस्कृति के मूर्धन्य ऋषियों ने जहां धनधान्य, पशु, मनुष्य, शत्रु पर विजय आदि सांसारिक प्रेम

भोगों की कामना की है, वहाँ श्रमण-संस्कृति के उन्नायक श्रमण भगवान् महावीर ने इसके विपरीत स्पष्ट सत्य बतलाया कि—

बालाभिरामेसु दुहावहेसु न तं सुहं कामगुणेसुराया।
विरत्तकामाण तवोधणाणं, जं भिक्खुणं सीलगुणे रयाणं॥[1]

—'जो कामभोगों से निवृत्त हो चुके हैं, तप ही जिनका धन है, जो संयम में या शीलगुणों में ही रत रहते हैं, उनको जो सुख है, वह सुख उन कामभोगों में नहीं है, जिसमें अज्ञानी लोग ही रमण करते हैं, जिनका परिणाम दुःख ही है।

अतः **'खणमित्तसुक्खा बहुकाल दुक्खा'**[2] भोग क्षण मात्र ही सुखकारक है, किन्तु बाद में बहुत काल तक दुःखदायी है, ऐसा समझ कर क्षणिक सुखदायी भोगों का त्याग करना ही श्रेयष्कर है। भोगों में डूबे हुए पश्चिम देश के विचारकों को भी भोगों की असारता एवं परिणाम में पीड़ाकारिता का अनुभव हुआ तो उन्होंने भी अपना विचार जगत् के समक्ष प्रस्तुत किये—

"A man of pleasure is a man of pain" जो मनुष्य विलासी होता है, वह दुःख का शिकार बनता है। भोगवृत्ति जब प्रबल होती है, तब सद्गुणों का नाश हो जाता है। भोग जब जीवन में अपना आसन जमाता है, तब सद्गुणों के लिए कब्र खुदने लगती है। जैसे फूलों को तोड़ लेने पर उसकी दिखाई देने वाली सुन्दरता क्षणभर में मुर्झा कर समाप्त हो जाती है, वैसे ही अत्यन्त विषयोपभोग भी अप्राप्त दशा में ही सुन्दर लगते है, प्राप्त होने के बाद उनका सौन्दर्य फीका और नीरस लगने लगता है।

इसी प्रकार वैदिक धर्म में भी विचारों की क्रान्ति आई। यहाँ भी कामभोगों को, सांसारिक सुखभोगों की कामना को हेय समझा जाने लगा। मन और इन्द्रियों को वश में रखकर भोगों का परित्याग करने को ही उत्तम जीवन का लक्षण माना गया। "हे पार्थ! जब कोई मनोगत सभी कामभोगों की कामनाओं का त्याग कर देता है, तथा अपने आप में तृप्त हो जाता है, तब वह स्थितप्रज्ञ—संयत कहलाता है।"[3]

मान लीजिए, किसी व्यक्ति के पास संसार के सारे साधन, सारी सम्पत्ति और उपभोग-परिभोग के योग्य समस्त पदार्थ तथा उपकरण आ जाएँ और उसकी कितनी ही एवं किन्हीं इच्छाओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त हों, तब भी भोगों की अधिकता के कारण या तो वह स्वयं शिथिल हो जाएगा, अथवा उसे जीवन और जगत् से भोगों की इस अतिशयिता के कारण अरुचि हो जाएगी। उसके लिए न तो

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ० १३
२ उत्तराध्ययन सूत्र अ० १४
३ प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ! मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ —भगवद्गीता अ० २

कोई नवीनता रहेगी, न आकर्षण। नीरस, निःसार एवं निरुद्देश्य जीवन भी उसके लिए भारभूत तथा असह्य बन जाएगा। इसका अनुमान लगा सकना कठिन है। इसलिए भोगों की, निरर्थक भोगों की कामना ही क्यों की जाए, जो आगे चलकर मन को पीड़ा दे, शरीर को निर्बल एवं निस्तेज बना दे! वास्तव में अतिभोगी-विलासी जीवन अत्यन्त निकृष्ट एवं पामर जीवन है। ऐसा जीवन जीने योग्य नहीं है। क्या हुआ कीड़े-मकोड़ों की तरह अज्ञान एवं अविवेकपूर्ण भोगमय निकृष्ट जीवन बिता दिया तो! ऐसे भोगपूर्ण जीवन में कभी शान्ति, सन्तोष और सुख नहीं होता, असन्तोष का परिणाम तो दुःख ही होता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने श्रावकों को उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत स्वीकार करके भोगों की मर्यादा करके, सुखशान्ति एवं सन्तोष से युक्त जीवन बिताने का सन्देश दिया है, अतः भारतीय संस्कृति के तत्त्वविदों ने कहा है—

'भोगा न भुक्ताः वयमेव भुक्ताः'

हमने भोगों का उपभोग नहीं किया, भोगों ने ही हमारा उपभोग कर डाला।

यह तो अनुभव सिद्ध तथ्य है, जब मनुष्य भोगों का गुलाम बन जाता है, पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होकर उनके नचाये नाचता है, तब अपने वास्तविक एवं स्वरूप को भूलकर मनुष्य भोगों का आकण्ठसेवन करना चाहता है, वह कितना कर पाता है, इसका लेखाजोखा ज्ञानी के सिवाय कौन कर पाता है? फिर भी भोगों की भूख तो मिटती नहीं है, वह मनुष्य को, उसके समस्त शुभ कार्यों एवं गुणों को ले डूबता है। भोग के अतिशय सेवन से कर्मबन्धन कर लेता है और जब उनका फल भोगने को आता है, तब मनुष्य को मालूम पड़ता है कि भोगों को मैंने क्या भोगा, भोगों ने ही मुझे भोग का शिकार बना लिया है।

मिथिलानरेश नमि अपने दाहज्वर की असह्य वेदना से ऐसे ही पूर्वभुक्त भोगों के परिणामों को भोग रहे थे। क्या अनुचर, क्या रानियाँ और क्या राज-परिवार के सभी लोग उनकी परिचर्या में संलग्न थे। रानियाँ अपने हाथों से बावनाचन्दन घिसकर लेप तैयार कर रही थीं। फिर भी मन पीड़ा से संतप्त था। संगीत के स्वर भी संगीन की तरह चुभते थे। राजा को आज रानियों के हाथों में पहने हुए कंगनों की खनक भी कर्कश लग रही थी। परन्तु रानियों ने जब सौभाग्य चिह्नस्वरूप एक-एक कंगन हाथ में रखकर घिसना प्रारम्भ किया, इसका पता लगने पर इस भोगमूर्ति नमिराज के मन में ऊहापोह जगा और वे सोचने लगे—ओह! मैं कितना मोह में पागल था! जीवन में यह संघर्ष या पीड़ा एक (आत्मा) को छोड़कर एकत्वसाधना से हटकर दूसरे (भोगों) से लगाव के कारण पैदा होता है। भोग ही द्वैत पैदा करने वाले हैं, जीवन में अशान्ति और असन्तोष के कारण हैं। क्या मेरा जीवन यों ही भोगों में बिता देने के लिए है? भोगों का फल तो मैं भोग ही रहा हूँ। भविष्य में अब और अधिक भोगों में लिप्त होकर फिर अपने लिए क्यों पीड़ा मोल ले रहा हूँ?"

राजा के मन में संकल्प उठा कि मेरा दाह-ज्वर शान्त होते ही इन समस्त कान्त, प्रिय, मनोज्ञ प्रतीत होने वाले भोगों से नाता तोड़कर आत्मा के साथ एकत्व साधने के लिए प्रयाण कर जाऊँगा।"

और बस, दूसरे ही दिन दाहज्वर शान्त होते ही वह भोगमूर्ति नमिराज त्यागमूर्ति बन जाते है, अपनी भोगशक्ति को योगशक्ति में लगा देते हैं।

वस्तुतः **'भोगे रोगभयम्'** भोग में रोग का भय निहित है, इसका साक्षात्कार नमिराजर्षि ने कर लिया था। भौंरा काटता है, इस बात को आप और हम जानते हैं, इसलिए बुद्धिमान मनुष्य भौंरे को पास में आने से पहले ही उड़ा देता है, इसी प्रकार जब अपने अनुभव की आँखों से जान लिया है कि भोगों का सुख क्षणिक है और परिणाम में चिरकाल तक दुःखकारी हैं, अर्थात् भोग मनुष्य के जीवन को काटने (नष्ट करने) वाले हैं, अतः हमें भोगों के पास ही नहीं फटकने देना चाहिए। इसीलिए शास्त्रकारों ने उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत का विधान किया है।

भोग इस लोक में ही कष्ट देते हैं, सो बात नहीं, परलोक में भी वे जन्म-जन्मान्तर तक दुःख देते हैं। भोग नरक तक की यात्रा करा देते हैं।

ज्ञातासूत्र में इस सम्बन्ध में पुण्डरीक और कुण्डरीक नामक दो भाइयों का दृष्टान्त दिया गया है। कुण्डरीक को सांसारिक विषयभोगों एवं राज्य से विरक्ति हो गई। उसने राज्य एवं वैभव अपने भाई पुण्डरीक को सौंपा और स्वयं ने मुनिदीक्षा अंगीकार कर ली। पुण्डरीक ने राज्य की बागडोर तो अपने हाथ में संभाल ली, पर वह अन्दर ही अन्दर राजसी भोगों से निर्लिप्त-सा रहता था। उसके मन में विरक्ति का मधुर दौर चल रहा था। कुछ वर्षों बाद विचरण करते हुए कुण्डरीक पुण्डरीक राजा की राजधानी में आए। राजा ने बहुत ही स्वागत किया, धूमधाम से प्रवेश कराया और अच्छे से स्थान में उन्हें ठहराया। राजसी आहार का सेवन करने से कुण्डरीक की भावना संयम से विचलित हो गई। मन ही मन भोगोपभोग की ओर आकर्षण हुआ। और अधिक दिन रहने के बाद एक दिन कुण्डरीक ने पुण्डरीक से अपना राज्य वापस माँगा। पहले तो कुण्डरीक ने उन्हें दीक्षा न छोड़ने को बहुत समझाया, कहा—आपने जिन भोगों को निःसार समझ कर वमन कर दिया है, उन्हें फिर ग्रहण करना उचित नहीं। इससे हमारे कुल की निन्दा होगी। आप इस प्रदेश में न विचरण करना चाहें तो किसी दूसरे अनुकूल प्रदेश में विचरण करिये, परन्तु संयम न छोड़ें।"

परन्तु कुण्डरीक ने एक न सुनी, यही कहा कि संयम की बातें सब रूखी हैं। मुझे संयम में अब रुचि नहीं रही। मैं तो सांसारिक भोगों का आनन्द लेना चाहता हूँ।"

पुण्डरीक नृप ने उन्हें भोगों से होने वाली हानियों के बार में बहुत समझाया, किन्तु मुनि कुण्डरीक का मन संयम में स्थिर नहीं हुआ। अतः कुण्डरीक को राज्य

सौंपकर पुण्डरीक ने स्वयं दीक्षा ग्रहण कर ली। कुण्डरीक राज्य संभालते ही आसक्ति-पूर्वक अमर्यादित रूप से भोगों का सेवन करने लगे। अतिभोग के कारण वे रोगों से ग्रस्त होकर तीसरे ही दिन आयुष्यपूर्ण करके सातवीं नरक में पहुँचे। वहाँ अत्यन्त दुःखों से ग्रस्त हो गये। दूसरी ओर पुण्डरीक मुनि शुद्ध संयम की आराधना करते हुए तीसरे ही दिन आयुष्य पूर्ण करके संयमपालन के फलस्वरूप सर्वार्थसिद्ध देवलोक में उत्पन्न हुए। दोनों में से एक को भोगोपभोग की आसक्तिवश ३३ सागरोपम स्थिति वाली सातवीं नरक में घोर यातनाएँ सहनी पड़ती हैं, जबकि दूसरे को भोगों का त्याग करने से ३३ सागरोपम स्थिति वाला स्वर्ग मिलता है। भोगों को निःशंक होकर भोगने से कितने भयंकर दुःख भोगने पड़ते हैं, जो उन भोगों से अनेक गुना अधिक दण्ड है। इसीलिए अगर भोगों से सर्वथा छुटकारा पा लो, तब तो सबसे अच्छा है अगर उतना सामर्थ्य न हो तो, उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत ग्रहण करके उपभोग-परिभोग की मर्यादा करे। किन्तु निरंकुश होकर भोगों को भोगने से इस लोक में तथा परलोक में उसे भयंकर से भयंकर यातनाएँ, दुःख और कष्ट भोगने पड़ेंगे।

विवेकी साधु या विवेकी श्रावक को यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि मनुष्यजीवन भोगों का सेवन करने, विशेषतः यौवन आने पर मनुष्य भोगों के पीछे अन्धा होकर न दौड़े, अपितु अपनी परिस्थिति, शक्ति, रुचि, हैसियत और आर्थिक क्षमता का विवेक करके ही उसे भोगों की मर्यादा (सीमा) करना चाहिए। इसीलिए उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत आवश्यक बताया गया है।

श्रावक जिन-जिन पदार्थों का उपभोग-परिभोग करता है, उनके पीछे उसकी दृष्टि इन्द्रियविषयों में आसक्त होकर उन्हें पोसते रहने की नहीं होनी चाहिए। सामान्यतया सांसारिक पदार्थों का उपभोग दो कारणों से होता है—एक तो शरीर रक्षा के लिए, ताकि शरीर की रक्षा करके उससे धर्मपालन कर सके। इसमें शरीर को स्वस्थ, सशक्त, कार्यक्षम तथा रोगमुक्त रखना भी सम्मिलित है। क्योंकि धर्मपालन रोगिष्ठ, निर्बल, अशक्त एवं अस्फूर्तिमान शरीर से नहीं हो सकता। इसलिए शरीर-रक्षा अनिवार्य कारण है।

दूसरा कारण है—अनिवार्य आवश्यकता के बिना ही इन्द्रियविषयजन्य सुखों, भोगविलासों की प्राप्ति के लिए, कामभोग की इच्छापूर्ति के लिए। इन दोनों कारणों में से श्रावक को दूसरे कारण से उपभोग परिभोग का सर्वथा त्याग करना चाहिए, और अनिवार्य कारणवश किये जाने वाले उपभोग-परिभोग के सम्बन्ध में भी यह मर्यादा करनी चाहिए कि मैं शरीर रक्षा के लिए अमुक-अमुक पदार्थों का ही, इतनी मात्रा में प्रतिदिन उपभोग-परिभोग करूँगा, शेष का नहीं।

इसलिए इस व्रत का उद्देश्य श्रावक को जीने की ऐसी कला सिखाना है, जिससे वह अनिवार्य कारणवश सेवन किये जाने वाले पदार्थों का भी विवेकपूर्वक

मर्यादापूर्वक उपभोग करते हुए अपना जीवन सुखशान्ति-पूर्वक बिता सके। सातवाँ व्रत श्रावक को जीवन जीने की कला सीखने के लिए अनिवार्य है।

संसार में मुख्यतया लोग दो तरह से जीवन जीते हैं—एक तो इन्द्रियजन्य-विषयों की पूर्ति के लिए अन्धाधुन्ध, अविवेकपूर्वक पदार्थों का उपभोग करके। और दूसरे, विवेकपूर्वक शरीर-रक्षा के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक पदार्थों का उपयोग करके। दूसरे प्रकार से जीवन जीने वाले व्यक्ति सातवाँ व्रत ग्रहण करके अपने जीवन के कलाकार बनते हैं, अपने जीवन को मितव्ययी, स्फूर्तिमान एवं स्वस्थ-सशक्त बना कर यथाशक्ति त्याग, तप एवं चारित्र-पालन द्वारा पूर्ण आत्मिक विकास की ओर ले जा सके।

भोगों का गुलाम, जीवन का बादशाह नहीं

जो मनुष्य इस व्रत के माध्यम से उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं की मर्यादा नहीं करता, अविवेकपूर्वक निरंकुश होकर वस्तुओं का उपभोग करता है, वह त्याग-तप से अभ्यस्त न होने के कारण धीरे-धीरे भोगों का इतना अधिक गुलाम बन जाता है कि फिर वह उन पदार्थों के न मिलने पर मन में दुःखित, असन्तुष्ट चिड़चिड़ा और क्रोधी हो जाता है। उस पराधीन जीवन से वह तंग आकर आत्महत्या तक कर लेता है। आर्त्तध्यान करता है, उन भोगों की पूर्ति के लिए वह अनैतिक उपायों का सहारा लेता है। कभी-कभी कर्जदार बनकर अपनी जिन्दगी दुःख और चिन्ता से अभिभूत बना लेता है। परलोक में उसे तिर्यञ्च या नरक के दुःखों को परवश होकर भोगना पड़ता है।

अतः भगवान् महावीर ने समस्त भव्य जीवों को उद्बोधन करते हुए कहा कि देवानुप्रियो ! इन सांसारिक कामभोगों के गुलाम बनकर अपनी जिन्दगी को बर्बाद मत करो, दुःखी मत बनाओ। अपनी आत्मशक्ति प्रगट करो। त्याग से ही आत्मशक्ति प्रगट होगी। अपने जीवन के बादशाह बनो। भोगों की गुलामी से तुम पर भोग हावी होकर आधिपत्य करेंगे। तुम समर्थ होते हुए भी भोगों की गुलामी की मनोवृत्ति के कारण अपनी शक्ति को नहीं पहिचान पाओगे और कुछ भी नहीं कर पाओगे।

भोगों के गुलाम बनने पर आप जानते हैं, आपकी क्या स्थिति होगी ? जैसे कोई घर का मालिक घर में बड़ा बनकर तो बैठ जाए, लेकिन वह जो बात कहे, जो आज्ञा दे, या अपना कोई विचार किसी के सामने रखे, तो उसका छोटा भाई, पुत्र, स्त्री आदि उसकी बात मानने को तैयार न हो, उसकी अवज्ञा करते रहे, घर में जो बड़े-बूढ़े या युवक हैं, वे उसकी तौहीन करें या उसकी बात को मजाक में उड़ा दें, उसके विचारों को युक्ति से काट दें तो उसका घर में बड़ा बनने का क्या अर्थ है ? उसे महत्ता के आसन पर तो बिठा दिया गया है, लेकिन उस उच्चासन पर बैठने का कोई आनन्द, स्फूर्ति या उल्लास उसके पास नहीं है। इसी प्रकार समाज में किसी को

नेता, चौधरी, सरपंच या मुखिया बनाकर बिठा दिया जाय, किन्तु वह किसी को कुछ कहते हुए हिचकिचाता हो, मन ही मन भयभीत होता हो, उसकी आज्ञा मानने को भी कोई तैयार नहीं होता हो, वह अन्दर ही अन्दर जलता, कुढ़ता और मन मसोस कर रह जाता हो, तो कहना चाहिए कि उसे बड़ा तो बना दिया गया, परन्तु उसके मन में जो गुलामी-वृत्ति या हीनवृत्ति थी, वह नहीं गई।

मैं समझता हूँ, जो भोगों के गुलाम हैं, वे जीवन के स्वामी या बादशाह नहीं हो सकते। उनकी सदा यही शिकायत रहती है कि शरीर मेरी आज्ञा में नहीं चलता, ये इन्द्रियाँ मेरा कहना नहीं मानतीं। कान मेरे वश में नहीं हैं, आँखें मेरे आदेश का पालन नहीं करतीं। मन मेरी बात नहीं मानता।

सन्त कहते हैं कि अगर तुम अपने जीवन के बादशाह बनना चाहते हो तो शरीर, इन्द्रियों और मन के विषय-भोगों के गुलाम मत बनो, भोगों के गुलाम बनोगे तो इन्द्रियाँ, शरीर और मन पर आधिपत्य करने के बदले, ये तीनों आप पर आधिपत्य करने लगेंगे। इन तीनों पर आधिपत्य करने का ही नाम है—अपने जीवन के बादशाह बनना। और जीवन के बादशाह बनने का सबसे आसान तरीका है—सातवें—उपभोग परिभोग परिमाणव्रत पालन का अभ्यास करना। फिर आप उपभोग्य परिभोग्य पदार्थों के गुलाम न बनकर उन्हें अपने अधीन बना सकोगे। इन्द्रियाँ, मन और शरीर की लगाम अपने हाथ में रख सकेंगे। ऐसा न करने पर अर्थात् इन्द्रियों, मन और शरीर के विषयभोगों के गुलाम बन जाने पर कैसी हालत हो जाती है, इसके लिए एक दृष्टान्त लीजिए।

एक कंगाल भिखारी था। वह फटे कपड़े पहने हुए हाथ में एक फूटा ठीकरा लेकर भीख माँगता फिरता था। भाग्य की बात! एक दिन उस नगर के राजा का देहान्त हो गया। राजा के कोई पुत्र नहीं था। अतः प्राचीनकाल में प्रचलित-प्रथा के अनुसार एक हथिनी की सूँड में माला देकर छोड़ा गया। उसने एक भिखारी के गले में वह माला डाल दी। भिखारी को राजा घोषित कर दिया गया। उसे सोने के सिंहासन पर बिठा दिया गया और रत्नजटित मुकुट भी उसके सिर पर सुशोभित होने लगा। राजसी पोशाक से सुसज्जित भिखारी पर राजा के चंवर भी डुलने लग गए। उसकी जय के नारे भी लगने लगे। लेकिन यह सब होते हुए भी भिखारी राजा अपनी भिखारी की पूर्व पोषित मनोवृत्ति को नहीं छोड़ सका। राजा बन जाने पर भी उस भिखारी को कोई आनन्द नहीं था।

दूसरे दिन दरबार लगा तो वह सिंहासन पर आकर चुपचाप बैठ गया। प्रधानमन्त्री को आये देख भिखारी राजा अन्दर ही अन्दर सोचता है, यह कहीं मुझे फटकार न दे।' कभी-कभी भिखारी राजा साहस करके कुछ कहता भी है तो प्रधान-मन्त्री हँसते हुए कहता है—'अजी! आप चुपचाप बैठे रहिये न! हम सब काम कर लेंगे।'

जब सेनापति और कोतवाल आते हैं, तब भी भिखारी राजा भयभीत-सा हो जाता है कि कहीं ये लोग मुझे गिरफ्तार करके न ले जाएँ। सेठ और अन्य नागरिक भी आते हैं तो भिखारी राजा को देखकर मन ही मन मुस्कराते हैं। बेचारा भिखारी राजा मन ही मन अपने को अपमानित, तिरस्कृत और हीनभावनाओं से ग्रस्त अनुभव कर रहा है। क्योंकि राजा बनने से पूर्व तक तो वह दर-दर की ठोकरें खाता रहा था, उसे जगह-जगह अपमान, गाली और तिरस्कार के कड़वे घूँट ही पीने को मिले थे। सम्मान और गौरव तो उसे कभी मिला ही नहीं था। अपने जीवन की उन्हीं पुरानी कटु-स्मृतियों को याद करके वह बेचारा तिलमिलाकर रह जाता है।

मैं आप ही से पूछता हूँ, भिखारी विधिवत् राजा भी बन गया। वैभव और ठाट-बाट भी राजा के-से हो गए। परन्तु अन्दर से तो वह अभी तक पुरानी भिखारी मनोवृत्ति को ढो रहा है, इसलिए उसे आनन्द कहाँ से हो? आनन्द उसे तभी मिलेगा जब वह भिखारी मनोवृत्ति को तिलांजलि देकर राजा के अपने वास्तविक स्वरूप पर विचार करके तदनुसार आचरण करेगा।

यही बात सांसारिक पदार्थों के भिखारी, भोगों के गुलाम के सम्बन्ध में कहीं जा सकती है। आप अपने पुण्यकर्मों के फलस्वरूप मनुष्य जन्म पाकर जीवन के सम्राट् तो बन गए हैं। मनुष्य का आत्मा सम्राट् है, बादशाह है, अपने जीवन का स्वयं अनुशास्ता, प्रशासक एवं इस सारे साम्राज्य का अधिष्ठाता है। लेकिन इन्द्रिय, मन और शरीर के विषय-भोगों के अधीन होकर अपने को गुलाम बना लिया है। इन्द्रियों और मन से विषय-भोगों की भीख माँग-माँगकर वह उनसे इतना अपमानित तिरस्कृत और त्रस्त हुआ कि अपने को हीन मानने लग गया। जीवन के सम्राट् होने पर भी उसकी यही शिकायत है कि इन्द्रियाँ मेरा कहना नहीं मानतीं, मन भी मेरी आज्ञा को ठुकरा देता है और यह शरीर भी तो मेरे आदेश के विरुद्ध चलता है। उस राजा भिखारी की तरह वह जीवन-सम्राट् अपने स्वरूप को भूल कर पूर्वसंस्कार-वश भोगों की गुलामी की मनोवृत्ति से अभ्यस्त होने के कारण इन्द्रियों से, मन से और शरीर से कुछ कहने से डरता है, कोई कठोर आदेश देने से कतराता है।

भगवान महावीर कहते हैं कि एकमात्र अपने आप पर विजयी बन जाने पर इन्द्रियाँ, मन आदि सब पर विजय प्राप्त की जा सकती है। अपने आप पर विजय पाने का अर्थ है—परभावों—सांसारिक पदार्थों—विषय-भोगों की गुलामी छोड़कर अपने वास्तविक स्वरूप में, स्वभाव में रमण करना। इसके लिए गृहस्थ को चाहिए कि कान्त, प्रिय और मनोज्ञ भोगों के उपलब्ध हो सकने पर अथवा सामने उपस्थित होने पर भी उनके प्रति मन से भी अभिलाषा न करे, मन से भी उन्हें न चाहे। तभी भोगों की गुलामी से छूटकर उसकी आत्मा अपने असली त्यागभाव में रमण कर सकती है। इसके लिए ही उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत है। इस व्रत से श्रावक भोगों का गुलाम नहीं, उनका स्वामी बन सकेगा। फिर अपने पुण्य से प्राप्त अमुक

पदार्थों का उपभोग वह करेगा, तो भी अनासक्तभाव से जागरूक होकर करेगा। अमुक मनोज्ञ, अभीष्ट, भोग्य पदार्थों के न मिलने पर भी वह उनके लिए लालायित नहीं होगा, उनके वियोग में या न मिलने की स्थिति में वह असन्तुष्ट, अन्यमनस्क या चिन्तित नहीं होगा। क्योंकि वह अपने आप में सन्तुष्ट हो जाएगा। भोग्य पदार्थों के अभाव में वह अपने आपको अब असहाय, दीन-हीन और पराधीन अनुभव नहीं करता।

जिसके जीवन में अनियंत्रित भोग हैं, उसकी भोगासक्ति बढ़ती जाती है, वह एक दिन भोगों का गुलाम बनकर अपना जीवन स्वयं दुःखी बना लेता है। अगर आप अपना जीवन सुखी और सन्तुष्ट बनाना चाहते हैं तो भोगों के गुलाम नहीं, भोगों के स्वामी बनिए, इन्द्रियों, मन आदि के अधीन न बन कर इन्हें अपने आज्ञाधीन बनाइए। यह तभी हो सकता है, जब आप उपभोग-परिमाणव्रत को स्वीकार करेंगे।

आप कहेंगे, जिस चीज की हमें आवश्यकता है, अथवा जिस चीज को हम अपने विकास के लिए उपयोगी समझते हैं, उस चीज के न मिलने पर दुःख कैसे नहीं होगा ?

भगवान् महावीर का कहना है कि जो व्यक्ति अपनी पाँचों इन्द्रियों और मन के विषयों में आसक्त होगा, वह उपभोग से कदापि सन्तुष्ट नहीं होगा, और इस प्रकार की असन्तुष्टि जिसको होगी, वही व्यक्ति दुःखी होगा, पदार्थों के न मिलने पर। आखिर सुख और दुःख मन की ही तो माया है ! व्यक्ति अगर मन को अपने आज्ञाधीन बना लेता है, वह निश्चय कर लेता है कि इस चीज की आवश्यकता मन को है न ! आत्मा को तो इस चीज की आवश्यकता नहीं है। अगर होती तो अवश्य मिल जाती।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि सुख का मूल आत्मशक्ति में है। पदार्थों के उपभोग से तो आत्मा की कर्तृत्वशक्ति क्षीण होगी, बल्कि पदार्थों के प्रति पराधीनता या पदार्थों की अपेक्षा बढ़ने से आत्मा की शक्ति बढ़ेगी नहीं।

आत्मशक्ति का सच्चा विकास पदार्थों के उपभोग में नहीं, त्याग में है। त्याग की शक्ति जितनी बढ़ेगी, उतना ही पदार्थों की पराधीनता से छुटकारा मिलेगा और उतनी-उतनी आत्मशक्ति बढ़ेगी। गृहस्थ श्रावक का एक मनोरथ भी है—सांसारिक पदार्थों (परिग्रह) तथा आरम्भ से सर्वथा मुक्त होने का। अतः त्याग (पदार्थों के त्याग) द्वारा आत्मशक्ति बढ़ाने का सर्वोत्तम उपाय सातवाँ व्रत है।

आप लोगों का यह प्रतिदिन का अनुभव है कि अधिक खाने से शरीर में शक्ति प्राप्त नहीं होती, अपितु आवश्यक और सारभूत खाने से शरीर पुष्ट होता है, वैसे ही अध्यात्मवेत्ताओं का अनुभव है कि सांसारिक पदार्थों का अधिकाधिक उपभोग करने से आत्मा की शक्ति नहीं बढ़ती, बल्कि अधिकाधिक त्याग करने से और शरीर धारण करने के लिए यथावश्यक सारभूत पदार्थों का अनासक्तभाव से धर्मपालन के

उद्देश्यपूर्वक सेवन करने से ही आत्मशक्ति बढ़ती है। भोजन के पाचन पर शक्ति निर्भर है, अधिक भोजन खाने पर नहीं; उसी प्रकार मर्यादित और अनासक्तिपूर्वक पदार्थों के उपभोग से व्यक्ति की शक्तियाँ विकसित होती हैं।

मितव्ययता का सन्देश

उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत श्रावक के जीवन में मितव्ययता का पाठ पढ़ाता है। संसार में उपभोग और परिभोग के अगणित पदार्थ हैं, परन्तु विवेकी मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं में काट-छाँट करके अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकताओं की सूची बनानी चाहिए, अन्यथा वह पदार्थों का उपभोग करने के पीछे अनियन्त्रित एवं अमर्यादित होकर समय, शक्ति और धन को बर्बाद करेगा, और इतना सब कुछ करने के बाद भी पल्ले पड़ेगा—असन्तोष और अशान्ति। उधर पदार्थों के उपभोग, में उनकी प्राप्ति की चिन्ता में, उन पदार्थों की रक्षा में अधिकाधिक शक्ति लगाने से उसकी आत्मशक्ति क्षीण हो जाएगी, उसे आत्मचिन्तन का अवकाश भी नहीं मिल पाएगा। उसका अधिकांश समय शरीर की, इन्द्रियों की एवं मन की विविध फरमाइशों को पूरी करने में ही लग जाएगा, आवश्यकताओं के नाम पर वह पदार्थों की लम्बी सूची बना लेगा, परन्तु क्या वह सचमुच उन चीजों का यथोचित उपभोग या उपयोग कर सकेगा ?

अनुभव कहता है कि उसकी इन्द्रियाँ अधिकाधिक भोगों में आसक्त होकर ही क्षीण हो जाएँगी, वह उनका उपभोग करना तो दूर रहा, उलटे उनसे ऊब कर घृणा करने लगेगा। परन्तु ऐसी स्थिति में उसकी आत्मशक्ति क्षीण होने से वह न तो उस शरीर से धर्मपालन कर सकेगा, और न ही इन्द्रियों और मन को आत्मा की सेवा में लगा सकेगा।

इसलिए भगवान महावीर ने सबसे अच्छा मितव्ययता का मार्ग गृहस्थ-श्रावकों को बताया है कि अपनी आवश्यकताओं की कटौती करो, उनमें कतर-ब्योंत करके कम से कम आवश्यकताओं की सूची बना लो। अपनी आवश्यकताओं की एक सीमा बाँध लो और यह दृष्टिकोण बना लो कि सांसारिक पदार्थों का जितना कम उपभोग हम करेंगे, उतनी ही त्यागवृत्ति बढ़ेगी, आत्मचिन्तन और धर्मध्यान में अधिक समय लगा सकेंगे। सुख-शान्ति से, शारीरिक, मानसिक स्वस्थता से जीवनयापन कर सकेंगे और आत्मशक्ति बढ़ाते हुए लक्ष्य के निकट पहुँच सकेंगे।

एक व्यक्ति फूहड़पन से अधिक से अधिक खर्च करके या बहुत-सी चीजों को घर में ला कर भी ठीक ढंग से जीवन नहीं बिता सकता, जबकि दूसरा व्यक्ति कम से कम खर्च से और कम से कम वस्तुओं से व्यवस्थित ढंग से अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। पहला व्यक्ति अपनी मूर्खता से अधिक धन, समय और शक्ति खर्च करके भी उतना अच्छा लाभ नहीं उठा सकता, जबकि दूसरा व्यक्ति अल्प धन, समय और शक्ति व्यय करके भी अच्छा से अच्छा लाभ उठा लेता है। इसके पीछे क्या रहस्य

है ? रहस्य यही है कि पहला व्यक्ति मितव्ययता से जीवन जीने की कला नहीं जानता, जबकि दूसरा व्यक्ति उस कला को जानता है और वह कला सप्तमव्रत से आबद्ध होकर जीवन जीने की है।

स्व. राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रबाबू एक बार कई राज्यों का दौरा करके राँची पहुँचे। वहाँ उनके पैर में दर्द होने लगा। दर्द का कारण था—जूतों के तले का घिसना उनमें कीलें उभर आई थीं, वे चुभने लगीं।

राष्ट्रपति के शिविर से अहिंसक चर्मालय केन्द्र दस मील था। उनके सचिव वहाँ से एक नया जोड़ा खरीद लाये। कीमत पूछी तो जवाब मिला—उन्नीस रुपये। राजेन्द्र बाबू की पिछली स्मृतियां उभर आईं। उन्होंने कहा—"गतवर्ष तो हमने ग्यारह रुपये में ऐसे जूते लिये थे।" "जी हाँ, ग्यारह रुपये वाले भी वहाँ थे, पर वे इनसे कमजोर थे। यह जोड़ा अधिक मुलायम चमड़े का है।" सचिव ने कहा।

मितव्ययी राजेन्द्र बाबू ने इस पर कहा—'यदि ग्यारह रुपये वाले जोड़े से काम चलता हो तो उन्नीस रुपये क्यों खर्च किये जाएँ ? मेरे पैर तो कड़े ही जूते पहनने के अभ्यासी हैं। अतः तुम यह जोड़ा लौटा कर ग्यारह रुपये वाला जोड़ा ले आओ।" सचिव राष्ट्रपतिजी के स्वभाव से परिचित थे। अतः वह जोड़ा लौटाने को तैयार हो गए। इतने में राष्ट्रपतिजी ने पूछा—"इतनी दूर जाओगे कैसे ?"

सचिव बोला—"जी मोटर से चला जाऊँगा।" "यह तो उचित नहीं। जितने रुपये तुम जूते खरीदने में बचाओगे, उतने तो पेट्रोल में खर्च हो जाएँगे। अतः ये जूते अभी यहीं रहने दो। हमें यहाँ तीन दिन रहना है। इसी दरम्यान उधर जाने वाले किसी आदमी द्वारा इन्हें बदलवा लेंगे।" राजेन्द्र बाबू का उत्तर था।

सभी लोग बाबूजी की सादगी और मितव्ययता के आगे नतमस्तक हो गए।

जो लोग अपनी आय और आवश्यकता की परवाह किये बिना आमदनी से अधिक खर्च विलासितापूर्ण सामग्रियों पर करते हैं, वे व्यर्थ का अपव्यय करते हैं और बढ़े हुए खर्च की पूर्ति प्रायः अनैतिक तरीकों से करनी पड़ती है। इस तरह के अपव्ययी लोग व्यवस्था सम्बन्धी कठिनाइयों और कर्ज के बोझ से दब जाते हैं, साथ ही सुशिक्षा, पौष्टिक आहार, औद्योगिक एवं आर्थिक विकास से भी वंचित रह जाते हैं। इसके विपरीत मितव्ययी लोग थोड़ी-सी आय से ही शान की एवं शान्तिपूर्ण जिन्दगी बिता लेते हैं, जबकि लम्बी आमदनी वाले अपव्ययी (फिजूलखर्च) को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। वास्तव में प्रदर्शन, आडम्बर एवं अपव्यय ये तीनों चीजें विवेकी मनुष्यों का लक्षण नहीं। मितव्ययी मनुष्य व्यवस्था और उल्लास की, बेफिक्री और स्वाभिमान की जिन्दगी बिताता है। प्रत्येक वस्तु का उपयोग भी तब तक किया जाये जब तक उसकी उपयोगिता पूरी तरह नष्ट न हो जाए।

फटे कपड़े को सीकर पहनने से वह दो महीने और काम दे जाय तो वैसा करना अच्छा है, बजाय इसके कि नये कपड़े के लिए १०-१२ रुपये बेकार खर्च किये जायें। तथा दो जोड़े कपड़े से सालभर में काम चल जाए तो अधिक जोड़े वस्त्र लाना और सबको थोड़ा-सा फटते ही फेंक देना, अच्छा नहीं, यही बात जीवन-निर्वाह के लिए अत्यन्त आवश्यक पदार्थों के सम्बन्ध में है; ये मितव्ययता के सम्पूर्ण सूत्र हैं, जिन्हें उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत का धारक श्रावक अपने जीवन में ताने-बाने की तरह बुन लेता है।

अनावश्यक वस्तुओं के संग्रह करने तथा चटकीली, भड़कीली व्यर्थ वस्तुओं के उपभोग करने का मोह इस व्रत के ग्रहण एवं पालन करने से समाप्त हो जाता है। निकम्मी वस्तुओं का बोझ भी मन-मस्तिष्क से दूर हो जाता है।

बहुत-से लोग अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह करके तथा उनका दिखावा करके अपने घर को अजायबघर बना लेते हैं। वे सोचते हैं, हम अपने घर में जितनी अधिक वस्तुओं का संग्रह करेंगे, उतना ही हमारा जीवनस्तर ऊँचा उठेगा, हम लोगों की दृष्टि में प्रतिष्ठित एवं बड़े आदमी कहलायेंगे, किन्तु अनावश्यक पदार्थों के संग्रह से मनुष्य को उनकी व्यवस्था, सफाई, व्यर्थ की आसक्ति एवं सुरक्षा की चिन्ता में काफी समय लगाना पड़ता है, उनके रख-रखाव के लिए काफी खर्च भी करना पड़ता है।

एक राजा था। उसने देश-विदेश से विविध प्रकार के बहुत-से कीमती रत्न मंगवाए और अपने महल के एक कमरे में उन्हें व्यवस्थित ढंग से सुसज्जित करवा दिये। राजा ने उनकी सुरक्षा के लिए कई पहरेदार नियुक्त कर दिये।

एक दिन एक महात्मा आ गए। राजा ने महात्मा से प्रशंसा पाने की आशा से उन्हें वह कमरा दिखाया जिसमें देश-विदेश के बहुमूल्य रत्न सुसज्जित थे। राजा ने महात्मा को प्रत्येक रत्न का परिचय दिया कि यह रत्न अमुक देश से मँगाया है, इतने मूल्य का है।"

महात्मा ने पूछा—"राजन्! ये रत्न किसी काम में आते हैं?"

"नहीं महाराज! ये किसी काम में नहीं आते, मुझे शौक है, इनके संग्रह का, इसलिए मैंने शोभा के लिए इनका संग्रह किया है।" राजा ने कहा।

महात्मा बोले—"इनकी सुरक्षा के लिए काफी खर्च होता होगा?"

"जी, इनकी सुरक्षा के लिए हजारों रुपये प्रतिवर्ष खर्च होते हैं।"

महात्मा ने कहा—"राजन्! मैं तुम्हें इनसे भी कीमती और उपयोगी पत्थर बताऊँ, जो एक बुढ़िया के यहाँ हैं और कई लोगों का उनसे भला भी होता है।"

विस्मित राजा महात्मा के साथ पैदल चल पड़ा। महात्मा ने एक बुढ़िया के

यहाँ पहुँच कर उसके यहाँ रखी हुई हाथचक्की के दो पाट बताए और कहा—ये तुम्हारे उन पत्थरों से कीमती और उपयोगी पत्थर है, इनसे बुढ़िया के सिवाय कई लोगों का पेट भी भरता है।"

राजा ने महात्मा की बात स्वीकार कर ली।

कहने का मतलब है, ऐसी व्यर्थ की चीजों का संग्रह करने से भी क्या लाभ है, जो किसी के उपयोग में नहीं आतीं, जिनसे किसी को कोई लाभ न हो।

उपासकदशांग सूत्र में आनन्द श्रमणोपासक की जीवनचर्या का स्पष्ट वर्णन है। बारह करोड़ स्वर्णमुद्राओं का स्वामी आनन्द श्रमणोपासक कितनी सीधी-सादी और जीवन के लिए उपयोगी अल्प से अल्प वस्तुएँ अपने उपभोग-परिभोग के लिए रखता है। आप सुनकर आश्चर्य करेंगे, लेकिन यह एक ठोस सत्य है कि जो मनुष्य अपनी आत्मा का विकास करना चाहता है, आत्म-शक्ति बढ़ाना चाहता है, उसके लिए आवश्यक है कि वह कम से कम चीजों का संग्रह और उपभोग करें।

इस व्रत से खानपान और रहन-सहन में विवेक

इस व्रत के ग्रहण करने पर श्रावक को यह विवेक करना पड़ेगा कि अमुक पदार्थ मेरे शरीर धारण के लिए उपयोगी है या केवल स्वाद या फैशन के लिए है? आजकल बहुत से लोग इस बात से अनभिज्ञ होकर अन्धाधुन्ध सांसारिक पदार्थों का उपभोग करते रहते हैं कि इन सांसारिक पदार्थों का उपभोग क्यों और किसलिए करना चाहिए और किया किसलिए जा रहा है? इस सम्बन्ध में बहुत सी भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक पदार्थ कौन-से हैं? इसका विवेक न करके वे पदार्थों का अधिकाधिक उपभोग करना हितकर समझते हैं। वे तथाकथित सभ्यता, फैशन, बड़प्पन एवं स्वाद के चक्कर में पड़कर खानपान एवं रहन-सहन के लिए रहन-सहन के योग्य आवश्यक पदार्थों का चयन न करके केवल मौजशौक या इन्द्रिय-विषयों के अत्यधिक पोषण हेतु उनका अधिकाधिक उपभोग करने में आनन्द मानते हैं। उदाहरण के तौर पर भूख तो साधारण रोटी आदि से भी मिट सकती है, किन्तु स्वाद-लोलुप लोग नाना प्रकार के पक्वान्न, मिठाइयाँ, अचार-मुरब्बा चटनी तथा तले हुए चटपटे पदार्थ खाने में आनन्द मानते हैं। भूख लगी हो तो सूखी रोटी या साधारण रोटी भी अच्छी लगती है लेकिन जिन लोगों ने खाने में ही आनन्द मान रखा है, वे लोग क्षुधा मिटाने अथवा शरीर को धर्म-पालन के लिए टिकाए रखना आवश्यक समझकर खाने के बदले अधिकाधिक स्वाद का पोषण करने हेतु भूख न होने पर भी स्वादिष्ट एवं गरिष्ठ चीजें खा जाते हैं, जो स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद रोगोत्पादक, अधिक खर्चीली तथा अधिक आरम्भजनित होती हैं। अधिकांश रोगों की उत्पत्ति का मूल कारण खानपान का अविवेक है। स्वाद-लोलुप लोग अपनी रसना के वश होकर अधिकाधिक भ्रष्ट चीजें अतिमात्रा में खा-पी कर अपना धर्म, धन, स्वास्थ्य और रुचि सब कुछ चौपट कर देते हैं।

कहते हैं, रोम के एक बादशाह सीजर को स्वादिष्ट और चटपटे पदार्थों के खाने का बहुत शौक था। वह प्रतिदिन अपने लिए नित नये स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ बनवाता और छक कर खाता था। पेट भर जाने के बाद वह ऐसी दवा खाता था, जिससे वमन होकर पेट खाली हो जाता। वह फिर खाता, दवा लेता और वमन करता। इस प्रकार की चेष्टाएँ वह दिन में कई बार करता था। आखिरकार उसे इस स्वाद-लोलुपता ने क्षय रोग से ग्रस्त बना दिया और वह अकाल में ही काल की शरण हो गया।

रोम के इस बादशाह में और भुखमरे में क्या अन्तर है? परन्तु स्वाद के लिए खाने वाले बहुत से लोग अजीर्ण आदि के कारण रोम सम्राट् की तरह न मालूम प्रति वर्ष कितने व्यक्ति मौत के शिकार हो जाते हैं। आम लोगों की उलटी धारणा है कि जो अनेक प्रकार के गरिष्ट-स्वादिष्ट, तले हुए पदार्थ खाता है, वह प्रतिष्ठित है, भाग्यवान है, उसका रहन-सहन उच्चस्तर का है, तथा जो व्यक्ति धनिक होकर भी सादगी से रहता है, सादा सुपाच्य भोजन करता है, रसनेन्द्रिय लोलुपता वश कोई पदार्थ नहीं खाता, उसकी निन्दा करते हैं, जब कि ऐसा व्यक्ति प्रशंसनीय है। महात्मा गांधी जी इस विषय मे बहुत सतर्क थे, वे शरीर धारण के लिए आवश्यक पदार्थ लेते थे, तथा वे ही और उतने ही लेते थे, जो सुपाच्य एवं पोषक हो।

इसी भ्रान्त धारणा के अनुसार लोगों ने उन वस्त्रों के पहनने में सुख मान रखा है, जो आधुनिक फैशन का पोषक हो, शृंगारवर्द्धक हो, अत्यन्त बारीक व मूल्यवान हो। इस प्रकार की भ्रान्त धारणा के कारण अनावश्यक अधिक वस्त्र लादना भी अच्छा और सभ्यता का चिन्ह मानते हैं, फिर चाहे उन वस्त्रों से स्वास्थ्य को हानि पहुँचती हो, उन पर व्यय भी अधिक करना पड़ता हो। अत्यधिक वस्त्र संग्रह करना भी वे अपनी शान समझते हैं। इस उष्णता प्रधान देश में अधिक वस्त्र पहनना आवश्यक व लाभदायक नहीं है। प्राचीन समय में बिहार और बंगाल में धनाढ्य तक भी सिर्फ दो वस्त्र पहनता था, वह भी बिना सिले। एक अधोवस्त्र और दूसरा उत्तरीय वस्त्र। अधिक वस्त्र पहनने का रिवाज मुगल शासन काल और बाद में ब्रिटिश शासन काल में चला है। इसका परिणाम यह हुआ है कि ऐसे वस्त्र पहने जाते हैं, जिनसे न तो पूर्णतया लज्जानिवारण होता है, न शीततापसे रक्षा होती है, बल्कि अंग-अंग दिखता है, और रोम कूपों में वायु का संचार न होने के कारण पसीना जम कर सूख जाता है, स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, अत्यधिक वस्त्र लादने से शरीर में सर्दी, गर्मी बर्दाश्त करने की शक्ति भी नही रहती। इस प्रकार अविवेकी लोग रहन-सहन की भ्रान्त धारणा के शिकार बनकर वस्त्र पहनने का उद्देश्य भूलकर धन, धर्म और स्वास्थ्य तीनों को बर्बाद करते हैं। मगर जो श्रावक सप्तम व्रत ग्रहण कर लेता है, वह भोजन, वस्त्र ही नहीं, जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक-अनावश्यक, हितकर-अहितकर, धर्म के अनुकूल प्रतिकूल तमाम बातों का विवेक करता है।

ऐसा विवेकी व्यक्ति प्रत्येक वस्तु का उपभोग करते समय विचार करके उन चीजों के उपभोग का त्याग कर देते हैं, जो बिलकुल अनावश्यक, अप्राकृतिक एवं धर्म के विरुद्ध हो। उदाहरण के तौर पर भांग, गांजा, अफीम, तम्बाकू, शराब, सिगरेट, बीड़ी आदि नशैली वस्तुएँ, जो स्वास्थ्य, धन और धर्म तीनों को बिगाड़ने वाली हैं, अप्राकृतिक हैं, जिन्हें पशु सूंघते तक भी नहीं है।

मनुष्य उनके गुलाम और आदी बनते जा रहे हैं। उनके सेवन से आए दिन टी०बी०, कैंसर, दमा आदि भयानक रोग उत्पन्न होते है। जीवन विलासी एवं प्रमादी बन जाता है। विवेकी श्रावक इन नशैली चीजों के सेवन का बिलकुल त्याग कर देते हैं। इसी प्रकार वर्तमान युग में सोने-चांदी के आभूषण आवश्यक नहीं है, इनसे किसी भी तरह से शरीर रक्षा नहीं होती, बल्कि आभूषण पहनने से प्राणनाश का खतरा रहता है, स्वास्थ्य को कोई लाभ नहीं है, न शक्ति ही आती है। केवल फैशन और शृंगार के नाम पर इन्हें सौन्दर्य प्रसाधन के लिए पहना जाता है। मगर विवेकी श्रावक-श्राविका आभूषणों को कतई उपयोगी नहीं मानते। वास्तव में इन सोने-चांदी के आभूषणों से स्त्री का सौन्दर्य नहीं बढ़ता, वह बढ़ता है—शील, सेवा, सादगी और दान व त्याग से।

श्री माधवराव पेशवा के राजगुरु न्यायमूर्ति रामशास्त्री कम से कम आवश्यकताओं से अपना जीवन बिताते थे। नूतन वर्षाभिनन्दन के दिन उनकी पत्नी रानी से मिलने गई। रानी ने गुरुपत्नी को आभूषण विहीन देख कर सोने के गहनों और कीमती वस्त्रों से उन्हें सुसज्जित करके सोने की पालकी में बिठाकर विदाई दी। परन्तु ज्यों ही श्रीराम शास्त्री ने अपनी पत्नी को बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से मंडित देखा, उन्होंने घर का दरवाजा बन्द कर लिया। पत्नी के द्वारा द्वार खोलने को कहने पर उन्होंने कहा—"मेरी पत्नी ऐसे वस्त्राभूषणों से सजी-धजी व सोने की पालकी में बैठने वाली नहीं हो सकती। यह और कोई स्त्री है।" श्रीराम शास्त्री की पत्नी समझ गई। उसने राजमहल में जाकर वे सब वस्त्राभूषण उतारे और अपनी पुरानी वेशभूषा में जब लौटी तो न्यायमूर्ति ने द्वार खोला। कहा—सोने-चांदी के गहनों का शृंगार तो अनावश्यक है, अज्ञानी-जनों का काम है।

सारांश यह है कि जिन वस्तुओं का उपयोग किये बिना साधारणतया निर्वाह नहीं हो सकता, उनकी मर्यादा करके, शेष समस्त चीजों के उपभोग-परिभोग का त्याग करना चाहिए।

श्रावक को अत्यन्त आवश्यक भोगों को छांटकर तदनुसार निर्लिप्त निरासक्त भाव से सेवन करना ही अभीष्ट है।

श्रावक के जीवन का लक्ष्य पूर्ण त्याग की ओर बढ़ना है। किन्तु शरीर को उक्त पूर्ण त्याग के लिए सहयोगी मान कर वह उसकी रक्षा के लिए आवश्यक उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थों का सेवन भी करता है।

इस प्रकार आवश्यकताओं को सीमित कर लेने से जीवन में बहुत शान्ति मिलती है। मर्यादा से बाहर के किसी पदार्थ के उपभोग-परिभोग की लालसा नहीं रहती। गुजरात में एक लोकोक्ति है—'खर्च वधे तो पाप वधे छे।' इसके अनुसार जिसका खर्च बढ़ जाता है, उसे उसकी पूर्ति के लिए अनैतिक उपायों से धन कमाना पड़ता है। रात-दिन चिन्ता और अशान्ति में जीवन बीतता है। जिसका खर्च कम होता है, उसे कमाना भी कम पड़ता है, न पापकर्म करना पड़ता है। जो अहर्निश खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने आदि के लिए कमाने में ही जुटा रहता है, उसे धर्मध्यान एवं आत्म-चिन्तन के लिए अवकाश ही नहीं मिलेगा। ऐसा अस्थिरचित्त व्यक्ति आत्मकल्याण एवं परमार्थ के कार्य कर ही कैसे सकता है ?

इस व्रत से मूलव्रतों में प्रशस्तता

इस व्रत के स्वीकार करने से मूल व्रतों का विकास होता है, वे देदीप्यमान होते हैं, सादगी से जीवन व्यतीत होता है, जनता में वह विश्वस्त एवं प्रतिष्ठित हो जाता है। वस्तुतः पांच मूलव्रतों के धारक श्रावक को उन व्रतों की सुरक्षा एवं वृद्धि के उद्देश्य से वृत्ति का संकोच करना आवश्यक है। इसी हेतु से छठा दिग्परिमाण-व्रत लिया जाता है, लेकिन इस व्रत से मर्यादित क्षेत्र के बाहर का क्षेत्र एवं वहाँ के पदार्थादि से तो श्रावक विरत हो जाता है, मगर मर्यादित क्षेत्र के अन्तर्गत पदार्थों का उपभोग-परिभोग तो सर्वथा खुला रहता है। उनकी कोई सीमा नहीं रहती, जिससे जीवन अनियन्त्रित रहता है। असंयमित जीवन वाले के मूलव्रत निर्मल नहीं रह सकते। इसी बात को दृष्टिगत रख कर सप्तमव्रत बताया है। इसके स्वीकार करने पर मर्यादित क्षेत्रान्तर्गत पदार्थों के उपभोग-परिभोग की मर्यादा हो जाती है, वृत्ति-संकोच हो जाता है। इस प्रकार मूलव्रतों के स्वीकार करने पर जो अव्रत शेष रहा जाता है, वह दिग्परिमाणव्रत धारण करने से क्षेत्र से और उपभोग-परिभोग परिमाण के स्वीकार से, द्रव्य से संकुचित—सीमित हो जाता है। मूलव्रत प्रशस्त, हो जाते हैं। उनमें गुण उत्पन्न करके ये दोनों उन्हें दीप्त कर देते है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति आम खाता है, दूसरा नहीं खाता। उसने आम खाने का त्याग कर दिया। अब उसे यह सोचने की आवश्यकता ही न रहेगी कि इस वर्ष आम की फसल कैसी है ? आम का क्या भाव है ? अभी बाजार में आम आते हैं या नहीं ? इस प्रकार वह आम्रविषयक विकल्पों से तथा तज्जन्य आरम्भादि पाप से बचा रहेगा। मगर जिसने आम खाने का त्याग नहीं किया, वह उपर्युक्त विकल्पों एवं चिन्ताओं से घिरा रहेगा, तज्जन्य पाप से भी।

सप्तमव्रत का उद्देश्य

इस व्रत का उद्देश्य तो शारीरिक आवश्यकताओं को कम से कम करके श्रावक के जीवन को मर्यादित, विवेकसम्पन्न, सादा, संयमपोषक बनाना है। जिसकी शारीरिक आवश्यकताएँ जितनी अधिक होंगी, उसे उनकी पूर्ति के हेतु उतना ही

अधिक पाप, प्रवृत्ति या आरम्भ करना पड़ेगा, इसके विपरीत जिसकी आवश्यकताएँ जितनी कम होंगी, उसे उतनी प्रवृत्ति या आरम्भ भी नहीं करना पड़ेगा। वह धर्म-कार्य के लिए भी पर्याप्त समय बचा सकेगा। अधिक पाप से या आरम्भ से भी अपने को बचा सकेगा।

अतः श्रावक इस व्रत के उद्देश्य को आँखों से ओझल न कर दे। जो श्रावक आवश्यकताओं को किसी कारणवश कम नहीं कर सका है, वह धीरे-धीरे ही सही, इस ओर आगे बढ़े, किन्तु लक्ष्य को भूल न जाए और न ही वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों को अभावजनित कष्ट में डाले। उदाहरण के तौर पर जब श्रावक चार आदमियों के निर्वाह योग्य अन्न-वस्त्र आदि का अकेले ही उपभोग करेगा, तो शेष तीन आदमियों को कष्ट में पड़ना पड़ेगा। वे उस अन्न-वस्त्र के अभाव में पीड़ित होंगे। अगर श्रावक अपनी आवश्यकताएँ बढ़ा लेगा तो उनकी पूर्ति के चक्कर में वह दूसरों को कष्ट में डालेगा, इसलिए 'जीओ और जीने दो' इस सिद्धान्त का भलीभाँति पालन करने के लिए श्रावक को सप्तमव्रत स्वीकार करके अपनी आवश्यकताएँ कम से कम करने का प्रयत्न करना चाहिए, बल्कि अन्न-वस्त्र संकट के अवसर पर तो अपनी पूर्व स्वीकृत पदार्थों की मर्यादा में से और कम करके कम से कम पदार्थों से ही काम चला लेना चाहिए।

यही सप्तम व्रत का आशय है। आशा है, आप सातवें व्रत के उद्देश्य और इसके रहस्य को हृदयंगम कर चुके होंगे। ☆

3

उपभोग-परिभोग-मर्यादा और व्यवसाय-मर्यादा

☆

मर्यादा का नाम सुनते ही आप चौंकेंगे। आप कहेंगे कि वर्तमान स्वातंत्र्य युग में मर्यादा अर्थहीन है, अनावश्यक है, निष्प्रयोजन है। किन्तु यह बात आपको स्वीकार करनी होगी कि जो व्यक्ति अभी पूर्णता तक पहुँचा नहीं है, तब तक उसके लिए मर्यादाएँ पद-पद पर आवश्यक हैं, ये मर्यादाएँ बलात् थोपी हुई नहीं, अपितु स्वेच्छा से प्रसन्नतापूर्वक स्वीकृत होती हैं। सर्वथा अप्रमत्त एवं अनासक्त वृत्ति पर पहुँचे हुए व्यक्ति के लिए तो मर्यादा अर्थहीन एवं अनावश्यक है, लेकिन जो अभी मध्यधारा में बह रहा है, उसके लिए मर्यादा की बैशाखी आवश्यक है। शास्त्रीय भाषा में कहें तो आचार की धातु के लिए मर्यादा का कवच आवश्यक है। हाँ, यह बात हो सकती है, कि प्रत्येक साधक की अपनी परिस्थिति, योग्यता और शक्ति के अनुसार मर्यादा भिन्न-भिन्न श्रेणी पर स्थित हो, किन्तु अपूर्ण साधक के लिए स्वेच्छा से स्वीकृत मर्यादा अनिवार्य है। नदी दो तटों की मर्यादा में बहती है, तभी वह स्वयं स्वच्छ और सशक्त होकर अनेक प्राणियों और-पेड़ पौधों को जीवनदान दे सकती है, किन्तु जब वह तट-मर्यादाओं को तोड़कर बाढ़ का रूप धारण कर लेती है, तब स्वयं भी स्वच्छ व सशक्त नहीं रहती और संसार में भी विनाशलीला का दृश्य उपस्थित कर देती है। मगर मर्यादा में बहती हुई जब समुद्र में मिल जाती है, तब उसे मर्यादा की कोई अपेक्षा नहीं रहती; क्योंकि पूर्णता की प्रतिमूर्ति समुद्र में अपने को विलीन कर चुकी है। वर्तमान युग में भोगों की बढ़ती हुई उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता, संयमहीनता, स्वादवृत्ति एवं स्वेच्छाचारिता तथा अनियंत्रण को देखते हुए इस सम्बन्ध में स्वेच्छाकृत मर्यादा की कितनी आवश्यकता है ? यह सहज ही हम समझ सकते हैं।

मर्यादा का अर्थ मनीषियों ने सीमा, नियन्त्रण, संयम व नियमानुवर्तिता किया है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, पृथ्वी और समुद्र आदि नियमानुवर्तिता का उल्लंघन नहीं करते, तभी वे जगत् के लिए उपकारी और विश्वसनीय हैं। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थों एवं व्यवसाय के सम्बन्ध में मर्यादाबद्ध है, उसका

जीवन सुखी, विश्वसनीय एवं परमार्थी होता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थों एवं व्यवसायों की मर्यादा बताई है।

पिछले प्रवचन में मैं इस व्रत की उपयोगिता विभिन्न पहलुओं से सिद्ध कर आया हूँ। वास्तव में जो गृहस्थ साधक उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं के सम्बन्ध में मर्यादाओं का अतिक्रमण न करके जो कुछ भोगने योग्य है, उसका अस्वादवृत्ति से, अनासक्त भाव से उपभोग-परिभोग करते हैं, वे कभी दुःखी नहीं होते। गृहस्थजीवन में सुख के साधन अनेक मिल सकते हैं, किन्तु साधक यदि उनका भोग अनियंत्रित रूप से करता है तो वे भी दुःख का कारण बन जायेंगे मर्यादा का त्याग करके उपभोग करना स्पष्टतः अस्वास्थ्य, रोग, शोक और बहुसन्तान के समान दुःख का हेतु बन जाएगा। उपभोग्य और परिभोग्य पदार्थ कितने प्रकार के हैं? उनकी मर्यादाएँ क्या हैं और किस विधि से हो सकती हैं? इसके लिए जैनागमों में स्पष्ट चिन्तन प्रस्तुत किया है।

उपभोग-परिभोग परिमाण : स्वरूप और प्रकार

कल के प्रवचन के चिन्तन के प्रकाश में सप्तमव्रत के स्वरूप को समझ लेना चाहिए। उपभोग-परिभोग का सामान्य अर्थ होता है—जीवननिर्वाह के लिए अथवा शरीरधारण या शरीररक्षा के लिए पदार्थों की मर्यादा—नियत मात्रा में सेवन करना। आवश्यक वृत्तिकार उपभोग और परिभोग की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—

"उपभोगः सकृद्भोगः स चाशनपानानुलेपनादीनाम्।
परिभोगस्तु पुनर्पुनः भोग्यः, सचासन-वसन-शयन-वनितादीनाम्।"

—जो पदार्थ एक बार सेवन करने के पश्चात् तत्काल या समयान्तर में पुनः सेवन न किया जा सके, काम में न आ सके, उसे उपभोग कहते हैं, जैसे भोजन, पानी, अंग-विलेपन आदि। इसके विपरीत जो वस्तु एक बार से अधिक बार भी सेवन या इस्तेमाल की जा सकती है, उसे परिभोग कहते हैं। जैसे आसन, शय्या, वस्त्र, वनिता आदि। अथवा उपभोग और परिभोग के बदले रत्नकरण्डक श्रावकाचार में भोग और उपभोग मिलते हैं, उनका अर्थ भी पहले जैसा ही है।[1]

उपभोग-परिभोग की एक व्याख्या और मिलती है, वह यह है कि जो पदार्थ शरीर के आन्तरिक भाग से भोगे जाते हैं, उन्हें भोगना उपभोग है और जो पदार्थ शरीर के बाह्य भागों से भोगे जाते हैं, उन्हें भोगना परिभोग है। ऐसे उपभोग और परिभोग के योग्य पदार्थों के विषय में ऐसी मर्यादा करना कि मैं अमुक-अमुक पदार्थों के सिवा शेष पदार्थों का उपभोग-परिभोग नहीं करूँगा, इस मर्यादा को उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत कहते हैं।

---

१ भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो, भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशन-वसनप्रभृतिः पंचेन्द्रियो विषयः ॥८३॥ —रत्न०, क० श्रा०

यह तो पहले कहा जा चुका है कि उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं की मर्यादा स्वादवृत्ति, विषयसुखपोषणवृत्ति आदि की दृष्टि से न होकर धर्मपालनार्थ केवल शरीर-रक्षा की दृष्टि से होगी। शरीर को स्वस्थ, सशक्त और कार्यक्षम बनाए रखना श्रावक का कर्तव्य है, इसलिए शारीरिक अनिवार्य आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही वह उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं की सूची तैयार करेगा।

शरीर के साथ ही पाँचों इन्द्रियाँ संलग्न हैं। इन पाँचों इन्द्रियों में धर्मपालन के कार्य तभी हो सकते हैं, जब वे ठीक हालत में हों, स्वस्थ एवं सशक्त हों। अतः श्रावक को उन पाँचों इन्द्रियों या शरीर के विभिन्न अवयवों को स्वस्थ, सशक्त एवं कार्यक्षम रखना आवश्यक समझकर जीवन-निर्वाह के लिए शरीर और शरीर से सम्बन्धित आवश्यक पदार्थों के उपभोग-परिभोग की मर्यादा करना चाहिए। इस प्रकार की जाने वाली मर्यादा में केवल उन्हीं पदार्थों की छूट रखना उचित है, जितना पूर्वोक्त विवेक के प्रकाश में कसौटी पर जाँच करने के बाद रखना अनिवार्य हो।

शास्त्रकारों ने इस व्रत के ग्रहण करने में सुविधा की दृष्टि से २६ प्रकार के उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थों की एक सूची दी है। इस सूची के आधार पर व्रतधारी उस प्रकार के पदार्थों के उपभोग-परिभोग की मर्यादा करता है कि मैं अमुक-अमुक पदार्थों का सर्वथा सेवन न करूँगा, अमुक पदार्थ इतनी बार से अधिक बार इस्तेमाल न करूँगा, इतने समय से पूर्व या पश्चात् की बनी हुई चीज का उपयोग न करूँगा, अमुक समय पर ही अमुक पदार्थ काम में लूँगा; उसके पहले या पीछे काम में न लूँगा। अमुक पदार्थ इतने समय तक ही काम में लूँगा, इसके पश्चात् नहीं। इस तरह पदार्थों के उपभोग या परिभोग के लिए द्रव्य, क्षेत्र और काल से मर्यादा करना ही उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत है।

शास्त्रकारों द्वारा बताए हुए २६ बोल इस प्रकार हैं—

१. **उल्लणियाविहि**—प्रातःकाल उठते ही शौचादि से निवृत्त होकर हाथ-मुँह धोने के पश्चात् उसे पोंछने के लिए आर्द्र (गीले) वस्त्र (जिसे आजकल रूमाल, अंगोछा या तौलिया कहते हैं) की मर्यादा करना उल्लणियाविहिपरिमाण कहलाता है।

(२) **दंतवणविहि**—रात्रि में सोते समय मुख में श्वासोच्छ्वास के वायु द्वारा जो निकृष्ट पुद्गल एकत्रित हो जाते हैं, उन्हें दूर करने और मुख शुद्धि के लिए दतौन किया जाता है। प्राचीनकाल में लोग बबूल, नीम या मुलैठी की लकड़ी से दतौन करते थे, आजकल अधिकांश लोग टूथपेस्ट व ब्रुश से तथा दन्तमंजन से दतौन करते हैं। अतः दन्तधावन से सम्बन्धित पदार्थों के विषय में मर्यादा करना दंतवण विहि परिमाण कहलाता है।

(३) **फलविहि**—दतौन करने के बाद बुद्धि विकास के लिए मस्तक को स्वच्छ और शीतल किया जाता है। प्राचीन काल में आंवला आदि फलों के द्वारा ऐसा किया

जाता था, वर्तमान में साबुन, शेम्पू आदि द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। अतः इसके लिए यथावश्यक पदार्थों की मर्यादा करना फलविहि परिमाण है।

(४) **अब्भंगण विहि**—त्वचा सम्बन्धी विकारों को दूर करने और शरीर में रक्त-संचार करने हेतु जिन तैल आदि द्रव्यों की शरीर पर मालिश की जाती है, उन द्रव्यों की मर्यादा करना अभ्यंगनविधि परिमाण है।

(५) **उवटणविहि**—शरीर पर जमे हुए मैल को हटाने तथा शरीर में स्फूर्ति एवं शक्ति लाने के लिए उवटन (पीठी) लगाया जाता है, उस उवटन के सम्बन्ध में मर्यादा करना उवटन विधि-परिमाण है।

(६) **मज्जणविहि**—स्नान के सम्बन्ध में मर्यादा करना कि मैं इतनी बार से अधिक बार या अमुक प्रकार के इतने जल से अधिक जल का व्यय नहीं करूंगा, यह स्नानविधि परिमाण है।

(७) **वत्थविहि**—वस्त्र के सम्बन्ध में मर्यादा करना कि मैं अमुक किस्म के इतने वस्त्र से अधिक वस्त्र शरीर पर धारण नहीं करूंगा, इस प्रकार से वस्त्रमर्यादा करना वस्त्रविधिपरिमाण है।

(८) **विलेवणविहि**—शरीर में शीतलता प्रदान करने वाले चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों का विलेपन किया जाता है, उन द्रव्यों की मर्यादा करना विलेपन विधि-परिमाण है।

(९) **पुप्फविहि**—पुष्पों की मर्यादा करना कि मैं अमुक वृक्ष के इतने पुष्पों के अतिरिक्त अन्य अथा अधिक फूल उपयोग में न लूंगा, पुष्प-विधिपरिमाण है। आजकल पुष्प के बदले लोग इत्र, सेंट या फूलेल लगाते हैं।

(१०) **आभरणविहि**—शरीर पर धारण किये जाने वाले आभूषणों की मर्यादा करना कि मैं इतने मूल्य या इतने वजन के अमुक आभूषण के सिवाय अन्य आभूषणों का उपयोग नहीं करूंगा, इस प्रकार की मर्यादा करना आभरणविधि है।

(११) **धूपविही**—जिस स्थान में निवास किया जाय स्वास्थ्य की दृष्टि से वहां की वायु शुद्धि के लिए धूपादि के उपयोग का परिमाण करना धूपविधि परिमाण है।

ये ग्यारह बोल, जिन विधियों का परिमाण सूचित करते हैं, वे उन पदार्थों के लिए हैं, जिनसे या तो शरीर की रक्षा होती है, अथवा शरीर में स्फूर्ति, स्वस्थता आती है।

इससे आगे के बोलों में ऐसी वस्तुओं की विधि का परिमाण सूचित किया गया है, जो शरीर को पुष्ट करने तथा शक्ति प्रदान करने वाले हैं।

(१२) **पेज्जविहि**—प्रातःकाल नाश्ते के समय जो पेयपदार्थ लिये जाते हैं, उन पेयपदार्थों (दूध, शर्बत, मट्ठा आदि) का परिमाण करना पेयविधिपरिमाण है।

(१३) **भक्खणविहि**—भोजन से पूर्व नाश्ते के रूप जो पदार्थ खाये जाते हैं, जैसे मिठाई आदि, उनका परिमाण करना भक्षणविधि परिमाण है।

(१४) **ओदणविहि**—ओदन में उन द्रव्यों का समावेश है, जो विधिपूर्वक अग्नि पर पका कर खाए जाते हैं, जैसे चावल, थूली, खिचड़ी आदि। ऐसी चीजों की मर्यादा करना ओदन विधिपरिमाण है।

(१५) **सूपविहि**—सूप में उन भोज्य वस्तुओं का समावेश होता है, जो दाल, सूप आदि के रूप में रोटी या भात के साथ खाये जाते हैं, उन वस्तुओं का परिमाण करना सूपविधि परिमाण है।

(१६) **विगयविहि**—विगय में वे पदार्थ हैं, जो भोजन को सुस्वादु एवं पौष्टिक बनाते है, वे पांच विगय माने गये हैं—दूध, दही, घी, तेल, गुड़, चीनी या चीनी आदि से बनी मिठाई। इन पांचों को विकृति उत्पन्न करने वाले होने से विगय कहा गया है। इनकी मर्यादा करना विगयविहि है। मधु (शहद) और मक्खन विशेष विकृति पैदा करने वाले होने से विशेष विगय हैं, विशेष कारण के बिना श्रावक को इनका सेवन नहीं करना चाहिए।

मद्य और मांस तो महाविगय माना गया है, ये जीवों की घात से निष्पन्न होते हैं, इसलिए इनका तो सर्वथा त्याग करना चाहिए।

(१७) **सागविहि**—भोजन के साथ व्यंजनरूप में खाये जाने वाले पदार्थों को शाक या साग कहते हैं। ये हरे और सूखे दोनों प्रकार के होते हैं। अतः शाक के विषय में मर्यादा करना शाकविधिपरिमाण है।

(१८) **माहुरविहि**—मधुर एवं हरे-सूखे फलों की मर्यादा करना माधुरक-विधिपरिमाण है। मधुर हरे फलों में आम, केला, जामुन, नारंगी, सेव, अनार, अंगूर आदि हैं, सूखे फलों में बादाम, पिस्ता, किशमिश आदि सूखे मेवे हैं।

(१९) **जीमणविहि**—जो पदार्थ भोजन के रूप में क्षुधानिवारणार्थ खाये जाते हैं, जैसे रोटी, बाटी, पूरी, पराठा आदि, वे जेमन कहलाते हैं। इस प्रकार के द्रव्यों की मर्यादा करना जेमनविधि है।

(२०) **पाणीविहि**—विविध प्रकार के पेयजलों की मर्यादा करना कि मैं अमुक स्थान के, अमुक नाम के, या अमुक किस्म के (खाटे, मीठे, वर्षा के) पानी के सिवाय अन्य पानी इतने परिमाण से अधिक पीने के काम में नहीं लूंगा, पानी या विधिपरि-माण है। पानी के भी उष्णोदक, शीतोदक, गन्धोदक, खारा, मीठा आदि अनेक भेद होते हैं।

(२१) **मुखवासविहि**—मुखवास में उन पदार्थों की गणना की जाती है, जो भोजन के पश्चात् मुखशुद्धि के नाम पर लिये जाते हैं, जैसे—सुपारी, पान, इलायची आदि। अतः ऐसे मुखवास के सम्बन्ध में परिमाण करना मुखवासविधि परिमाण है।

(२२) **वाहणविहि**—वाहन में उन पदार्थों की गणना की जाती है, जिन पर चढ़कर भ्रमण या प्रवास किया जाता है, जैसे हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी रथ, पालकी, नौका, विमान, रेलगाड़ी, आदि। उक्त सवारियों की मर्यादा करना वाहन विधिपरिमाण है।

(२३) **उवाणहविहि**—उपानह में उन चीजों की गणना की जाती है, जो पैरों की रक्षा के लिए पैरों में पहनी जाती हैं, जैसे जूते, बूट, चप्पल, सैंडल, खड़ाऊँ, मोजे आदि। इन सबकी यथावश्यक मर्यादा करना उपानहविधिपरिमाण कहलाता है।

(२४) **सयणविहि**—शयन में उन वस्तुओं का समावेश होता है, जो सोने-बैठने आदि के काम आती हैं, जैसे—खाट, पलंग, ढोलिया, पाट, आसन, गद्दा, तकिया, बिछौना, मेज, कुर्सी, चौकी आदि। इन पदार्थों में से यथावश्यक पदार्थों की मर्यादा करना शयनविधिपरिमाण है।

(२५) **सचित्तविहि**—इसमें सचित्त (सजीव) पदार्थों की मर्यादा की जाती है, जो अचित्त किये बिना ही खाये जाते है, जिनके स्पर्श से मुनि बचते हैं। वास्तव में श्रावक को जहाँ तक सम्भव हो, सचित्त पदार्थ के उपभोग का सर्वथा त्याग करना चाहिए। वह श्रमणोपासक है। श्रमणोपासक का अर्थ श्रमणों की उपासना करने वाला है। श्रमण श्रावक से उत्सर्गमार्ग में शारिरिक सेवा तो लेते नहीं। श्रमणों की उपासना वह अचित्त (प्रासुक) आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि देकर ही कर सकता है। यदि वही सचित्तभोजी होगा तो साधु-साध्वियों को अचित्त भोजन कहाँ से दे सकेगा ? इसलिए श्रावक को सर्वथा अचित्तभोजी होना चाहिए। ऐसा सम्भव न हो तो सचित्त पदार्थों की मर्यादा कर लेनी चाहिए।

(२६) **दव्वविहि**—उपर्युक्त २६ बोलों में से कुछ बोलों में जिन सचित्त या अचित्त खाद्यपदार्थों की जो मर्यादा की गई है, उन पदार्थों की द्रव्यरूप में गिनती करके इस प्रकार की मर्यादा करना कि एक दिन में या एक समय में, आयुभर में इतने द्रव्य से अधिक का सेवन नहीं करूँगा। स्वाद की भिन्नता की दृष्टि से जितनी वस्तुएँ अलग-अलग द्रव्यों के संयोग के साथ मुँह में डाली जाएँगी, उनकी गणना पृथक्-पृथक् द्रव्यों में होगी। इस तरह श्रावक के द्वारा यथासम्भव द्रव्यों के सेवन की मर्यादा करना द्रव्यविधिपरिमाण है।

इन छब्बीस बोलों में से ग्यारह बोल शरीर को स्वच्छ, स्वस्थ एवं स्फूर्तिमान रखने वाले पदार्थों से सम्बन्धित हैं, इसके पश्चात् के दस बोल खान-पान-विषयक पदार्थों से सम्बन्धित हैं। अन्त के पांच बोलों में से ३ बोल शरीर को श्रमजनितथकान या अशक्ति से बचाने के लिए तथा शरीर व शरीर के अंगोपांगों की रक्षा के लिए उपयोगी पदार्थों से सम्बन्धित हैं।

इन छब्बीस प्रकार के पदार्थों की यथाविधि मर्यादा में उन सभी उपभोग्य-

परिभोग्य पदार्थों का परिमाण आ जाता है, जो जीवन-निर्वाह के लिए या शरीर धारण के लिए आवश्यक हैं।

इनमें से 'आभरणविधि' आदि कुछ बोल आपको ऐसे प्रतीत होंगे जो वर्तमान समय में आवश्यकता से अधिक पदार्थों की मर्यादा से सम्बन्धित हैं, परन्तु शास्त्रीय विधान त्रिकालदर्शी सर्वज्ञों द्वारा सामान्य-विशेष राजा-महाराजा या सेठ-साहूकारों से लेकर झोंपड़ी में रहने वाले गरीब श्रमजीवी या कृषक तक को लक्ष्य में रखकर किया गया है। ये बोल तो सर्व-साधारण रूप (Common) से सबके लिए बता दिये हैं। इनमें से अपनी-अपनी शक्ति, परिस्थिति, योग्यता आदि देखकर यथाविधि उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थों का त्याग या मर्यादा कर लेनी चाहिए।

शास्त्र में २६ बातों की सूची तो इसलिए बताई है कि सर्वसाधारण व्यक्ति से लेकर राजा-महाराजा तक इस व्रत को आसानी से धारण कर सकें। शास्त्रकारों ने तो अपनी ओर से सभी बातों का संकेत कर दिया है, जिस व्यक्ति को जिस पदार्थ की आवश्यकता न हो, वह उसका सर्वथा त्याग कर सकता है।

मर्यादा की मर्यादा

श्रावक अपने जीवन में सप्तमव्रत ग्रहण करके जब उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं की मर्यादा करता है, तभी उसे उस पदार्थ-मर्यादा के औचित्य को ५ कारणों की कसौटी पर कसकर जांच लेना चाहिए। यदि ५ कारणों की कसौटी पर जांचना-परखना अनिवार्य है कि मर्यादा में स्वीकृत वस्तु इन पांच दोषों से दूषित तो नहीं है? अगर उसके द्वारा मर्यादा में रखी हुई उपभोग्य-परिभोग्य वस्तु ५ दोषों से युक्त है तो उस दोष-युक्त वस्तु का सर्वथा त्याग करना चाहिए। भगवान् महावीर ने निर्वाण से पूर्व पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में आहार-सेवन करने से पूर्व साधक को आहार ग्रहण के ६ कारणों की कसौटी पर[1] उसके औचित्य को जांचना-परखना आवश्यक बताया है, वैसे ही गृहस्थ साधक को उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं का उपयोग करने से पहले आचार्य अकलंक द्वारा बताये गए ५ दोषरूप कारणों की कसौटी पर उसे जांच-परख लेना चाहिए। वे पाँच दोष रूप कारण ये हैं—त्रसवध, बहुवध, प्रमाद, अनिष्ट और अनुपसेव्य।

त्रसवध—जिस किसी भी वस्तु का उपभोग-परिभोग करना हो, उसके सम्बन्ध में विचार करना चाहिए कि यह चलते-फिरते (त्रस) प्राणियों के नाश से तो तैयार नहीं हुई है? अगर वह त्रसजीवों के हनन से तैयार हुई है तो श्रावक को उसके उपयोग का सर्वथा त्याग करना चाहिए। जैसे—मांस, चर्बी, पशुओं को मारकर तैयार

---

१ वेयण-वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ०

किया हुआ चमड़ा, रेशमी वस्त्र, जो शहतूत के कीड़ों के वध से तैयार हुआ है, वह दवाई, जो मछली या अन्य जीवों के अवयवों से तैयार हुई है, जैसे कॉड लिवर आइल हेमोग्लोबिन आदि। त्रसवधजन्य वस्तुओं का उपभोग-परिभोग सर्वथा त्याज्य समझना चाहिए।

बहुवध—जो पदार्थ त्रसजीवों का संहार करके तो निष्पन्न नहीं हुआ, किन्तु उसके बनाने में त्रसजीव पैदा हो जाते हैं, अथवा अनेक स्थावर जीवों की हिंसा होती है, ऐसे बहुवधजन्य पदार्थों का उपभोग अथवा परिभोग श्रावक को त्याज्य समझना चाहिए। जैसे मद्य त्रसजीवों के वध से तो नहीं बनता, किन्तु उसके बनाने की प्रक्रिया ऐसी है कि उसे सड़ाना पड़ता है, और सड़ाने में अनेक त्रसजीव पैदा हो जाते हैं; वे मर जाते हैं, इसलिए मद्य बहुवधजन्य होने से वर्ज्य है। इसी प्रकार जो वस्त्र बनते तो कपास से हैं, लेकिन उन पर पॉलिश करने के लिए पशुओं की चर्बी लगाई जाती है, वह भी वर्जनीय समझा जाना चाहिए। इसी प्रकार जो दवा अनेक स्थावर जीवों के वध से निष्पन्न होती है, जैसे काई से पैनसिलिन के इंजेक्शन तैयार किये जाते हैं। चाय को लाल सुर्ख बनाने के लिए चाय की पत्तियों पर खून छींटा जाता है, ऐसी वस्तु वर्जनीय समझनी चाहिए। गुल्लर या बड़ के फल में अनेक जीव होते हैं, इसलिए उसे वर्जनीय समझना चाहिए। जो शहद मधुमक्खियों के छत्तों पर धुंआ करके निष्पन्न होता हो, उसे भी वर्जनीय समझना चाहिए।

प्रमाद—जिस वस्तु के सेवन से प्रमाद बढ़ता हो, शरीर में स्फूर्ति और कार्य-क्षमता के बदले आलस्य, निद्रा, सुस्ती, कार्य करने की अक्षमता, अशक्ति एवं कार्य करने से जी चुराने की वृत्ति बढ़ती हो, उसे भी श्रावक को उपभोग्य-परिभोग्य नहीं समझना चाहिए। ऐसा गरिष्ठ एवं तामसी भोजन, तीखा तमतमाता आहार जो प्रकृति को उग्र और अविवेकी बना देता है, वह भी त्याज्य समझना चाहिए। श्रावक को आहार-विहार के सम्बन्ध में तो बहुत सतर्क रहना चाहिए। अति भोजन भी आलस्य और सुस्ती लाता है, गरिष्ठ भोजन भी कामोत्तेजना लाता है, ऐसे कामोत्तेजक, आलस्यवर्द्धक आहार से तो श्रावक को दूर रहना चाहिए।

इसी प्रकार श्रावक का शयन-आसन (बिछौना आदि) भी अत्यन्त गुदगुदा, अत्यन्त लचीला न होना चाहिए, जो विकारवर्द्धक हो। बहुत अधिक कपड़ों का या मोटा गद्दा अत्यन्त आलस्य एवं निद्रा लाने का कारण बनता है, इसलिए श्रावक को इसमें अतीव विवेक रखना चाहिए। अतिमात्रा में दही, दूध, घी, मिठाई आदि पदार्थों का सेवन भी विकृतिवर्द्धक है, वह भी प्रमादजनक है।

अनिष्ट—जो वस्तु अपने शरीर या जीवन के लिए हानिकर है, वह अनिष्ट है। जैसे विषभक्षण शरीर के लिए अनिष्ट है, इसी प्रकार जिन पदार्थों से अपना स्वास्थ्य बिगड़ता हो, जो अपने स्वास्थ्य के लिए हानिकर हों, वे पदार्थ भी अनिष्ट होने से त्याज्य हैं। कई क्रीम, साबुन आदि त्वचा को खराब कर देते हैं, वे भी अनिष्ट

हैं। कई अन्न या खाद्य वस्तुएँ अधपकी या अधिक पकी हुई हानिकारक होती हैं, उन्हें भी अनिष्ट में समझना चाहिए।

अनुपसेव्य—जिस वस्तु का सेवन शिष्ट सम्मत नहीं है, घृणित है, वह अनुपसेव्य है। पूर्वज ऋषियों ने जिनका उपभोग वर्जनीय माना हो, वे भी अनुपसेव्य हैं। जैसे अनजाने फल, अण्डा, माँस आदि पदार्थ।

अस्वादवृत्ति एवं आहारशुद्धि भी

गृहस्थ साधक को भी अपना जीवन उत्तरोत्तर मोक्ष साधना की ओर ले जाने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आहार-विहार में अस्वादवृत्ति का परिचय दे, साथ ही आहारशुद्धि भी रखें। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति सातवें व्रत से हो जाती है। गृहस्थ हो या साधु, दोनों को आहार लेना आवश्यक होता है। परन्तु वह आहारग्रहण करने से पहले उसकी शुद्धता की ओर अधिक ध्यान दे। छान्दोग्य-उपनिषद् में बताया गया है—

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥

—आहार शुद्ध, सात्त्विक एवं न्याय-प्राप्त हो तो सत्त्वशुद्धि या अन्तःकरणशुद्धि होती है। अन्तःकरण निर्मल होने पर स्मृति लाभ होता है, आत्म-स्मरण सदा रहने लगता है। उससे हृदय की समस्त ग्रन्थियां खुल जाती हैं, यानी अज्ञान की गांठें नष्ट हो जाती हैं।

शुद्ध आहार का अर्थ इतना ही नहीं कि आहार सात्त्विक हो, बल्कि वह न्याय नीति से प्राप्त हो, दूसरों से छीनाझपटी या ठगी करके प्राप्त आहार शुद्ध नहीं होता, साथ ही वह त्रसजीव के वध से जन्म न हो। इसके अतिरिक्त सात्त्विक आहार भी अतिमात्रा में, या ऋतु व प्रकृति के प्रतिकूल अथवा स्वादवृत्ति से ग्रहण किया हुआ होगा तो वह भी अशुद्ध बन जाएगा। स्वादवृत्ति से, आसक्तिभाव से किया गया आहार चित्तशुद्धि में सहायक नहीं है।

अस्वादवृत्ति की साधना के लिए शरीर को साधन मानना चाहिए साध्य नहीं। शरीर एक यन्त्र है, जगत् की सेवा करते हुए मोक्ष सिद्ध करने के लिए प्राप्त साधन है। अतः इसे यन्त्र या साधन समझकर इसका उपयोग करना चाहिए। अस्वादवृत्ति केवल रसनेन्द्रिय का विषय नहीं, सभी इन्द्रियों का विषय है। जैसे भोजन में अस्वादवृत्ति हो, वैसे ही वस्त्र, पदार्थ-दर्शन, शब्द-श्रवण, पदार्थ-घ्राण एवं स्पर्श के विषय में भी अस्वाद यानी अनासक्तभाव हो। जिस प्रकार यन्त्र से काम लेने के लिए उसमें ठीक समय पर उचित मात्रा में तटस्थभाव से तेल देना पड़ता है, उसी प्रकार शरीर यन्त्र को भी स्वस्थ एवं कार्यक्षम रखने के लिए अस्वादवृत्ति से नियत समय पर उचित मात्रा में अन्न-वस्त्रादि रूपी तेल देना चाहिए। शरीर को आहारादि देने में

साधक के मन में ऐसी यन्त्रदृष्टि बहुत ही अनुकूल एवं उपयोगी होती है । यन्त्र को तेल देने में न त्याग (लापरवाही) की भावना रहती है, न आसक्ति की, बल्कि यह दृष्टि रहती है कि कार्य ठीक तरह से सम्पन्न हो। यही निःसंग दृष्टि शरीरयन्त्र के सम्बन्ध में साधक की रहनी चाहिए। न शरीर के प्रति उपेक्षा रखें, न आसक्ति, कर्त्तव्यभावना से निःसंग होकर आहारादि आवश्यक वस्तुएँ दें, इसे परमात्म-साधना का पवित्र मन्दिर समझकर अस्वादवृत्ति से, पवित्र भावना से इसे ठीक मात्रा में दें और इससे धर्मकार्य सम्पन्न करें। खाद्य-पदार्थों के विषय में व्रती श्रावक की दृष्टि क्षुधानिवारण की हो। जैसे औषध रोग निवारणार्थ लिया जाता है, जीभ को अच्छा लगने की दृष्टि से नहीं, उसी प्रकार आहार का सेवन भी क्षुधानिवारक औषध की तरह होना चाहिए, न कि स्वादवृत्ति के पोषण के लिए। आरुणिकोपनिषद् में दो मन्त्र इस सम्बन्ध में मिलते हैं—

"औषधवत् अशनं आचरेत्', औषधवत् अशनं प्राश्नीयात् ।'

—औषध समझकर भोजन का सेवन करें, औषध की तरह आहार ग्रहण करें। औषध लेने का अर्थ रोग मिटाना और स्वास्थ्य को सुरक्षित रखना है। जहाँ स्वादवृत्ति मुख्य होती है, वहाँ प्रमाण एवं प्रकार का विशेष ध्यान नहीं रहता, किन्तु औषधवृत्ति से खाने पर प्रमाण एवं प्रकार भी नियन्त्रित हो जाता है। आवश्यकता से अधिक आहारादि लेने से शरीर की हानि होती है, स्वास्थ्य बिगड़ता है और कम लेने से पूरा पोषण नहीं मिल पाता, स्वास्थ्य रक्षा नहीं हो पाती। जब कोई साधक रसपूर्वक वस्तु का सेवन करता है, तो उसकी आदत पड़ जाती है और उसका परिणाम अधिक मात्रा में सेवन करने में होता है, अधिक खाने की आदत पड़ जाती है। रसपूर्वक थोड़ा-सा सेवन करना अस्वादवृत्ति में मान्य नहीं, तथैव रसपूर्वक अधिक मात्रा में सेवन करना भी मान्य नहीं, यह चिन्तन इस व्रत के साथ होना चाहिए। आहार के दोषों में **संयोग** नामक एक दोष भी बताया है, उसका तात्पर्य है, स्वादनिर्माण करने के लिए नाना प्रकार की चीजों का मिश्रण करना। अतः नमक आदि वस्तुओं के मिश्रण के पीछे भी स्वाददृष्टि के बजाय देहधारण या शरीर-रक्षण की दृष्टि होनी चाहिए। शरीर धारण की दृष्टि होने पर साधक अयोग्य, अखाद्य, अनावश्यक, अहित-कर, प्रकृति के प्रतिकूल, अतिमात्रा में पदार्थ सेवन करना छोड़ देता है। इससे अनावश्यक वस्तुओं का मोह खत्म हो जाता है। मन स्वाद के बन्धन से मुक्त हो जाता है। फलतः स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रकार के विकार क्षीण हो जाते हैं, चित्तवृत्ति आत्मा की ओर मुड़ने लगती है, आत्मानन्द में लीन रहने, आत्मा में रस लेने लगती है, वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। स्वादलोलुप मनुष्य जहाँ व्यर्थ खर्च करके अपना जीवन, शुष्क, नीरस, निराशा जनक बना लेता है, स्वास्थ्य बिगाड़ लेता है, वहाँ सप्तम व्रत का पालक अस्वाद के अधीन पदार्थों का स्ववश चुनाव करके शरीर को स्वस्थ, धर्म-पालन योग्य, आत्मरस-तृप्त, आनन्ददायक बना लेता है। अस्वादवृत्ति वाले साधक की बुद्धि पंचेन्द्रिय विषयों में रस नहीं लेती।

चूँकि अस्वादवृत्ति सप्तमव्रत लेते ही या संकल्प करते ही पूर्णतः पालन नहीं होगी, उसके लिए निष्ठापूर्वक सतत प्रयत्न करना पड़ता है। अतः सप्तमव्रत को लेकर इस अस्वादवृत्ति का पालन मन-वचन-काया से मृत्युपर्यन्त करना चाहिए। शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् समझने पर ही अस्वादवृत्ति का पालन भलीभाँति हो सकता है। किन्तु स्वादलोलुप लोग देह के साथ आत्मा को—'मैं' को जोड़कर उसे अपवित्र कर देते हैं। अतः स्वादवृत्ति से मुक्त होने का एक ठोस उपाय है, वैराग्य—प्रखर वैराग्य, परन्तु परमात्मभक्ति के साथ ही वैराग्य स्थायी हो सकता है, यह सारा अभ्यास सप्तमव्रत के साथ साधक को करना है।

सप्तमव्रत के पाँच अतिचार : भोजन दृष्टि से

सप्तमव्रत के पूर्वोक्त २६ बोलों की मर्यादा, उसकी जांच-परख के लिए पंचकारण कसौटी तथा अस्वादवृत्ति और अनासक्ति के प्रकाश में श्रावक को बहुत ही सावधानीपूर्वक मर्यादा की लीक पर चलना चाहिए। यदि जरा भी स्वादवृत्ति, आसक्ति और उच्छृंखलता को प्रश्रय दिया कि मर्यादा भंग हो सकती है। भगवान् महावीर ने इसीलिए श्रावक को सातवें व्रत के ५ अतिचारों (दोषों) से बचते रहने का निर्देश किया है, अन्यथा व्रत में मलिनता आ सकती है। श्रावक को सदैव सतर्क रहने के लिए भोजन सम्बन्धी इन पांच अतिचारों को जानना आवश्यक है। वे इस प्रकार हैं—(१) **सचित्ताहारे** (२) **सचित्तपडिबद्धाहारे,** (३) **अप्पोलिओसही भक्खणया** (४) **दुप्पोलिओसही भक्खणया** (५) **तुच्छोसहि भक्खणया।**

इन पांच अतिचारों से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, कि ये अतिचार भोजन के सम्बन्ध में हैं। यह बात पहले कही जा चुकी है कि श्रावक को श्रमणों का उपासक होने के नाते सचित्त वस्तु के सेवन (उपभोग) का त्याग करना चाहिए। सचित्त का अर्थ सजीव, सचेतन है। जिस पदार्थ में चित्शक्ति विद्यमान है, वह सचित्त है। जैसे कच्चा हरा साग, गुठली सहित पका फल, बिना पका हुआ अन्न, अंकुर उत्पन्न होने की शक्ति वाले बीज, बिना पकाया हुआ या अप्रासुक असंस्कृत पानी भी सचित्त है। श्रावक यथासम्भव अचित्त न बनाए हुए अशन, पान, खाद्य और स्वाद का त्याग करे। यद्यपि सचित्त पदार्थों के उपभोग का त्याग न करने वाला श्रावक भी श्रावकत्व से गिरता नहीं है, किन्तु आगे बताये जाने वाले बारहवें व्रत का आराधक वह नहीं हो सकता, क्योंकि वह सचित्त भोजन का त्याग उसने नहीं किया है। इसलिए उसके घर पर अचित्त (प्रासुक) वस्तुएँ नहीं होने से साधु-सन्तों को आहार-पानी देने का लाभ नहीं मिल सकता। क्योंकि श्रावक श्रमण की सेवा तभी कर सकता है, जब उसके पास श्रमण की उपासना के योग्य आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, शय्यासंथारा, औषध और घर (मकान) हो।

सचित्ताहार—यहाँ भोजन सम्बन्धी ५ अतिचारों में प्रथम अतिचार सचित्ताहार है। इस अतिचार से आचार्य हरिभद्र सूरि के चिन्तनानुसार यह ध्वनित होता

है कि श्रावक को स्वयं सचित्त आहार का त्याग करना चाहिए। सचित्ताहार अतिचार भी तभी सम्भव है, जबकि उस श्रावक ने सचित्त आहार का त्याग किया हो या अमुक सचित्त पदार्थ के विषय में कोई मर्यादा हो और उस पदार्थ को अचित्त बनाना भूलकर गलती से सचित्त रूप में खा लिया हो।

सचित्तप्रतिबद्धाहार—आहार तो सचित्त न हो, किन्तु वह आहार किसी सचित्त वस्तु पर रखा हुआ हो, सचित्त वस्तु से संलग्न हो, या सचित्त गुठली आदि से युक्त हो उसे उपभोग करे तो दूसरा सचित्त प्रतिबद्धाहार दोष लगता है। जैसे—हरे पत्तों के दोने में दही या मिठाई रखी हुई हो तो वह अचित्त होते हुए भी सचित्त हरे पत्तों से सम्बद्ध होने से सचित्तप्रतिबद्ध दोष युक्त आहार है। पके आम को गुठली सहित चूसकर खाने वाला श्रावक अचित्त आमरस को खाता हुआ भी सचित्त गुठली से युक्त आहार कर रहा है। अथवा रोटी की थाली सचित्त पानी के बर्तन या हरी सब्जी पर रखी हुई है, उसी को श्रावक खा रहा है तो वहाँ भी सचित्त प्रतिबद्धाहार है।

अपक्वौषधि भक्षणता—जो वस्तु पूरी तरह पकी नहीं है, ऐसी अधपकी चीज सचित्त भी नहीं है, किन्तु अचित्त भी नहीं है, मिश्र है, शंकास्पद और हानिकारक है, उसे श्रावक खाता है तो यह तीसरा अतिचार लगता है। चूँकि श्रावक शरीर को स्वस्थ, सुरक्षित और सशक्त रखने के लिए आहार करता है, मगर कुछ अपक्व आहार स्वास्थ्य के लिए हानिकारक एवं कुपथ्य हो जाते हैं, साधु भी ऐसी अपक्व खाद्य वस्तु को सचित्त की शंका से नहीं लेते। अतः इसे अतिचार कहा है।

दुष्पक्वौषधि-भक्षणता—चौथा अतिचार है, जो आहार अत्यधिक पक गया है, जिसका रस और स्वाद नष्ट हो गया है, जिसमें अधिक पक जाने से पोषक तत्त्व नष्ट हो गए हैं, ऐसे दुष्पक्व आहार को अचित्त होते हुए भी खाना इस व्रत का अतिचार है।

तुच्छौषधि भक्षणता—तुच्छ आहार का खाना भी दोषयुक्त है। तुच्छ आहार वह है, जिसमें क्षुधा निवारक या पोषक तत्त्व कम है, व्यर्थ का सारहीन भाग अधिक है। श्रावक के लिए ऐसा पोषक तत्त्व रहित, निःसार भोजन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे आहार करने का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। ऐसी तुच्छ चीजों का खाना भी श्रावक के लिए अतिचार रूप है।

सप्तमव्रत के ये पाँच अतिचार भोजन से सम्बन्धित हैं, किन्तु उपलक्षण से शरीर रक्षा के लिए अन्य पदार्थों जैसे वस्त्र, दतौन, फल, अभ्यंगन, उबटन, स्नान, विलेपन, औषध आदि भी सचित्तप्रतिबद्ध न हो, या ये सब सचित्त पर रखे हुए न हों। वाहन, उपानह (जूते आदि), शयन आदि सचित्त से (पंचेन्द्रिय जानवर या मनुष्य आदि की हत्या से) निष्पन्न या आधृत न हो। कच्ची वनस्पति, कच्चा जल आदि से

संस्पृष्ट न हो। वाहन में बैठ कर, जूते पहने हुए बैठ कर या शय्या आदि पर बैठे-बैठे आहार करना भी भारतीय संस्कृति की दृष्टि से दोषयुक्त है।

आचार्य समन्तभद्र ने इसमें संशोधन करके उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत के समस्त व्रत संस्पर्शी ५ अतिचार इस प्रकार दिये हैं—

"विषयरूपी विष के प्रति आदर रखना, बार-बार भोग्य पदार्थों को स्मरण करना, पदार्थों के प्रति अत्यधिक लोलुपता रखना, भविष्य के भोगों की अत्यन्त लालसा रखना, भोगों में अत्यधिक तल्लीन होना।[1]

सचमुच ये पाँच अतिचार श्रावक को मर्यादाकृत उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं के प्रति भी आसक्ति, पुनः-पुनः स्मरण, अत्यधिक लोलुपता अप्राप्त भोगों की लालसा तथा भोगों में अधिक तल्लीनता में डालते हैं। रात-दिन भोगों के चिन्तन में निमग्न रहने वाला श्रावक बाह्यरूप से व्रत ग्रहण कर लेने पर भी अन्दर से खोखला है। ऐसा श्रावक दम्भी, धर्मध्वजी और लोगों में अविश्वसनीय हो जाता है। इसलिए श्रावक को इस व्रत के पालन के समय बहुत ही फूँक-फूँक कर कदम रखना चाहिए।

आवश्यकताओं का विवेक

सातवें व्रत के सन्दर्भ में व्रतधारी को अपनी आवश्यकताओं पर तटस्थता से विचार करके उन्हें कम से कम कर देनी है। पदार्थों की अपनी सूची में से कृत्रिम और व्यसनमूलक आवश्यकताओं को बिलकुल निकाल देना है। अन्यथा वे उसे ही हैरान कर देंगी। सामान्यतया मनुष्य की आवश्यकताओं की तीन कड़ियाँ हैं—(१) मूल आवश्यकताएँ, (२) कृत्रिम अथवा विलास जन्य आवश्यकताएँ, और (३) व्यसन-रूप आवश्यकताएँ। जीवन-रक्षा से सम्बन्धित भोजन, वस्त्र और आवास, ये तीन सर्वसाधारण मूल आवश्यकताएँ हैं। इन्हीं आवश्यकताओं का अनावश्यक स्तर बढ़ा देने से ये ही मूल आवश्यकताएँ कृत्रिम या विलासितावर्द्धक हो जाती हैं।

आज चारों ओर से अभाव-अभाव की ध्वनि आ रही है। मनुष्य दिन-रात मशीन की तरह काम में जुटा रहता है, तब भी उसके खर्च पूरे नहीं होते। हर समय कोई न कोई कमी उसे सताती रहती है। अभाव की पूर्ति करने के लिए लोगों ने आय के अनुचित साधन भी अपना लिये हैं, फिर भी अभाव से उनका पिंड नहीं छूटता। गरीब आदमी को तो कोई भी अभाव रह सकता है, लेकिन आज बड़े-बड़े धनवानों को जब अभाव की शिकायत करते सुनते हैं तो आश्चर्य से दांतों तले अंगुलि दबानी पड़ती है।

यदि विचारपूर्वक गहराई से सोचा जाय तो जीवन में वास्तविक अभाव

---

१ विषयविषतोऽनुपेक्षाऽनुस्मृति रतिलौल्यमतितृषाऽनुभवौ।
भोगोपभोगपरिमाणव्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते॥
—रत्नकरण्ड श्रावका० ३/४४

बहुत ही कम होते हैं। वास्तविक अभाव की अवस्था में तो मनुष्य का जीना दूभर हो जाता है। अधिकतर लोग कृत्रिम अभावों की पीड़ा से व्याकुल रहते हैं। अन्न, वस्त्र, आवास आदि जीवन की मूलभूत नितान्त आवश्यकताओं की अपूर्ति को वास्तविक अभाव कहा जा सकता है, परन्तु समाज में इन मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति तो पर्याप्त रूप में या सीमित रूप में एक या दूसरे प्रकार से हो सकती है, बशर्ते कि मनुष्य यथार्थ दिशा में उसके लिए पुरुषार्थ करे।

आज संसार में जो भी दुःख, क्षोभ, अशान्ति, असन्तोष, व्यग्रता या अभाव दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उनका मूल कारण धन की कमी नहीं है, अपितु कृत्रिम आवश्यकताओं की वृद्धि है। मूल आवश्यकताओं को तो कोशिश करके भी नहीं बढ़ाया जा सकता ; किन्तु कृत्रिम आवश्यकताओं की वृद्धि का कोई अन्त नहीं। मनुष्य प्रयत्न करके भी पेट से अधिक भोजन नहीं कर सकता और तन से अधिक कपड़ा नहीं पहन सकता। यदि वह ऐसा करेगा तो अस्वस्थ, असभ्य एवं बेचैन बनेगा।

जब इन्हीं मूलभूत आवश्यकताओं के साथ कृत्रिमता तथा अनावश्यकता जोड़ दी जाती है, तब वे सीमित जरूरतें भी ईरान से तूरान तक बढ़ जाती हैं। पेट के लिए कुछ भोजन चाहिए, यह ठीक है। लेकिन भोजन के लिए मिर्चमसालेदार, तले हुए चटपटे पदार्थ, कचौड़ी-पकौड़ी, मक्खन-मलाई, मिठाइयों और पक्वान्नों से थाली भरे ढेर सारे व्यंजन हों, यह ठीक नहीं है। भोजन की आवश्यकता मौलिक है, किन्तु उसमें स्वाद अथवा प्रकारों (वेराइटीज) का आरोप कृत्रिमता है। कृत्रिमता से कलुषित भोजन की आवश्यकता सामान्य रूप से पूरी नहीं की जा सकती। सामान्य सादा-सीधा भोजन, जो कि आम आदमी के स्वास्थ्य रक्षा एवं जीवनशक्ति की पूर्ति के लिए आवश्यक है, आठ-दस आने में पूरा हो सकता है। वही कृत्रिमता और स्वादों से सजाया हुआ भोजन आठ-दस रुपयों में भी पूरा नहीं हो सकता। अतः अभाव का कारण, मूल आवश्यकता की पूर्ति नहीं, अपितु भोजन के साथ पूतना राक्षसी की तरह जुड़ी हुई कृत्रिमता है।

वस्त्र एवं आवास के लिए भी यही बात कही जा सकती है। शरीर ढकने के लिए वस्त्र चाहिए, जिससे शरीर-रक्षा एवं लज्जानिवारण भी हो सके और सभ्यता की रक्षा भी। यह काम साधारण मोटे कपड़ों की दो-तीन जोड़ी से आसानी से हो सकता है। इसलिए मनुष्य को अधिक व्यय या व्यग्रता की जरूरत नहीं। बुद्धिमानी तथा सावधानी बरती जाय तो थोड़े-से पैसों से काम चलाया जा सकता है। किन्तु जब कपड़े की यही सामान्य आवश्यकता मूल्यवान वस्त्रों, प्रकारों, फैशनों, पोजीशनों तथा अनेकताओं (वेराइटीज) एवं विविध डिजाइनों की कृत्रिमताओं से बोझिल कर दी जाती है, तब उसका खर्च उठाना मुश्किल हो जाता है। वस्त्रों पर व्यय प्रति वर्ष पचास रुपये से बढ़ते-बढ़ते पाँच सौ और पचपन सौ रुपये तक का हो जाता है। ऐसी कृत्रिम आवश्यकता से मनुष्य का धन बर्बाद होगा, फलतः वह अभाव की अग्नि में जलेगा भी।

प्रकाश तथा वायु की सुविधा से युक्त एक स्वच्छ तथा साधारण-सा मकान सामान्य रूप से थोड़ी-सी अर्थराशि में अथवा किराये पर प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु आवास की इस आवश्यकता के साथ आलीशान सजी हुई कोठी की कल्पना अथवा कृत्रिमता जोड़ दी जाती है, तब वह साधारण-सी जरूरत भी असाधारण बन जाती है। और वह कृत्रिम आवश्यकता अपनी पूर्ति में या तो मनुष्य का पैसा व्यय करा देगी या वह अभाव की पीड़ा से परेशान कर देगी।

आवश्यकताओं की न्यूनाधिकता के अनुपात में ही सुख-दुःख की वृद्धि होती है। जिसकी आवश्यकताएँ जितनी कम हैं, वह उतना ही अधिक सन्तुष्ट एवं सुखी रहेगा। उसे अभाव की पीड़ा नहीं सताएगी। जिसकी आवश्यकताएँ जितनी ही अधिक होंगी, वह उतना ही असन्तुष्ट, दुःखी और बेचैन होगा, उसके समक्ष हर समय अभाव का भूत खड़ा रहेगा।

मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को तो बिना किसी कठिनाई के आसानी से बढ़ाता जा सकता है, किन्तु उनकी पूर्ति के लिए अपनी आय को झटपट व आसानी से नहीं बढ़ा सकता। अर्थात्—आवश्यकताएँ जिस तेजी से या अनुपात से बढ़ती हैं, उस अनुपात से आय का बढ़ सकना असम्भव है। आवश्यकताओं की पूर्ति न होने की पीड़ा, आय की प्रतीक्षा तो करती नहीं, वह तो तत्काल सताने लगती है और तब तक सताती रहती है, जब तक कि उसकी पूर्ति नहीं हो जाती। इसके साथ ही एक मुसीबत यह है कि एक आवश्यकता की पूर्ति हुई नहीं कि दूसरी तैयार खड़ी रहती है। आवश्यकताओं की वृद्धि रक्तबीज की तरह होती रहती है। यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार दस आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाता है तो उसके साथ उतनी ही और खड़ी हो जाती हैं। आवश्यकताओं की पूर्ति का यह सिलसिला किसी भी प्रकार रुकता नहीं। फिर एक जरूरत की एक बार पूर्ति होने के बाद वह दूसरी बार के लिए तकाजा करने लगती है। जरूरतों की पूर्ति से उनकी वृद्धि रोकी नहीं जा सकती। इस आपाधापी में मनुष्य के सम्मुख कोई न कोई अभाव बना ही रहता है।

मूलभूत आवश्यकताएँ परिस्थिति के अनुसार आगे भी बढ़ सकती हैं; मनुष्य के सामाजिक या स्थानीय स्तर के साथ इनका स्तर बढ़ाया भी जा सकता है, किन्तु केवल आपवादिक रूप में, और तब ही, जबकि उसका बढ़ाया जाना अनिवार्य या उपयोगी हो जाए। समाज में प्रतिष्ठा बढ़ जाने अथवा स्तर के ऊँचा हो जाने पर किसी को अपने रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना पड़ सकता है, कार्यकुशलता अथवा बौद्धिकता के कारण भोजन का सामान्य तथा साधारण खर्च बढ़ाया भी जा सकता है। किन्तु यह बढ़ाया जा सकता है, तब ही, जब उसकी नितान्त आवश्यकता हो जाए और उसके अनुरूप या तो उनकी आय में वृद्धि हो गई हो। किन्तु इस खतरे से बहुत सावधान रहना होगा कि बड़प्पन के प्रदर्शन या अहंमन्यता के लिए ही साधारण स्तर को असाधारण रूप में बढ़ाना निरी विलासिता एवं अपव्ययता होगी।

इसके साथ ही मैं एक चेतावनी और दे देना आवश्यक समझता हूँ कि यह जरूरी नहीं है कि स्तर, स्थान या पद में वृद्धि हो जाने पर जरूरतों का स्तर बढ़ाया ही जाए। रहन-सहन आहार-विहार का स्तर तो वास्तव में उसकी स्वच्छता, सादगी तथा व्यवस्था ही मानी जानी चाहिए, न कि बहुमूल्यता या बाहुल्यता। भारत में तो ऐसे कई राजाओं, मन्त्रियों तथा महान् पुरुषों की परम्परा ही चलती रही है कि समाज में सर्वोपरि प्रतिष्ठा पा लेने पर भी उनके रहन-सहन तथा आहार-विहार का स्तर पूर्ववत् ही साधारण बना रहा। उसे उठाने की उन्हें कोई आवश्यकता अनुभव नहीं हुई और न ही उनकी बढ़ी हुई सामाजिक प्रतिष्ठा ने ही इसके लिए दबाव डाला।

यूनान के एक राजदूत ने भारत के महामंत्री चाणक्य की विद्वत्ता, कूटनीतिज्ञता तथा सादगी की बात सुनी तो उनसे भेंट करने चल पड़ा। चाणक्य की कुटिया गंगा के किनारे थी। वह राजदूत तलाश करता हुआ गंगातट पर पहुँचा। उसने देखा कि एक बलिष्ठ व्यक्ति गंगा में नहा रहा है। थोड़ी ही देर में वह निकला। उसने पानी का एक घड़ा अपने कंधे पर रखा और चल पड़ा। राजदूत ने उससे पूछा—"क्यों भाई! मुझे महामंत्री चाणक्य के निवास-स्थान का पता बताओगे?" उसने घासफूंस से निर्मित कुटी की ओर हाथ का संकेत कर दिया। राजदूत को बड़ा आश्चर्य हुआ कि मैंने तो प्रधानमंत्री का निवास पूछा और इसने तो कुटिया की ओर इशारा कर दिया। 'क्या इतने बड़े देश का प्रधानमंत्री इस कुटिया में रहता है?' ऐसे विचार उसके मन में आते रहे।

उस राजदूत ने पहले गंगास्नान करना उचित समझा। फिर वह उसी कुटी पर पहुँचा। कुटी के बाहर से उसने देखा कि थोड़े-से बर्तन रखे हैं। एक किनारे पर जल का वही घड़ा, जो गंगा से अभी भरकर आया था। एक खाट और मोटे-मोटे ग्रन्थों का छोटा-सा संग्रह।

"मैं महामंत्री चाणक्य से भेंट करना चाहता हूँ।"—राजदूत ने कहा। 'स्वागत है, अतिथि! आपका; मुझे ही चाणक्य कहते हैं।"

राजदूत के नेत्र आश्चर्य से खुले के खुले रह गए। "इस व्यक्ति से तो अभी भेंट हो ही चुकी थी। लम्बी-सी चोटी, साधारण-सी धोती पहने सीधा मेरुदण्ड किये पुस्तक के पृष्ठ पलटने वाला यह व्यक्ति किसी देश का प्रधानमंत्री हो सकता है। आश्चर्य! स्वावलम्बन का यह अनोखा जीवन कि पानी तक स्वयं भरकर लाता है। यहाँ तो कोई नौकर-चाकर भी दिखाई नहीं देता। फर्नीचर, अलमारियाँ तथा दिखावे की अन्य वस्तुओं का एकदम अभाव!"

वह कुटिया में एक आसन पर बैठकर चाणक्य से चर्चा करता रहा। जब वह राजदूत यूनान लौटा तो उसने वहाँ के लोगों को बताया कि भारत एक महान्

देश है। उसे महान् बनाने का श्रेय वहां के महान् पुरुषों को है, जो त्याग, सादगी और संयम से जीवन व्यतीत करते हैं।"

इसलिए निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि श्रावक को सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ जाने पर भी अपनी आवश्यकताएँ न बढ़ाकर अपना रहन-सहन और स्तर पूर्ववत् सादा और साधारण कम खर्चीला रखना चाहिए।

तीसरी आवश्यकताएँ हैं—व्यसनमूलक, प्रदर्शनपूरक तथा वासना उद्बोधिनी। ये तीसरे स्तर की आवश्यकताएँ न तो मनुष्य-जीवन के लिए जरूरी हैं, न लाभदायक बल्कि वे हानिकारक है और मानव जीवन की भयानक शत्रु हैं। ये न केवल कमाई को ही नष्ट कर देती हैं, वरन् स्वास्थ्य एवं शक्ति को भी स्वाहा कर देती हैं। इन्हें आवश्यकताओं की कोटि में न रखकर दुर्भाग्य की कोटि में रखना ही उचित होगा।

आज कृत्रिम एवं व्यसनमूलक आवश्यकताओं की अनियंत्रित वृद्धि ने समाज में शोषण का चक्र चला रखा है। यह सत्य है कि मनुष्य अपनी कृत्रिम और अनुचित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों का शोषण करता है, परन्तु यह भी सोलहो आने सत्य है कि मनुष्य दूसरे के शोषण की अपेक्षा, स्वयं का शोषण अधिक करता है। दूसरा तो उसका शोषण चार-छह प्रतिशत करता होगा, लेकिन वह स्वयं अपनी पाली हुई निरर्थक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में अपनी पूरी या अधिकांश कमाई चुका देता है। अपनी अनावश्यक जरूरतों को बढ़ा कर फिर मजबूरन उनकी पूर्ति करने के लिए कमाई का अपव्यय करना, अपनी आय का शोषण करना ही तो है। फिर दुर्व्यसन पाल कर तो वह अपना आर्थिक शोषण ही नहीं करता, अपनी जीवन-शक्ति एवं स्वास्थ्य का भी शोषण किया करता है। अतः मनुष्य को शोषण की शिकायत दूसरे से करने से पहले अपनी आवश्यकताएँ कम करके स्वयं अपना शोषण बन्द करना चाहिए। दूसरों के शोषण से त्रस्त मनुष्य एक बार स्वयं अपना शोषण बन्द कर दे तो भी बहुत राहत पा सकता है।

यदि आप अपने अभावों से दुःखी रहते हैं, दिन-रात परिश्रम करने पर भी पूर्ति का सन्तोष नहीं पाते, तो अपने जीवन पर दृष्टिपात कीजिए। अपनी आय की कमी की शिकायत करने के बजाय अपने व्यय की विवेचना कीजिए। आप अवश्य पाएँगे कि आपकी आय इतनी कम नहीं है, जितनी कि आपकी आवश्यकताएँ बढ़ी हुई हैं। यदि आप सुखी और सन्तुष्ट होना चाहते हैं और अभावों के चंगुल से छूटना चाहते हैं तो सातवें व्रत को स्वीकार करके आज से ही अपनी कृत्रिम और व्यसन-मूलक आवश्यकताओं को कम करना प्रारम्भ कर दीजिए। सर्वप्रथम व्यसनमूलक आवश्यकताओं को तो ऐसे छोड़ दीजिए, जैसे धोखे से हाथ में आई हुई आग को शीघ्र छोड़ देते हैं। इसके बाद देखिये कि ऐसी कोई भी आवश्यकता तो मेरे जीवन में नहीं है, जो निरर्थक सुख-सुविधा, प्रदर्शन अथवा अहंमन्यता की द्योतक हो, केवल आपके पोजिशन या फैशन की पोषक हो। यदि ऐसी कृत्रिम आवश्यकताएँ हों तो

उन्हें भी विदा कीजिए। कृत्रिम आवश्यकताओं के लिए व्यय करना अपने परिश्रम के साथ अन्याय करना है। आप सातवें व्रत पर चिन्तन के प्रकाश में उन्हीं आवश्यकताओं को वैधानिक एवं आवश्यक मानकर रखिए, जो मूलभूत हों और आपके लिए नितान्त आवश्यक हों। सातवें व्रत के द्वारा आप अगर अपनी आवश्यकताओं पर इस प्रकार नियंत्रण कर लेंगे तो आपके जीवन में सुख-शान्ति, सन्तोष और सम्पन्नता निश्चित हो जाएगी। सुखी होने का यह उपाय सदैव आपके हाथ में है। इसे कीजिए और अपनी आत्म-शक्तियों का विकास कीजिए।

क्या पुणिया श्रावक चाहता तो अपनी आवश्यकताएँ नहीं बढ़ा सकता था? परन्तु उसने सामर्थ्य होते हुए भी कृत्रिम एवं व्यसनमूलक आवश्यकताएँ तो बिलकुल रखी ही नहीं, मूल आवश्यकताएँ भी साधारण-जन के स्तर के अनुरूप रखीं, जिससे उनके जीवन मे शान्ति और सन्तुष्टि रही। इसी प्रकार आनन्द आदि श्रमणोपासकों ने भी अपने पास विपुल धन होते हुए भी अपनी मूलभूत आवश्यकताएँ ही रखी। क्या वे चाहते तो अपनी कृत्रिम आवश्यकताएँ नहीं बढ़ा सकते थे?

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यवसाय

इतने विवेचन से आप स्पष्टतः समझ गए होंगे कि श्रावक को अपनी मूलभूत आवश्यकताएँ बहुत ही सीमित रखनी चाहिए। क्योंकि श्रावक को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी न किसी व्यवसाय द्वारा धन कमाना होगा। कई लोगों की ऐसी धारणा है कि धर्मात्मा गृहस्थ को अर्थोपार्जन से विरक्त होना चाहिए। किन्तु जहाँ तक आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति का प्रश्न है, धर्मात्मा गृहस्थ को धन के प्रति अत्यधिक लगाव न रखना उचित भी है। किन्तु गृहस्थी की सुख-सुविधाओं के लिए, मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तथा अन्यान्य धार्मिक एवं सामाजिक प्रयोजनों की पूर्ति के लिए धन अतीव आवश्यक है। धन के बिना गृहस्थ न तो अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है और न ही दान-पुण्य या धार्मिक अनुष्ठान कर सकता है तथा न ही समाज, राष्ट्र एवं धर्म संघ के प्रति कर्त्तव्य-पालन कर सकता है। इस दृष्टि से गृहस्थ-जीवन में निर्धनता जहाँ अभिशाप है, वहाँ अनैतिक तरीकों से, शोषण, लूट, झूठफरेब, बेईमानी करके धन एकत्र करना भी घोर अभिशाप है।

कई लोग कह दिया करते हैं, कि धर्मात्मा गृहस्थ धनोपार्जन से विरक्त होकर अपने भाई या परिवार के अन्य किसी सदस्य (पुत्रादि) के अधीन या आश्रित रहकर अपना जीवन-निर्वाह करे और अध्यात्म की साधना करता रहे और अपना जीवन व्यतीत कर दे। किन्तु श्रावक के लिए यह बात भी उचित नहीं कि वह आलसी, अकर्मण्य, परमुखापेक्षी एवं पराश्रित बनकर धर्मध्यान करे या आत्मसाधना करे। हाँ, वह घरगृहस्थी एवं धनसम्पत्ति आदि सब कुछ छोड़कर साधु या साध्वी बन जाय, तब तो भिक्षाचर्या द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करना उसके लिए न्यायोचित

और वैध है। लेकिन जब तक वह घर-गृहस्थी में है, अपने परिवार से तथा जमीन-जायदाद आदि से सम्बन्ध रखता है, तब तक अत्यन्त वृद्धत्व, अशक्ति, असाध्य बीमारी अंगविकलता आदि विशिष्ट गाढ़ अनिवार्य कारणों के बिना न्यायोचित धनार्जन छोड़कर भिक्षा पर या दूसरों पर आश्रित रहना कथमपि उचित नहीं है। वर्तमान युग में अर्थ-संकटापन्न समय में तो श्रावक का पराश्रित होकर जीना कथमपि उचित नहीं है। आर्थिक दृष्टि से मनुष्य दूसरों के अधीन (गुलाम) बने, यह न तो उपयुक्त है और न ही भगवान् के उपदेशों का आशय ही है। जबकि श्रावक को दूसरों के समान ही पाँचों इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि आदि साधन-सामग्री मिली है, समान क्षमताएँ मिली है, उनके पीछे यही उद्देश्य प्रतीत होता है कि मनुष्य जीवनयापन और आत्मकल्याण में प्रत्येक व्यक्ति आत्मनिर्भर बने।

अपने लिए दूसरों के द्वारा धर्म-क्रिया, भजन, परमात्मस्मरण आदि कराने से व्यक्ति को कोई धर्म या अध्यात्म का लाभ नहीं मिल सकता, वैसे ही दूसरों की कमाई से अथवा अपने लिए दूसरे कमा कर दें और उससे व्यक्ति अपना जीवनयापन एवं धर्मध्यान करे यह भी उचित एवं लाभप्रद नहीं है। अपने जीवनयापन एवं धर्म-कार्य के लिए दूसरों के आश्रित रहने से दूसरा व्यक्ति न्याय-अन्याय, नीति-अनीति, चाहे जैसे कमा कर जीवनयापन के साधन उक्त धर्मात्मा को देगा, उसी में सन्तोष करना पड़ेगा, उसके दोष को भी नजरअन्दाज करना पड़ेगा, **'जैसा खाए अन्न, वैसा रहे मन'** इस लोकोक्ति के अनुसार अगर वह अन्न दूषित हुआ, तो उसका असर तथाकथित धर्मात्मा के मन पर हुए बिना न रहेगा। ऐसे आलसी, परमुखापेक्षी या पराश्रित व्यक्ति का जीवन पराश्रित हो जाने के कारण आलस्य, अविवेक, प्रमाद आदि से अभिभूत हो जाता है।

इसलिए श्रावक कैसी भी परिस्थिति में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों का आश्रय नहीं लेता, वह कदाचित् बीमार, अपाहिज या अशक्त हो जाय तो वह अपने अत्यन्त निकट सम्बन्धी स्त्री, पुत्र, माता-पिता या सहोदर से अपवाद रूप में कुछ दिनों के लिए सहारा ले सकता है। परिस्थितिवश छोटा सात्विक धन्धा कर सकता है, पर भीख मांगने या दूसरों के सामने हाथ पसारने का काम सहसा उससे नहीं हो सकता। इसीलिए सातवें व्रत में दो विभाग करके **'भोयणाओ य कम्मओ य'** भोजन से और कर्म (आजीविका) से पृथक्-पृथक् अतिचार बताये हैं।

इसलिए जब यह निश्चित हो गया कि गृहस्थ श्रावक पराश्रित या परभाग्योपजीवी न रहकर स्वयं कोई न कोई व्यवसाय करेगा, तब सातवें व्रत के सन्दर्भ में उसे यह चिन्तन करना आवश्यक है कि वह कौन-सा और कैसा व्यवसाय करे, जिससे उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन प्राप्त हो सके। यह तो सर्वविदित है कि श्रावक ने जो पांच मूल अणुव्रत ग्रहण किये हैं, उनमें तीसरे व्रत के अनुसार वह विशुद्ध धर्म-भावना से ही अर्थोपार्जन करेगा, बेईमानी, अन्याय, अनीति, द्रोह,

शोषण, छलछिद्र या धोखेबाजी से धन कभी नहीं कमाएगा। क्योंकि अनैतिक तरीकों से या वेश्यावृत्ति, चोरी, डाका, लूटपाट, पशुवध आदि उपायों से प्राप्त किया हुआ धन चिरस्थायी नहीं रहता। वह धन, फैशन, जुआ आदि दुर्व्यसन या मुकद्दमेबाजी, बीमारी आदि में लगकर समाप्त हो जाता है। ऐसा दूषित धन परिवार में भी परस्पर संघर्ष, लड़ाई-झगड़ा, मुकद्दमेबाजी, आदि का कारण बनता है। ऐसा धन सुखकारक नही होता। वही धन आत्म-विकास में सहायक हो सकता है, जो ईमानदारी और नैतिक परिश्रम से कमाया गया है। जो धन वित्तैषणा के कारण अनुचित तरीकों से कमाया गया है, उससे बुद्धि भी सात्विक, एकाग्र और स्थिर नहीं रहेगी, चंचल बुद्धि वाला व्यक्ति धर्म ध्यान नहीं कर सकेगा। इसीलिए किसी साधक ने भगवान से प्रार्थना की थी—

'धने मे धर्मबुद्धिः स्यात्।'

धन के साथ मेरी धर्म बुद्धि कायम रहे।

पापबुद्धि से या पापकर्म से उपार्जित धन मनुष्य की बुद्धि को भी पुनः पाप-मयी बनाता है।

यह ठीक है कि श्रावक आरम्भ का पूर्णतः त्यागी नहीं है। आरम्भ के कारण यत्किञ्चित् पाप (हिंसा का) उसकी आजीविका के साथ रहता है। पूर्णतः पाप रहित निरारम्भी आजीविका गृहस्थ श्रावक की नहीं होती। किन्तु गृहस्थ श्रावक उस आजीविका को करेगा, जिसमें अल्पतम पापांश हो, ऐसी आजीविका धर्म-आजीविका कहलाती है। उसमें अल्पतम पापांश होने पर भी धर्मांश अधिकतम होने के कारण वह धर्म-आजीविका ही कहलाती है। जैसे चन्द्रमा में थोड़ी-सी कालिमा होने पर भी यह नहीं कहा जाता कि चन्द्रमा काला है, वैसे ही जिन व्यवसायों या कार्यों में पापांश अत्यल्प है, वे व्यवसाय या कार्य भी पापमय नहीं माने जाते। श्रावक आरम्भ-समारम्भ करता हुआ भी अल्पारम्भ-अल्पपरिग्रही होते हुए भी उसकी गणना धार्मिक में होगी, क्योंकि उसने महारम्भ और महापरिग्रह रूप महापाप का त्याग कर दिया है। इसीलिए भगवती सूत्र में श्रावक का वर्णन करते हुए कहा गया है—

'अप्पारंभा, अप्पपरिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुगा, धम्मिट्ठा, धम्मक्खाई, धम्मप्पलोइया, धम्मपज्जलणा, धम्मसमुदायारा, धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति।'

अर्थात्—श्रावक अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही, धार्मिक, धर्मानुसारी, धर्मिष्ठ धर्म-ख्याति, धर्म-प्रलोकिता, धर्म-प्रज्वलन (प्रेरणा), धर्म समुदाचार युक्त होते हैं, वे धर्म से ही आजीविका चलाते हुए जीवनयापन करते हैं।

अतः गृहस्थ श्रावक अपने जीवन-निर्वाह के लिए आजीविका या व्यवसाय(कर्म) तो करेगा, लेकिन ऐसा व्यवसाय नहीं करेगा, जो महारम्भ-महापरिग्रह रूप महापाप कालिमा से युक्त हो। वह धर्म पूर्वक ही आजीविका करेगा। इसका अर्थ यह नहीं है

कि गृहस्थ श्रावक भीख मांग कर, पराश्रित रहकर अपना जीवनयापन करेगा। अपितु जिस व्यवसाय में महापाप नहीं है। उस सात्त्विक धन्धे को करके वह अपनी आजीविका धर्मपूर्वक चलाएगा। साथ ही श्रावक के लिए जब यह बताया गया है कि वह धर्मपूर्वक आजीविका करते हुए जीवनयापन करता है, तब अपने चुने हुए सात्त्विक एवं अल्पारम्भ-अल्पपरिग्रह युक्त धर्ममय व्यवसाय को भी वह बेईमानी, ठगी, धोखे-बाजी, द्रोह या अनैतिक ढंग से नहीं करेगा।

यह बात निश्चित है कि उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थों को प्राप्त करने के लिए उसे कोई न कोई धर्मप्रधान आजीविका करनी पड़ेगी। परन्तु आजीविका धर्म युक्त तभी रह सकती है, जब अल्प आय से वह सन्तुष्ट हो जाय। और अल्प आय में वही श्रावक सन्तुष्ट रह सकता है, जिसकी मूलभूत आवश्यकताएँ भी कम से कम हों। जिस श्रावक के खर्चे लम्बे-चौड़े और अफलातून होंगे, उसे अपनी आय बढ़ाने के लिए अनैतिक तरीके व्यवसाय में प्रायः अपनाने पड़ेंगे, अन्यथा उन कृत्रिम आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होगी। अतः बढ़ी हुई आवश्यकताओं की हालत में श्रावक अपनी आय बढ़ाने हेतु महारम्भ-महापरिग्रह युक्त आजीविका करेगा या अन्य अनैतिक उपायों का अवलम्बन लेगा तो वह धर्मयुक्त आजीविका करने वाला नहीं रह सकेगा। निष्कर्ष यह है कि जिसकी आवश्यकताएँ बढ़ी हुई होंगी, उसे उनकी पूर्ति के लिए पाप पूर्ण आजीविका या सात्त्विक व्यवसाय भी पापपूर्ण तरीकों से करने को मजबूर होना पड़ेगा। इसलिए धर्मिष्ठ श्रावक अपनी मूलभूत आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित करके थोड़ी-सी आय से ही सन्तुष्ट रहता है, साथ ही वह अपनी जीविका के लिए व्यवसाय भी ऐसे ढंग से करता है, जिसमें पापांश अत्यल्प हो, और धर्मांश अधिकतम हो, जो निषिद्ध न हो।

व्यवसाय के पीछे श्रावक की दृष्टि

श्रावक के लिए कहा गया है कि वह धर्मपूर्वक अपनी आजीविका करते हुए विचरण करता है। परन्तु शास्त्रों में उसके लिए कहीं यह नहीं कहा गया कि वह कौन-सा व्यवसाय, नौकरी या धन्धा करके अपनी जीविका चलाए? वहाँ श्रावक को एक विवेक दृष्टि दे दी गई है कि उसी धन्धे को अपनी जीविका के लिए चुने जो धर्म-युक्त हो, अल्पारम्भ-अल्पपरिग्रह से युक्त हो। इसमें से निम्नलिखित बात फलित होती हैं—श्रावक ऐसा व्यवसाय या धन्धा न करे—

१. जो किसी कुव्यसन का पोषक हो।

२. जिसमें त्रसजीवों का संकल्प पूर्वक वध किया जाता हो। या जिसमें त्रस-जीवों की अधिक हिंसा होती हो।

३. जिसमें स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों की भी अत्यधिक हिंसा (महारम्भ) होती हो।

४. जिस व्यवसाय में अहर्निश धन कमाने में (महापरिग्रह में) ही जुटा रहना पड़े।

५. जो व्यवसाय राष्ट्र-द्रोह, समाज-द्रोह से सम्पन्न हो, पूर्वाचार्यों द्वारा निषिद्ध हो, अपनी रुचि, प्रकृति, परिस्थिति एवं शक्ति के विरुद्ध हो, लोकनिन्द्य हो, राष्ट्र, परिवार व समाज के लिए ईष्ट न हो।

६. अन्याय, अनीति, छल, बेईमानी (तौलनाप में गड़बड़ी, मिलावट, हेरा-फेरी आदि) शोषण आदि से युक्त व्यवसाय न करे।

अगर श्रावक वेश्याकर्म कराने या कुलटा स्त्रियों को रख कर आजीविका चलाने का, या जुए-सट्टे का अड्डा चलाने का, चौर्य कर्म करने-कराने का, मांस-मद्य विक्रय का या शिकार करने-कराने का व्यवसाय करेगा तो उसके अहिंसादि पाँचों मूलव्रत भंग हो जाएँगे। इसी प्रकार पशुबलि करने-कराने, कसाई खाना चलाने, मदिरालय चलाने, शराब का कारखाना चलाने आदि का त्रस जीववध मूलक व्यवसाय करेगा तो उसका अहिंसाव्रत समाप्त हो जाएगा, वह महारम्भी बन जाएगा। तथा बड़े-बड़े विशालकाय कारखाने या मिलें लगाएगा, जिनमें मिट्टी, पानी, अग्नि आदि के स्थावर जीवों की विशाल पैमाने पर हिंसा होती हो, (महारम्भ होता हो), तो उसका अल्पारम्भित्व नहीं रह सकेगा तथा विशाल पैमाने पर लम्बा-चौड़ा व्यवसाय फैलाने पर उसे अपने आत्म-चिन्तन एवं धर्मध्यान के लिए जरा-सा भी समय मिलना कठिन होगा, तथा अनाप-सनाप धन लगाने और कमाने के कारण तृष्णा वृद्धि के फलस्वरूप श्रावक का जीवन महापरिग्रही बन जाएगा।

ऐसी स्थिति में वह अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही नहीं रह सकेगा। तस्करी, चोरबाजारी, अनीति, मिलावट, हेराफेरी, तौलनाप में गड़बड़ी, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, अन्याय आदि से युक्त व्यवसाय राष्ट्र, समाज, परिवार सबके प्रति द्रोह कारक, राजदण्ड, लोकनिन्दा, अपयश आदि से युक्त होने के कारण तथा श्रावक के तृतीय अणुव्रत का विघातक होने से त्याज्य है।

अपनी परिस्थिति, रुचि एवं शक्ति को न देख कर या किसी से समस्त धन उधार लेकर किया हुआ व्यवसाय अपनी पूँजी न होने से तथा अत्यधिक ब्याज लगते रहने से बहुत ही कम आय का व्यवसाय हो जाता है, उससे श्रावक की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति न होने, तथा कर्ज चढ़ा होने से उसके अदा करने की अहर्निश चिन्ता लगी रहेगी, श्रावक का धर्मकार्य सब छूट जाएगा। अगर वह एक साथ कई व्यवसाय कर लेगा तो महापरिग्रह के दोष से लिप्त हुए बिना न रहेगा। और फिर उसे धर्मध्यान के लिए भी अवकाश नहीं मिलेगा।

अतः इन विवेक सूत्रों के प्रकाश में श्रावक को निषिद्ध एवं त्याज्य धन्धों से दूर रहकर ही अपना जीवनयापन करना चाहिए।

पन्द्रह प्रकार के निषिद्ध व्यवसाय

इसी दृष्टिकोण से शास्त्रकारों ने श्रावक के लिए सातवें व्रत में कुछ निषिद्ध व्यवसायों को जानकर उनका सर्वथा (तीन करण तीन योग से), त्याग करने का विधान किया है। ये निषिद्ध व्यवसाय **'कर्मादान'** कहलाते हैं, और उनकी संख्या १५ है। इन्हें सातवें व्रत के कर्म (आजीविका) विभाग सम्बन्धी १५ अतिचार बताए गए हैं। श्रावक को अपनी आजीविका का चुनाव करते समय इन १५ कर्मादानों को सर्वथा त्याज्य समझ कर इन कर्मादान (महापाप कर्म के भंडार या ग्रहण) रूप व्यवसायों से सर्वथा दूर रहना चाहिए। कर्मादान का अर्थ इस प्रकार किया है—

कर्मणामुत्कटज्ञानावरणीयादीनां पाप प्रकृतीनां आदानानि कर्मादानानि—

अर्थात् उत्कट (गाढ़) ज्ञानावरणीय आदि पापकर्मप्रकृतियों के ग्रहण करने के कारणभूत महापाप पूर्ण होने से ये १५ व्यवसाय कर्मादान कहलाते हैं।

पन्द्रह कर्मादानों के नाम ये हैं—१. अंगार कर्म, २. वनकर्म, ३. शकटीकर्म, ४. भाटिकर्म ५. स्फोटकर्म ६. दन्तवाणिज्य, ७. लाक्षावाणिज्य, ८. रसवाणिज्य, ९. विषवाणिज्य, १०. केशवाणिज्य, ११, यन्त्रपीड़नकर्म, १२. निर्लाञ्छनकर्म, १३. दावाग्निदापनिकाकर्म, १४. सर-द्रह-तड़ाग-शोषणताकर्म, १५. असतीजनपोषणताकर्म।

ये १५ प्रकार के महापापकर्म के बन्धनभूत (आदानरूप) व्यवसाय हैं। इनमें केशवाणिज्य एवं असतीजनपोषणताकर्म आदि कुछ व्यवसाय तो ऐसे हैं, जो लोकनिन्द्य माने जाते हैं, समाज में ये धन्धे अप्रतिष्ठाजनक हैं। कुछ धन्धे ऐसे हैं, जिनमें त्रसजीवों का वध होता है, साथ ही स्थावर जीवों का भी अतिवध होता है, जैसे अंगारकर्म, वनकर्म, स्फोटकर्म, दवाग्निदापनिकाकर्म, सर-द्रह-तड़ागशोषणताकर्म आदि। ये व्यवसाय दिखने में तो मामूली लगते हैं, किन्तु इनसे अतिहिंसा (संकल्पी) के सिवाय ये प्राकृतिक सम्पदा को नष्ट करते हैं। इसलिए त्याज्य है। कुछ धन्धे परोक्षरूप से त्रसजीवों के घातक तथा मानवशोषक होने से निषिद्ध हैं, जैसे विषवाणिज्य, यन्त्रपीड़नकर्म, निर्लाञ्छनकर्म, भाटिकर्म आदि। इनसे मनुष्यवध, मानवशोषण, पशुओं की जीवनी शक्ति का ह्रास आदि हो जाते हैं, इसलिए श्रावक के लिए ये वर्जनीय हैं। ये सभी महापापकर्म-बन्धन के कारणरूप होने से इहलोक और परलोक दोनों को बिगाड़ने वाले एवं भव-भ्रमणकारक हैं। आत्मविकास तो ऐसे धन्धों को करने वाले का होता ही कैसे ? फिर ऐसे धन्धों में ठेकेदारी की प्रथा चलती है। भारत में सड़क, बाँध, पुल, इमारत आदि के ठेकेदार अपने शोषण, गबन, भ्रष्टाचार एवं बेईमानी के लिए प्रसिद्ध हैं। सड़क, बाँध, पुल आदि में रद्दी सामान लगा कर खानापूर्ति कर देते हैं और सरकार से पैसा ले लेते हैं। सरकारी अधिकारियों के साथ इनकी मिलीभगत होती है। इसलिए अन्याय-अनीति के मार्ग से आया हुआ यह धन विलासिता और मौजशौक की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। ऐसे कुमार्ग पर चढ़ जाने से बड़ी से बड़ी पूँजी भी तेजी से समाप्त हो जाती है, फिर वे अपनी विलासप्रदर्शन की आदत की पूर्ति के लिए कर्ज लेते हैं,

धोखा देते हैं या इस प्रकार के हथकंडे करते हैं। धीरे-धीरे अपराधी प्रवृत्तियाँ अपनाते हैं, जिनके परिणामस्वरूप सर्वनाश हो जाता है। इसीलिए शास्त्रकारों की दूरदर्शी दृष्टि में ये व्यवसाय महापराध रूप व्यवसाय सिद्ध हुए हैं।

१. **अंगारकर्म** का अर्थ है—लकड़ियाँ जला-जलाकर उनसे कोयले बनाकर बेचना और इस प्रकार की आजीविका चलाना। कोयलों के लिए संसार के उपकारी महान् वृक्षों को काटा जाता है, फिर उन्हें जलाया जाता है। ऐसा करने में छह काय के जीवों की विराधना होती है। इतनी हिंसा करके भी आर्थिक लाभ बहुत थोड़ा होता है, धार्मिक लाभ तो बिलकुल नहीं होता। वृक्षों के काटने से नैसर्गिक सौन्दर्य नष्ट होता है, वृक्षों से जो ऑक्सीजन (प्राणवायु) मिल सकती थी, वह बन्द हो जाती है। इसलिए यह व्यवसाय महापापजनक होने से निषिद्ध है।

२. **वनकर्म**—से मतलब बड़े-बड़े जंगलों का ठेका लेकर उनसे लकड़ी, बाँस आदि काट-काटकर बेचना है। इस व्यवसाय से तात्कालिक एवं परम्परा से बहुत हानि है। इससे वनों का प्राकृतिक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, वन्यजन्तुओं का आधार छूट जाता है, वनाश्रित रहने वाले कई पंचेन्द्रिय आदि त्रसजीवों का भी नाश हो जाता है। अतः ऐसा अहितकर व्यवसाय श्रावक के लिए निषिद्ध है।

३. **साटिककर्म या शकटीकर्म**—बैलगाड़ी या घोड़ागाड़ी, रथ, तांगा, रिक्शा आदि बनाना, बेचना, किराये पर देना आदि सब शकटीकर्म या साटिककर्म है। इस कार्य से पंचेन्द्रिय जीवों को महान् त्रास होता है, जो महापाप का कारण है। इसलिए श्रावक के लिए यह व्यवसाय निषिद्ध है।'

४. **भाटिकर्म**—जैसे अंगारकर्म और वनकर्म परस्पर सम्बद्ध हैं, वैसे ही शकटी कर्म और भाटिकर्म परस्पर सम्बद्ध हैं। शकटीकर्म में गाड़े, गाड़ी आदि मनुष्यों या पशुओं द्वारा वहन किये जाने वाले वाहनों का निर्माण मुख्य है, भाटिकर्म में उन्हें किराये देना, अथवा ऊँट, घोड़े, भैंसे, गधे, खच्चर, बैल आदि रखकर उन्हें भाड़े पर देकर उनसे अपना धन्धा चलाना मुख्य है। श्रावक अपने आश्रित पालतू पशुओं से मर्यादित बोझ तो ढुलवा सकता है, लेकिन बोझ ढोने के लिए पशुओं को दूसरों को भाड़े से देना श्रावक के लिए निषिद्ध है, क्योंकि भाड़े पर लेने वाले लोगों में दया बहुत ही कम होती है, वे उन पर अत्यधिक बोझ लादकर उन्हें बेरहमी से पीट-पीट कर चलाते हैं या अत्यधिक काम लेते हैं, बदले में उन्हें खाने को बहुत ही थोड़ा देते हैं, कभी-कभी तो उसकी भी लापरवाही कर जाते हैं।

५. **स्फोटकर्म**—बड़ी-बड़ी खानों में पत्थर फोड़ने या खनिज पदार्थों को तोड़ने के लिए सुरंगें बिछा दी जाती हैं, उनमें बारूद लगा दिया जाता है, जिससे बहुत जोर का धमाका होता है। इस प्रकार के व्यवसाय को स्फोटकर्म कहते हैं। ऐसे विस्फोट से कभी-कभी खान में काम करने वाले मजदूर या खान के बाहर खड़े अनजान लोग अपने प्राणों से हाथ धो बैठते हैं। अथवा पत्थर, मिट्टी आदि को फोड़ने-फुड़वाने का

ठेका लेकर उस खनिज या पर्वतीय पदार्थ को बेचना और अपनी आजीविका चलाना भी स्फोटकर्म है।

शास्त्रकार के तात्पर्य से अनभिज्ञ कई लोग कृषिकर्म को भी स्फोटकर्म में मानते हैं, परन्तु कृषि में जमीन फोड़ी नहीं जाती है, खोदी जाती है, कुरेदी जाती है। उसमें धमाका (स्फोट) नहीं होता है, न उनसे पंचेन्द्रिय जीवों या मनुष्य के वध की आशंका है, इसलिए कृषिकर्म स्फोटकर्म नहीं है। अगर कृषिकर्म स्फोटकर्म होता तो आनन्द आदि श्रावक पाँच-पाँच सौ हल की खेती कैसे कर सकते थे, क्योंकि स्फोटकर्म तो तीनकरण तीन योग से निषिद्ध है।

६. **दन्तवाणिज्य**—हाथी के दांत लाने वाले लोगों से दांत खरीदकर बेचना दन्तवाणिज्य कहलाता है। हाथियों के दांत निकालने में प्रायः उन्हें मारा जाता है, अतः दांत लाने वाले लोगों को ऑर्डर देकर दाँत खरीदने और बेचने में परोक्षरूप से पंचेन्द्रिय हिंसा का महापाप है, इसलिए ऐसा व्यापार त्याज्य माना गया है। दन्तवाणिज्य में उपलक्षण से हड्डी, शंख, चमड़ी, सींग, नख आदि पशुओं के विविध अवयवों के वाणिज्य का भी समावेश हो जाता है। जो इसी प्रकार पंचेन्द्रिय जीवों के वध से प्राप्त होते हैं।

७. **लाक्षावाणिज्य**—का मतलब है—लाख का व्यवसाय। लाख पेड़ों का रस (मद) है। लाख निकालने में त्रसजीवों का बहुत वध होता है, इसलिए ऐसा आत्महानिकारक व्यवसाय श्रावक के लिए वर्जनीय है।

८. **रसवाणिज्य** का अर्थ है—मदिरा बनाने और बेचने का व्यवसाय। जिन पदार्थों से मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह उन्मत्त हो जाता है, ऐसे नशीले पदार्थ शराब, भांग, ताड़ी, ब्रांडी, ह्विस्की, अफीम, गांजा आदि बनाने व बेचने का धन्धा करना, शराब का ठेका लेना आदि सब रसवाणिज्य के अन्तर्गत हैं। दूध, घी, चीनी आदि के व्यापार को रसवाणिज्य कहना असंगत है, क्योंकि ये पदार्थ जनहितकारी व पौष्टिक हैं। इसलिए रसवाणिज्य में सुरादिविक्रय ही है[1] जो त्याज्य व निन्द्य समझना चाहिए, घृत-दूध आदि का नहीं।

९. **विषवाणिज्य**—अफीम, संखिया, पोटाशियम साइनेड आदि जीवननाशक पदार्थों की गणना विष में है; जिनके सूंघने या खाने से मृत्यु हो जाती है। ऐसे विषैले पदार्थों का व्यवसाय विषवाणिज्य है, जो श्रावक के लिए त्याज्य है। विषवाणिज्य से उपलक्षण से सांप, बिच्छू आदि जहरीले जानवरों को मारकर उनका जहर निकालकर बेचना भी लिया जा सकता है।

१०. **केशवाणिज्य** से मतलब है—केश का व्यापार। सुन्दर केशवाली दासियों का क्रय-विक्रय करना, केशवाणिज्य से सम्बन्धित है। प्राचीनकाल में इस प्रकार से दास-

---

१ टीकाकार ने भी स्पष्ट किया है —**रसवाणिज्ये सुरादिविक्रयः**।

दासियों का क्रय-विक्रय भारत में और भारत से बाहर बहुत होता था। श्रावक के लिए यह व्यापार इसलिए निन्द्य या त्याज्य है कि दासदासियों को ऐसे क्रूर मालिकों को बेच दिया जाता था, जो उनसे क्रूरता पूर्वक मनमाना पापकृत्य—व्यभिचार आदि निन्द्यकर्म भी करवाते थे, उन पर अमानुषिक अत्याचार करते थे। कन्या विक्रय वरादिक्रय भी इसी कोटि के अन्तर्गत क्रूरतापूर्ण व्यापार हैं। जिन्हें आज भी जैन समाज ढोए हुए है।

११. **यन्त्रपीड़नकर्म**—यन्त्रों से पीड़न करने का—पेरने का धन्धा करना यंत्र पीड़नकर्म है। प्राचीनकाल में कोल्हू आदि यंत्रों से गन्ना या तिल पेर कर लोग आजीविका चलाते थे, किन्तु इसमें बहुत-से त्रसजीव मर जाते थे। अपने खेत में पैदा होने वाले गन्ने कोल्हू से पेरना या तिलों का तेल निकालना-निकलवाना यंत्रपीड़नकर्म नहीं है, क्योंकि वह स्वयं कोई व्यापार नहीं करता है, अपने लिए निकलवाता है। वर्तमान में बड़ी-बड़ी मिलों, कारखानों आदि में यन्त्रों के द्वारा जो उत्पादन किया जाता है, वह भी यन्त्र-पीड़नकर्म है। अथवा इसका वर्तमान युग सापेक्ष अर्थ यह भी हो सकता है—'यन्त्रैः पीड़नं शोषणं मानवानां यस्मिन् कर्मणि तत् यन्त्रपीड़नकर्म,'—जहाँ बड़े-बड़े यन्त्रों को लगाकर मनुष्यों के श्रम का शोषण किया जाता हो, वहाँ यन्त्र-पीड़नकर्म है। इन बड़े-बड़े यन्त्रों के कारण भारत के गाँवों के उद्योग-धन्धे चौपट हो गये, छोटे-छोटे उद्योग धन्धे वाले या शिल्पकार बेकार हो गए, उनका धन्धा मारा गया। यह भी यन्त्रवाद का अभिशाप है।

१२. **निर्लाञ्छनकर्म**—पशुओं को बधिया (नपुंसक) करके आजीविका चलाना निर्लाञ्छन कर्म है। ऐसे व्यवसाय से पशुओं को बहुत पीड़ा होती है, उनकी नस्ल भी खराब होती है। इसलिए श्रावक के लिए ऐसा व्यवसाय त्याज्य है।

१३. **दवाग्निदापनिका-कर्म**—का अर्थ है वन में आग लगाने का ठेका लेना या व्यवसाय करना। भूमि साफ करने में श्रम न करना पड़े, इसलिए कई लोग जंगल में आग लगा देते हैं। इस प्रकार जंगल को जला देने से वनस्पति के आश्रित बहुत-से त्रसजीव नष्ट हो जाते हैं। इसलिए श्रावक के लिए ऐसा व्यवसाय निन्दनीय और त्याज्य है।

१४. **सर-ह्रद-तड़ाग-शोषणता कर्म** का अर्थ है—तालाब, झील, जलाशय आदि को सुखाना। कई लोग तालाब आदि को सुखाकर वहाँ की भूमि को कृषि करने योग्य बनाने का व्यवसाय करते हैं। इस धंधे के कारण जल के तथा जलाश्रित रहने वाले अनेक जीवों का वध हो जाता है, इसलिए यह व्यवसाय त्याज्य है।

१५. **असतीजन-पोषणता कर्म**—से मतलब उन असती—कुलटा या व्यभिचारिणी स्त्रियों को एक स्थान पर रखकर उनसे व्यभिचार कराकर व्यवसाय चलाना। यह एक प्रकार का वेश्याकर्म को प्रोत्साहन देने वाला निन्द्य धंधा है। इस प्रकार की

कमाई अत्यन्त पापपूर्ण है, निन्द्य है। कई बार ऐसी कुलटाओं के गर्भ रह जाने पर वे गर्भ गिराकर भ्रूणहत्या कर देती हैं। इसलिए यह सर्वथा त्याज्य है।

इस प्रकार ये कर्मादान रूप पन्द्रह व्यवसाय श्रावक के लिए मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से सर्वथा त्याज्य हैं।

जगत् में इन १५ प्रकार के व्यवसायों के अतिरिक्त भी कई व्यवसाय हैं, जिनमें महापापकर्म होता है, ये १५ कर्मादान तो उदाहरण के तौर पर बताये हैं, कसाईखाना, शिकारखाना, द्यूतक्रीड़ा केन्द्र, चौर्यकर्म, तस्करकर्म, दस्यु कर्म, मांस विक्रयकेन्द्र, मदिरालय, वेश्यालय आदि तो यहाँ कर्मादानरूप अतिचार इसलिए नहीं बताए कि श्रावक जब से सम्यक्त्वी या मार्गानुसारी बनता है, तभी से सप्त कुव्यसनों (जूआ, चोरी, मांसाहार, शिकार, मद्य, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन इन सातों) का मन-वचन-काया से सर्वथा त्याग करता है, इसलिए इन कुव्यवसायों को तो करने-कराने का श्रावक के लिए प्रश्न ही नहीं उठता। प्रश्न उठता है—उन कुव्यापारों का जो सात कुव्यसनों का त्याग नहीं है, श्रावक कदाचित् इस भुलावे में रहता है, कि मैं स्वयं तो प्रत्यक्ष हिंसा करने वाला व्यवसाय नहीं कर रहा हूँ, दूसरे से करा रहा हूँ, या दूसरों से बना-बनाया माल लेकर बेच रहा हूँ या दलाली कर रहा हूँ। जैसे कोई श्रावक बने-बनाए शस्त्रों को बेचने का व्यापार, पशुओं को मारकर बनाए हुए चमड़े से बने हुए जूते, बेग, थैली, सूटकेस आदि बनी-बनाई चीजों का व्यापार या किसी पंचेन्द्रिय प्राणी का वध करके बनाई हुई तैयार शीशियों में बंद दवाइयाँ बेचने का व्यवसाय करता है तो यह उसके प्रथम व्रत को भंग करने वाला होने से सर्वथा त्याज्य है। इसी तरह चर्बी बेचने का, रक्त बेचने का, या नृत्यगृह चलाने आदि विशेष हिंसाकारी अन्य व्यापार धंधे भी कर्मादान रूप होने से श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है। इन कर्मादान रूप व्यवसायों को श्रावक न तो स्वयं कर सकता है, न दूसरों से या दूसरों को अर्थराशि देकर करा सकता है, और न ही ऐसे व्यवसाय करने वालों को प्रोत्साहन दे सकता है। मन से भी ऐसे कुव्यवसायों के विषय में न सोच सकता है, वचन से भी न कभी ऐसे कुव्यवसायों के सम्बन्ध में किसी को प्रेरणा दे सकता है और न ऐसे कुव्यवसाय अपने शरीर से कर सकता है।

कई लोग ऐसा तर्क प्रस्तुत करते हैं कि यदि श्रावक इन व्यवसायों को न करेगा-करायेगा तो भी जगत् में ये व्यवसाय तो होते ही रहते हैं, अतः श्रावक इन व्यवसायों को करेगा तो विवेक से-यतना पूर्वक करेगा, अन्य लोगों की अपेक्षा श्रावक से कुछ पाप तो टलेंगे ही। अतः श्रावक इन व्यवसायों से होने वाले लाभ से क्यों वंचित रहे ?

इसका समाधान यों दिया जा सकता है कि संसार में सभी पापों-महापापों का दौर चलता है, इसलिए श्रावक को उन महापापों से बचने का उपदेश नहीं दिया जा सकता कि यह इन महापापजनक व्यवसायों को यतनापूर्वक, विवेकपूर्वक करे।

श्रावक को तो इन महापाप रूप व्यवसायों की छाया से बचने का उपदेश ही अभीष्ट है। अन्यथा, श्रावक यदि ऐसे महापाप रूप व्यवसाय में पड़ेगा तो लोभवश उसके हिंसादि के कुसंस्कार परिपुष्ट होते जाएँगे, फिर उसमें उन पापकर्ताओं की तरह महापाप के प्रति कोई घृणा ही नहीं रहेगी, वह निःशंक होकर बेखटके हिंसादि रूप व्यापार करने लगेगा। संसार में मांस का व्यापार होता है, तो क्या श्रावक भी मांस बेचने का धंधा करे? वेश्यालय संसार में चलते हैं तो क्या श्रावक भी वेश्यालय चलाए या मदिरालय चलाए; शराब का ठेका ले! ऐसा कदापि नहीं हो सकता। इसलिए जो कार्य महापाप रूप है, निन्द्य है, अनिष्ट है, श्रावक के लिए वह सर्वथा निषिद्ध एवं त्याज्य ही होगा, फिर वह कार्य आर्थिक दृष्टि से चाहे कितना ही लाभकर हो।

अतः १५ कर्मादान का त्याग श्रावकों को महापाप से बचाने, सामाजिक एवं राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त कराने तथा मूलव्रतों में गुण उत्पन्न करने वाला होने के साथ बुद्धि को निर्मल एवं चित्त में समाधिस्थ रखने वाला है, आत्मा को स्वरूप चिन्तन व धर्मध्यान की ओर बढ़ाने वाला है। इसलिए श्रावक को ऐसे कर्मादान रूप व्यवसायों द्वारा धनार्जन करने का स्वप्न में भी विचार नहीं करना चाहिए। इस प्रकार श्रावक की उपभोग-परिभोग मर्यादा और व्यवसाय-मर्यादा समझकर सातवें व्रत के २० अतिचारों से बचना चाहिए। ✡

4

अनर्थदण्ड-विरमणव्रत : एक विश्लेषण

✡

पिछले दो प्रवचनों में मैंने श्रावक के उपभोग-परिभोग परिमाण-व्रत के सन्दर्भ में मूलभूत आवश्यकताओं एवं व्यवसाय की मर्यादा के सम्बन्ध में कहा था। श्रावक जब अपनी आवश्यकता और व्यवसाय पर पहरेदारी रखता है तो बहुत-से आस्रवों (हिंसा आदि पांच आस्रवों) से बहुत-कुछ बच जाता है, फिर भी उसके जीवन में बहुत-सी प्रवृत्तियाँ ऐसी रह जाती हैं, जो न तो उपभोग-परिभोग-मर्यादा में आती हैं, और न व्यवसाय मर्यादा में; किन्तु श्रावक के जीवन में वे किसी न किसी रूप में अपना अस्तित्व जमाए रहती हैं। श्रावक को उन प्रवृत्तियों में सार्थक-निरर्थक का विश्लेषण करके सार्थक प्रवृत्तियाँ रखकर निरर्थक प्रवृत्तियाँ त्याज्य समझकर छोड़ देनी चाहिए। इसी दृष्टि से श्रमण भगवान महावीर ने श्रावक के लिए आठवाँ अनर्थदण्ड-विरमणव्रत बतलाया है।

आइए, शास्त्रवचनों के प्रकाश में हम इस व्रत की उपयोगिता पर कुछ विश्लेषण कर लें।

प्रवृत्तियाँ : सार्थक-निरर्थक

गृहस्थ साधक के जीवन में हजारों प्रवृत्तियाँ प्रातः उठने से लेकर रात को शयन करने तक होती रहती हैं, बल्कि सोते समय भी स्वप्न में मानसिक प्रवृत्तियाँ होती हैं। साधारण गृहस्थ के जीवन में यदि उन प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया जाय तो बहुत-सी प्रवृत्तियाँ निरर्थक-सी मालूम देंगी, सार्थक प्रवृत्तियाँ बहुत ही अल्प होंगी। परन्तु सम्यग्दृष्टि और विवेक सम्पन्न व्रतबद्ध श्रावक जब पाँच अणुव्रतों का पालन करता हुआ, छठे और सातवें व्रत की भूमिका पर आरूढ़ हो जाता है तो उसका जीवन हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य, स्तेय-अस्तेय, अब्रह्मचर्य-ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह-अपरिग्रह के विवेक करने में इतना अभ्यस्त हो जाता है या हो जाना चाहिए कि वह अपने दैनिक जीवन में हिंसा आदि की, की हुई मर्यादा (छूट) में से सार्थक-निरर्थक प्रवृत्ति का विश्लेषण कर सके। यदि श्रावक नया-नया ही व्रतबद्ध हुआ है, तो सम्भव है, वह प्रवृत्तियों की सार्थकता-निरर्थकता का विवेक न कर सके सम्भव है, वह अभी इतना अभ्यस्त न हुआ हो कि कौन-सी प्रवृत्ति सार्थक है, कौन-सी निरर्थक ? इसका

विश्लेषण न कर सके। उसके मन-मस्तिष्क में शायद यह विचार ही न आए कि श्रावक बनने के बाद उसकी प्रवृत्ति में निरर्थकता का दोष प्रविष्ट हो सकता है ? वह पाँच अणुव्रतों की बंधी-बंधाई या भगवान महावीर द्वारा खींची-खिंचाई लकीर पर ही चलने का अभ्यस्त हो, इससे आगे अपने ध्येय की ओर प्रगति करने की बात उसके दिमाग में न आई हो। इसके लिए भगवान् महावीर श्रावकों के लिए तीन गुणव्रतों का विधान करते हैं—प्रथम दिग्परिमाणव्रत, द्वितीय उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत और तृतीय अनर्थदण्ड-विरमणव्रत। दो गुणव्रतों पर पिछले प्रवचनों में प्रकाश डाला जा चुका है। इस प्रवचन में सार्थक और निरर्थक दण्ड का अन्तर समझकर श्रावक को अनर्थदण्ड से बचने का विधान किया गया है।

श्रावक ने पाँच मूल अणुव्रतों का अंगीकार करते समय जिस-जिस बात की छूट रखी है—आगार रखा है, उस छूट का उपभोग करते समय ही सार्थक और निरर्थक (अर्थ और अनर्थ) का अन्तर समझ कर निरर्थक उपभोग से बचना आवश्यक है।

प्रश्न होता है कि श्रावक द्वारा होने वाली प्रवृत्तियों में सार्थकता और निरर्थकता का मापदण्ड क्या है ? किस आधार से नापा जाय कि यह प्रवृत्ति सार्थक है या निरर्थक ?

सर्वप्रथम तो दण्ड की परिभाषा समझ लेनी चाहिए। उसके बाद सार्थक और अनर्थक का भेद बहुत शीघ्र ही समझ में आ जाएगा जिसके द्वारा आत्मा कर्म-बन्धन के कारण दण्डित हो, सजा पाए उसे दण्ड कहते हैं। आत्मा जब तक अयोगी केवली नहीं हो जाता, तब तक योगों—मन-वचन-काया की शुभाशुभ प्रवृत्तियों (व्यापारों) के कारण वह शुभाशुभ कर्मबन्धन होने से दण्डित होता रहता है। क्योंकि क्रिया से कर्मबन्ध होता है। निष्कर्ष यह है कि मन-वचन-काया इन तीनों योगों से होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति दण्डरूप होती है। यद्यपि शुभ आस्रवों (पुण्य) की प्रवृत्ति से वह दण्ड शुभ मिलता है, जबकि अशुभ आस्रवों (पाप) की प्रवृत्ति से अशुभ दण्ड मिलता है। यहाँ अशुभ दण्ड योग्य प्रवृत्तियों के विषय में सार्थकता और निरर्थकता पर विचार करना है। तात्पर्य यह है कि हिंसा, असत्य, चौर्यकर्म, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पाँच अशुभ-आस्रवों से सम्बन्धित दण्डरूप प्रवृत्तियों में श्रावक को सार्थक और निरर्थक को छाँट लेना है।[1] जैसे सुघड़ नारी गेहूँ आदि अनाज के कणों के साथ मिले हुए कंकरों को बीनकर अलग कर देती है, इसी प्रकार सुज्ञ श्रावक को अशुभाश्रव-जनित दण्डरूप प्रवृत्तियों में से निरर्थक प्रवृत्तियों को छाँट कर अलग कर लेना है, सार्थक को रखना है। जैसे बुद्धिमान व्यक्ति दूध देने वाली (दुधारू) गाय

---

१ आभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुव्रतधराग्रगण्यः॥

की लात सहन कर लेता है, किन्तु अगर कोई दूध न देने वाली गाय व्यर्थ ही लात मारे तो वह असह्य होती है; इसी प्रकार अशुभाश्रवजनित दण्डरूप सभी प्रवृत्तियाँ त्याज्य होती हैं, लेकिन गृहस्थ श्रावक को अपना गृहकार्य चलाने तथा जीवन-निर्वाह करने के लिए कुछ प्रवृत्तियाँ करनी पड़ती हैं। जब दण्डरूप प्रवृत्तियाँ करनी ही पड़ती हैं तो वह ऐसी ही प्रवृत्ति करे जिससे कुछ प्रयोजन तो सिद्ध हो। जिन प्रवृत्तियों से कुछ प्रयोजन सिद्ध होता हो, उनका दण्ड फिर भी श्रावक सहन कर लेता है, वह दण्ड सार्थक है, लेकिन जिन प्रवृत्तियों से श्रावक को कोई लाभ नहीं होता, जिनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, उनका दण्ड निरर्थक-निष्प्रयोजन उसे सहन नहीं करना चाहिए।

श्रावक ने पांच आस्रवों से जनित दण्डरूप प्रवृत्तियाँ पांच अणुव्रत ग्रहण करके बहुत-सी तो बंद कर दी है, उसके बाद दसों दिशाओं में गमनागमन की क्षेत्र मर्यादा करके पांचों आस्रवों की प्रवृत्तियाँ क्षेत्र से सीमित कर दी हैं। अमुक-अमुक दिशा में मर्यादित क्षेत्र में ही रखी हैं। फिर सातवें व्रत के द्वारा उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थों के उपभोग-परिभोग की तथा व्यवसाय की मर्यादा करके बहुत-सी प्रवृत्तियाँ कम कर दीं किन्तु फिर भी काया से सम्बन्धित कुछ प्रवृत्तियाँ तथा मन-वचन से सम्बन्धित अधिकांश प्रवृत्तियाँ अभी शेष रही हैं। अब देखना यह है कि उन अवशिष्ट दण्डरूप प्रवृत्तियों में कौन-सी अर्थदण्डरूप हैं, कौन-सी अनर्थदण्डरूप हैं ?

वैसे तो इनके नापने का कोई एक थर्मामीटर नहीं है, जिससे शीघ्र निर्णय हो जाए। इसके नापने का मापदण्ड या थर्मामीटर अपना विवेक ही है। प्रत्येक व्यक्ति की परिस्थिति एक सरीखी नहीं होती। पृथक्-पृथक् परिस्थिति होने के कारण एक ही निर्णय नहीं दिया जा सकता कि साधारण या कौन-सी प्रवृत्ति या कार्य अर्थदण्डरूप है और कौन-सी अनर्थदण्डरूप ? इसका निर्णय प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने विवेक से कर सकता है।

वैसे तो अनर्थदण्ड की भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अलग-अलग व्याख्या की है।

आचार्य उमास्वाति ने अनर्थदण्ड में अर्थ-अनर्थ शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—जिससे उपभोग-परिभोग होता हो, वह श्रावक के लिए अर्थ है, और इससे जो भिन्न हो—अर्थात् जिससे उपभोग-परिभोग न होता हो, वह अनर्थ है,[1] इसके लिए जो मन-वचन-काया की दण्डरूप प्रवृत्ति-क्रिया हो, वह अनर्थदण्ड है। उसका त्याग अनर्थदण्ड विरति नामक व्रत है।

वास्तव में अनर्थदण्डविरतिव्रत की उपयोगिता यह है कि श्रावक अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति के फलाफल पर विचार करना सीखें और जिन प्रवृत्तियों से हानि के बदले

---

१ उपभोग-परिभोगौ अस्याऽगारिणोऽर्थः। तद्व्यतिरिक्तोऽनर्थः।

—तत्त्वार्थ भाष्य ७-१६

लाभ कम हो, पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हो, उनका त्याग करें। अहिंसादि व्रतों के वर्णन में जो हिंसा आदि के अपवाद बताये गए हैं, उनका दुरुपयोग न हो जाए, इसके लिए अनर्थदण्डविरति है। व्रतों का संरक्षक तथा मूलव्रतों में विशेषता पैदा करने वाला होने से यह गुणव्रत है।

अब हम क्रमशः पांच मूल अणुव्रतों पर सार्थक निरर्थक दण्ड का विचार करते हैं। सर्वप्रथम श्रावक के स्थूल अहिंसाणुव्रत को लीजिए। पहले व्रत में श्रावक त्रस जीवों की संकल्पजाहिंसा का त्याग करता है, दिग्परिमाणव्रत स्वीकार करने के बाद वह अमुक-अमुक क्षेत्र में मर्यादित हो जाती है। परन्तु श्रावक ने तब भी आरम्भजा, उद्योगिनी और विरोधिनी, यह तीन प्रकार की हिंसा खुली रखी है, तथा स्थावरजीवों की हिंसा भी खुली है। यद्यपि उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत के ग्रहण करने पर इनकी हिंसा सीमित हो जाती है, फिर भी खुली तो है ही। जैसे मर्यादित आरम्भजा हिंसा में भी व्यर्थ ही आरम्भ-समारम्भ करना मृतकभोज, करके या शादी में अधिकाधिक आरम्भ करना अनर्थदण्ड है। विवाह में कहीं-कहीं दिखावे के नाम पर बहुत अधिक रोशनी की जाती है, इतने बल्ब ट्यूबलाइट लगाये जाते है, जिन पर कई कीड़े-पतंगे आ-आकर गिरते और मर जाते हैं। इसीप्रकार दीपावली के त्यौहार पर कई जगह व्यर्थ ही खुल्ले जलते दीपक सजावट के नाम पर लगाए जाते है, जिनमें कई जीव भी गिर कर मर जाते हैं, अग्निकाय का इतना निरर्थक आरम्भ भी होता है।

इसी प्रकार कोई किसान श्रावक कृषिकर्म करता है, कृषि कार्य में अनजाने हुई त्रसजीवों की या पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा उद्योगिनी हिंसा के अन्तर्गत होने से खुली है। किन्तु अगर वह किसान अविवेकी बनकर उद्योगिनी हिंसा की छूट के नाम पर खेत पर आए हुए टिड्डीदल का सफाया कर देता है, उन्हें अग्निजलाकर होम देता है, अथवा बंदर आदि खेती को नुकसान पहुँचाते हों, तो उन्हें डरा-धमका-कर निकालने के बाद में किसी शस्त्र-अस्त्र आदि द्वारा जान से मार डालना, अथवा अपनी असावधानी या अविवेकिता के कारण संग्रहीत अनाज में कीड़े पड़ जाना, ये सब हिंसाएँ अनर्थदण्डरूप हैं।

उद्योगिनी हिंसा की छूट के नाम पर श्रावक अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर भी अविवेक या लोभवृत्तिवश कई उद्योग-धंधे खोले या एक ही व्यक्ति अनेक उद्योग करे, जिनमें बहुत-से जीवों का उपमर्दन होता हो, अथवा अल्पा-रम्भी उद्योग से सन्तोष न मान कर लोभवृत्तिवश महारम्भी विशालकाय उद्योग अप-नाया जाय, तो यह अनर्थदण्ड है।

इसी प्रकार विरोधी हिंसा की छूट है, इसलिए सांप या बिच्छू आदि को देखते ही उसे विरोधी मानकर मार डालना अनर्थदण्ड है। रास्ते चल रहा है, अचानक कोई कुत्ता श्रावक को देखकर भौंका, उसको लकड़ी दिखाकर धमकाने या भगाने के बदले एकदम चार-पांच लट्ठी कसकर उसकी पीठ पर जमा दी, बेचारा लूला-लंगड़ा

हो गया, या उसका अंग-भंग हो गया। इसी तरह किसी के हाथ में लकड़ी है, रास्ते में कोई पशु बैठा मिल गया, व्यर्थ ही उसके मार दी। यह स्पष्टतः अनर्थदण्ड है। ऐसे कार्यों से न तो किसी इन्द्रिय की सन्तुष्टि या तृप्ति है, और न ही स्वास्थ्य आदि का लाभ है।

कोई आदमी कुल्हाड़ी लिये जा रहा है, जंगल से लकड़ी काट कर लाने के लिए ; किन्तु रास्ते में व्यर्थ ही एक जगह जमीन पर मार दी। इस प्रकार निरर्थक, निष्प्रयोजन, बिना किसी कार्य के, केवल हास्य, कौतूहल, अविवेक या प्रमादवश जीवों को कष्ट देना अनर्थदण्ड है।

इस प्रकार निष्कारण ही त्रस-स्थावरजीव को कष्ट देने से बचना हिंसा सम्बन्धी अनर्थदण्ड से बचना है। श्रावक के लिए आरम्भजा, उद्योगिनी और विरोधिनी हिंसा या स्थावर जीवों की हिंसा की छूट है, फिर भी श्रावक इस छूट का उपयोग केवल सार्थक कार्यों में ही कर सकता है, निरर्थक कार्यों में नहीं।

अब कीजिए, सत्याणुव्रत के सम्बन्ध में अनर्थदण्ड का विचार ! सत्यव्रत में भी श्रावक ने स्थूल असत्य का त्याग किया है, दिग्परिमाणव्रत क्षेत्र सीमित कर लिया है, तथापि सूक्ष्म मृषावाद खुला है। श्रावक इसका दुरुपयोग करे अर्थात् किसी की निन्दा चुगली करे, किसी के साथ व्यर्थ का विवाद करे, व्यर्थ ही बकझक करे, दूसरों को बदनाम करने के लिए चखचख करे, इधर-उधर की लगाकर दो व्यक्तियों को परस्पर भिड़ा दे, आपस में सिर-फुटौव्वल करा दे, किसी को उकसा कर परस्पर लड़ा दे, व्यर्थ की बकवास करे, अपनी प्रशंसा की डींग हांकता फिरे, अथवा किसी को पापजनक उपदेश या प्रेरणा दे। ये और इस प्रकार के सब व्यवहार मृषावाद (असत्य सम्बन्धी अनर्थदण्ड है। इससे भी व्यर्थ ही झूठ का दोष लगता है।

तीसरा अस्तेयाणुव्रत है। इसके सम्बन्ध में भी अनर्थदण्ड से बचना आवश्यक है। इसमें भी स्थूल अदत्तादान से विरति हुई है, सूक्ष्म अदत्तादान (चौर्य) तो खुला रह गया। उसमें भी निरर्थक चौर्य का त्याग करना चाहिए। परन्तु श्रावक सूक्ष्म-चौर्य की छूट के नाम पर यदि झूठे विज्ञापन दिलाता है या अपनी प्रशंसा छपवाता है, अपने साइयों आदि से पूछने पर वे मना नहीं करते, पर प्रमादवश बिना पूछे उनकी वस्तुएँ ले लेता है, धर्मशाला आदि का उपयोग प्रबन्धक ने एकाध दिन के लिए करने दिया है, किन्तु चुपके से अधिक दिन तक अपने व्यापार धंधे के निमित्त पड़े रहता है, डेरा जमा लेता है, अथवा दूसरे की वस्तु का उसकी आज्ञा के बिना इस्तेमाल करता रहता है, ये सब सूक्ष्मचोरी सम्बन्धी अनर्थदण्ड हैं। इनके बिना भी काम चल सकता था, परन्तु निष्प्रयोजन सूक्ष्म चोरी की छूट का दुरुपयोग करने से अनर्थदण्ड हो गया।

इसके बाद अब्रह्मचर्य का नम्बर आता है। श्रावक ने अब्रह्मचर्य में स्वपत्नी-सन्तोष रूप में मर्यादित क्षेत्र में छूट रखी है। परन्तु इसमें वैदिक ग्रन्थों में उल्लिखित

'ऋतौ भार्यामुपेयात्' या 'सन्तानार्थाय च मैथुनम्' स्वपत्नी सेवन केवल ऋतुकालाभिगामी हो, मैथुनसेवन भी केवल सन्तानार्थ हो, इस नियम के अनुसार ऋतुकालापेक्ष या सन्तानार्थक मैथुन-सेवन ही अर्थदण्ड में समाविष्ट होगा, शेष अब्रह्मचर्य-सेवन अनर्थदण्ड समझा जाएगा। इसके अतिरिक्त जो सूक्ष्म मानसिक अब्रह्मचर्य या वाचिक अब्रह्मचर्य की छूट रखी है, उसमें भी वह कामोत्तेजक किस्से कहानियाँ, उपन्यास, खेलतमाशे, चलचित्र, चित्र या शृंगार रस की बातें पढ़ेगा, देखेगा या सुनेगा तो वह सब अनर्थदण्ड में समाविष्ट होगा। इसी प्रकार परस्त्री (चाहे वह पुत्री, भगिनी, पुत्रवधू या अन्य सम्बन्ध की हो) से उत्सर्गमार्ग में सेवा लेने या उनकी सेवा करने के लिहाज से स्पर्श के बिना ही काम चल जाए, तो उक्त स्पर्श को अनर्थदण्ड समझेगा। अपने ससुराल के पक्ष की स्त्रियों से भद्दी या अश्लील हँसी-मजाक, या उनसे किसी कामोत्तेजक वार्तालाप को भी श्रावक अनर्थदण्ड समझ कर टालेगा। इसके अतिरिक्त किसी भी स्त्री के साथ अंगोपांगों से किसी प्रकार की कामचेष्टा को भी अनर्थदण्ड समझेगा। विकारवर्द्धक खानपान, नशैली कामोत्तेजक वस्तुओं का सेवन भी श्रावक के लिए अनर्थदण्ड ही समझा जाएगा। किसी के लिए भद्दी अश्लील गालियों या अपशब्दों का प्रयोग भी अनर्थदण्ड माना जाएगा।

इसके पश्चात् श्रावक के परिग्रहपरिमाणव्रत में रखी हुई मर्यादित क्षेत्र में सीमित परिग्रह की छूट में भी सार्थक-अनर्थक का विवेक कीजिए। श्रावक ने जो आवश्यक भोगोपभोग के नाम पर बहुत-सी कृत्रिम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बहुत-सी वस्तुओं का संग्रह खुला रखा है, मगर उसके बिना भी उसका कार्य चल सकता है। अतः वह अनावश्यक पदार्थों का संग्रह (परिग्रह) अनर्थदण्ड में समझा जाएगा। मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के सिलसिले में भी जो पदार्थ प्रायः काम में नहीं आते, निरर्थक घर में पड़े रहते हैं, न उन्हें किसी को दिया जाता है, न उपयोग में लिया जाता है, बल्कि घर में पड़े-पड़े वे घर की अस्वच्छता को बढ़ाते हैं, ऐसे पदार्थों का संग्रह (परिग्रहरूप) भी अनर्थदण्ड में समझा जाएगा। इसी प्रकार कई जगह बड़प्पन का प्रदर्शन करने के लिए पुरानी वस्तुओं—ढाल, तलवार, विविध अन्य पशुओं के अवयव, मृगचर्म आदि का संग्रह सजाकर रखा जाता है, केवल दिखाने के लिए, वह न तो किसी अन्य के काम आता है, और न ही स्वयं के। ऐसा प्रदर्शनमूलक संग्रह की भी अनर्थदण्ड में गणना होगी। कई घरों में बिना ही प्रयोजन के अनावश्यक फर्नीचर (सोफासेट, कुर्सियाँ, मेजें तथा अन्य सजावट का सामान, बर्तन आदि का संग्रह) पड़ा रहता है। इतनी सब चीजें उपयोग में नहीं आतीं, उन भोगोपभोग के अतिरिक्त चीजों के संग्रह को भी अनर्थदण्ड माना जाएगा।

इस प्रकार पाँचों आस्रवों से सम्बन्धित प्रवृत्तियों से जनित अनर्थदण्ड का स्थूलरूप में कुछ संकेत दिया है। श्रावक को अपनी परिस्थिति अनुसार स्वयं तटस्थ दृष्टि से ऊहापोह करके अर्थदण्ड-अनर्थदण्ड का निर्णय कर लेना चाहिए।

ये अनर्थदण्ड, जो मैं बता चुका हूँ, प्रायः कायिक प्रवृत्तियों से सम्बन्धित अनर्थदण्ड हैं। इसी प्रकार व्यायाम, गमनागमन आदि किसी प्रयोजन से अतिरिक्त दूसरों को चिढ़ाने, दूसरों को हँसाने, कुतूहल पैदा करने के लिए विविध चेष्टाएँ करना भाण्ड या नर्तक की तरह निष्प्रयोजन नृत्य, अंगविन्यास, या अभिनय करना, व्यर्थ ही मुँह को टेढ़ामेढ़ा बनाना या विदूषक की तरह अंगों से कुचेष्टाएँ करना आदि तथा व्यर्थ ही आवारा घूमना, बिना मतलब ही इधर-उधर भटकते रहना, थकान न होते हुए भी व्यर्थ ही लेटे रहना, बिछौने पर पड़े रहना, आलसी बनकर बैठे रहना, घर में निठल्ले बनकर पड़े रहना, अपनी आजीविका के कार्यों से मुँह मोड़ना, कर्तव्य कर्मों से जी चुराना, अपने उत्तरदायित्व से भागना आदि सब कायिक अनर्थदण्ड में परिगणित है।

मुँह से बात-बात में गालियाँ बकना, अपशब्द कहना, क्रोधावेश में आकर बात-बात में किसी पर दोषारोपण करते रहना, निमित्तों को कोसते रहना, व्यर्थ की बक-झक, चखचख या बकवास करना, व्यर्थ ही इधर-उधर की गप्पें हाँकना, निष्प्रयोजन ही किसी बात पर बहसमुबाहिसे या तर्क-वितर्क करते रहना, हर बात पर उलझ पड़ना, बिना सलाह माँगे ही जब देखो तब सलाह देते रहना, जब देखो तब दूसरों के सामने अपना ही दुःखड़ा रोते रहना, दूसरों के दोष देखकर उनकी बदनामी, निन्दा या चुगली करते रहना, पापवर्द्धक या कामोत्तेजक बातों की प्रेरणा करते रहना, दो व्यक्तियों या दो पक्षों को एक-दूसरे के प्रति उकसा कर लड़ाना-भिड़ाना, दूसरों को बुरी लगे, वह अपना अपमान समझे, इस प्रकार की तानाकशी, छींटाकशी, हँसी-मजाक, व्यंग्यबाण वर्षा करना, ये और इस प्रकार की बातें वाचिक अनर्थदण्ड हैं।

अपने मन में हीनता की भावना लाकर मन में निराशा, दुःख-दैन्य के विचार लाना, भविष्य की निरर्थक चिन्ता करना, बात-बात में वहम करना, भविष्य में अनिष्ट की आशंका से बार-बार भयभीत होना, मन ही मन अपनी प्रिय एवं मनोज्ञ वस्तु के वियोग की चिन्ता में झूरना अथवा प्रियवस्तु का वियोग न हो जाय, इसी उधेड़बुन में रहना, अप्रिय वस्तु का संयोग न हो जाय अथवा संयोग होने की चिन्ता में व्याकुल रहना, अपने या सम्बन्धी के भविष्य में रोगादि उपद्रव की व्यर्थ आशंका से चिन्तित एवं उदासीन रहना, सन्तान आदि प्रिय वस्तु के संयोग की लिप्सा करना इसी प्रकार दूसरों के दोषों का ही चिन्तन करना, दूसरों के लिए अशुभ-चिन्तन करना। दूसरों को मारने, सताने, तंग करने, बदनाम करने, दुःखी करने आदि की मन ही मन योजना बनाना, दूसरों की वस्तु का अपहरण करने, चुराने, अपने कब्जे में करने, अपने हाथ में ले लेने, अपनापन स्थापित करने की मन ही मन उधेड़बुन करना; मन ही मन किसी पद, सत्ता, अर्थराशि को हथियाने दूसरों को पदच्युत या सत्ताच्युत करने का दुर्विचार करना; किसी असत्य को सत्य सिद्ध करने, अपनी चालाकी या झूठ को छिपाने, असत्य पकड़ में न आ जाए, इस प्रकार से बोलने आदि के घाट मन ही मन घड़ना। ये और इस प्रकार के दुश्चिन्तन मानसिक अनर्थदण्ड के रूप हैं।

अनर्थदण्ड की एक और व्याख्या

यद्यपि अर्थदण्ड की उपर्युक्त व्याख्या काफी स्पष्ट है, किन्तु आचार्य अभयदेव सूरि का अनर्थदण्ड के विषय में चिन्तन केवल हिंसाविषयक अनर्थदण्ड को सूचित करता है। वह व्याख्या इस प्रकार है—अर्थ यानी प्रयोजन। गृहस्थ को अपने खेत, घर, धन, धान्य या शरीरपालन आदि प्रवृत्तियों के लिए जो आरम्भ द्वारा प्राणियों का उपमर्दन (घात) हो जाता है, वह अर्थ (सार्थक) दण्ड है। दण्ड, निग्रह, यातना और विनाश ये चारों एकार्थक हैं। किसी प्रयोजनवश या कारणवश हुआ दण्ड अर्थदण्ड है—सार्थकदण्ड है। अर्थात् खेत, घर आदि के सिलसिले में जीवों का उपमर्दन (हनन) होना अर्थदण्ड कहलाता है और इसके विपरीत यानी निष्प्रयोजन निरर्थक ही प्राणियों का विघात करना अनर्थदण्ड है।[1]

सारांश यह है कि किसी आवश्यक कार्य के आरम्भ-समारम्भ में त्रस और स्थावर जीवों को जो कष्ट होता है, वह अर्थदण्ड है और निष्प्रयोजन ही बिना किसी कारण के केवल प्रमाद, कुतूहल, अविवेक आदि के वश जीवों को कष्ट देना अनर्थदण्ड है।

ऐसे अनर्थदण्ड का त्याग करने का संकल्प करना, अनर्थदण्ड-विरमणव्रत कहलाता है।

इस व्याख्या के अनुसार श्रावक को अकारण ही किसी त्रस या स्थावर जीवों को कष्ट देने से बचना है। उसे इस बात का सतत ध्यान रखना है कि उसके द्वारा वही कार्य हो, उसी आरम्भ-समारम्भ में पड़ना अभीष्ट है, जिसका करना उसके लिए अनिवार्य है, जिसके करने से उसका कोई शुभ उद्देश्य पूर्ण होता हो। इस बात को दृष्टिगत रखते हुए श्रावक को कोई भी ऐसी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए, जिससे किसी उद्देश्य विशेष की पूर्ति न हो, जिसके बिना उसकी कोई जरूरत न रुके, जो सिर्फ प्रमाद, आलस्य, अविवेक या कुतूहल अथवा कुरूढ़ि-परम्परा के कारण किये जायें।

यद्यपि अनर्थदण्ड की मुख्य धारा हिंसा से सम्बन्धित है, अनर्थदण्ड हिंसाप्रधान है, किन्तु असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह से भी अनर्थदण्ड की धाराएँ प्रवाहित होती हैं। इसलिए श्रावक को हिंसा आदि पाँचों आस्रवों के सन्दर्भ में पहले बताए हुए अनर्थदण्डों का विचार करके उनसे निवृत्त होना चाहिए।

प्रत्येक कार्य या प्रवृत्ति करने से पहले श्रावक को यह विचार करना अनिवार्य है कि यह प्रवृत्ति या कार्य करना मेरे लिए आवश्यक है, या नहीं? मेरा यह कार्य

---

१ अर्थः प्रयोजनम्। गृहस्थस्य क्षेत्र-वास्तु-धन-धान्य-शरीरपरिपालनादि विषयं, तदर्थे आरम्भे भूतोपमर्दोऽर्थदण्डः। दण्डो, निग्रहो, यातना, विनाश इति पर्यायाः। अर्थेन प्रयोजनेन दण्डोऽर्थदण्डः। स चैवम्भूत उपमर्दनलक्षणदण्डः क्षेत्रादि-प्रयोजनमपेक्षमाणोऽर्थदण्डः उच्यते। तद्विपरीतोऽनर्थदण्डः।" —उपासकदशांग टीका

सार्थक है या निरर्थक ? क्या इसके बिना कोई चारा ही नहीं है ? यह कार्य मेरे किस उद्देश्य या प्रयोजन की पूर्ति करता है ? इस प्रकार का विवेक करके श्रावक को उन कार्यों से बचना चाहिए, जो निरर्थक हों, जो किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते, जिनके किये बिना उसकी आवश्यकता नहीं रुकती, और व्यर्थ ही जीवों को कष्ट होता है। ऐसे निरर्थक कार्य या प्रवृत्ति चाहे रूढ़ि-परम्परा के नाम पर किये जाते हों या अन्य किसी कारणवश किये जाते हों, श्रावक को अनर्थदण्डरूप उन निरर्थक कार्यों का त्याग कर देना चाहिए; तभी श्रावक के अहिंसा आदि पाँच मूलव्रत उत्तरोत्तर निर्मलतर एवं विशुद्धतर होते जाएँगे।

अगर श्रावक सार्थक दण्ड और निरर्थक दण्ड का विचार या विवेक किये बिना आँखें मूँद कर या लकीर का फकीर—गतानुगतिक बनकर या रूढ़िपरम्परा का पुजारी बनकर किसी प्रवृत्ति या कार्य को अंधाधुंध किया जाता है, तो ऐसे अनुचित कार्य या प्रवृत्ति से लाभ के बदले हानि ही अधिक पल्ले पड़ती है। दूसरे लोग किसी प्रवृत्ति के औचित्य-अनौचित्य, सार्थक-निरर्थक या हिताहित का विचार करें या न करें, अनुचित, निरर्थक या हानिप्रद कार्यों का त्याग करें या न करें, श्रावक को तो इस सम्बन्ध में विवेकी बनकर अवश्य विचार करना चाहिए, रूढ़ि का पुजारी न बनकर स्थिति स्थापक न बनकर अनुचित, अहितकर एवं निरर्थक कुरूढ़ियों या कुप्रवृत्तियों का त्याग करना ही चाहिए। ऐसा करने पर ही श्रावक मुफ्त में होने वाली हानि से एवं निष्प्रयोजन होने वाले कर्मबन्धन से बच सकता है, अपने मन-मस्तिष्क संतुलित एवं समाधिभाव में रख सकता है। इसके अतिरिक्त वह अपने मूलव्रतों का भी विशुद्धरूप में पालन कर सकता है।

यों तो दण्डमात्र त्याज्य हैं, परन्तु श्रावक की भूमिका इतनी उच्च नहीं कि वह दण्डमात्र का त्याग कर दे। उसे अपने गृहस्थाश्रम को चलाने के लिए जीवन-निर्वाह के लिए कुछ प्रवृत्तियाँ करनी पड़ती हैं। हाँ, यह हो सकता है कि वह उन्हीं प्रवृत्तियों को करें जो अर्थदण्ड रूप हो, जो प्रवृत्तियाँ निरर्थक, निष्प्रयोजन हैं, जिनका जीवन-निर्वाह करने में कोई औचित्य नहीं है, अनर्थदण्ड रूप प्रवृत्तियों का त्यागकर दे। किन्तु कोई यह सोच ले कि प्रवृत्ति करने से कोई न कोई दण्ड हो जाता है, इसलिए प्रवृत्ति ही न की जाए तो दण्ड से ही छुटकारा हो जाएगा, 'न रहेगा, बांस, न बजेगी बांसुरी।' किन्तु यह बहुत बड़ी भ्रान्ति है। निश्चेष्ट हो जाने से इन्द्रियों को सब ओर से समेट कर बैठ जाने से, शरीर के लिए आवश्यक प्रवृत्तियों का त्याग कर देने से अथवा अकर्मण्य बनकर बैठ जाने से अनर्थदण्ड तो क्या अर्थदण्ड भी नहीं छूटेगा। मन को कहाँ गाड़ी में बाँध कर रखेंगे ? मन तो हर समय मनन करने की प्रवृत्ति करता ही रहेगा, निश्चेष्ट होकर बैठ जाने पर भी जब पेट में चूहे डंड पेलने लगेंगे, तब निवृत्तिराजजी को कुछ न कुछ हलचल करनी ही पड़ेगी, अपने आप रोटी का टुकड़ा आकर मुँह में नहीं घुस जाएगा। प्यास लगेगी, मल-मूत्र आदि शारीरिक

हाजतें होंगी, तब निवृत्तिराजजी क्या करेंगे ? कब तक बन्द किये रहेंगे ? इसलिए आवश्यक प्रवृत्ति से जनित अर्थदण्ड को अपनाए बिना कोई चारा नहीं। इसलिए भगवान महावीर ने श्रावक के लिए दण्डमात्र का त्याग करने की बात नहीं कही, अपितु उन्होंने कहा कि जो अनर्थदण्ड रूप प्रवृत्तियाँ हैं, उनका त्याग करो।"

दण्डजनित पाप तभी छूट सकता है, जब पूर्णतया त्यागवृत्ति धारण कर ली जाए। किन्तु जब तक पूर्णतया त्यागवृत्ति का स्वीकार नहीं किया है, तब तक श्रावक अपूर्णावस्था में अल्पपाप और महापाप का विवेक करके महापाप से बच सकता है। तात्पर्य यह है कि अनर्थदण्ड-विरमणव्रत का स्वीकार करके श्रावक प्रत्येक प्रवृत्ति के विषय में विवेक करके अनर्थदण्ड से बच कर व्यर्थ के पाप से आत्मा की रक्षा कर लेता है।

अनर्थदण्ड के चार आधारस्तम्भ

अनर्थदण्ड की पूर्वोक्त विशाल व्याख्या के अनुसार पाँच आस्रवों से अनुप्राणित मन-वचन-काया से होने वाली अनर्थदण्ड रूप प्रवृत्तियों के चार आधारस्तम्भ शास्त्रकारों ने बताए हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) अपध्यानाचरित, (२) प्रमादाचरित, (३) हिंस्रप्रदान और (४) पापोपदेश।[१]

आचार्य समन्तभद्र आदि ने चार के बदले पाँच भागों में अनर्थदण्ड को विभक्त किया है—(१) पापोपदेश, (२) हिंसादान, (३) अपध्यान, (४) प्रमादचर्या और (५) दुःश्रुति[२]।

मालूम होता है, पहले दुःश्रुति नामक अनर्थदण्ड अलग से नहीं माना जाकर उसका भाव प्रमादचर्या से ही ले लिया जाता था। पीछे से उसकी जरूरत मालूम होने पर समन्तभद्राचार्य आदि ने उसका पृथक् विधान किया।

अपध्यानाचरित—अनर्थदण्ड का सर्वप्रथम आधारस्तम्भ अपध्यान का आचरण माना गया है। अपध्यान का मतलब है, अप्रशस्त ध्यान। अप्रशस्त विचारों में—बुरे विचारों में मन को एकाग्र करना अप्रशस्त ध्यान है। वैसे ध्यान के चार प्रकार हैं—आर्त ध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान, इन चारों में से प्रत्येक के दो ध्यान खराब अशुभ हैं। बाद के दो ध्यान शुभ हैं, अनर्थदण्ड के अन्तर्गत पहले के दो अशुभ ध्यान, जिनका नाम आर्तध्यान और रौद्रध्यान हैं, माने गए हैं। निरर्थक बुरे विचारों में चित्त को एकाग्र करना मानसिक अनर्थदण्ड है मनुष्य जब दुःख या विपत्ति में होता है, तब

---

१ तयाणंतरं च चउव्विहं अणट्ठादंडं पच्चक्खाइ। तंजहा—अवज्झाणाचरियं, पमायाचरियं, हिंसप्पयाणे, पावकम्मोवएसे। —उपासकदशांग १।४३

२ पापोपदेश-हिंसादानापध्यान—दुःश्रुतीः पंच।
प्राहुःप्रमादचर्यामनर्थदण्डान् अदण्डधराः ॥७५॥
—रत्नकरण्ड श्रावकाचार

कई प्रकार के विकल्प मन में उभरते रहते हैं। कभी वह मन में हीनता की भावना से प्रेरित होकर स्वयं को दीन, अशक्त, दुर्बल एवं पीड़ित अनुभव करता है, उसी उधेड़बुन में पड़ा रहता है। आर्तध्यान दुःखित या पीड़ित व्यक्ति को दुःख या पीड़ा के कारण मन में उत्पन्न होने वाले ऊलजलूल खोटे विचार हैं, उन खोटे विचार-प्रवाहों में आर्तध्यानी डूबता-उतराता रहता है। शास्त्रकारों ने आर्तध्यानी व्यक्ति के मन के विकल्पों का विश्लेषण करते हुए उसके चार प्रकार बताए हैं—(१) अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति का संयोग होने पर (२) इष्ट वस्तु या व्यक्ति का वियोग होने पर, (३) रोग आदि होने पर तथा (४) इष्ट की प्राप्ति के लिए उत्पन्न चिन्ता या दुःख होना अथवा अप्राप्त भोगों को प्राप्त करने की लालसा से तीव्र संकल्प (निदान) करना। ये चार प्रकार के आर्तध्यान अनर्थदण्ड है।

सर्वप्रथम आर्तध्यान है—अनिष्ट संयोग। अपनी हानि करने वाले या जिस हानि को व्यक्ति ने अपनी हानि मान रखी है, उस हानि करने वाले अप्रिय या अनिष्ट या अरुचिकर व्यक्ति, पदार्थ या परिस्थिति का संयोग होना अनिष्ट संयोग कहलाता है। ऐसे अनिष्ट संयोग अर्थात् अनचाहे मिलन (प्राप्ति) से या अनिष्ट संयोग की आशंका से व्याकुल होना, घबरा जाना, भयभीत होना, ऐसे अनिष्ट संयोग से उत्पन्न दुःख के कारण से अथवा अनिष्ट संयोग से छुटकारा पाने के लिए मन में जो बुरे विचार उत्पन्न होते हैं, उन्हीं विचारों में डूबते-उतराते रहना, मन को निमग्न कर देना अनिष्ट संयोग है। ऐसा अनिष्टसंयोग अपने या अपने स्वजन के तन, धन और साधन तथा पद, प्रतिष्ठा, सत्ता आदि को नष्ट करने वाले विष, अग्नि, शस्त्र, शत्रु, विरोधी, हिंस्रपशु, दुष्ट अथवा दैत्य आदि भयंकर प्राणी के संयोग को माना जाता है।

कई बार मनुष्य के मन में अनहोनी विपत्ति की आशंका या भीति चक्कर काटने लगती है। उसके मन-मस्तिष्क में एक भययुक्त चित्र दिखाई देने लगता है और हरदम आशंका से घिरा रहता है। पद-पद पर भय उन्हें घेरे रहता है, एक प्रिय बच्चा है, उसे कुछ हो न जाय, गाँव में या प्रान्त में बड़ा सम्मान है, उच्च पद प्राप्त है, या कोई अधिकार प्राप्त है, परन्तु मन में हर समय डर बना रहता है कि कहीं यह छिन न जाए। बड़ी मेहनत से समय और धन लगाकर स्वास्थ्य बनाया है, कहीं कोई बीमारी न आ जाए। मामूली जुकाम से क्षयरोग होने का, जरा-सी फुंसी से सेप्टिक होने का भय! कुछ सम्पत्ति है तो डर बना रहता है कि कहीं छिन न जाय! इस प्रकार अनिष्ट मात्र की आशंका से भयग्रस्त बने रहना, उन्हीं आशंकाओं के दुर्विचारों में मग्न रहना भी अनिष्टसंयोग-आर्तध्यान है, जो अनर्थदण्ड होने से त्याज्य है। श्रावक को अपने तत्त्वज्ञान के बल पर निर्भीक, निश्चल, निरातंक एवं निःशंक बनना चाहिए। इस प्रकार के आर्तध्यान में अपने समय और शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए।

कई बार व्यक्ति अनिष्ट वस्तु का संयोग उपस्थित हो जाने पर धैर्य से काम लेने की अपेक्षा घबराकर हायतोबा मचाने लगता है, रुदन और विलाप करने लगता है। अपने आपको हीन-दीन, दुःखी, असहाय एवं पीड़ित मानकर रोता बिलखता रहता है। कई बार व्यापार में घाटा, योग्यता का अवमूल्यन, पदच्युति अनावश्यक खर्च का आ पड़ना, इच्छाओं की अपूर्ति, प्रयास मे असफलता आदि अप्रिय—अनिष्ट कर परिस्थितियों से व्याकुल होकर मनुष्य रोता कलपता रहता है। क्या ऐसा करने से वह अनिष्ट-संयोग टल जाएगा ? उस समय श्रावक को व्यर्थ का रोना-कलपना या चिन्ता करना छोड़कर धैर्य पूर्वक वस्तुस्थिति का विचार करके उक्त अप्रिय परिस्थिति का सामना करना चाहिए। अपनी परिस्थिति को हीन समझने की भ्रान्त कल्पना को छोड़कर श्रावक को आत्मशक्ति की दृष्टि से चिन्तन करना चाहिए।

कई बार मनुष्य भविष्य की दुःखमय अनिष्ट कल्पना करके मन को बोझिल बना लेता है। कल न जाने क्या होगा ? नौकरी मिलेगी या नहीं ? परीक्षा में उत्तीर्ण होंगे या अनुत्तीर्ण ? लड़की के लिए योग्य वर मिलेगा या नहीं ? मकान कब तक बन कर पूरा होगा ? कहीं वर्षा न आ जाए, अन्यथा खड़ी फसल खराब हो जाएगी, इत्यादि अनिष्ट संयोगों की कल्पना करके निराशा के भंवर जाल में डूबकर मनुष्य मन में व्यर्थ की घबराहट पैदा कर लेता है। ऐसे समय विवेकी श्रावक को ऐसे अनर्थदण्ड से बचकर यह सैद्धान्तिक चिन्तन करना चाहिए कि जो कुछ होना है, वह एक निश्चित क्रम से होगा, फिर उससे घबराने, व्यर्थ विलाप करने तथा भविष्य की चिन्ता में पड़े रहने से क्या लाभ ? इससे आत्मिक हानि ही है, अवांछित कल्पनाओं से जीवन अस्तव्यस्त होगा, व्यर्थ की मानसिक पीड़ा होगी।

आत्महीनता की मनोवृत्ति

आत्महीनता की मनोवृत्ति भी अनिष्ट संयोगों के कारण व्यक्ति के मन में घर कर लेती है। आत्महीनता अव्यक्त मन में दबी हुई पुरानी न्यूनताओं, कमियों, निर्बलताओं, भयजनक परिस्थितियों के कारण होती है, तथा वर्तमान में भी वह उसी हीन भावना से ग्रस्त होकर शारीरिक कमी, चारित्रिक दुर्बलता, सामाजिक निम्न स्थिति, आर्थिक तंगी, निराशावादिता, विघ्न-बाधाएँ देखकर उन सब पुराने नये अनिष्ट संयोगों के कारण रात-दिन आर्तध्यान करता रहता है। वह अपने अन्तःकरण में नाना प्रकार की भ्रमात्मक त्रुटियों, न्यूनताओं, कमियों, कमजोरियों या दुर्बलताओं की कल्पना करके अनिष्ट संयोगों को मन में पैदा करता रहता है। आत्महीनता का शिकार व्यक्ति अपनी चित्तवृत्तियों को निरन्तर व्याधि, दुःख, न्यूनता तथा निर्बलता की ओर लगाता रहता है। वह सतत प्रतिकूलता की धारणा से भयभीत, शंकित या व्याकुल रहता है। अतीत के प्रतिकूल संयोग उसके स्मृतिपटल पर पुनः-पुनः उभर आते हैं। अमुक स्थान पर मुझे तिरस्कृत-अपमानित किया गया, अमुक ने मुझे कटुवचन कहे, मेरे साथ नीचता का व्यवहार किया, मैं अपने आप में बहुत असमर्थ हूँ, विद्वानों की सभा में मुझ

मूर्ख को कौन पूछेगा ? इत्यादि असंख्य कमियों की याद उसे निरन्तर सताया करती है। वह व्यर्थ की चिन्ता, फिक्र, भय का बोझ डाल-डालकर अपनी आत्मा को जर्जर कर डालता है। कमी की कटु अनुभूति उसके अन्तःकरण को कांटे की तरह बींधती रहती है। वह अत्यन्त भावुक (Nervous) एवं संवेदनशील बन जाता है कि उसकी दुखती रगों को जरा-सी छेड़ते ही वह रोने लगता है, मन ही मन विभिन्न अवसरों पर अनुभूत हर्ष, शोक, दुःख, निराशा, भय द्वेष, अज्ञान आदि के संस्कार तथा पुरातन घटनाचक्र उसकी आत्महीनता की ग्रन्थी को परिपुष्ट करने के लिए उसके मानस में आ धमकते हैं। और वे काफी समय तक उसके कोमल एवं भावुक मन में धमाचौकड़ी मचाकर उसे अनिष्ट संयोग रूप आर्तध्यान से व्यथित कर देते हैं।

आत्महीन व्यक्ति में चिरसंचित भय के संस्कार उसे गुलाम बनाए रखते हैं। वह जो कुछ भी चिन्तन करता है, उसमें भय की मिथ्या भावना मिश्रित रहती है। अतः ऐसा व्यक्ति कहीं भी विशिष्ट स्थान में विशिष्ट व्यक्तियों के बीच लज्जा का अनुभव करता है, दूसरों से बातचीत करने में उसे शर्म महसूस होती है। ऐसी आत्म-हीनता की भावना के कारण वह हर परिस्थिति या संयोग को अनिष्ट संयोग मानकर आर्तध्यान करता है। बार-बार पूर्व अनुभूत कमी, अप्रिय संयोग, किसी भीति के कारण उस प्रकार के हीनता के संस्कार उसके अचेतन मन में पुष्ट होते रहते हैं। वह कालान्तर में उसे भुला नहीं पाता। अनुभूति के दिव्य प्रकाश में देखने पर आत्महीनता की इस अनिष्ट संयोग की ग्रन्थी के निम्नलिखित कारण प्रतीत होते हैं—(१) शारीरिक कमी, (२) निम्न सामाजिक स्थिति, (३) आर्थिक कमी, (४) निराशावादिता, (५) विघ्नबाधाओं की कल्पनाएँ, (६) लैंगिक न्यूनता, (७) समाज की ओर से अवहेलना, (८) आत्म-ग्लानि या पश्चात्ताप की अधिकता। इन सब अनिष्ट संयोगों के कारण व्यक्ति में आत्महीनता या दीनता के विकल्प उठते रहते हैं। इसी के कारण मन में घोर दुःख का अनुभव होता रहता है। श्रावक को इस आत्महीनता की ग्रन्थी से मुक्त रहना चाहिए, ताकि वह अनिष्ट संयोगजन्य आर्तध्यान रूप अनर्थ दण्ड से बच सके। उसे अपने मन में आशा, महत्त्वाकांक्षा, आत्मविश्वास, आत्मबल और निर्भयता का संचार करना चाहिए। विचारबल रूप शस्त्र से ही आत्महीनता की गाँठ-काटी जा सकती है। उसे सदा अपनी ही परिस्थिति में सन्तुष्ट रहना चाहिए। दूसरों की उन्नति, पदोन्नति, वैभववृद्धि आदि देख-देख उनसे ईर्ष्या करने की उपेक्षा उनके प्रति प्रमोद भावना बढ़ानी चाहिए। दूसरे की प्रगति को देखकर अपने को हीन मत मान लो। उससे अपनी तुलना मत करो। और न ही सदा इस प्रकार के गलत चिन्तन में डूबो कि मैं गरीब हूँ, दीन हूँ, विद्या-बुद्धि हीन हूँ, मैं अधिक कमा नहीं पाता, मैं छोटा आदमी हूँ आदि। थोड़ी-सी सावधानी बरतने पर श्रावक आत्महीनता से आसानी से बच सकता है। निम्नलिखित नुस्खा इसके लिए आत्महीनता के रोग को मिटाने में कारगर हो सकता है—(१) दूसरे हमारे बारे में क्या सोचते हैं ? इस पचड़े में न पड़िए, (२) लोगों की हँसी एवं आलोचना की ओर ध्यान न दीजिए, (३) संसार की

बंदर-घुड़की से मत डरो, (४) साहस से काम लो, (५) भविष्य की चिन्ता से दुःखित न हों, (६) कल की चिन्ता छोड़िए, (७) व्यर्थ के विचारों को हृदय से निकाल फेंकें। (८) अपना दृष्टिकोण बदलिए।

मैं अधिक न कहकर इतना ही कहूँगा कि श्रावक आत्महीनता का शिकार बन कर अनिष्ट संयोगरूप आर्तध्यान से बचे और इस विषय में उपर्युक्त विवेकपूर्वक अनर्थदण्ड का त्याग करे।

आर्तध्यान का दूसरा प्रकार—इष्टवियोग है। अपने प्रिय राज्य, धन, सम्पत्ति यश-कीर्ति स्त्री, पुत्र आदि के वियोग होने पर दुःखमग्न होना, रात-दिन रुदन, विलाप, चिन्ता करना, कलपना अथवा वियोग न हो, इसकी अहर्निश कल्पना करना इष्ट-वियोग नामक आर्तध्यान है। किसी भी प्रिय वस्तु या व्यक्ति के लिए शोक करना, रोना-कलपना, विलाप करना आदि भी आर्तध्यान है। मारवाड़ में अपने परिवार के किसी व्यक्ति का वियोग होने पर महीनों तक रोना-पीटना चलता है। यह कुरुढ़ि इतनी अधिक घर कर गई है कि किसी को रोना न आता हो तो किराये से रोने वाली औरतों को बुलाया जाता है। इस प्रकार का आर्तध्यान मनुष्य को दुर्गति में ले जाता है। आपको मालूम होगा, शास्त्र में वर्णन आता है चक्रवर्ती की रानी श्रीदेवी चक्रवर्ती के वियोग में छह महीने तक रुदन एवं विलाप करती है, फलतः उसे इस आर्तध्यान के कारण छठी नरक की मेहमान बनना पड़ता है। आर्तध्यान का इतना भयंकर दुष्परिणाम है, इस बात को समझकर विवेकी श्रावक-श्राविका को मृत पुरुष के वियोग में रोने-धोने की कुरूढ़ि को तिलांजलि देनी चाहिए।

आर्तध्यान का तीसरा प्रकार है—शारीरिक व्याधियों से होने वाले दुःखों के कारण अहर्निश चिन्तित रहना, मन में बुरे विचार—आत्महत्या या अन्य अशुभ विचार करने में मन को एकाग्र करना अथवा ऐसे दुःखों से छुटकारा पाने के विचारों में डूब जाना रोग-चिन्ता नामक तीसरा आर्तध्यान है।

आर्तध्यान का चौथा प्रकार है—निदानकरण। अप्राप्त विषय-भोगों को प्राप्त करने की लालसा से तीव्र संकल्प करना, उन अप्राप्त पदार्थों के कारण मन में दुःख करना—कलपना—"हाय! मुझे वह चीज क्यों नहीं मिली? वह चीज मुझे कैसे मिलेगी?" इस प्रकार उक्त पदार्थ की प्राप्ति की चिन्ता के कारण उत्पन्न दुःखपूर्ण विचारों में मन को एकाग्र करना निदानकरण नामक चौथा आर्तध्यान है। श्रावक को इस प्रकार के सुखभोग विषयक निदान से बचना चाहिए। उसे सदा यह विश्वास रखना चाहिए, मेरा पुण्यबल प्रबल होगा तो मुझे वह पदार्थ अवश्य मिलेगा, अगर पुण्यबल क्षीण हुआ तो चाहे जितना प्रयत्न कर लूं, मन में संकल्प-विकल्प कर लूं, मुझे वह वस्तु मिल नहीं सकेगी।

दूसरा अपध्यान है—रौद्र ध्यान, जो आर्तध्यान से भी भयंकर है। आर्तध्यान में तो व्यक्ति व्यर्थ के बुरे विचार करके अपनी आत्मा का ही अहित करता है, किन्तु

रौद्रध्यान में अपनी आत्मा के अहित के साथ-साथ दूसरों का अहित करने का दुश्चिन्तन करता है। जिसका मानस अत्यन्त क्रूर, अतिक्रोधी, अतिलोभी, अतिमोही, अतिस्वार्थी एवं कपटी होता है, वह रुद्र कहलाता है, उस रुद्र यानी भयंकर आत्मा का ध्यान—स्वार्थ, क्रोध, लोभ, मोह एवं कपट आदि से प्रेरित होकर दूसरों की हानि के लिए उत्पन्न विचारों में मन का एकाग्र होना—रौद्रध्यान है। क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या, अभिमान आदि मनोविकारों से प्रेरित होकर दूसरों के लिए अनिष्ट-चिन्तन करना भी रौद्रध्यान है। रौद्रध्यानी का रूप अत्यन्त क्रूर बनता जाता है, उसकी आँखें लाल हो जाती हैं, जरा-से निमित्त से उसके तन-वदन में आग-आग लग जाती है, वह जरा-सी गलती पर दूसरे से बदला लेने को उतारू हो जाता है और फिर उसके लिए मन में षड्यंत्र रचता है, प्लान बनाता है, योजना बनाता रहता है।

'तंदुलवेयालियं' नामक प्रकीर्णक सूत्र में तन्दुलमच्छ का जीवन वृत्तान्त बताया गया है। आकार में चावल के दाने जितना छोटा-सा मच्छ, किसी बड़े मगरमच्छ की भौंहों पर बैठा-बैठा इसी प्रकार का रौद्रध्यान करता है कि "यह मगरमच्छ कितना आलसी और मूर्ख है कि इतनी मछलियाँ आती हैं और यह छोड़ देता है, अगर मैं इसकी जगह होता तो एक को भी नहीं छोड़ता, सबको निगल जाता।"

बस, इन्हीं रौद्रध्यानरूप क्रूर परिणामों के कारण वह मर कर सीधा सातवीं नरक की यात्रा करता है। यह सब भाव हिंसानुबंधी रौद्रध्यान के क्रूर परिणामों के कारण ही तो हुआ।

रौद्रध्यान के भी चार प्रकार शास्त्रकारों ने बताये हैं—हिंसानुबंधी, मृषानुबंधी, स्तेयानुबन्धी और संरक्षणानुबन्धी।

किसी की हिंसा होते देखकर प्रसन्न होना अथवा किसी को मारने-पीटने सताने आदि हिंसा रूप घोर प्रवृत्ति के लिए मन में कल्पना करना हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान है। किसी व्यक्ति को मारते, पीटते, सताते, बांधते और करुण आर्तनाद करते देख-सुनकर प्रसन्न होना अथवा अमुक जीव (पशु या मनुष्य आदि) को कैसे मारा जाय, बाँधा जाय हैरान किया जाय? किसके द्वारा यह कार्य कराया जाए? इस काम को करने में कौन चतुर है या कौन शीघ्र कर सकता है? पर-हिंसा सम्बन्धी भयंकर विचारों में मन-मस्तिक को एकाग्र करना हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान है।

रौद्रध्यान का दूसरा प्रकार है—मृषानुबन्धी। अपनी झूठी बात को सच्ची सिद्ध करने तथा दूसरे की सच्ची बात को झूठी सिद्ध करने का उपाय सोचना, अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए झूठा प्रपंच रचना, झूठे शास्त्र रचने की योजना सोचना, लोगों को धर्म के नाम पर ठगने के लिए मिथ्या आडंबर जाल बिछाने का उपाय सोचने में मन-मस्तिष्क को एकाग्र करना मृषानुबन्धी रौद्रध्यान है।

स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान रौद्रध्यान का तीसरा प्रकार है। चोरी करने की योजना बनाना, डकैती, लूट, अपहरण आदि करने के उपाय सोचना तथा विभिन्न

सम्यचोरियों का उपाय सोचना, ऐसे कार्यों में हर्ष मनाना, कौन अमुक वस्तु या व्यक्ति का अपहरण करके ला सकता है, चोरी या अपहरण में कौन चतुर है ? चुंगी, कर आदि की चोरी कैसे की जाए ? तस्करी या चोरबाजारी कैसे की जाए ? इत्यादि चोरी के नाना उपायों की उधेड़-बुन में डूबे रहना स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान है।

चौथा प्रकार है—संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान। जो भूमि, सम्पत्ति, मकान, स्त्री, बाग या साधन सामग्री अथवा पद प्रतिष्ठा, सत्ता, या वैभव प्राप्त है, उसे दूसरों से बचाने के लिए अहर्निश चिन्तामग्न रहना संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है। कोई इन्हें छीन न ले, इनका अपहरण न कर ले, इन्हें अपने कब्जे में न कर ले अथवा ये मेरे अधिकार में कैसे रहें ?

मैं ही इनका मालिक कैसे बना रहूँ, इसमें से कोई भी हिस्सा न बंटा ले, इत्यादि प्रकार की असंख्य चिन्ताओं में मन-मस्तिष्क को व्यग्र रखना संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान कहलाता है।

ये दोनों अशुभ ध्यान श्रावक के लिए त्याज्य हैं। प्रश्न होता है कि श्रावक तो राजा भी बन सकता है, कोई जागीरदार भी बन सकता है, एक धनकुबेर भी श्रावक हो सकता है, तो क्या वह राजा, जागीरदार या धनिक अपने राज्य, राष्ट्र, धन, परिवार या समाज की रक्षा के लिए चिन्तन नहीं करेगा ? क्या शत्रु से अपने राज्य को, एवं चोरों से अपने धन को बचाने के लिए वह उपाय नहीं सोचेगा या करेगा ?

इसका समाधान यह है कि राजा हो, जागीरदार हो, या धनकुबेर हो, वह जब तक गृहस्थ श्रावक की भूमिका में है, तब तक अपने राज्य, राष्ट्र, सम्पत्ति आदि की रक्षा के लिए उपाय सोचेगा भी, करेगा भी, किन्तु राग-द्वेष एवं मोहपूर्वक रात-दिन हाय धन, हाय राज्य, इस प्रकार की चिन्ता से ग्रस्त होकर कर्मबन्धन वह नहीं करेगा। क्योंकि इस प्रकार की रात-दिन हिंसा सम्बन्धी चिन्ता हो, या संरक्षण सम्बन्धी हो, रौद्रध्यान का रूप नहीं लेनी चाहिए। यही कारण है कि कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने योग शास्त्र में इस विषय में श्रावकों के लिए उचित निर्देश किया है—

वैरिघातो, नरेन्द्रत्वं, पुरघाताग्निदीपने।
खेचरत्वाद्यपध्यानं मुहूर्तात्परतस्त्यजेत् ॥७५॥

वैरी का घात करूं, राजा हो जाऊँ, नगर का नाश कर दूं, आग लगा दूं, आकाश में उड़ने की विद्या प्राप्त करके आकाश में उड़ूँ—विद्याधर बन जाऊँ, इत्यादि दुर्ध्यान कदाचित् आ जाय तो उसे एक मुहूर्त्त से अधिक न टिकने दे। प्रथम तो इस प्रकार का दूषित विचार मन में आने ही नहीं देना चाहिए, कदाचित् आ भी जाए तो उसे ठहरने नहीं देना चाहिए।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में अपध्यान की व्याख्या करते हुए कहा है—पाप की ऋद्धि की जय-पराजय, तथा युद्ध करने, परस्त्रीगमन करने,

चोरी आदि पापकर्म करने का चिन्तन (अपध्यान) कदापि नहीं करना चाहिए, क्योंकि इनका फल सदैव पाप रूप होता है।[1]

श्री समन्तभद्राचार्य ने अपध्यान की व्याख्या भी इससे कुछ मिलती-जुलती की है। वे कहते हैं—"राग-द्वेषवश किसी प्राणी के वध, बन्ध, छेदन आदि का, तथा परस्त्री को अपनी बनाने आदि का सर्वतोमुखी ध्यान करने को जिनशासन के श्रुत धर अपध्यान कहते हैं।[2]

वास्तव में पाप की विजय तथा पुण्य की पराजय की इच्छा करना, तथा इसी के अनुसार घटनाओं पर विचार करने में डूब जाना, अपध्यान है। ऐसे अशुभ ध्यान करने से किसी का हानि-लाभ तो हो नहीं जाता, फिर व्यर्थ ही निरर्थक ऐसा अपध्यान क्यों किया जाए, जो पाप रूप हो, अतः अनर्थदण्ड हो। न्याय या न्यायी की विजय एवं अन्याय या अन्यायी की पराजय के विचार अपध्यान रूप नहीं हैं। जैसे राम-रावण के युद्ध में राम की जय और रावण की पराजय के विचार अपध्यान रूप नहीं थे, शर्त यही है कि गृहस्थ श्रावक को रागद्वेष के विचारों से अपने को दूर रखना चाहिए।

यदि श्रावक विवेकपूर्वक विचार करे तो अपध्यान से बच सकता है। इष्ट-वियोग, अनिष्ट संयोग, रोगादि, दुःख, चिन्ता तथा निदान करण, आदि प्रसंगों में राग-द्वेष, मोह, क्रोध, आदि उत्पन्न हों, तब निमित्त की अपेक्षा उपादान का विचार करे तो मन एकाग्र तथा शान्त रह सकता है। निमित्त तो केवल निमित्तमात्र है, सारा खेल तो उपादान का है। अतः मनुष्य उपादान का विचार करे तो दुर्ध्यान से बचकर सुध्यान में स्थिर हो सकता है।

अशुभ विचार जीवन में अशुभ संस्कार बढ़ाते हैं, वे जाते-जाते अपना अशुभ संस्कार छोड़ जाते हैं। बुरे विचार तो सिंह और बाघ से भी अधिक भयंकर हैं, वे आत्मा का बहुत ही अहित करने वाले शत्रु हैं। अशुभ विचारों का सहवास असुरों के सहवास सरीखा भयंकर हैं। अतः अशुभ विचारों के केन्द्रभूत आर्तध्यान-रौद्रध्यान से श्रावक को बचना चाहिए।

प्रमादाचरित या प्रमादचर्या—अनर्थ दण्ड का दूसरा आधारस्तम्भ प्रमादाचरण है। प्रमाद युक्त आचरण का नाम प्रमादाचरण है। प्रमाद जीवन के लिए

---

१ पापर्द्धिजय-पराजय-सङ्गर—परदारगमन चौर्याद्याः।
न कदाचनाऽपि चिन्त्याः, पापफलं केवलं यस्मात् ॥१४४॥
—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

२, बन्ध-वध-छेदादेर्द्वेषाद् रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥७८॥
—रत्नकरण्ड श्रावकाचार

जीता-जागता मरण है। यह मनुष्य जीवन को आलस्य, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा आदि दुर्गुणों में लिप्त करके अधमरा-सा बना देता है। यह जीवन का तत्त्व-सत्त्व चूस लेता है। जब मनुष्य निठल्ला और आलसी बनकर बैठता है तो समझ लो, उसका खाली दिमाग अनेक ऊल-जलूल विचारों से ग्रस्त होकर शैतान का कारखाना बन जाता है।[1]

इसीलिए आलस्य को शरीर स्थित महाशत्रु कहा गया है।[2] भगवान महावीर ने गौतम स्वामी जैसे शिष्य के समक्ष कई बार **'समयं गोयम ! मा पमायए'** इस स्वर्ण-सूत्र को कई बार दोहराया है ! सचमुच—प्रमाद मनुष्य जीवन को पतन की ओर ले जाता है।

कई मनुष्य अपना अधिकांश समय सुस्ती, आलस्य, तुच्छ मनोरंजन, व्यर्थ की टीका-टिप्पणी करने, निन्दा-चुगली करने, व्यर्थ की गपशप मारने, ताश-चौपड़ या शतरंज खेलने, सिनेमा या स्वांग तमाशा देखने, अथवा इधर-उधर मारे-मारे फिरने, या घर में ही बैठकर पत्नी से मुंह-जोरी करने या बच्चों पर शासन चलाने में या लड़ने-झगड़ने में बरबाद कर देते हैं। इस प्रकार जो समय को नष्ट कर देता है, समय उस मनुष्य का नाश कर देता है। भगवान् महावीर कहते हैं—

'जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।
धम्मं च कुणमाणस्स सफला जंति राइओ॥'

—जो-जो रात्रि व्यतीत होती है, वह लौट कर नहीं आती, जो उन रात्रियों में धर्माचरण कर लेता है, उसकी वे रात्रियाँ सफल हो जाती हैं।

वास्तव में जो समय जा रहा है, वह बहुत मूल्यवान है। एक बार निकल जाने के बाद फिर वापस नहीं आता। जो अपना समय आलस्य, प्रमाद, अकर्मण्यता, निन्दा, चुगली, लड़ाई-झगड़े आदि में बर्बाद कर देता है, उसका शरीर सुस्त, कायल, निरुत्साही, एवं मृतवत् हो जाता है, उसकी कार्यक्षमता कम हो जाती है, दक्षता कुण्ठित हो जाती है। फालतू रहना प्रायः झगड़े-फसाद को आमंत्रित करना है। इसी-लिए श्रावक के लिए इस प्रकार की प्रमादचर्या रूप अनर्थदण्ड से बचने और अपने समय का सदुपयोग करने का निर्देश किया गया है।

प्रमाद का अर्थ केवल आलस्य या निद्रा लेना ही नहीं है, इसीलिए प्रमाद के पांच प्रकार बताए हैं—'मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। इन पांच प्रमादों का सेवन करने से जीव संसार-सागर में गिरता है।'

१. **मद का अर्थ**—अहंकार या मद्य (शराब या ऐसी ही नशीली चीजें) हैं। स्थानांगसूत्र में ८ प्रकार मद के बताए हैं—जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तप-

---

1 'Empty mind is devil's workshop'.

२ 'आलस्यो हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः।'

मद, लाभमद, शास्त्रमद और ऐश्वर्यमद। दूसरे अर्थ में जब मद शब्द प्रयुक्त होता है, तब मद यानी प्रमाद का मुख्य उत्पादक मदिरा होने से वह मद कहलाता है। साधक गृहस्थ को इन सब मदों से बचना चाहिए। जाति, कुल, बल रूप आदि का मद बहुत ही अनर्थ और संघर्ष का कारण है। श्रावक को ऊँच-नीच, छुआछूत आदि मानव भेद या उच्चता का मद नहीं करना चाहिए।

२. **विषय** से मतलब है—पांच इन्द्रियों के सुप्रसिद्ध २३ विषय हैं, उनमें आसक्त होना—विषयप्रमाद है। आत्मा इन पंचेन्द्रिय विषयों में निमग्न होकर अपने आपको भूल जाता है। श्रावक शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श रूप पांचों इन्द्रियों के विषयों का आसक्ति पूर्वक कभी सेवन नहीं करता। विषयों में आसक्त प्राणी अपने प्राणों को भी खतरे में डाल देता है।

३. **कषाय**—क्रोधादि चार कषाय—प्रमाद है। कषाय के वश होकर भी आत्मा अपना भान भूल जाता है। अतः श्रावक को कषायों से—कम से कम अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरणीय, इन दोनों प्रकार के कषायों का तो त्याग कर देना चाहिए।

४. **निद्रा**—निद्रा आत्मा की गफलत से लाभ उठाती है। आत्मा की सावधानी का हरण कर लेती है।

कई-कई जगह **निद्रा** के बदले '**निन्दा**' शब्द भी मिलता है। निन्दा चुगली व्यर्थ ही समय और धन खोने के शस्त्र हैं। निन्दा-चुगली से परस्पर वैमनस्य, कटुता और संघर्ष बढ़ते हैं।

५. **विकथा**—जिनके कहने-सुनने से दूसरों को कामोत्तेजना या विकार उत्पन्न होते हैं। आत्मा को इससे कोई लाभ नहीं है। विकथा आत्म गुणों की नाशक है। विकथा चार प्रकार की हैं—स्त्री-विकथा, भक्त (भोजन) विकथा, राजविकथा और देशविकथा।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमादाचरण की व्याख्या इस प्रकार की है—कुतूहलवश अश्लील गीत, नृत्य, नाटक आदि देखना, कामशास्त्र पढ़ने में आसक्ति, जुआ खेलना, मद्यपान करना, निरर्थक जलक्रीड़ा करना, निष्प्रयोजन बड़े हिंडोले में झूलना, कलह-बद्धक विनोद करना, सांडों, मुर्गों आदि प्राणियों को परस्पर लड़ाना, शत्रु के पुत्रादि के साथ वैर-विरोध रखना, उनसे बदला लेना। भोजनसम्बन्धी, स्त्रीसम्बन्धी, राजा-सम्बन्धी, और देश सम्बन्धी निरर्थक वार्तालाप (कथा) करना। रोग या थकान के सिवाय व्यर्थ ही सोये पड़े रहना आदि-आदि प्रमादाचरण का बुद्धिमान पुरुष को त्याग कर देना चाहिए।[1]

---

१ कुतूहलाद् गीत नृत्य-नाटकादि निरीक्षणम्।
कामशास्त्र प्रसक्तिश्च द्यूतमद्यादि सेवने ॥७८॥

आचार्य समन्तभद्र ने प्रमादचर्या की व्याख्या की है—निरर्थक जमीन खोदना, अग्नि प्रज्वलित करना, निष्प्रयोजन हवा का आरम्भ, व्यर्थ ही पेड़-पौधे, फूलपत्ते, वनस्पति का छेदन, पानी व्यर्थ में बहाना या ढोलना; घी, तेल, दूध आदि के बर्तन खुले छोड़ देना; लकड़ी, पानी आदि को बिना देखे-भाले काम में लेना प्रमादचर्या है।[2] आचार्य अमृतचन्द्र ने भी इसी से मिलती-जुलती व्याख्या की है।

श्रावक को जागरूक और सतर्क रहकर तमाम प्रवृत्तियाँ करनी चाहिए, उसकी थोड़ी-सी असावधानी से अनर्थ होने की सम्भावना रहती है। रेलगाड़ी का पेटवान अगर लाइन बदलने के लिए जरा-सी देर भी हरी झंडी दिखाने में गफलत कर दे, तो दो रेलगाड़ियाँ आपस में भिड़कर चकनाचूर हो सकती हैं। इसी प्रकार श्रावक की भी जरा-सी गफलत से असंख्य निर्दोष प्राणियों का संहार हो सकता है, संघर्ष बढ़ सकता है, इसलिए इस अनर्थदण्ड से बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

दुःश्रुति नामक भेद को शास्त्रकारों ने प्रमादाचरण के भेद-विकथा में ही समाविष्ट कर दिया है।

दुःश्रुति[3] का अर्थ है—ऐसी बातों या कहानियों, उपन्यासों, नाटकों का सुनना या पढ़ना, जिनसे मन में कामादि विकार तो पैदा होते हैं किन्तु न तो मानसिक उन्नति या शक्ति हो, न कोई अन्य लाभ हो। संशोधन या अध्ययन के लिए पढ़ना दुःश्रुति नहीं है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में दुःश्रुति का अर्थ यों किया है—

आरम्भसंग साहस मिथ्यात्व-द्वेष-राग-मद-मदनैः।
चेतः कलुषति श्रुतिरधीयमाना दुःश्रुतिर्भवति ॥७९॥

—जिन बातों के सुनने-पढ़ने से चित्त आरम्भ में आसक्ति से, पाप करने के साहस से, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, मद और काम से कलुषित हो जाता है, वह दुःश्रुति है।

इस प्रकार की दुःश्रुति का अन्तर्भाव विकथा नामक प्रमादचर्या में हो जाता है।

जलक्रीड़ाऽऽन्दोलनादिविनोदो जंतुयोधनं।
रिपोः सुतादिना वैरं भक्त-स्त्रीदेशराट्कथा ॥७९॥
रोगमार्गं श्रमौ मुक्त्वा, स्वापश्च सकलां निशाम्।
एवमादि परिहरेत् प्रमादाचरणं सुधीः ॥८०॥ —योगशास्त्र, पृ० ३

२ क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम्।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ॥८०॥ —रत्नकरण्डश्रावका०

३ रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामपि बोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥१४८॥ —पुरुषार्थ०

हिंस्रप्रदान—अनर्थदण्ड का तीसरा आधारस्तम्भ है। हिंसा में सहायता के लिए उपकरण या साधन दूसरों को देना। दिगम्बर आचार्यों ने इसका नाम 'हिंसादान' रखा है। हिंसा करने के लिए उसके साधनों का दान करना हिंसादान है। यहाँ सूक्ष्म रूप से इसकी व्याख्या पर विचार करना है कि जिन चीजों से हिंसा हो सकती है, उन्हें प्रदान करना हिंसादान नहीं है, अपितु हिंसा के लिए शस्त्रादि पदार्थों को देना हिंसादान है। वास्तव में यह अनर्थदण्ड तभी होता है, जब हिंसा के लिए शस्त्रादि कोई पदार्थ किसी को दिया जाय, जैसे दो देशों या दो शासकों को परस्पर लड़ाने के लिए फौजों को उकसाकर हथियार देना, बमगोले आदि देना।

कई लोग इस अनर्थदण्ड को न समझ पाने के कारण अपने पड़ौसी या किसी परिचित सज्जन को रसोई बनाने के लिए अग्नि नहीं देते, शाक सुधारने के लिए चाकू नहीं देते, यह भूल है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस विषय में संशोधन किया है। देखिये योग शास्त्र का वह श्लोक—

यंत्र-लांगलशस्त्राग्नि मूशलोदूखलादिकम्।
दाक्षिण्याविषये हिंसां नार्पयेत् करुणापरः ॥३।७७

अर्थात्—करुणापरायण श्रावक यंत्र, हल, शस्त्र, अग्नि, मूसल, ऊखल आदि वस्तुओं को पारस्परिक व्यवहार (भलाई के लिए) के विषय को छोड़कर न प्रदान करे यद्यपि इस तीसरे भेद का स्वरूप ऐसा है, परन्तु इसमें सार्थक-निरर्थक का भेद किया गया है। प्रयोजन से ऐसा करना अर्थदण्ड और निष्प्रयोजन से ऐसा करना अनर्थदण्ड कहा गया है। उपासकदशांगसूत्र के टीकाकार ने इस सम्बन्ध में विशेष स्पष्टीकरण किया है—[१] "जिनसे हिंसा होती है, उन अस्त्र, शस्त्र, आग, विष आदि हिंसा के साधनों को क्रोधाविष्ट अथवा क्रोधावेश से रहित व्यक्ति के हाथों में दे देना हिंस्रप्रदान या हिंसा में सहायक होना है।

पापोपदेश—अनर्थदण्ड का चौथा भेद है। इसका अर्थ पापकर्म का उपदेश देना है। ऐसा उपदेश (प्रेरणा, सुझाव, सलाह) जिसे सुनकर व्यक्ति पाप कार्य में—हिंसा, असत्य, बेईमानी, चोरी, मैथुन एवं परिग्रह आदि में—प्रवृत्त हो, वह पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड है। जो कार्य पापरूप हैं, उनका उपदेश देना पापोपदेश है।

बहुत से लोगों में एक बहुत बुरी आदत होती है कि वे जिस चीज को बुरी समझते हैं, फिर भी उनका जान-बूझ कर या लापरवाही से प्रचार करते हैं।

परन्तु वह अनर्थदण्ड है, इसलिए श्रावक के लिए त्याज्य है। एक शराबी, जानता है कि शराब हानिकारक वस्तु है, फिर भी वह दूसरों को शराब का चस्का लगाने के लिए प्रेरणा देता है, यह पापोपदेश है। जो बात बुरी है, अगर उसे कोई

---

१ हिंसाहेतुत्वादायुधानल विषादयो हिंसोच्यते, तेषां प्रदानम्।
अन्यस्मै क्रोधाभिभूताय, अनभिभूताय प्रदानं, परेषा समर्पणम्॥
—उपासकदशांग—टीका

व्यक्ति लाचारीवश या कमजोरी से नहीं त्याग सकता तो कम से कम उसका प्रचार तो न करे। पापोपदेश से कोई लाभ नहीं है, बल्कि दूसरे को अधःपतन की ओर ले जाना है। इसलिए श्रावक के लिए यह त्याज्य है।

आजकल बहुत से राजनैतिक पार्टी के या श्रमजीवी संस्थाओं के नेता मजदूरों एवं विद्यार्थियों को उकसाते हैं—हड़ताल कर दो, दंगा करो, आग लगादो, बस जला दो, मकान के शीशे तोड़ दो, लूट लो, राज्यद्रोह करो, घेरा डालो, राष्ट्रोत्थान में बाधक बनो।" ये सब भी एक प्रकार से पापोपदेश हैं।

इसी प्रकार कई लोगों की आदत होती है, वे दूसरों को खोटी सलाह दे देते हैं, परस्पर पतिपत्नी में, भाई-भाई में, या पड़ोसियों में फूट डालने, हिंसा भड़काने, दंगा कराने का प्रयत्न करते हैं। अथवा कई लोग कहते हैं—बकरा मारो, पशुबलि करो, बैलों को खूब पीटकर उनसे काम लो आदि।

इस प्रकार अनर्थदण्ड के चार आधारस्तम्भ हैं, श्रावक को इनको भलीभाँति समझकर इनसे बचना चाहिए। जो श्रावक प्रत्येक प्रवृत्ति को प्रारम्भ करने से पूर्व अर्थ-अनर्थ का विवेक करके निरर्थक कार्यों से बचता है, वही अनर्थदण्ड के पाप से अपनी आत्मा को बचा सकता है। यों तो बाहर से(द्रव्य से) देखने में अनर्थदण्ड प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का विनाश करता है, किन्तु भाव से अन्तरंगरूप से वह आत्मा की हानि करता है, आत्मविकास रोकता है। जो व्यक्ति दूसरों को कष्ट पहुँचाता है, कष्ट पहुँचाने का विचार करता है या वाणी से प्रेरणा करता है, वह दूसरों को तो कष्ट पहुँचा सकेगा या नहीं, यह निश्चित नहीं है, किन्तु यह निश्चित है कि वह निश्चय में अपनी आत्मा की भावहिंसा कर लेता है। इसलिए अनर्थदण्ड का परित्याग श्रावक के लिए आवश्यक है।

पहले कहा जा चुका है कि दण्ड का सर्वथा त्याग श्रावक के लिए सम्भव नहीं, इसलिए दण्ड के दो भेद करके गृहस्थ के लिए अनर्थदण्ड के त्याग का विधान किया गया। यदि कोई श्रावक आवेश या सनक में आकर अर्थदण्ड का भी सर्वथा त्याग करेगा तो अर्थदण्ड के बदले दम्भादि का अधिक अनर्थदण्ड गले पड़ जाएगा। मान लीजिए, एक श्रावक न्यायनीतिपूर्वक व्यवसाय करके अर्थोपार्जन करता है, अगर वह इस अर्थदण्ड से भी छुटकारा पाने के लिए न्यायसंगत अर्थोपार्जन भी बन्द कर देता है तो अपना तथा अपने परिवार का पेट पालने के लिए उसे या तो आत्महत्या का मार्ग स्वीकार करना होगा, या उसे डकैती, चोरी, ठगाई, जेबकटी, तस्करी आदि या ऐसे ही अन्य कार्य करने होंगे, जिनसे मूलव्रत का तो भंग होगा ही, उक्त महापाप से भयंकर कर्मबन्धन होगा, दुर्गति होगी। इस प्रकार श्रावक अपनी उच्च भूमिका के बिना अनर्थदण्ड के त्याग के साथ-साथ अर्थदण्ड का भी त्याग कर देगा तो स्वयं को अर्थदण्ड के बदले अधिक भयंकर अनर्थदण्ड में डाल देगा। हाँ, सामायिक, पौषध आदि व्रतों की आराधना के समय वह अर्थदण्ड का सर्वथा त्याग कर सकता है। इसी प्रकार समय-

समय पर विशेष त्याग करके वह अर्थदण्ड से भी यथाशक्ति बचता है। किन्तु बिना ही सोचे-समझे यों ही सनक में आकर अर्थदण्ड का त्याग करने का परिणाम 'लेने गई पूत और खो आई पति' की कहावत को चरितार्थ करता है। अर्थदण्ड से मुक्त होने के नाम पर यदि कोई स्वास्थ्य रक्षा की उपेक्षा करके पोषक तत्त्व से युक्त खानपान छोड़ दे तो शरीर में व्याधियाँ पैदा होने पर उसे भ्रष्ट दवाइयाँ, इन्जेक्शन आदि लेने पड़ेंगे या 'अप्पाणं वोसिरामि' करके अकाल में ही अपने शरीर को यहाँ से विदा करना होगा। अर्थदण्ड से बचने के लिए कृषिकर्म का सभी लोग त्याग करदें तो क्या नतीजा आएगा ? भूखे-मरते लोग मांसादि का सेवन करके और अनर्थ में पड़ेंगे। अतः शास्त्रकारों ने अर्थदण्ड के त्याग का भार श्रावकों पर न डालकर अनर्थदण्ड का ही त्याग करने का विधान किया है, इसीलिए इस व्रत का नाम—**'अनर्थदण्डविरमणव्रत'** रखा गया है।

इस व्रत पालन में पांच दोषों से बचो

श्रावक को अर्थदण्ड का त्याग करने की चिन्ता छोड़कर सर्वप्रथम अनर्थदण्ड के पांच अतिचारों से बचने और शुद्धरूप से अनर्थदण्डविरमणव्रत का पालन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

शास्त्रकारों ने इस व्रत के पांच अतिचार बताए हैं, जो जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं। वे इस प्रकार हैं—कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, संयुक्ताधिकरण और उपभोगपरिभोगातिरिक्तता।

आचार्य समन्तभद्र ने **उपभोगपरिभोगातिरिक्तता** के बदले **'अतिप्रसाधन'** बताया है, तथा आचार्य अमृतचन्द्र ने **'भोगानर्थक्य'** नामक अतिचार बताया है। भावार्थ तीनों का एक ही है—उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थों या साधनों का अधिकाधिक उपभोग करना।

मैं प्राचीन आचार्यों के चिन्तन के प्रकाश में इन सबकी क्रमशः व्याख्या कर रहा हूँ।

पहला अतिचार है—कन्दर्प। जिसका अर्थ है—कामवासना को उत्तेजित करने वाले, मोहोत्पादक शब्दों का हास्य या व्यंग्य में दूसरों के प्रति प्रयोग करना या सुनना कन्दर्प नामक अतिचार है। बोधबर्द्धक विनोद करना इस अतिचार में नहीं है। अश्लील नाटक या सिनेमा देखने वाले, गन्दे उपन्यास या अश्लील कहानियाँ पढ़ने सुनने वाले इस अतिचार से कैसे बचे रह सकते हैं ?

दूसरा अतिचार कौत्कुच्य है, जिसका अर्थ है— आँख, नाक, मुँह आदि अंगों को टेढ़े-मेढ़े, भौंडे-भद्दे रूप में विकृत बनाकर भांड या विदूषक (जॉकर) की-सी चेष्टा करके लोगों को हँसाना, कुतूहल पैदा करना, बहुरुपिये की तरह विचित्र वेष बनाकर लोगों को विस्मय में डालना।

सभ्य समाज में ऐसा हास्याचार्य श्रावक प्रतिष्ठा का भाजन नहीं बन सकता।

तीसरा अतिचार है—मौखर्य। मौखर्य का मतलब है—अकारण ही अधिक बोलना, कुछ न कुछ बकवास करते रहना, इधर-उधर की दुनिया भर की गप्पें हांकना निष्प्रयोजन अनर्गल बातें कहना। वाचालता श्रावक-जीवन के लिए अभिशाप है। वह एक रोग है, जो मनुष्य को जर्जर बना देता है। नीतिकार कहते हैं—**'वचनपातो वीर्यपातात् गरीयान्'** वचनपात (वाणी का बोलना) वीर्यपात से भी बढ़कर है। जो जितना भी कम बोलता है, वह उतना ही सक्षम तथा चिरंजीवी होता है। प्रकृति की चिरंजीविता का रहस्य उसका मौन है। प्रकृति सदैव मौन रहती है, इसलिए बड़े से बड़े संकटकाल में भी अपनी रक्षा कर लेती है। बातूनी या वाचाल व्यक्ति कई बार बहुत ही खतरनाक होता है। अधिक बोलने से मानसिक एवं आत्मिक शान्ति का भंग होता है। इसीलिए तो भगवान महावीर ने साधकों से कहा है—**'बहुयं माय आलवें'** अधिक मत बोलो। जो मनुष्य वाणी का संयम रख सकता है, उसकी वाणी बड़ी प्रभावशालिनी एव तेजस्वी होती है। भगवान महावीर ने दीक्षा लेने के बाद साढ़े बारह वर्ष तक मौन रखा था। यही उनकी प्रबल आत्मशक्ति का रहस्य था। मौखर्य नामक अतिचार से बचने के लिए जीभ पर संयम रखना एवं मौन की साधना करनी चाहिए।

इसके बाद चौथा अतिचार है—संयुक्ताधिकरण। संयुक्ताधिकरण का अर्थ है—कूटने, पीसने एवं गृहकार्य के अन्यान्य साधनों का अधिकाधिक और निष्प्रयोजन संग्रह कर रखना। जैसे ऊखल, मूसल, चक्की, झाड़ू, सूप, सिला, लोढ़ी आदि वस्तु एक-एक चाहिए, किन्तु बहुत अधिक संख्या में संग्रह करके रखना। संयुक्ताधिकरण नामक अतिचार है। अथवा इस अतिचार का एक नाम असमीक्ष्याधिकरण भी मिलता है, जिसका अर्थ होता है—बिना विचारे किसी से कलह कर बैठना, बात की बात में झगड़ा मोल लेना, किसी दूसरे की पंचायत में बिना किसी प्रकार का विचार किये या बिना कहे पड़ जाना और व्यर्थ का झंझट मोल ले लेना, बिना विचारे प्रवृत्ति करने को भी असमीक्ष्याधिकरण कहते हैं।

इसके बाद पांचवां अतिचार है—उपभोग-परिभोगातिरिक्तता। इसका अर्थ है—जो पदार्थ उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत स्वीकार करते समय मर्यादा में रखे थे, उनमें अत्यधिक आसक्त रहना, उनमें आनन्द मानकर उनका पुनः-पुनः उपयोग करना, उनका उपयोग जीवन निर्वाह के लिए नहीं, अपितु मौज-शौक या केवल स्वाद के लिए उनका उपयोग करना। जैसे पेट ठसाठस भरा होने पर भी स्वाद के लोभ में आकर और अधिक ठूंस लेना, कपड़ों की आवश्यकता न होने पर भी केवल फैशन और शौक की दृष्टि से उन्हें बार-बार बदलना, नयी-नयी डिजाइन के कपड़े पहनना, केवल आनन्द या चस्के के लिए अनावश्यक बार-बार स्नान करना आदि उपभोग-परिभोगातिरिक्तता नामक अतिचार है। श्रावक को कम से कम पदार्थों से अपना

जीवन-निर्वाह करना चाहिए, तभी वह इस अतिचार से बच सकता है। मतलब यह है कि शरीर-रक्षा या जीवन निर्वाह के लिए भोजन, वस्त्र, शय्या आदि पदार्थों का उपभोग अर्थदण्ड है, जबकि रसास्वाद, फैशन-विलास, बड़प्पन प्रदर्शन या मौज-शौक के लिए भोजन, वस्त्र, शय्या आदि का उपभोग करना अनर्थदण्ड है।

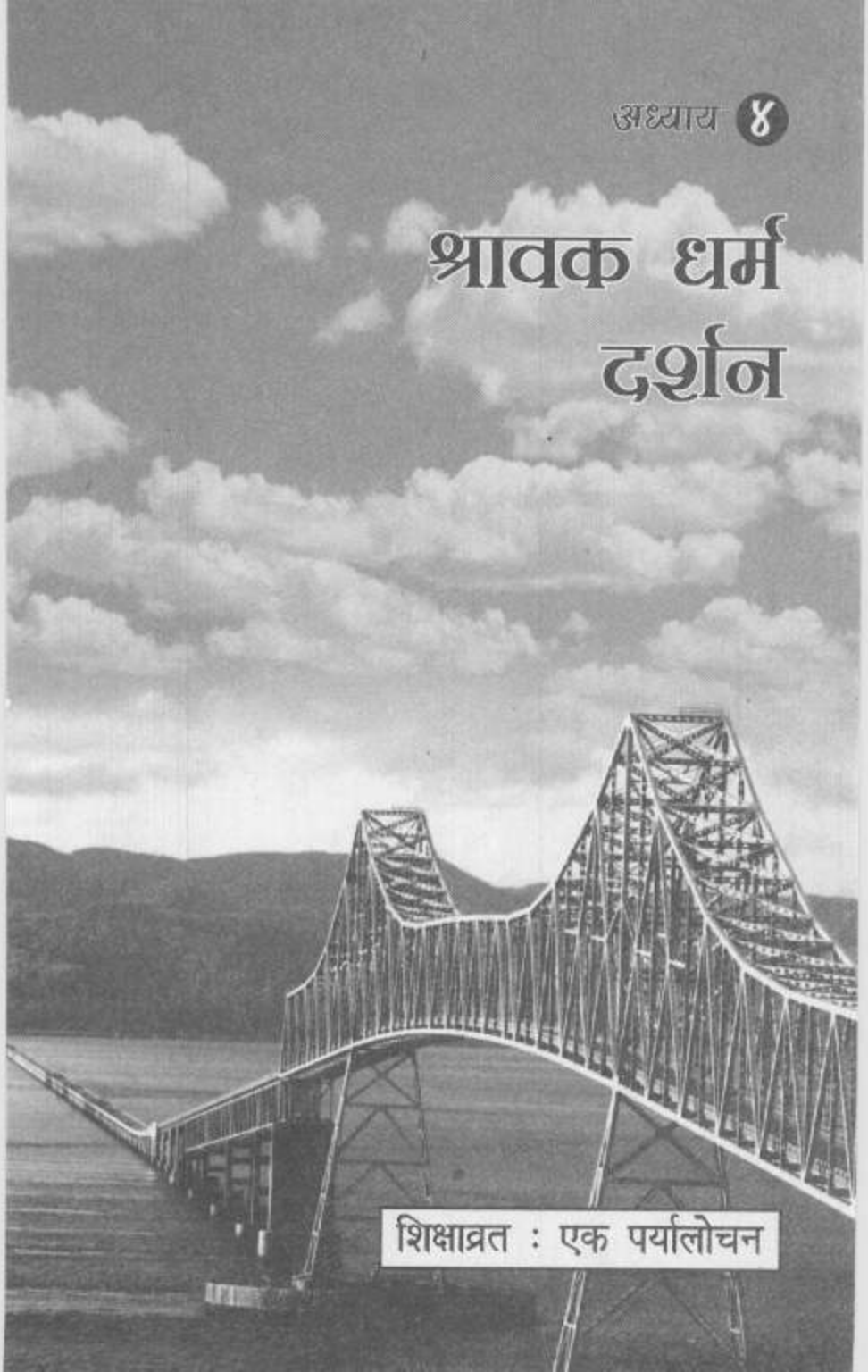
अनर्थदण्ड विरमणव्रत से मन-वचन-काया से होने वाली समस्त प्रवृत्तियाँ शुद्ध होती हैं। प्रवृत्तियाँ निरवद्य हुए बिना आगे के सामायिक आदि व्रतों की आराधना नहीं हो सकती है। इसलिए जैसे किसान खेती करने से पहले खेत में उगे हुए निरर्थक घास-फूंस, झाड़-झंखाड़ को उखाड़ फैंकता है, तभी उस भूमि में बीज बोने पर सुन्दर खेती हो सकती है, वैसे ही गृहस्थ साधक को सामायिक आदि की साधना करने से पूर्व अनर्थदण्ड के घास-फूंस या झाड़-झंखाड़ को उखाड़ फेंकना चाहिए।

तभी समभाव आदि के बीज हृदयभूमि में बोने पर आत्म-विकास की सुन्दर फसल लहलहा सकती है। वास्तव में अनर्थदण्ड का त्याग साधक को प्रकृति के निकट लाता है, प्राकृतिक जीवन जीने की प्रेरणा देता है, जबकि अनर्थदण्ड के पुजारी भोग-परायण भौतिकवादी लोग कृत्रिम जीवन जीना पसंद करते हैं; जो उनके ही लिए अधिक दुःखदायक, अशान्तिजनक और भयावह होता है। इसलिए गृहस्थ श्रावक को इस व्रत के सभी पहलुओं पर विचार करके उत्साहपूर्वक इसका पालन करना चाहिए।

✡

अध्याय ४

श्रावक धर्म दर्शन



शिक्षाव्रत : एक पर्यालोचन

शिक्षाव्रत : एक पर्यालोचन

- ☐ सामायिक व्रत की सार्वभौम उपयोगिता
- ☐ सामायिक का व्यापक रूप
- ☐ सामायिक व्रत : विधि, शुद्धि और सावधानी
- ☐ देवगावकाशिक व्रत : स्वरूप और विश्लेषण
- ☐ पौषध व्रत : आत्म-निर्माण का पुण्य-पथ
- ☐ श्रावक का मूर्तिमान औदार्य : अतिथि-संविभाग व्रत
- ☐ संलेखना: अंतिम समय की अमृत-साधना

1

सामायिकव्रत की सार्वभौम उपयोगिता

☆

आत्मिक-विकास के लिए सद्गुणों की जड़ें सींचो

वृक्ष जितना ऊपर उठा और फैला हुआ दीखता है, उतना ही वह पृथ्वी के भीतर भी धँसा हुआ होता है। हर पेड़ की जड़ें काफी गहरी जाती हैं, काफी घेरा घेरती हैं और वे काफी संख्या में भी होती हैं। यदि वे न हों, कम हों या कमजोर हों तो वृक्ष के ऊपरी भाग पर उसका प्रभाव सुनिश्चित होता है। कमजोर जड़ों वाला वृक्ष दिनानुदिन जराजीर्ण होता जाएगा, उसका विकास तो रुका ही पड़ा रहेगा। ठीक इसी तरह मनुष्य की आस्थाएँ, मान्यताएँ, आकांक्षाएँ, विचारधारा और प्रवृत्तियाँ, जो जड़रूप में विद्यमान रहती हैं, उन्हीं का प्रतिफल बाह्य जीवन में उन्नति-अवनति के रूप में दीख पड़ता है। देखने में सब मनुष्य लगभग समान दिखाई देते हैं, पर उनके बीच में जो असाधारण अन्तर दीख पड़ता है, उसका कारण व्यक्तियों की आन्तरिक स्थिति की दुर्बलता या सबलता ही होता है।

जड़ों में खाद-पानी मिले बिना या भीतर उसे फैलने-फूटने के लिए अवसर प्राप्त हुए बिना किसी वृक्ष के सुविकसित होने की आशा नहीं की जा सकती। इसी प्रकार सुसंस्कृत व्यक्तित्व के निर्माण की संभावना तभी होती है, जब विचार-आचार को व्यवस्थित ढंग से पनपाने का अवसर मिलता है। जिसकी विचारधारा एवं आचार पद्धति अस्तव्यस्त है, उसे बाह्यजीवन में तो कोई भी महत्त्वपूर्ण सफलता नहीं मिलती, आन्तरिक जीवन में सफलता मिलने की आशा भी दूभर है।

संयोगवश या धूर्तता से किसी को कोई अप्रत्याशित सफलता मिल भी जाती है, फिर भी उसमें तनिक भी स्थायित्व नहीं होता। बाहर से थोपी हुई सफलता किसी भी समय असफलता में परिणत हो सकती है। पेड़ पर नकली फल-फूल धागों में बाँधकर लटका दिये जायें तो कुछ समय तक फल-फूलों से लदे वृक्ष-सी शोभा तो दे सकते हैं, पर यह आकर्षण न तो स्थिर रहता है और न कोई प्रयोजन पूरा करता है। इसी प्रकार जो नकली सफलता चालाकी या धूर्तता से संयोगवश मिल जाती है, वह न तो चिरस्थायी होती है और न उस व्यक्ति का गौरव बढ़ाती है। बल्कि अयोग्य की सफलता लोगों के लिए व्यंग्य या उपहास का माध्यम बनकर रह जाती है। गुणों

के अभाव में प्राप्त की हुई सफलताएँ छोटे बच्चों द्वारा विनोद के लिए लगाई हुई नकली मूँछों की तरह हैं, जो जरा-सी हरकत होने पर नीचे गिर पड़ती है और नकली जवानी के स्थान पर असली बचपन को फिर प्रगट कर देती है।

किसी व्यक्ति की वास्तविक और सुस्थिर उन्नति का आधार उसकी मनोभूमि का परिष्कार ही माना जा सकता है। जिसके भीतर सद्गुणों की जड़ें जितनी गहरी धंसी हुई होंगी, जितनी अधिक होंगी, और जितनी पुष्पित-फलित होंगी, उसका बाह्य-जीवन भी उसी अनुपात से सुविकसित, संतुलित, प्रगतिशील और सुख-शान्तिमय बन रहा होगा, उसमें स्थिरता भी बनी रहेगी। परिस्थितियों के झंझावातों से उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं होगा। विपरीत परिस्थितियाँ उस पर उतना ही प्रभाव डाल सकती हैं, जितना पतझड़ पेड़ों पर डालता है। पत्ते जरूर झड़ जाते हैं, पर वृक्ष के तनों से प्रवाहित होने वाली रसधारा उस अभाव की शीघ्र ही पूर्ति कर देती है और वृक्ष पुनः नई कोंपलों और पत्तियों से लद जाता है। सच तो यह है कि पतझड़ के बाद ही उसे फल-फूलों से लदने का अवसर आता है। इसी प्रकार विपत्तियाँ मनस्वी पुरुष का कुछ बिगाड़ नहीं पातीं, बल्कि विपत्तियों को समभाव से सहकर पार करने के बाद उसकी प्रतिभा में चार चाँद लग जाते हैं, जिसके बल पर उसे और अधिक तेजी के साथ आत्मविकास करने का अवसर मिल जाता है।

इसलिए व्यक्ति को आत्मिक विकास के लिए सद्गुणों की जड़ें सींचनी चाहिए तभी उसका जीवनरूपी वटवृक्ष सुविकसित और विशाल बन सकेगा।

सद्गुणों की सम्पत्ति : साधक का पुरुषार्थ

प्रश्न होता है कि सद्गुणों की सम्पत्ति कैसे प्राप्त होगी ? क्या कोई इष्टदेव, भगवान् या ईश्वर हमें सद्गुणों की सम्पत्ति प्राप्त करा देगा? अथवा किसी और शक्ति की कृपा से सद्गुण प्राप्त हो जाएँगे ? जहाँ तक जैनसिद्धान्त का प्रश्न है, जैनसिद्धान्त परमात्मा को अवश्य मानता है, वीतराग भगवान को भी मानता है, उनके आदर्श को प्रत्येक जैन साधक दृष्टिगत रखता है, किन्तु वे उसे सद्गुण प्राप्त करा देंगे, वे उसका आत्म-विकास कर देंगे, यह अपेक्षा नहीं रखता। सद्गुणों की सम्पत्ति साधक को अपने ही बलबूते पर प्राप्त हो सकती है। अपने ही प्रयत्न से, अपने ही अभ्यास से सद्गुणों की वृद्धि हो सकती है। सद्गुणों की शक्ति और विशेषताओं से अपने आपको साधक सुसज्जित करने का प्रयत्न करे। जैसे समस्त पदार्थों का आधार आकाश है, वैसे ही समस्त सद्गुणों का आधार सामायिक है। क्योंकि सामायिक से रहित चारित्रादि गुणान्वित नहीं हो सकते।[1]

---

१ सामायिकं गुणानामाधारः खमिव सर्वभावानाम्।
न हि सामायिकहीनाश्चरणगुणान्विता येन॥ —अनुयोगवृत्ति

अतः सामायिक-साधनापरायण होने के लिए साधक को अपने अन्दर सद्गुणों के जितने बीजांकुर दिखाई दें, जो अच्छाइयाँ और सत्प्रवृत्तियाँ नजर आएँ, उन्हें खोजते रहना चाहिए। उन्हें सींचने और बढ़ाने में लग जाना चाहिए। इस प्रकार साधक को सद्गुणों के विकास के लिए उन्हीं के सम्बन्ध में सोचना, वैसा ही पढ़ना, वैसा ही बोलना चाहिए, जो सद्गुणों की वृद्धि में सहायक हो। दुर्गुणों के चिन्तन, वातावरण, कथन, पठन-पाठन, लेखन से दूर रहना चाहिए। तभी सद्गुणों की वृद्धि, सुरक्षा एवं विकास हो सकेगा।

त्यागवृत्ति टिकाने के लिए सामायिकव्रत

गृहस्थ श्रावक ने पाँच अणुव्रत और उन्हें परिपुष्ट करने वाले तीन गुणव्रत तो स्वीकार कर लिये हैं, और उनका पालन भी अपनी शक्ति के आधार पर वह कर रहा है। अर्थात् पाँच मूलव्रतों को सिंचन करके जीवनरूपी वटवृक्ष को हरा-भरा, पुष्पितफलित, छायावान तथा रमणीय रखने के लिए तीन गुणव्रतों तक को स्वीकार कर लिया। परन्तु अभी तक उसने प्रायः शरीर, मन एवं वचन से सम्बन्धित व्रतों को स्वीकार किया। क्योंकि श्रावक जो भी व्रत स्वीकार करता है, वह सर्वांशरूप से नहीं, एकांशरूप से करता है। इन आठ व्रतों से वह इतनी योग्यता सम्पादन कर लेता है कि पाँच अणुव्रतों को स्वीकार करके उसने हिंसा आदि आस्रवों का आंशिक रूप से त्याग किया, महापाप का त्याग किया। भौतिक वस्तुओं में आनन्द मानना छोड़कर जीवन-निर्वाह के लिए सीमित पदार्थों का उपभोग-परिभोग स्वीकार किया, क्षेत्र मर्यादित किया, उनमें भी निरर्थक हिंसादि का त्याग किया, अपनी आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित कर लीं। श्रावक इस प्रकार की त्यागवृत्ति आठव्रतों द्वारा प्राप्त कर लेता है। लेकिन यह त्यागवृत्ति तभी टिक सकती है, जब श्रावक आध्यात्मिक आनन्द से ओत-प्रोत हो, आत्मस्वरूप का उसे भान हो जाय और वह उसी में अधिकतर मग्न रहने का प्रयत्न करे, आत्मा-अनात्मा (चेतन और जड़) का भेदविज्ञान हो, आत्मा के निजी गुणों का तथा पदार्थों से आत्मा की भिन्नता का संस्कार परिपक्व हो जाय। अन्यथा, उसके द्वारा अभी तक प्राप्त त्यागवृत्ति टिकेगी नहीं। वैराग्य के बिना, त्याग में स्थिरता नहीं आती। इसी दृष्टिकोण से शास्त्रकारों ने सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास एवं अतिथि संविभाग, इन चार शिक्षाव्रतों का विधान किया, जिनसे श्रावक आत्मस्वरूप का भान जागृत रख सके, भेदविज्ञान को भी स्थायित्व प्रदान कर सके। इन चारों व्रतों का जितना अधिक अभ्यास किया जाएगा, उतना ही श्रावक-जीवन व्यापक एवं प्रशस्त बनेगा, पूर्वोक्त आठ व्रतों में उत्तरोत्तर शुद्धता आएगी।

अतः त्यागवृत्ति को टिकाने के लिए सर्वप्रथम सामायिकव्रत का अभ्यास करना आवश्यक है। सामायिकव्रत की आवश्यकता और भी कुछ युक्तियों और तर्कों से सिद्ध होती है।

सामायिकव्रत का स्वीकार न करने पर....

सामायिकव्रत का स्वीकार न करने पर श्रावक को अपने जीवन के लक्ष्य का भान होगा नहीं। वह उघर अंधाधुंध त्याग तो करता रहेगा, किन्तु त्याग में विवेक नहीं रहेगा, आत्मस्वरूप का भान न होने के कारण सांसारिक उलझनें तथा झंझटें उपस्थित होने पर वह अपना सन्तुलन खो बैठेगा। प्रत्येक कार्य करेगा, उसमें चित्त की स्थिरता नहीं होगी। आत्मा-अनात्मा का भेदविज्ञान न होने से उसे त्याग का अहंकार ले डूबेगा, त्याग के साथ फलासक्ति का विष उसकी की-कराई व्रताराधना को विषाक्त बना देगा, स्थूल रूप से त्याग करने के बाद भी साधक को त्याग का आनन्द नहीं आएगा, वह उस त्याग के द्वारा स्वयं प्रसिद्ध होकर दूसरों के सामने अपनी त्याग-वृत्ति का विज्ञापन करता रहेगा। वह त्याग के साथ परलोक की सौदेबाजी करने को तैयार होगा, अथवा इहलौकिक कामना या प्रसिद्धि के चक्कर में पड़ेगा। अथवा इस त्याग के कारण अभिमानाविष्ट होकर दूसरों को नीचा दिखाने या बदनाम करने और स्वयं को उत्कृष्ट बताने का प्रयत्न करेगा। आत्मा-अनात्मा का भेदविज्ञान या आत्मस्वरूप का ज्ञान जीवन में संस्कारबद्ध न होने से उसकी सबसे पहली शिकायत यह रहेगी कि मैं तो बहुत चाहता हूँ चित्त को एकाग्र एवं स्थिर करना, परन्तु आत्मस्वरूप में न टिककर बार-बार वह भटक जाता है। दूसरों के प्रति उसके मन में उदारता नहीं होती, अपने स्वार्थ या लोभ के वशीभूत होकर वह कभी-कभी दूसरों के प्रति द्वेष या रोष ले आता है। मनोज्ञ दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, आस्वाद्य आदि पदार्थों को देख-कर राग, मोह और आसक्ति होगी। अमनोज्ञ या अनिष्ट पदार्थों के प्रति द्वेष, घृणा या रोष करेगा, इष्ट पदार्थों, परिस्थितियों या व्यक्तियों आदि का वियोग तथा अनिष्ट पदार्थों के संयोग को देखकर दुःखित व्यथित होगा। अपने पर संकट, व्यापार में घाटा, या और कोई विपत्ति आ पड़ने पर आपे से बाहर हो जाएगा, अपना सन्तुलन बिगाड़ लेगा। रोग या अन्य किसी पीड़ा के होने पर मनःस्थिति खराब हो जाएगी। किसी अभीष्ट कार्य में सफलता न मिलने पर खिन्न, उदास एवं निराश हो जाएगा। परीक्षा में फेल होने पर, चोरी हो जाने पर मन में आर्तध्यान करेगा या रुदन या विलाप करेगा। लड़की बड़ी हो जाने पर शादी की चिन्ता, लड़का आवारागर्द हो जाने पर उसकी चिन्ता, यों अनेक समस्याएँ उसके मन को अशान्त बना डालेगी। इस प्रकार साधक की शिकायत यही रहती है कि क्या करें, किसी धर्म-पुण्य कार्य में मन नहीं लगता, बुराइयाँ छोड़ने की इच्छा बहुत होती है, लेकिन छूटती नहीं। यों व्रतधारी श्रावक पूर्वोक्त आठ व्रतों के स्वीकार करने के बावजूद भी कर्मबन्धन को तोड़ने के बजाय बात-बात में नये-नये कर्मबन्धन करता रहता है, पद-पद पर कर्मबन्धन एक या दूसरे प्रकार से होता रहता है। इतने प्रचुर साधन, धन, विद्या, बुद्धि, शारीरिक बल आदि के होते हुए भी साधक दुःखी होता रहता है, बेचैन है, लोभ, स्वार्थ, तृष्णा आदि से परेशान है। एक अमुक वस्तु के अभाव में दुःख से पीड़ित हो उठता है, वह उच्च शिक्षा-सम्पन्न, अच्छे पद पर प्रतिष्ठित होकर भी भूला-भटका-सा दिखाई

देता है। विद्वान्, व्यापारी, नेता, पण्डित, उच्चपद पर आसीन लोग जीवन-निर्वाह की पर्याप्त सामग्री होते हुए भी उद्विग्न एवं अशान्त मालूम होते हैं। सभी उसी एक ही प्रश्न के समाधान के लिए परेशान दिखाई देते हैं। अधिकांश लोगों की एक ही शिकायत है—संघर्ष, अभाव, दुःख, विपत्ति, क्लेश, अशान्ति और परेशानी। नीचे से लेकर ऊपर तक अधिकांश व्यक्ति इसी प्रश्न के पीछे परेशान हैं। वे तरह-तरह के प्रयत्न करते हैं, फिर भी इसका समाधान नहीं मिलता।

जीवन के प्रश्नों का समाधान : सामायिक साधना में

वस्तुतः जीवन के इस प्रश्न का समाधान बाहरी सफलताओं में बाह्य वैभव में ढूँढ़ने से नहीं मिलता। इसका समाधान मनुष्य के अपने अन्तर में है। मनुष्य की बुद्धि एवं भौतिक विद्या में वृद्धि हुई है, लेकिन हृदय अभी तक संकीर्ण बना हुआ है। रजोगुणी बुद्धि के बल पर व्यापार, शिक्षा, पाण्डित्य, विद्वत्ता, उच्चपद या जीवन की अन्य सभी प्रकार की सफलताएँ मिल सकती हैं, किन्तु हृदय की व्यापकता एवं विशालता तथा आत्मा के निजी गुणों एवं शक्तियों की अभिव्यक्ति के अभाव में ये सब सफलताओं के बड़े-बड़े महल उसी तरह डरावने और अटपटे लगते हैं, जैसे सुनसान अँधेरे भवन और किले। आत्मस्वरूप के भान एवं आत्मशक्ति के विकास के अभाव में मनुष्य की समस्त समृद्धि, विद्वत्ता, बड़प्पन एवं उच्चपद के भयावने भूत उसे ही खाने को दौड़ते हैं।

तीर्थंकर भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध को इन्हीं भूतों का सामना करना पड़ा। वे राजपुत्र थे, अतुल सम्पत्ति थी, सुन्दर और भव्य भवन थे, मन बहलाने के बड़े-बड़े साधन थे, और सभी कुछ थे। किन्तु उन्हें ये सब अटपटे लगे। आत्मप्रसाद, शान्ति, आनन्द, समाधान एवं सन्तोष उनको इस समृद्धि और राजमहलों में नहीं मिला। वैभव के अम्बार पर बैठकर उन्होंने शान्ति के सूर्य के दर्शन नहीं किये। वे इन सब वैभव-विलास के साधनों को छोड़कर[1] जीवन के व्यापक मैदान में आए। समस्त साधन, सम्पत्ति और सम्बन्धों के ममत्व को तोड़कर आत्मविकास के उज्ज्वल पथ पर आगे बढ़े।

प्रश्न होता है, वह कौन-सा उज्ज्वल पथ है, जिस पर चलकर[2] तीर्थंकरों ने

---

१ उत्तराध्ययनसूत्र इस बात का साक्षी है—

चेच्चा दुपयं च चउप्पयं च,
खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
सकम्मबीओ अवसो पयाइ,
परं भवं सुन्दर-पावगं वा॥ —उत्त० अ० १३।२४

२ चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
सन्ती संतिकरे लोए पत्तो गइमणुत्तरं॥ —उत्त० अ० १८।३८

पूर्ण आत्मिक विकास प्राप्त किया, अनन्त सुख-शान्ति, असीम ज्ञान, असीम दर्शन और परम मुक्ति प्राप्त की, जीवन का सर्वोच्च पद प्राप्त किया, कृतकृत्य हुए ?

वह साधना, वह व्रत, वह अभ्यास एकमात्र सामायिक ही है, जिसके बल पर आत्मा इन समस्त पूर्वोक्त समस्याओं और प्रश्नों को समाहित करके विशुद्ध बनकर लोकालोक प्रकाशक पूर्ण आत्मविकासरूप केवलज्ञान और सर्वकर्मक्षयपूर्वक मोक्ष प्राप्त करता है। एक जैनाचार्य कहते हैं—

"सामायिक विशुद्धात्मा सर्वथाघातिकर्मणः।
क्षयात् केवलमाप्नोति, लोकालोकप्रकाशकम् ॥"

—सामायिक से विशुद्ध हुआ आत्मा ज्ञानावरणीय आदि चार घातिकर्मों का सर्वथा—पूर्णरूपेण क्षय करके लोकालोकप्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

"जे केवि गया मोक्खं, जे वि य गच्छंति जे गमिस्संति।
ते सव्वे सामाइय-पभावेण मुणेयव्वं ॥"

—जो भी साधक भूतकाल में मोक्ष गए है, वर्तमान में जो मोक्ष जा रहे हैं और भविष्य में जो मोक्ष जाएँगे, समझना चाहिए, वे सब सामायिक के प्रभाव से ही गये हैं, जा रहे हैं, या जाएँगे।

[1]सामायिक के बिना चाहे कोई कितना ही तपश्चरण कर ले, कितने ही कष्ट सह ले, कितने ही जप कर ले, मुनिवेष धारण करके स्थूलक्रियाकाण्डरूप चारित्र भी पाल ले, किन्तु समभाव रूप सामायिक के बिना न कोई कृतकृत्य हुआ है, और न ही किसी को मुक्ति प्राप्त हुई है; और न ही होगी।

वस्तुतः चिन्ता, शोक, दुःख, विपत्ति, अभाव के निवारण के लिए मनुष्य कितना ही धन, वैभव, सुख-साधन जुटा ले, भौतिक विद्याएँ कितनी ही पढ़ लें, बौद्धिक विकास करके चाहे जितने वैज्ञानिक आविष्कार कर ले, जल-स्थल-नभ सब पर अपना आधिपत्य जमा ले, इन सबसे ऊपर उठकर चाहे जितने वेष धारण कर ले, कान फड़ा ले, जटा धारण कर ले, मस्तक मुंडा ले, कितने ही रजोहरण, पात्र आदि उपकरण रख ले, श्वेत वस्त्र पहन ले, दिगम्बर (निर्वस्त्र) हो जाय, जब तक हृदय में समभाव का उदय न होगा, तब तक न तो चिन्ता, शोक आदि समस्याओं का निवारण होगा, और न ही आत्मस्थिरता होगी और न मोक्ष होगा। इसीलिए एक आचार्य की अन्तर्वाणी फूट पड़ी—

"सेयंबरो य आसंबरो य, बुद्धो व तहव अन्नो य।
समभावभावियप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो।"

—चाहे कोई श्वेताम्बर हो, चाहे दिगम्बर, चाहे बुद्ध हो या और किसी वेष

---

१ किं तिव्वेण तवेणं, किं च जवेणं, किं चरित्तेण।
समयाइ विण मुक्खो, न हु हुओ कहवि, नहु होइ ॥

का साधक हो, जिसकी आत्मा समभाव से वापिस होगी, वह निःसन्देह मोक्ष को प्राप्त कर लेगा।

सामायिक की साधना स्वीकार करने पर और बार-बार उसका अभ्यास करने पर साधक का चित्त एकाग्र होने लगेगा, फिर चित्त स्थिर न होने की उसकी शिकायत नहीं रहेगी। उसका अन्तःकरण आत्मविश्वास में स्थिर होने लगेगा। दूसरों के प्रति उसके मन में आत्मौपम्य भावना जगेगी। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि विकार उपशान्त होने लगेंगे। वह इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग अथवा इष्ट की अप्राप्ति और अनिष्ट की प्राप्ति में निराश, खिन्न या उदास न होकर सम रहेगा, हानि-लाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा आदि प्रसंगों में मध्यस्थ रहेगा, सावद्य प्रवृत्तियों (बुराइयों) से उसका मन हटकर निरवद्य प्रवृत्तियों में स्वाभाविक रूप से लीन हो जाएगा। विपत्ति, कष्ट एवं दुःख आ पड़ने पर वह घबराएगा नहीं, चिन्तित नहीं होगा, बेचैन नहीं होगा, अपितु समताभाव में स्थिर होकर शान्त, निश्चल एवं अनुद्विग्न रहेगा। भोगों के प्रचुर साधन होते हुए भी पहले जहाँ वह अशान्त एवं उद्विग्न रहता था, अब सामायिक के स्वीकार करने पर वह भोगों के प्रति अनासक्त, भोग्य पदार्थों के प्रति निर्लेप एवं निरपेक्ष रहेगा; आत्मस्वरूप में रमण करने पर उसके मन में इन भोगों की चाह भी नहीं जगेगी, न भोगों की कोई तृष्णा रहेगी। सामायिकव्रतधारी के द्वारा प्रतिदिन समत्व का अभ्यास परिपक्व हो जाने पर, समता के संस्कार अन्तःकरण में बद्धमूल हो जाने पर गृहस्थजीवन में कोई उलझन आएगी, झंझट पैदा होगी, या कोई समस्या खड़ी होगी तो उसका समाधान मिनटों में वह कर लेगा, वह ऐसे विकट प्रसंगों में भी सम रहेगा, विषम परिस्थितियों में भी शान्ति के महासागर में गोते लगाता रहेगा, तथाकथित विद्रोहियों, विरोधियों या शत्रुओं द्वारा प्रहार किये जाने, आक्षेप किये जाने, दोषारोपण किये जाने या बदनाम किये जाने पर भी सामायिक का आराधक अपने समभाव से विचलित न होगा, समता की अपनी लक्ष्मण-रेखा से एक इंच भी इधर-उधर न होगा, वह अपना सन्तुलन नहीं खोएगा, वह आवेश में आकर अपनी चित्तस्थिरता को नहीं छोड़ेगा; वह साम्यभाव का अवलम्बन लेकर आत्मभावों के चिन्तन में लीन रहेगा। अनिष्ट का संयोग हो या इष्ट का वियोग हो, भवन हो या वन हो, दुःख हो या सुख, शत्रु हो या मित्र, अथवा विरोधी हो या समर्थक, परजन हो या स्वजन सामायिकव्रती का मन संसार की समस्त ममत्व बुद्धि से दूर रहकर सदा राग-द्वेष की परिणति को छोड़कर समभाव में स्थिर रहेगा। उत्कृष्ट समभावी वीतराग प्रभु से उसकी इसी प्रकार की समभाव में स्थित रहने की प्रार्थना होगी।[1]

---

१ दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृताशेष ममत्वबुद्धेः समं मनो मेऽस्तु सदाऽपि नाथ॥
—आचार्य अमितगति, सामायिक पाठ

कोई यह कह सकता है कि क्या तप, जप, क्रियाकाण्ड, देवपूजा, वीतराग-अर्चना, गुरुभक्ति से समताभाव नहीं आ सकता ? अथवा कोई व्यक्ति इन सांसारिक झंझटों में पड़े ही नहीं, एक जगह चुपचाप पड़ा रहे, न किसी से बोले, और न किसी से कोई वास्ता रखे, न व्यवहार करे तो क्या जीवन में समभाव नहीं आ सकता ? अथवा कोई समभाव का मंत्र लेकर या सामायिक का पाठ बोलकर जीवन-व्यवहार में चाहे जैसे बरते, चाहे जैसा आचरण करे, एक जगह चुपचाप बैठकर समभाव का मंत्र जपा करे तो क्या केवल इन्हीं से जीवन में समताभाव नहीं आ सकता ?

इन और ऐसे ही प्रश्नों के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि कोरे तप, जप, क्रियाकाण्ड आदि से कदापि जीवन में समभाव नहीं आ सकता, न केवल निष्क्रिय और आलसी बनकर पड़े रहने से समभाव आ जाएगा। समभाव केवल बातों से या समभाव के मंत्र जाप करने मात्र से जीवन में आ नहीं सकता। समभाव का मंत्र लेकर या पाठ बोलकर यदि कोई जीवन-व्यवहार में आचरण समभाव के विपरीत करता है, जरा-सी भी समभाव की बूंद जीवन-व्यवहार में नहीं लाता, अनीति, अन्याय और अधर्म से युक्त जीवन-व्यवहार चलाता है, तो भला समता उसके जीवन में कैसे आ जाएगी ?

किसी के चुपचाप निष्क्रिय बनकर बैठ जाने से तो जीवन की समस्या हल नहीं होगी, वह तो और भी उलझती जाएगी। यह नहीं हो सकता कि संसार के सभी लोग उस व्यक्ति के अनुकूल और भक्त बन जाएँ, जिस समय दूसरे लोग उस पर आक्रमण करेंगे, उसकी निन्दा करेंगे, अपमान करेंगे, उस समय समभाव के अभ्यास के बिना वह कैसे चुपचाप निष्क्रिय बैठ समता का आचरण कर सकेगा ? समता के सम्यक् अभ्यास के बिना उसमें किसी प्रकार की प्रतिक्रिया या रागद्वेष की परिणति अथवा वैकारिक हल-चल न हो, ऐसा सम्भव नहीं है। कोई व्यक्ति यदि चुपचाप निष्क्रिय होकर एक कोने में बैठ जाए तो क्या कठिनाइयों, दुखों और विपत्तियों से वह बचा रह सकता है ? वे तो आएँगी ही। ऐसा कोई भी व्यक्ति संसार में नहीं हुआ, जिस पर कदापि किसी प्रकार की विपत्ति, मुसीबत, कठिनाई, दुःख या पीड़ा आई ही न हो। उनका आना अवश्यम्भावी है। तब क्या निष्क्रिय और चुपचाप बैठने वाला असमभावी व्यक्ति उनसे छुटकारा पा सकता है ? क्या वह उन विपत्तियों के समय शान्त, अनुद्विग्न और निश्चल रह सकता है ? विपत्तियों से बचकर, लुक-छिपकर, पीछा छुड़ा कर या किसी अधिकारी को रिश्वत आदि देकर कोई थोड़े समय के लिए क्षणिक या आंशिक सफलता भले ही प्राप्त कर ले, किन्तु शान्त, अनुद्विग्न और निश्चल रहने के लिए व्यक्ति का समभाव से अभ्यस्त होना आवश्यक है। कई लोग सोचा करते हैं, जैसा हम सोचते हैं, जैसा हम चाहते हैं, उसी के अनुरूप परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जायें, उसी के अनुकूल दूसरे व्यक्ति आचरण करने लगें। अपनी हर अच्छी या बुरी आकांक्षा को वे पूर्ण हुई देखना चाहते हैं,

परन्तु यह आकांक्षा भी उसी प्रकार असफल रहने वाली है, जैसी कठिनाइयों से पूर्ण सुरक्षित रहने की कामना। परन्तु क्या कभी ऐसा होना सम्भव है ? कदापि नहीं। स्वयं को अप्रिय, प्रतिकूल और दुःखद लगने वाली, कठिनाइयों को बढ़ाने वाली समस्याएँ किस प्रकार अपने अनुकूल बनाई जायें ? यह जीवन-विज्ञान का एक ज्वलन्त प्रश्न है। दूसरे व्यक्ति या पदार्थ अपने ढंग के बने होते हैं, वे इच्छामात्र से अपने अनुकूल कहाँ बन पाते हैं ? यह सोचना ही गलत है कि किसी भी प्रकार से हमें जिन्दगी भर समस्याओं से छुटकारा मिल जाएगा। उलझनों से रहित जीवन की व्यवस्था इस सृष्टि में नहीं हुई है। इसलिए उससे बचे रहने की कल्पना न करके, यह सोचना चाहिए कि आए दिन उपस्थित होने वाली समस्याओं को सुलझाने का सही तरीका क्या है ? उसे जाने। रास्ते में दूर-दूर तक बिखरे हुए समस्त काँटों को बुहारने-झाड़ने का दुःसाध्य पराक्रम करने की अपेक्षा विवेकी पुरुष पैरों में जूते पहन-कर उन काँटों से सहज ही अपना बचाव कर लेता है। इसी प्रकार अपने पास उलझनों को सुलझाने का यदि सही सन्तुलित दृष्टिकोण और तदनुसार समता का यथार्थ अभ्यास मौजूद हो तो भयंकर और कठिन दिखाई देने वाली समस्याएँ भी बात की बात में सुलझती चली जाती हैं। परिस्थितियाँ अपने अनुकूल बनें, यह सोचते रहने की अपेक्षा परिस्थितियों को अनुकूल बनाने के लिए साम्ययोग की दृष्टि और तदनुसार प्रयत्न होना चाहिए। दूसरा व्यक्ति हमारे अनुकूल ही अपना स्वभाव बदल दे और जैसा हम चाहते हैं, वैसा ही चले, यह सोचने की अपेक्षा, यह सोचना अधिक युक्तिसंगत है कि हम अपने में ऐसी विशेष दृष्टि और पुरुषार्थ उत्पन्न करें, जिससे प्रतिकूल व्यक्ति की प्रतिकूलता किस अपेक्षा से है, यह जानकर प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदल लें। वास्तव में प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलने के लिए अपने भीतर कुछ ऐसी समत्वयुक्त विशेषताएँ होनी चाहिए, जिससे प्रतिपक्षी परि-स्थितियाँ बहुत हद तक अनुकूल बन जाएँ। लुहार अपनी भट्टी में लोहे के टूटे-फूटे टुकड़े डालकर उन्हें नरम बनाता है और उनसे अपनी इच्छित वस्तु बना लेता है। इसी तरह समत्वयोगी श्रावक के भीतर भी ऐसी विशेषता होनी चाहिए, जिससे विपन्नता सम्पन्नता में बदल सके।

इस समत्वयोग (सामायिक) से जीवन जीने की कला प्राप्त होती है। इसमें मुख्यतया दो प्रकार का प्रशिक्षण होता है—(१) दूसरों की प्रतिकूलता को अनुकूलता में परिवर्तित करने की शक्ति, (२) समागत प्रतिकूलता को हँसते-खेलते सहन कर लेने की क्षमता। यह शक्ति और क्षमता जिसमें जितनी विकसित होगी वह जीवन संग्राम में उतना ही सफल रहेगा। इस बेढंगे और चित्र-विचित्र संसार में भी उसकी गाड़ी ठीक उसी तरह चलती रहेगी, जैसे फौजी टैंक ऊबड़-खाबड़ भूमि-रास्तों को पार करते हुए अपने लक्ष्य (गन्तव्य) तक जा पहुँचते हैं। जब कठिनाइयों का आते रहना स्वाभा-विक है, और परिस्थितियों का प्रतिकूल रहना भी स्वाभाविक है तो यह भी आवश्यक है कि गृहस्थ श्रावक प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलने की शक्ति और क्षमता भी

उत्पन्न करे। सामायिक के दैनिक अभ्यास और प्रशिक्षण से ये दोनों गुण साधक में आ जाते हैं।

यह तो आप जानते ही है कि यह संसार समरस नहीं है। यहाँ शीत भी है तो उष्णता भी है, दिन भी है तो रात भी, जन्म का सम्बन्ध मृत्यु के साथ सदैव से चला आ रहा है। एक-सी परिस्थिति कहीं भी दिखाई नहीं देती। प्रत्येक परिस्थिति का विपरीत भाव अवश्य दिखाई देता है। सुख और दुःख दोनों का जोड़ा है। यहाँ सर्वत्र न सुख है, न दुःख।

कहते हैं, विपत्ति जब आती है तो अकेली नहीं आती, वह स-दलबल आती है। एक कठिनाई से मनुष्य छूटता है कि दूसरी आ धमकती है। स्वास्थ्य ठीक हुआ नहीं कि व्यापार में घाटा लग गया। कर्ज पूरा किये दो दिन ही हुए थे कि किसी परिजन की मृत्यु हो गई। पानी की लहरों के समान एक पर एक मुसीबतें दौड़ी चली आती है। ऐसे समय में जो सामायिक का प्रशिक्षण नहीं लिये हुए हैं, उनके हाथ-पैर ठंडे हो जाते हैं, बुद्धि काम नहीं देती, पैर लड़खड़ा जाते हैं। प्रतिक्षण आशंका रहती है कि फिर कोई नई मुसीबत खड़ी न हो जाए। इस दुश्चिन्ता के मारे रात-दिन परेशान रहते है।

मनुष्य की अनेक इच्छाएँ होती हैं—स्वस्थ शरीर की, प्रचुर धन की, सुन्दर सुशील पत्नी की, आज्ञाकारी विनयी पुत्रों की। वह अनेक कामनाएँ करता है, परन्तु परिस्थितियाँ प्रतिरोध करती हैं, जिससे उसके सुखभोग एवं तृप्ति में बाधा पड़ती है। इस कारण जो सामायिक का साधक नहीं है, वह दुःख का अनुभव पद-पद पर करने लगता है। यहाँ तक कि उसे जीवन ही दुःखमय लगने लगता है। जन्म होते ही पद-पद पर मृत्यु की आशंका, धन बढ़ते ही चोरों का भय, पद बढ़ते ही औरों की ईर्ष्या, विद्वेष और मनोमालिन्य! यह क्रम चलता है, इसीलिए तो साधारण व्यक्ति को यह जीवन दुःखों का घर प्रतीत होता है। किन्तु सामायिक की तालीम पाया हुआ व्यक्ति जीवन को एक खेल समझता है। उसे जीवन केवल दुःखमय नहीं लगता वह समझता है कि जैसे बालक क्रीड़ा और विनोद के लिए, तथा भावी जीवन की तैयारी के लिए खेल खेलते हैं, ठीक वैसे ही हमें भी आत्मा का विकास करते हुए पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए जीवन का खेल खेलना है। यह क्रम तो अनादिकाल से चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। कितने ही युग बदल गए, जन्म, पालन-पोषण, विकास, संघर्ष, वृद्धावस्था, मृत्यु आदि का खेल वैसे ही चल रहा है। परिस्थितियाँ भिन्न हो सकती हैं, पात्र भिन्न हो सकते हैं, किन्तु सांसारिक खेल का तारतम्य सदैव ऐसे ही चलता रहा है, चलता रहेगा। फिर सुख-प्राप्ति के क्षणों में मदान्ध हो उठना और दुःख के क्षणों में बेतरह छाती पीटना, कौन इसे बुद्धिमत्ता का कार्य कहेगा? इस प्रकार सुख में फूलने और दुःख में तड़पने से तो कर्मबन्धन का सिलसिला बढ़ता जाएगा। सामायिक का अभ्यासी व्यक्ति भी इन्हीं परिस्थितियों में रहकर

जीवन जीता है, पर वह जीवन को खेल की तरह खेलता है। वह खिलाड़ी की भावना रखकर जीवन के मैदान में खेलता है। खेल के मैदान में विजय की आकांक्षा प्रत्येक खिलाड़ी को रहती है। हर कोई गौरव और प्रशंसा प्राप्त करना चाहता है और उसके लिए हर सम्भव पर्याप्त प्रयत्न भी करता है। इतना होते हुए भी खिलाड़ी जानता है कि यह सब आखिर खेल ही तो है। खेल की हार-जीत कोई बड़ा महत्व नहीं रखती। खेल के मैदान से बाहर निकलते ही हारे और जीते, दोनों खिलाड़ी पक्ष-विपक्ष की हार-जीत की भावना को भूल जाते हैं और प्रेम तथा आनन्द के साथ आगे का कार्य फिर साधारण रीति से करने लगते हैं।

जिंदगी का खेल भी हॉकी, फुटबाल, शतरंज आदि के खेलों की तरह है। शतरंज के खिलाड़ियों के ऊँट, हाथी, प्यादा, शाह आदि क्षण-क्षण में मरते-जीते रहते हैं, पर खिलाड़ियों को इस हानि-लाभ से हलकी-सी मुस्कराहट मात्र आती है। वे इसे बहुत महत्व नहीं देते। जो खेल की हार-जीत को ज्यादा महत्व दे देते हैं, वे नासमझ खिलाड़ी अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठते हैं। जरा-सी हार-जीत को बहुत अधिक तूल देकर आपस में लड़ने-मरने और शत्रुता बाँधने को तैयार हो जाते हैं। इसी प्रकार जो सामायिक (समत्वयोग) की दृष्टि से जीना नहीं जानते, वे छोटी-छोटी बातों को बहुत अधिक महत्व दे देते हैं और फिर चिन्ता, भय, विक्षोभ, आशंका, और निराशा में ही डूबे रहते हैं। परन्तु सामायिक का अभ्यासी स्वयं को जीवन-खेल का खिलाड़ी समझकर सारे संसार को एक क्रीड़ा-स्थल समझकर सावधानीपूर्वक जीवन का खेल खेलता है। वह दुःख आपत्ति आदि को अधिक महत्व नहीं देता और हँसी-खुशी के साथ मानसिक सन्तुलन रखता हुआ उन्हें पार कर देता है।

आपने देखा होगा कि नाटक के पर्दे बार-बार बदलते हैं। उसमें काम करने वाले अभिनेताओं को कई बार वेष बदलने और कई-कई प्रकार के अभिनय करने पड़ते हैं। जो अभिनेता कुछ ही समय पहले राजा का पार्ट राजसी ठाठ-बाठ के साथ, बड़े गौरव, रौब और शान के साथ अदा कर रहा है, थोड़ी देर बाद उसे भिखारी का पार्ट अदा करना पड़ता है। वैसी ही फटी-टूटी पोशाक पहनकर दीनता भरे शब्दों में वह याचना करता है। कभी उसे जनानी पोशाक पहनकर नारी की तरह अपने को प्रस्तुत करना पड़ता है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति अनेक प्रकार के अभिनय करता है, परन्तु मन में वह इस परिवर्तन का प्रभाव ग्रहण नहीं करता। न तो उसे राजा बनते समय कोई हर्षातिरेक होता है, और न भिखारी बनते हुए दुःख होता है। नारी के अभिनय में भी उसे लज्जा या संकोच का अनुभव नहीं होता। क्योंकि वह जानता है कि यह सब खेल-खेल में हो रहा है। नाटक में जो अभिनय करना पड़ता है, वह तो एक दिखावामात्र है। मैं तो नाटक कंपनी का सिर्फ एक छोटा-सा नौकर हूँ, जिसे इस प्रकार कार्य करके जीवन निर्वाह की व्यवस्था करनी पड़ती है।

अभिनेता अपने अभिनय से खिन्न अथवा उद्विग्न नहीं होता। और न ही दर्शकों

को उद्विग्नता या खिन्नता होती है। इसी प्रकार समत्वयोग का अभ्यासी जीवन के नाटक का खिलाड़ी भी विभिन्न अवस्थाओं में अपना कर्त्तव्य अदा करते समय हर्ष-शोक नहीं करता, वह तटस्थ रहता है, विपन्नता हो या सम्पन्नता, समभावपूर्वक वह अपना पार्ट अदा करता है। जिसने समत्वयोग का महत्त्व पूर्ण सिद्धान्त समझ और सीख लिया, उसके लिए चिन्तित और उदास बनाने वाली कोई भी परिस्थिति इस दुनियाँ में नहीं रह पाती।

जीवन एक स्वप्न है। स्वप्न में मनुष्य कभी अपने आपको राजा के रूप में देखता है, कभी भिखारी के रूप में। उस समय उसकी मानसिक चेष्टाएँ भी उस समय की अवस्था के अनुरूप होती हैं। सुख-दुःख, मिलन-बिछोह, हँसने-रोने की अनुभूति जागृत में होने वाली क्रियाओं जैसी ही सत्य प्रतीत होती है, पर जैसे ही नींद टूटती है, पिछले स्वप्न की गतिविधियों की स्मृति मात्र रह जाती है तथा स्वप्न में दृष्ट वस्तुओं या दृश्यों को जागरण के समय वह सत्य नहीं मानता। जो व्यक्ति स्वप्न में देखी हुई परिस्थितियों को जागरण के समय भी सत्य मानकर उनसे हर्षित या दुःखित होता है, वह मूढात्मा जीने की कला नहीं समझता, उसी प्रकार जो व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों को स्वप्नवत् न मानकर उन्हें सत्य मान लेता है, वह व्यक्ति भी हर्षित या दुःखित होता रहता है। किन्तु जो व्यक्ति सामायिकव्रत का अभ्यासी है, वह स्वप्न को सत्य नहीं मानकर मिलन-बिछोह, हँसने-रोने, विपत्ति-सम्पत्ति आदि को सुख-दुःख रूप नहीं समझता, न हर्ष शोक करता है।

जीवन एक महान् यात्रा है। रास्ते में चलते समय यात्री को कभी साफ सड़क तो कभी कंटीले-पथरीले जंगल पार करने पड़ते हैं। कहीं पहाड़ चढ़ने पड़ते हैं तो कहीं नदियाँ लांघनी पड़ती हैं, परन्तु रास्ते की थकान से घबड़ाकर वह ठिठक कर नहीं बैठता। जीवन यात्रा का सच्चा यात्री भी समभाव का पाथेय लेकर चलता है, वह भी जीवन के उतार-चढावों के समय आने वाले सुखों और दुःखों की पथ की धूप-छाया समझे। न तो सुखों में आसक्त हो, और न ही दुःखों में द्वेष रोष करे या घबराए। परन्तु समताभाव से अनभ्यस्त व्यक्ति जीवन यात्रा के पथ में पड़ने वाले सुखों की छाया में ही विश्राम करने के लिए उत्सुक हो जाएगा, वहीं जमकर बैठ जाएगा, आसक्त हो जाएगा और दुःखों के समय रोष-द्वेष करने लगेगा, निमित्तों पर दोषारोपण करके उनको भला-बुरा कहता रहेगा, कोसता रहेगा। यह बुद्धिमानी नहीं है। बुद्धिमानी इसी में है कि सामायिकव्रती श्रावक सुखों के समय राग और दुःखों के समय द्वेष न करके समभाव की पगडंडी पर निराबाध चलता रहे, अपने लक्ष्य—वीतरागता—के प्रति लगन और तत्परता बनाए रखे। ऐसा समभावी साधक देर-सबेर मंजिल तक अवश्य पहुँच सकता है।

जीवन एक संग्राम है। यह संग्राम ऐसा है कि इसमें कायरों को भी लड़ना पड़ता है और शूरवीरों को भी। यह प्रतिदिन का संग्राम है। जो व्यक्ति डरपोक या

कायर है, क्या उसके जीवन में संघर्ष नहीं आएँगे ? समस्याएँ नहीं आयेंगी ? संघर्ष और समस्याएँ—दोनों का आवागमन अवश्यम्भावी है। कठिनाइयाँ, दुःख, मुसीबतें आदि ऐसे ही शत्रु हैं, जिनसे संघर्ष करना आवश्यक है, इनसे पिंड छुड़ाना कठिन है। जब ये आएँगी ही तब इनके साथ समत्वयोग का अभ्यासी (सामायिकव्रती) वीर योद्धा की तरह लड़ता है। परन्तु जो सामायिकव्रत से अनभिज्ञ होते हैं, वे समत्वयोग रूपी शस्त्र उठाने से भी काँपते हैं, वे साहसपूर्वक उन संघर्षों या समस्याओं से जूझ नहीं सकते, क्योंकि उनके पास न तो समभाव का शस्त्र है और न ही सामायिकव्रत की विद्या प्राप्त है। इसलिए जीवन-संग्राम में ऐसे कायर व्यक्ति परास्त हो जाते हैं, दुःख, कठिनाइयों एवं विपत्तियों आदि से घबराकर उनके समक्ष हथियार डाल देते हैं, लेकिन समत्वविद्या में पारंगत सामायिकव्रती साधक स्वयं जूझकर विजयी होते है, वे कभी विपत्तियों या कठिनाइयों के सामने हथियार नहीं डालते, समर्पण नहीं करते। वे रक्त की अन्तिम बूंद तक काम-क्रोधादि शत्रुओं से लड़ते हैं और उन्हें परास्त करके पूर्ण आत्म-विकास के पथ पर आगे बढ़ते हैं। शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव वस्तुओं के प्रति ममत्व से भी संघर्ष करते हैं, और उस पर विजयी बनते है।

जीवन-उद्योग में सफलता के लिए सामायिक प्रशिक्षण आवश्यक

प्रत्येक उद्योग-धंधे को चलाने से पूर्व उसके सम्बन्ध में सभी तरह की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक होता है कि उसे ठीक तरह से किस प्रकार चलाया जाय ? कल-कारखाने, खेती, व्यापार, मशीन, फैक्टरी आदि कुछ भी काम करना हो तो पहला प्रयत्न यही किया जाता है कि उसके सम्बन्ध में बारीकी से सब कुछ जानकारी और ठीक-ठीक अनुभव प्राप्त कर लें। कोई आलसी या जिद्दी व्यक्ति प्रमादवश जानकारी की उपेक्षा करके उस कार्य को प्रारम्भ कर दे तो उसे घाटा उठाना पड़ता है और अन्त में उसका कारोबार चौपट हो जाता है। कोई व्यक्ति मोटर चलाना प्रारम्भ कर दे, किन्तु उसने न तो मोटर ड्राइवरी सीखी है और न ही उसके पुर्जों की कोई जानकारी है तो वहाँ एक्सीडेंट (दुर्घटना) होने का खतरा है। हिसाब-किताब या क्रय-विक्रय के अनुभव के बिना यदि कोई व्यक्ति व्यापार शुरू कर देता है तो उसका व्यापार आगे चलकर ठप्प हो जाएगा। जिसे खेती करना नहीं आता, वह खेतों में बीज बिखेरता फिरे, इतने मात्र से अच्छी फसल की आशा कैसे रखी जा सकती है ? सेना, प्रशासन, पुलिस, रेलवे आदि सरकारी महकमों में नौकरी करने से पहले व्यक्ति को ट्रेनिंग लेना आवश्यक होता है। ट्रेनिंग के बिना यों ही अनाड़ी, अप्रशिक्षित रंगरूटों की भर्ती कर ली जाए तो उन अधिकारियों को भारी परेशानी उठानी पड़ती है। अनाड़ी, अनभिज्ञ या अप्रशिक्षित (अनट्रेण्ड) व्यक्ति जहाँ भी जाते हैं, वहाँ कोई न कोई संकट ही उत्पन्न करते हैं।

जिंदगी जीना भी एक प्रकार से भारी उद्योग को चलाना है। किसी मिल-

मालिक को जिस प्रकार छोटी से लेकर बड़ी तक अगणित समस्याओं को प्रतिदिन प्रतिक्षण सुलझाते रहना पड़ता है, उसी प्रकार मानव-जीवन में भी अगणित समस्याएँ हर घड़ी प्रस्तुत रहती हैं और उन्हें समय-समय पर सुलझाना आवश्यक होता है। यदि उन समस्याओं का सुलझाव ठीक न हुआ तो गुत्थियाँ और अधिक उलझ जाती हैं। विषम दृष्टि एवं गलत संस्कार वाले लोग जीवन-उद्योग में आने वाली मामूली समस्याओं को न तो ठीक ढंग से सुलझा पाते हैं, और न ही वे सुलझाने का उपाय दूसरों से पूछते हैं, ऐसी दशा में मूल समस्याएँ सुलझने की अपेक्षा और अधिक उलझ कर परेशानी बढ़ाती हैं। किन्तु जिसकी समत्व दृष्टि है, जो सामायिक के ज्ञान से अभ्यस्त है, समभावपूर्वक जीवन जीने की कला जानता है, वह व्यक्ति जीवन-उद्योग में आने वाली अगणित समस्याओं को यथार्थ रूप से सुलझा देता है।

ऐसा इस संसार में कदापि नहीं होता कि जीवन में कभी समस्याएँ, कठिनाइयाँ या मुसीबतें आए ही नहीं, अथवा किसी भी व्यक्ति को पूर्ण निश्चिन्तता के साथ सरल और शान्तिपूर्ण जीवनयापन करने की सुविधा मिली हो। यदि ऐसा होता तो मानवीय बुद्धि, क्षमता और शक्ति का विकास ही सम्भव न होता। समस्याएँ, कठिनाइयाँ एवं मुसीबतें जीवन में आती हैं, उस समय समभावी बुद्धि से यथार्थ रूप से उनका हल खोजना पड़ता है, और अपना रास्ता स्वयं साफ करना पड़ता है, तभी बुद्धि, कर्तृत्व क्षमता, सामर्थ्य, आत्म-शक्ति आदि का विकास होता है।

गतिशीलता के लिए सामायिक आवश्यक

फिल्म में तस्वीरें एक के बाद एक न आएँ तो सिनेमा दर्शकों का मन ही ऊब जाय। पूरे फिल्म में एक ही चित्र सामने खड़ा रहे तो उसे कौन दर्शक देखना पसन्द करेगा ? अनेक हलचल भरे दृश्य सामने आते हैं, तभी वह फिल्म दर्शक का ठीक तरह से मनोरंजन कर सकती है। इसी प्रकार इस संसार में मनुष्य के सामने एक ही तरह की सुखजनक परिस्थिति ही आती जाए तो वह आलसी, अकर्मण्य बन कर बैठ जाएगा। जब अनेक चिन्ताजनक परिस्थितियाँ सामने आती हैं, अनेक गुत्थियाँ उसके जीवन में उलझती हैं, तब वह उन परिस्थितियों और गुत्थियों को सुलझाने का पुरुषार्थ करता है। और जीवन विकास की खरी परीक्षा तो उस समय ही होती है, जब गृहस्थ साधक समभाव में स्थित होकर उन गुत्थियों को सुलझाता है, विपरीत परिस्थितियों का सामना करता है, हँसते-खेलते अनेक समस्याओं को हल करता है, अनेक संघर्षों से लोहा लेता है। अगर उसे समस्याएँ हल न करनी पड़तीं, या संघर्ष न करना पड़ता तो उसकी गतिशीलता कभी की समाप्त हो गई होती। विषम परिस्थितियों व संघर्ष का सामना करने में ही सामायिक की आवश्यकता होती है।

समत्व-योगी विपरीत परिस्थितियों में प्रसन्न

जो व्यक्ति सामायिक-साधना का अभ्यस्त होता है, वह विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में भी व्यग्र नहीं होता, वरन् धैर्य, समत्व एवं सहनशीलता का आश्रय

लेकर कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहता है । ऐसा साधक अप्राप्त पदार्थों की इच्छा नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि हमें जो कुछ मिलना उचित है, वह हमें मिल ही जाएगा । इसी प्रकार जो उसे प्राप्त है, उसमें भी वह आसक्त नहीं होता और न ही यथावसर प्राप्त का विरोध करता है कि मुझे इतना कम क्यों मिला, खराब पदार्थ क्यों मिला ? क्योंकि वह जानता है कि यह पदार्थ भी सदा नहीं रहेगा । अगर समभावी साधक का कोई इष्ट पदार्थ चला भी जाता है तो वह उसके लिए शोक नहीं करता । क्योंकि वह मानता है कि उस पदार्थ को मेरे पास इतने ही समय तक रहना था । वह भाग्य का दास बनकर नहीं, स्वामी बनकर रहता है ।

दिल्ली में एक जौहरी रहता था । वह सामायिकव्रत का अभ्यासी था । एक दिन सामायिक की साधना में बैठने से पूर्व उसने अपने गले में पहना हुआ बहुमूल्य हार उतार कर अपने कपड़ों के साथ रख दिया और आसन बिछाकर सामायिक-साधना के योग्य वस्त्र पहन कर बैठ गया । वहीं पर एक दूसरा गृहस्थ बैठा था, उसने इस जौहरी को हार उतार कर कपड़ों के साथ रखते हुए देख लिया । जौहरी श्रावक जब सामायिक की साधना में समत्वभावों में निमग्न था, तभी दूसरे गृहस्थ ने जौहरी श्रावक के कपड़ों में से वह बहुमूल्य हार निकाला और उसे वह हार बताकर कहा—"मैं आपका यह हार ले जा रहा हूँ ।" जौहरी श्रावक सामायिक में तल्लीन था, उसने आँखों से देखा तो सही, परन्तु बोला कुछ नहीं । न वह अपनी सामायिक-साधना से विचलित हुआ, न उस हार ले जाने वाले के प्रति रोष, प्रतिरोध या प्रहार करने की भावना हुई, और न ही शोर मचाकर उसे गिरफ्तार कराने की इच्छा हुई । यदि वह ऐसा करता तो उसने सामायिक ग्रहण करते समय जो सावद्ययोग का त्याग किया था, वह भंग हो जाता और सामायिक की साधना चौपट हो जाती । जौहरी श्रावक अपने समभाव पर दृढ़ था, बहुमूल्य हार जाने पर भी वह सामायिक में स्थिर रहा । दूसरा गृहस्थ उस हार को लेकर जौहरी श्रावक के देखते ही देखते नौ-दो ग्यारह हो गया ।

सामायिक पूर्ण करके जौहरी श्रावक अपने घर आया तो उसके गले में वह मूल्यवान हार न देखकर परिवार वालों ने उस हार के लिए पूछा । लेकिन उसने सोचा—नाहक ही इनके मन में विषमता पैदा होगी, अतः घर वालों को उसने हार चुराये जाने के विषय में कुछ नहीं बताया, और न यह कहा कि मैं सामायिक में बैठा था, तब अमुक व्यक्ति आया था, वह मेरा हार ले गया । बल्कि घर वालों के अति-आग्रहपूर्वक पूछने पर उसने इतना ही कहा—"हार सुरक्षित है ।" जौहरी श्रावक को हार के चले जाने का कोई खेद नहीं था । उसने यही सोचा—'हार के चले जाने का संयोग था, चला गया ।'

हार का अपहरणकर्ता वह गृहस्थ उसे लेकर कलकत्ता चला गया । वहाँ उसने किसी साहूकार के यहाँ वह हार गिरवी (बन्धक) रख दिया । उस बन्धक हार के बदले

में प्राप्त अर्थराशि से उसने व्यापार किया। संयोगवश उस गृहस्थ का व्यापार चमक गया। पर्याप्त लाभ हुआ। अब उस गृहस्थ ने सोचा—"अब मेरा व्यापार चमक उठा है, लक्ष्मी भी खूब प्राप्त हो गई है। अब उस हार को उसके असली मालिक को ले जाकर ससम्मान वापिस सौंप देना चाहिए।" यह सोचकर उसने उक्त बन्धक रखे हुए हार को रुपये देकर छुड़ाया। हार लेकर सीधा दिल्ली आया। उसने जौहरी श्रावक के पास जाकर बहुत अनुनय-विनय एवं क्षमायाचना की और वह हार ससम्मान जौहरी श्रावक को सौंपा। जौहरी श्रावक से उक्त हार को गिरवी रखने और उससे प्राप्त रकम से व्यवसाय चमकने का सारा वृत्तान्त सुनाया। जिसे सुनकर जौहरी श्रावक की आस्था सामायिकव्रत पर और अधिक सुदृढ़ हुई। जौहरी श्रावक की सामायिक-साधना में सुदृढ़ता से उक्त गृहस्थ को भी प्रेरणा मिली। वह भी सामायिकसाधना नियमित रूप से करने लगा।

आशय यह है कि सामायिकसाधना में पारंगत एवं अभ्यस्त व्यक्ति ही इस प्रकार की विषम परिस्थिति में समभाव रखकर सावद्ययोग से विरत रहकर अपना आत्मविकास कर सकता है, और नवीन कर्मबन्धन को रोक सकता है, प्राचीन कर्मों को अमुक अंशों में क्षय कर सकता है। सामायिक के अभ्यास के बिना यह सब होना कठिन है।

यह सामायिक का ही चमत्कार था कि जौहरी श्रावक के मन में प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी विषमभाव नहीं आया, वह समभाव में ही स्थित रहा।

सामायिक से लाभ क्या और कब ?

आप सामायिक की उपयोगिता और महत्व के सम्बन्ध में समझ गए होंगे। परन्तु इतना होने पर भी साधक के मन में एक प्रश्न बार-बार उठा करता है, उठना स्वाभाविक है कि सामायिक से क्या लाभ होता है ? जब तक किसी साधना के फल का ज्ञान नहीं होता, तब तक उसके प्रति रुचि, उत्साह और उत्सुकता नहीं जागती, और बिना उत्साह, रुचि एवं उत्सुकता के किसी भी साधना में प्रवृत्त होने से कोई भी साधक उसकी पूर्णता या पराकाष्ठा तक नहीं पहुँचता।

हाँ, तो सामायिक से आत्मा को क्या लाभ होता है ? इसका उत्तर मैं स्वयं न देकर उत्तराध्ययन सूत्र के २९वें अध्ययन का प्रश्नोत्तर प्रस्तुत कर देता हूँ—

प्रश्न है—**'सामाइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?**

—(भगवन् ! सामायिक से, आत्मा को क्या लाभ प्राप्त होता है ?)

उत्तर है—**सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ।**

—सामायिक से आत्मा को सावद्ययोग (मन-वचन-काया की पापयुक्त प्रवृत्ति) से विरतिरूप महाफल की प्राप्ति होती है।

आजकल के साधकों की दृष्टि आत्मविकास के विषय में स्पष्ट न होने से वे अपनी जप, तप, व्रत, सामायिक, पौषध आदि की साधना का फल इस लोक में धन, स्वास्थ्य, सुख, साधन, ऋद्धि या सिद्धि आदि भौतिक वैभव की प्राप्ति तथा परलोक में भी देवों के भोग, सुख, देवांगना आदि की प्राप्ति चाहते हैं, परन्तु साधना अगर आध्यात्मिक है तो उसका भौतिक फल चाहना पुनः समता से विषमता में जाना है। सामायिक अध्यात्मसाधना है, वह आत्मा को पौद्गलिक-वैषयिक सुखों की आसक्ति तथा विषम प्रतिकूल परिस्थितिजन्य दुःखों के प्रति द्वेष से विरत करके आध्यात्मिक विकास के चरम शिखर तक पहुंचाने वाली है।

आत्मा, जो अनादिकाल से पौद्गलिक सुखों से परिचित होने के कारण ज्यों-ज्यों पौद्गलिक सुख-साधन एकत्रित करता रहता है, त्यों-त्यों उन साधनों के साथ लगी हुई चिन्ताओं, विषमताओं एवं रागद्वेष की परिणतियों से घिरकर अधिकाधिक कर्मबन्धन करता है, अधिक दुःखी होता जाता है। सामायिक का उद्देश्य आत्मा का ऐसे दुखों से छुटकारा पाना है। अगर आत्मा का विकास और सुख पौद्गलिक सुख-साधनों में ही होता तो बड़े-बड़े धनकुबेरों, सम्राटों और चक्रवर्तियों के पास किन साधनों की कमी थी कि उन्होंने उन साधनों का त्याग करके अपनी आत्मसाधना की, आत्मविकास किया ? इससे साफ प्रतीत होता है कि भौतिक साधनों में सुख नहीं है, जिन्हें प्राप्त करने के लिए सामायिक साधना की जाए। अतः सामायिक के लाभ के सम्बन्ध में इहलौकिक या पारलौकिक सुख-प्राप्ति की कल्पना करना उचित नहीं है। दशवैकालिक सूत्र (९वें अध्ययन ३-४) में इस बात को विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है कि आत्मकल्याण के लिए किया जाने वाला कोई भी धर्माचरण इहलौकिक या पारलौकिक सुख, समृद्धि, कीर्ति, श्लाघा या प्रशंसा आदि की दृष्टि नहीं करना चाहिए, अपितु सिर्फ निर्जरा (कर्मक्षय) के लिए, या वीतरागता की प्राप्ति के लिए करना चाहिए। यही बात सामायिक के सम्बन्ध में समझिए। सामायिक समभाव की साधना है। समभाव आते ही व्यक्ति का विषमभाव नष्ट हो जाता है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से प्रेरित होकर मनुष्य मन से, वचन से, काया से जो सावद्य (पापयुक्त) प्रवृत्ति कर बैठता है, सामायिक साधना से, जब समभाव में स्थित हो जाता है, तब ये राग-द्वेषादि भाव स्वतः हट जाते हैं। समत्व के प्रकाश में विषमतावर्द्धक सभी सावद्य प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। यही सामायिक का लाभ है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा के लिए जो-जो दुःख और असमाधि के कारण हैं, उन सांसारिक उपाधियों से मुक्त होना ही सामायिक का फल है।

सामायिक व्रत से यह लाभ तभी हो सकता है, जब श्रावक श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन सामायिकव्रत का अभ्यास करे। एक दिन सामायिक की साधना की, फिर छोड़ दी, आठ दिन बाद फिर की, फिर महीने भर के लिए सामायिक की साधना खंडी

पर टाँग दी। यों बीच-बीच में साधना को छोड़ देने से साधना सुदृढ़ नहीं होती और साधना सुदृढ़ हुए बिना उसका यथेष्ट फल नहीं मिल सकता। पातंजल योगदर्शन में साधना के दृढ़ीकरण के सम्बन्ध में कहा है—

'स तु दीर्घतरनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः'

दीर्घकाल तक, निरन्तर, सत्कार (श्रद्धा भक्ति) पूर्वक यथाविधि आचरण करने पर ही वह साधना दृढ़भूमि (मजबूत) होती है। सामायिक की साधना के सम्बन्ध में भी यही बात है। चिरकाल तक सतत लगातार श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सामायिक की नियमित साधना करने से वह सुदृढ़ होगी, तभी पूर्वोक्त फलदायिनी बनेगी। वृक्ष को कई वर्षों तक लगातार सींचने, खाद देने तथा उसकी सब प्रकार से सुरक्षा करने पर ही वह फलवान होता है, मधुर फल प्रदान करता है। इसी प्रकार सामायिक साधना भी तभी यथेष्ट फलवती हो सकती है, जबकि सावधानीपूर्वक सामायिक तरु को सींचे, यानी प्रत्येक विचार, प्रवृत्ति, अनुष्ठान, कार्य या वचन में सामायिक का ही चिन्तन-मनन करे, सामायिक को समक्ष रखें। सामायिक को ही जीवन का अंग बना लें तथा सद्गुणों या निरवद्य प्रवृत्तियों का ही खाद दें तथा दुर्गुणों के अन्धड़ से, दुराचरण या अनाचार के वातावरण से, सावद्य प्रवृत्तियों के पशुओं से सामायिक वृक्ष को रक्षा करें।

मनुष्यजीवन में अच्छी-बुरी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ आती हैं, दो प्रकार की प्रवृत्तियों का वातावरण मिलता है। परन्तु सामायिक व्रत धारक श्रावक को बुरी प्रवृत्तियों (सावद्य=पापयुक्त मन-वचन-काया के व्यापारों) को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए, तभी अच्छी प्रवृत्तियों (निरवद्य योगों) को विकसित होने का अवसर मिलेगा और सामायिक साधना पुष्पित-फलित होगी। सामाजिक साधना तभी फलवती हो सकती है। सामायिक साधना एकान्त निवृत्यात्मक नहीं है। अगर वह एकान्त निवृत्ति रूप हो तो सामायिक में आत्मचिन्तन, मनन या स्वाध्याय, प्रवचन श्रवण आदि की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? इसीलिए एक आचार्य ने सामायिक की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है—

'सामाइयं नाम सावज्जजोग परिवज्जणं, निरवज्जजोग पडिसेवणं च।'

—सावद्ययोग का परित्याग और निरवद्ययोग का सेवन करना ही सामायिक है।

मन-वचन-काया से सावद्य और निरवद्य दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ हो सकती है। अतः साधक को सामायिक साधना में सावद्य (बुरी, पापमय) प्रवृत्तियों से मन-वचन-काया को बचाना है, सावद्य वातावरण एवं सावद्य कुसंग से भी अपने मन-वचन काया को दूर रखना है। और साथ ही निरवद्य प्रवृत्तियों में अपने मन-वचन-काया को लगाना है। अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्ति भी तभी हो सकती है, जब शुभ प्रवृत्ति में साधक प्रवृत्त होगा। अर्थात् साधक की शुभ में प्रवृत्ति अशुभ से निवृत्तिलक्षी

होगी, तथा अशुभ से निवृत्ति शुभ में प्रवृत्तिलक्षी होगी। अतः अगर साधक सावद्य प्रवृत्तियों से दूर रहना चाहता है, जोकि सामायिक साधना के लिए आवश्यक है, तो वह सावद्य प्रवृत्तियों के चिन्तन-मनन को अवसर न दे, जहाँ सावद्य प्रवृत्तियाँ हो रही हों, उन्हें प्रोत्साहन न दे, जब प्रतिदिन सतत नियमित रूप से ऐसा होगा तो फिर सावद्य प्रवृत्तियाँ स्वतः मुरझा कर मृतप्राय दशा में जा पहुँचेंगी।

यह प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य जिन लोगों के निकट सम्पर्क में रहता है, जैसे वातावरण में रहता है, जिस प्रकार के लोगों के साथ बैठता-उठता है, विचार विनिमय करता है, प्रायः उन्हीं व्यक्तियों या परिस्थितियों के आकर्षण एवं प्रोत्साहन से प्रभावित होकर अपनी प्रवृत्तियाँ करता है। बुरे लोगों के सम्पर्क में आकर भोले-भाले लोग उनका अनुकरण करने लगते हैं, उनकी-सी बुराइयाँ अपने जीवन में ले आते हैं या सीख लेते हैं, कुमार्ग पर चलने लगते हैं। नशेबाजी का प्रारम्भ भी प्रायः ऐसे ही होता है। उपयोगिता के कारण लोग नशीली चीजों का सेवन करना प्रारम्भ नहीं करते, किन्तु अधिकांश तो अपने यार-दोस्तों के बार-बार आग्रह से, उनकी देखादेखी, इस बुरी लत के शिकार बन जाते हैं। सभी दुष्प्रवृत्तियों का प्रारम्भ कुसंग एवं कुसम्पर्क के कारण होता है। यार-दोस्तों के सम्पर्क से पहले उनमें तथाकथित बुराई के अनुकरण की इच्छा जागती है, फिर कुमित्रों का अनुरोध होता है, तत्पश्चात् उस बुराई में प्रवृत्ति होती है।

इसलिए सामायिक साधक को सावद्य प्रवृत्तियों (बुराइयों-पापकर्मों) के प्रेरक कुसंग और कुसम्पर्क से सदा दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए। अन्यथा, दिन-रात के चौबीस घंटों में से शयन के अतिरिक्त १६-१७ घंटे अगर कुसंग-कुसम्पर्क में बिता कर एकाध घंटा सामायिक साधना में बैठेंगे तो बाहर से चाहे सावद्य प्रवृत्तियों का आप त्याग कर देंगे, लेकिन मन-मस्तिष्क के क्षेत्र में वे अपनी लीला दिखाये बिना न रहेंगी। कुसंग और कुसम्पर्क केवल व्यक्तियों का ही नहीं होता, पुस्तकों एवं विचारों का भी होता है, दुर्व्यसनों एवं दुर्वातावरण का भी होता है, दुर्दृश्यों के प्रेक्षण का भी होता है, दुश्चिन्तन एवं दुर्ध्यान का भी होता है। दुर्गुणों एवं दुष्प्रवृत्तियों का भी होता है। अतः सामायिक साधक को अपनी साधना का सुफल प्राप्त करने के लिए इन और ऐसे ही सावद्यप्रेरक कुसंग, कुसम्पर्क एवं बुरे वातावरण से जहाँ तक हो सके बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

अगर सामायिक साधक अपना सम्पर्क बुरी आदत वालों के साथ रखेगा, तो वे प्रत्यक्ष चाहे कुछ भी न कहें, पर परोक्षरूप से अधिक सम्पर्क के कारण उनका प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। जो बुराइयाँ उनमें हैं, उससे कम से कम घृणा तो मिट ही जाएगी। शराब से आपको घृणा है, लेकिन आपके जो मित्र शराब के आदी होंगे, और उनकी यह आदत आपके सामने ही चरितार्थ होती रहेगी तो आपके मन में शराब के प्रति जो घोर घृणा थी, वह थोड़े ही दिनों में समाप्त हो सकती है। इतना

ही नहीं, शराब को उठाने, धरने, खरीदने और लाने की झिझक भी मिट सकती है और एक दिन उसे पीने लगने का अवसर भी आ सकता है। भले ही वे दोस्त उसके लिए कुछ भी आग्रह न करें, पर दोस्ती और सम्पर्क के फलस्वरूप इतना प्रभाव तो स्वतः पड़ ही जाता है।

इसीलिए सामायिक की साधना के साथ-साथ आचार्यों ने द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि कालशुद्धि, भावशुद्धि, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि का विधान किया है। उसके पीछे यही दृष्टिकोण रहा हुआ है, जो मैं पहले कह चुका हूँ। वातावरण शुद्धि की दृष्टि से ही आजकल सामायिक साधना करने की परिपाटी प्रायः धर्मस्थानों, मन्दिरों, पौषधशालाओं या उपाश्रयों में है। किन्तु यह बात नहीं भूलना चाहिए कि धर्मस्थान के शुद्ध वातावरण, शुभ सम्पर्क, सत्संग या सुस्थान का प्रभाव अपनी आत्मा पर तभी पड़ सकता है, जबकि आप धर्मस्थान से बाहर भी कुसंग, कुसम्पर्क, कुस्थान, अशुद्ध वातावरण आदि से यथासम्भव बचे रहें।

प्रतिवर्ष रावण का पुतला जलाने और रामचन्द्रजी को गद्दी पर बिठाने की रामलीला जगह-जगह होती है। इसका तात्पर्य यह है, बुरे व्यक्तियों से दूर रहने और अच्छे व्यक्तियों के सम्पर्क में आने की प्रवृत्ति बढ़ती रहे। किसी व्यक्ति, वातावरण, स्थान, परिस्थिति और प्रवृत्ति आदि से सम्पर्क बढ़ाते समय आपको सदा ध्यान रखना है कि वह व्यक्ति आदि गुण, कर्म, स्वभाव, परिणाम आदि की दृष्टि से किस श्रेणी का है ? यदि उसमें बुराइयाँ अधिक और अच्छाइयाँ कम दिखाई दें, तो अच्छा यही है कि उससे घनिष्टता न बढ़ाएँ। धर्मस्थान में या जंगल में अकेले बैठे रहना अच्छा है, समय को अच्छी पुस्तकों या ग्रन्थों का स्वाध्याय करके व्यतीत करना श्रेष्ठ है, लेकिन निकम्मे लोगों या निकम्मे वातावरण में रहकर हा-हा, हू-हू करते हुए चाण्डाल चौकड़ी जमाना ठीक नहीं है। सावद्यकर्मों—बुराइयों से बचने के लिए यह आवश्यक है कि आप बुरे वातावरण तथा व्यक्तियों के सम्पर्क से बचे रहें। यही कारण है कि सावद्ययोगों के वातावरण से दूर रहने के लिए साधु-साध्वी वर्ग धर्मस्थान या ऐसे ही सुस्थान में निवास करते हैं, ताकि निरवद्ययोग (अच्छाइयों) का वातावरण मिलता रहे।

यह एक तथ्य है कि सामायिक के साधक को एक ओर जहाँ सावद्ययोगों (बुरी प्रवृत्तियों) से बचना है, वहाँ दूसरी ओर समताभाव की निरवद्य प्रवृत्तियों का केवल साधना काल में ही नहीं, साधना के पश्चात् भी चाहे घर में रहें या दूकान पर हों, अथवा अन्य किसी स्थान में हों, अधिकांश निरवद्य प्रवृत्तियों के ही सम्पर्क में रहना है, अथवा कम से कम, प्रवृत्तियों में होने वाले राग-द्वेषादि विकारों से दूर रहना है।

इस प्रकार सामायिक साधक को धीरे-धीरे आत्मविश्वास, आत्म-ज्ञान और दृढ़ चारित्र की ऐसी मजबूत नींव अपनी मनोभूमि में जमानी चाहिए कि बुरे

व्यक्तियों, बुरे वातावरण या बुरी प्रवृत्तियों की बुराई उससे टकरा कर उसी प्रकार विफल हो जाय, जैसे गेंडे की खाल से बनी ढाल से टकराकर तलवार का वार विफल हो जाता है। मतलब यह है कि मन-वचन-काया के सावद्ययोगों (व्यापारों) के दुष्प्रभावों को निरस्त करते रहना चाहिए, जो चारों ओर से निरन्तर साधक पर हमला करते रहते हैं। उनके सामने कदापि आत्म-समर्पण नहीं करना चाहिए। तभी सामायिक का साधक दुष्प्रवृत्तियों से आत्मरक्षा कर सकने में समर्थ हो सकता है और दीर्घकाल तक सतत श्रद्धापूर्वक अपनी सत्प्रवृत्तियों को विकसित करता रह सकता है। मान लो, किसी नौसिखिये सामायिक साधक का सम्पर्क सामायिकव्रत का स्वीकार करने से पूर्व दुष्ट-दुराचारी लोगों से हो चुका है तो उसे शिथिल करते चलना चाहिए और सत्पुरुषों के साथ हुए अल्प परिचय को और घनिष्ठतम बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि सामायिक के साधक को अपना बाह्य व्यवहार भी ऐसा रखना चाहिए, जिसे देखकर आम जनता भी सामायिक के फल को प्रत्यक्ष जान सके। उसे उन सावद्य (पापयुक्त) कार्यों से हमेशा बचते रहना चाहिए, जो आत्मा में विषमता पैदा करते हैं। यद्यपि गार्हस्थ्यजीवन में रहते हुए श्रावक के लिए हिंसा, असत्य आदि का सर्वथा त्याग करना दुष्कर है, तथापि सामायिक साधक श्रावक का लक्ष्य यही होना चाहिए कि हिंसा, असत्य आदि से वह जितना भी, जहाँ भी, जैसे भी बच सके, बचने की कोशिश करनी चाहिए, जिससे वह महारम्भ-महापाप से बच सके, हिंसा आदि से बचकर अपने समय को अधिकाधिक सामायिक साधना में लगा सके, अपना लोक-परलोक भी सुधार सके।

सामायिक करने वाले साधक को इस भ्रम से बचना चाहिए कि सामायिक करने वाला संसार में अपना चाहे जैसा व्यवहार रखे, नीति, न्याय, धर्म को तिलांजलि दे दे, हिंसा, असत्य आदि पापकार्य में चाहे जितना प्रवृत्त हो, एक सामायिक कर लेते ही सब पाप छूमन्तर हो जाते हैं। संसार का सारा व्यवहार ही पापमय है, पाप किये बिना तो संसार का व्यवहार चल ही कैसे सकता है? ऐसी गलत समझ वाले लोग किये हुए पाप के परिणाम से छुटकारा पाने के लिए ही सामायिक की साधना करते हैं, किन्तु पापकार्य को छोड़ना वे आवश्यक नहीं समझते। ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि से पापकार्य का त्याग किये बिना पाप के फल से बचना एक प्रकार से आत्मवंचना करना है, यह धर्मध्वजीपन है।

कोई व्यक्ति उफनते दूध की कड़ाही के नीचे जलती हुई लकड़ियों को हटाए नहीं, उन्हें आग में झोंकता जाय और ऊपर से दो-चार छींटे पानी के देकर शान्त करना चाहे तो क्या यह सम्भव है? कदापि नहीं। वैसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह आदि दुर्गुणों के जलते ईंधन को हटाए नहीं और ऊपर से सामायिक के दो-चार छींटे दे दे तो क्या उससे सावद्ययोग की आग बुझ जाएगी? कभी नहीं बुझेगी।

इसलिए सामायिक का साधक सावद्ययोग से विरति का फल पाने के लिए पहले सामायिक से पहले भी क्रोधादि दुर्गुणों एवं हिंसा आदि दुष्कर्मों—पापकर्मों से अपने आपको दूर रखे। संसार व्यवहार के समय भी पापकर्मों के प्रति अधिक आकर्षण न रखे।

सामायिक के पश्चात् भी वह प्रत्येक परिस्थिति में यथासम्भव समभाव का व्यवहार करे। हिंसा आदि पापकर्मों से भी जहाँ तक हो सके दूर रहने की कोशिश करे। सामायिक पापनाश की अमोघ औषधि अवश्य है, किन्तु इसके सेवन के साथ ही कर्मोदय से प्राप्त दुष्परिस्थिति, अनिष्टसंयोग, इष्टवियोग की प्राप्ति में भी प्रसन्न रहना, अधीर न होना, निन्दा और अपमान तथा प्रशंसा और सम्मान के समय समत्व में रहना, वैर-विरोध, द्वेष-क्लेश आदि मनोविकारों को शान्त रखना, न्याय-नीति-पूर्वक पुरुषार्थ करना, सबको अपनी आत्मा के समान समझना, आदि सुपथ्यों का पालन करना आवश्यक है। तभी सामायिक के सुफल के दर्शन हो सकते हैं। वास्तव में, सामायिक की सफलता-विफलता के दर्शन तो साधक स्वयं कर सकता है। सामायिक का—यथार्थ सामायिक का प्रत्यक्ष फल समभाव की प्राप्ति है। यदि सामायिक साधना का स्वीकार करते ही समत्व रूप फल नहीं मिला, समभाव न आया, आत्मा विषयों की आसक्ति एवं कषायों की होली में ही जलता रहा, भौतिक सुखों की लालसा खत्म नहीं हुई तो समझना चाहिए, अभी तक सामायिक के संस्कार बद्धमूल नहीं हुए हैं। इसलिए सामायिक का तात्कालिक फल प्राप्त नहीं हुआ है। परम्परा-फल तो मिलता ही कैसे ?

सामायिक साधना उन्हीं साधकों की सुफलयुक्त माननी चाहिए, जो समस्त परिस्थितियों में समभाव पर दृढ़ रहते हैं। कोई निन्दा करे या प्रशंसा, गाली दे या धन्यवाद, मारे-पीटे या सहायता दे, धन का अपहरण करे या धन प्रदान करे, किसी भी परिस्थिति में मन-मस्तिष्क में विषमभाव, रागद्वेषभाव न लाए। अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय आदि में हर्षशोक न करे। यही समझे कि ये सब संयोग-वियोग क्षणिक हैं, भौतिक हैं, शरीर से सम्बद्ध हैं, आत्मा से वास्तव में इनका कोई वास्ता नहीं है। ऐसे संयोग-वियोग से आत्मा का कोई हिताहित नहीं हो सकता। ऐसे स्थितप्रज्ञ सम-भावी साधक की सामायिक-साधना सफल है, वे ही वास्तविक फल को प्राप्त करते हैं। जो लोग बात-बात में अधीर, रुष्ट-तुष्ट, चिन्तित-कुण्ठित हो जाते हैं, थोड़े-से सुख के कण पाकर फूल उठते हैं, जरा-सा दुःख पड़ते ही तड़फ उठते हैं, वे व्यक्ति सामायिक के उद्देश्य को नहीं समझे। वे सामायिक के तत्त्व से अनभिज्ञ हैं। जो सुख में फूलता नहीं, दुःख में तड़फता नहीं, भयानक वन हो, या सुन्दर भवन हो, संयोग हो या वियोग, दोनों ही परिस्थितियों में जिसका सुदृढ़ निश्चल मन सहिष्णु, धीर एवं सम रहता है; वही भाग्यशाली साधक सामायिक का सुफल प्राप्त करता है।

सामायिक से पापकर्म नष्ट हो जाते हैं, उनका फल नहीं भोगना पड़ता, सामायिक का सुफल प्राप्त करने के लिए पापकर्मों का त्याग नहीं करना पड़ता, ऐसी

भ्रान्त मान्यता वाले लोग पापकर्म करने में निर्भय और निश्चिन्त हो जाते हैं, वे बेखटके पापकर्म करते रहते हैं। सामायिक-साधक की भावना सदैव यह रहनी चाहिए कि सामायिक साधना से पूर्व तथा बाद में भी समभाव विस्मृत न हो, आरम्भादि में प्रवृत्त होना पड़े तो भी उन कार्यों में आसक्ति या मूर्च्छा न करूँ। मैं प्रत्येक कार्य में ऐसा विवेक रखूँ कि आस्रव के स्थान पर संवर की प्राप्ति हो। उसी की सामायिक साधना सफल है, उन्हें ही सामायिक का प्रत्यक्ष या परोक्ष फल मिलता है। वे ही सामायिक के उद्देश्य को समझ सके हैं। घड़ी में एक बार चाबी देने पर जैसे वह नियत समय तक ठीक चलती है, वैसे ही सामायिक साधना की चाबी आत्मारूपी घड़ी में एक बार दे देने पर पापकर्म से सदा बचकर समाधिभाव एवं समताभाव रखना चाहिए।

प्रश्न होता है कि सामायिक का प्रत्यक्ष या परोक्ष फल तो तभी मिल सकता है, जब समभाव सुदृढ़ हो, सावद्य प्रवृत्तियों से सदैव बचकर निरवद्य प्रवृत्ति में रत रहे। अतः समभाव संस्कारों में बद्धमूल कैसे हो ?

वैसे तो समभाव का प्रतिक्षण ध्यान रहना, बहुत ही दुष्कर है। बड़े-बड़े योगी तक समभाव की परीक्षा में फेल हो जाते हैं, तब व्रतधारी श्रावक कैसे समभाव को संस्कारों में ताने-बाने की तरह बुन सकता है ?

इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि भगवान महावीर ने इसीलिए तो सामायिक नामक नौवें व्रत एवं प्रथम शिक्षाव्रत का विधान किया है। सामायिक शिक्षाव्रत है। और शिक्षा का अर्थ है— 'पुनः-पुनः परिशीलनं अभ्यासः शिक्षा' अथवा आचार्य हरिभद्र के शब्दों में (**साधु धर्माभ्यासः शिक्षा**) बार-बार सम्यक् प्रकार से श्रेष्ठ धर्म का अभ्यास करना शिक्षा है। सामायिक को शिक्षाव्रत कहने के पीछे शास्त्रकारों का आशय यही प्रतीत होता है कि सामायिक की साधना केवल एक बार ही करके न छोड़ दी जाय, अपितु बार-बार सत्कारपूर्वक इसका प्रतिदिन अभ्यास किया जाय। सामायिक को संस्कारबद्ध करने के लिए दीर्घकाल तक प्रतिदिन नियमित रूप से इसका अभ्यास आवश्यक है। वर्णमाला के अक्षरों को प्रारम्भ में टेढ़-मेढ़े बनाने वाला बालक अभ्यास से एक दिन महान् सुलेखक बन जाता है। लक्ष्यवेध सीखने वाला नौसिखिया बाणविद्या का विद्यार्थी एक ही दिन में पक्का निशानेबाज नहीं हो जाता, निरन्तर अभ्यास से जब उसकी दृष्टि स्थिर और एकाग्र हो जाती है, हाथ सध जाता है, तब वह अचूक शब्दवेधी बाण विशारद हो जाता है। सामायिक की साधना कठिन अवश्य है, किन्तु अभ्यास से इसके सुदृढ़ होने में सन्देह नहीं।

संसार में असाध्य या अशक्य कुछ भी नहीं है, बशर्ते कि उसके लिए प्रबल पुरुषार्थ, दृढ़ निष्ठा, मानसिक सन्तुलन, आत्म-विश्वास, उपयुक्त दृष्टिकोण एवं यथार्थ दिशा हो।

पुरुषार्थ, सतत सही दिशा में पुरुषार्थ, ही साधना को सुदृढ़ बनाने एवं संस्कार-

बद्ध करने के लिए माध्यम है। जितना ही अधिक जिन वस्तुओं का इस्तेमाल किया जाता है, वे उतनी ही चमकीली बनती हैं। बेकार पड़ी हुई वस्तुओं को जंग लग जाती है। जो मशीन काम में आती रहती है, वह जल्दी खराब नहीं होती। बेकार पड़ी हुई मशीन कुछ ही समय में बेकार हो जाती है। मानव शरीर तो जड़-चेतन की सम्मिलित रचना का सर्वोपरि नमूना है। सतत उद्योग के अभाव में यह बेकार हो जाता है। शान के पत्थर पर घिसने से हथियारों की धार तेज होती है। रगड़ के बिना चमक नहीं आती। मनुष्य का जीवन भी परिश्रम की धार पर धरने से चमकदार बनता है। चाकू की धार तभी तेज होती है, जब उसे पत्थर पर घिसा जाता है। निष्क्रिय पड़े रहने से तो उसमें जंग ही चढ़ती है। इसी प्रकार समभाव के सतत-नियमित अभ्यास और पुरुषार्थ के बिना जीवन में समभाव सुदृढ़ नहीं हो सकता। निष्क्रिय पड़े रहने से तो तन-मन को जंग ही लगेगा। इसलिए सामायिक साधना का दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास होने पर ही उसमें चमक आ सकती है। सामायिक की नियमित साधना के साथ-साथ सामायिक के सम्बन्ध में ही विशेष रूप से विचार किया जाए, उसी के विषय में पढ़ा-सुना-गुना जाय, समभाव के अभ्यास को सुदृढ़ बनाने में सहायक वातावरण में रहा जाय, निरवद्य प्रवृत्ति की जाए, सामायिक की उपयोगिता, महत्ता और अनिवार्यता के सम्बन्ध में चिन्तन-मनन किया जाए। सामायिक के सत्परिणामों पर अधिकाधिक विचार किया जाए। सामायिक की प्रेरणा—आत्म-विकास की प्रेरणा है, सामायिक एक पापरहित साधना है। इससे चित्तवृत्ति शान्त रहती है, नवीन कर्मों का बन्धन नहीं होता। सामायिक के बिना कर्मों से मुक्ति, परमात्मस्वरूप वीतरागता की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार सामायिक का महत्त्व समझने से उसको जीवन में अपनाने की तीव्र उत्कण्ठा होगी। सामायिक के इस तरह के बार-बार के अभ्यास से, समभाव में सतत पुरुषार्थ से सामायिक के संस्कार आत्मा में सुदृढ़ होते जाएँगे और एक दिन सामायिक का वह प्रारम्भिक साधक उच्च भूमिका पर पहुँच जाएगा, सामायिक उसके रोम-रोम में रम जाएगी। उसकी सामायिक-साधना की तब कोई भी परीक्षा करेगा, वह उसमें उत्तीर्ण होगा।

आचार्य हरिभद्र के शब्दों में 'ऐसा सामायिकनिष्ठ साधक चाहे तिनका हो या सोना, शत्रु हो या मित्र, सर्वत्र अपने चित्त में राग-द्वेष की आसक्ति से रहित शांत रहता है। तथा पापरहित (निरवद्य) उचित धार्मिक प्रवृत्ति करता है। क्योंकि समभाव से ओतप्रोत होना ही सामायिक है।'

आशा है, आप सामायिक की उपयोगिता, महत्त्व और श्रावक जीवन में उसकी आवश्यकता को समझ गए होंगे। वर्तमान युग में आप लोगों में जो सामायिक करने की परिपाटी है, परन्तु उसके पीछे जो सामायिक का दृष्टिकोण है, महत्त्व है, या उपयोगिता है, उसे भी समझ लिया जाए तो सामायिक साधना आपके संस्कारों

में बद्धमूल हो सकती है। फिर तो आप लाखों की सम्पत्ति छोड़ देंगे, सामायिक को नहीं छोड़ेंगे।

सूरत के एक प्रसिद्ध जैन जौहरी पर झूठा आरोप लगाकर उसे कैद में डाल दिया गया। उसके प्रतिदिन सामायिक एवं प्रतिक्रमण करने का नियम था। परन्तु जेल में किसी भी धार्मिक क्रिया के करने की इजाजत नहीं थी। अतः उन्होंने मुस्लिम जेलर से विनयपूर्वक कहा—"जैसे आप प्रतिदिन नियमित रूप से नमाज पढ़ते हैं, वैसे मेरे भी प्रतिदिन अपनी धार्मिक क्रिया करने का नियम है। अतः यदि आप मुझे धार्मिक क्रिया करने की सुविधा देंगे तो मैं आपका बहुत आभारी होऊँगा।"

जेलर सज्जन था, उसने जौहरी के लिए धार्मिक क्रिया करने की सुविधा कर दी। इससे जौहरी को इतनी प्रसन्नता हुई कि उसने अपने पुत्र को सूचित कर दिया कि जेलर को प्रतिदिन पाँच सौ रुपये इनाम दिये जाएँ।

कुछ ही दिनों बाद जौहरी पर लगाया हुआ आरोप मिथ्या सिद्ध हुआ। उसे निर्दोष बरी कर दिया गया। जेलर ने सोचा—"इस जौहरी से इनाम लेने की खबर यदि बादशाह को मालूम हो गई, वह मुझे दण्ड दिये बिना नहीं रहेगा।" अतः वह सारी अर्थराशि जौहरी को लौटाने लगा। जौहरी ने कहा—"जेलर साहब! यह धनराशि तो मैंने आपको अपनी खुशी से प्रेमपूर्वक भेंट दी है, आपको इसमें घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैंने तो आपको प्रतिदिन ५००) रुपये ही भेंट दिये हैं, आपने तो मुझे जिसका मूल्यांकन न हो सके, ऐसा अमूल्य सामायिक-रत्न प्रदान किया है। प्रतिदिन सामायिकरत्न अर्जित करने का अवसर देकर आपने मुझ पर असीम उपकार किया है।"

यह है सामायिक का मूल्यांकन। क्या आप सामायिक का कोई मोल दे सकेंगे? आप तो क्या भगवान महावीर के द्वारा मगध सम्राट् श्रेणिक को नरक-गति निवारण के उपाय के रूप में पूणिया श्रावक की सामायिक मोल लेने का बता देने पर भी मगधेश श्रेणिक उस अमूल्य सामायिक को नहीं खरीद सका। आपको तो स्वाभाविक रूप से वंश-परम्परा से सामायिक की अपूर्व, अमूल्य एवं महत्त्वपूर्ण साधना विरासत में मिली है। क्या आप इस बहुमूल्य साधना को जान-सुनकर भी हाथ से जाने देंगे? क्या अब भी मोह-निद्रा में सोकर सामायिक साधना का नियमित अभ्यास नहीं करेंगे?

मैं चाहता हूँ, आप सामायिकव्रत की साधना नियमित रूप से करके अपना जीवन सफल बनाएँ। ✡

2

सामायिक का व्यापक रूप

सामायिक समभाव की एक विशेष साधना एवं उपासना है। सामायिक की साधना केवल सामायिक की क्रिया तक ही सीमित नहीं है, वह इतनी विराट् है कि मानवजीवन की छोटी-बड़ी प्रत्येक प्रवृत्ति में घुल-मिल जाती है। जैसे सूर्य का प्रकाश किसी एक क्षेत्र में सीमित नहीं रहता, बादलों का पानी भी किसी एक क्षेत्र की बपौती नहीं है, चन्द्रमा की शीतलता किसी एक के अधिकार की चीज नहीं है, अग्नि की उष्णता का उपयोग भी एक व्यक्ति तक सीमित नहीं है, वैसे ही सामायिक की विराट् साधना का प्रकाश किसी एक क्षेत्र में, एक व्यक्ति में या एक के अधिकार में सीमित नहीं है, वह सर्वव्यापक है। सामायिक के विशिष्ट अभ्यास के लिए भले ही आप धर्म-स्थान को चुनते हों, परन्तु उसका प्रयोग तो आपके समग्र जीवन में, जीवन के सभी क्षेत्रों में, सर्वत्र होना चाहिए। जैसे कोई विद्यार्थी किसी एक विद्यालय में गणित पढ़ता है। विद्यालय से स्नातक बनकर जब वह अपने व्यवसायक्षेत्र आए, उस समय अभ्यास की हुई गणित विद्या का वहाँ प्रयोग करना न जाने या प्रयोग न कर सके तो वह अध्ययन, वह अभ्यास किस काम का ? अध्ययन किये हुए गणितशास्त्र का उप-योग घर में, दूकान में, व्यवसाय में, संस्था में सर्वत्र होना चाहिए न ? इसीलिए तो विद्यालय में अध्ययन या अभ्यास कराया जाता है। इसी प्रकार धर्मस्थान में अभ्यास या अध्ययन किये हुए सामायिक का उपयोग जीवन-व्यवहार के सभी क्षेत्रों में होना चाहिए।

आप कहेंगे, धर्मस्थान में तो सामायिक की साधना करना सम्भव है, किन्तु सर्वत्र और सभी समय सामायिक कैसे निभ सकती है ? मैं कहूँगा कि धर्मस्थान के अलावा अन्य स्थानों में जहाँ आप होंगे, वहाँ भले ही आपके नीचे आसन न बिछा हुआ हो, मुखवस्त्रिका और प्रमार्जनिका न हो, माला न हो, परन्तु धर्मस्थान में अभ्यास किये हुए सामायिक का व्यवहार तो वहाँ हो ही सकता है। समत्व का व्यवहार आप घर, दूकान, संस्था, धर्मसंघ आदि सभी जगह कर सकते हैं, और करना ही चाहिए। धर्मस्थान में रहें तब तक तो समता रहे और धर्मस्थान से निकलते ही छूमन्तर हो जाय तो वह सामायिक ही क्या हुई ? वह तो एक तरह से सामायिक का

प्रदर्शन हो गया। सामायिक को प्रदर्शन या सीमित क्षेत्र की वस्तु न बनाकर जीवन-व्यापी बनाना चाहिए। अगर गणित पढ़े हुए विद्यार्थी से उसका पिता दूकान पर बिठाकर कोई हिसाब कराना चाहे और वह अपने पिता से यों कह दे कि "पिताजी! यह हिसाब तो मुझे अपने विद्यालय में आता था, यहाँ नहीं आता," तो आप उस विद्यार्थी को क्या कहेंगे? उसे आप गणित पढ़ा हुआ नहीं कहेंगे, यही कहेंगे कि उसने नकल करके परीक्षा पास कर ली है, अध्ययन नहीं किया। इसी प्रकार सामायिक का विद्यार्थी अगर धर्मस्थान में अध्ययन किये हुए सामायिक को जीवन के अन्य क्षेत्र में प्रयोग करने से हिचकिचाए और कहे कि मुझे समभाव का प्रयोग धर्मस्थान में करना आता था, यहाँ नहीं आता तो कहना होगा वह तथाकथित सामायिक का साधक भी सामायिक करने वालों की नकल करके सामायिक में उत्तीर्ण हुआ है। उसने जो भी सामायिक की है, वह द्रव्यसामायिक की है, भावसामायिक नहीं।

वास्तव में सामायिक का अर्थ और उद्देश्य प्राणिमात्र को आत्मवत् समझते हुए समत्व का व्यवहार करना है। सम, आय और इक तीनों मिलकर सामायिक शब्द बना है। सम का अर्थ है—समभाव, सर्वत्र आत्मवत् प्रवृत्ति, आय का अर्थ है—लाभ। जिस प्रवृत्ति से समता=समभाव का लाभ=अभिवृद्धि हो वही सामायिक है। समता या समभाव का अर्थ है—[1]रागद्वेष के प्रसंगों में मध्यस्थ रहना, विषम न होना। सम का विधेयात्मक अर्थ एक आचार्य ने किया है—[2]समस्त जीवों पर मैत्री-भाव रखना साम है। [3]सावद्ययोग अर्थात् पापमय प्रवृत्तियों का परित्याग और निरवद्ययोग यानी अहिंसा, सत्य, समस्त आदि प्रवृत्तियों का आचरण, ये दो; जीव के शुद्ध स्वभाव को सम कहते हैं। कई आचार्य [4]ज्ञान, दर्शन और चारित्र को सम कहते हैं। निष्कर्ष यह है कि पूर्वोक्त प्रकार के सम का आय=लाभ अथवा सम में प्रवृत्ति करना समाय है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार सभी व्युत्पत्तियों का आशय एक ही है, वह है—समता। और समता ही सामायिक है। मैं सामायिक के जितने भी व्युत्पत्ति से निष्पन्न अर्थ बता गया हूँ, वे सब भावसामायिक के स्वरूप को प्रकट करते हैं। समत्व की प्राप्ति, समभाव का अनुभव और फिर समभाव का सक्रिय व्यवहार अथवा आचरण ये तीनों, अथवा समभाव का ज्ञान, समभाव पर श्रद्धा एवं समभाव का आचरण=चारित्र ये तीनों मिलकर भावसामायिक है। ऐसे भावसामायिक की साधना क्या घर में, दूकान में, कचहरी में, श्मशान में, आलीशान भवन में या वन में, नहीं

---

१ 'समस्य—रागद्वेषान्तरालवर्तितयामध्यस्थस्य आयः लाभः समायः, समाय एव सामायिकम्।'

२ 'सर्वजीवेषु मैत्री साम, साम्नो आयः लाभः समायः स एव सामायिकम्।'

३ 'समः सावद्ययोगपरिहार निरवद्ययोगानुष्ठानरूप जीवपरिणामः, तस्य आयः लाभः समायः स एव सामायिकम्।'

४ 'समानि ज्ञानदर्शनचारित्राणि, तेषु अयनं-गमनं समायः, स एव सामायिकम्।'

हो सकती है ? अवश्य हो सकती है। अगर धर्मस्थान के सिवाय अन्यत्र भावसामायिक न होती तो अनुयोगद्वारसूत्र में तथा आचार्य भद्रबाहुस्वामीकृत आवश्यकनिर्युक्ति में भावसामायिक को सामायिक की वास्तविक साधना न बताते—

'जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमेणियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इह केवलिभासियं ॥'

—जिसकी आत्मा (कहीं भी) संयम में, तप में, नियम में सदैव सन्निहित है, संलग्न है, उसी की सामायिक (साधना) शुद्ध होती है, ऐसा केवली भगवान् ने कहा है।

'जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इह केवलिभासियं ॥'

—जो साधक त्रस और स्थावर सभी प्राणियों के प्रति सम (समभाव रखता) है, उसी की सामायिक सच्चे माने में सामायिक है, ऐसा केवली भगवान् ने कहा है।

अपने दैनिक जीवन में सर्वत्र भावसामायिक का प्रयोग करना ही तो वास्तविक सामायिक है। द्रव्यसामायिक तो भावसामायिक तक पहुँचाने के लिए है। यही द्रव्यसामायिक का मुख्य उद्देश्य है। जो द्रव्यसामायिक भावसामायिक तक पहुँचा न सके, केवल सामायिक के बाह्य विधि-विधानों के भंवरजाल में ही फँसाये रखे, समभाव के सम्बन्ध में न कोई चिन्तन हो, न समभाव के प्रति विश्वास हो और न ही समभाव का कोई आचरण हो, वह द्रव्यसामायिक नहीं, मिथ्यासामायिक है, सामायिक का केवल दिखावा है। उपाध्याय यशोविजयजी ने ऐसी द्रव्यसामायिक को मायिक कहा है। क्योंकि सामायिक के जितने भी अर्थ हैं, या लक्षण हैं, वे प्रायः भावसामायिक पर ही घटित होते हैं। आचार्य हरिभद्र भी पंचाशक में स्पष्ट लिखते हैं—

'समभावो सामाइयं, तण-कंचण-सत्तु-मित्त-विसउत्ति।
णिरभिस्संगं चित्तं, उचियपवित्तिप्पहाणं च ॥'

—चाहे तृण हो चाहे स्वर्ण, शत्रु हो, चाहे मित्र, सर्वत्र अपने चित्त को राग-द्वेष की आसक्ति से रहित शान्त एवं मध्यस्थ रखना, और पापरहित (निरवद्य) उचित (समभावयुक्त) प्रवृत्ति करना ही सामायिक है। क्योंकि समभाव ही तो सामायिक है।

इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि धर्मस्थान में एक सामायिक कर ली, इतने से ही समभाव जीवन में आ जाएगा। समभाव तो जीवन में तभी आएगा, जब प्रत्येक व्यावहारिक कार्य में, आप चाहे कहीं भी क्यों न हों, सर्वत्र और सभी समय सामायिक की मौलिक भावना के अनुसार आप में समत्व की गंगा बहती नजर आएगी।

जब आप दूकान पर हों तो ग्राहक को अपना आत्मीय समझ कर सौदा दें,

उससे किसी प्रकार का छल, धोखा, झूठ-फरेब, बेईमानी, जालसाजी, तौलनाप में गड़-बड़ी या अधिक मूल्य ग्रहण न करें। यद्यपि उस समय आप मुखवस्त्रिका बाँधे हुए और सामायिक के उपकरण लिए हुए नहीं होंगे, परन्तु इससे क्या हुआ ? यदि सौदा देने में ग्राहक के साथ समभाव की धारा बह रही है तो वहाँ आपकी वह प्रवृत्ति सामायिकमयी ही होगी। गृहव्यवहार में भी माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि स्वजनों के साथ मोह-द्रोह से रहित आत्मवत् व्यवहार होगा तो वहाँ भी आप सामायिक का लाभ प्राप्त कर सकेंगे। जब कभी अज्ञान, मोह, लोभ, द्रोह, पक्षपात या अतिस्वार्थ के कारण घर में कोई विषम परिस्थिति उत्पन्न होगी, आप अपने समभाव के विवेक से उसका समाधान कर लेंगे, उस क्षुब्ध वातावरण को शान्त कर लेंगे। इसी प्रकार लेन-देन की, गृहकार्य की, मजदूरों और कृषि कर्मियों की समस्याएँ भी समता (मध्यस्थवृत्ति) से सुलझाई जा सकती हैं, और वहाँ भी सामायिक होगी। यही नहीं, जीवन के प्रत्येक व्यवहार में आप समभावरूप सामायिक के सतत अभ्यास और विवेक के द्वारा उलझनों और झंझटों को समाप्त कर सकेंगे।

द्रव्यसामायिक और भावसामायिक

यही कारण है कि जैन-शास्त्रों में सामायिक का अभ्यास करने के लिए प्रथम द्रव्यसामायिक को प्रधानता दी गई है, ताकि धर्मस्थानक रूप सामायिक-विद्यालय में वह समभाव का अध्ययन, मनन, चिन्तन और यथाप्रसंग प्रयोग करके अभ्यास को परिपक्व बनाए। अभ्यास की परिपक्वता के साथ ही वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में समभाव का परिचय देगा। तात्पर्य यह है कि द्रव्य सामायिक के साथ-साथ भावसामायिक का अभ्यास पहले धर्मस्थान में कर लेगा तो फिर उसे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में समभाव से कोई भी विचलित नहीं कर सकेगा। किन्तु यदि धर्मस्थान रूप विद्यालय में ही वह समभाव में कच्चा रहा, समता की उपासना न कर सका, भोगविलास की लालसा में अपनेपन का भान खो बैठता है, दूसरों की तरक्की देखकर ईर्ष्या से जल उठता है, सम्मान-प्रतिष्ठा के जरा-से स्पर्श से गुदगदा उठता है, जरा से अपमान से वह झुंझला जाता है, माया की छाया में उन्मत्त हो जाता है, आए दिन कलह, दम्भ, वैर-विरोध, विश्वासघात आदि दुर्गुणों के जाल बुनता रहता है, सामायिक में मन चंचल हो उठता है, वह दूसरों से पद-प्रतिष्ठा छीनने की उधेड़बुन करता है, वचन भी कई बार समभाव की छाया से प्रतिकूल और काया की चेष्टाएँ भी विषमभाव को प्रगट करने वालीं। यह द्रव्यसामायिक भी भावसामायिक के लक्ष्य से काफी दूर—कई कोसों दूर है।

भावसामायिक से ओतप्रोत जब द्रव्यसामायिक हो जाती है तो साधक समता के गहन समुद्र में इतना गहरा उतर जाता है कि विषमता की लपटें उसके पास फटक नहीं सकती। वह किसी को इष्ट या अनिष्ट नहीं मानता, न हृदय में हर्ष या शोक की लहर आने देता है। कोई उसे गाली दे या सम्मान करे, कोई उसकी निन्दा करे

या प्रशंसा, कोई उस पर प्रहार करे या उपहार दे, क्या मजाल कि वह अपने मन में भी किसी प्रकार का विषमभाव ले आए ! या राग-द्वेष आने दे। दुःख में घबराने या सुख में फूलने का कोई नामोनिशान तक नहीं। न दुःख से छूटने का कोई अयुक्त प्रयास वह करता है। संयोग-वियोग का भौतिकता से सम्बन्ध है, आत्मा से नहीं, इसलिए वे आत्मा का कुछ भी बना या बिगाड़ नहीं सकते।

कम से कम दो घड़ी (४८ मिनट) के लिए एक स्वच्छ निरवद्य शान्त स्थान में आसन बिछाकर गृहस्थ वेष के कपड़े उतार कर, मुखवस्त्रिका लगा कर, रजोहरण या पूँजनी लेकर एक जगह बैठना और समभाव का चिन्तन-मनन करना, समभाव के परम उपासक वीतराग देव के स्वरूप का चिन्तन करना, जप करना, आनुपूर्वी आदि विविध माध्यमों से परमात्मा या परमेष्ठी का नाम स्मरण करना, आत्मा में समभाव की ज्योति जगाना, मन-वचन-काया की शुद्धि रखना, विधिपूर्वक सामायिक ग्रहण करके समभाव का अभ्यास करना द्रव्यसामायिक है, जबकि भावसामायिक है—राग-द्वेष के प्रसंगों पर समभाव-मध्यस्थता रखना, राग-द्वेषरहित होने का प्रयत्न करना, सावद्ययोग से आत्मा को हटाकर स्वस्वभाव में रमण करना। एक आचार्य सामायिक का लक्षण बताते हुए कहते हैं—

'समता सर्वभूतेषु संयमः शुभभावना।
आर्तरौद्र परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥'

—सभी प्राणियों पर समता (आत्मौपम्यभाव) रखना, पाँचों इन्द्रिय विषयों के निमित्त मिलने पर राग-द्वेष न करना, संयम रखना। अन्तर्हृदय में मैत्री आदि शुभ भावना—शुभ संकल्प रखना और आर्त-रौद्र-ध्यानों का परित्याग करके धर्म-ध्यान का चिन्तन करना सामायिक व्रत है।

सामायिक का लक्षण जरा आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में देखिए—

'रागद्वेष त्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥'

अर्थात्—समस्त सजीव-निर्जीव, मूर्त-अमूर्त पदार्थों पर राग-द्वेष का परित्याग करके समभाव का अवलम्बन लेकर तत्त्वोपलब्धि (समत्वप्राप्ति) मूलक सामायिक अनेक बार करनी चाहिए।

आचार्य हेमचन्द्र द्रव्यप्रधान भावसामायिक का लक्षण योगशास्त्र में देते हैं—

'त्यक्तार्त्तरौद्रध्यानस्य, त्यक्तसावद्यकर्मणः।
मुहूर्तं समतायां तां, विदुः सामायिक व्रतम् ॥'

—गृहस्थ श्रावक का सब प्रकार अशुभ (आर्त-रौद्र) ध्यान और सावद्य (पापमय) कार्यों का परित्याग करके एक मुहूर्त तक समभाव में (आत्म-चिन्तन, समत्व चिन्तन एवं स्वाध्याय आदि में) व्यतीत करना ही गृहस्थ का सामायिकव्रत है।

निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार की द्रव्यभावयुक्त समत्व साधना का कम से कम एक मुहूर्त तक अभ्यास करना ही सामायिक है। समता मन में निश्चलता, रागद्वेष में मध्यस्थता, समभाव, एकीभाव तथा सुख-दुःख में समरसता आदि है।

द्रव्यसामायिक सामायिक की बाह्य क्रियाओं तथा मन-वचन-काया की शुद्धता तक सीमित है, जबकि विषम-भाव का त्याग कर समभाव में स्थित होना, पौद्गलिक पदार्थों का सम्यक् स्वरूप जान कर ममता दूर करना और आत्मभाव में लीन होना भावसामायिक है।

भावशून्य केवल द्रव्यसामायिक रुपये के आकार के सफेद मोटे कागज पर रुपये की छाप है, पर वह बच्चों के खेल में रुपया कहलाकर भी बाजार में रुपये का मोल नहीं पा सकता, जबकि द्रव्यशून्य भावसामायिक रुपये की छाप से रहित केवल चाँदी है, जो कीमत तो रखती है परन्तु सर्वत्र वह सिक्के के रूप में नहीं चल सकती। चाँदी भी हो, उस पर रुपये की छाप भी हो, उस सिक्के का जैसे पूरा मूल्य है, वैसे ही द्रव्य के साथ भाव का मेल होने पर उभयपक्षीय समभाव की साधना पूरी होती है तभी व्यवहारिक शुद्धि तथा क्रमशः आत्म-विकास की अन्तिम मंजिल मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। यह तो हुआ द्रव्यसामायिक के साथ भावसामायिक का योग मिलकर सामायिक व्रत का स्वरूप !

सामायिक का विराट् स्वरूप

परन्तु सामायिक का इससे भी बढ़कर विराट् स्वरूप है, मैं आपको सामायिक के पूर्वोक्त लक्षणों के अनुसार उसके विराट् रूप की झाँकी कराऊँगा।

आर्त-रौद्रध्यान-परित्याग

सामायिक के लक्षणों में सर्वप्रथम आता है—आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान का परित्याग। सामायिक के लक्षणों में इन दोनों दुर्ध्यानों का त्याग मुख्य माना गया है।

अध्यात्म विज्ञान का यह एक सर्वमान्य सत्य है कि मनुष्य जैसा और जिसका ध्यान करता है वैसा ही बन जाता है। **'यद् ध्यायति तद् भवति'** इस सत्य से कोई भी व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता। आर्तध्यान और रौद्रध्यान इन दोनों ध्यानों का आचरण करने वाला वैसा ही बन जाए, तो इसमें कोई सन्देह नहीं। आर्तध्यान व्यक्ति के जीवन में चिन्ता, शोक, सन्ताप, विलाप एवं आर्तनाद का वातावरण समुपस्थित कर देता है। आर्तध्यान के क्षणों में व्यक्ति चाहता हुआ भी मानसिक समता, वाचिक संयम एवं शारीरिक चेष्टाओं का सन्तुलन रख नहीं सकता। उसके मन, वचन, काया तीनों चंचल एवं विषम हो जाते हैं। सामायिक की साधना के लिए आर्तध्यान बहुत बड़ा विघ्नकारक है। वह समभाव के लिए चोर की दीवार है। जब तक साधक के मन से आर्तध्यान के संकल्प-विकल्प नहीं हटते, तब तक वह समत्व की पगडंडी पर आ नहीं सकता। आर्तध्यान ऐसा राक्षस है, जो समता के सत्त्व को चूस लेता है। अतः

सामायिक के साधक को अपना समत्व-पथ निर्विघ्न एवं सकुशल तय करने के लिए आर्तध्यान को पास नहीं फटकने देना चाहिए। जब भी आर्तध्यान आए, समत्व के ज्ञान बल से उसे मनोभूमि से खदेड़ देना चाहिए।

आर्तध्यान क्या है ? पीड़ा, दुख, क्लेश, बाधा, कष्ट एवं व्यथा की परिस्थिति पैदा होने पर मन में चिन्ता, शोक, सन्ताप, अनुताप, विलाप, रुदन आदि नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प उत्पन्न होना आर्तध्यान है।

आर्तध्यान पैदा होने पर अथवा निर्बल मन वाले व्यक्ति द्वारा आर्तध्यान को प्रश्रय देने पर उसका चित्त उस समय के संयोगों में सम रहने के बजाय, विषम हो जाता है। वह अपने मन को उक्त परिस्थिति में समझाकर उसके अनुकूल करने के बजाय चिन्ता आदि विकल्पों में प्रवाहित कर देता है, जिससे सारा ही समत्व नष्ट हो जाता है, मन की शान्ति भंग हो जाती है। आर्तध्यान चार कारणों से उत्पन्न होता है—(१) अनिष्ट संयोग से, (२) इष्ट-वियोग से, (३) प्रतिकूल वेदना से और (४) निदान से। अपने विचार या स्वभाव के प्रतिकूल चलने वाले व्यक्ति या शत्रु, आग, बाढ़ आदि का उपद्रव इत्यादि, अनिष्ट (अप्रिय) व्यक्तियों, वस्तुओं या परिस्थितियों का संयोग प्राप्त होने पर दुर्बलचित्त मनुष्य सहसा व्याकुल हो उठता है। वह शक्ति, धैर्य एवं संयमपूर्वक उस परिस्थिति की वास्तविकता का विचार नहीं करता। वह उन दुःखों से एकदम घबराकर मन में नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों के जाल बिछाता है, रोता, कलपता है—हाय ! कब और कैसे यह दुःख मिटेगा ? हाय, मैं मर गया !

इसी प्रकार अपनी प्रिय वस्तुओं धन, सम्पत्ति, जमीन, पुत्र, स्त्री, पद, प्रतिष्ठा एवं परिवार आदि में से किसी का भी वियोग होने पर चित्त में उद्विग्नता पैदा होना, चित्त उदास और शोकाकुल होना इष्टवियोगज आर्तध्यान है। अपनी प्रिय वस्तु या व्यक्ति का वियोग होने पर कई व्यक्ति तो उन्मत्त से हो जाते हैं, गई हुई या खोई वस्तु या व्यक्ति कैसे प्राप्त हो ? क्या करें ? कहाँ जाएँ ? इत्यादि बातों की उधेड़बुन में रहना।

जयपुर का एक जौहरी श्रावक दिल्ली में जवाहरात खरीदने के लिए आया हुआ था। जवाहरात खरीदकर जब वह तांगे में बैठकर अपने स्थान पर वापिस लौटा तो जिस पेटी में वे जवाहरात रखे थे, वह पेटी तांगे में ही भूल गया। स्थान पर आते ही वह सामायिक साधना में बैठ गया। किन्तु कुछ ही देर बाद सहसा उसे याद आया—"अरे ! वह जवाहरात की पेटी तो मैं तांगे में ही भूल गया। तांगे वाले का नाम भी मैं नहीं जानता, न तांगे के नम्बर का मुझे ध्यान है, अब कैसे हो ? काफी मूल्यवान रत्न उसमें हैं। अगर वह पेटी नहीं मिली तो क्या होगा ? इतनी धनहानि मैं कैसे सह सकूंगा ?" यों चिन्तातुर होकर वह संकल्प-विकल्प करने लगा। सहसा उसे

ध्यान आया कि तू सामायिक की साधना में बैठा है। सामायिक में इष्टवियोगजनित आर्तध्यान करना वर्जित है।

'मेरी भावना' में बताया है—

"इष्टवियोग अनिष्टयोग में सहनशीलता दिखलावे।
रहे अडोल अकम्प निरन्तर, यह मन दृढ़तर बन जावे।"

और फिर मैं आर्तध्यान किसके लिए कर रहा हूँ? वह चीज क्या मेरी थी? आत्मा के सिवाय और सब वस्तुएँ पराई हैं। पराई वस्तु से मेरा संयोग हो जाने से मैंने उनमें अपना ममत्व स्थापित कर लिया। मैं कितना मूढ़ हूँ। भगवान ने जो भी भाव (जैसी भवितव्यता) अपने ज्ञान में देखा है, वही होगा, अन्यथा नहीं; फिर मैं बेकार की चिन्ता क्यों करूँ?"

फिर भी उक्त जौहरी श्रावक का मन नहीं माना। अतः मन को स्थिर करने के लिए उन्होंने उसी समय एक भजन बनाया और वे मधुर स्वर से उच्चारण करने लगे—

"जीव! रे तू ध्यान आरत क्यों ध्यावे?
जो-जो भगवन्त भाव देखिया, सो-सो ही बरतावे।
घटे-बधे नहीं किंचित् मात्र, काहे को मन डुलावे?"

इस भजन को गाते-गाते श्रावक का मन समता में, माध्यस्थभाव में स्थिर हो गया। उन्होंने मन में निश्चय कर लिया—"अगर मेरा संयोग सम्बन्ध उन पदार्थों के साथ होगा तो मिल जायगा, अन्यथा, जैसा होना होगा, होगा; व्यर्थ ही चिन्ता करके आर्तध्यान करने से क्या लाभ? बस, सामायिक पूर्ण होने तक तो वह श्रावक अपनी समत्वसाधना में स्थिर रहे ही, उसके बाद भी वे समता की शीतल सुखद छाया में अपना समय व्यतीत कर रहे थे, तभी सहसा वह तांगे वाला हाँफता-हाँफता आया और बोला—सेठजी! यह आपकी पेटी, जो मेरे तांगे में रखी रह गई थी, संभालिए और मुझे चिन्ता से मुक्त करिये। मैं बड़ी मुश्किल से आपका पता लगाता-लगाता आया हूँ।" जौहरी सेठ ने देखा तो अपनी समत्व-साधना पर उनकी श्रद्धा अत्यधिक बढ़ गई। उन्होंने तांगे वाले को धन्यवाद देते हुए कहा—"तुम्हें बहुत परेशानी हुई, इसके लिए क्षमा करना।"

"इसमें परेशानी की क्या बात है, सेठजी! यह तो मेरा कर्तव्य था।" तांगे वाले ने कहा और चल पड़ा।

यह था, आर्तध्यान के प्रसंग पर सामायिक के साधक का समत्वपूर्ण चिन्तन। सामायिक साधक श्रावक को भी आर्तध्यान का प्रसंग उपस्थित होने पर शीघ्र ही अपने चित्त को समत्व में स्थापित कर लेना चाहिए।

कई दफा साधक को रोगजनित वेदना अत्यन्त प्रतिकूल लगती है और वह

उसे इतना व्यथित कर देती है कि वह निराश होकर आत्महत्या तक करने को उतारू हो जाता है। अथवा अधीर और अशान्त होकर वह छटपटाने लगता है। वह येन-केन-प्रकारेण रोग को ठीक करने के लिए उतावला हो उठता है। अथवा जो भी मिलता है, उसके सामने अपने रोग आदि का दुखड़ा रोने लगता है। यह प्रतिकूल वेदना-जनित आर्तध्यान है, जो समभाव में बाधक है। सामायिक के साधक को इस प्रकार की प्रतिकूल परिस्थिति आने पर सोचना चाहिए—मेरे ही किन्हीं अशुभ कर्मों के कारण यह व्याधि या पीड़ा हुई है, मुझे अपने कर्मों के कर्ज को हँसते हुए समभावपूर्वक सह कर चुका देना चाहिए। अन्यथा, हायतोबा मचाने से तो और नवीन कर्मों का बन्धन होगा, वेदना भी कोई कम नहीं हो जाएगी। मन पर न लेने से वेदना का अनुभव भी कम होगा।

अज्ञान और मोह में अन्धा जीव रात-दिन सांसारिक पदार्थों के उपभोग की लालसा से व्यथित और चिन्तित रहता है। वह उन पदार्थों को पाने व उपयोग करने के लिए इतना पागल हो जाता है कि अहर्निश उन्हीं की उधेड़बुन में लगा रहता है। कैसे अमुक सुन्दर बाग, मनोहर स्त्री, प्रिय महल, अभीष्ट पद आदि को प्राप्त करूँ और उनका उपभोग करूँ ? इत्यादि दुर्विकल्पों में उनका अधिकांश समय व्यतीत हो जाता है। यह निदानजनित आर्तध्यान है, जिसके नशे में आदमी पागल बनकर समभाव से कोसों दूर हो जाता है। वह यह नहीं जानता कि इस प्रकार से भोगों का दुःसंकल्प कितना अनर्थ कर एवं दुर्गतिदायक होता है ! सामायिक के साधक को ऐसे आर्तध्यान से सदैव बचना चाहिए। अगर आ भी जाय तो शीघ्र ही आत्म-चिन्तन करके ऐसे दुर्विकल्पों को खदेड़ देना चाहिए।

इसके बाद दूसरा ध्यान जो त्याज्य है, और समभाव में बाधक है, वह रौद्रध्यान है। रौद्रध्यान आर्तध्यान से कई गुना भयंकर होता है। आर्तध्यानी व्यक्ति तो अपनी ही हानि करता है, किन्तु रौद्रध्यानी अपना और विशेषतः दूसरे का दोनों का अहित करता है। रौद्रध्यानी का मानस अत्यन्त रोष, द्वेष, क्रूरता और कटुरता से भरा होता है। वह अहर्निश किसी न किसी प्रकार से दूसरों की हानि करने की बातें सोचता रहता है। रौद्रध्यान भी चार कारणों से पैदा होता है—(१) हिंसानुबन्ध, (२) मृषानुबन्ध, (३) चौर्यानुबन्ध एवं (४) परिग्रहानुबन्ध।

दुर्बल प्राणियों को मारने, सताने, हानि पहुँचाने एवं पीड़ा देने में मन ही मन अत्यन्त खुशियाँ मनाना, अथवा मन ही मन दूसरों को मारने-पीटने एवं सताने का प्लान बनाना हिंसानुबन्ध रौद्रध्यान है, जो समभाव के बिलकुल विपरीत है। सामायिक के साधक को इस प्रकार के रौद्रध्यान से बचना आवश्यक है।

कुछ लोग हर समय झूठ बोलने, झूठी कल्पनाएँ करने, अपनी झूठी बात को सच्ची सिद्ध करने, किसी पर मिथ्या दोषारोपण करने, दूसरों को झूठ बोलकर ठगने, बहकाने, फुसलाने आदि की योजनाएँ मन ही मन बनाते रहते हैं। यह मृषानुबन्ध

रौद्रध्यान है, जो समत्व साधना में बहुत बाधक है। सामायिक के साधक को कदापि इस दुर्ध्यान के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए।

बहुत-से लोग कोई भी मनोहर पदार्थ देखते हैं तो उसे चुराने, छिपाने, उड़ाने, अपहरण करने, तस्करी करने, लूटने, छीनने आदि दुर्विकल्पों का जाल बुनने लग जाते हैं। अहर्निश वे चोरी के संकल्प-विकल्प में डूबते-उतराते रहते हैं। यह चौर्यानुबन्ध रौद्रध्यान है, जो समत्व की जड़ों को उखाड़ देता है। सामायिक-साधक को चौर्य-सम्बन्धी रौद्रध्यान से अपने को बचाना आवश्यक है।

इसके बाद आता है—परिग्रहानुबन्ध रौद्रध्यान। इस रौद्रध्यान के वश होकर मनुष्य अपने प्राप्त परिग्रह की सुरक्षा और अप्राप्त परिग्रह को प्राप्त करने के लिए भले-बुरे का कुछ भी विचार किये बिना षड्यन्त्र रचता रहता है। रात-दिन उसी विचार में डूबा रहता है, क्रूरातिक्रूर उपाय सोचता रहता है। सामायिक साधक को इस रौद्रध्यान से अवश्य बचना चाहिए।

सावद्ययोगों का त्याग—सामायिक का दूसरा लक्षण है—पापमय या पापकर्म-बन्धजनक मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों का त्याग। अवद्य का अर्थ पाप है। पाप के सहित सावद्य है। सामायिक के साधक को मन, वचन, काया की उन तमाम प्रवृत्तियों (योगों) का त्याग करना आवश्यक होता है, जो पापकर्मबन्धजनक हैं, या जो स्वयं पापमय हैं। आत्मा के लिए जो पाप के स्रोत हैं, वे सब कार्य सावद्ययोग हैं।

पाप और साँप को कभी छोटा नहीं समझना चाहिए। ये दोनों प्राणियों के लिए शत्रु तुल्य हैं। मनुष्य एक बार जिस पाप को छोटा-सा समझ कर अपना लेता है, वही पाप एक दिन बढ़ते-बढ़ते पर्वताकार बन जाता है। अतः सामायिक के साधक को अपने जीवन में पापों को प्रश्रय नहीं देना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि श्रावक जहाँ-जहाँ बुराई या पाप देखे, वहीं उसे दूर करने के लिए बँधा हुआ है, किन्तु मेरा यह निश्चित मत है कि उसे स्वयं पापकार्यों या बुराइयों में भाग न लेने के लिए तो अवश्य बँधा होना चाहिए। मनुष्य जब किसी पाप से बार-बार अभ्यस्त हो जाता है, तो उससे पराजित होने के बाद अपने ऐब को छिपाता है तो उस पाप के साथ-साथ छल-कपट, दम्भ, विश्वासघात या धोखा आदि नये-नये पाप कई गुना बढ़ जाते हैं, वह पाप अधिक विकराल बन जाता है। अतः सामायिक के साधक को पाप से हर समय सतर्क और सावधान ही नहीं रहना चाहिए, बल्कि इस विश्वास के साथ अपनी आत्मशक्ति बढ़ाने की तैयारी करनी चाहिए कि पराजित पापरिपु फिर सदल-बल आ धमक सकता है।

पाप चाहे छोटा हो या बड़ा, वह प्रधानतया समभाव के साधक की प्रगति में बाधक सिद्ध होता है। पाप करने पर अशुभकर्मों का बन्धन होता है, जिससे आत्मा भारी हो जाता है। पापकर्मों से बोझिल आत्मा समभाव या आध्यात्मिक उत्थान को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। जैसे कोई आदमी पैरों में पत्थर बाँधकर पानी पर

तैरना चाहे तो, वह असम्भव है, इसी प्रकार आत्मा के साथ पापकर्मों के वजनदार पत्थर बाँधकर यदि कोई संसार सागर पार करना चाहे तो असम्भव है।

पापकर्म या बुराइयाँ जब मनुष्य के स्वभाव का अंग बन जाती हैं और मनुष्य के दैनिक जीवन में घुलमिल जाती हैं, तब वे मोहवश मनुष्य को स्वाभाविक लगने लगती हैं, वह उनमें कुछ दोष नहीं देख पाता। अगर कोई उस समय उसे उन पापकर्मों या बुराइयों को रोकने के लिए सचेत करता है, या उसकी भर्त्सना करता है तो वह उसे निन्दक या द्वेषी प्रतीत होता है।

प्रश्न यह है कि ऐसी दशा में वे पाप या बुराइयाँ, जो आदत में घुलमिल गई हैं, छूटें तो कैसे छूटें ? इसके उत्तर में भगवान महावीर कहते हैं कि सामायिक की साधना के द्वारा प्रत्येक पाप या बुराई को ज्ञ-परिज्ञा से जान-समझकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से प्रारम्भ में ही खदेड़ दे, त्याग दे। उन पापों या बुराइयों के संस्कार जीवन में प्रविष्ट न हो सकें, इसके लिए वह सामायिक की साधना के समय आत्मालोचन करे, प्रतिक्रमण करे। यदि कोई बुराई या प्रमाद मोहवश अथवा अज्ञानवश प्रविष्ट हो गई है तो उसके लिए आत्मनिन्दा (पश्चात्ताप) करे और गुरु या बड़ों के समक्ष अपने उस पाप या दुष्कर्म को प्रकट कर दे, उनसे प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाय, अथवा उक्त दुष्कृत (पाप) साधारण-सा हो या अशक्य परिहार हो तो उसे अपने मन में दुष्कृत (पाप) समझे और उसको दूर करने की भावना करे, अपने दुष्कृत के लिए मिच्छामि दुक्कडं (मेरा दुष्कृत निष्फल हो) कहे। दूसरों की आलोचना या समीक्षा मनुष्य जितनी कठोरता से करता है, उतनी ही कठोरता एवं निष्पक्षता के साथ अपने दोषों को देखे तो आसानी से पापकर्म पकड़ में आ सकते हैं और उन्हें छोड़ने का उपाय भी सोचा जा सकता है।

शास्त्रकारों ने पाप के अठारह कारण-स्थान बताएँ हैं। उन अठारह ही पापायतनों को यथार्थरूप से जानकर सामायिक साधना में उनका त्याग करना चाहिए। सामायिक में पापों का त्याग करने का यह अर्थ कदापि नहीं लगाएँ कि सामायिक में तो पाप करने नहीं हैं, सामायिक के पश्चात् पाप खुलकर किये जा सकते हैं ! बल्कि सामायिक के बाद भी पापों या पापस्थानों से बचने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। अन्यथा, सामायिक की साधना करने का अर्थ ही क्या हुआ ? सामायिक का अभ्यास यदि जीवन व्यवहार में काम न आए तो वह क्षणिक और सीमित क्षेत्र में बन्द कहलाएगा। परन्तु सामायिक के अभ्यास का प्रभाव सर्वव्यापी होना चाहिए। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र एवं प्रत्येक काल में सामायिक सतत विद्यमान रहनी चाहिए। सामायिक में जितनी जागृति होगी, उतनी ही शुद्धता आएगी।

वैसे तो पापस्थान या पाप के अगणित रूप हैं, एक ही पाप विभिन्न रूपों में जीवन में आता है और सारी साधना को मटियामेट कर देता है। किन्तु शास्त्रकारों ने १८ पापस्थान बतलाए हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३)

अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान, (१४) पैशुन्य, (१५) पर-परिवाद (१६) रति-अरति, (१७) मायामृषावाद और (१८) मिथ्यादर्शनशल्य।

प्राणातिपात का अर्थ सामान्यतया हिंसा करना है। किसी भी जीव के पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, शरीर, श्वासोच्छ्वास एवं आयुष्य, इन दस प्राणों में से किसी भी प्राण का कषाय, प्रमाद या द्वेषवश हनन करना, मारना-पीटना, सताना, क्षति पहुँचाना प्राणातिपात (हिंसा) है। सामायिक के साधक में यह पाप सामायिक के दौरान तो होना ही नहीं चाहिए, किन्तु सामायिक के बाद भी नहीं होना चाहिए।

मृषावाद का अर्थ है—जो बात जैसी देखी, सुनी, सोची, समझी या अनुमान की है, उसे वैसी न कहकर विपरीत रूप में कहना, असलियत को छिपाना। इस पाप से भी व्यक्ति की आत्मा भारी होती है, इसलिए समभावी साधक को इससे बचना चाहिए।

अदत्तादान का अर्थ है—चोरी। दूसरे के स्वामित्व की वस्तु को जबरन अपने अधिकार में कर लेना, उसके स्वामी की आज्ञा या इच्छा के बिना गुपचुप रूप से ग्रहण कर लेना। इस पाप से भी सामायिकव्रती को अवश्य बचना चाहिए।

मैथुन का अर्थ है—स्त्री सेवन। मोहदशा से विकल होकर मन, वचन, काया किसी से भी काम-विकार में प्रवृत्त होना मैथुन है। सामायिक साधना में मनुष्य इस पाप से आत्मभाव को भूल जाता है, तो सारी साधना चौपट हो जाती है।

परिग्रह—मूर्च्छा अथवा आसक्तिपूर्वक आवश्यकता से अधिक पदार्थों को संग्रह करना परिग्रह है। परिग्रह साधक के लिए बोझरूप है, अनेक पापों की जड़ है, उसका परित्याग सामायिक साधना में अनिवार्य है।

क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चार कषाय है। इनका अर्थ स्पष्ट है। ये पाप जब जीवन में आते हैं तो समत्व की साधना को चौपट कर देते हैं। आत्मौपम्य भाव मन में से निकल जाता है।

राग-द्वेष—किसी भी पदार्थ के प्रति मोह या आसक्तिरूप आकर्षण होना राग है, पौद्गलिक सुखाभिलाषा भी राग है, जबकि अपने स्वभाव के प्रतिकूल बात सुन कर या किसी काम को देख कर क्षुब्ध हो उठना द्वेष है।

राग और द्वेष ये दोनों साधक के मध्यस्थभाव को खत्म कर देते हैं। इसलिए समत्व साधक को इनका त्याग अवश्य करना चाहिए। रागद्वेष के वशीभूत होकर मनुष्य अन्य पाप भी करने को उद्यत हो जाता है। वह विचारों का सन्तुलन खो बैठता है।

कलह—अप्रशस्त परिस्थिति या संयोग के मिलने पर कुढ़ कर लोगों से झगड़ा करना कलह है। कलह से आत्मा संक्लेश पाती है, अशान्त हो जाती है, वहाँ समता तो टिक ही कहाँ सकती है?

अभ्याख्यान का अर्थ है—द्वेष या रोषवश किसी व्यक्ति पर मिथ्या दोषारोपण लगाना। मिथ्या कलंक लगाने से समत्व की धज्जियाँ ही उड़ जाती हैं।

पैशुन्य से मतलब है किसी की चुगली करना, आपस में उलटी-सीधी कहकर भिड़ा देना भी पैशुन्य का कार्य है।

पर-परिवाद का अर्थ है—दूसरों की उन्नति न देख सकने के कारण उनसे जल कर उनकी निन्दा करना। इसके मूल में ईर्ष्या होती है। परपरिवाद समत्व के अंकुर को जड़-मूल से उखाड़ देता है।

रति-अरति दोनों एक-दूसरे से विपरीत पाप हैं। विषयानन्दी मनुष्य का अनुकूल संयोगों की प्राप्ति में हर्षित होना रति है, तथा प्रतिकूल वस्तु की प्राप्ति में दुःखित होना—अरति है। इन दोनों के चंगुल में फँसा हुआ व्यक्ति समत्व के सरोवर में डुबकी नहीं लगा सकेगा।

माया-मृषावाद से मतलब है—कपट सहित असत्य बोलना। पॉलिसी से बातें करना और बाहर से सत्य और मन में असत्य दिखाना भी इसी कोटि का पाप-स्थान है। इससे समता रह ही नहीं सकती।

अठारहवाँ पापस्थान **मिथ्यादर्शन शल्य है**, जिसका अर्थ होता है—मिथ्यात्व-रूपी शल्य (बाण या तीक्ष्ण कांटा)। इस पाप के प्रभाव से मनुष्य का कुदेव, कुगुरु, कुधर्म एवं अजीव को क्रमशः देव, गुरु, धर्म और जीव मानना मिथ्यादर्शन शल्य है। यह सभी पापों का मूल है। सामायिक में इस पाप को ले आना, अपनी आत्मा को विषधर से डसाना है। इसलिए साधक को इससे बिलकुल परहेज करना चाहिए।

इन अठारह पापों का यह कच्चा चिट्ठा है। ये तो स्थूल दृष्टि से शास्त्रकारों ने बताए हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पापों का विकटजाल इतना गहन है कि इनमें से किसी एक को भी प्रश्रय दे देने पर अगणित पापों के अंकुर उसमें से फूट जाते हैं। मन का प्रत्येक भाव, जो अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी हो, आत्मलक्षी न होकर विषयलक्षी हो, वह सब पाप है। पाप आत्मा को मलिन, अशान्त एवं संक्लिष्ट बना देते हैं, इसलिए वे त्याज्य ही हैं। नदी की तरह निरन्तर निराबाध बहने वाली आत्मा के साथ जब पापरूपी पत्थर, चट्टान, कंकड़ या मिट्टी मिल जाती है तो उसका प्रवाह रुक जाता है, वह आगे बढ़ने से रुक जाती है।

सर्वेन्द्रिय, मनःसंयम

सामायिक का एक लक्षण यह भी बताया है कि सभी इन्द्रियों और मन पर संयम रखो। इन्द्रियाँ पाँच हैं—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय। इन पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं, उस समय राग (आसक्ति या मोह) तथा द्वेष (घृणा, रोष आदि) न अपने मन में न आने दें, यही समत्व है। जैसे आप सामायिक की साधना में बैठे हैं, वहाँ आपके कानों में संगीत की कर्णमधुर स्वर लहरी पड़ी, कुछ देर बाद तो पड़ौस में ही लोहे पर जोरों से हथौड़े

पड़ने लगे, उसकी कर्कश एवं कर्णकटु आवाज भी कानों में पड़ी। अथवा पहले किसी ने आपकी प्रशंसा की, तत्पश्चात् किसी ने आपकी निन्दा की, आपको गालियाँ दीं, इन दोनों प्रकार की आवाजें या शब्दावली कानों में पड़ने पर सामायिक का साधक न तो मधुर या प्रशंसात्मक स्वरलहरी या शब्दावली पर हर्षित होकर भान भूल जाय, और न ही कर्णकटु या निन्दात्मक शब्द सुनकर मन में उस वस्तु या व्यक्ति के प्रति द्वेष या रोष की भावना आए। दोनों ही परिस्थितियों में साधक मध्यस्थ—सम रहे।

इसी प्रकार सामायिक की साधना में बैठे हैं—आपकी आँखों के सामने सोलह शृंगार से सुसज्जित एक नवयुवती आती है, कुछ ही देर बाद एक काली-कलूटी भंगन आपके चक्षुपथ में आ जाती है, आपकी आँखें दोनों रूपों (दृश्यों) को देखती है, लेकिन आपको न तो नवयुवती को देख कर राग या मोह करना है, और न ही भंगन को देखकर द्वेष या घृणा करनी है। दोनों दृश्यों (रूपों) को देखकर आप सम रहें।

आप सामायिक की साधना में बैठे हों, उस समय पड़ौस में ही गांधी की दूकान के इत्र और सैंट की भीनी-भीनी मनमोहक सुगन्ध आ रही है, कुछ ही देर बाद गन्दी गटर की बदबू आती है, इन दोनों प्रकार की गन्ध के नाक में पड़ने पर आपको न तो सुगन्ध पर राग (मोह) करना है, और न ही दुर्गन्ध के प्रति द्वेष या घृणा करना है। दोनों पर सम रहना है।

सामायिक की साधना में आप बैठे हैं, आपने दया की है। कुछ लोग दया वालों के लिए बढ़िया मिठाइयाँ लाए हैं। उन मिठाइयों को देखकर आपके मुँह में पानी आ जाता है यानी उन पर खाने के लिए आसक्ति होती है, आपका जी ललचा जाता है, कुछ देर बाद एक व्यक्ति दया वालों के लिए सादी बाजरे की रोटियाँ और साग ले आया। आप उन्हें देखकर मन ही मन उनके प्रति घृणा करते हैं खाद्य पदार्थों के प्रति, तथा लाने वाले के प्रति भी तथा रोष भी करते हैं—क्या इस मंगते को कोई अच्छी चीज नहीं मिली, जो यह सादी रोटियाँ उठा लाया है ? सादी रोटियों की तो घर में ही क्या कमी थी ? इस प्रकार मनोज्ञ खाद्य पदार्थों के प्रति आपने राग किया, अमनोज्ञ के प्रति द्वेष किया तो दोनों ही परिस्थितियों में आपने समत्व को खो दिया। समत्व की साधना तभी हो सकती है, जब आप दोनों ही प्रकार की खाद्य सामग्री देखकर मध्यस्थ (सम) रहें और यथालाभ सन्तोष मानें।

इसी प्रकार कोमल गुदगुदा स्पर्श पाकर आपके मन में राग न हो, कठोर या खुरदरा स्पर्श पाकर द्वेष न हो, बल्कि स्पर्शेन्द्रिय के दोनों प्रकार के विषयों में सम रहें, तो आपकी सामायिक साधना शुद्ध है।

मन में भी कई बार पहले देखे-सुने हुए मनोज्ञ-अमनोज्ञ पदार्थों के प्रति मनुष्य राग-द्वेष की भावना ले आता है। वह कई प्रकार की कल्पनाओं का जाल बुनता रहे, समत्व में स्थिर न रहे, तो यह मन का असंयम है। इसी प्रकार अप्राप्त वस्तु की कल्पना की उधेड़-बुन में मन को लगाएँ या जो वस्तु प्राप्त हुई है, वह

अनिष्ट है, प्रतिकूल है तो उसको हटाने की कल्पना में चित्त को बार-बार डांवाडोल करे तो यह मन का असंयम है, जो समत्व को नष्ट करने वाला है।

समत्व का आराधक पाँचों इन्द्रियों तथा मन के अनुकूल-प्रतिकूल या मनोज्ञ-अमनोज्ञ वस्तु या व्यक्ति के प्रस्तुत होने पर असंयम में रमण न करके बहिर्मुखी न होकर संयम में या आत्मस्वभाव में अन्तर्मुखी होकर रमण करता है।

सामायिक की साधना के दौरान ही नहीं, बाहर भी श्रावक को पाँचों इन्द्रियों पर संयम रखने का अभ्यास करना चाहिए। श्रावक को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि पाँचों इन्द्रियों पर असंयम का परिणाम भयंकर होता है।

पतंगा अज्ञानी है, वह प्रकाश के रूप पर मुग्ध एवं आसक्त होकर अपनी जान दे देता है, वहीं जल कर भस्म हो जाता है। दीपक के रूप पर मुग्ध होकर आगा-पीछा न सोचने वाला पतंगा आखिर पाता क्या है? खुद भी जल मरता है और दीपक को भी बुझा देता है। काँटे की नोंक में लगे हुए जरा-से आटे के लोभ पर मछली संयम नहीं कर पाती, और अपने प्राणों से हाथ धो बैठती है। रस का लोलुप भौंरा कमल की पंखुरियों में बन्द होकर हाथी का कलेवा बन जाता है। जाल में बिखरे हुए थोड़े-से दानों की उपेक्षा यदि भोली चिड़िया कर सकी होती तो फड़फड़ा कर मरने की आपत्ति से वह बच सकती थी।

जिह्वेन्द्रिय, अनेकविध स्वादिष्ट भोजन जल्दी-जल्दी अधिक मात्रा में खाने को लालायित रहती है। उसकी तृप्ति असंयमी लोग करते भी हैं। पर इस असंयम के कारण जब पेट खराब होता है, रक्त दूषित बनता है, नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। तब उस देह-दौर्बल्य की समस्या शारीरिक कष्ट ही नहीं, आर्थिक कठिनाई, कार्यों में असफलता आदि की अगणित समस्याएँ पैदा कर देती है। जिह्वेन्द्रिय पर काबू करके जिसने अपने स्वास्थ्य को सँभाल रखा है, उसकी तुलना में असंयमी की समस्याओं में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। इसी प्रकार कामेन्द्रिय की वासना से प्रेरित होकर लोग अपने जीवनरस को इतना निचोड़ डालते हैं कि जवानी में ही बुढ़ापा आ घेरता है। जितने बच्चों का उत्तरदायित्व नहीं उठा सकता, उतने बच्चे उत्पन्न हो जाते हैं। फिर उनकी रोटी, बीमारी, पढ़ाई, शादी आदि की समस्याएँ सामने आती हैं। बच्चा यदि अयोग्य या कुपात्र निकला तो और उलझनें सामने आती हैं। पत्नी भी यदि गुर्दुणी और ककंशा निकली तो वह रोज नई समस्या खड़ी कर देती है। इस प्रकार स्पर्शेन्द्रिय संयम न रखने का परिणाम कितना विषम होता है, यह समझा जा सकता है।

इस प्रकार इन्द्रियों की वासना सेवन करने के समय बड़ी प्रिय लगती है, पर उस भोग के जो दूरगामी परिणाम होते हैं, वे इतनी उलझनें पैदा करते हैं कि मनुष्य के लिए यह भारी बन्धन बन जाता है।

ठग प्रारम्भ में थोड़ा लोभ दिखाकर अन्त में किसी भोले आदमी को बुरी तरह मूंड लेते हैं, यही बात इन इन्द्रियों के सम्बन्ध में समझिए। ये व इनके विषय भी प्रारम्भ में बड़े लुभावने एवं आकर्षक लगते है। किन्तु भोले प्राणी अधीरता से इनके जाल में शीघ्र फंस जाते हैं। यदि इन भोले जीवों में प्रारम्भिक प्रलोभन से बच निकलने योग्य धैर्य रहा होता तो बेचारी की इस प्रकार दुर्गति क्यों होती? जेलखानों में निन्दा, घृणा और यातना का जीवन व्यतीत करने वाले अधिकांश वे हैं, जो अपने तात्कालिक लोभ एवं आवेश का संवरण न कर सके। और आज जन समाज से बहिष्कृत स्थिति में दयनीय जीवन बिता रहे हैं। नरक की बड़ी जेल में ले जाने वाला भी यह एक कारण है—इन्द्रिय-विषयों के प्रलोभन में फिसलने से बच सकने लायक धैर्य का अभाव। यदि वह कभी श्रावक में से निकल सके तो वह सामायिक का उच्च साधक बन कर अपने को आनन्दमय स्थिति में रख सकता है।

सामायिक के चार रूप

सामायिक में समभाव की साधना ही मुख्य है। समभाव कहाँ-कहाँ, किस-किस प्रकार रखना चाहिए? यह प्रश्न बहुत ही गम्भीर है। साधारण व्यक्ति यही समझता है कि सामायिक में क्या रखा है? इसे हर एक व्यक्ति कर सकता है, आसन बिछा कर मुखवस्त्रिका मुंह पर बाँध ली, और एक मुहूर्त बैठ गए, बस हो गई सामायिक। पर सामायिक इतनी सस्ती साधना नहीं है। सामायिक की साधना को बार-बार के अभ्यास से परिपुष्ट एवं एवं सुदृढ़, संस्कारबद्ध बनाने के लिए इसके चार रूपों पर ध्यान देना आवश्यक है—(१) द्रव्यसामायिक, (२) क्षेत्र-सामायिक, (३) काल-सामायिक, (४) भावसामायिक।[1]

द्रव्य-सामायिक का अर्थ है—अच्छे-बुरे, मनोज्ञ-अमनोज्ञ, सजीव या निर्जीव पदार्थों के प्रति रागद्वेष न करते हुए समभाव रखना।

क्षेत्र-सामायिक का मतलब है—कोई भी स्थान या क्षेत्र अनुकूल मिले या प्रतिकूल, दोनों ही अवस्थाओं में राग-द्वेष न करके समभाव रखना।

१ नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से ६ प्रकार से सामायिक की साधना करनी चाहिए। इसके लिए अनागारधर्मामृत (अ० ८) में सुन्दर चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। उसे यहाँ दे रहे हैं—

नाम स्थापनयोर्द्रव्य क्षेत्रयोः कालभावयोः।
पृथग्विनिक्षिप्य विधिवत् साध्याः सामायिकादयः ॥१८॥

—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का पृथक्-पृथक् निक्षेप करके विधिवत् सामायिक आदि की साधना करनी चाहिए।

शुभेऽशुभे वा केनाऽपि प्रयुक्ते नाग्नि मोहतः।
स्वयमवाग्लक्षणं न रतिं यामि, नारतिम् ॥२०॥

समभावी साधक किसी भी क्षेत्र विशेष को पाकर घबराता नहीं, नरक में भी वह स्वर्ग की सृष्टि कर लेता है, क्षुद्र प्रकृति के लोगों के बीच रहते हुए भी वह अपनी समता नहीं खोता, अगर उसे ऐसे क्षेत्र में रहने का काम पड़ता है, जहाँ के लोग क्रूर

-- यदि कोई मेरे विषय में शुभ या अशुभ नाम या शब्दों का प्रयोग करे तो मुझे उसमें मोहवश रति या द्वेषवश अरति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि शब्द मेरा लक्षण या स्वरूप नहीं है।—(नामसामायिक)

यदिदं स्मरयत्यर्चा न तदप्यस्मि किं पुनः।
इदं तदस्यां सुस्थेति धीर सुस्थेति वा न मे ॥२२॥

—यह जो सामने वाली मूर्ति (प्रतिमा) अर्हन्तादि रूप का स्मरण करा रही है, मैं उस मूर्तिरूप नहीं हूँ, क्योंकि मेरा साम्यानुभव न तो मूर्ति में ठहरा हुआ है और न इसके विपरीत है। (स्थापनासामायिक)

साम्यागमज्ञ—तद्देहो तद्विपक्षौ च यादृशौ।
तादृशौ स्तां परद्रव्ये को मे स्वद्रव्यवद्ग्रहः ? ॥२३॥

—सामायिकशास्त्रज्ञाता अनुपयुक्त आत्मा और उसका शरीर तथा इनसे विपक्ष (आगम—नो आगम—भावि नोआगम—तद्व्यतिरिक्त आदि) जैसे कुछ भी द्रव्य शुभ है या अशुभ हैं, रहें, मुझे इनसे क्या ? क्योंकि ये परद्रव्य हैं। इनमें मुझे स्वद्रव्य की तरह कैसे अभिनिवेश हो सकता है ? (द्रव्यसामायिक)

राजधानीति नो प्रीये, नारण्यानीति चोद्विजे।
देशो हि रम्योऽरम्यो वा नात्मारामस्य कोऽपि मे ॥२४॥

—यह राजधानी है, इससे मुझे प्रेम हो, यह अरण्य है, इससे मुझे उद्वेग हो, ऐसा नहीं है, मेरा रमणीय स्थान तो आत्मस्वरूप है। इसलिए मुझे कोई भी बाह्य स्थान रमणीय (मनोज्ञ) या अरमणीय (अमनोज्ञ) नहीं हो सकता।

—(क्षेत्रसामायिक)

नामुहूर्तत्वाद्धिमाद्यात्मा कालः किं तर्हि पुद्गलः।
क्षयोपचर्यते मूर्तस्तस्य स्पृश्यो न जात्वहम् ॥२८॥

—काल द्रव्य तो अमूर्त है। इसलिए हेमन्तादि ऋतुएँ काल नहीं हो सकतीं। बल्कि पुद्गल की उन-उन पर्यायों में काल का उपचार किया जाता है। मैं कदापि उसका स्पर्श्य नहीं हो सकता, क्योंकि मैं अमूर्त व चित्स्वरूप हूँ।

—(कालसामायिक)

सर्वे वैभाविका भावामत्तोऽन्ये तेष्वतः कथम् ?
चिच्चमत्कारमात्रात्मा प्रीत्यप्रीती तनोम्यहम् ॥३०॥

—औदयिक आदि भाव तथा जीवन-मरण आदि ये सब वैभाविक भाव, मेरे नहीं हैं। ये मुझसे भिन्न हैं। अतः चित् चमत्कार मात्रस्वरूप वाला मैं इनमें राग-द्वेषादि को कैसे प्राप्त हो सकता हूँ ? —(भावसामायिक)

और निष्ठुर हों, वहाँ भी वह अपनी शान्त और सम प्रकृति से उन्हें प्रभावित कर देता है।

महात्मा गाँधीजी को एक बार ब्रिटिश सरकार ने अफ्रीका में एक ऐसी जेल में डाल दिया, जहाँ कोई खास सुविधा नहीं थी, कैदी भी जूलू जाति के अपराधी मनोवृत्ति के एवं निष्ठुर थे, जेल के व्यवस्थापक भी कठोरहृदयी थे। महात्मा गाँधी जी ने यह सब देखकर भी अपनी शान्ति नहीं खोई। वे समभाव से सहन करते हुए प्रसन्नता में रहते थे। एक बार एक जुलूजाति के कैदी को बिच्छू ने काट खाया। उसकी पीड़ा के मारे वह कराह रहा था। महात्मा गाँधी जी ने नमक के पानी से प्रयोग से उसका उपचार किया, जिससे उसकी पीड़ा कम हो गई। धीरे-धीरे जब वह स्वस्थ हो गया तो गाँधीजी के चरणों में पड़कर रोता हुआ माफी माँगने लगा कि मैंने आपको बहुत तंग किया, लेकिन आपने सब सह लिया। गाँधी जी ने उसे उठाया और आश्वासन दिया। तब से वह गांधीजी का भक्त बन गया और सेवा करने लगा। यह है जेल जैसे विषम क्षेत्र में भी समभाव से रहने का प्रभाव!

कालसामायिक—कैसा भी काल हो, अपना समभाव न छोड़ना। कई जगह दुष्काल पड़ जाता है, उस समय सामायिक का साधक अपनी समता का परित्याग नहीं करता, समभाव से सब कुछ सहता है। वह दुष्काल निवारण के लिए हर सम्भव प्रयत्न जरूर करता है, परन्तु अभाव से पीड़ित होकर भी रोता-कलपता नहीं, अपने आपको उस परिस्थिति में एडजस्ट कर लेता है। वह काल का गुलाम भी नहीं होता कि हाय, अब तो सर्दी का खराब मौसम आ गया। गर्मी का मौसम अच्छा था। अथवा वर्षा का समय सुहावना था, वह सदैव बना रहता तो कितना अच्छा था। कालासक्त मनुष्य सर्दी, गर्मी या वर्षा में हाय-तोबा मचा देता है। इसी प्रकार अपनी बचपन या यौवन की अवस्था को याद कर-करके काल समभावी मन में व्यथित नहीं होता। वह सोचता है कि समय परिवर्तनशील है। मेरे चाहने से वह थोड़े ही रुक जायगा। अथवा किसी समय अपनी आर्थिक स्थिति तंग होने पर भी कालसमभावी उसके दुःख से विक्षुब्ध नहीं हो जाता, बल्कि वह समभाव से सहन करता है, सोचता है—'यह समय कोई हमेशा थोड़े ही रहने वाला है। यह भी चला जाएगा।' इसी प्रकार किसी समय अपनी आर्थिक स्थिति बहुत अधिक सुदृढ़ हो जाने पर भी वह मन में फूलता नहीं, गर्व नहीं करता, वह समझता है कि ऐसी स्थिति में मुझे गर्व करने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि ऐसी स्थिति भी अस्थायी है। बल्कि यह स्थिति मुझे अपने कर्तव्य का भान कराती है, कि 'मैं अपने दीन-हीन दुःखी बन्धुओं की सेवा करूँ, उनको सहायता दूँ।' किसी समय उच्चपद मिलने पर भी अभिमान करके वह दूसरों का तिरस्कार नहीं करता; बल्कि यही सोचता है कि 'यह पद तो मुझे सेवा करने के लिए मिला है।'

कालसमभाव का एक अर्थ **परिस्थिति समभाव** भी है। व्यक्ति के जीवन में किसी समय सुख, शान्ति, आनन्द और उल्लास आता है, तो दूसरे समय में दुःख,

शोक, अशान्ति, संघर्ष और संक्लेश भी आ सकता है। कोई भी जीव इससे बच नहीं सकता। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आते ही रहते हैं। सुख और दुःख क्या है ? परिस्थितियों का परिवर्तनमात्र ही है। यदि कोई इतना साधन-सम्पन्न भी हो कि उसके जीवन में किसी प्रकार का दुःख, अभाव या संघर्ष की सम्भावना को अवसर न मिले, तो वह निरन्तर अनुकूल परिस्थितियों में रहकर ऊब जायगा। उसके लिए पश्चिम के समृद्ध देशों की तरह एकरस सुख ही दुःख का कारण बन जाएगा। वह एकरसता से थक जाएगा। अप्रिय नीरसता उसे घेर लेगी। मानव-जीवन में दुःख-सुख का आवागमन चलता रहता है। जो सुखी है, उसे दुःख की कटुता का अनुभव करना होगा, और जो दुःखी है, उसे भी कभी न कभी किसी न किसी कारण से सुख की शीतलता को अनुभव करने का अवसर मिलेगा ही।

वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाए तो ये अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी सुख-दुःख का वास्तविक हेतु नहीं हैं। वास्तविक हेतु तो मनुष्य की अपनी मनःस्थिति ही है, जो किसी परिस्थिति विशेष में सुख-दुःख का आरोपण कर लिया करती है। सामायिक के साधक को अमुक परिस्थिति किसी समय पुलकित या हर्षविभोर बना दे, तथा किसी समय वही या दूसरी उसी प्रकार की परिस्थिति पीड़ादायक बन जाए, ऐसा नहीं होता। यदि सुख-दुःख का निवास किसी परिस्थिति विशेष में निहित होता तो तदनुकूल मनुष्य को हर बार सुखी या दुःखी ही होना चाहिए। एक जैसी परिस्थिति में यह सुख-दुःख की अनुभूति का परिवर्तन क्यों ? वह इसीलिए कि सुख-दुःख वास्तव में परिस्थितिजन्य न होकर मनोऽनुभूतिजन्य होते हैं। इस सत्य के अनुसार सामायिक का साधक अपने सुखी या दुःखी होने का कारण अपने अन्तःकरण में खोजता है, परिस्थितियों को श्रेय या दोष नहीं देता। जो मनुष्य अपने दुःख के लिए परिस्थितियों को कोसा करता है तथा सुख के लिए उन्हें धन्यवाद देता है, वह सामायिक विज्ञान से अनभिज्ञ है।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि कोई भी मनुष्य दुःख की कामना कदापि नहीं करता, वह सदैव सुख ही चाह करता है, इसलिए उसे अपनी सुख की कामना पूरी करने के लिए परिस्थितियों पर नहीं, अपने मनोयन्त्र पर विशेष ध्यान देना चाहिए। उसे अपने मन को ईर्ष्या, द्वेष, क्षोभ, चिन्ता या असन्तोष से अभिभूत न होने देना चाहिए। इस प्रकार का निरभिभूत समभावी मन गोमुखी गंगाजल की तरह निर्मल एवं प्रसन्न होता है।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम के समक्ष पहले दिन अयोध्या की राजगद्दी मिलने की प्रसन्नता की परिस्थिति थी, लेकिन दूसरे ही दिन वनवास जाने की अप्रसन्नता की प्रतिकूल परिस्थिति आ गई है, लेकिन दोनों ही परिस्थितियों में श्रीराम का मन समरस रहा। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास जी उनकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

प्रसन्नतायां न गताभिषेकतः,
तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः।

मुखाम्बुजश्रीरघुनन्दनस्य मे,
सदाऽस्तु सा मंजुलमंगलप्रदा ॥

अर्थात्—'राज्याभिषेक की अनुकूल परिस्थिति के चले जाने पर भी जिनका चेहरा प्रसन्न रहा, तथा वनवास के दुःख की प्रतिकूल परिस्थिति के आ पड़ने पर जिनका चेहरा नहीं मुरझाया। ऐसी श्री रघुनन्दन की मुखकमलश्री मेरे लिए सदा मंजुलमंगल प्रदान करने वाली हो।'

हाँ तो, यदि मन प्रसन्न है तो संसार में सर्वत्र प्रसन्नता ही प्रसन्नता दृष्टिगोचर होगी, सुख ही सुख का अनुभव होगा। तब उस समत्व से ओतप्रोत मन को ऐसी सहज प्रसन्नता की दशा में परिस्थितियों के अनुकूल होने की अपेक्षा नहीं रहती। यदि परिस्थितियाँ अनुकूल हैं, मनभावनी हैं तो बहुत अच्छा; परिस्थितियाँ प्रतिकूल हैं, तब भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रसन्नचित्त समभावी साधक उन्हें अनुकूल बनाने के लिए अथक प्रयत्न करेगा, संघर्ष करेगा, पसीना बहाएगा, मूल्य चुकाएगा; कष्ट उठाएगा, कठिनाइयों का स्वागत करेगा, लेकिन दुःखी नहीं होगा। वह यह सब हँसते-हँसते प्रसन्न मन से शान्त मुखमुद्रा में ही करता रहेगा, उसे ऐसे कष्टसाध्य पुरुषार्थ करने में आनन्द आएगा। समभाव-पालन (धर्मपालन) के लिए संघर्ष करने, दुःख सहने और प्रयत्न करने में उसे सुख मिलेगा। जीवन की विभिन्न अटपटी परिस्थितियाँ तथा विविध उपलब्धियाँ उसकी प्रसन्नता को घटा नहीं सकतीं, बढ़ा ही सकती हैं।

जो मनुष्य इस सामायिकविज्ञान का अभ्यासी नहीं है, वह सदैव एकमात्र सुख की स्वार्थकामना करता है, दुःख बिलकुल नहीं चाहता। वह दुःख या क्लेश आ जाने पर हाय-हाय करते हुए हाथ-पैर छोड़कर निराश, निरुत्साह एवं निरुद्यमी होकर बैठा रहता है, और दुर्भाग्य अथवा नियति को कोसता रहता है। सामायिक के साधक को इस प्रकार की सुख की स्वार्थजन्य कामना तथा निरुत्साहवृत्ति शोभा नहीं देती।

सामायिक का अभ्यासी साधक प्रतिकूल परिस्थिति के आने पर चिन्तन करता है—संसार में आज तक अतीत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ और न ही भविष्य में होगा, जिसके जीवन में कभी दुःख की परिस्थिति न आई हो, सदैव सुख के मनभावने सावन की ही सदाबहार रही हो, कभी दुःख और क्लेश के तप्त झोंके न सहने पड़े हों, प्रतिकूल परिस्थिति न आई हो। राजा से लेकर रंक तक तथा बलवान से लेकर निर्बल तक प्रत्येक प्राणी को अपनी-अपनी परिस्थिति में अपनी तरह के दुःख और क्लेश उठाने ही पड़ते हैं। कभी शारीरिक कष्ट, कभी मानसिक क्लेश, कभी सामाजिक कठिनाई, कभी आर्थिक अभाव तो कभी आध्यात्मिक अन्धकार मनुष्य को सताते ही रहते हैं। सदा-सर्वदा कोई भी व्यक्ति कष्ट एवं कठिनाइयों से सर्वथा मुक्त नहीं रह सकता। ऐसी अनिवार्य स्थिति में किसी प्रकार की कठिनाई आ जाने पर मुझे क्यों निराश, चिन्तित एवं क्षुब्ध हो उठना चाहिए? इस प्रकार वह अनुकूल परिस्थिति पाकर हर्षोन्मत्त नहीं हो उठता, तथैव प्रतिकूल परिस्थिति

देखते ही तड़फता नहीं। क्योंकि वह जानता है कि यह मानसिक हीनता का लक्षण है। मानसिक दृष्टि से दुर्बल मनुष्य संसार में कुछ भी करने लायक नहीं होता। वह संघर्षों, मुसीबतों एवं आपत्तियों से डरता है, उनके आने पर निराश या निरुत्साहित हो जाता है, वह कोई बड़ा काम करना तो दूर, साधारण मनुष्यों की तरह साधारण जीवनयापन भी नहीं कर सकता। जिसका हृदय बात-बात में विषाद से आक्रान्त हो जाता है, चिन्ताओं और निराशाओं से अभिभूत हो जाता है, उसका जीना जीना नहीं माना जाता। जिसमें आपत्तियों से संघर्ष करने की हिम्मत नहीं, कठिनाइयों से जूझने का साहस नहीं, उच्च आदर्श के साथ जीने की उत्साहपूर्ण सक्रियता नहीं, वह संसार पर ही नहीं, अपने पर भी बोझ बना हुआ श्वासों का भार ढोया करता है। चिन्तित और निराश व्यक्ति की मनःस्थिति किसी पुरुषार्थ के योग्य नहीं रहती। उसके जीवन-वृक्ष के मूल में दीमक लग चुकी है।

सामायिक साधक यही समझता है कि दुःख, कठिनाइयाँ और आपत्तियाँ हमारे समभाव की परीक्षा लेने आती हैं। वे आते ही हमारी मानसिक प्रसन्नता, हमारी आशा या हमारे उत्साह पर आवरण डाल कर हमारे समक्ष एक कठिन प्रश्न प्रस्तुत कर देती हैं, कि अब कैसे समता रख सकोगे ? यदि हमने उन कठिनाइयों आदि को अपनी आत्म-किरणों पर पर्दा डालने दिया तो हमारे मनोमन्दिर में अन्धकार हो जाएगा, तब तमोजन्य निराशा, क्षोभ, दुःख, भय एवं असन्तोष की अशिव भावनाएँ हमें तरह-तरह से त्रस्त करने लगेंगी, हम अकारण ही पीड़ित रहने लगेंगे। अतः उनके द्वारा हमारी आत्म-किरणों को आवृत्त करने से पहले ही हम अपनी मनः प्रसन्नता या मनः-स्थिति को समता से सबल बना लें, ताकि वे हमें त्रस्त न कर सकें। समतापरायण मनुष्य अपनी प्रसन्नता को किसी भी परिस्थिति में मन्द नहीं होने देता। दुःख, कष्ट, तथा प्रतिकूलताएँ उन पर प्रभाव नहीं डाल सकतीं। हानि के धक्के या असफलता के क्षोभ से वह निराश नहीं होता। कभी-कभी जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं, जिनसे जीवन का हर क्षेत्र निराशा, कठिनाइयों तथा आफतों से भरा दिखाई पड़ता है, जीवन निःसार प्रतीत होने लगता है, फिर भी सामायिक का साधक क्षुब्ध एवं किंकर्त्तव्यविमूढ होकर नहीं बैठता, अपितु समभाव के कवच से सुसज्जित होकर उन कठिनाइयों एवं आफतों का सामना करता है, कमर कस कर योद्धा की तरह जीवन संग्राम में उतर पड़ता है और निश्चय ही विजय प्राप्त करता है। परिस्थिति समभाव के साधक को निम्नलिखित स्वर्ण सूत्र सुन्दर प्रेरणा देता है—

"लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविये मरणे तहा।
समो निंदा पसंसासु, तहा माणावमाणओ॥"

—लाभ की परिस्थिति हो या अलाभ की, सुखमय परिस्थिति हो या दुःखमय, जीवन लम्बा और दीर्घकालीन मिले या आज ही मरण उपस्थित हो जाए, कोई निन्दा

करता हो या प्रशंसा, या सम्मान करता हो या अपमान, सभी परिस्थितियों में सामायिक साधक सम रहे, स्वस्थ और मध्यस्थ रहे।[1]

अलाभ और अभाव की[2] परिस्थिति उपस्थित होने पर सामायिकव्रती निराश नहीं होता। वह यही सोचता है कि प्रतिदिन रात आती है, चारों ओर अंधेरा छा जाता है। रात्रि का अन्धकार किसी को अच्छा नहीं लगता, तब भी लोग उसे सहते हैं, काटते हैं, न घबराते हैं और न हाय-हाय करके रोते-कलपते हैं, क्यों? क्योंकि हर काली रात के पीछे एक प्रकाशमान दिन तैयार रहता है। चिन्ता की बात तो तब हो, जबकि रात का अन्त सम्भव न हो, और प्रभात की सम्भावना न हो। निराशा भी काली अंधेरी रात है, इसका भी तो रात्रि की तरह स्थायी अस्तित्व नहीं होता। शीघ्र ही इसका समाप्त हो जाना निश्चित है।[3] यह अटल नियम है कि निराशा मिटती है, और उसके साथ ही आल्हादकारी आशा अपना नव प्रकाश लेकर आती है।

अतः अलाभ या अभाव की परिस्थिति में समभावी साधक निराशा को अपने पर छाने नहीं देता। वह आशा, उत्साह एवं आत्म-विश्वास तथा साम्य का अवलम्बन लेकर आगे बढ़ता है। जीवन में निराशा को प्रश्रय देना असफलता के लिए मार्ग प्रशस्त करना है।

व्यापार में घाटा हो जाने पर सामायिक का अभ्यासी साधक सोचता है—'व्यापार में घाटा-नफा होता ही रहता है। घाटा कोई अनहोनी बात नहीं। घाटा हो जाने पर भी मेरा पुरुषार्थ तो कहीं नहीं चला गया। मैं फिर बाजार में अपना पैर जमाऊँगा। पहले से अधिक सावधान, सदाशयी रहकर न्याय-नीतियुक्त पुरुषार्थ करूंगा। मेरा पुरुषार्थ देखकर सब मेरे साथ सहयोग करेंगे। आज यदि हानि हुई है तो कल लाभ भी होगा। संसार में ऐसा कौन हुआ है, जिसे सदा लाभ ही लाभ हुआ हो, हानि का मुंह न देखना पड़ा हो। लाभ-हानि दोनों मानव-जीवन की दो समान उपलब्धियाँ हैं, इन्हें समभाव से ग्रहण करना चाहिए।

इस प्रकार लाभ और अलाभ में सामायिक का साधक अपने समत्व का परिचय देता है, वैसे ही सुख और दुःख में भी समत्व का परिचय देगा।

जिसका स्वभाव सन्तोषी है, समत्व से युक्त है, वह अभाव की परिस्थितियों

---

१. जीविते मरणे योगे वियोगे विप्रिये प्रिये।
शत्रौ मित्रे सुखे-दुःखे साम्यं सामायिक विदुः॥—**अमितगति श्रावकाचार ८।३१**

२. सत्तु मित्त-मणि-पाहाण-सुवण्णमट्टियासु।
रागदोसाभावो समदाणाम॥ —**चारित्रसार ५६।१**

३. रागदोसो णिरोहित्ता सव्वदा सव्वकम्मसु,।
सुत्तेसु य परिणामो सामाइयमुत्तमं जाणे॥ —**मूलाचार**

भी व्यग्र अथवा दुःखी नहीं होता। सामायिक का साधक यही सोचता है कि इस संसार में हजारों-लाखों ऐसे व्यक्ति होंगे, जिन्हें सामान्यतः आर्थिक कष्ट रहता है। मुश्किल से रूखी-सूखी रोटी मिल पाती है, फिर भी वे सन्तुष्ट तथा प्रसन्न देखे जाते हैं। अपने आर्थिक कष्ट का रोना रोना या भाग्य को कोसना उन्हें आता ही नहीं। इसके विपरीत असंख्य लोग ऐसे भी मिलते हैं, जो रात-दिन अपने अभाव का रोना रोते और दुर्भाग्य को कोसते रहते हैं। कई लोग ऐसे भी हैं, जिनके पास अपेक्षाकृत अधिक साधन सुविधाएँ है, किन्तु वे उक्त अभावग्रस्त व्यक्ति से भी अधिक असन्तुष्ट एवं दुःखी प्रतीत होते हैं। अतः सुख का निवास संतोषी एवं समभावी मनोवृत्ति में है, प्राप्ति उपलब्धियों में नहीं। कितने ही मनुष्यों का स्वभाव होता है कि वे वर्तमान परिस्थितियों से असन्तुष्ट रहते हैं। उनका वर्तमान कितना ही अनुकूल क्यों न हो, वे असन्तोष या खिन्नता का कोई न कोई कारण निकाल ही लिया करते हैं। वे अतीत से लगाव करके वर्तमान में असन्तोष का कारण सोचा करते हैं कि वे अपने बीते दिनों में बहुत अधिक प्रसन्न एवं सुखी थे। जबकि वास्तव में ऐसा बिलकुल होता नहीं। उनका अतीत जब वर्तमान था, तब भी वे आज की तरह असन्तुष्ट एवं अप्रसन्न थे। अतः सुखी एवं प्रसन्न रहने का एक ही उपाय है कि अपनी वर्तमान स्थिति से सामंजस्य रखते हुए सन्तुष्ट रहा जाए।

कभी-कभी दूसरों को अपने से अधिक साधन-सुविधा सम्पन्न देखकर व्यक्ति को असन्तोष होता है, उस सम्पन्न व्यक्ति से अपनी कमी की तुलना करके वह असन्तुष्ट हो जाता है। हमारे पास तो एक छोटा-सा मकान है। दूसरों के पास तो ऊँची-ऊँची कोठियाँ हैं। तब उसके हृदय में अपनी स्थिति को हीन समझकर असन्तोष की चिनगारी दहकने लगती है और उसकी सारी सुख-शान्ति भस्म हो जाती है। परन्तु सामायिक का साधक दूसरों की सम्पन्न स्थिति देखकर असन्तोष से खिन्न या अप्रसन्न नहीं होता। वह अपनी दृष्टि को उन लोगों की ओर मोड़ देता है, जिनके पास न तो दोनों समय की रोटी है, न तन पर पूरे कपड़े है और न ही सिर छिपाने को झोंपड़ी है, अर्थात् कम से कम सुख-सुविधाएँ उन्हें उपलब्ध हैं, फिर भी वे हर समय सन्तुष्ट, प्रसन्न एवं सुखी रहते हैं। न तो वे अभाव का अनुभव करते है, न अपने को दुःखी एवं दुर्भाग्यपूर्ण मानते हैं। वे ईमानदारी से परिश्रम करते है, प्राप्त पदार्थ में सन्तोष करते हैं और प्रसन्नतापूर्वक जीवन जीते हैं। इस प्रकार सामायिक साधक भी दूसरों की अत्यधिक सम्पन्न स्थिति देखकर अपने समत्व भाव में लीन रहे। अपने से हीन लोगों को सन्तुष्ट देखकर स्वयं भी प्राप्त पदार्थों के लाभ में सन्तुष्ट रहे। सामायिक का साधक सन्तुष्ट एवं समत्वयुक्त होकर जीना सीख जाता है तो उसके लिए संसार में कोई दुःख शेष नहीं रह जाता। वह प्रत्येक वस्तु एवं परिस्थिति को सुख में रूपान्तरित कर लेता है।

इसी प्रकार सामायिक का साधक जीवन हो या मरण दोनों में सम रहता है। प्रत्येक मनुष्य स्वयं जीवित रहना चाहता है, अपने प्रिय परिजनों को भी

जीवित देखना चाहता है, न अपनी मृत्यु उसे अभीष्ट है, और न ही अपने प्रिय की। परन्तु यह अटल नियम है, जो उत्पन्न होता है, वह एक दिन अवश्य मरता है। मरण अवश्यम्भावी है। जन्म की भाँति मृत्यु जब एक सुनिश्चित सत्य है, तब अपनी या अपनों की मृत्यु के अवसर पर शोक-सन्ताप या विलाप करना सामायिक के साधक का धर्म नहीं है। किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु हो गई, माना कि उसके जाने से हानि या क्षति होती है, सहसा चित्त को कुछ धक्का भी लगता है, और शोक के कारण स्वाभाविक रूप से आँसू भी उमड़ आते हैं। परन्तु सामायिक साधक को वास्तविकता का चिन्तन करके इससे आगे आर्तध्यान की कोटि में प्रवेश नहीं करना चाहिए। उसे मन को समझा कर मध्यस्थभाव (समत्व) में स्थिर करना चाहिए कि घटित हुई घटना अब लौट नहीं सकती, गया व्यक्ति अब वापिस आ नहीं सकता, अतः शोक सन्ताप न करके मध्यस्थ भाव धारण करके मृतात्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, उसके गुणों का स्मरण करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के प्रियजनों का वियोग होता ही है, और उसे उस वियोग को सहना ही पड़ता है, किन्तु जहाँ साधारण व्यक्ति हायतोबा मचाता है, रुदन या विलाप करता है, शोक या सन्ताप किया करता है, वहाँ सामायिक का साधक सामायिक साधना के दौरान तो अपने किसी प्रियजन की मृत्यु का समाचार जान-सुनकर अथवा अपनी मृत्यु की सन्निकटता देखकर शोक-सन्ताप कतई नहीं करता, अपितु सामायिक साधना के बाद भी वह उपर्युक्त प्रकार से शोक-सन्ताप या रुदन-विलाप न करके समत्वभाव में स्थिर हो जाता है। वह दीर्घदृष्टि से विचार करता है कि मेरे लिए जैसा जीवन है, वैसा ही मरण है। मेरे अपने जीवन की परीक्षा ही मृत्युकाल है। इस परीक्षा के समय मुझे रोते-रोते मृत्यु को स्वीकार करने की अपेक्षा हँसते-हँसते वीरतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि रोते-रोते कायरतापूर्वक मृत्यु का स्वीकार करने से व्यक्ति दुर्गति का भागी बनता है। जो व्यक्ति अपने प्रियजन की मृत्यु पर अत्यधिक शोकसन्ताप करते हैं, रोते रहते हैं, भोजन छोड़ देते हैं, मूर्च्छित होकर पड़े रहते हैं, उसके वियोग का बार-बार स्मरण करते हैं, वे अत्यधिक रुदन-विलाप के कारण अपने स्वास्थ्य का नाश कर बैठते हैं, आँखों की ज्योति से हाथ धो बैठते हैं। दिल की धड़कन, उन्माद, ब्लडप्रेशर, अनिद्रा, मूर्च्छा, अपच-उलटी, सिरदर्द आदि अनेक नये रोग उठ खड़े होते हैं, घर की व्यवस्था चौपट हो जाती है, दुकान या व्यवसाय की व्यवस्था भी ठप्प हो जाती है। इस प्रकार मृत्यु-शोक अनेक विपत्तियों का उत्पादक सिद्ध होता है। अतः सामायिक साधक मरण में सम रहता है।

इसी प्रकार जिन्दगी का मोह भी सामायिक साधक को नहीं होता। अगर कोई पापाचरण या शीलहरण का प्रसंग आ जाए तो वह जीवन का मोह छोड़कर हँसते-हँसते मृत्यु स्वीकार कर लेगा।

निन्दा-प्रशंसा में सम—सामायिक साधक निन्दा हो या चाहे प्रशंसा दोनों ही

परिस्थितियों को क्षणिक समझकर सम रहता है। प्रशंसा सुनकर हर्षोन्मत्त नहीं होता निन्दा सुनकर तिलमिलाता नहीं।

सम्मान और अपमान में सम—इसी प्रकार सामायिक के साधक को सम्मान मिलता हो, चाहे अपमान के कड़वे घूंट पीने पड़ते हों, दोनों अवस्थाओं में समभाव का त्याग नहीं करता। वह इन दोनों अवस्थाओं को क्षणिक समझकर दोनों में सम रहते हैं, मन में विकार या वैषम्य नहीं आने देते।

समत्वसाधक—चार शुभ भावनाएँ

सामायिक के लक्षणों के अन्तर्गत शुभभावनाएँ भी समत्व की कारण मानी गई हैं। सामायिक का साधक जब आर्तध्यान और रौद्रध्यान से दूर रहेगा तो स्वाभाविक है कि उसका मनमस्तिष्क खाली नहीं रह सकता। उसका मनमस्तिष्क खाली रहेगा तो पुनः कुछ न कुछ खुराफात मचाएगा। अतः समत्व की साधना को परिपुष्ट करने के लिए आत्मौपम्य की भावना से ओतप्रोत होकर चार भावनाएँ अपनानी चाहिए। ऐसी भावनाएँ समत्वसाधक के हृदय को विशाल बनाकर विश्वप्रेम से आप्लावित कर देती हैं। वे चार मानी गई हैं—मैत्री, करुणा, प्रमोद एवं माध्यस्थ।

मनोविज्ञान का यह माना हुआ तथ्य है कि मनुष्य अपने मन में जिस प्रकार की भावना संजोता रहता है, वह अन्ततः वैसा ही बन जाता है। एक पहलवान और एक श्रमिक अपने-अपने ढंग से शारीरिक श्रम किया करते हैं, पसीना बहाना और शरीर में थकान आना, दोनों क्रियाएँ दोनों जगह समान रूप से होती हैं, परन्तु उनमें से पहलवान हृष्टपुष्ट हो जाता है और मजदूर क्षीण। यह अन्तर सिर्फ भावना का है। पहलवान व्यायाम का श्रम करते समय यही भावना रखता है कि वह जो शारीरिक श्रम कर रहा है या पसीना बहा रहा है, वह स्वास्थ्य-लाभ के लिए कर रहा है और उसे दिनानुदिन स्वास्थ्यलाभ हो रहा है। अपनी इसी भावना के अनुरूप वह हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ हो जाता है। श्रमिक की भावना श्रम करते समय ऐसी नहीं होती, वह सोचता है कि वह पेट के लिए मजबूरी से श्रम कर रहा है, पैसे के लिए पसीना बहा रहा है। अपनी इस भावना के कारण वह पहलवान का-सा श्रम करते हुए भी उसके जैसा हृष्ट-पुष्ट नहीं हो पाता। विवशता एवं मजबूरी की भावना से उसका शरीर थक जाता है, उसकी शक्तियों का ह्रास होता जाता है।

भावना का प्रभाव प्रत्येक क्षेत्र में देखा जा सकता है। जो विद्यार्थी विद्या प्राप्त करने एवं परीक्षा में सफल होने की भावना से अध्ययन करता है, वह शीघ्र ही योग्यता प्राप्त कर लेता है, इसके विपरीत जो मजबूरी से, तथा अभिभावकों एवं अध्यापकों के त्रास से पढ़ा करता है, वह न तो योग्यता प्राप्त कर पाता है, न परीक्षा में ही सफल हो पाता है, उसका अधिकांश श्रम बेकार चला जाता है।

भावना में संजीवनी शक्ति है। जीवन के प्रति निष्ठा रखने वाले एक रोगी ने अपनी भावना को सुदृढ़ किया, अपना आत्मविश्वास जगाया और प्रतिदिन सायं-

प्रातः शान्तचित्त से स्वस्थ होने की भावना की, औषधि भी अमृत भावना के साथ सेवन की। नतीजा यह हुआ कि राजयक्ष्मा का वह रोगी एक दिन पूर्ण स्वस्थ हो गया। भावना में बहुत बड़ी शक्ति है। वह विष को भी अमृत में परिणत कर देती है। राजस्थान की प्रसिद्ध भक्त शिरोमणि नारी मीरा को राणाजी ने एक प्याले में विष घोलकर पीने के लिए भेजा। मीरा की शुभ भावना थी, पुरुषोत्तम श्री कृष्णजी के प्रति उसे अटूट श्रद्धा थी। वह विष का प्याला अमृत समझकर अमृत भावना से गटगटा गई। परिणाम यह हुआ कि वह विष मीरा पर जरा भी प्रभाव न डाल सका। विष भी अमृत बन गया।

आध्यात्मिक जगत् में भी संसार को आत्मौपम्य दृष्टि से देखने की भावना सामायिक का साधक करता है। पवित्र भावनाओं का आत्मा पर महान् प्रभाव पड़ता है। आत्मा को परमात्मा तक पहुँचाने के लिए ये चार व्यापक शुभ भावनाएँ हैं, जो सामायिक-साधक को आध्यात्मिक सुख-शान्ति एवं आत्मा को विशुद्ध बनाने में सहायक हैं। आचार्य अमितगति ने चार भावनाओं की संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार की है—

सत्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदम्,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव॥

—हे परमात्मन्! मेरी यह भावना है कि मेरी आत्मा सदैव प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव, गुणिजनों के प्रति प्रमोद भाव, दुःखित जीवों के प्रति करुणाभाव एवं धर्म से विपरीत आचरण करने वाले अधर्मी या विरोधी जीवों के प्रति रागद्वेष रहित माध्यस्थ्य भाव धारण करे।

मैत्री भावना; सामायिक के साधक की प्राणिमात्र के प्रति आत्मौपम्य भाव को सक्रिय रूप देने वाली है। संसार के समस्त जीवों के प्रति जब मैत्रीभाव होता है, तब वह यथाशक्ति दूसरों का हित करने के लिए उत्सुक रहता है, किसी का भी अहित चिन्तन नहीं करता। अपनी आत्मा के समान सबके दुःख-सुख में सहानुभूति एवं निःस्वार्थ प्रेमभाव रखता है। दूसरी प्रमोद भावना है, जो गुणिजनों, धर्मात्मा पुरुषों, एवं सज्जनों को देखकर पैदा होती है।

गुबरीले कीड़े और भौंरे का उदाहरण स्पष्ट है। गंदा कीड़ा केवल गन्दगी, गोबर और विष्ठा की तलाश में बगीचा छान डालता है और अपनी अभीष्ट चीज ढूंढ़कर ही दम लेता है, इसके विपरीत भौंरा फूलों पर ही दृष्टि रखता है, उन्हीं पर बैठता है और सुगन्धि का लाभ लेता है। बाग में कहीं गोबर पड़ा है या नहीं, इसका पता भी नहीं चलता। इस संसार में मनुष्य भी दो प्रकार के होते हैं। गुबरीले कीड़े के समान कुछ लोग ऐसे हैं, जो अच्छी से अच्छी चीज या व्यक्ति में से भी दोषों की गन्दगी ढूंढ़ते रहते हैं, उन्हें किसी के सद्गुणों की सौरभ बिल्कुल नहीं

सुहाती। परन्तु कुछ लोग भौंरों के समान रुचि वाले होते हैं, जो गुणरूपी सौरभ ही ढूंढ़ते हैं, दोषों की ओर उनकी दृष्टि जाती ही नहीं।

जिन्हें दूसरों के गुणों को देखकर आल्हाद उत्पन्न होता है, उनकी उस मनोवृत्ति को शास्त्रीय भाषा में **प्रमोद (मुदिता) भावना** कहते हैं। यह भावना जब आती है तो साधक में छिद्रान्वेषण या दूसरे के गुणों में दोष निकालने की वृत्ति नहीं रहती। जो छिद्रान्वेषी या परदोषदर्शी होते हैं, वे हमेशा शंकाशील, बहमी एवं अनुदार होते हैं। उन्हें दुनिया बुराइयों से भरी, दुष्ट, दुर्जन और शत्रुतापूर्ण दिखाई देती है, अपने पर आई हुई विपत्ति या दुःख का सारा दोष वे दूसरों पर मढ़ देते हैं। ऐसे लोग अपनी शुद्धता के कारण सबके बुरे, अभिन्न, अनादरपात्र एवं घृणा भाजन ही बने रहते हैं, संसार में कोई उनका मित्र नहीं बनना चाहता, कोई उन्हें सम्मान नहीं देना चाहता। इसके विपरीत जिन्हें दूसरों में गुण देखने की आदत है, वे बुरे लोगों में भी साहस, पुरुषार्थ, चातुर्य या कार्य-कुशलता आदि गुण देखते हैं तो सापेक्ष दृष्टि से उनकी उन विशेषताओं की प्रशंसा करते हैं। बुराइयों का प्रतिरोध या सुधार भी वे प्रेम से, मधुर शब्दों में उक्त व्यक्ति के सद्गुणों की प्रशंसा के साथ करते हैं। जिससे बुरे आदमी को भी अखरता नहीं, वह चिढ़ता नहीं, क्योंकि प्रमोद भावना का साधक जानता है कि किसी को चिढ़ाकर, अपमानित करके या उसकी बुराई को बढ़ा-चढ़ा कर लोगों के सामने उछालने से या उसकी निन्दा करने से उसका सुधार नहीं हो सकता। इसीलिए सामायिक-साधक प्रमोद भावना के द्वारा गुणों की पूजा करता है, गुणिजनों को अपना बनाकर उनसे कुछ न कुछ सीखता है, प्रेरणा लेता है, लाभ उठाता है तथा अवगुणी व्यक्तियों को भी प्रेम से सुधार कर अपना बना लेता है। गुणों की ओर सतत दृष्टि रखने से उसके मन मस्तिष्क में गुण छा जाते हैं।

करुणा भावना, तो सामायिक की साधना का प्राण है। 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' की भावना को चरितार्थ करने के लिए साधक में दुःखित, पीड़ित, पददलित, व्यथित, शोषित लोगों के प्रति सहानुभूति, दया, करुणा और सेवा की भावना जागती है, वह उनके दुःखों को निःस्वार्थ भाव से दूर करने में सहायक होता है। करुणा भाव के द्वारा मनुष्य दूसरों के हृदय को भी जीत लेता है, और उसके जीवन को अच्छाइयों की ओर मोड़ सकता है।

अब आइए चौथी **मध्यस्थ्य भावना** की ओर। जो व्यक्ति अपने प्रति विरोधी हैं, असहमत हैं, द्वेष रखते हैं, दोषदर्शी है, उन पर भी सामायिक साधक द्वेष न रखे, उनके प्रति माध्यस्थ्यवृत्ति-तटस्थ वृत्ति रखे। न उनसे किसी विषय में विवाद करे और न ही उनको प्रोत्साहन दे। विपरीत आचरण वालों के प्रति अपशब्द, गाली या निन्दा का प्रयोग करना तो सरासर विषमता फैलाना है। उसको देखकर मन ही मन कुढ़ना, उसे कोसना, उस पर क्रुद्ध होना भी सामायिक-साधक की दुर्बलता है। विरोधी व्यक्ति

को देखकर उससे घृणा करना भी ठीक नहीं, क्योंकि वह भी द्वेष एवं दुर्भाव के कारण अशुभ कर्मबन्ध का कारण बन जाता है।

अतः सामायिक के साधक को साधनाकाल में और साधना क्षेत्र के बाहर भी सर्वत्र इन चारों भावनाओं द्वारा आत्मा की शक्तियों तथा निजी गुणों का विकास करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक एवं चारित्रसामायिक, ये तीन भेद भी आवश्यकनिर्युक्तिकार ने बताये हैं। सम्यक्त्व (दृष्टि) में, शास्त्र अथवा ज्ञान के सम्बन्ध में तथा चारित्र के सम्बन्ध में समत्व का अभ्यास करना चाहिए। तभी श्रावक की सामायिक सर्वांगीण, सार्वभौम और उज्ज्वलतम हो सकेगी।



3

सामायिकव्रत : विधि, शुद्धि और सावधानी

✡

सामायिक एक आध्यात्मिक साधना है। यह कोई भौतिक साधना नहीं है कि इसमें बाह्य वैभव, आडम्बर या प्रदर्शन किया जाय। भौतिक साधना का फल भी यद्यपि झटपट नहीं मिलता, उसके लिए भी काफी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी पड़ती है, तब सामायिक जैसी आध्यात्मिक साधना के लिए कितनी सावधानी, कितनी धैर्ययुक्त प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, यह आप सहज ही समझ सकते हैं। यही कारण है कि सामायिक जैसी विराट् एवं जीवनव्यापी साधना की विधि तो बहुत ही आसान बताई है, मगर उसके परिपक्व अभ्यास के लिए वर्षों तक निरन्तर नियमित रूप से साधना करना आवश्यक है।

जिस सामायिक को शास्त्रकारों ने मोक्षप्राप्ति का प्रमुख अंग बताया है[1] द्वादश अंगशास्त्र का सारभूत एवं उपनिषद्भूत बताया है, जिस सामायिक अर्थात् आत्मस्थिरता अथवा आत्मभाव में रमणरूप चारित्र के बिना मुक्ति कदापि सम्भव नहीं है,[2] जो पंचम गुणस्थान से लेकर चतुर्दश गुणस्थान तक के समस्त साधकों में होनी अनिवार्य है,[3] जिसका तीर्थंकर भगवान् सर्वप्रथम उपदेश देते हैं। जिस पाठ से प्रत्येक तीर्थंकर मुनिदीक्षा लेते हैं। उस सामायिक की विधि का परिज्ञान न हो तो समभाव में आरोहण कैसे होगा ? इसलिए सामायिकव्रत के आचरण के लिए अथवा उसके दैनिक अभ्यास के लिए उसकी विधि का ज्ञान अनिवार्य है।

साधु और श्रावक की सामायिक में अन्तर

जैनधर्म की जितनी भी साधनाएँ हैं, वे सब मनोविज्ञानसम्मत हैं। साधकों की रुचि, शक्ति और स्थिति के अनुरूप उनमें तारतम्य रखा गया है। ऐसा नहीं है कि सबको एक ही लाठी से हाँकने वाली बात चरितार्थ की गई हो। जैनधर्म में जैसे

---

१ सकलद्वादशांगोपनिषद्भूत सामायिक सूत्रवत् —तत्त्वार्थ टीका

२ 'सामाइयमाइयाइं एकारस अंगाई अहिज्जई····' —अन्तकृत०

३ सामाइयाइया····एसो धम्मो वादो जिणेहिं सव्वेहिं उवइट्ठो करेमि सामाइयं····
—आवश्यक

साधुओं के लिए पाँच महाव्रतों का विधान है, वैसे ही गृहस्थों के लिए पाँच अणुव्रतों का विधान है। परन्तु साधना का तारतम्य तथा विधिविधान साधु-श्रावक का पृथक्-पृथक् होने पर भी दोनों कोटि के साधकों का अन्तिम लक्ष्य (मोक्षप्राप्ति) एक ही है, दोनों के चलने के लिए पथ भी एक ही है, जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र में बताया गया है—**'सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'** 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र, ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग हैं।' यह बात अवश्य है कि साधु-श्रावक की आध्यात्मिक विकास की भूमिका में अन्तर होने के कारण उनकी धर्म (व्रत) साधना में अन्तर अवश्य रखा गया है। स्थानांगसूत्र में साधु और श्रावक दोनों की सामायिक-साधना के सम्बन्धों में कहा गया है—**'आगार सामाइए चेव, अणगार सामाइए चेव'** सामायिक दो प्रकार की है—आगार (गृहस्थ) की सामायिक और अनगार (साधु) की सामायिक।

गृहस्थ की सामायिक की मर्यादा

गृहस्थ की सामायिक अल्पकालिक है, जबकि साधु की जीवनपर्यन्त की है। इसीलिए साधु के सामायिक ग्रहण के पाठ में **'जावज्जीवाए'** (यावज्जीव) पाठ है, जो उसकी जीवनपर्यन्त साधना को सूचित करता है, जबकि गृहस्थ की सामायिक के पाठ में **'जावनियमं'** (यथेच्छ समय-मर्यादा तक) पाठ है, जो अल्पकालिक साधना का द्योतक है। इसी प्रकार साधु की सामायिक के पाठ में **'तिविहं तिविहेणं'** (तीन करण तीन योग से) पाठ है, जबकि श्रावक की सामायिक के पाठ में **'दुविहं तिविहेण'** (दो करण तीन योग से) पाठ है। श्रावक के पाठ में **'करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि'** पाठ तो बिलकुल नहीं है।

यद्यपि गृहस्थों और साधुओं के सामायिक व्रत में आदर्श एक ही है, किन्तु सामायिक ग्रहण के पाठ में अन्तर है। इसका कारण यही है कि गृहस्थ पर घर, दूकान समाज, राष्ट्र आदि की जिम्मेवारी होती है। अतः वह सामायिक-काल में मन-वचन काया से सावद्य प्रवृत्ति नहीं करेगा, न दूसरों से करायेगा, लेकिन घर, दूकान आदि में होने वाले आरम्भ-समारम्भ की प्रवृत्तियों में उसकी ममतारूप अनुमोदना का त्याग वह नहीं कर सकता जबकि साधु का अपने घर व्यापार आदि से कोई ममत्व नहीं होता, वह जब मुनि बनता है, तब इन समस्त वस्तुओं के प्रति मोह-ममता को छोड़ कर बनता है, इसलिए वह जब इनका त्याग करता है तो इनमें होने वाले अनुमोदन का भी त्याग करता है। परन्तु गृहस्थ तो अपने गार्हस्थ्य के उत्तरदायित्व से सर्वथा निवृत्त नहीं हो सकता, इसलिए सामायिक में हिंसा, असत्य आदि सावद्यकार्यों का त्याग वह कृत-कारित के रूप में ही करता है, अनुमोदन खुला रखता है। अर्थात्—मन-वचन-काया से सावद्यप्रवृत्ति स्वयं करने का वह त्याग करता है, दूसरे से कराने का भी त्याग करता है, परन्तु अनुमोदन करने का त्याग नहीं कर सकता।

प्रश्न होता है कि सामायिक साधनाकाल में श्रावक सावद्य प्रवृत्ति के अनुमोदन का त्याग नहीं करता, इसका मतलब यह हुआ कि सामायिक में बैठा हुआ

साधक जब-तब हिंसा, झूठ, चोरी आदि करने वाले या हिंसा, चोरी, झूठ, व्यभिचार आदि की घटनाओं के लिए प्रशंसात्मक उद्गार निकालेगा—"बहुत अच्छा हुआ। वाह-वाह बहुत मजेदार घटना घटी।" अथवा उन कार्यों का समर्थन करता रहेगा कि ऐसा होना तो अच्छा ही है। अथवा मन से ऐसे कार्यों को अच्छा मान कर मन ही मन प्रसन्न होगा। किसी को लुटते-पिटते देखकर कहेगा—'अच्छा हुआ इस कंजूस का माल ले गए तो!" ऐसी दशा में सामायिक का महत्त्व क्या रहा? ऐसी सामायिक जो सावद्य कार्यों के अनुमोदन से युक्त होगी, एक प्रकार का रौद्रध्यान का कारखाना बन जाएगी!

इसके समाधान में शास्त्रीय दृष्टि यह है कि सामायिक में अनुमोदन अवश्य खुला रहता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सामायिक की साधना में बैठा हुआ साधक सावद्य प्रवृत्तियों का समर्थन, अनुमोदन या प्रशंसा करे। बल्कि सामायिककाल में तो किसी प्रकार की पापयुक्त प्रवृत्ति, घटना या पापकर्मपरायण व्यक्ति की प्रशंसा या अनुमोदना का यत्किंचित् भाव भी मन में नहीं रखना चाहिए। सामायिकसाधनाकाल में तो किसी भी प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति न तो स्वयं करनी है, न दूसरों से करवानी है और न ही करने वालों का या वैसी सावद्य घटना का अनुमोदन-समर्थन करना है। सामायिक तो आत्म-विकास की अध्यात्म शक्ति के संवर्द्धन की, आत्मभाव में रमण करने और आत्मगुणों की वृद्धि करने की साधना है, उसमें तो उसे प्राणिमात्र के प्रति आत्मौपम्यभाव रखकर प्राणिमात्र को दुःख या हानि पहुँचाने वाले सावद्य कार्यों का मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से त्याग करना है। किन्तु उसने जो सावद्य योग का अनुमोदन खुला रखा है, उसके पीछे यही आशय है कि श्रावक गृहस्थ की भूमिका में है, वह सांसारिक प्रपंचों का पूर्णतः त्यागी नहीं है। वह सामायिक में बैठा है, लेकिन उसके नाम से पीछे कारोबार चलता है, घर में आरम्भ-समारम्भ भी होता है, अतः संवासानुमति की दृष्टि से उसे अनुमोदन का पाप लगता है। वह लगे बिना नहीं रह सकता। वह तभी छूट सकता है, जब गृहस्थ सर्वथा उन सब व्यापार-व्यवसायों से अपना हाथ खींच ले, सर्वथा मोह-ममता का त्याग कर दे। यद्यपि सामायिकस्थ श्रावक, घर पर जो कुछ भी आरम्भ-समारम्भ चलता रहता है, दूकान पर जो भी व्यवसाय चलता है, या कारखाने आदि में जो कुछ भी प्रपञ्च होता रहता है, उसकी प्रशंसा या समर्थन नहीं कर सकता। यदि वह अपने पीछे होने वाले प्रपंचों का समर्थन या अनुमोदन करता है, तो वह सामायिक साधना से भ्रष्ट हो जाता है तथापि ममता का सूक्ष्म तन्तु, जो उसके जीवन से बँधा हुआ है, उसे वह काट नहीं पाया है, इसलिए संवासानुमतिरूप अनुमोदन से वह छूट नहीं सकता। भगवतीसूत्र में इस सम्बन्ध से पर्याप्त स्पष्टीकरण मिलता है।

हाँ, तो सामायिक से पूर्व और सामायिक के पश्चात् भी आरम्भ-समारम्भ करता है, इसलिए सामायिक काल—एक सामायिक का एक मुहूर्त या दो घड़ी पर्यन्त समय—ही बचता है, जबकि वह आरम्भ-समारम्भ पूर्ण सावद्य प्रवृत्तियों से सर्वथा

बचा रहता है। यही कारण है कि वह एक-दो या कुछ अधिक सामायिक ही कर सकता है, अधिक नहीं; साधु की तरह यावज्जीवन के लिए वह सामायिक ग्रहण नहीं कर सकता। इतना होने पर भी गृहस्थ श्रावक सामायिक के साधनाकाल में, चाहे उसने एक सामायिक ग्रहण की हो या दो-तीन, पूर्ण साधुता नहीं, किन्तु साधु के तुल्य तो अवश्य हो जाता है।[1] आचार्य जिनभद्रगणि के शब्दों में—

सामाइयम्मि कए समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
एएणं कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥२६९०॥ —विशेष० भा०

अर्थात्—सामायिक करने पर श्रावक श्रमण-तुल्य हो जाता है, इसलिए समत्वस्थित स्थितप्रज्ञ श्रावक को प्रतिदिन अनेक बार सामायिक करना चाहिए, समताभाव का आचरण करना चाहिए।

गृहस्थ श्रावक सामायिक साधना करता-करता ही एक दिन सांसारिक धरातल से ऊपर उठकर अध्यात्म के उच्च शिखर पर पहुँच जाता है। चाहिए दैनिक एवं नियमित रूप से सामायिक का अभ्यास। हाँ, तो श्रावक की सामायिक मर्यादा इस प्रकार है—

दो करण (कृत और कारितरूप) से एवं तीन योग (मन-वचन-काया) से एक मुहूर्त (दो घड़ी या ४८ मिनिट) के लिए सावद्य-योगों (पापयुक्त प्रवृत्तियों) का त्याग।

सामायिक की विधि

सामायिक की क्रिया धार्मिक क्रिया है। इस क्रिया के पीछे बहुत ही गूढ़ आशय निहित है। समभाव के संस्कारों को बद्धमूल करने के लिए ही सामायिक की साधना की जाती है। यह साधना अत्यन्त विशुद्ध और समभावप्रेरक है। इसलिए इसकी विधि की जानकारी प्रत्येक सामायिक साधक को होनी चाहिए। अविधि से की हुई कोई भी क्रिया सफल एवं उद्देश्यपूरक नहीं होती। सामायिक की संक्षिप्त और सरल प्रचलित विधि यह है कि सर्वप्रथम एक निरवद्य एकान्त शान्त पवित्र स्थान देखकर, पूंजनी से उसका प्रमार्जन (सफाई) करके शुद्ध आसन (देखभालकर) बिछाएँ। तत्पश्चात् गृहस्थोचित वस्त्र उतारकर सामायिक साधना के योग्य शुद्ध सादे अल्पारम्भी वस्त्र तथा एक उत्तरीय (चादर) पहनें। फिर मुख पर मुखवस्त्रिका लगा कर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके बैठें। पास में प्रमार्जन के लिए पूंजनी अथवा रजोहरण रखें। फिर घड़ी देखकर सामायिक के पाठ बोलें, **'करेमि भंते सामाइयं'** का प्रतिज्ञासूत्र बोलकर सामायिक ग्रहण करें। एक सामायिक लेना हो तो **'जाव**

---

१ सामायिकं श्रितानां समस्त-सावद्ययोग-परिहारात्।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चारित्रमोहस्य ॥१५५॥
—पुरुषार्थ०

नियमं एक मुहूर्त बोलना, दो सामायिक लेना हो तो दो मुहूर्त। इस प्रकार जितनी सामायिक एक साथ ग्रहण करना हो, उतने मुहूर्त बोलें। तत्पश्चात् एक सामायिक के लिए एक मुहूर्त यानी दो घड़ी तक समस्त सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग करके सांसारिक झंझटों से पृथक होकर रहें। सामायिक में अपनी योग्यता के अनुसार स्वाध्याय जप, चिन्तन, ध्यान, धर्मकथा आदि करना, अगर कोई साधु-साध्वी विराजमान हों तो उनका प्रवचन सुनना एवं धर्मचर्चा करनी चाहिए।

सामायिक में स्वाध्याय या पठन-पाठन अथवा चिन्तन-मनन उसी विषय का हो, जो समभाव की वृद्धि करे, आत्मिक विकास की प्रेरणा दे। सामायिक में अश्लील साहित्य या व्यर्थ का मनोरंजन करने वाला साहित्य न पढ़ें, न सुनें। और न ही किसी सांसारिक या घरेलू प्रपंचों या झगड़ों की चर्चा-वार्ता करें। अन्यथा, सामायिक ही प्रपंचमय या कलहमय बन जाएगी।

सामायिक का समय पूरा हो जाने पर सामायिक पारने के पाठ से सामायिक पार लें।

सामायिक ग्रहण करने और पारने की वर्तमान में प्रचलित विधि यह है—

सामायिक ग्रहण करते समय नमस्कार मन्त्र तीन बार, सम्यक्त्वसूत्र (अरिहंतो मह देवो०) तीन बार, गुरुगुणस्मरणसूत्र (पंचेंदिय संवरणं०) एक बार, बोलकर फिर गुरुवन्दन सूत्र (तिक्खुत्तो०) से तीन बार वन्दना करके इरियावहियं (आलोचनासूत्र) से ईर्यापथ-आलोचन इच्छाकारेणं० के पाठ से क्षेत्रशुद्धि करना। फिर तस्सउत्तरी० से कायोत्सर्गसूत्र बोलना। और 'अप्पाणं वोसिरामि, कहने के साथ ही पद्मासन से बैठकर या जिनमुद्रा से खड़े होकर कायोत्सर्ग (ध्यान) करना। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशति स्तव (लोगस्स) का पाठ बोलना, 'नमो अरिहंताणं' पढ़कर ध्यान खोलना। तत्पश्चात् प्रकटरूप में एक बार लोगस्स० बोलना। फिर तिक्खुत्तो० के पाठ से गुरुवन्दन करके गुरु से या वे न हों तो भगवान् की साक्षी से सामायिक की आज्ञा लेना। फिर 'करेमि भंते सामाइयं' का पाठ बोलना। उसके बाद दाहिना घुटना भूमि पर टेक कर, बाँया खड़ा करके उस पर अंजलिबद्ध दोनों हाथ रखकर प्रणिपातसूत्र (नमोत्थुणं०) दो बार बोलना। यह सामायिक ग्रहण करने की विधि हुई।

सामायिक लेकर ४८ मिनट (एक मुहूर्त) तक स्वाध्याय, धर्मचर्चा, आत्मचिन्तन आदि में समय बिताना।

सामायिक पारते समय भी कायोत्सर्ग तक इसी प्रकार पाठ बोलना चाहिए। फिर 'करेमि भंते सामाइयं' के बदले 'एयस्स नवमस्स' आदि पाठ एक बार बोलकर दो नमोत्थुणं (प्रणिपातसूत्र) के विधिपूर्वक उच्चारण से अरिहन्त सिद्धों की स्तुति करके तत्पश्चात् तीन बार नवकारमन्त्र बोलना। इस प्रकार सामायिक पारने की विधि सम्पूर्ण होती है।

सामायिक कब, कितनी देर, कैसे, कहाँ ?

सामायिक की विधि बता दी जाने पर भी कुछ प्रश्न और शेष रह जाते हैं, जो समाधान चाहते हैं। सामायिक की विधि तो हमने बतादी, पर आपके मनमस्तिष्क में यह बात घूम रही होगी कि सामायिक कब करनी चाहिए ? कितने समय तक करनी चाहिए ? सामायिक में कैसे बैठना-उठना चाहिए ? सामायिक कहाँ करनी चाहिए ? सामायिक में क्या-क्या प्रवृत्ति करनी चाहिए ? आदि। वास्तव में सामायिक साधक के मनमस्तिष्क में ये प्रश्न उठने ही चाहिए, क्योंकि सामायिक केवल वेश बदल लेने एवं कुछ पाठ बोल लेने मात्र की ही क्रिया नहीं है, वह जीवन बदलने की क्रिया है, आध्यात्मिक विकास के पाठों को जीवन में उतारने की क्रिया है। इसलिए सामायिक के विधि-विधान भी उतने ही रहस्यपूर्ण हैं और पाठ भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। सामायिक की एक-एक विधि के पीछे आचार्यों का गहन चिन्तन है। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमा-श्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में सामायिक पर बहुत ही विस्तृत चिन्तन दिया है। मैं यहाँ संक्षेप में कुछ बातें आपके सामने प्रस्तुत करूँगा।

सामायिक कब करनी चाहिए ? इस प्रश्न के साथ ही एक प्रश्न और सम्बद्ध है कि कौन-सा समय समभाव को जगाने के लिए उपयुक्त रहेगा ? जैनशास्त्रों में **'काले कालं समायरे'** कहकर जिस धार्मिक क्रिया का जो समय हो, उसी समय में उस धार्मिक क्रिया को सम्पन्न करने का विधान किया गया है। जब शास्त्रों के स्वाध्याय के लिए समय नियत किया गया है, प्रतिक्रमण के लिए, प्रत्याख्यान के लिए समय निश्चित किया गया है, तब सामायिक की साधना और उपासना के लिए समय निश्चित न हो, यह कैसे सम्भव है ? समय की नियमितता का मन पर भी जादू-सा प्रभाव होता है। बीमार को समय पर दवा देने की चिकित्सक हिदायत करता है, अध्ययन के लिए विद्यार्थी को समय पर विद्यालय में पहुँचना होता है, क्योंकि वहाँ अध्यापन का समय निश्चित होता है। आरोग्य के नियमों के ज्ञाता समय पर ही भोजन, शयन आदि करते हैं। इस्लामधर्म में नमाज का समय निश्चित होता है, ईसाई धर्म में प्रार्थना का समय निश्चित होता है, मन्दिरों में पूजा-अर्चा का समय निश्चित

होता है, तब सामायिक जैसी महत्वपूर्ण साधना के लिए समय निश्चित न हो, ऐसा हो नहीं सकता। श्रावक को इतना अभ्यस्त हो जाना चाहिए कि वह अन्य समस्त कार्यों को छोड़कर सामायिक जैसी आवश्यक धर्मक्रिया करे। किन्तु वर्तमान में सामायिक के समय के सम्बन्ध में बहुत अनियमितता चलती है। कभी सुबह कर ली तो कभी दोपहर को आसन लगा कर सामायिक में जम गए, कभी शाम को सामायिक ग्रहण करली। समय का कोई प्रतिबन्ध नहीं!

सामायिक के लिए सबसे अच्छा समय प्रभातकाल ही हो सकता है, क्योंकि उस समय प्रकृति बड़ी ही रमणीय, शान्त और मधुर होती है, न अधिक गर्मी, न अधिक सर्दी, ऐसे समय में, जबकि प्रायः लोग दैनिक कर्म में प्रवृत्त नहीं होते थे, तब साधक का मन समता एवं धर्मजागरण के विचारों में तन्मय हुए बिना नहीं रह सकता। प्रभात का समय जप, ध्यान एवं आत्मचिन्तन के लिए भी अत्यन्त उपयुक्त माना जाता है। स्वर्णिम प्रभातकाल शान्ति और प्रसन्नता का प्रतीक है। आसपास का वातावरण शुद्ध विचारों से परिपूर्ण रहता है। अतः सामायिक जैसी पुनीत क्रिया के लिए प्रभातकाल बहुत ही उपयुक्त है। अगर प्रभातकाल में न हो सके तो सायंकाल का समय भी कई अपेक्षा से दूसरे समयों के बजाय शान्त समझा गया है, उस समय भी सामायिक-साधना की जा सकती है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इस विषय में स्पष्ट चिन्तन दिया है।[1]

दूसरा प्रश्न है—सामायिक कितने समय तक करनी चाहिए?

काल-मर्यादा

सामायिक की समय मर्यादा के सम्बन्ध में भी आजकल कई बुद्धिवादी आक्षेप करते हैं कि सामायिक के लिए समय की मर्यादा क्यों बाँधी जाए? जितनी देर उचित समझे, उतनी देर के लिए श्रावक सामायिक करले, झटपट सामायिक करके और अपने काम-धन्धे में लग जाए। इतना समय कहाँ है, किसी को? आजकल के व्यक्ति शॉर्ट-कट चाहते हैं, शीघ्रता से किसी भी क्रिया को सम्पन्न कर लेना चाहिए। परन्तु जैनाचार्यों ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सोचकर सामायिक की कालमर्यादा निश्चित कर दी है। अगर धार्मिक क्रिया के साथ समय की अवधि निश्चित न की जाए तो साधक के जीवन में शिथिलता, उपेक्षाभाव एवं आलस्य आ जाता है। लौकिक कर्तव्यों, व्यवसायों, दूकानों, कारखानों आदि में भी इसलिए कार्यकाल निश्चित किया जाता है कि कर्तव्य में शैथिल्य, उपेक्षाभाव एवं आलस्य न आ जाय। इसी प्रकार आचार्यों ने सामायिक का काल एक मुहूर्त (४८ मिनट) या घड़ी निश्चित कर दिया। योगशास्त्र के पंचम प्रकाश में आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं—

---

१ रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यंभावनीयम् विचलितम्।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय, तद्गुणाय कृतम् ॥१५४॥
—पुरुषार्थ०

'त्यक्तार्तरौद्रध्यानस्य त्यक्तसावद्यकर्मणः ।
मुहूर्तं समतायां तां विदुः सामायिकव्रतम् ॥'

एक सामायिक की काल-मर्यादा मुहूर्त भर की शास्त्रकारों ने निश्चित की है। जैनागमों में प्रत्येक त्याग, नियम, व्रत, प्रत्याख्यान के लिए कुछ न कुछ काल-मर्यादा निश्चित की गई है। साधु-साध्वियों की सामायिक तथा चारित्र यावज्जीवन के लिए है श्रावक का पौषधव्रत एक अहोरात्र और व्रत आदि के लिए भी यावज्जीवन या एक अहोरात्रि का विधान है। दस प्रकार के प्रत्याख्यानों में नवकारसी का प्रत्याख्यान भी परम्परा से एक मुहूर्तभर का माना गया है। इसी प्रकार सावद्ययोग प्रत्याख्यानरूप श्रावक की सामायिक के लिए भी एक मुहूर्त (४८ मिनट) भर का परिमाण मूलशास्त्रों में न बताए जाने पर भी समझ लेना चाहिए, क्योंकि प्रत्याख्यान-काल नवकारसी के प्रत्याख्यान की तरह कम से कम एक मुहूर्त का माना जाता है।[1] सामायिक का परिमाण मुहूर्तभर का तो इसलिए निश्चित किया गया है कि कोई भी विचार, ध्यान, संकल्प या भाव एक बार में लगातार अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक टिक सकता है। ध्यान के लिए तत्वार्थसूत्र में अन्तर्मुहूर्त (मुहूर्त में से एक क्षण भी कम अन्तर्मुहूर्त माना जाता है) की अवधि मानी गई है। अन्तर्मुहूर्त के बाद अवश्य ही उक्त संकल्प या ध्यान में परिवर्तन आ जाता है। इस दृष्टि से सामायिक का नियम भी अन्तर्मुहूर्त तक एक सरीखी गति से जारी रह सकने के कारण एक मुहूर्त (दो घड़ी) का माना गया है।

दिशाबोध और आसन

सामायिक में बैठते समय साधक का मुख पूर्व दिशा की ओर होना चाहिए अथवा उत्तर दिशा की ओर। क्योंकि ये दोनों दिशाएँ भारतीय संस्कृति में मन्त्र, जप, ध्यान, साधना आदि के लिए उत्तम मानी गई हैं। स्थानांगसूत्र में पूर्व और उत्तर ये दो दिशाएँ श्रेष्ठ मानी गई हैं। विशेषावश्यकभाष्य में भी शास्त्रस्वाध्याय, दीक्षा प्रदान एवं सामायिक-प्रतिक्रमण आदि धर्म-क्रियाओं के लिए पूर्व या उत्तर दिशा की ओर बैठकर करने का विधान है। शास्त्रीय-परम्परा के अतिरिक्त प्राकृतिक दृष्टि से भी इन दोनों दिशाओं का काफी महत्त्व भारतीय संस्कृति में माना गया है। पूर्व दिशा उदय पथ की सूचना देती है। वह अपनी तेजस्विता बढ़ाने, प्रगति करने एवं उन्नति करने की सूचक है। उत्तर दिशा ध्रुव दिशा है। जैसे ध्रुवतारा अपने केन्द्र पर ही स्थिर रहता है, इधर-उधर चलायमान नहीं होता, वैसे ही साधक को

---

१ इह सावद्ययोगप्रत्याख्यानरूपस्य सामायिकस्य मुहूर्तमानता सिद्धान्तेऽनुक्ताऽपि ज्ञातव्या, प्रत्याख्यानकालस्य जघन्यतोऽपि मुहूर्तमात्रत्वात्, नमस्कारसहित प्रत्याख्यानवदिति।
—जिनलाभसूरि, आत्मप्रबोध

अपनी साधना में अपने ध्येय में स्थिर होना चाहिए, इधर-उधर भयों और प्रलोभनों में आकर भटकना नहीं चाहिए।

पूर्व दिशा जहाँ प्रगति एवं क्रान्ति की सूचक है, वहाँ उत्तर दिशा दृढ़ता एवं स्थिरता की सूचक है। साधना में दोनों ही अपेक्षित है। गति के साथ दृढ़ता और शान्ति भी चाहिए।

समस्त जहाजों (जलयानों) में कुतुबनुमा (दिशादर्शक यन्त्र) लगा होता है, जिसकी सुई हमेशा उत्तर की ओर ही रहती है, इसलिए मानना होगा कि उत्तर दिशा में कोई विशेष आकर्षण है। वैदिक संस्कृति के मान्य ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण में पूर्व दिशा देवों की और उत्तर दिशा मनुष्यों की मानी गई है।[1] दक्षिण को वैदिक संस्कृति में यम की और पश्चिम को वरुण की दिशा मानी गई है। कुछ भी हो, पूर्व और उत्तर दिशा का साधना के लिए माहात्म्य तो है ही।

सामायिक में बैठते समय आसन कौन-सा होना चाहिए? इस सम्बन्ध में भी विचार कर लेना आवश्यक है। सामायिक में गलत आसन से या चंचलतापूर्वक ऊट-पटांग ढंग से बैठने को कायिक दोषों में माना गया है। इसलिए सामायिक साधना के प्रति आदर भाव रहे, मन में उत्साह और दृढ़ता रहे, इसके लिए सामायिक में सिद्धासन, पद्मासन या पर्यंकासन इन तीनों में से किसी एक आसन पर बैठने का अभ्यास करना चाहिए।

इन तीनों आसनों में से किसी एक आसन पर सीधे बैठने से मेरुदण्ड सीधा तना हुआ रहेगा, इससे रक्त का संचार भी ठीक होगा और शरीर में स्फूर्ति भी रहेगी। शरीर की स्फूर्ति का मन पर अचूक प्रभाव होता है। सामायिक में सिर झुकाए, उकडू बैठना स्वास्थ्य के लिए भी हानिकारक है, विधि की दृष्टि से भी दोष है। इसी प्रकार टांग पर टांग रखकर बैठना, टांग पसार कर बैठना, अथवा इधर से उधर घूमते रहना, यह सब दोष हैं। साधना में इनसे स्थिरता नहीं आती।

अब रहा प्रश्न यह कि सामायिक के पाठ प्राकृत भाषा में ही क्यों? साधक को तो भावों से मतलब है, भाषा से क्या लेना-देना है? प्राकृत भाषा में बोले जाने वाले पाठों का अर्थ भी झटपट समझ में नहीं आता। फिर यह एक ही भाषा का आग्रह क्यों, जबकि सामायिक तो विश्वभर के सभी भाषा-भाषी कर सकते हैं? ऊपर-ऊपर से सोचने वाले को यह विचार ठीक मालूम देता है, लेकिन दूरदर्शितापूर्वक गम्भीर विचार करने के बाद इसी निष्कर्ष पर हम पहुँचते हैं कि एकवाक्यता, एक-रूपता, एकधर्मिता, एक संस्कृति की दृष्टि से तथा अर्थ गाम्भीर्य की दृष्टि से प्राकृत भाषा में रचित सामायिक पाठ ही उपयुक्त जँचते हैं। प्राकृत में रचित पाठ वीतराग

---

१. 'प्राची हि देवानां दिक्, योदीची दिक् सा मनुष्याणाम्।'

—शतपथ, विशावर्धन

महापुरुषों या समभावी आचार्यों के अन्तर की गहराई से उद्भूत है, जबकि उसका अनुवाद या उसके भावों को लेकर नये ढंग का पाठ विविध भाषाओं में होगा, वह जन-साधारण के द्वारा रचित होगा, उसमें भावों की गहराई कहाँ से आ सकती है ? महापुरुषों के अन्तर् से निःसृत वचन सीधे अन्तर को छू जाते हैं, जिससे भयंकर से भयंकर पापी का भी हृदय-परिवर्तन हो जाता है, जबकि साधारण-जन की वाणी चाहे जितनी अलंकारिक हो, प्रायः प्रभावित नहीं कर पाती। एक भाषा का दूसरी भाषा में कितना ही अच्छा अनुवाद कर लिया जाए, फिर भी जो मौलिकता प्राकृत भाषा में है, वह दूसरी भाषा में नहीं आ सकती। आपने देखा होगा कि बौद्ध धर्म जावा, सुमात्रा, लंका, थाईलैंड, चीन, तिब्बत, बर्मा आदि अनेक देशों में पहुँचा है, लेकिन प्रत्येक बौद्धधर्मी पाली भाषा में बने हुए मौलिक पाठों का उच्चारण करेगा। यही बात मुस्लिम धर्मानुयायियों में देखी जा सकती है। वे अरबी भाषा में बनी हुई कुराने शरीफ की आयतें पढ़ेंगे, नमाज के समय उसी एक ही भाषा का पाठ सबकी जबान पर होगा, चाहे वे बंगाली हों, मराठी हों, पंजाबी हों, ईरानी हों या अफगानी हों।" एक ही भाषा में पढ़ने से सबमें एकरूपता रहती है, और उससे परस्पर आत्मीयता एवं बन्धुता बढ़ती है। अतः सामायिक के समय प्राकृत भाषा में बने हुए पाठों का ही उच्चारण होना चाहिए, वही सभी दृष्टियों से उचित है। कुछ ध्यानपूर्वक प्रयत्न किया जाए तो उन पाठों का अर्थ और भाव भी समझ में आ सकता है।

अतः प्रत्येक श्रावक-श्राविका को श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन सामायिक करना चाहिए। आपका बहुत बड़ा सौभाग्य है कि तीर्थंकरों को, साधु-साध्वियों को जो सामायिक प्राप्त होती है, वही सामायिक साधना आपको भी प्राप्त हुई है। देवता भी अपने मन में अपने देव जन्म की सफलता के लिए सामायिक व्रत स्वीकार करने की अभिलाषा रखते हैं, परन्तु चारित्रमोह के उदय के कारण वे इसे अपना नहीं सकते।

विधिपूर्वक किया गया अनुष्ठान ही सफल

सामायिक दो प्रकार की बताई है—देशसामायिक और सर्वसामायिक। सर्व-सामायिक यावज्जीवन के लिए साधु-साध्वी ग्रहण करते हैं, जबकि देशसामायिक गृहस्थ श्रावक अल्पकाल के लिए ग्रहण करते हैं। किन्तु सामायिक का उद्देश्य यही है कि जो आत्मा अनादिकाल से विषय-कषाय में ग्रस्त होकर पापमय कार्य करने के कारण कर्मों के लेप के कारण भारी हो रहा है, उसे सामायिक के माध्यम से समभाव प्राप्त करके सावद्यकार्यों (पापमय प्रवृत्तियों) का त्याग करके हलका किया जाय। लेकिन सामायिक की क्रिया तभी सफल हो सकती है, जब उसे विधिपूर्वक एकाग्रचित्त होकर किया जाए।

वास्तव में सामायिक क्रिया तब तक सिद्ध नहीं हो सकती, जब तक चित्त में एकाग्रता न हो। चित्त की एकाग्रता या स्थिरता के लिए इन्द्रियों में चपलता का त्याग करना आवश्यक है। अतः सामायिक की शुद्धता और सफलता तभी मानी जाएगी,

जबकि सामायिक में इन्द्रियाँ विषयों की ओर न दौड़ें, मन चंचल न हो। कैसा भी सुन्दर या भयंकर रूप सामने आए, सामायिक का साधक न उस रूप को देख कर मोहित हो, न व्यथित या भयभीत। इसी प्रकार कैसा भी मनमोहक या कर्णकटु शब्द हो उन्हें सुनकर कान न तो आसक्त हों, न व्याकुल हों। इसी प्रकार जब पाँचों इन्द्रियाँ अपने अनुकूल या प्रतिकूल विषयों में राग या द्वेष न करें, मन में भी ऐसे प्रसंगों पर रागद्वेष न आए, अपितु समभाव में स्थित हो। ऐसा करने पर ही सामायिक-क्रिया शुद्ध रह सकती है, वह सफलता के शिखर पर पहुँचा सकती है। इसलिए सामायिक में विषयों में समत्व और समाधि भाव रखने से अभ्यास करने से एक दिन पूर्ण समभाव भी प्राप्त किया जा सकता है। पूर्ण समभाव ही पूर्णता या वीतरागता है। पूर्ण समभाव होने पर आत्मा-परमात्मा बन सकता है।

अभ्यास से शुद्ध और पूर्ण सामायिक संभव

कई लोगों का कहना है कि सामायिक का शुद्ध रूप से तो पालन तभी समझा जा सकता है, जब तृण और स्वर्ण, शत्रु और मित्र, भवन और वन पर रागद्वेष रहित होकर समभाव प्राप्त हो जाए। किन्तु इस प्रकार का पूर्ण समभाव तो तभी प्राप्त हो होता है, जब रागद्वेष का सर्वथा नाश हो जाए। रागद्वेष का सर्वथा नाश तेरहवें गुणस्थान में ही हो सकता है, और तभी वीतरागदशा प्रकट हो सकती है। राग-द्वेष का सर्वथा नाश और वीतरागदशा की अभिव्यक्ति इन दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। आत्मा को शुक्लध्यान में संलग्न करके मोहकर्म की प्रकृतियों का क्षय करने पर ही वह क्रमशः ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान तक पहुँच सकती है। तभी पूर्ण समभाव या भाव सामायिक का पूर्णतया पालन होता है, पहले नहीं। उससे पहले तो रागद्वेष की तरंगें हृदय-सागर में उठती रहती हैं, क्रोधमान-माया-लोभ का प्रवाह बहता रहता है। अतः पूर्ण वीतरागदशा प्राप्त किए बिना व्यक्ति भावसामायिक के शिखर पर पहुँच नहीं सकता।

अतः जब तक हम भाव सामायिक की इस उच्च स्थिति—वीतरागदशा—तक पहुँच नहीं सकते, तब तक द्रव्यसामायिक भी क्यों करें इस प्रश्न के समाधान के लिए जैन सिद्धान्त कहता है कि वीतराग-अवस्था को ध्येय बनाकर उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए द्रव्यसामायिक के सहारे भावसामायिक की ओर चल पड़ो। 'कडे माणे कडं' ही भगवान् महावीर का सिद्धान्त है। जो व्यक्ति द्रव्यसामायिक लेकर ही भावसामायिक का लक्ष्य सामने रखकर, वीतरागता को ध्येय बनाकर सामायिक साधना के क्षेत्र में चल पड़ता है, भले ही वह धीमी गति से, थोड़ा ही चले, एक दिन वह समता यात्री अपनी पूर्णता की मंजिल पर पहुँच सकता है। इसलिए साधक को उस अवस्था के प्राप्त करने के लिए सामायिक क्रिया करते रहना चाहिए। दो हजार मील लम्बी यात्रा करने का संकल्प लेकर चला हुआ यात्री यात्रा के लिए अभी रवाना ही हुआ है, अभी वह गाँव के बाहर ही पहुँचा है फिर भी उसकी लम्बी

यात्रा में इतना पथ तो कम हुआ है ? इसी प्रकार पूर्ण सामायिक करने की दृष्टि से यदि थोड़ा-सा भी पुरुषार्थ किया जाए, तब भी वह सामायिक के छोटे से छोटे हिस्से को वह अवश्य प्राप्त कर लेता है । बूँद-बूँद से समुद्र भरता है । ऐसा न करके यही रोना रोता रहे कि हम क्या करें ? हमारे पास इतने साधन, या ऐसा वातावरण, इतना पुण्य, इतना उन्नत मन-मस्तिष्क नहीं है कि हम शुद्ध और पूर्ण सामायिक कर सकें । यदि किसी के पास मनचाहे साधन, अनुकूल वातावरण, उन्नत मन, प्रबल पुण्य आदि नहीं हैं तो उसे निराश होकर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने अथवा ज्ञानी पुरुषों ने ज्ञान में जैसा देखा होगा, वैसा हो जाएगा, अथवा जब हमारे कषाय मन्द होकर चित्त शान्त होगा, तब करेंगे, ऐसा कहने की कोई आवश्यकता नहीं । उसके पास जो भी साधन हैं, जैसा भी मन है, जितना भी पुण्य है, उसी की सहायता से सामायिक की अपनी कला का आरम्भ कर देना चाहिए । जब चारों ओर अन्धकार छाया हुआ होता है, तो वह दीपक जिसमें छदाम की मिट्टी, पैसे का तेल, और आधे पैसे की बत्ती—कुल मिलाकर दो पैसे की भी पूंजी नहीं है और अपने प्रकाश से लोगों के रुके हुए काम चालू कर देता है । हजारों पैसों के मूल्य वाली वस्तुएँ यों ही चुपचाप पड़ी रहती हैं, किन्तु दो पैसे की पूंजी वाला दीपक प्रकाशमान होता है, अपनी महत्ता प्रगट करता है, लोगों का प्यारा बनता है, प्रशंसित होता है और अपने अस्तित्व को धन्य बनाता है । क्या दीपक ने कभी ऐसा रोना रोया है कि मेरे पास इतने टन तेल होता, इतने किलो रूई होती, इतना बड़ा मेरा आकार होता तभी मैं ऐसा बड़ा प्रकाश करता ? दीपक को निकम्मे एवं बेकार शेखचिल्लियों के-से मनसूबे बाँधने की फुरसत नहीं है । वह अपनी वर्तमान परिस्थिति, हैसियत और शक्ति को देखकर उसका ही आदर करता है, और आत्मविश्वास के साथ सिर्फ दो पैसे की पूंजी से कार्य प्रारम्भ कर देता है । निःसन्देह उसका कार्य छोटा है, पर उस छोटेपन में भी सफलता का उतना ही महत्त्व है, जितना कि चन्द्र और सूर्य के चमकने की सफलता का है । अतः आपने आपको तुच्छ समझकर अपना मूल्य कम न आंको । जैसा भी, जो भी साधन आपके पास है, जितना भी पुण्य, जैसा भी मन है, उसकी सहायता से ही सामायिक की क्रिया प्रारम्भ कर दो । सामायिक तो शिक्षा-व्रत है । बार-बार अभ्यास करने से सामायिक में पूर्णता आएगी । अभ्यास चालू रखना चाहिए । चाहे आज का आज ही साधक द्रव्य सामायिक के साथ-साथ भाव-सामायिक का तालमेल पूरा न बिठा सके, परन्तु प्रतिदिन के अभ्यास से सामायिक में प्रगति होगी, तो एक दिन पूर्णता भी आ सकेगी । परन्तु कर्म या भाग्य को कोस कर चुपचाप बैठ जाना तो अपनी कायरता को ढाँकने का प्रयत्न करता है । अतः उचित यही है कि आत्मा को साक्षी रखकर सावधानीपूर्वक सामायिक क्रिया प्रारम्भ की जाए । आज अशुद्ध करने वाला किसी दिन शुद्ध सामायिक भी करने योग्य हो जाएगा । परन्तु जो सर्वथा नहीं करने वाले हैं, वे क्योंकर आगे बढ़ सकेंगे । वे तो कोरे ही रह जाएँगे । जो बालक आज अस्पष्ट बोलता है, वह कभी न कभी स्पष्ट

बोल सकता है। पर चुपचाप बैठा रहने वाला क्या करेगा ? एक दिन जो साधना-भ्रष्ट तपस्वी था, वही मरीचि तपस्वी कुछ जन्मों के पश्चात् भगवान महावीर के रूप में हिमाचल-सा अचल-अटल महान साधक बन जाता है। अतः सामायिक की क्रिया को कठिन समझकर साहसहीन न बनो, अभ्यास करते जाओ, एक दिन अवश्य ही सफलता आपके चरण चूमेगी।

सामायिक की प्रतिज्ञा का पाठ : विश्लेषण

समभाव प्राप्त करने के लिए अभ्यास रूप जो क्रिया की जाती है उसी का नाम सामायिक है। यही व्याख्या सामायिक की प्रतिज्ञा (संकल्प) करने के पाठ से ध्वनित होती है। श्रावक के लिए सामायिक का प्रतिज्ञा-पाठ इस प्रकार है—

"करेमि भंते ! सामाइयं, सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जाव नियमं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा, तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

अर्थात्—(सामायिक ग्रहणकर्ता कहता है) हे भगवन् ! आपकी साक्षी से मैं सामायिक करता हूँ (कैसी सामायिक ?) सावद्य (पाप युक्त) व्यापारों (कार्यों) का त्याग करता हूँ। (कब तक के लिए ?) जब तक मैं नियम की उपासना करूं। (किस रूप में सावद्य का त्याग ?) दो करण और तीन योग से, मन से, वचन से और काया से (सावद्य व्यापार) न स्वयं करूंगा और न दूसरों से कराऊंगा। इतना ही नहीं, हे भगवन् ! अतीत में जो भी सावद्य कार्य किए हों, उन सबका प्रतिक्रमण करता हूँ, उन सबकी आत्म-साक्षी से, वचन से निन्दा (पश्चात्ताप) करता हूँ, आपकी या गुरुदेव की, साक्षी से गर्हा करता हूँ (मन से घृणा करता हूँ) तथा पापकर्मकर्ता भूतपूर्व मलिन आत्मा का त्याग करता हूँ, कषायादि दुष्प्रवृत्तियों से अपनी आत्मा को हटाता हूँ। नया जीवन ग्रहण करता हूँ।

इस प्रतिज्ञा-पाठ से सामायिक का असली रूप आपके सामने आ जाता है। सामायिक एक प्रत्याख्यान रूप है, संवर रूप भी है, संकल्प रूप भी। अतः कम से कम एक मुहूर्त के लिए उन समस्त प्रवृत्तियों का मन वचन-काया से त्याग किया जाता है, जिनके करने से पापकर्म का बन्ध होता है, आत्मा में पापकर्म का स्रोत आता है। अठारह पापस्थानों की व्याख्या मैं कर चुका हूँ। उनमें से किसी भी कार्य को करने से आत्मा पापकर्म से भारी होता है, अन्तर्हृदय मलिन हो जाता है, आत्म-शुद्धि का नाश हो जाता है, उन मन-वचन-काया रूप तीनों योगों की सावद्य प्रवृत्तियों का स्वीकृत नियमपर्यन्त त्याग करता हूँ। अर्थात् मन से दुश्चिन्तन न करूंगा, वचन से असत्य या दुष्ट वचन नहीं बोलूंगा, काया से दुष्ट आचरण न करूंगा।

कितनी महत्त्वपूर्ण प्रतिज्ञा है ! इस प्रतिज्ञा को निभाने के लिए सामायिक के साधक को प्रमाद, रागद्वेष या सांसारिक प्रपंचों में नहीं उलझना चाहिए। सामायिक करना विषम मन के साथ युद्ध करना है। विषम मन को सतत समभाव में रखने के

लिए उसे प्रशस्त कार्यों में लगाना चाहिए, ताकि वह इन्द्रिय-विषयों की ओर न दौड़े, न इन्द्रियाँ ही विषयासक्त हों। इसके लिए उचित यही है कि सामायिक का साधक सामायिक ग्रहण करके निकम्मा न बैठे, न सांसारिक प्रपंचों में ग्रस्त हो। निकम्मा बैठना, इधर-उधर की गप्पें हाँकना, विषयोत्तेजक या कामोत्तेजक बातें करना, रागद्वेषवर्द्धक प्रपंच करना, सामायिक के उद्देश्य को भुलाना है। अतः सामायिक के समय ऐसे सब सावद्य कार्य छोड़कर सूत्र सिद्धान्त का अध्ययन, मनन, चिन्तन तत्त्व विचार करना चाहिए। अथवा जिन महापुरुषों का ध्यान या स्मरण करने से परम पद की प्राप्ति हो सके, उन आत्मपुरुषों की भक्ति, उपासना व गुणगान में मन को नियोजित कर देना चहिए। ऐसा करने पर ही आत्मा समत्व की उपासना कर सकेगा। सामायिक में चित्त की स्थिरता एवं निरवद्य कार्यों में प्रवृत्त रहने के लिए शास्त्रों में ५ प्रशस्त साधन बताए हैं—वाचना, पृच्छना, पर्यटना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। आत्मविकास एवं धर्मध्यान की प्रेरणा देने वाले प्रशस्त साहित्य का पठन-पाठन **वाचना** है। उक्त साहित्य से उत्पन्न तर्क-वितर्क का समाधान किसी आप्त या ज्ञानी से करना **पृच्छना** है। जो ज्ञान प्राप्त किया है, बार-बार उस पर चिन्तन-मनन करना **पर्यटना** है। चौथा साधन है—**अनुप्रेक्षा**, अर्थात् प्राप्त ज्ञान (या वस्तु स्वरूप बोध) से मुझे क्या प्रेरणा मिल सकती है ? इसे दृष्टिगत रखकर प्राप्त ज्ञान की गहराई में जाना, अनुभव बढ़ाना। बाह्य ज्ञान के बजाय अनुभूत ज्ञान महानिर्जरा और समभाव का सामीप्य प्राप्त कराने वाला है।

सामायिक के प्रतिज्ञा पाठ में **'भंते'** एवं **'पज्जुवासामि'** ये दो शब्द ऐसे हैं, जो सामायिक की प्रगति और सुदृढ़ता के पूर्णसमभावी वीतराग प्रभु की समीपता या सान्निध्य सूचित करते हैं। इसी प्रकार **'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि'** तथा **'तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि'** ये शब्द सामायिक की शुद्धता और पूर्णता के लिए आत्म-शुद्धि रूप साधना को सूचित करते हैं।

सामायिक : उपासना और साधना

भौतिक प्रगति के लिए बलिष्ठ शरीर, प्रशिक्षित मस्तिष्क, आकर्षक व्यक्तित्व अभीष्ट उपार्जन, परिपूर्ण परिवार, आवश्यक वातावरण एवं अनुकूल अवसर की अपेक्षा रहती है। ये साधन जिसको जितने मिल जाते हैं, वह उतनी ही लौकिक सफलता प्राप्त कर लेता है, लेकिन लोकोत्तर सफलता के लिए इनसे भिन्न महत्त्वपूर्ण साधनों को जुटाना अनिवार्य है। क्योंकि आत्मिक प्रगति का मूल्य, महत्त्व एवं प्रतिफल भौतिक सफलताओं की अपेक्षा कई गुना अधिक है। इतने पर भी इसके लिए दो ही साधन पर्याप्त हैं—एक भावनापूर्ण उपासना और दूसरा जीवन को उत्कृष्ट एवं अनुकरणीय बनाने की साधना। इन दोनों के लिए यदि स्थिरबुद्धि और प्रगाढ़ निष्ठा के साथ प्रयत्न किया जाय तो निःसन्देह आत्मिक प्रगति भी भौतिक प्रगति की तरह शीघ्र ही हो सकती है।

जीवन की महत्ता और सफलता आत्मिक प्रगति पर निर्भर है। केवल भौतिक सफलता उतनी ही देर आनन्द देती है, जब तक वह प्राप्त नहीं होती। ज्यों ही वह मिलती है, त्यों ही आनन्द समाप्त हो जाता है। सच्चा और चिरस्थायी लाभ एवं सुख तो आत्मिक प्रगति पर ही निर्भर है। जो साधक मानव-जीवन का श्रेष्ठ उपयोग करके वास्तविक आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें आत्मिक प्रगति के लिए तत्पर होना चाहिए और इन दोनों आधारों—उपासना और साधना का अवलम्बन ग्रहण करना चाहिए।

सामायिक की उपासना और साधना आत्मिक प्रगति का सर्वोत्तम साधन है, इससे लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार की सफलता प्राप्त होती है।

प्रायः देखा जाता है, कि लोग उपासना की इति समाप्ति कुछ कर्मकाण्ड कर लेने, थोड़ा-सा जप या पाठ कर लेने या कुछ पूजा-पत्री कर लेने में ही समझ लेते हैं। किन्तु उपासना में इन कर्मकाण्डों के साथ भावना और साधना का भी समन्वय होना चाहिए। विधि-विधान की कोरी लकीरें पीट लेने से काम नहीं चलता। शारीरिक क्रियाओं के साथ-साथ आत्मिक उद्गार का समन्वय भी अभीष्ट है। अन्यथा, उपासना प्राणवान न होकर, केवल क्रियाकाण्डों का शुष्क ढाँचा मात्र रह जाएगा। उपासना में जितना ध्यान कर्मकाण्डों पर रखा जाता है, उससे भी अधिक ध्यान भावना एवं साधना पर दिया जाना चाहिए। उपासना के साथ भावना और साधना का जितना समन्वय होगा, उतना ही श्रम सार्थक होगा।

उपासना की भाँति साधना भी आत्मिक प्रगति का अनिवार्य अंग है। जीवन शोधन और परमार्थ प्रक्रिया का समन्वय करने से ही साधना का उद्देश्य पूर्ण होता है। उपासना में भगवान का स्मरण प्रधान होता है, जबकि साधना में जीवन शोधन। जो व्यक्ति अपने जीवन को शुद्ध बनाकर वीतराग परमात्मा के सम्मुख उपस्थित होते हैं, वे ही प्रभु की वास्तविक अर्चना और भक्ति करने में समर्थ होते हैं। अतः साधक के जीवन में उपासना और साधना दोनों ही आवश्यक हैं। साधना (आत्मशोधन एवं परमार्थ का पुरुषार्थ) उपासना की सफलता का पथ प्रशस्त करती है। साधना भूमि का निर्माण करने की तरह है, जबकि उपासना उसमें बीज बोना है। जमीन अच्छी हो तो बीज के उगने में सरलता होती है। भूमि को उर्वरा बनाने में बहुत परिश्रम होता है। जमीन तभी उर्वरा बनती है, जब उसमें उचित मात्रा में खाद, पानी, जुताई और मेड़बंदी आदि की व्यवस्था की जाती है। और जमीन उर्वरा हो तभी उसमें बीज बोया जाता है, तथा फसल उगाई जाती है। बीज बोना तो थोड़े समय में, कम खर्च में हो जाता है, जबकि भूमि को उर्वरा, नरम और समतल बनाने में बहुत समय, श्रम एवं खर्च लगता है। इसी प्रकार सामायिक की उपासना थोड़े समय (एक मुहूर्त= ४८ मिनट) में हो जाती है, लेकिन सामायिक की साधना में तो चौबीसों घंटे निरत रहना पड़ता है। प्रतिक्षण यह ध्यान रखना पड़ता है कि किसी भी समय कोई भी

अनुचित सावद्य कार्य, या विचार अपने से न हो जाएं। अधिक पुरुषार्थ साधना में ही करना होता है। उपासना में भावना का और साधना में विवेक का समावेश होता है। भावना उपासना को, और विवेकशीलता साधना को परिपूर्ण बनाती है। इसलिए सामायिक की क्रिया में उपासना और साधना दोनों का जुड़े रहना आवश्यक है। सामायिक क्रिया में साधना (जीवन शोधन) के साथ चलता हुआ उपासना का कार्यक्रम आशाजनक परिणाम एवं चमत्कार लाता है। इसलिए वीतराग, तत्त्वदर्शी आत्मवेत्ताओं ने सामायिक क्रिया में उपासना को नित्यधर्म माना है, जो इस सन्दर्भ में उपेक्षा करते हैं, आलस्य एवं प्रमाद करते हैं, वे एक प्रकार से आत्मिक प्रगति के शत्रु हैं।

उपासना का अर्थ है—समीपता, पास बैठना। जैन दृष्टि से कहें तो आत्मा-अन्तरात्मा का परमात्मा (शुद्ध आत्मा) के समीप बैठना ही उपासना है। समीपता का लाभ और आनन्द सर्वविदित है। सगे-सम्बन्धी दूर-दूर रहते हैं तो चित्त अनमनासा रहता है, पर जब वे साथ रहते हैं तो आनन्दित एवं प्रमुदित रहते हैं। पति-पत्नी, भाई-भाई, मित्र-मित्र जब साथ-साथ रहने का अवसर प्राप्त करते हैं, तब उन्हें अतीव सन्तोष होता है, बल मिलता है। बिछोह में उदासीनता आ घेरती है, एकाकीपन, शैथिल्य एवं दौर्बल्य का अनुभव होता है। प्रियजनों के शरीर और अन्तःकरण एक दूसरे को बल, उत्साह, उचित प्रेरणा और आनन्द देते हैं। इसी कारण प्रियजनों का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति प्रयत्नशील रहता है।

अग्नि की समीपता से ही आप लोग गर्मी प्राप्त कर सकते हैं, उससे दूर रहने पर शरद् ऋतु में उष्णता से मिलने वाले लाभ आप प्राप्त नहीं कर सकते। ठण्ड लग रही हो तो आप जलती हुई आग के निकट जाकर अपना कष्ट दूर कर लेते हैं, भोजन पकाना हो या पानी गर्म करना हो तो आप अग्नि के समीप उन्हें ले जाते हैं। चूल्हा कहीं और पदार्थ कहीं रखा जाए तो भोजन पकाने का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता। इसी प्रकार सामायिक जैसी आध्यात्मिक क्रिया में भी अनन्त शक्ति सम्पन्न, आत्मा के सर्वोच्च गुणसम्पन्न एवं समता के शिरोमणि वीतराग परमात्मा से दूर रहा जाए, उनके पास न बैठा जाए तो समता के तत्त्व, आत्मा के वे गुण आपको प्राप्त नहीं हो सकेंगे; जिनकी प्राप्ति के लिए आप सामायिक करते हैं। वीतराग परमात्मा की समीपता (सान्निध्य) साधक के लिए वैसी ही आवश्यक है, जैसी शीत के कष्ट से काँपते हुए साधारण गृहस्थ के लिए अग्नि की समीपता। अण्डे के लिए पक्षी की समीपता कितनी आवश्यक होती है ? अगर पक्षी अण्डे के समीप न हो तो उसकी छाती की गर्मी अण्डे को न मिलने पर अण्डे पक्षी के रूप में कुछ ही दिनों में विकसित नहीं होते बल्कि अण्ड गन्दी-सी गोली बनकर गल-सड़कर नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार श्रावक या श्रमणोपासक को श्रमण—समत्व के पूर्ण आराधक वीतराग परमात्मा का सान्निध्य परम आवश्यक है। वीतराग परमात्मा की समीपता से सामायिक साधक को उनकी अनन्त शक्तिमत्ता की गर्मी मिलती है, जिससे उसकी आत्मा का आश्चर्यजनक विकास होता है। अर्जुनमाली जैसे पापात्मा को जब वीतराग श्रमण शिरोमणि प्रभु महावीर

का सान्निध्य मिला, अर्जुन की भावना उमड़ी और भगवान महावीर के पास मुनिदीक्षा धारण कर ली। दीक्षा के बाद भगवान महावीर के सान्निध्य में रहकर अनन्तशक्ति-मत्ता की गर्मी पाकर अर्जुन मुनि ने समता की उत्कृष्ट आराधना की जिसके कारण एक दिन के पापात्मा अर्जुन मुनि छह महीनों में आत्मा का पूर्ण विकास कर लेते हैं, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं। अगर सामायिक-साधक वीतराग परमात्मा का सान्निध्य ग्रहण नहीं करता या उससे वंचित रहता है तो उसका आत्म-विकास तो रुकता ही है, बल्कि गला-सड़ा भोग-परायण पामर जीवन जीकर वह अपने हाथों से अपना अधःपतन कर लेता है। इसलिए सामायिक में उपासना के रूप में परमात्मा का सान्निध्य ग्रहण करने से साधक अपनी शक्ति, सामर्थ्य अनन्त गुनी बढ़ा सकता है, इसका ज्वलन्त उदाहरण गजसुकुमार मुनि हैं। अतः वीतराग परमात्मा का प्रत्यक्ष या परोक्ष सान्निध्य अनुग्रह, प्रकाश और मार्गदर्शन, जिस सामायिक साधक ने प्राप्त कर लिया, भक्ति की भाषा में, अध्यात्म जगत् में उसे और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। इस उपलब्धि के फलस्वरूप क्या मिलता है ? इसे वाणी से कहा नहीं जा सकता और लेखनी से लिखा नहीं जा सकता, वह तो अनुभवगोचर वस्तु ही है। मधुमक्खी और भ्रमर फूलों की समीपता से ही जीवित रह सकते हैं, जल की समीपता से ही मछली जीवित रह सकती है, इसी प्रकार सामायिक-क्रियापरायण जाग्रत आत्माएं केवल उत्कृष्टता की भूमिका का रसास्वादन करने के लिए जीवन धारण करती हैं। निकृष्टता की विचारणा और प्रक्रिया उन्हें अटपटी और मृत्यु-सी कष्टदायक लगती हैं। ऐसी उत्कृष्टता की भूमिका कैसे और कहाँ से प्राप्त हो सकती है, इसके उत्तर में, सभी शास्त्र एक स्वर से कहते हैं—वीतराग परमात्मा की समीपता या उपासना ही ऐसी उत्कृष्ट भूमिका प्राप्त हो सकती है, क्योंकि वे उत्कृष्ट हैं, अनन्त शक्तिमान हैं। इसलिए सामायिक का साधक समस्त उत्कृष्टताओं, आत्मशक्तियों, एवं आत्मगुणों के मूल केन्द्र वीतरागप्रभु का सान्निध्य सामायिक में ग्रहण करता है, और पूणिया श्रावक की-सी सन्तोष एवं आनन्द से अन्तःकरण को परिपूर्ण कर सकने वाली स्थिति उत्पन्न करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। उपासना उसी को प्राप्त करने के लिए की जाती है। स्थूल सांसारिक पदार्थ अधिक से अधिक दें तो केवल इन्द्रिय-जन्य वैषयिक सुख दे सकते हैं, वे वासना का क्षणिक सुख और तृष्णा का भ्रमजाल पैदा कर सकते हैं, उनमें उत्कृष्टता नहीं होती। इसलिए वे उत्कृष्टता प्रदान नहीं कर सकते।

अनेक विद्युत-उपकरणों से आश्चर्यजनक और उपयोगी कार्य सिद्ध होने का मूल श्रेय उस विद्युत्धारा को है, जिसके कारण सभी यन्त्र गतिशील रहते हैं। यदि बिजली से उनका सम्बन्ध कट जाय तो वे निकम्मे-से खिलौने भर बन कर रह जाते हैं। उनकी उपयोगिता तभी है, जब वे बिजली के प्रवाह से जुड़े रहें। ठीक इसी प्रकार जब सामायिक-साधक भावात्मक एकता के द्वारा वीतराग परमात्मा के साथ जुड़ा रहता है, तब वह स्वयं सम्यक्ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित रहता है, दूसरों को भी प्रकाशित करता है। यदि यह सान्निध्य या सम्बन्ध कटा रहे तो

अन्दर और बाहर सर्वत्र मोह-माया एवं अज्ञान व मिथ्यात्व का गाढ़ अन्धकार ही छाया रहता है।

किन्तु यह बात निश्चित है कि परमात्मा के साधक का सान्निध्य भावनात्मक दृष्टि से न हो तो मंखलीपुत्र गोशालक की तरह अभीष्ट आनन्द नहीं मिल सकता। दो प्रियजन एक ही किले में कैद रहें, दोनों की कोठरियों के बीच सिर्फ एक दीवार का फासला रहे तो उतना व्यवधान भी दोनों को हजारों मील की दूरी जैसा कष्ट-दायक प्रतीत होता है। जहाँ ऊपरी समीपता, हार्दिक सामीप्य नहीं है, भावात्मक दृष्टि से सान्निध्य नहीं है, वहां साधक परमात्मा के चाहे जितना निकट हो, प्रत्यक्ष भी हो, फिर भी उसे कोई लाभ या आनन्द प्राप्त नहीं होता। जिस घर में आप रहते हैं या जिस भूमि पर आप बैठे हैं, उसके नीचे न जाने कितने लाखों टन चाँदी, सोना, ताँबा, हीरा आदि बहुमूल्य पदार्थ होंगे। परन्तु उसके साथ सीधा सान्निध्य या सामीप्य न होने से, बीच में जमीन का व्यवधान होने से आप उससे लाभान्वित या आनन्दित नहीं होते। बैंकों के खजांची अपने हाथों से लाखों रुपयों को उलट-पुलट करते हैं, परन्तु उन्हें उससे क्या सुख मिलता है? टकसाल में सिक्के ढालने वाले कारीगर प्रतिदिन लाखों रुपये इधर से उधर उठाते-धरते हैं, पर उन्हें उस सम्पत्ति से कोई प्रसन्नता नहीं होती। करण एक ही है—भावात्मक समीपता का न होना। मेले-ठेलों में हजारों आदमी एक-दूसरे के अत्यन्त निकट से सटकर चलते हैं, किन्तु उनमें कोई हार्दिक मेल या परस्पर सहानुभूति पैदा नहीं होती, वे एक-दूसरे से अत्यन्त अपरिचित एवं असम्बद्ध रहते हैं, क्योंकि उनकी निकटता हार्दिक नहीं होती।

परमात्मा के साथ भी सामायिक में भावात्मक समीपता-एकता का सूत्र जुड़ जाता है, तभी आनन्द आता है, लाभ मिलता है। परमात्मा के समीप बैठने—उनके साथ हार्दिक एकता का तार जोड़ने से ही सामायिक साधक आत्मगुणों से प्रकाशित हो सकता है, आत्मशक्तियों से सम्पन्न हो सकता है। उपासना वटवृक्ष का बीज है, जिसकी छाया, पुत्र, पुष्प, फल एवं विशालता से सबका सभी प्रकार से हित ही होता है।

अतः प्रत्येक गृहस्थ-साधक को प्रतिदिन कम से कम एक मुहूर्त का अवकाश सामायिक क्रिया में उपासना के लिए निकालना ही चाहिए। लगभग २३ घण्टे शरीर की आवश्यकताओं और समस्याओं को सुलझाने में जब लगाए जा सकते हैं, तब क्या एक घण्टा भी आत्मा की प्रगति और आवश्यकता की पूर्ति के लिए नहीं लगाया जा सकता? माना कि गृहस्थ श्रावक के लिए शरीर महत्त्वपूर्ण है, उसके तथा उससे सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों के हित साधनार्थ काफी समय और शक्ति लगानी पड़ती है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि आत्मा सर्वथा उपेक्षणीय है। उसकी आवश्यकताओं को समझा ही न जाए। आत्मगुणों एवं आत्मशक्तियों की प्राप्ति एवं आत्मतृप्ति के लिए कुछ किया

ही न जाए। शरीर-पोषण के लिए जैसे भोजन की आवश्यकता होती है, वैसे ही आत्मा के पोषण के लिए भाव-भोजन की आवश्यकता है। अगर शरीर की सुरक्षा के लिए योग्य आहार न मिले तो शरीर दुर्बल एवं तेजोहीन हो जाता है, वैसे ही आत्मा को भाव-आहार न मिले तो वह भी तेजोहीन एवं निर्बल हो जाती है। निर्बल आत्मा किसी भी आत्मिक गुण के विकास या प्रकट करने में निरुत्साही, निराश एवं पुरुषार्थ-हीन हो जाती है। आजकल के लोगों में जो आत्मबल का अभाव मालूम होता है, उसका मूल कारण है—आत्मा को भाव-आहार का न मिलना। शरीर का भोजन अनाज है, जबकि आत्मा का भोजन—सामायिक है। सामायिक आत्मा को भोजन देने और उसे तृप्त करने के लिए है। सामायिक से ही आत्मदेव की या परमात्मा की उपासना हो सकती है। शुद्ध आत्मा या परमात्मा का सान्निध्य सामायिक से ही प्राप्त हो सकता है।

जिसमें लाभ को परखने की जरा भी बुद्धि होगी, उसके लिए यह अनुमान लगाना कठिन नहीं होगा कि जितना श्रम शरीर को सुखी बनाने में किया जाता है, अगर उसका एक अंश भी आत्मकल्याण, आत्मा या परमात्मा की उपासना के मूल स्रोत सामायिकव्रत में लगाया जाए तो अत्यन्त उत्साहवर्द्धक परिणाम निकल सकता है। जिन दूरदर्शी महामानवों ने अपना समय सामायिक के माध्यम शुद्ध आत्मा या परमात्मा की उपासना में लगाया, उनके चरित्र एवं वृत्तान्त पढ़ने पर यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि वे घाटे में नहीं रहे। शरीर के सुखोपभोग में अहर्निश फँसे रहने या तृष्णा एवं वासना की चक्की में पिसते रहने वाले मनुष्यों की तुलना में सामायिक साधक अधिक ही लाभान्वित रहे, जिन्होंने शुद्ध आत्मा या परमात्मा का आश्रय लेकर मनोयोगपूर्वक उपासना में समय बिताया।

अनेक श्रमणों और श्रमणोपासकों, संतों एवं सतियों, श्रावक एवं श्राविकाओं के जीवन इसके प्रमाण हैं। उन्होंने सामायिक से अपार आत्मशक्ति पाई, अपने मंगल-मय वचन एवं मंगल पाठ से असंख्य लोगों के भौतिक कष्ट मिटाए, अन्धकार में भटकते हुए लोगों को ज्ञानज्योति दी। दिव्यलब्धियों एवं सिद्धियों के स्वामी बने।

जो लोग शरीर की ही सेवा-शुश्रूषा में सारी शक्ति लगा देते हैं, आत्मा की बिलकुल ही उपेक्षा करते हैं, उनका कार्य कौरव-पाण्डवों के बीच चलने वाले अनौचित्य जैसा है। व्यक्ति का अज्ञान और मोह दुर्योधन एवं दुःशासन की तरह सारे सामर्थ्य को शरीर सुख में ही खर्च करना चाहता है, आत्मा रूपी अर्जुन के लिए एक मुहूर्त (४८ मिनट) का समय भी नहीं देना चाहता। यह अन्याय, अनीति अन्ततः महाभारत की तरह अनिष्ट परिणाम ही उत्पन्न करेगी, और उस समय जिसके लिए आज शरीर ही एकमात्र साध्य बना हुआ है, वह भी चैन से न रह सकेगा।

परन्तु आजकल एक प्रकार की नास्तिकता फैल रही है कि लोग यह कहते हैं

सामायिक में इतना समय क्यों खर्च करें ? इसके बदले में हमें क्या और कैसा लाभ मिलेगा ? सामायिक करें ही क्यों ? सहज लाभ की यह कल्पना सौदेबाजी है। एक रुपया देकर बदले में एक रुपये का सौदा पाने के लिए झगड़ना व्यापारिक क्षेत्र में तो ठीक हो सकता है, परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में नहीं। सामायिक कोई मजदूरी नहीं है कि जितने समय के लिए की है, उतने समय के पैसे मिलें या अन्य भौतिक लाभ मिले। यह सौदेबाजी नहीं है, अपितु पूर्ण आध्यात्मिक विकास की ओर ले जाने वाली उपासना और साधना है। अपने जीवन को निःस्वार्थ-भाव से सर्वथा समर्पण कर देना ही सामायिक का प्रमुख उद्देश्य है। भले ही कुछ देर के लिए आपको भौतिक लाभ न मिले, पर आत्मिक लाभ तो इतना अधिक प्राप्त होता है, कि उससे साधारण-सा, या पापी से पापी व्यक्ति भी मोक्ष का साम्राज्य प्राप्त कर लेता है।

यदि कोई कदाग्रही व्यक्ति यह कहे कि मैं तो नींद ही नहीं लूँगा, क्योंकि नींद में मेरे ६-७ घण्टे व्यर्थ ही खराब हो जाएँगे, लाभ तो कुछ मिलता ही नहीं है, न स्थूल, न सूक्ष्म। क्या ऐसे जिद्दी और मूर्ख व्यक्ति के विचार को आप ठीक कहेंगे ? कदापि नहीं। क्योंकि नींद नहीं लेगा तो उसका स्वास्थ्य गड़बड़ा जाएगा, शरीर थक-कर चूर-चूर हो जायेगा, सिर दर्द के मारे फटने लगेगा। उसके सामने मौत नाचने लगेगी। अतः निद्रा जैसे शरीर के लिए आवश्यक है, उसके लिए ६-७ घंटे देना व्यर्थ नहीं, अपितु उससे स्फूर्ति, शक्ति, स्वस्थता आदि अनेक लाभ हैं, वैसे ही सामायिक साधना जैसी अध्यात्म-निद्रा के लिए भी एक घण्टा देना व्यर्थ नहीं, अपितु आत्मिक प्रगति के लिए शक्ति, उत्साह एवं स्फूर्ति प्राप्त होती है। आत्मा एवं परमात्मा की उपासना होती है।

आप कहेंगे कि सामायिक तो एक क्रिया विशेष है, इससे उपासना और साधना का क्या सम्बन्ध है ? इसका समाधान यह है कि जो धार्मिक क्रिया, उपासना एवं साधना के साथ नहीं होती है, वह निष्प्राण, मृत एवं स्फूर्तिहीन क्रिया है। यही कारण है कि सामायिक के पाठ में दोनों को महत्त्व देकर षट् आवश्यक का समावेश केवल सामायिक में कर दिया गया है। जैसे **'करेमि सामाइयं'** में सामायिक आवश्यक का **'भंते'** में चतुर्विंशतिस्तव का **'तस्स भंते'** में गुरुवन्दना का, **'पडिक्कमामि'** में प्रतिक्रमण का, **'अप्पाणं वोसिरामि'** में कायोत्सर्ग का, और **'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि'** में प्रत्याख्यान आवश्यक का समावेश हो जाता है। अतः इसमें उपासना और साधना दोनों तत्त्वों का भी समावेश हो गया है।

उपासना के महत्त्व के सम्बन्ध में मैं पहले कह चुका हूँ। यद्यपि सामायिक में उपासना का तत्त्व कम है फिर भी उपासना के तत्त्व को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता। यहाँ 'करेमि भंते' तथा 'तस्स भंते' ये दो शब्द हमारी प्रत्येक क्रिया के साक्षी द्रष्टा, सर्वज्ञ आप्त वीतराग प्रभु के प्रति श्रद्धा-भक्ति के सुधारस से ओतप्रोत शब्द हैं। वीतराग भगवान् हमारी हृदयगत भावनाओं के द्रष्टा हैं, हमारे मार्गदर्शक हैं, अध्यात्म

प्रेरक हैं तथा आप्तपुरुष हैं। उनकी साक्षी से धर्मसाधना करना हमें समभाव की बलवती प्रेरणा देता है, सतत जागृत एवं सावधान रखता है, धर्मक्रिया में सुषुप्त दम्भ को निकालने और नम्रभाव से साधना करने के लिए उनका साक्षित्व महामंत्रवत् है। अन्त में 'अप्पाणं वोसिरामि' पाठ अपने आपको वीतरागपुरुष के चरणों में समर्पित करने की द्योतक भी है। आशय यह है कि साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि "प्रभो ! मैं अपनी कलुषित आत्मा के प्रति ममत्व छोड़कर आपकी चरण-शरण स्वीकार करता हूँ, ताकि यह आत्मा आपका पवित्र सान्निध्य ग्रहण करने से कषाय, विषयासक्ति, सावद्य कर्म आदि से मलिन न हो। यह समर्पण उपासना का उत्कृष्टरूप है। अब लीजिए, सामायिक पाठ में साधना के तत्त्व को।

साधना में आत्मशुद्धि तथा आत्मवृद्धि का तत्त्व ही अधिक होता है। सर्वप्रथम 'करेमि सामाइयं' में सामायिक की क्रिया करने की साधक द्वारा की गई प्रतिज्ञा है। समभाव की यह विधेयात्मक साधना है, जिसमें संयम, समत्व, शुभ भावनाएँ आदि का समावेश हो जाता है। उसके पश्चात् है—**'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि'** जिसका अर्थ है, मैं अपनी आत्मशुद्धि में विघातक सावद्य योगों (मन-वचन-काया की पापयुक्त प्रवृत्तियों) का त्याग करता हूँ। 'सावज्ज' शब्द का एक रूप सावर्ज्य भी होता है, जिसका अर्थ होता है—निन्दनीय, वर्जनीय, निन्दा के योग्य। जो कार्य निन्द्य, आप्त पुरुषों द्वारा वर्ज्य या त्याज्य हों, उनका सामायिक में त्याग किया जाता है। सामायिक एक विशुद्ध व पवित्र साधना है। निन्दनीय या निषिद्ध कर्म समभाव के विघातक हैं, जो आत्मा को मलिन बनाते हैं। निन्दनीय कर्म भी कषायभाव या रागद्वेष भाव हैं। जिन कार्यों के मूल में राग-द्वेष हों या क्रोध, मान, माया, लोभ (कषाय) हों, वे सब कार्य सावर्ज्यकर्म हैं। जिन कार्यों की पृष्ठभूमि में कषायभाव हों, वे सब निन्दनीय एवं त्याज्य हैं। परन्तु जो कार्य समभाव के साधक कषायभाव के नाशक हों, जैसे ज्ञानाभ्यास, गुरुजनविनय, ध्यान, अहिंसादि का आचरण, वे कार्य सावर्ज्य या त्याज्य नहीं हैं।

इसके पश्चात् सामायिक में साधना का तत्त्व आत्मशुद्धि के सन्दर्भ में आता है—**'पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।'** ये चारों आत्मा के अतीत, वर्तमान और अनागत दोषों के परिमार्जन एवं परिशोधन के प्रतीक हैं।

आत्मा ही सामायिक और सामायिक का प्रयोजन

'प्रतिक्रमण करता हूँ' में साधक सामायिक करते समय विभाव परिणति से स्वभाव परिणति में लौटता है। बाहर से हटकर अन्तर् में प्रविष्ट होता है। जब आत्मा, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य एवं तप आदि की परिणति में ढलता है, तब स्वभाव परिणति में आता है; अपने घर में प्रवेश करता है। ज्ञान, दर्शन आदि आत्मा के स्वभाव हैं। आत्मा ज्ञानादि रूप है, इसलिए ज्ञानादि की साधना आत्मसाधना है। जब आत्मा पूर्णरूप से स्वभाव में आ जाएगा, तब अपने आप में समा जाएगा। यही कारण है कि

भगवतीसूत्र में आत्मा को ही सामायिक एवं 'सामायिक का अर्थ' कहा है।[1] आत्मा को सामायिक इसलिए कहा है कि समभाव का नाम ही सामायिक है। समभाव का अर्थ है—बाह्य विषय-भोगों की चंचलता (परभाव) से हटकर स्वभाव=आत्मस्वरूप में स्थिर होना। कषायादि विकारों से दूर किया हुआ आत्मा का अपना शुद्ध स्वरूप ही सामायिक है, और उस शुद्ध आत्म-स्वरूप को पा लेना ही सामायिक का अर्थ=फल है।

आत्मस्वरूप में स्थिरता तो निश्चय सामायिक का रूप है। ऐसी विशुद्ध सामायिक, जो शुद्ध आत्मपरिणति रूप हो, वह तो तेरहवें गुणस्थान में होती है, वह उससे नीचे के गुणस्थान वाले साधु-श्रावक में होती नहीं। अतः इसका मतलब यह नहीं है कि निश्चयसामायिक न प्राप्त हो तो व्यवहारसामायिक को छोड़ दिया जाए। वस्तुतः निश्चय सामायिक तो साध्य है। उसकी प्राप्ति तो व्यवहार सामायिक करते-करते कभी न कभी होगी ही। मोक्षमार्ग पर चलने वाला दुर्बल यात्री भी एक दिन मंजिल पर पहुँच जाएगा। व्यवहारसामायिक का जीवन भी स्थूल पापाचारों से बचा हुआ है। वह भी महान् है, उच्च है। अतः उसे छोड़ने की जरूरत नहीं।

प्रतिक्रमण के बाद **'निन्दा करता हूँ'** का संकल्प है। यहाँ न तो अपनी निन्दा ही अभीष्ट है, न परनिन्दा। परनिन्दा तो सरासर पाप है ही। आत्मनिन्दा भी हीनता, अनुत्साह, चिन्ता और शोक की प्रतीक है। अतः वह भी अनुचित है। यहाँ निन्दा से अभिप्राय है—पाप की, पापाचरण की और दूषित जीवन की निन्दा। अपने दोषों, भूलों, त्रुटियों को साधक पहिचाने और उनके लिए मन में पश्चात्ताप करे।

निन्दा के पश्चात् 'गर्हा करता हूँ' संकल्प है। निन्दा की अपेक्षा गर्हा में अधिक आत्मबल अपेक्षित है। मनुष्य अपने आपको धिक्कार सकता है, लेकिन दूसरों के सामने अपने आपको आचरणहीन, दोषी और पापी बताना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। अप्रतिष्ठा बहुत भयंकर वस्तु है। अप्रतिष्ठा के डर से मनुष्य अपने पापों को छिपाता है, नाना पाप करता है, आत्महत्या तक कर बैठता है। परन्तु सामायिक का तेजस्वी साधक अपने दोषों एवं पापों को अन्दर से झाड़-पोंछकर बाहर निकालता है। गर्हा में गुरुदेव या अपने से महान् के सामने वह हृदय खोलकर अपने दोषों को प्रकट कर देता है। अपनी गन्दगी धो डालता है। अतः गर्हा भी आत्मा पर लगे दोषों को साफ करने के लिए है।

आत्मा के व्युत्सर्ग का रहस्य

अन्तिम प्रतिज्ञासूत्र है—**'अप्पाणं वोसिरामि'** अर्थात् मैं अपनी आत्मा का त्याग करता हूँ। परन्तु आत्मा का त्याग तो असम्भव है, अतः यहाँ लक्षणा से अर्थ लगाया जाता है—पापकर्मों से दूषित, पुराने सड़े-गड़े अपने जीवन का त्याग करना ही

---

१ 'आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे' —भगवती० श० १, उ० ६

आत्म व्युत्सर्जन है। अतीतकाल की सावद्ययोगकारी अप्रशस्त आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ, यही इस पद का तात्पर्य है।

त्रियोग शुद्धि की विधि

सामायिक के पवित्र सिंहासन पर पहुँचने से पहले साधक को पहले अपने मन, वचन और काया की शुद्धि कर लेनी आवश्यक है।

मनःशुद्धि के लिए मन को सांसारिक वासनाओं से रिक्त कर लेना आवश्यक है। पूर्वकालिक दुष्ट संस्कारों, दुर्विचारों, दुष्कामनाओं, आसक्तियों एवं पुराने काम-क्रोध-लोभ-मोहजन्य विकारों का त्याग किये बिना मन में सुन्दर विचारों और सुसंस्कारों का प्रवेश नहीं हो सकेगा।

मन का कार्य है—मनन करना। मनन दो प्रकार का होता है—एक कल्पना-मूलक, दूसरा तर्कमूलक। कल्पनामूलक मनन जिस समय होता है, अगर उस समय मन पर कण्ट्रोल न रहे तो वह अनियन्त्रित एवं चंचल होकर राग, द्वेष, मोह, शोक, क्रोध, अहंकार आदि को अन्धाधुन्ध अपनाने लगता है। इससे कर्मों का प्रवाह चारों ओर से अन्तरात्मा की ओर उमड़ कर मन को मलिन बना देता है, इसकी विचार-शक्ति को कुण्ठित कर देता है। तर्कमूलक मनन के द्वारा कल्पनामूलक मनन पर नियन्त्रण तभी किया जा सकता है, जब आत्मा अन्तराभिमुखी होकर मन को शुभ संकल्पों की ओर मोड़े, विचारों को व्यवस्थित बनाकर दुःसंकल्पों के पथ को छोड़े और सत्संकल्पों का पथ अपनाए। तर्कमूलक मनन के द्वारा ही अहिंसा, दया, शील, सत्य, संयम आदि के प्रबल विचारों का उदय होते ही दुर्विकल्पों का अँधेरा मिट जाता है। इसके लिए स्वाध्याय, जप, ध्यान, चिन्तन आदि आवश्यक है।

इसके बाद **वचनशुद्धि** भी आवश्यक है। वचन शक्ति प्रकट है, इसलिए उस पर नियन्त्रण करना मन की अपेक्षा आसान है। सामायिक के समय वचन समिति का पालन तो अवश्य होना चाहिए। हो सके तो मौन रखे, वचनगुप्ति का पालन करे। सामायिक में कर्कश, कठोर, निश्चयकारी, हिंसाकारी, खेद-भेदकारी, चाटुकारी, सावद्य वचन न बोले। दीनवचन, अपमानजनक वचन, या क्लेशवर्द्धक वचन सामायिक में निषिद्ध है। बोलना ही हो तो हिताहित परिणाम को सोचकर विवेकपूर्वक बोले।

वचनशुद्धि के बाद **कायाशुद्धि** का नम्बर आता है। कायाशुद्धि का अर्थ यह नहीं है कि आप दिनभर शरीर को रगड़ते रहें, शरीर को सुगन्धित पदार्थों से सुवासित करते रहें, वस्त्रादि से सुसज्जित करते रहें। यह ठीक है कि गन्दा शरीर लेकर सामायिक में न बैठा जाए, क्योंकि इससे मन पर भी बुरा असर पड़ता है, धर्म की भी अवहीलना होती है। किन्तु यहाँ कायशुद्धि का अर्थ—शरीर की चेष्टाओं को नियन्त्रित, संयमित रखने से है। जो मनुष्य चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते शरीर की हरकत करते यतना (विवेक) से काम लेता है, असभ्यता नहीं दिखलाता, हाथ-पैरों से मारने-पीटने-सताने आदि की हिंसा नहीं करता, किसी जीव को कष्ट नहीं

देता, वह कायशुद्धि का आराधक है। शरीर द्वारा शुभाशुभ बाह्य आचरण से ही व्यक्ति की आन्तरिक शुद्धि का पता लगता है।

सामायिक में त्रियोग शुद्धि के लिए दोष निवारण

इसीलिए हमारे पूर्वाचार्यों ने मन, वचन और काया की शुद्धि के हेतु तीनों के कुल ३२ दोष बताकर सामायिक में उनसे बचने का निर्देश किया है। इन ३२ दोषों में से १० मन के हैं, १० वचन के हैं और १२ काया के दोष हैं। मन के दस दोषों का निरूपण इस प्रकार है—

अविवेक जसोकित्ती लाभत्थी, गव्व-भय-नियाणत्थी।
संसय-रोस-अविणओ, अबहुमाणए दोसा भाणियव्वा॥

(१) **अविवेक**—(सामायिक में किसी प्रकार के कार्याकार्य, औचित्य-अनौचित्य, समय-असमय का विचार न रखना; या सामायिक के स्वरूप को भलीभाँति न समझना), (२) **यशःकीर्ति**—यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा, आदर-सत्कार, सम्मान-बहुमान आदि की लालसा से सामायिक करना), (३) **लाभार्थ**—(धन, पद, भूमि, साधन, व्यापार में कमाई, नौकरी में तरक्की आदि के लाभ से प्रेरित होकर सामायिक करना), (४) **गर्व**—(सामायिक में अपनी जाति, कुल, बल आदि का गर्व करना अथवा सामायिक क्रिया का गर्व करना), (५) **भय**—(लोकभय, परिवार आदि के दबाव, अपराध में पकड़े जाने आदि के भय से सामायिक करना), (६) **निदान**—(सामायिक के बदले इहलौकिक या पारलौकिक सुख की वांछा या अमुक पदार्थ प्राप्ति की इच्छा से सामायिक करना), (७) **संशय**–(फल के बारे में सन्देह करना), (८) **रोष**—(सामायिक में क्रोधादि करना, या लड़झगड़कर या रूठकर सामायिक करना), (९) **अविनय** (सामायिक के प्रति अनादर या देव-गुरु-धर्म का अविनय करना), (१०) **अबहुमान** (हार्दिक भक्ति से प्रेरित होकर सामायिक न करना, बेगार समझकर सामायिक करना)।

वचन के भी १० दोष हैं। वे इस प्रकार हैं—

'कुवयण सहसाकारे, सच्छंदसंखेवकलहं च।
विगहा विहासोऽसुद्धं, निरवेक्खो मुणमुणा दोसावस॥'

(१) **कुवचन**—(सामायिक में कुत्सित, भद्दे, अपशब्द बोलना, मर्मस्पर्शी ताना मारना), (२) **सहसाकार** (बिना विचारे सहसा हानिकर असत्य वचन बोलना), (३) **स्वच्छन्द**—(सामायिक में कामोत्तेजक, उच्छृंखल, अश्लील गीत गाना, गन्दी बातें करना), (४) **संक्षेप**—(सामायिक पाठ संक्षेप में बोल जाना), (५) **कलह**—(सामायिक में कलह-क्लेशकारी वचन बोलना), (६) **विकथा**—(निरुद्देश्य व्यर्थ ही स्त्रीकथा, भक्तकथा, राजकथा और देशकथा करना), (७) **हास्य**—(सामायिक में हँसी-मजाक करना), (८) **अशुद्ध**—(सामायिक के पाठ अशुद्ध बोलना), (९) **निरपेक्ष**—(सिद्धान्त विरुद्ध एकान्त या निश्चयकारी वचन बोलना), (१०) **मुम्मन**—(सामायिक पाठ आदि का अस्पष्ट गुनगुनाते हुए उच्चारण करना)।

इसी प्रकार आचार्यों ने शरीर से सम्बन्धित १२ दोष बताए हैं—

कुआसणं चलासणं चलादिट्ठी,
सावज्ज किरिया, संबणाकुचणपसारणं।
आलस-मोडन-मल-विमासणं,
निद्दा वेयावच्चति बारस कायदोसा॥'

(१) **कुआसन**—(सामायिक में पैर पर पैर चढ़ाकर या अविनयपूर्वक बैठना), (२) **चलासन** (बार-बार आसन बदलते रहना), (३) **चलदृष्टि** (चंचल दृष्टि रखना), (४) **सावद्यक्रिया**—(शरीर से पापजनक क्रिया करना), (५) **आलम्बन**—(सामायिक में बिना किसी कारण के दीवार आदि का सहारा लेना), (६) **आकुंचन-प्रसारण**—(बिना किसी कारण के हाथ-पैर सिकोड़ना, पसारना), (७) **आलस्य**, (८) **मोडण** (सामायिक में हाथ-पैर की अंगुलियाँ चटकाना), (९) **मलदोष** (शरीर पर से मैल उतारना), (१०) **विमासन** (कपोल पर हथेली रखकर शोकग्रस्त की तरह बैठना या बिना पूंजे शरीर खुजलाना), (११) **निद्रा**, (१२) **वैयावृत्य या कम्पन**—(सामायिक में बैठे हुए अकारण ही दूसरे से वैयावृत्य (सेवा) कराना अथवा स्वाध्याय करते समय सिर हिलाना या काँपना)।

इस प्रकार मन के १० दोष, वचन के १० दोष, और शरीर के १२ दोष हैं, इनसे बचना सामायिक साधक के लिए आवश्यक है। इन तीनों की शुद्धि से सामायिक विशुद्ध होती है।

सामायिक करने से पूर्व शुद्धिचतुष्टय

सामायिक करने से पूर्व भूमिका शुद्धि[१] होनी आवश्यक है। भूमि शुद्ध होती है, तभी उसमें बोया हुआ बीज मधुर व सुन्दर फलदायक होता है। अतः सामायिक के लिए चार प्रकार की शुद्धि अनिवार्य है—द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भाव-शुद्धि। इस शुद्धिचतुष्टय के साथ सामायिक की जाती है, वह पर्याप्त फलदायिनी होती है।

द्रव्यशुद्धि—सामायिक समभाव को बढ़ाने के लिए है, जिन द्रव्यों से समभाव को आँच लगती हो, विषमता बढ़ती हो, पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा से निष्पन्न हों, विकारोत्पादक हों, सिर्फ फैशन और सौन्दर्यवर्द्धक हों, संयम विघातक हों, उन उपकरणों का उपयोग सामायिक में नहीं करना चाहिए। जैसे कोमल गुदगुदा रंग-बिरंगा

---

१ कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी कहा है—

सामाइयस्स करणे खेत्तं, कालं च आसणं विलओ।
मण-वयण-कायशुद्धी णायव्वा हुंति सत्तेव॥

—सामायिक करते समय क्षेत्र, काल, आसन, विलय (स्थान), मन, वचन और काया इन सातों की शुद्धि जान लेनी चाहिए।

अथवा गंदा आसन, शृंगारवर्द्धक रेशमी पूंजणी, रजोहरण, गन्दी मलिन मुखवस्त्रिका, अशुद्ध गन्दे वस्त्र, बहुमूल्य अहंकारवर्द्धक गन्दी माला, अश्लील द्वेषवर्द्धक गन्दा साहित्य, व्यर्थ के आभूषण आदि द्रव्य (उपकरण) सामायिक में त्याज्य हैं। आसन, वस्त्र, रजोहरण, पूंजणी, माला, मुखवस्त्रिका, पुस्तक आदि सामायिक के उपकरण शुद्ध, अहिंसक (अल्पारम्भी) एवं उपयोगी होने चाहिए।

क्षेत्रशुद्धि—सामायिक करने का स्थान शुद्ध होना चाहिए। गन्दा, अशान्त, कोलाहलपूर्ण, आवागमन वाला, विकारवर्द्धक, क्लेशोत्पादक, विषयभाव वर्द्धक, चित्त-चापल्यकर स्थान सामायिक के लिए अच्छा नहीं। इसीलिए वर्तमान युग में उपाश्रय या धर्मस्थानक आदि स्थान सामायिक साधना के लिए उपयुक्त हैं। उसके अभाव में घर में भी कोई एकान्त, शान्त स्थान ढूंढ़ लेना चाहिए।

कालशुद्धि—काल से मतलब समय से है। सामायिक के लिए योग्य समय, उपयुक्त अवसर का विचार करना आवश्यक है। घर में कोई बीमार हो, स्वयं का शरीर अस्वस्थ हो, कोई आवश्यक कार्य हो, उस समय उसकी उपेक्षा करके सहसा सामायिक में बैठ जाना काल की अशुद्धि है। अपने दायित्व से छुटकारा पाने के लिए सामायिक में बैठ जाना भी ठीक नहीं है।

भावशुद्धि—भावशुद्धि का अर्थ है—मन-वचन-काया की शुद्धि करना, मन-वचन-काया के बताए हुए ३२ दोषों से बचना। इन तीनों योगों की शुद्धि का तात्पर्य है—इनकी एकाग्रता, अचंचलता। जब तक तन, मन और वचन की एकाग्रता भंग करने और मलिनता पैदा करने वाले दोषों का त्याग श्रावक नहीं करता, तब तक भावशुद्धि नहीं हो सकती। भावशुद्धि हुए बिना सामायिक शुद्ध नहीं हो सकती। अतः भावशुद्धि के लिए उन ३२ दोषों को जानना तथा उनसे बचना आवश्यक है।

सामायिक पापरहित होने की एवं आत्मविशुद्धि की साधना है। इसी कारण मूलपाठ में अतीत में हुई आत्म-अशुद्धि, वर्तमान में हो रही अशुद्धि तथा भविष्य में होने वाली अशुद्धि से सावधान रहने का निर्देश है; उसी का संकल्प है।

सामायिक के अतिचारों से सावधान

सामायिकव्रत में श्रावक के सामने अनेक खतरे पैदा हो सकते हैं। उनसे उसे सावधान रहना चाहिए। वे अतिचार, जो सामायिक को दूषित करने वाले हैं, वे पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—मनदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, कायादुष्प्रणिधान, सामायिक मति-भ्रंश, और सामायिकानवस्थिति।

मनदुष्प्रणिधान का अर्थ है—सामायिक के भावों से बाहर मन का दौड़ना, सांसारिक प्रपंचों एवं कार्यों का दुर्विकल्प मन में करना।

एक श्रावक सामायिक में बैठा था, किन्तु मन में मोची के यहाँ से जूते लाने का दुर्विकल्प चल रहा था। उस समय एक आदमी ने आकर उसकी पुत्रवधू से पूछा "सेठ कहाँ हैं ?" पुत्रवधू ने श्वसुर के रंग-ढंग देखकर कहा—'वे इस समय मोची के

यहाँ गए हैं।' सेठ ने जब सुना तो मन ही मन क्रुद्ध हो उठा। ज्योंही सामायिक पूर्ण हुई, त्यों ही सेठ ने पुत्रवधू को आड़े हाथों लिया तो उसने सविनय कहा—"पिताजी! आपका मन तो मोचीबाजार में घूम रहा था, सामायिक में न था। इसलिए मैंने आगन्तुक को सच-सच कह दिया था।" पुत्रवधू का उत्तर सुनकर श्रावक ने अपनी भूल स्वीकार कर ली। भविष्य में सावधान रहने का वचन दिया। दूसरे दिन फिर वही भाई सेठजी को पूछने आया तो पुत्रवधू ने कहा—"अभी वे सामायिक में हैं।" सचमुच श्रावक का मन सामायिक में था।

इस प्रकार सामायिक में मन की एकाग्रता को भंग करने वाले प्रसंगों से बचना चाहिए।

वचनदुष्प्रणिधान का अर्थ है—सामायिक के दौरान कटु, कर्कश, निष्ठुर, असभ्य अपशब्द बोलना।

कायादुष्प्रणिधान का मतलब है—सामायिक में काया को बार-बार हिलाना, आसन बदलना, काया से कुचेष्टा करना, अकारण शरीर को सिकोड़ना-पसारना।

सामायिकस्मृतिभ्रंश का अर्थ है—सामायिक ग्रहण की है, इस बात को विस्मृत हो जाना, या सामायिक करना ही भूल जाना।

और पाँचवाँ अतिचार है—**सामायिकानवस्थिति**। सामायिक को बेगार समझ कर, जैसे-तैसे अनादरपूर्वक करना, सामायिक का समय पूरा होने से पहले ही अनजाने में सामायिक पार लेना, बार-बार घड़ी देखना या विचार करना कि सामायिक पूर्ण हुई या नहीं? यह पंचम अतिचार का तात्पर्य है।

इन पाँच अतिचारों से दूर रहकर शुद्ध सामायिक करने से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, अपनी सन्तानों में भी शुद्ध सामायिक के संस्कार पड़ते हैं। सामायिक केवल परलोक के लिए ही नहीं, इस लोक के लिए भी हितकारी है, यह समझकर अत्यन्त श्रद्धाभक्ति के साथ उत्साहपूर्वक सामायिक की साधना करिए। ☆

4

देशावकाशिकव्रत : स्वरूप और विश्लेषण

☆

देशावकाशिकव्रत की आवश्यकता

यह विश्व इतना विशाल है कि साधारण मनुष्य इसकी सीमाओं को पूरी तरह आंक नहीं सकता। यह एक अनुभूत तथ्य है कि कोई भी मनुष्य सब जगह फैल कर वहाँ की परिस्थितियों से लाभ नहीं उठा सकता। फिर भी मानव-मन में व्यक्त या अव्यक्त रूप से ऐसी लालसा बनी रहती है कि मैं दूर-दूर देश, प्रान्त या नगर में जा कर वहाँ की बढ़िया-बढ़िया चीजों का उपभोग करूं। इच्छापूर्ति की धुन में मनुष्य यह नहीं सोचता कि उस मनोवांछित सुख सामग्री को पाने के लिए दूर-सुदूर प्रदेश में जाने में कितनी हिंसा होगी ? सम्भव है, उस चीज को पाने के लिए सूक्ष्म झूठ भी बोलना पड़े, सूक्ष्म चोरी भी करनी पड़े, तथा किसी सुदूर-देशस्थ सुन्दरी को पत्नी के रूप में प्राप्त करने में कितना मानसिक संघर्ष होगा, तथा तृष्णा एवं लोभ के वश कितनी परिग्रहवृत्ति बढ़ेगी ? वह अपनी उन-उन इच्छाओं की पूर्ति के लिए व्याकुल, क्षुब्ध, अशान्त और संतप्त रहता है। इस दुःस्थिति से बचने के लिए पहले मैंने छठे दिशापरिमाणव्रत) पर प्रकाश डाला था, जिसमें विभिन्न दिशाओं में जाने-आने, व्यापार करने आदि की जिंदगीभर के लिए एक सीमा निर्धारित कर ली जाती है। परन्तु उस निर्धारित सीमा में प्रतिदिन जाना-आना नहीं होता। अतः श्रावक एक दिन रात, एक दिन, प्रहर, घंटा आदि तक उस सीमा का संकोच कर लेता है। इसी अल्पकालिक क्षेत्र सीमा निर्धारण का नाम देशावकाशिक व्रत है।[1] श्रावक के १२ व्रतों में यह दशवाँ व्रत है और चार शिक्षाव्रतों में दूसरा व्रत है।

देशावकाशिक व्रत : आत्म-शक्ति बढ़ाने में सहायक

यह शिक्षाव्रत है। इसलिए इसका बार-बार अभ्यास करना होता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब मनुष्य किसी एक ही चीज का बार-बार अभ्यास

---

१. आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

दिग्व्रते परिमाणं यत्तस्य संक्षेपणं पुनः।
दिने रात्रौ च देशावकाशिकव्रतमुच्यते॥ —योगशास्त्र ३।८४

करता है, तो वह चीज मन में संस्कारों के रूप में जम जाती है, वह उस व्यक्ति के जीवन का एक अंग बन जाती है। और यह भी देखा जाता है कि मनुष्य अपने जीवन का लक्ष्य निश्चित करके जिस ओर अधिक झुकता है, जिस चीज का बार-बार मनन-चिन्तन करता है, जिस साधना का संकल्प करके उसे क्रियान्वित करता है, वह उसकी आदत बन जाती है, आदतें ही धीरे-धीरे उसके स्वभाव में परिणत हो जाती हैं और वह स्वभाव ही जीवन के ताने-बाने की तरह संस्कारों में घुलमिल जाता है। इस प्रकार संकल्प, आदत, स्वभाव और संस्कार के क्रम से मानव जीवन को ध्येय की ओर ले जाने में देशावकाशिकव्रत बहुत ही सहायक बनता है।

आंशिक अवकाश के रूप में देशावकाशिक

देशावकाशिक व्रत साधना की अपेक्षा रखता है। इस साधना में व्यक्ति को अपने शरीर और शरीर सम्बन्धी कार्यों (व्यापार, नौकरी, शरीर शृंगार, ऐश-आराम, आलस्य, विलासिता, इन्द्रिय विषयों की भोगासक्ति आदि दैनिक कृत्यों) से छुट्टी (अवकाश) लेना पड़ता है। देश शब्द अंश अर्थ का वाचक है, और अवकाश शब्द वर्तमान काल में प्रचलित 'छुट्टी' शब्द का वाचक है। इस प्रकार दोनों शब्दों का मिल कर यह भावार्थ हुआ कि शरीर सम्बन्धित कार्यों से आंशिक (एक दिन-रात की, एक दिन की, एक प्रहर या उससे ज्यादा की, अथवा एक घंटा या उससे ज्यादा की) छुट्टी लेकर आत्म-चिन्तन, आत्मगुणों के मनन, स्वभावरमण, स्वरूपचिन्तन, पाँच आस्रवों का निरोध करके संवर में संलग्न होना देशावकाशिक व्रत है।

राज्यशासन का अवकाश मानोगे या आत्मशासन का ?

आजकल कई देशों या प्रान्तों में वहाँ की सरकारों ने आजीविका सम्बन्धी काम के घंटे बांध दिये हैं। कारखानों, मिलों या दूकानों में, अथवा सरकारी दफ्तरों में कार्य करने के घंटे बंधे हुए होते हैं। उसके बाद उन कर्मचारियों को छुट्टी दे देनी पड़ती है, अन्यथा उस कारखाने, मिल, दूकान आदि के मालिक पर जुर्माना हो जाता है। उसे सरकार की ओर से इस अपराध के बदले में दण्ड मिलता है। दूकानदारों के लिए भी बड़े-बड़े शहरों में दूकानें खोलने और बन्द करने का नियम है। उस नियम को तोड़ने वाला दण्ड का भागी होता है। इन सब सरकारी नियमों का उद्देश्य तो शायद इतना ही है कि मनुष्य देर तक अपने बूते से अधिक काम करेगा तो बीमार पड़ जाएगा, थक जाएगा, उसका स्वास्थ्य खराब हो जाने पर दूसरे दिन या कई दिनों तक कार्य नहीं कर सकेगा, यह उसके अपने तथा देश के लिए हानिकारक होगा। वह भी घाटे में रहेगा, और देश भी। किन्तु भगवान् महावीर ने गृहस्थ श्रावक के लिए बताया कि आंशिक अवकाश (छुट्टी) की घोषणा करके शारीरिक विषयों से सम्बन्धित कृत्यों से निवृत्त होकर आत्मा के लिए चिन्तन-मनन करें। सदैव माया (धन-सम्पत्ति) का मजदूर बन कर न रहे, वह आध्यात्मिक जीवन में भी अपना अवकाश का समय लगावे। आप सरकारी छुट्टी या सरकार द्वारा बताए हुए कार्य के

घंटों के नियम को तो दण्ड शक्ति के दबाव से मान लेते हैं, पर भगवान महावीर द्वारा आपकी आत्मा के विकास के लिए सूचित इस व्रत के आदेश से प्रतिदिन स्वेच्छा से थोड़ा-थोड़ा अवकाश लेकर अपना आध्यात्मिक चौका लगा कर बैठे, संवर से युक्त होकर और आस्रवों से मुक्त बनकर।

देशावकाशिक : अध्यात्म का चौका

देशावकाशिक व्रत में साधक को आध्यात्मिक चौका लगा कर आत्मिक भोजन करने बैठना होता है। जैसे भोजन करने वाला ब्राह्मण भोजन करते समय ही चौका लगाता है, और उस चौके में किसी अपवित्र व्यक्ति या वस्तु को घुसने नहीं देता, वैसे ही सद्गृहस्थ श्रावक भी देशावकाशिक व्रत रूपी चौका लगाकर आत्मिक भोजन करने बैठे, उस समय जितने समय तक वह आत्मिक भोजन करता है, उतने समय तक अपने उस चौके में चौके से बाहर के किसी आस्रव (हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह वृत्ति, क्रोधादि कषाय, पंचेन्द्रिय विषयों पर आसक्ति आदि) को, किसी अपवित्र सावद्य विचार को, अपवित्र वाणी या अपवित्र कायचेष्टा को न घुसने दे। अगर उस श्रमणोपासक के पवित्र आत्मिक चौके में अनात्मिक वस्तु विचार, वाणी या चेष्टा के रूप में घुसती है तो समझना चाहिए, उसका वह चौका भ्रष्ट हो गया।

देशावकाशिक व्रत की अवधि

देशावकाशिक व्रत में साधक कितने समय का अवकाश आत्मिक व्यापार के लिए ले ? यह एक प्रश्न है। इसका उत्तर विभिन्न आचार्य अलग-अलग दृष्टिकोण से अलग-अलग प्रकार से देते हैं। एक आचार्य ने इस विषय में कहा है—

दिग्व्रतं यावज्जीवं संवत्सर-चातुर्मासीपरिमाणं वा।
देशावकाशिकं तु दिवस-प्रहर-मुहूर्तादिपरिमाणं॥

अर्थात्—'दिशापरिमाण व्रत जीवन भर, वर्षभर या चार मास के लिए स्वीकार किया जाता है, किन्तु देशावकाशिक व्रत दिन, प्रहर या मुहूर्त आदि तक के लिए भी किया जाता है।'

इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि देशावकाशिक व्रत दिन-रात भर दिनभर (यानी ४ प्रहर या ८ प्रहर) के लिए स्वीकार किया जाता है, वैसे ही प्रहर, मुहूर्त आदि थोड़े-समय के लिए भी स्वीकार किया जाता है।

जो देशावकाशिकव्रत प्रहर, मुहूर्त आदि थोड़े समय के लिए किया जाता है, उसे वर्तमान युग में 'संवर-ग्रहण करना' कहते हैं। थोड़े समय का देशावकाशिकव्रत, जिसे 'संवर' कहा जाता है, उसे जितने भी कम समय के लिए श्रावक ग्रहण करना चाहे, कर सकता है। पूर्वाचार्यों ने सामायिक व्रत का समय कम से कम ४८ मिनट (एक मुहूर्त) का निश्चित किया है। यदि कोई सद्गृहस्थ ४८ मिनट तक का (देशावकाशिक-रूप) संवर करता है, तो उसकी गणना सामायिक में हो जाएगी। ४८ मिनट से कम

समय के लिए अगर कोई श्रावक पाँच आस्रव का त्याग करता है तो उस त्याग की गणना इस अल्पावकाशरूप संवर (देशावकाशव्रत) में ही होगी। जब कभी श्रावक को अवकाश न हो, उसे दूसरे किसी अनिवार्य कार्यवश कहीं जाना है, परन्तु नित्यनियम के रूप में यत्किञ्चित् समय तो निकालना ही है, तब किन्हीं कारणवश सामायिक करने का अवसर न हो, तब यत्किञ्चित् समय के लिए स्वेच्छा से समय नियत करके उतनी देर के लिए पाँच आस्रवों से निवृत्त होने के रूप में जो संवर किया जाता है, उसे भी देशावकाशिक कहते हैं। जैसे स्कूलों या सरकारी दफ्तरों में बीच में आधा या पौन घंटे की छुट्टी होती है, उसी प्रकार की यह आध्यात्मिक जीवन के लिए थोड़े से समय (अवकाश) तक की छुट्टी है। इस थोड़े-से नियत समय के लिए पाँच आस्रवों को छुट्टी दे दी जाती है, उनका स्मरण, चिन्तन, उच्चारण या चेष्टारूप कार्य नहीं किया जाता।

श्रीमद् राजचन्दजी एक आध्यात्मिक पुरुष थे। वे जवाहरात का व्यवसाय करते थे। वे जब अपनी दूकान पर बैठते थे, तब इस प्रकार का संवर (देशावकाशिक) किया करते थे। उस दौरान वे आत्मिक चिन्तन किया करते थे। जब ग्राहक आ जाता तो उसे माल दिखाते, बातचीत करते, माल देते, लेकिन ग्राहक के चले जाने के बाद जब-जब खाली होते, अवकाश मिलता पुनः आत्म-चिन्तन-मनन में डूब जाते या किसी आध्यात्मिक सद्ग्रन्थ का स्वाध्याय करते, अथवा जप किया करते।

इसी प्रकार संवर के रूप में देशावकाशिकव्रत ग्रहण करने वाले साधक को उतने संक्षिप्त समय के लिए आहार-विहार की आवश्यकता नहीं रहती, और न ही वह उतनी देर तक व्यापार धंधा या शरीर शृंगारादि शरीर से सम्बन्धित कार्य करता। अतः देशावकाशिकव्रत (संवर) लेकर वह इतने अल्प समय में आत्मा के विषय में कुछ चिन्तन-मनन करे, स्वाध्याय करे, जाप करे या ध्यान करे। अपने मन को, वचन को और कायिक व्यापार को विषय-वासनाओं, कषायों और आस्रवों में न जाने दे।

देशावकाशिकव्रत : आत्मशक्तिवर्द्धक १४ नियम-चिन्तन

जो देशावकाशिक, संवर के रूप में अल्पकाल के लिए ग्रहण किया जाता है, उसमें उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं से सम्बन्धित १४ नियमों का चिन्तन करने की भी प्रथा है।

आप शरीर की शक्ति बढ़ाने के लिए ऐसा भोजन लेते हैं, जो आपके शरीर में हुई छीजन (शक्तिक्षय) की पूर्ति कर सके, नई शक्ति और स्फूर्ति दे सके। भोजन के अतिरिक्त आप कई बार शारीरिक दौर्बल्य को मिटाने के लिए टॉनिक भी लेते होंगे। परन्तु क्या कभी आपने यह सोचा है कि आत्मा की शक्ति को बढ़ाने के लिए कौन-सी खुराक (भोजन) और कौन-सी टॉनिक आवश्यक है? आत्मा भी शरीर के साथ सम्बद्ध होने के कारण विषय-कषायों में भटक जाती है, शरीर के अत्यधिक पोषण के चक्कर में पड़कर विविध भोगोपभोग्य वस्तुओं के रसास्वादन में पड़ जाती

है, शरीर-प्रसाधन में पड़कर आत्म-प्रसाधन को भूल गई। तात्पर्य यह है कि आत्मा अपनी खुराक छोड़कर शरीर को खुराक देने में लग जाती है। चौदह नियमों का चिन्तन—आत्मा की खुराक है, आत्मशक्तिवर्द्धक टॉनिक है, आत्म-शक्ति में जो छीजन हो गई है, उसकी पूर्ति करने वाला है। नई शक्ति और स्फूर्ति देने वाला है।

तात्पर्य यह है कि उपभोग-परिभोगपरिमाण (सातवें) व्रत में जीवनभर के लिए भोगोपभोग के लिए जो पदार्थ रखे हैं, उन सबका उपभोग वह प्रतिदिन नहीं करता है, इसलिए वह एक दिन-रात के लिए उस मर्यादा को घटा देता है। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में इस सम्बन्ध में सुन्दर चिन्तन दिया है—

सातवें उपभोग परिभोगपरिमाणव्रत में जिन उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं को अत्याज्य समझ कर रखा है, उन भोग्योपभोग्य वस्तु के सम्बन्ध में पहले की हुई सीमा में एक दिन-रात के लिए अपनी शक्ति देखकर पुनः सीमा करनी चाहिए। अर्थात् पूर्वकृत सीमा में भी प्रतिदिन कमी करनी चाहिए। इस प्रकार जो परिमित भोगों से सन्तुष्ट हो जाता है, वह सहज-स्वाभाविकरूप से बहुत-से भोगों को (जो प्रतिदिन उपभोग में नहीं आते) छोड़ देता है।[1] बहुत-से भोग्योपभोग्य वस्तुओं को प्रतिदिन के नियम-चिन्तनपूर्वक छोड़ने से आत्मा उन भोगोपभोग्य वस्तुओं की पराधीनता एवं गुलामी से छूट जाता है, आत्मा में स्वतंत्र जीने की शक्ति स्फुरित होती है। इस प्रकार की शक्ति स्फुरित करने एवं आत्मशक्ति प्रगट करने में प्रतिदिन चौदह नियमों के चिन्तनपूर्वक सीमा निर्धारित करने की पद्धति—जो देशावकाशिकव्रत से उद्भूत होती है, बहुत ही सहायक है।

देशावकाशिकव्रत में उपभोग्यपरिभोग्य पदार्थों की मर्यादा घटाने का आवश्यकसूत्र की वृत्ति में स्पष्ट उल्लेख है कि "देशावकाशिकव्रत में दिग्व्रत की मर्यादा का संक्षेप करना मुख्य है, लेकिन उपलक्षण से अन्य अणुव्रतों को भी अवश्य संक्षेप करना चाहिए।"[2]

इस कथन से स्पष्ट है कि जिस व्रत में जो मर्यादा रखी गयी है, उन सभी मर्यादाओं को कम करना, आवश्यकता से अधिक रखी हुई मर्यादा को एक दिन-रात के लिए परिमित कर डालना भी देशावकाशिक व्रत है। उदाहरणार्थ—चौथे अणुव्रत

---

१ अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया।
पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजशक्तिम् ॥१७१॥
सीमन्यन्तरा सीमा प्रतिदिवसं भवति कर्तव्या।
इति यः परिमित भोगैस्सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान् ॥१७२॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

२ दिग्व्रत संक्षेपकरणमणुव्रतादिसंक्षेपकरणस्याप्युपलक्षणं द्रष्टव्यं, तेषामपि संक्षेपस्यावश्यं कर्तव्यत्वात्।
—आवश्यक वृत्ति

में स्वदारविषयक जो मर्यादा रखी गई है, उसे भी घटाना, पहले, दूसरे और तीसरे अणुव्रत में रखी हुई सूक्ष्म हिंसा, सूक्ष्म असत्य, सूक्ष्म चोरी की छूट का भी एक दिन-रात के लिए सर्वथा त्याग करना, तथा पाँचवें और सातवें व्रत में रखी हुई मर्यादा को और घटाना। इस प्रकार व्रतग्रहण के समय जो-जो मर्यादा रखी गई है, उस मर्यादा को एक दिन-रात के लिए न्यूनतम कर डालना ही देशावकाशिक व्रत है।

विवेकी श्रावक प्रतिदिन इस बात का मनोरथ करे कि 'मेरी आत्मा में इतनी शक्ति पैदा हो जाय कि मैं आरम्भ-परिग्रह का सर्वथा त्याग कर दूँ, निर्ग्रन्थ अनगार बनूँ। परन्तु जब तक इतनी शक्ति प्रगट न हो, तब तक कम से कम एक दिन-रात के लिए न्यूनतम आवश्यकताओं से अपना काम चला कर आत्मचिन्तन द्वारा आत्म-शक्ति बढ़ाने में अधिक समय दूँ। गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी त्याग मार्ग अपनाऊँ।' इस भावना के अनुसार श्रावक ने व्रतग्रहण के समय जो मर्यादा (अवकाश) रखी है, उसे संक्षिप्त करता (घटाता) है।

१४ नियमों के अनुसार चिन्तन करके जो मर्यादा करता है, और तदनुसार उसका पालन करता है, वह सहज ही आत्मशक्ति रूप महालाभ को प्राप्त कर लेता है।

आचार्यों ने चौदह नियमों के चिन्तन का क्रम इस प्रकार बताया है—

सचित्त-दव्व-विग्गई-पन्नी-तंबुल-वत्थ-कुसुमेसु।
वाहण-सयण-विलेवण-बम्भ-दिसि-न्हाण-भत्तेसु॥

अर्थात्—(१) सचित्त वस्तु, (२) द्रव्य, (३) विगय, (४) जूते-खड़ाऊँ, (५) पान (मुखवास), (६) वस्त्र, (७) पुष्प (सुगन्धित तेल आदि), (८) वाहन (सवारी), (९) शयन (बिछौना, शय्या, तख्त, खाट, पलंग आदि), (१०) विलेपन (चन्दन आदि तथा इत्र, सेंट आदि), (११) ब्रह्मचर्य, (१२) दिशा, (१३) स्नान, (१४) भोजन। इन चौदह शरीरसम्बद्ध उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थों की एक दिन के लिए कम से कम सीमा करना चौदह नियमों का चिन्तन है। अब मैं संक्षेप में क्रमशः इन पर प्रकाश डालूँगा—

सचित्त से मतलब उन वस्तुओं से है, जो एकेन्द्रिय सचित्त वस्तुएँ श्रावक उपभोग में लेता है, क्योंकि द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के त्रसजीवों के मांस, अंडा, रक्त या अंगोपांग आदि का तो वह जिन्दगी में कदापि सेवन नहीं करता, उसके सर्वथा त्याग होता है। रहा एकेन्द्रिय स्थावर जीवों का, उनका उपभोग उसे अन्न-पानी, साग-सब्जी, फल आदि के रूप में करना पड़ता है, वे एकेन्द्रिय सचित्त ५ प्रकार के हैं—पृथ्वी (सब प्रकार की सजीव मिट्टी), पानी (कच्चा पानी), वनस्पति (साग-सब्जी, फूल, फल, पत्ती, धान्य, अन्न बीज आदि), वायु और अग्नि आदि

सचित्त वस्तुओं का यथाशक्ति त्याग या अमुक मर्यादा करे कि मैं इतने-इतने सचित्त पदार्थ और इतने वजन से अधिक उपयोग में न लूंगा।

द्रव्य का अर्थ यहाँ भोज्य द्रव्य से है। स्वादिष्ट भोजन के रूप में जो पदार्थ अचित्त बना कर तैयार किये जाते हैं, वे द्रव्य कहलाते हैं। एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य में मिला देने पर भी वह एक ही द्रव्य कहलाएगा। जैसे दूध एक द्रव्य है, किन्तु खीर बना लेने पर उसमें चावल नामक दूसरे द्रव्य के साथ मिल जाने से वह खीर नामक एक द्रव्य माना जाएगा। रोटी, बाटी, पूड़ी आदि अलग-अलग किस्म का द्रव्य माना जाएगा। इस प्रकार द्रव्यों के विषय में मर्यादा करे कि मैं आज इतने द्रव्यों से अधिक द्रव्य काम में नहीं लूंगा। यह मर्यादा सिर्फ खान-पान विषयक द्रव्यों की होती है।

विगय—जो पदार्थ शरीर में विकृति पैदा करते हैं, उन्हें विगय कहते हैं। दूध, दही, घी, तेल और मिठाई, ये पाँच सामान्य विगय हैं। इन पदार्थों में जितने का भी त्याग किया जा सके, उतने का करे। अथवा मर्यादा करे कि मैं अमुक-अमुक पदार्थ काम में न लूंगा, अथवा अमुक पदार्थ इतने वजन से अधिक काम में न लूंगा।

मधु और मक्खन, ये दो विशेष विगय हैं। इनका निष्कारण उपयोग करने का त्याग करे और सकारण उपयोग करने की मर्यादा करे। मद्य एवं मांस महा-विगय हैं, श्रावक को इनका सर्वथा त्याग करना चाहिए।

पन्नी—उसे कहते हैं, जो पैरों की रक्षा के लिए पहनी जाती है। जैसे, जूते, बूट, खड़ाऊँ, चप्पल, मोजे आदि, इनकी मर्यादा करे कि मैं आज एक जोड़ी जूते चप्पल मोजे आदि से अधिक का उपयोग न करूँगा।

ताम्बूल—उसे कहते हैं, जो भोजन करने के बाद मुखशुद्धि के लिए खाया जाता है, उन सबकी गणना ताम्बूल में है। पान, सुपारी, इलायची, चूर्ण, खाटा, सौंफ आदि, इनके विषय में भी मर्यादा करे।

वस्त्र—पहनने-ओढ़ने के कपड़ों के विषय में मर्यादा करे कि मैं आज अमुक जाति के वस्त्र इतने से अधिक उपयोग में नहीं लाऊँगा।

कुसुम—वे सभी सुगन्धित पदार्थ है, जो सुगन्ध के लिए शरीर पर लगाये जाते हैं जैसे—फूल, इत्र, तेल, सेंट व अन्य सुगन्धित पदार्थ।

वाहन—हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाड़ी, ताँगा, मोटर, रेल, नौका, जहाज, विमान आदि सवारी के साधनों की, चाहे वे जल, स्थल, या नभमार्ग के हों, उनकी मर्यादा करे कि आज मैं अमुक वाहन के सिवाय और कोई वाहन काम में नहीं लूंगा।

शयन—शय्या, तख्त, पलंग, खाट बिस्तर आदि के विषय में मर्यादा करे।

विलेपन उसे कहते हैं, जो शरीर पर लेप किये जाते है, जैसे—केसर, चन्दन, तेल, साबुन, अंजन, मंजन आदि। उनके सम्बन्ध में प्रकार एवं वजन की या संख्या की मर्यादा करे।

ब्रह्मचर्य—स्थूल ब्रह्मचर्य (पुरुष के लिए स्वदार-सन्तोष परदारविवर्जन तथा स्त्री के लिए स्वपतिसन्तोष परपुरुषवर्जन रूप) व्रत की जो मर्यादा रखी है उसमें भी यथाशक्ति और संकोच करे या त्याग करे।

दिशि—दिशा परिमाण करते समय आवागमन के लिए प्रत्येक दिशा में जो क्षेत्र जीवन भर के लिए रखा है, उसका संकोच करे और यह संकल्प करे कि मैं आज इतनी दूर से अधिक पूर्वादि दिशा, आग्नेय आदि विदिशा, या ऊर्ध्व अथवा अधोदिशा में गमनागमन नहीं करूँगा।

स्नान—आज मैं देश या सर्व स्नान, इससे अधिक नहीं करूँगा, ऐसी स्नान मर्यादा करना।

भक्त—भोजन-पानी के सम्बन्ध में भी मर्यादा करे कि मैं आज इतनी मात्रा से अधिक नहीं खाऊँगा, न पीऊँगा। इन चौदह नियमों के विषय में चिन्तन करना देशावकाशिक व्रत है। इन नियमों के चिन्तन से अणुव्रत-गुणव्रत आदि में जो मर्यादा रखी गई है, उसका संकोच होता है।

कई लोग इन चौदह नियमों के साथ असि मसि और कृषि इन तीन को और मिलाकर इनके विषय में भी मर्यादा करते हैं। ये तीनों आजीविका सम्बन्धी कार्य हैं। सातवें व्रत में १५ प्रकार के कर्मादान रूप आजीविका के कार्यों का तो श्रावक को सर्वथा त्याग करना ही होता है। शेष जो कार्य रहते हैं, उनके विषय में भी प्रतिदिन मर्यादा करे।

इस प्रकार के देशावकाशिक में नियम-चिन्तन करने में जितना समय अथवा मुहूर्त्त या प्रहर तक का समय लगता है, उसमें आहार-पानी या अन्य शारीरिक कार्यों का तो कोई सवाल ही नहीं है।

वर्तमान में प्रचलित देशावकाशिक व्रत

जिस प्रकार नियमों का चिन्तन करके प्रत्येक नियम के सम्बन्ध में दैनिक मर्यादा निश्चित की जाती है, द्रव्य और क्षेत्र से भी सातवें व्रत में स्वीकृत मर्यादा में संकोच किया जाता है, उसी प्रकार अणुव्रतों की स्वीकृति मर्यादा में काल की सीमा तय करके एक दिन-रात के लिए पाँच आस्रव-सेवन का त्याग करना भी देशावकाशिक व्रत में परिगणित होता है। वर्तमानकाल में स्थानकवासी सम्प्रदाय में इसे दयाव्रत या छहकायाव्रत कहा जाता है।

आचार्यों ने इसकी ग्रहण विधि दो तरह से बताई है—कोई दो करण, तीन योग से आस्रव द्वार सेवन करने का त्याग करते हैं, यानी मन-वचन-काया से पाँच

आस्रवों के सेवन स्वयं न करना और दूसरों से सेवन न कराना। दूसरा तरीका एक करण एक योग से भी पंचास्रव सेवन का त्याग कराने का है। इस प्रकार से त्याग करने वाला व्यक्ति अपने शरीर से आरम्भ-समारम्भ के कार्य नहीं कर सकता। मन और वचन के सम्बन्ध में तो उसने त्याग नहीं किया है, और न ही कराने और अनुमोदन का ही त्याग किया है। किन्तु दो करण, तीन योग से प्रतिज्ञा लेने वाला व्यक्ति न तो स्वयं व्यापार, कृषि या दूसरे आरम्भ-समारम्भ के कार्य कर सकता है और न ही दूसरों को कहकर उनसे करवा सकता है। कोई इस व्रत को एक करण तीन योग से ग्रहण करता है और आस्रव द्वार के सेवन का त्याग करता है, वह स्वयं तो आरम्भ-समारम्भ के कार्य नहीं कर सकता, लेकिन यदि दूसरे से कहकर आरम्भ-समारम्भ के काम कराता है, तो उसका व्रतभंग नहीं होता, क्योंकि उसने दूसरे से आरम्भ-समारम्भ कराने का त्याग नहीं किया है।

प्रश्न होता है कि जो दो करण, तीन योग से आस्रव का त्याग करता है, वह आरम्भ-समारम्भ तो करा नहीं सकता, फिर वह उस दिन-रात (अहोरात्रि पर्यन्त) शरीर निर्वाह के लिए क्या करता है ?

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि आचार्यों ने इसको देशपौषध का रूप दिया है। जो लोग चौविहार उपवास के सहित पौषध करते हैं, उनका तो ग्यारहवाँ प्रतिपूर्ण पौषधोपवास व्रत हो जाता है, किन्तु जो ऐसा न करके तिविहार उपवास करते हैं, यानी उपवास करके साथ में दिन में प्रासुक पानी का उपयोग करते हैं, उनके इस देशावकाशिक व्रत को देशपौषध कहा है, और दशवें व्रत में परिगणित किया है। ऐसे दशवें व्रत (देशपौषध) करने वाले को आरम्भ-समारम्भ करने-कराने की जरूरत नहीं पड़ती। प्रासुक जल जो बना है, उसका उपयोग वह करता है, तो उसकी प्रतिज्ञा नहीं टूटती।

किन्तु जो निराहार नहीं रह सकते, जिनमें उपवास करने की शक्ति नहीं है, वे आयम्बिल एकासन आदि करके भी इस व्रत का पालन दयाव्रत (छहकाया) के रूप में करते हैं। जो किसी कारणवश रसहीन भोजन नहीं कर सकते, वे एकाशन करके इस व्रत का पालन करते हैं। किन्तु एकाशन में भोजन विशेष स्वादिष्ट और इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाला न हो, अन्यथा वह दयाव्रत लोगों की दृष्टि में उपहास का विषय बन जाता है। इस प्रकार के दयाव्रत को शास्त्रकारों ने एक प्रकार का पौषधव्रत ही माना है। क्योंकि थोड़ा-सा खा-पीकर शरीर को भाड़ा देकर भी दयाव्रती आस्रवों से विरत होकर धर्म का पोषण करता है, सामायिक साधना आदि धर्म-ध्यान में रत रहता है, इसलिए पौषध की कोटि में आ जाता है। पौषध की व्याख्या करते हुए आवश्यकसूत्र के वृत्तिकार ने कहा है—**'पोषं=पुष्टि प्रकर्षाद् धर्मस्य वत्ते करोतीति पौषधः'** अर्थात् 'जो प्रकर्ष रूप से धर्म की पुष्टि या पोषण करता है, वह पौषध है।' अथवा—

पोसेइ कुसलधम्मे, अंताहारादि चाउगणुट्ठाणं ।
इह पोसहोत्ति भण्णति, विहिणा जिणभासिएण य ॥"

—आहारादि करके भी यह प्राणातिपात आदि से विरमण के शुभ अनुष्ठान (आचरण) द्वारा कुशल धर्म को पोषण देता है, इसलिए जिनेन्द्र भाषित विधि से इसे भी आचार्य पौषध कहते हैं।

वास्तव में यह देशपौषध रूप देशावकाशिक व्रत एक प्रकार की धर्मगोष्ठी है। इसमें एक बार भोजन करके भी दयाव्रती साधक अपना शेष समय सामायिक, संवर, ज्ञानचर्चा, धर्मध्यान, पूर्ववत् आत्मचिन्तन, स्वरूपरमण, वीतराग परमात्म-चिन्तन आदि में लगाता है। इसके निमित्त से कई निर्धन या असहाय भाई-बहिन भी धर्माराधन कर सकते हैं। स्वयं धर्मलाभ प्राप्त करके दयाव्रत के निमित्त से व्यक्ति अनेक साधर्मी भाई-बहनों को धर्मलाभ प्राप्त करा सकता है।

इस प्रकार का दयाव्रतरूप देशपौषध (देशावकाशिक व्रत) स्वीकार करने वाला श्रावक एक करण, एक योग या एक करण, तीन योग से ग्रहण करता है। तथा जिस दिन इस प्रकार का देशपौषध करता है, उस दिन समस्त सावद्य व्यापार, (अपने घर का आरम्भ समारम्भ, तथा आजीविका सम्बन्धी समस्त व्यापार, एवं शरीर शृंगार सम्बन्धी आरम्भ) छोड़कर प्रातःकाल ही पौषध योग्य धर्मोपकरण लेकर पौषधशाला, धर्मस्थानक या उपाश्रय में उपस्थित हो जाता है। अगर वहाँ धर्मगुरु विराजमान हों तो उनसे, अन्यथा बड़े श्रावक या श्राविका से अथवा स्वयं सविनय इस व्रत को अहोरात्रि के लिए ग्रहण कर लेता है। फिर पौषधव्रती की तरह ही प्रतिलेखन, प्रमार्जन, ईर्यासमिति आदि पाँच समितियों एवं तीन गुप्तियों सहित अपनी दिनचर्या बिताता है। इसमें दिन-रात भर में कम से कम ग्यारह और अधिक से अधिक सोलह सामायिक करने की परिपाटी है। सामायिक में श्रावक द्वारा स्वाध्याय, ज्ञानचर्या, ध्यान, समौन, चिन्तन, आत्म-चिन्तन, परमात्म भजन, जप, व्याख्यान श्रवण एवं स्वरूप-रमण आदि का कार्यक्रम रखा जा सकता है।

जब आहार करना हो, तो सामायिक पार कर भोजन के बर्तन का प्रतिलेखन करके श्रावक यतनापूर्वक आहार करता है। आहार करते समय भी वह इस प्रकार की भावना करे—'मैं आहार त्याग नहीं कर सकता, इसलिए एक समय के लिए आहार करता हूँ, लेकिन आहार करके भी मैं अपनी दिनचर्या त्यागी साधु की-सी बिताऊँ, आस्रव त्याग करके संवर को अपनाऊँ। धन्य हैं, वे, जो आहार त्याग करके या आयम्बिल अथवा निविगयी तप करके धर्माराधना करते हैं। मुझ में इतनी क्षमता नहीं है, इसी से मैं अपने पेट को भाड़ा देने हेतु आहार करता हूँ।"

इस प्रकार श्रावक त्यागवृत्ति की प्रशंसा करे। श्रावक उस दिन आहार, निहार, शयन आदि सभी चर्या साधु की तरह यतना से करे। रात्रि की चर्या भी

चौविहार करके सामायिक, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, आत्म-चिन्तन, यतनापूर्वक शयन और परमेष्ठी मंत्र का जाप आदि में बिताए।

इस प्रकार पाँच अणुव्रतों के पालन, पाँच आस्रवों के सेवन के त्याग एवं संवर ग्रहण रूप में पूरे दिन-रात के देशावकाशिकव्रत का स्वरूप है।

इस प्रकार के देशावकाशिकव्रत के पालन से एक तरह से महाव्रतों की-सी साधना हो जाती है, क्योंकि जितनी सीमा गमनागमन की रखी है, उसके उपरान्त, श्रावक के स्थूल-सूक्ष्म सभी (पाँचों) पापों का त्याग हो जाता है।[1]

देशावकाशिकव्रत के पाँच अतिचार

बिना पतवार की नौका समुद्र में चारों ओर से टकराकर टूट जाती है, वैसे ही अतिचार से सावधानी रखे बिना व्रतरूप नौका भी टूट जाएगी। देशवकाशिक व्रत में ५ अतिचार लगने की सम्भावना है। श्रावक को इन पाँच अतिचारों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

चूंकि देशावकाशिकव्रत दिशापरिमाणव्रत में प्रत्येक दिशा की रखी हुई क्षेत्र मर्यादा को ही एक दिन-रात के लिए अत्यन्त संक्षेप—संकुचित करने का नाम है। जैसे कि स्थानांगसूत्र के वृत्तिकार ने इस व्रत की व्याख्या करते हुए कहा है—'देश अर्थात् दिशाव्रत में रखा हुआ जो विभाग=अवकाश या क्षेत्र सीमा या प्रदेश वह देशावकाश है, उसी व्रत को देशावकाशिक कहते हैं। अथवा दिग्परिमाणव्रत में स्वीकार (निश्चित) किये हुए दिशापरिमाण को प्रतिदिन संक्षिप्त (संकुचित) करना, घटाना देशावकाशिक है।'[2]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दिग्परिमाणव्रत में रखी हुई प्रत्येक दिशा की क्षेत्र मर्यादा घटाने को ही देशावकाशिक व्रत कहा गया है। इसी परिभाषा को लक्ष्य में रखकर शास्त्रकारों ने देशावकाशिक व्रत के ५ अतिचार बताए हैं और उनसे सावधान रहने का निर्देश किया है। वे ५ अतिचार इस प्रकार हैं—आनयनप्रयोग, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात एवं बाह्यपुद्गलप्रक्षेप।[3]

आनयन प्रयोग—इस व्रत का प्रथम अतिचार है। इसका अर्थ है कि इस व्रत के ग्रहण करने के बाद दिशाओं का संकोच कर लेने से आवश्यकता उत्पन्न होने पर

---

१ इसी बात को आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं—
सीमान्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपाप संत्यागात्।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥९५॥

२ देशे दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य विभागोऽवकाशोऽवस्थानमवतारो विषयो तस्य तद्देशावकाशम्। तदेव देशावकाशिकम्। दिग्व्रतग्रहीतस्य दिक्परिमाणस्य प्रतिदिनं संक्षेपकरणलक्षणे वा।—स्थानांग० स्था० ४, उ० ३ वृत्ति

३ आणवणपओगे, पेसवणपओगे, सद्दाणुवाए, रूवाणुवाए, बहिया पोग्गलपक्खेवे'
—आवश्यक सूत्र

मर्यादित भूमि से बाहर रहे हुए सचित्तादि पदार्थ किसी को भेजकर मँगवाना अथवा किसी को भेजकर मर्यादित क्षेत्र से बाहर के समाचार मंगवाना। चूंकि श्रावक इस व्रत को (उक्त) प्रथम व्याख्या के अनुसार प्रायः दो करण, तीन योग से ग्रहण करता है, ऐसी स्थिति में वह मर्यादित भूमि से बाहर की चीज या समाचार किसी को भेज कर मंगवा नहीं सकता। श्रावक की असावधानी से अनजाने में ऐसी भूल होने पर यह अतिचार हो जाता है।

प्रेष्य प्रयोग—इस व्रत का दूसरा अतिचार है। श्रावक देशावकाशिकव्रत में दिशाओं की मर्यादा का संकोच कर लेता है, उसके बाद प्रयोजनवश अगर वह मर्यादित भूमि से बाहर की भूमि में से किसी को भेजकर कोई पदार्थ या सन्देश भिजवाता है तो वहाँ उसे प्रेष्य प्रयोग नामक अतिचार लगता है। अपना पाप टालने के उद्देश्य से दूसरों को उनकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने की आज्ञा देना या जबर्दस्ती काम कराना भी प्रेष्यवण प्रयोग नामक अतिचार है।

शब्दानुपात— नामक अतिचार तीसरा है। मर्यादित क्षेत्र से बाहर की भूमि से सम्बन्धित कार्य उपस्थित होने पर श्रावक द्वारा मर्यादित भूमि में रहकर किसी सांकेतिक शब्द से, या खंखारा, टिचकारी आदि अव्यक्त शब्द करना, ताकि दूसरा उक्तव्रती के शब्द का आशय समझकर उसके पास आजाए या कार्य कर सके, ऐसी स्थिति में शब्दानुपात नामक अतिचार होता है।

रूपानुपात—नामक अतिचार चौथा है। यह अतिचार तब होता है, जब इस व्रत का धारक श्रावक अपनी मर्यादा में रखी हुई भूमि से बाहर का कोई काम आ पड़ने पर अपनी आकृति, इशारा, अभिनय या हाथ-पैर आदि की चेष्टा द्वारा संकेत करके दूसरे व्यक्ति को अपना आशय समझाने का प्रयत्न करता है। यानी शारीरिक चेष्टा द्वारा संकेत करना रूपानुपात है।

बाह्यपुद्गल प्रक्षेप—इस व्रत का पंचम अतिचार है। यह अतिचार तब होता है, जब इस व्रत का धारक श्रावक मर्यादित भूमि से बाहर का कार्य उपस्थित होने पर ढेला, कंकर आदि पदार्थ (पुद्गल) मर्यादित भूमि के बाहर फेंककर दूसरे को अपना आशय समझाने का प्रयत्न करता है।

ये पांचों तब तक ही अतिचार हैं, जब तक व्रतपालन की अपेक्षा रखते हुए भूल से अनजाने में हो जायें, यदि ये चेष्टाएँ जानबूझकर की जाएँ तो अनाचार की कोटि में आ जाती हैं। अनाचार व्रत भंग कर देता है। इसलिए बहुत ही सावधानी पूर्वक इन अतिचारों से बचना चाहिए, तभी देशावकाशिकव्रत में निर्मलता, निश्चिन्तता, व्रत पालन करने की सन्तुष्टि एवं प्रसन्नता होगी। ☆

5

पौषधव्रत : आत्मनिर्माण का पुण्यपथ

☆

आज हम पौषधव्रत के निकट पहुँच गए हैं। पौषधव्रत श्रावक के बारह व्रतों में से ग्यारहवाँ व्रत है और चार शिक्षाव्रतों में तीसरा शिक्षाव्रत है। पौषधव्रत को जीवन में रमा लेने के लिए बार-बार अभ्यास करना पड़ता है। जीवन में पौषधव्रत का अभ्यास हो जाने पर मनुष्य की आत्मा को परम शान्ति, समाधि, तृप्ति एवं रमणता प्राप्त होती है। किसी भी श्रमिक को आपने देखा होगा, जब वह अत्यन्त थक जाता है, तो उस थकान को मिटाने और फिर से तरोताजा होकर कार्य में प्रवृत्त होने के लिए विश्रान्ति लेता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवृत्त होने एवं तरोताजा होकर आत्म-चिन्तन के लिए सद्गृहस्थ श्रावक को भी विश्रान्ति की आवश्यकता रहती है। उसे अपने गार्हस्थ्य प्रपंच एवं आजीविका के कार्य में दिन और रात में अधिकांश समय तक जुटे रहने के कारण थकान आ जाती है, कई बार उसके सामने अनेक उलझनें, अड़चनें एवं विपदाएँ आकर मंडराने लगती हैं, तब वह किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर निराश-हताश हो जाता है, कई बार वह जिंदगी से ऊब जाता है, कई बार अनेक झंझटों और परेशानियों से संतप्त हो जाता है। ऐसे समय में उसके मन, बुद्धि, चित्त और मस्तिष्क को विश्रान्ति की अपेक्षा रहती है। ताकि वह तरोताजा होकर वास्तविक रूप से आत्मचिन्तन कर सके, अपने कर्तव्य का निर्धारण कर सके, हिताहित व कर्तव्याकर्तव्य का विवेक कर सके।

पौषध : तीसरा विश्रान्तिस्थान

भगवान महावीर ने स्थानांगसूत्र में गृहस्थ श्रावक को भारवाहक श्रमिक की उपमा दी है। और बताया है कि जैसे भारवाहक श्रमिक को थकान मिटाने के लिए चार विश्रान्ति स्थल होते हैं, जहाँ वह विश्रान्ति लेकर तरोताजा होकर पुनः अपने कार्य में द्विगुणित शक्ति से प्रवृत्त होता है, वैसे ही गृहस्थ श्रमणोपासक के सिर पर भी गृहस्थकर्तव्यों का बहुत बड़ा भार है, जिसे वह भी चार विश्रान्तिस्थलों पर उतार कर विश्राम पाता है, थकान उतारता है।

स्थानांगसूत्र में इस प्रकार की एक चतुर्भंगी बताई गई है।

भारवाहक (श्रमिक) के लिए विश्रान्ति के चार स्थान हैं—

(१) भार को एक कंधे से दूसरे कंधे पर रखते समय, भार खिसकाया जाता है, तब थोड़ी-सी देर के लिए विश्रान्ति मिलती है।

(२) भारवाहक जब मलमूत्र-विसर्जन के लिए या भोजन करने के लिए कुछ अधिक देर के लिए अपने कंधे पर से भार उतार कर नीचे रखता है, तब विश्रान्ति मिलती है।

(३) जब रात पड़ जाती है तो भारवाहक किसी धर्मशाला, विश्रामगृह आदि स्थान में रात भर के लिए भार उतार कर रखता है, तब उसे विश्रान्ति मिलती है।

(४) भारवाहक चलते-चलते जब निर्धारित स्थान पर पहुँच जाता है, तब भार उतार देता है और विश्रान्ति पाता है।

इस भारवाहक की तरह गृहस्थ श्रावक भी गार्हस्थ्य-जीवन का भार वहन कर रहा है। वह चार स्थानों पर विश्रान्ति पाता है। वे चार स्थान इस प्रकार हैं—

(१) भारवाहक के कंधा बदलने की तरह श्रावक के लिए पहला विश्रान्ति स्थान तब होता है, जब वह यह भावना करे कि मैं अणुव्रत, गुणव्रत आदि व्रत अंगीकार करके पौषधोपवास करता हुआ विचरण करूँ।

(२) भारवाहक द्वारा कंधे पर रखे हुए भार को कुछ समय के लिए उतारने की तरह श्रावक के लिए दूसरा विश्रान्तिस्थान तब होता है, जब वह सावद्य-योग के त्याग और निरवद्ययोग के स्वीकार रूप सामायिक लेकर चित्त को समाधिभाव में प्रवृत्त करता है। अथवा देशावकाशिक व्रत स्वीकार करके अपने पर आ पड़े भार को कुछ समय के लिए कम करता है।

(३) भारवाहक द्वारा किसी सराय आदि में भार उतार कर रात्रि विश्राम की तरह श्रावक भी तब विश्रान्तिस्थान पाता है, जब वह अष्टमी, चतुर्दशी, पक्खी आदि पर्व के दिन एक दिनरात (अहोरात्रि) के लिए पौषधोपवास करता है।

(४) भारवाहक द्वारा निर्दिष्ट स्थान में पहुँचने पर विश्राम पाने के समान श्रावक जब अन्तसमय में समस्त सांसारिक कार्यों से निवृत्त होकर संल्लेखना, संथारा आदि करके शेष जीवन को समाधि प्राप्त करने में लगा देता है, तब चौथा विश्रान्तिस्थान प्राप्त करता है।

इन चारों प्रकार के विश्रान्तिस्थलों में से भारवाहक के लिए रात्रि निवास रूप तीसरे विश्रान्तिस्थान की तरह श्रावक के लिए भी **पौषधोपवास** तीसरा विश्रान्तिस्थान रूप है।

सचमुच गृहस्थ श्रावक के लिए पूरे एक दिन-रात भर और गार्हस्थ्य प्रपंच एवं शारीरिक खटपट से दूर रहकर निराहार निर्जल रहकर धर्माराधन एवं आत्मचिन्तन के रूप में पौषधोपवास करना तीसरा अद्भुत विश्रामस्थल है।

पौषधव्रत : आत्मनिर्माण की सर्वोत्तम साधना

पौषधोपवासव्रत आत्म-निर्माण की सर्वोत्तम साधना है। गृहस्थ श्रावक को वैसे तो अपने गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों से अवकाश कम मिलता है, किन्तु जब अवकाश मिलता है, थोड़ा-सा मिलता है, इसलिए श्रमणशिरोमणि भगवान् महावीर ने अपनी आन्तरिक (आत्मिक) सुव्यवस्था, विकास एवं आत्मशक्ति बढ़ाने के लिए अष्टमी, चतुर्दशी, पक्खी आदि पर्वतिथियों पर पूरे दिन-रात का अवकाश लेकर श्रावक के लिए पौषधोपवास की साधना करने का निर्देश किया।

आज साधना का अर्थ केवल भजन या जप ही समझा जाता है, और साधारणतया किसी देवी-देवता से कुछ सिद्धि या वरदान प्राप्त करना या परलोक में देव लोक का अधिकारी बनना उसका उद्देश्य माना जाता है। परन्तु गहराई से सोचा जाय तो इन साधनाओं का भौतिक उन्नति से सम्बन्ध भले ही हो, आध्यात्मिक उन्नति से कोई सम्बन्ध नहीं होता। मगर पौषधोपवास एक ऐसी साधना है, जिसका सीधा सम्बन्ध आत्मिक उन्नति से है। इसमें पूरे दिनरात भर आत्मा के चिन्तन-मनन में पुरुषार्थ करना पड़ता है।

आध्यात्मिक पुरुषार्थ : महान् बनने की साधना

यह देखा जाता है, मनुष्य चाहे कितना ही शारीरिक पुरुषार्थ कर ले, आखिर कार वह पुरुषार्थ पशुओं से घटिया दर्जे का होता है। वास्तव में मनुष्य उतना शरीर श्रम नहीं कर सकता, जितना पशु कर सकते हैं। उदाहरणार्थ—बैल को लीजिए। वह कई मन बोझ ढोकर कई मीलों रास्ता तय कर लेता है। सारे दिन भर खेत में हल में जुता रह सकता है, पानी खींचने में भी अरहट में जुटा रह सकता है। यही हाल ऊंट तथा भैंसे आदि का है। परन्तु मनुष्य को इतने घंटे तक लगातार इतना कठोर शरीर श्रम करना पड़े तो नानी याद आ जाय। इसलिए मनुष्य की विशेषता तो बौद्धिक और आध्यात्मिक श्रम में है। इसी आध्यात्मिक पुरुषार्थ के बल पर मनुष्य जगत् का सर्वोत्तम प्राणी बन सका है।

यह सच है कि जहाँ दूसरे धर्मसम्प्रदाय मनुष्य के शारीरिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक पुरुषार्थ में देवीदेवों या अन्य शक्तियों से वरदान की या सहायता की अपेक्षा रखते हैं, वहाँ जैनधर्म आध्यात्मिक या बौद्धिक पुरुषार्थ में किसी भी देवी-देव या शक्ति की अपेक्षा नहीं रखता। यह श्रमणसंस्कृति है। श्रमणसंस्कृति दूसरे के वरदान, सहायता या प्रतिनिधित्व के सहारे चलने की बात को बिलकुल गलत मानती है। वह कहती है—मनुष्य! तुम्हारे अपने हाथ में ही मुक्ति है, तुम्हारा स्वर्ग-नरक भी तुम्हारे हाथ में है।

मुक्तिः क्रीड़ति हस्तयो बहुविधं सिद्धं मनोवाञ्छितम्

तुम्हारा आत्मविकास तुम्हारे अपने आध्यात्मिक पुरुषार्थ से होगा। तुम स्वयं ही अपने कर्मों को काटने के लिए तत्पर बनोगे, तभी तुम्हारी मुक्ति होगी। कोई देवी, देव या इन्द्र तुम्हारे लिए मुक्ति या आत्मविकास लाकर नहीं दे देगा। इस दृष्टि से

ही भगवान् महावीर ने गृहस्थ श्रावक के आध्यात्मिक विकास के लिए सामायिक एवं देशावकाशिक की तरह पौषधोपवासव्रत का विधान किया। बल्कि पौषधोपवास की साधना में शारीरिक प्रपंच से बिलकुल निश्चिन्त, आजीविका के क्षेत्र से भी निवृत्त होकर एकमात्र आत्मा की उपासना में ही गृहस्थ साधक एक रात-दिन बिताता है। इसलिए उसका आध्यात्मिक उत्कर्ष से सीधा सम्बन्ध है। इस साधना से गृहस्थश्रावक के अन्तःप्रदेश का ऐसा शोधन, परिष्कार एवं अभिवर्धन होता है, जिसके फलस्वरूप सर्वतोमुखी आत्मिक उन्नति का द्वार खुल जाता है, जो विघ्नबाधाएँ आत्मिक प्रगति का मार्ग रोके खड़ी रहती हैं, उन्हें स्वयं साधक इस व्रत में पुरुषार्थ से आत्मबली बन कर हटा सकता है।

मनुष्य, विशेषतः सम्यग्दर्शनसम्पन्न व्रतधारी श्रावक वीतराग परमात्मा का लघुपुत्र है। वह अपने अन्दर अनन्त शक्तियों की योग्यता को छिपाए हुए है। अपरिमित आध्यात्मिक सम्पदाएँ उसमें सुषुप्त हैं। उसका दीन-हीन और निर्बल होकर आत्मविस्मरण करना उचित नहीं।[1] पौषध में अपने वास्तविक आत्मस्वरूप का चिन्तन करने से साधक अपने आपको वीतराग परमात्मा का उत्तराधिकारी अनुभव करने लगेगा।

पौषध : आत्मचिन्तन से आत्मनिर्माण का कारण

पौषध में आत्मचिन्तन, आत्मशोधन और आत्मनिर्माण का ही पुरुषार्थ मुख्यतया होता है। मनुष्य के लिए, खासतौर से मुमुक्षु साधक के लिए आत्मचिन्तन, आत्मशोधन एवं आत्मनिर्माण का कार्य उतना ही सरल है, जितना शरीर को सर्वांगासन, मयूरासन, शीर्षासन आदि आसनों के लिए अभ्यस्त कर लेना। प्रारम्भ में साधक का मन इस झंझट में पड़ने से आनाकानी करता है। पुराने या गृहस्थाश्रमजन्य अभ्यास को छोड़कर नया अभ्यास डालना अखरता है, गृहस्थाश्रम के लोभवृत्ति, अभिमान, राग, मोह आदि के पूर्वाभ्यस्त संस्कारों का व्युत्सर्ग (वोसिरे, वोसिरे) करके नये संतोष, स्वाध्याय, शान्ति, समता, क्षमा, आत्मस्वरूपरमणता आदि के सुसंस्कारों में मन को ढालने में कुछ परेशानी एवं कठिनाई भी होती है। यदि पौषधोपवास का अभ्यासी साधक इन बातों से डरकर या घबराकर अभ्यास न करे या सिर्फ बाह्य क्रियाकाण्डों में पड़कर ही छुट्टी मान ले या इस आत्मविकास की साधना के अभ्यास से मुख मोड़ ले, इसे छोड़ बैठे तो इसके सत्परिणामों से लाभान्वित होना सम्भव न होगा। कहने का मतलब यह है कि पौषधोपवासव्रत अंगीकार करके गृहस्थ साधक यदि अपना आत्मालोचन, आत्मनिरीक्षण, (स्वगुण-दोष-निरीक्षण) आत्मप्रतिक्रमण, आत्मनिन्दन (पश्चात्ताप), आत्मगर्हा, आत्मशुद्धि (प्रायश्चित्त, तप आदि के द्वारा) या आत्मरमणता करके अपनी आत्मशक्तियाँ प्रगट नहीं करता है, उसको इन बातों में रुचि या उत्साह नहीं है तो वह पौषधोपवास करके भी उससे यथेष्ट आध्यात्मिक लाभ प्राप्त नहीं कर सकेगा।

पौषध से आत्म-चिन्तन द्वारा आत्म-शक्ति

मनुष्य की आत्मा में अद्भुत शक्तियाँ छिपी पड़ी हैं। उनका चिन्तन करने से वे जागृत हो जाती हैं और मनुष्य के चरित्र या मानसिक संस्कारों में प्रविष्ट होकर अपना चमत्कार दिखलाने लगती हैं।

आत्म-चिन्तन एक अद्भुत कला है इससे जहाँ आपको अपने गुणों का आभास होगा, वहाँ उन न्यूनताओं का भी पता चलेगा, जो आपको दीनता, हीनता एवं अकर्मण्यता की ओर ले जाती हैं। आत्म-चिन्तन करने पर आप अपने में जिस गुण की कमी पाएँ, उसे अपनी आत्मशक्तियों के चिन्तन द्वारा दूर करने का पुरुषार्थ कर सकते हैं। यदि अज्ञान के कारण आप में हीन-भावना घर की हुई है तो आप स्वाध्याय, मनन, और सत्संग का कार्यक्रम चलाकर उसे खदेड़ सकते हैं। अगर आप अपने में निर्बलता का अनुभव करते हैं तो अपनी विशिष्ट शक्तियों के चिन्तन द्वारा अपने में आत्म-विश्वास, साहस एवं उत्साह की अभिवृद्धि कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जो अभाव, दौर्बल्य, या त्रुटि आपको दीनता की ओर धकेलती हो, उसे उस प्रकार की विशिष्ट शक्तियों के चिन्तन द्वारा दूर किया जा सकता है।

संसार में कोई भी व्यक्ति जन्म से ही महान् या शक्तिमान पैदा नहीं होता। सभी प्रायः एक-सी क्षमताओं और विशिष्टताओं को लेकर पैदा होते हैं। अन्तर केवल इतना ही होता है कि जो अपनी आत्मा में निहित शक्तियों में विश्वास करके उन्हें पौषधव्रत के माध्यम से आत्म-चिन्तन द्वारा जगाते हैं और उपयोग में लाते हैं, वे आगे बढ़ जाते हैं, और जो अपने प्रति हीन-भावना के शिकार बने रहते हैं, वे अपनी दीन-हीन मनोवृत्ति का आश्रय लेकर अपने कायरता और क्लीवता के विचारों, भावों और कल्पनाओं से अपनी आत्मा का तेज और श्रेष्ठता नष्ट करते रहते हैं। वह शस्त्र से अपना ही घात करने जैसा वैचारिक आत्महनन है। अपने में ऐसी दीनवृत्ति का आभास होते ही साधक को अपना उपचार पौषधव्रत के द्वारा करने में तत्पर हो जाना चाहिए।

निश्चय ही मनुष्य और उसमें भी गृहस्थ श्रावक महान् है। उसमें भी परमात्म ज्योति छिपी हुई है, जिसे वह आत्म-विश्वास के द्वारा प्रगट कर सकता है। आत्मचिन्तन द्वारा अपनी महानताओं, विशेषताओं और क्षमताओं का द्वार खोलिए और देखिए कि आपके अन्दर सोया हुआ महापुरुषत्व जाग पड़ा है।

पर-दोष-चिन्तन में समय मत खोओ

बहुत से लोग, जिनमें अधिकांश श्रावक भी हैं, पौषधोपवासव्रत में भी आत्म-चिन्तन करने की अपेक्षा दूसरों के दोषों का या अपने घर की समस्याओं का चिन्तन करने लग जाते हैं। साधारण व्यक्तियों की तरह अपनी बुरी आदतों का समर्थन करने के लिए कुछ श्रावकगण अपना दिमाग कुछ पर-छिद्र, कुतर्क और कारण ढूंढने में लगाए रखते हैं, ताकि वे स्वयं दोषग्रस्त होते हुए भी अपनी निर्दोषिता प्रमाणित कर

सकें। इस प्रकार आत्मनिरीक्षण करते समय अपने दोषों, त्रुटियों, बुरी आदतों, भूलों गलतियों या अपराधों को ढूँढ़ने में उनका उत्साह नहीं होता, न ही उन्हें वे गलतियां सूझती हैं और न ही वे उन्हें छोड़ने को उत्साहित होते हैं। जैसे अपनी आँख में लगा हुआ काजल स्वयं को नहीं दिखाई देता, वैसे अपनी बुराइयाँ भी उन दुराग्रही श्रावकों को नहीं सूझतीं। अधिकांश मनुष्यों की मानसिक रचना ही ऐसी होती है कि वे हर बात में अपने आपको निर्दोष मानते हैं। उन्हें कोई दूसरा व्यक्ति उनकी गलती सुझाए तो भी उनका मन उसे स्वीकार करने को प्रायः तैयार नहीं होता। प्रायः हर आदमी दूसरे के दोष ढूंढ़ने में बड़ा चतुर और सूक्ष्मदर्शी होता है। उसकी तीक्ष्ण पर-आलोचना शक्ति देखते ही बनती है। पर जब अपना नम्बर आता है तो वह सारी चतुरता, समस्त आलोचना शक्ति न जाने कहाँ छूमंतर हो जाती है। जैसे खोटा व्यापारी खरीदने और बेचने के बाँट तौल में बढ़े-घटे बना कर अलग-अलग रखता है, और खरीदने के समय बढ़े बाँटों को तथा बेचने के समय घटे बांटों को काम में लाता है, उसी प्रकार दूसरों की बुराइयाँ ढूंढ़ने में हमारी दृष्टि अलग तरीके से और अपनी बात आने पर और तरीके से काम करती है। यदि श्रावक अपने पद पर ध्यान देकर पौषध के दौरान दूसरों की बुराइयाँ खोजने के बजाय अपनी बुराइयाँ देखने लग जायें, दूसरों को सुधारने की चिन्ता करने की तरह यदि अपने सुधारने की चिन्ता करने लगें, तो बहुत बड़ा काम हो सकता है। मेवाड़ के महाराणा स्वरूपसिंहजी के चाचा योगी श्री चतुरसिंहजी ने मेवाड़ी भाषा में एक भजन में साधक को बहुत ही अनूठा परामर्श दिया है—

कर कर वृथा पंथ दूजां रो, बेंडा वखत गमायो सारो ॥ध्रुव॥
वो यूं कीधो, वो यूं कीधो, थें कांई कीधो थारो।
.....तेल गट्यो दीवा रो॥

कितना सुन्दर मार्गदर्शन है, आत्मसाधक के लिए। वे कहते हैं—तू दूसरों की पंचायत करता रहा, दूसरों की दूकान संभालता रहा, कि उसने यों किया, उसने यों किया, पर मैं पूछता हूँ—तूने अपना क्या किया? दूसरों की ही निन्दा की। पुराण पढ़कर तूने अपनी आत्मसाधना का जो अमूल्य समय था, उसे व्यर्थ खो दिया। जब आत्मचिन्तन, आत्मनिरीक्षण एवं आत्मस्वरूपरमण का समय था, तब तो दूसरों के दोषदर्शन में लगा रहा, और जब जीवनरूपी दीपक में आयुष्यरूपी तेल समाप्त होने को आया, तब तुझे अपनी बात सूझी; परन्तु अब क्या हो सकता है जबकि जिंदगी की गाड़ी एकदम यहाँ से चलने की तैयारी में है।

मनुष्य की यह सबसे बड़ी निर्बलता है कि वह हर गलती या दोष औरों में ढूंढ़ता है, स्वयं निर्दोष होने का कोई न कोई मार्ग तलाश लेता है। दोषदृष्टि या दूषित मनोभाव रखकर संसार को बुरा देखते रहने से उसका तो कुछ नहीं बिगड़ता, अपनी ही मनःशान्ति और सन्तुष्टि नष्ट हो जाती है। सर्वत्र बुरा ही बुरा देखते रहने से जीवन बड़ा ही अशान्त एवं प्रतिगामी बनकर रह जाता है। इस दोषदृष्टि के

कारण व्यक्ति संसार में सर्वत्र बिखरे हुए सौन्दर्य, प्रेम, सौहार्द और स्नेह से वंचित रह जाता है। सर्वत्र अच्छाई के दर्शन करते रहने और दूसरों को आत्मीय दृष्टि से देखने पर बुरे तत्त्व भी अनुकूल बन जाते हैं।

दूषित दृष्टिकोण परेशानियाँ बढ़ाता है

दूषित दृष्टिकोण वाला व्यक्ति साधारण-सी कठिनाई का अनुचित मूल्यांकन करके अपनी परेशानियाँ बढ़ा लेता है। जरा-सा अभाव, छोटा-सा रोग या साधारण-सी प्रतिकूलता उसे पहाड़-सी भारी और भयंकर दिखाई देती है, जिससे वह अनावश्यक रूप से रोता-झींकता रहता है।

यदि किसी व्यक्ति को संसार के खराब होने की शिकायत है और वह चाहता है कि संसार का सुधार हो, उसकी गतिविधि ठीक हो, चारों ओर सुख-शान्ति का वातावरण निर्मित हो तो उसका आसान उपाय है—अपने सुधार का प्रारम्भ। मानव के व्यक्तिगत आचरण की शुद्धता और पवित्रता में समाज, राष्ट्र और देश के कायाकल्प करने की शक्ति विद्यमान है। यह कार्य वैयक्तिक स्तर पर होना चाहिए। पहले व्यक्ति को आत्म-निर्माण पर ध्यान देना चाहिए, समाज का विशुद्धीकरण उसी का परिवर्द्धित रूप है। जितने अंशों में व्यक्ति अपना सुधार करता जाएगा, उतने ही अंशों में संसार स्वतः सुधरता जाएगा क्योंकि व्यक्ति भी संसार का एक अंश है। आत्मसुधार ही संसार-सुधार का मूल है।

दूसरों की अपेक्षा अपना सुधार अधिक सरल तथा अधिक सम्मत होता है। व्यक्ति दूसरे को तो सुधार के लिए समझा ही सकता है, प्रार्थना ही कर सकता है, अधिक से अधिक उपदेश दे सकता है, लेकिन अपने आपको तो वह हठपूर्वक भी सुधार सकता है। दूसरों पर व्यक्ति का कोई वश नहीं होता कि वे उसकी बात मानें ही, लेकिन अपने पर तो व्यक्ति का वश और अधिकार है, पूरा अधिकार है कि वह जब चाहे अपने पर सख्ती करके उसे बलपूर्वक मोड़ ले।

पौषधव्रत के माध्यम से आत्मशोधन में निरत होना संसारशोधन में लगने का एक प्रकार है। एक व्यक्ति अपनी अच्छाई से स्वयं ही लाभान्वित नहीं होता, बल्कि अन्य लोगों की सुख-शान्ति बढ़ाने में भी सहायक होता है। जैसे बुरे व्यक्ति की बुराई का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है, और उनके दुःखों में वृद्धि करता है, वैसे ही अच्छे आदमी की अच्छाई का प्रभाव भी दूसरों पर पड़ता है, वे उसके व्यवहार से लाभान्वित, प्रेरित और सुख-शान्ति से युक्त होते हैं। अतः विश्वकल्याण का सबसे सरल तरीका आत्मकल्याण ही मानना चाहिए।

आत्मसुधार या आत्मकल्याण की भावना को स्वार्थ मानना भारी भूल होगी। स्वचरित्र का उत्थान अथवा आत्मोन्नति करना स्वार्थ नहीं माना जा सकता। यह विशुद्ध परमार्थ है। परमार्थ के कार्यों से अपना ही नहीं, सारे संसार का कल्याण है। संसार का सुधार करने के लिए व्यक्ति को अपना आध्यात्मिक दृष्टिकोण विकसित

करना चाहिए शास्त्र में **'अप्पसमं मन्निज्ज छप्पिकाए'** (अपनी आत्मा के समान छह ही काया—समस्त प्राणीमात्र को माने) का रहस्य भी यही है।

बुढ़ापे में धर्माचरण की बात : अनिश्चित

यही बात भगवान महावीर कहते हैं कि श्रावक को पर्वतिथियों में सांसारिक खटपट एवं शरीर सम्बन्धी भोगोपभोगों से बिलकुल निवृत्त होकर बीच-बीच में पूरे दिन-रातभर पौषधोपवास करके अपनी आत्मसाधना में अधिकाधिक समय लगाना चाहिए, आत्मसाधना-आत्मालोचना का अभ्यास अभी से डालना चाहिए, अन्यथा जब बुढ़ापा आकर घेर लेगा, इन्द्रियाँ क्षीण हो जाएँगी, अनेक व्याधियाँ लग जायेंगी, तब दुनियादारी एवं दूसरों की पंचायत छोड़कर आत्मधर्म की आराधना करने की सूझेगी, परन्तु तब कुछ नहीं हो सकेगा। दशवैकालिक सूत्र में भगवान महावीर का वह अमूल्य उपदेश निहित है—

'जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे॥'

—'जब तक बुढ़ापा आकर पीड़ित नहीं करता, जब तक कोई व्याधि नहीं बढ़ती, जब तक तुम्हारी इन्द्रियाँ क्षीण नहीं होतीं, तब तक तुम्हें समय रहते धर्माचरण कर लेना चाहिए।'

कई लोग यह सोचा करते हैं—'अभी तो यौवन है, खेलने-खाने के दिन हैं, जिन्दगी अभी तो काफी लम्बी है, जब बुढ़ापा आएगा, तब धर्माचरण करेंगे, प्रभुभजन करेंगे या आत्मचिन्तन करेंगे। अभी से धर्म का पुतला बनकर बैठ जाना और अपने प्रचुर धन कमाने के समय को धर्माचरण आदि में खो देना कौन-सी बुद्धिमानी है?' उन तथाकथित बुद्धिमानों से पूछा जाए कि क्या बुढ़ापा आने की कोई गारण्टी है? हो सकता है, बुढ़ापा आने से पहले ही उनका परलोक का टिकट कट जाय। मानलो, कदाचित् बुढ़ापा भी आ जाय, तो भी जिसने जवानी में धर्माचरण आत्मसाधना आदि का अभ्यास नहीं किया है, उसका मन बुढ़ापे में एकदम धर्माचरण में या आत्मचिन्तन में लग जाएगा, इसमें सन्देह है। बल्कि यह देखा गया है कि जो व्यक्ति पहले से धर्माचरण में अभ्यस्त नहीं था, उसे बुढ़ापे में प्रायः धर्मरुचि या आत्मशुद्धि की रुचि नहीं होती। बुढ़ापे में इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं, कोई न कोई रोग लग जाता है, और तृष्णा भी बढ़ जाती है। ऐसा मनुष्य अधिकाधिक लोभ और स्वार्थ में पड़कर बुढ़ापे में कुछ भी धर्माचरण या आत्मसाधना नहीं कर पाता।

एक बहुत ही लोभी सज्जन थे। उनके चार लड़के थे। परन्तु लाला इतने लोभ और स्वार्थ में ग्रस्त रहते थे कि बूढ़े हो जाने और लड़कों के सयाने हो जाने पर भी स्वयं व्यापार-धन्धे से कभी छुट्टी नहीं लेते। उसके चारों पुत्र बहुत कहा करते—"पिताजी! हम वैष्णव हैं। हमें परमात्मा की भक्ति और धर्मपरायण-जीवन बनाना चाहिए, ताकि हम भगवान् का कर्ज उतार सकें।"

परन्तु सेठ कहता—"मैं बुद्धू नहीं हूँ कि अपना व्यापार धन्धा छोड़कर व्यर्थ ही मन्दिरों में मारा-मारा फिरूँ। साधु-सन्तों का सत्संग करने में अपना कमाई का समय खोऊँ और धर्माचरण करने में अपनी शक्ति लगाऊँ। जब बिलकुल अशक्त और पराश्रित हो जाऊँगा, तब बैठा-बैठा भगवान् का भजन करूँगा, धर्मकरणी करूँगा और अपनी आत्मा का चिन्तन भी तब निश्चिन्तता से कर सकूँगा। अभी तो धन कमाने की धुन लगी है, इस चिन्ता को लेकर धर्माचरण भी निश्चिन्तता से नहीं हो सकेगा। फिर न तो धन कमाने में ही चित्त लगेगा और न ही परमात्मभजन या धर्माचरण में लगेगा। अतः अभी मुझे धन कमाना छोड़ना अच्छा नहीं लगता।"

लड़के बोले—"पिताजी! यह काम तो हम सम्भाल लेंगे। आप निश्चिन्तता से धर्माचरण करें, प्रभुभजन भी करें।"

बूढ़ा पिता बोला—"हूँ! कैसी बात कहते हो? तुममें अभी कुछ सूझबूझ नहीं है। मैं अगर अभी तुम्हारे भरोसे दूकान छोड़ दूँ तो तुम एक दिन में ही सब चौपट कर दोगे। मेरी की-कराई सारी कमाई धूल में मिला दोगे। अतः भविष्य में मुझे कभी दूकान छोड़ने की बात मत कहना।"

लड़के लोभी पिता की बात सुनकर चुप हो गए। एक वर्ष बीता। दूसरे वर्ष ही सर्दियों में लालाजी को ठण्ड लग गई। न्युमोनिया हो गया। अब तो रोग ने जबरन दूकान छुड़वा दी। रुग्णशय्या पर पड़े-पड़े भी सेठ उसी दूकानदारी और दुनियादारी की उधेड़-बुन में लगे रहते थे। उन्हें अपने भविष्य की कोई कल्पना ही स्फुरित नहीं होती थी। न कभी धर्माचरण की बात सूझती और न ही परमात्मनाम स्मरण की, आत्मचिन्तन की बात ही कहाँ से सूझती? इस बीमारी ने लाला को इतना जोर से धर दबोचा कि वे मरणासन्न हो गए। लड़के बहुत चिन्तित थे। वे चिकित्सा के लिए कई वैद्यों को लाए। उन्होंने लाला की नब्ज देखकर रोग का निदान करके दवा भी दी, पर रोग मिटने का नाम ही नहीं लेता था। लड़कों को चिन्ता हुई कि पिताजी की हालत बहुत ही गम्भीर है और इसी हालत में ये भगवान् का नाम लिये बिना तथा कुछ धर्मपुण्य किये बिना ही चल बसे तो इनकी गति बिगड़ जाएगी। कहावत है—'अन्त मति सो गति'। अन्तिम समय में जैसी बुद्धि, लेश्या या मन के परिणाम होते हैं, तदनुसार ही मनुष्य की गति होती है, आयुष्यबन्ध होता है। अतः हमें पिताजी को कम से कम भगवान का नाम तो याद दिलाना चाहिए ताकि ये भगवान का नाम भी मुँह से ले लेंगे तो इनकी गति सुधर जाएगी। यों विचार करके बड़े लड़के ने कहा—"पिताजी! अब तो राम-राम कहिए, जिन्दगी का कोई भरोसा नहीं है।"

बूढ़े लाला ने यह सुनते ही मन में कुछ सोचा और तपाक् से बोले—"अरे! उस रामसिंह चौधरी में दो सौ रुपये लेने हैं, वसूल करना।"

लड़के सुनकर आश्चर्य में पड़ गए, कि पिताजी को राम का नाम लेने की

बात सुझाई तो उन्हें अपनी दूकान के ग्राहक रामसिंह का नाम याद आ गया। अब क्या करें ? इतने में उससे छोटे लड़के को स्फुरणा आई कि इन्हें कुछ न कुछ धर्म-पुण्य करने की बात सुझाई जाए। अतः उसने कहा—"पिताजी, अब तो जिन्दगी किनारे पर है, कुछ धर्मकरणी कर लीजिए।"

बूढ़े लाला को धर्मकरणी शब्द सुनते ही कुछ स्मरण हो आया, और वह सहसा बोल उठे—"अरे, उस धर्मचन्द छीपे से कपड़े के थानों के ३००) रुपये लेने हैं, तकाजा करना।"

लड़कों ने सुनकर निराशा से सिर पीट लिया। इतने में तीसरे लड़के को सूझा कि इन्हें सीधा ही अपने आत्म-निरीक्षण का क्यों न कह दिया जाय, ताकि अन्तिम समय में आत्म-सुधार करने से जिन्दगी सफल हो जाएगी। अतः उसने सेठ से कहा—"पिताजी ! अब तो आप मोहमाया का सब विचार छोड़कर सिर्फ भगवान् की साक्षी से अपना आत्म-निरीक्षण करें और आत्मा को शुद्ध बनाकर पधारें।"

लाला ने अपना सिर हिलाते हुए कहा—"अच्छा याद दिलाया तुमने। मैं तो भूल ही जाता। अरे उस कम्बख्त आत्माराम से मिलकर उसके पिता भगवानदास के हाथ के कर्ज लिए हुए पाँच सौ रुपयों को अदा करने का कहना। तुम बही देखकर उससे ब्याज सहित रुपये वसूल करने का ध्यान रखना।"

तीनों लड़के तथा घरवाले सभी बूढ़े की मनोवृत्ति देखकर आश्चर्य और खेद में पड़े हुए थे। तभी सबसे छोटे लड़के ने सोचा—'भगवान् के तो अनेक नाम हैं, कोई और नाम सुझाऊँ, शायद पिताजी उस नाम को जबान से बोल लें।' अतः उसने कहा—"पिताजी ! अब तो श्रीकृष्ण के नाम का रटन कीजिए, जिन्दगी का कोई भरोसा नहीं है।" इतना कहना था कि लाला झटपट बोल उठे—"अरे, वह किसना धोबी दो धोती जोड़े ले गया था, उसके दाम उसने अभी तक नहीं दिये, उससे तकाजा करके वसूल करना।" इस प्रकार पुत्रवधुओं, पुत्रों की माता ने जितने भी नाम लिये, बूढ़े लाला ने उन पर कोई ध्यान नहीं दिया और उन नामों के बहाने लाला को किसी न किसी ग्राहक की याद आ जाती थी, क्योंकि ग्राहकों के नाम ही सारी जिन्दगीभर उसने अपने दिमाग में भरे थे, जबान पर भी ग्राहकों के नाम ही चढ़े हुए थे, जिसने जिन्दगी में कभी एक बार भी भगवान् का नाम न लिया हो, अथवा कभी ले भी लिया हो भूले भटके, तो भी बिना मन से लिया हो, धर्माचरण की बात जिसने कभी कानों से न सुनी हो, आँखों से कभी धर्ममूर्ति साधु-साध्वियों के दर्शन न किये हों, चित्त में कभी आत्मचिन्तन की धारा न बही हो, भला उस विचार-दरिद्र को बुढ़ापे में और वह भी रुग्णावस्था में कभी ये सब बातें सुहावनी लग सकती हैं ? जिसने कभी इन बातों अभ्यास भी नहीं किया जो इन बातों को सदा ही ठुकराता रहा और आत्मनिर्माण की इन बातों में समय बिताना, व्यर्थ समय गँवाना समझता रहा, वह अचानक, एकदम कैसे आत्मनिर्माण के इस पुण्यपथ को स्वीकार कर सकता है ?

हाँ तो, उक्त अर्थलोलुप लाला ने परिवार वालों की आत्मनिर्माण की बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया और वह धर्माचरण, परमात्मस्मरण, आत्मनिरीक्षण तथा आत्मस्वरूपरमण के द्वारा आत्मनिर्माण के उत्तम अवसर या समय को एकमात्र दुनियादारी, धनार्जन एवं स्वार्थपरता में ही खोकर अन्तिम समय में खाली हाथ परलोक चला गया।

इसीलिए तो दीर्घदर्शी सर्वज्ञ सर्वहितैषी भगवान् महावीर ने पर्वादि तिथियों को दुनियादारी, धनोपार्जन तथा शरीर से सम्बन्धित तमाम प्रपंचों को छोड़कर साथ ही मन में कुसंस्कारवश निहित परदोषदर्शन की वृत्ति छोड़कर एक दिनरात के लिए निर्जल उपवास युक्त पौषध में रहकर पूर्वोक्त प्रकार से आत्मनिर्माण के लिए निर्देश किया।

परन्तु धन के पीछे दीवाने बने हुए अर्थार्थी या शरीर को ही पुष्ट एवं शक्तिशाली बनने में या भोगविलास में ही शरीर, समय एवं शक्ति लगाए रखने वाले कामार्थी अपनी मनमानी या मनचाही बात को छोड़कर पूर्वोक्त आत्मनिर्माण में समय लगाना समय को बर्बाद करना समझते हैं।

बाह्यधन चाहिए या आत्मधन ?

कई लोगों की यह धारणा बन गई है कि धन के बिना जीवन चल ही नहीं सकता। पर्याप्त धन के होने पर ही धर्माचरण, आत्मचिन्तन, आत्मालोचन या आत्मस्वरूपरमण की लम्बी-चौड़ी बातें की जा सकती हैं। धन पर्याप्त मात्रा में होने पर ही निश्चिन्तता से धर्माचरण या प्रभुभजन हो सकता है।

आत्मचिन्तन, धर्माचरण या आत्मस्वरूपरमण की बातें प्रायः धनाढ्य लोग ही करते हैं, क्योंकि वे कमाने-खाने की चिन्ता से रहित हैं। परन्तु यह निरा भ्रम है। केवल धन के बढ़ जाने या पर्याप्त मात्रा में धन होने से ही कोई व्यक्ति धर्माचरण या प्रभुभजन में नहीं लग जाता। धन तो वेश्या, कसाई, पापी, चोर, डाकू आदि के पास भी बहुत होता है, पर क्या वे धर्माचरण या आत्मचिन्तन आदि की बात सोचते हैं ? यह तो अनुभव की आँच में परखा हुआ तथ्य है कि प्रायः पापात्मा आत्मनिर्माण की ओर नहीं झुकते। साथ ही यह बात भी सत्य है कि जिन लोगों ने श्रावकव्रत ग्रहण करने के बाद भी अपनी आँखें सिर्फ धनोपार्जन में ही गड़ाए रखीं तथा अपना विश्वास भी वैसा बना लिया कि धन पर्याप्त होने पर ही आत्मनिर्माण की साधना हो सकती है, वे लोग भी निरे भ्रम में हैं। बल्कि धन होने पर मनुष्य को रात-दिन उसकी सुरक्षा करने की, उसके वियोग एवं व्यय की चिन्ता रहती है, फिर उस धन को बढ़ाने की धुन सवार होती है, कई दफा धन की प्रचुरता हो जाने पर मनुष्य विलासिता में फँस जाता है, फिर धर्मोपार्जन या आत्मनिर्माण करना तो दूर रहा, वह धर्मध्यान या आत्मचिन्तन से बिलकुल दूर हो जाता है।

एक गरीब बनिया अपने गाँव के आसपास के गाँवों में फेरी करके कुछ कमा

लेता था और उससे अपना और परिवार का गुजारा चला लेता था। वैष्णव होने के कारण वह प्रायः एक सन्त के दर्शन और सत्संग में जाया करता था। कभी-कभी वह व्रत, उपवास, प्रभु नामजप तथा प्रभुभक्ति भी करता था। एक बार दुर्भाग्य ने उसे ऐसा घेरा कि आसपास के गाँवों में दुष्काल की छाया पड़ने के कारण उसके माल की बिक्री बन्द-सी हो गई। आजीविका की फिराक में वह कुछ दूर के गाँवों में जाने लगा; इस कारण वह उक्त सन्त के पास नहीं पहुँच सका। उसकी यह धारणा-सी बन गई कि धन होने पर ही निश्चिन्तता से धर्माचरण एवं प्रभुभजन हो सकता है। अतः जब लगभग एक महीने के बाद वह उक्त सन्त के पास पहुँचा तो सन्त ने उससे पूछा—"कहो लाला! इतने दिन कहाँ रहे? इस बार तो तुम एक महीने से यहाँ नहीं आए। भगवान् का भजन व सत्संग सब कुछ छोड़ बैठे लगते हो!"

बनिये ने कहा—"महाराज! क्या करें? आप तो सब कुछ छोड़कर महात्मा बन गये। हम तो घरबार में फँसे है, कमाने-खाने की चिन्ता लगी रहती है। इसलिए जब तक गुजारे लायक पैसे की आय न हो तब तक सत्संग, भजन या धर्माचरण भी कैसे हो सकता है? इन दिनों ऐसा ही हाल रहा। इसलिए मैं नहीं आ सका। अब भी जब तक मेरी स्थिति सही नहीं होगी, तब तक मैं धर्माचरण, सत्संग या भजन नहीं कर सकूँगा।"

सन्त दयालु व परोपकारी थे, साथ ही कुछ पहुँचे हुए भी थे। उन्होंने अपने भक्त की दुःखी हालत जानकर पहले तो समझाया कि प्रभुभजन, सत्संग एवं धर्माचरण के लिए धन कोई आवश्यक वस्तु नहीं है, बिना धन के भी ये चीजें हो सकती हैं। पर जब वह बिलकुल न माना और अपनी बात पर अड़ा रहा तो सन्त ने पूछा—"अच्छा! तुझे कितना प्रतिदिन मिल जाए तो तू सत्संग आदि करेगा?"

सस्ती का जमाना था। अतः बनिये ने कहा—"महात्माजी! अगर मुझे एक रुपया रोज मिल जाए तो मैं सत्संग आदि किया करूँगा।" महात्मा ने उसकी हथेली पर १ का अंक अपनी उँगली से अंकित कर दिया। अब तो बनिये को प्रतिदिन एक रुपया मिलने लगा। परन्तु अब बनिये का लोभ बढ़ा। सत्संग आदि तो नहीं किया, मगर अधिक धन कमाने की फिराक में इधर-उधर भाग-दौड़ करने लगा। एक दिन वे महात्मा रास्ते में मिल गये। बनिये ने महात्मा को प्रणाम करके हाथ जोड़कर कहा—"महाराज! अच्छे दर्शन हुए आपके। बड़ी कृपा की आपने।" महात्मा ने कहा—"भाई! तू तो कहता था, एक रुपया प्रतिदिन मिलने पर मैं भजन आदि किया करूँगा! बता, तुझे एक रुपया रोज मिलता है या नहीं?"

बनिया—"महाराज! वह तो आपकी कृपा से मिलता है, पर आप जानते हैं कि बड़ा परिवार है, खाने के खर्च के अलावा, आए दिन कोई न कोई खर्च लगा रहता है। अतः एक रुपये रोज में काम नहीं चलता, प्रभो!"

"तब कितने रुपये रोज मिला करें तो तू सत्संग आदि कर सकता है?"

महात्मा ने जब यह पूछा तो वह बोला—"भगवन् ! दस रुपये प्रतिदिन मिल जाया करें तो मैं सत्संग आदि दिल खोलकर करूंगा।"

महात्मा ने सोचा—'बनिया लोभ में पड़ गया है।' फिर भी उन्होंने चांस देने के लिए उसकी हथेली पर अंकित 'एक' के आगे एक शून्य और अंकित कर दिया। अब तो उस बनिये को प्रतिदिन दस रुपये मिलने लगे। अब तो घरवाले भी कहने लगे—"अब तो आपके अच्छे दिन आए हैं, हमारी भी कुछ सुध लो। हमें भी गहने, कपड़े बनवा दो।" बनिया फिर विचार में पड़ गया कि आए-गए मेहमान, बहन-बेटी, परिवार वालों का तथा वस्त्रादि का खर्च दस रुपये रोज की आय से नहीं चल सकेगा। अतः उसे फिर अधिक धन कमाने की धुन सवार हुई। इस कारण वह फिर १५-२० दिन तक नहीं गया। एक दिन दूर से महात्माजी ने उसे कहीं जाते हुए देख लिया। अतः आवाज देकर पास बुलाया और कहा—"भाई ! अब तो तुम्हें दस रुपये प्रतिदिन मिलते हैं, फिर सत्संग आदि क्यों नहीं करते ?"

बनिया लज्जित होकर बोला—"भगवन् ! मैं भजनादि जरूर करता, पर दस रुपये रोजाना मिलने पर भी मेरे पीछे अनेक उपाधियां लग गई हैं। घर के सब लोग मुझे कोसकर रुपये खर्च कराने पर तुले हुए हैं। मैं सोचता हूं, इस तरह खर्च करने से तो १० रुपये प्रतिदिन की आय से काम नहीं चलेगा। अतः मैं अधिक कमाने की चिन्ता में लगा हूं। अब यदि आपकी कृपा हो जाये और मुझे प्रतिदिन सौ रुपये मिलने लगें तो मैं सत्संग, धर्माचरण और परमात्मभजन खूब करूं।" महात्मा ने सोचा कि इसके कुछ करने के लक्षण नहीं दिखते, धन पर इसका विश्वास ही उलटा है। फिर भी एक मौका और देने के लिहाज से उन्होंने बनिये की हथेली पर एक शून्य और बढ़ा दिया। अब तो वह बनिया नामी सेठ हो गया। दो-तीन जगह दूकानें हो गईं। सभा-सोसाइटियों में सभापति बनने लगा। टेलीफोन के मारे फुरसत जरा भी नहीं मिलती। बनिया माया में ऐसा उलझा कि भगवान्, धर्म और महात्मा सबको भूल गया। एक दिन महात्मा अचानक उसकी फर्म पर जा पहुंचे। उसने महात्मा की अवज्ञा की और फुरसत न मिलने से भजनादि करने की असमर्थता प्रकट की। सब कुछ सुनकर महात्मा ने कहा—"अच्छा, ला तेरी हथेली।" बनिये ने ज्योंही हथेली आगे की; महात्मा ने तीनों अंक अपने हाथ से मिटा दिये। सचमुच उसी दिन से वह बनिया पहले की तरह फेरी करने वाला छोटा व्यापारी बन गया। सब दुकानें घाटा लगने के कारण उठानी पड़ीं। अब बनिया पहले की तरह प्रतिदिन महात्मा के पास आने-जाने लगा।

कहानी समाप्त हो गई। लेकिन यह कहानी एक महान् सत्य की ओर इंगित कर रही है कि केवल धन होने पर ही धर्माचरण आदि हो सकते हैं, यह धारणा बिल्कुल गलत है।

इसी तरह भ्रान्त धारणा के शिकार बनकर कई गृहस्थ श्रावक अपने आत्म-

निर्माण के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पौषधोपवासव्रत को नहीं अपनाते या अपनाने से हिचकिचाते हैं।

कई लोग कहा करते हैं कि पहले के श्रावक लोगों के सामने वर्तमानयुग की-सी आर्थिक संकट की स्थिति नहीं थी, इसलिए वे लोग पौषधोपवास के लिए प्रतिमास ४-६ दिन अनायास ही अवकाश रख लेते थे, पर हम कैसे रख सकते हैं ? अमुक व्यावसायिक झंझट है, फलाँ सरकारी परेशानी है आदि।

परन्तु गहराई से सोचा जाए तो वर्तमान काल में भी आपको महीने में ४ दिन तो सरकार के कानून की दृष्टि से अपने व्यापार-धन्धे की या दफ्तर की छुट्टी मनानी पड़ती है। मैं कहता हूँ, जैसे सरकार द्वारा निर्धारित दिन को सांसारिक काम-काज की छुट्टी रखनी पड़ती है, तब उस दिन को अगर आप अपने आत्मनिर्माण की इस पौषध साधना में लगाएँ तो कितना अच्छा हो ? द्रव्य से भी निश्चिन्तता और भाव से भी निश्चिन्तता मिल सकती है और आत्मनिर्माण के हेतु पौषध-साधना बहुत ही उत्तम ढंग से हो सकती है। आप मन को मजबूत बनाकर, दिल में इस बात को पक्की ठान लीजिए कि मुझे महीने में अमुक-अमुक दिन पौषधोपवासव्रत करना है, फिर देखिये, कितने सुन्दर ढंग से आपका आत्मनिर्माण होता है।

पौषधव्रत द्वारा सम्पन्नता के साथ उत्कृष्ट भावना

परन्तु आत्मनिर्माण की इस श्रेष्ठतम साधना को ठुकरा कर जो लोग अर्थ और काम के पीछे भागते रहते हैं, उन्हें जीवन में सुख-शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जो लोग सुख-सुविधा की साधन-सामग्री बढ़ा कर संसार में सुख-शान्ति और प्रगति होने की बात सोचते हैं, उसी के लिए अपना सर्वस्व, समय, शक्ति और धन व्यय करते हैं, उन्हें सोच लेना चाहिए कि समृद्धि तभी उपयोगी हो सकती है, जब उसके साथ-साथ भावना का स्तर भी ऊँचा हो। यदि भावनाएँ निकृष्ट हों, या रहें तो बढ़ी हुई सम्पत्ति भी प्रायः विपत्ति का रूप धारण कर लेती है। दुर्बुद्धिग्रस्त मनुष्य अधिक धन पाकर उसका उपयोग अपने दोष-दुर्गुण बढ़ाने में करते हैं। जुआ, नशेबाजी, व्यसन, व्यभिचार, आडम्बर, विलासिता आदि की वृद्धि खाते-पीते धन-सम्पन्न दुर्बुद्धि-ग्रस्तों में होती है। इसलिए सम्पन्नता के साथ भावना का स्तर ऊँचा उठना आवश्यक है।

पौषधव्रत के द्वारा क्या सम्पन्न, क्या असम्पन्न सभी में भावना का स्तर ऊँचा उठ जाता है। प्राचीनकाल में आनन्द, कामदेव जैसे सम्पन्न श्रमणोपासकों के पास प्रचुर धनसम्पत्ति थी, लेकिन वह उनके दोष-दुर्गुणवृद्धि में नहीं व्यय होती थी, उसका एकमात्र कारण यह था कि पौषधव्रत के द्वारा आत्मचिन्तन करके उन्होंने अपनी बुद्धि, मनोवृत्ति को उत्कृष्ट भावनामयी बना लिया था।

सुखविपाक सूत्र में सुबाहुकुमार के द्वारा स्वीकृत पौषधव्रत का वर्णन

मिलता है।[1] सुबाहुकुमार राजा का पुत्र था। उसके ५०० रानियाँ थीं। प्रचुर संख्या में दास-दासियाँ भी थीं। धन सम्पन्नता में कोई कमी न थी। फिर भी वह श्रावक था, नामधारी श्रावक नहीं, अपितु जीव-अजीव के स्वरूप तथा पुण्य-पाप के फल का ज्ञाता था। इस जानकारी के कारण उसे सुख के समय हर्ष एवं दुःख के समय खेद नहीं होता था। वह आस्रव-संवर का तत्त्वज्ञ था, इस कारण यथाशक्ति संवर-निर्जरा के उत्पादक कार्यों को करता था। बन्ध का रहस्यज्ञाता था, इसलिए मोक्ष प्राप्ति के कार्यों में रुचि रखता था। इतना वैभव सम्पन्न होते हुए भी पर्वदिनों में पौषधव्रत में आत्मचिन्तन का बार-बार अभ्यास करने के कारण उसने उत्कृष्ट भावना, विशुद्ध मनोभूमि, एवं बुद्धि बना ली थी।

शास्त्र में बताया है कि सुबाहुकुमार अध्यात्म एवं धर्म से सम्बन्धित कार्य स्वयं ही करता था, नौकरों से नहीं कराता था। पौषधशाला की भूमि का उसने स्वयं प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन किया। दर्भ संस्तारक (बिछौना) बिछाना भी उसकी धर्म-क्रिया में सादगी का नमूना है। सम्पन्न होकर भी जो पौषधव्रत की साधना करता है, उसकी स्थिति में बहुत परिवर्तन हो जाता है।

बाह्य वैभव की अपेक्षा या आत्मिक वैभव की ?

आज तो मानव की यह स्थिति है कि ज्यों-ज्यों उसके पास बाह्य वैभव बढ़ता जाता है त्यों-त्यों वह आत्मिक वैभव को खोता जाता है, जो कि उसके जीवन की सुख-शान्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। एक पाश्चात्य विचारक ने आत्मवैभव की हानि को बहुत बड़ी अक्षम्य हानि बताते हुए कहा है—

"He that loses wealth, loses much,
He that loses friends, loses more,
But he that loses his spirit, loses all."

"जो मनुष्य बाह्य वैभव (धन) को खो देता है, वह बहुत खोता है।
जो मनुष्य मित्रों को खो देता है, वह उससे भी अधिक खो देता है।
मगर जो अपनी आत्मा को खो देता है, वह सर्वस्व खो बैठता है।"

गृहस्थ साधक को यह नहीं सोचना चाहिए कि आत्मा तो अपने पास है ही, उसे क्या खोना है, क्या पाना है ? आत्मा को खोने का मतलब है—समय आने पर अपने आपे से बाहर हो जाना; आत्मवैभव को गँवा बैठना। आत्मगुणों का ह्रास कर

---

१ तए णं से सुबाहुकुमारे अन्नया कमाइं चाउद्दस्सट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु जेणेव पोसह-साला तेणेव उवागच्छई, उवागच्छित्ता पोसहसालं पमज्जई, पमज्जित्ता उच्चार-पासवणभूमिं पडिलेहेइ पडिलेहित्ता दब्भसंथारं संथरई, संथरइत्ता, दब्भसंथारं दुरुहइ, दुरुहइत्ता अट्ठमभत्तं पगिण्हइ पगिण्हित्ता पोसहसालाए पोसहिए अट्ठमभत्तं पोसहं पडिजागरमाणे विहरइ। —सुखविपाक सूत्र

देना। आत्मवैभव को खोकर यदि दुनिया भर का बाह्य वैभव मिल भी जाए तो उसका कोई मूल्य नहीं है। उससे तो लाभ के बदले प्रायः हानि ही अधिक होने की सम्भावना है।

वर्तमान युग का मनुष्य जड़ वैभव की तरफ आकर्षित होता जा रहा है, उसे आत्मिक-वैभव को खोने की कोई चिन्ता नहीं है।

आत्मवैभव को बढ़ाने के लिए तीन मनोरथ

आत्मवैभव को बढ़ाने के लिए पौषधव्रत की साधना में तीन मनोरथों का चिन्तन किया जाता है। प्रथम मनोरथ में आरम्भ-परिग्रह को घटाने का चिन्तन है। जब तक आरम्भ-परिग्रह के प्रति आसक्ति बनी रहेगी, तब तक किसी भी व्यक्ति का धर्माराधना करना तो दूर रहा, धर्म के सम्मुख होना भी कठिन है। आज ऐसा चिन्तन करने वाले इने-गिने ही मिलेंगे। अधिकांश भौतिक वैभव प्रधान दृष्टि वाले लोग, जब भी समय मिलता है, प्रायः आरम्भ-परिग्रह को बढ़ाने का ही चिन्तन करते हैं—"कौन-सा व्यवसाय किया जाय, जिससे मालामाल हो जाऊँ और कार एवं बंगला भी हो जाय ? कौन-सा उद्योग-धंधा खोला जाये, जिसमें बारे-न्यारे हो जायें ?" ये और इस प्रकार के मनोरथ ही प्रायः आत्मचिन्तन के समय दिमाग में घूमते रहते हैं। तब भला ऐसे लोगों का आत्मवैभव कैसे बढ़े ? कैसे उनकी आत्मशक्ति प्रगट हो ?

इस प्रकार के बाह्य वैभव बढ़ाने के आत्म-हानिकारक मनोरथ से धनवृद्धि होने के साथ-साथ धर्मवृद्धि नहीं होती, बल्कि आडम्बर, विलास और फैशन में वृद्धि होती देखी जाती है। विवाह-शादियों, उत्सवों एवं प्रीतिभोजों में हजारों रुपये स्वाहा हो जाते हैं, बैण्डबाजों में, बिजली की रोशनी में, नाचगानों में हजारों रुपये फूंक दिये जाते हैं ? बरातियों को सोने-चांदी की वस्तुएँ भेंट दीं, खूब मेवा-मिष्ठान्न खिलाए, उनके स्वागत में बहुत खर्च किया, यह सब किसलिए ? प्रायः झूठी वाहवाही और वैभव के प्रदर्शन के लिए। इसके बजाय अगर आरम्भ-परिग्रह को घटाने का मनोरथ होता तो सादगी से, कम से कम खर्च में ये सब कार्य निपटाए जाते। आत्मिक वैभव भी बढ़ता, लोगों पर भी सादगी और धर्माचरण का प्रभाव पड़ता। पौषधव्रत में तीन मनोरथों के चिन्तन का अभ्यास करने पर ही आत्मिक वैभव बढ़ सकता है।

दूसरा मनोरथ है—सर्वस्व छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनि बनने का। उसी का पूर्वाभ्यास करने के लिए श्रावक पौषधोपवासव्रत की साधना करता है। आत्मभावों में रमण करने का अभ्यास करता है। शारीरिक एवं सांसारिक खटपटों से मुक्त होकर पूरे दिन-रात के लिए समय निकाल कर आत्मचिन्तन करता है। किन्तु वर्तमान युग का मानव बाह्य सृष्टि के निरीक्षण के लिए सैर-सपाटे करने की दृष्टि से काफी समय भी निकाल लेता है, इधर से उधर हजारों मीलों की भागदौड़ भी कर

लेता है। परन्तु आन्तरिक (आत्मिक) सृष्टि के निरीक्षण के लिए उसके पास एक दिन का भी अवकाश नहीं है। वह यूरोप, अमेरिका आदि विदेशों को देखने जा सकता है, मगर आत्मप्रदेश को देखने की उसे फुरसत नहीं है। प्रातः बिछौने से उठते ही दैनिक समाचारपत्र पढ़ने और विश्व की गतिविधि को जानने के लिए उतावला हो जाता है, लेकिन अपनी आत्मा में कहाँ, क्या हलचल हो रही है ? कौन-कौन-सी वृत्तियाँ क्या-क्या अनिष्ट कर रही हैं ? इसे जानने और इसका स्वाध्याय करने की अधीरता उसे नहीं होती, और न ही उसके पास समय होता है। मनुष्य को, खास-तौर से श्रावक को ऐसी भौतिक दृष्टियुक्त पामरता से मुक्त होने और आन्तरिक वृत्तियों का निरीक्षण व आत्मशक्तियों के चिन्तन के लिए पौषधव्रत की उत्तम साधना भगवान महावीर ने बताई है।

पौषध का अर्थ भी यही होता है—शरीर से सम्बद्ध समस्त खटपटों से दूर रहकर एकमात्र आत्मा को पोषना—पुष्ट करना। आत्म-चिन्तन, आत्मध्यान, आत्म-स्वरूपरमण, आत्म-निरीक्षण में ही सारा दिन और रात्रि व्यतीत करना, समस्त सांसारिक प्रवृत्तियों को छोड़कर चौबीसों घंटे धर्मजागरण, आत्मजागरण में रत रहकर आत्म-निर्माण करना ही वास्तव में पौषधव्रत है।

इस प्रकार पौषधव्रत की साधना से साधक में अनात्मभाव जड़ पदार्थों के प्रति विश्वास— घटता जाता है, आत्मभाव का अधिकाधिक पोषण होता जाता है।

पौषध से आत्मबल में वृद्धि

आत्मभाव के पोषण करते रहने से, अर्थात् आत्मनिर्माण-साधक इस व्रत के बार-बार अभ्यास से श्रावक में इतना आत्मबल पैदा हो जाता है कि उसके सामने बड़े से बड़े संकट, भय, प्रलोभन या आधिदैविक, आधिभौतिक या आध्यात्मिक विपत्तियाँ क्यों न खड़ी हों, वह जरा भी विचलित नहीं होता। वह निर्भय, निर्द्वन्द्व, निर्विकार और निजानन्दमय बन जाता है। ऐसे आत्मतृप्त मानव को भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि दुःख-द्वन्द्व भी चलित नहीं कर सकते। कोई भी भौतिक शक्ति उस पर हावी नहीं हो सकती, कोई भी जड़-पदार्थ उसे अपना गुलाम नहीं बना सकता।

पौषधव्रती की उत्कट आध्यात्मिकता

जीवन की प्रगति और सुख-शान्ति के लिए आध्यात्मिक आदर्शों का प्रतिपादन संसार के सभी धर्म-धुरन्धर आध्यात्मिक पुरुषों ने किया है। आध्यात्मिक विचारधारा से युक्त व्यक्ति का जीवन सब प्रकार से सुख-शान्तिपूर्ण रहता है। संसार में न तो उसका कोई शत्रु होता है, और न विद्वेषी ही। उनके सामने कदाचित् ही ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं कि उन्हें किन्हीं लोगों की ओर से आशंका या अहित की सम्भावना रहे। यदि संयोगवश कोई अपनी दुष्ट प्रवृत्तियों के कारण उनका बुरा चाहता या करता भी है तो आध्यात्मिक व्यक्ति अपनी उत्कृष्टता का प्रभाव देकर उसे उसी स्थान पर से रोक देता है। वह फिर आगे बुराई नहीं करने पाता। अतः

पौषधव्रताभ्यासी आध्यात्मिक व्यक्ति न तो किसी के प्रति द्वेष रखता है, न प्रतिशोध की भावना। इसी कारण पीड़ादायक परिस्थितियाँ आने पर वह घबराता नहीं, धैर्य और शान्ति से सामना करता है, वह कष्टदायक परिस्थितियों को अपने आध्यात्मिक जीवन की परीक्षा समझता है। वह मन-वचन-काया से अध्यात्म के आदर्शों के प्रति वफादार रहता है।

पौषधव्रती उपसर्गों से विचलित नहीं होता

आध्यात्मिक जीवन के आदर्शों में विश्वस्त एवं अभ्यस्त व्यक्ति सबसे पहले बुराइयों की खोज अपने अन्दर करता है। वह निमित्तों को दोष न देकर अपने उपादान को ही देखता है। यदि कोई उसके साथ बुराई करता है तो आध्यात्मिक व्यक्ति उसका दोष बुराई करने वाले को प्रायः नहीं देता, वह उसका कारण अपने अन्दर खोजता है कि अवश्य ही मुझ में कोई न कोई त्रुटि, बुराई या कमी है, मेरे अन्दर ही कोई न कोई निर्बलता है, तभी अमुक व्यक्ति का साहस मेरे साथ ऐसा करने का हुआ। इसी खोज या आत्म-निरीक्षण करने के फलस्वरूप वह उसके कारण को ढूँढ़ निकालता है और उसका निवारण करके निष्कंटक हो जाता है। अपने अन्दर क्या और कौनसी दुर्बलता है ? इस बात को बहुत ही कम साधक जान पाते हैं। इसलिए आत्मा के प्रतिलेखन और प्रमार्जन के लिए प्रत्येक गृहस्थ श्रावक को प्रतिदिन और विशेषतः चार पर्व तिथियों को तो पौषधव्रत स्वीकार करके आत्म-निरीक्षण—आत्मालोचन करते रहना चाहिए।

महात्मा गाँधीजी इस प्रकार के आत्मा के प्रतिलेखन (निरीक्षण) एवं प्रमार्जन (आत्मशुद्धि) से अभ्यस्त थे। इसी कारण उन्होंने अपनी मनोभूमि को क्रोधादि आवेशरहित बना लिया था। दक्षिण अफ्रीका में उन पर बड़े-बड़े अत्याचार किए गए। उन्हें मारा-पीटा और धकेला गया, उन पर गालियों और अपशब्दों की बौछार हुई, उन्हें रेल और जहाज पर से बलपूर्वक नीचे उतार कर अपमानित किया गया, पर उन्होंने न तो कभी किसी पर क्रोध किया और न ही किसी को भला-बुरा कहा, बल्कि अपना आत्मनिरीक्षण आत्मस्वरूप चिन्तनपूर्वक करते रहे। इस प्रकार की आत्मशक्ति उन्होंने प्राप्त कर ली थी, आत्मचिन्तन की साधना से। इस प्रकार का आध्यात्मिक व्यक्ति मन-वचन-काया से किसी का भी अहित नहीं करता, न किसी के प्रति द्वेष-दुर्भाव रखता है।

आत्मा के पोषक इस पौषधव्रत को स्वीकार किये हुए गृहस्थ साधक के सामने भी चाहे जितनी भौतिक विपत्तियाँ, कष्ट, संकट या शास्त्रीय भाषा में उपसर्ग क्यों न आएँ, वह उनसे विचलित नहीं होता। उसकी आत्म-शक्ति इतनी प्रबुद्ध एवं समृद्ध होती है कि वह मन-वचन-काया से कभी किसी पर द्वेष, दुर्भाव, आवेश या रोष नहीं करता, न किसी का अहित करता है। उपासकदशांगसूत्र में कामदेव श्रावक का वर्णन आता है। जब कामदेव श्रावक अपनी पौषधशाला में पौषधव्रत

धारण करके इसी प्रकार की विशिष्ट साधना में लीन थे, तभी एक देव उन्हें आत्म-भाव से विचलित करने आया। उसने कामदेव के शरीर पर दैवी उपसर्ग (कष्ट) भी दिये, उनके मन में क्षोभ पैदा करने के लिए कुछ अनिष्टतम करतब भी दिखाए, परन्तु वे आत्मभाव से विचलित न हुए। घोरतम संकटों के समय भी मन को अखण्ड शान्ति में स्थिर रखना पौषधव्रत की सिद्धि है। ऐसी आत्म-शक्ति पौषधव्रत से प्राप्त हो जाती है।

वर्तमान युग के मनुष्यों में आत्मशक्ति का ह्रास होता जा रहा है, जरा-सा भी भय या प्रलोभन का प्रसंग उपस्थित होते ही वे डगमगा जाते हैं, उसका कारण है—पौषधव्रत के अभ्यास का अभाव।

उस समय के पौषधव्रतधारियों के आत्मबल के प्रभाव के अनेक उदाहरण शास्त्रों में मिलते हैं। और तो और, तीन उपवास से युक्त पौषधव्रत श्रीकृष्णजी जैसे महापुरुषों ने लौकिक कार्य के लिए किया, उसका भी प्रभाव दिव्य शक्तियों पर पड़ गया था। यह पौषधव्रत से प्राप्त अलौकिक आत्मबल का ही प्रभाव था? वर्तमान युग के मानव, विशेषतः श्रावक इस आत्मबल के अभाव में आत्महीनता एवं दीनता के शिकार हो रहे हैं। यदि वे पौषधव्रत की आराधना नियमित रूप से करते रहें तो इस प्रकार की प्रचण्ड आत्मशक्ति उनमें भी प्रकट हो सकती है। दियासलाई में आग प्रच्छन्नरूप से पड़ी होती है, लेकिन उसे रगड़े बिना वह आग प्रकट नहीं हो पाती, वैसे ही मनुष्य की आत्मा में आत्मशक्ति तो प्रचुर मात्रा में भरी पड़ी है, लेकिन उसे प्रकट करने के लिए पौषधव्रत ग्रहण करके बार-बार आत्म-चिन्तन की रगड़ लगाने की जरूरत है।

बाह्यस्वरूप : प्रकार और विधि

पौषधव्रत के अन्तरंगस्वरूप पर तो काफी प्रकाश डाला जा चुका है, अब मैं उसके बाह्यस्वरूप पर प्रकाश डालूंगा।

आवश्यकसूत्र के वृत्तिकार पौषधोपवास का लक्षण इस प्रकार बताते हैं—'धर्म एवं अध्यात्म को पुष्ट करने वाले विशेष नियम धारण करके उपवास सहित पौषध में रहना।'[1] कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य इसे विशेष स्पष्ट करते हुए कहते है—

चतुष्पर्व्यां चतुर्यादि कृव्यापारनिषेधनम्।
ब्रह्मचर्यक्रियास्नानादित्यागः पौषधव्रतम् ॥८५॥

—अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या, ये चार पर्व दिवस हैं। इनमें उपवास आदि तप करना, पापमय कार्यों का त्याग करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना और स्नान आदि शरीर शृंगार-प्रसाधन का त्याग करना पौषधव्रत कहलाता है।

---

१ पौषे उपवसनं पौषधोपवासः, नियमविशेषाभिधानं चेदं पौषधोपवासः।

पौषधव्रत के इस बाह्य लक्षण में पौषध कब करना चाहिए ? वह कितने प्रकार का है ? उसमें क्या करना चाहिए ? वह मोटे तौर पर बता दिया है। वैसे तो पौषध की साधना के लिए काल का प्रतिबन्ध नहीं है, परन्तु कम से कम चार पर्वों में तो पौषध अवश्य करना चाहिए। पौषध मुख्यतया चार प्रकार का है—आहारपौषध, शरीरपौषध, ब्रह्मचर्यपौषध और अव्यापारपौषध।[1]

आहार को त्याग करके धर्म का पोषण करना आहारपौषध है। यह देखा जाता है कि प्रतिदिन आहार करने से शरीर विकारों का घर बन जाता है, कई प्रकार के रोग अड्डा जमाने लगते हैं, जिनसे धर्मकार्य में अड़चनें आती हैं। आहार करने पर नीहार भी करना पड़ता है, आहार की सामग्री लाने, पकाने, खाने, पचाने आदि में काफी समय का व्यय होता है। प्रायः आहार करने पर पेट भर जाने से इतना अच्छा आत्मचिन्तन नहीं हो सकता, जितना कि निराहार एवं खाली पेट रहने से हो सकता है। फिर आहार से उत्पन्न रोगादि विकारों को शमन करने एवं आहारादि में लगने वाले समय को बचाकर धर्मपोषण में लगाने हेतु चारों प्रकार का आहार त्याग (उपवास) करना आवश्यक है। अतः **आहारत्याग-पौषध** करने से धर्मध्यान में आठ प्रहर लगाये जा सकते हैं।

स्नान, विलेपन, उवटन, पुष्प, तेल, गन्ध, आभूषण आदि से शरीर को सजाने संवारने का त्याग करके धर्माचरण में लगाना **शरीरपौषध** है। यह पौषध भी आंशिक एवं पूर्ण दो प्रकार का है।

सब प्रकार के मैथुन और मैथुनांग का त्याग करके ब्रह्म (आत्मा या परमात्मा) में रमण (विचरण) करना, आत्मचिन्तन करना **ब्रह्मचर्य-पौषध** है।

पौषध का चौथा प्रकार है—**अव्यापारपौषध**। अव्यापारपौषध से मतलब है—आजीविका के लिए जो व्यवसाय, कारखाना नौकरी आदि हैं, उनका तथा अन्य सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग करना अव्यापारपौषध कहलाता है।

ग्यारहवाँ व्रत प्रतिपूर्ण पौषध कहलाता है। प्रातःकाल सूर्योदय के बाद जिस समय पौषध स्वीकार किया जाय, दूसरे दिन सूर्योदय के बाद उसी समय तक पौषध-वृत्ति में रहना प्रतिपूर्ण पौषध कहलाता है। अर्थात् आठ प्रहर का पौषध ही प्रतिपूर्ण पौषध कहलाता है।

पौषधव्रत का स्वीकार करने के लिए श्रावक-श्राविका को सर्वप्रथम धर्मस्थानक में पौषध के योग्य वस्त्र, धर्मोपकरण आदि लेकर उपस्थित होना चाहिए। तदनन्तर धर्मस्थानक में साधु या साध्वीजी हों तो उनसे पौषधव्रत स्वीकार करना चाहिए।

---

१ पोसहोववासे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—आहारपोसहे, सरीरपोसहे, बंभचेरपोसहे, अव्वावारपोसहे।

पूर्वोक्त दृष्टिकोण के अनुसार पौषधव्रत स्वीकार करने वाले गृहस्थसाधक का जीवन पौषधकाल तक साधु-सदृश हो जाता है। इसलिए उसे वैसे ही कार्य करने चाहिए, जो पौषधव्रत की मर्यादा में हों, जिन्हें करने से पौषधव्रत का उद्देश्य पूरा हो। पौषधव्रतधारी को कोई भी ऐसी सावद्य प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए, जो व्रतभंग करने वाली हो। यही कारण है कि शास्त्रों में पौषधव्रत ग्रहण करने के वर्तमान पाठ में त्याज्य बातों का उल्लेख भी मिलता है—

"ग्यारहवाँ पडिपुण्ण पोसहव्वयं, सव्वं असणं पाणं खाइमं साइमं चउव्विहंपि आहारं पच्चक्खामि, अबंभसेवणं पच्चक्खामि, असुकमणिहिरण्ण-सुवण्ण-माला-वण्णग-विलेवणं पच्चक्खामि, सत्थमुसलाई सव्वसावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जाव अहोरत्तं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा, तस्स भंते पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

अर्थात्—"भंते ! मैं ग्यारहवाँ प्रतिपूर्ण पौषधव्रत अंगीकार करता हूँ। समस्त अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य रूप चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ, अब्रह्मचर्य-सेवन का त्याग करता हूँ, अमुक मणि, सोना, चाँदी, माला, वर्णक (चूर्ण-पाउडर) विलेपन का त्याग करता हूँ, शस्त्रमूसल आदि समस्त सावद्य योगों का त्याग करता हूँ। ये सब प्रत्याख्यान (त्याग) एक अहोरात्रि तक के लिए मन-वचन-काया से करता हूँ। इन्हें मैं स्वयं नहीं करूँगा, न दूसरे से कराऊँगा। भगवन् ! मैं पूर्वकृत पापों का प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा और गर्हा करता हूँ, अपनी आत्मा को उनसे अलग करता हूँ।"

आचार्य समन्तभद्र ने पौषधोपवासव्रत को प्रोषधोपवास कहकर उसकी विधि बताई है—'चार प्रकार के आहार का स्वेच्छा से त्याग करके शरीर का अलंकार, आरम्भ, सुगन्धितपुष्प, स्नान, विलेपन, सुगन्धित पदार्थों का सेवन, तथा पाँच पापों का उपवास में त्याग (परिहार) करे। रुचिपूर्वक कानों से धर्मामृत का स्वयं पान करे, दूसरों को पान कराए। उपवास में आलस्यरहित होकर ज्ञान-ध्यान परायण रहे।'

आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रोषधोपवासव्रत के सम्बन्ध में एक नया चिन्तन दिया है—समस्त आरम्भों से मुक्त होकर देह आदि के प्रति ममत्व का त्याग करके पहले आधे दिन से उपवास ग्रहण करे, फिर एकान्त वसति (निवासस्थान) में जाकर, समस्त सावद्ययोगों का परित्याग करके, समस्त इन्द्रिय विषयों से विरत होकर, मन-वचन-काया की गुप्तियों से युक्त होकर दिन को धर्म-ध्यान परायण होकर व्यतीत करे। फिर सान्ध्यविधि करके पवित्र संस्तारक (बिछौने) पर स्वाध्यायरत होकर निद्रा को जीतता हुआ रात्रि व्यतीत करे। प्रातः उठकर तात्कालिक क्रियाकलाप कर के यथोक्त प्रासुक द्रव्यों से वीतराग उपासना करके यत्नपूर्वक तृतीय दिन का आधा भाग व्यतीत करे। इस प्रकार जो साधक १६ प्रहर तक समस्त सावद्य व्यापार से मुक्त होकर बिताता है, निश्चय ही उसकी अहिंसा परिपूर्ण हो जाती है। इसी प्रकार

वाग्गुप्ति (मौन) होने के कारण पूर्ण सत्यव्रत का तथा कुछ ग्रहण करना न होने से पूर्ण अदत्तादानविरमण का पालन हो जाता है तथा मैथुन-त्याग होने से अब्रह्मचर्य का तथा मूर्च्छा-त्याग होने से परिग्रह का लेशमात्र भी सेवन नहीं होता। इस प्रकार पाँचों आस्रवों का त्याग करने से गृहस्थ श्रावक भी उपचार से महाव्रती हो जाता है। सिर्फ चारित्रमोह के उदय के कारण वह पूर्ण संयमी साधु नहीं बन पाता। कहीं-कहीं पौषध की कालमर्यादा तीन दिन तक अष्टमभक्त प्रत्याख्यान (तेला) करके करने की मिलती है। जो भी हो, पौषधव्रतधारी श्रावक का इन्द्रियों एवं मन पर संयम रखना आवश्यक है, सारे सांसारिक प्रपंचों का त्याग भी अनिवार्य है। कम से कम सारा दिन और सारी रात उसे आत्मचिन्तन, तत्त्व-मनन और परमात्मस्मरण में तन्मय होकर बिताना चाहिए। पौषधव्रत स्वीकार करने के पश्चात् आजीविका, खानपान, शरीर शुश्रूषा एवं गृहकार्य की चिन्ता से श्रावक सर्वथा मुक्त हो जाता है, इसलिए उसे अधिकाधिक समय आत्मसाधना एवं धर्माराधना में लगाना चाहिए।

पौषधव्रती श्रावक को रात्रिकाल भी धर्मजागरणा में बिताना चाहिए। धर्म-जागरणा का अर्थ है—चार भेदों, चार लक्षणों, चार अवलम्बनों एवं चार अनुप्रेक्षाओं के सहित धर्मध्यान में समय और उपयोग लगाना। चूँकि श्रावक पंचम गुणस्थानवर्ती होने से उसके शुक्लध्यान तो होता नहीं, शेष तीन ध्यान—आर्त, रौद्र और धर्म हो सकते हैं। आर्तध्यान और रौद्रध्यान तो पौषधव्रती श्रावक के लिए सर्वथा हेय हैं। उसके लिए एकमात्र धर्मध्यान ही बाकी रह जाता है, इसलिए उसे रात्रिकाल धर्म-ध्यान के द्वारा धर्मजागरणा करते हुए बिताना चाहिए।

धर्मध्यान के द्वारा चिन्तन करने का उपाय यह है कि सर्वप्रथम वह **आज्ञा-विचय** के रूप में वीतराग प्रभु की आज्ञा को मुख्य रखकर तदनुसार जैन सिद्धान्त प्ररूपित वस्तुस्वरूप का चिन्तन करे। तदनन्तर **अपायविचय** के रूप में विचार करना कि आत्मा का अहित करने वाले उन कर्मों का नाश कैसे हो, जिनका संचय प्रमाद एवं अज्ञान के वशीभूत होकर मैंने ही किया है। कर्मों से आत्मा की रक्षा करूँ, ताकि फिर जन्म-मरण के दुःखों का अनुभव न हो। उसके बाद **विपाकविचय** के रूप में विचार करे कि शुभाशुभ कृतकर्मों के फल (विपाक) का अनुभव क्रमशः इष्टसंयोग एवं अनिष्टसंयोग के रूप में मिलता है, वह सुख-दुःखरूप होता है। जो कुछ भी अच्छा या बुरा फल मिल रहा है, वह मेरे ही किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल है। तत्पश्चात् **संस्थानविचय** के रूप में स्थिति, लय और उत्पत्ति रूप अनादि-अनन्त लोक का चिन्तन करना; लोक की संस्थिति, रचना लोकगत जीवों तथा अन्य द्रव्यों, जीवों की गति-आगति, उनकी सुख-दुःखानुभूति के सम्बन्ध में विचार करना। धर्मध्यान की पहचान आज्ञारुचि, निसर्गरुचि, सूत्ररुचि और अवगाढरुचि से होती है। इसी प्रकार धर्मध्यान के अवलम्बन हैं—वाचना, पृच्छना, पर्यटना और अनुप्रेक्षा। इन चार अनुप्रेक्षाओं से धर्मध्यान प्रदीप्त होता है—एकानुप्रेक्षा (समस्त सांसारिक संयोगों से आत्मा को पृथक् एकाकी मानकर तत्सम्बन्धी भावना करना), अनित्यानुप्रेक्षा (सभी सांसारिक एवं

पौद्गलिक संयोगों को अनित्य मानकर तदनुकूल प्रेक्षण करना), अशरणानुप्रेक्षा (सर्व सांसारिक सम्बन्धों को अशरणरूप मानकर तदनुकूल चिन्तन करना) और संसारानुप्रेक्षा (संसार के जन्ममरण के क्रम व आवागमन से सम्बन्धित चिन्तन करके आत्मा को इनसे अनासक्त रखना)।

वस्तुतः धर्मध्यान ही पौषधव्रत में आत्मचिन्तन का मूल स्रोत है। उसके बिना व्यवस्थित रूप से आत्मचिन्तन हो नहीं सकता। प्राचीन कालिक श्रावकों का वर्णन पढ़ने से मालूम होता है कि रात्रि को प्रथम प्रहर व्यतीत होने पर ही प्रायः श्रावक धर्मजागरणा किया करते थे, और उसी दौरान किसी के पास देव आया, उसने सेवा की या उपसर्ग किया अथवा श्रावक ने अमुक चिन्तन किया।

इसके अतिरिक्त शास्त्रों में एक बात और सूचित की गई है कि पौषधव्रत में स्थित श्रावक पर अनेक प्रकार के उपसर्ग एवं परिषह भी आते हैं, उस समय उसे अपने धर्म, व्रत और आत्मस्वरूप में दृढ़तापूर्वक स्थिर रहना चाहिए। यदि असहिष्णु बनकर श्रावक ने धैर्य खो दिया या वह विचलित हो गया तो उसका व्रत भंग हो जाएगा। चुलनीपिता आदि श्रावकों को पौषधव्रत में विचलित करने के लिए देव के आने तथा विविध उपसर्ग करने का उल्लेख उपासकदशांगसूत्र में मिलता है। जो श्रावक विचलित हो जाता है, उसके लिए शास्त्रकार 'भग्गवए (भग्नव्रत), भग्गनियमे, भग्गपोसहे' कहकर उनके व्रत, नियम और पौषध को भंग (खण्डित) करार दे देते हैं। अतः श्रावक को पौषधव्रत अखण्डित रखने के लिए मरणान्त कष्ट भी समभावपूर्वक सहना होता है। सेठ सुदर्शन, मेघरथ राजा (शान्तिनाथ भगवान् के पूर्वभव के जीव) आदि को पौषधव्रत में अनुकूल उपसर्ग आते हैं, फिर भी वे विचलित नहीं होते। पौषधव्रती महाराजा उदयन की हत्या साधुवेशधारी धूर्त ने कर दी, फिर भी वे सहिष्णु रहे। यह प्रतिकूल परिषह था।

इसके अतिरिक्त पौषधव्रत ग्रहण करने से पूर्व और पश्चात् लगने वाले ६+१२=१८ दोष आचार्यों ने बताए हैं, उनसे भी बचना चाहिए।

पौषधव्रत के ५ अतिचारों से भी प्रत्येक श्रावक को बचना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—(१) भूमि को देखे और प्रमार्जन किये बिना मल-मूत्र का उत्सर्ग करना, (२) पाट, चौकी, शय्या आदि वस्तुएँ देखे और प्रमार्जन किये बगैर रखना और उठाना (३) बिना देखे, बिना पूंजे बिस्तर-आसन बिछाना, (४) पौषधव्रत के प्रति अनादर, (५) पौषधव्रत की विस्मृति।[1]

इस प्रकार पौषधव्रत ग्रहण कर आत्म-साधना के लिए प्राचीनकाल के श्रावकों की तरह महीने में ६ दिन या अमुक दिन निश्चित करके उन्हें आत्मचिन्तन-मनन में लगाना चाहिए।

---

१ उत्सर्गादानसंस्तारानवेक्ष्याप्रमृज्य च।
अनादरः स्मृत्यनुपस्थापनं चेति पौषधे॥ —योगशास्त्र, प्र० ३ श्लो० ११७

6

श्रावक का मूर्तिमान औदार्य : अतिथिसंविभागव्रत

✡

गृहस्थ साधक के लिए बारह व्रत भी उन सोपानों की तरह हैं, जैसे मकान के ऊपर की मंजिल में जाने के लिए सोपान होते हैं। सद्गृहस्थ श्रावक के लिए बारहवाँ व्रत अन्तिम सोपान है। इसका नाम है—अतिथिसंविभागव्रत। इस व्रत का पालन करने से श्रावक के आत्मविकास के सक्रिय रूप का यथार्थ अनुमान लग जाता है कि उसने चित्त में उदारता को कितना स्थान दिया है? उसकी आत्मा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के मंत्र को जीवन में कितना पचा सकी है? आत्मौपम्य उसके जीवन में कितनी मात्रा में विकसित हुआ है? इसका मूल्यांकन भी इस व्रत के पालन से किया जा सकता है।

आध्यात्मिक प्रौढ़ता का चिह्न

व्रती श्रावक बनने के बाद पाँच अणुव्रतों तथा तीन गुणव्रतों के पालन करने का उसके जीवन पर कैसा और कितना प्रभाव पड़ा है? श्रावक का जीवन कितना धर्मपरायण और कर्तव्य-प्रधान बना है। उसके जीवन में क्या विशेषता आई है? आदि सभी बातों को जानने के थर्मामीटर चार शिक्षाव्रत हैं। यह चौथा शिक्षाव्रत तो इसे विशेष रूप से जानने का मापक यंत्र है, क्योंकि अन्य (ग्यारह) व्रतों के पालन का प्रत्यक्ष लाभ प्रायः श्रावक को ही मिलता है—लेकिन अतिथिसंविभागव्रत के पालन का प्रत्यक्ष लाभ दूसरे को भी मिलता है। यह व्रत श्रावक की आध्यात्मिक प्रौढ़ता का चिन्ह है। इससे विश्व को यह मालूम हो जाता है सद्गृहस्थ श्रावक कितना विशाल एवं उदारहृदय है? उसमें विश्वबन्धुत्व की भावना कितनी साकार हुई है? श्रावक के जीवन में ग्यारह व्रतों के पालन से कितनी परमार्थपरायणता आई है? यही उसकी आध्यात्मिक प्रौढ़ता का लक्षण है।

विश्वबन्धुत्व की भावना का साकार रूप

श्रावक के जीवन में आध्यात्मिक परिपक्वता आती है, तो वह स्वतः परमार्थ-

रत, उदार एवं विश्वबन्धुत्व की भावना से ओतप्रोत हो जाता है, सुपात्रों को बिना माँगे ही वह उपकृतभाव से दान देता है।

आपने देखा होगा, वृक्ष जब परिपुष्ट हो जाते हैं, तब वे किसी से कुछ माँगते नहीं, वे हर घड़ी देते ही रहते हैं। वे अपने पत्र, पुष्प, फल, छाया, सुगन्ध, काष्ठ, छाल आदि का अनुदान अज्ञात रूप से सदा सतत दूसरों को देते रहते हैं। यही उनका स्वाभाविक धर्म बन जाता है। इसी तरह अध्यात्म की भूमिका में गृहस्थसाधक जब ११वीं श्रेणी (व्रतों) को पार करके बारहवीं श्रेणी में आरोह (व्रतारोहण) करता है तब उसका परमार्थ-पराग भी विकसित कमलपुष्प की तरह दशों दिशाओं में उड़ने लगता है। उसकी उदारता, महानता, करुणा, सेवाभावना, सदाशयता घड़ी भर भी चैन से नहीं बैठती, वह मुक्तहस्त से लुटाने के लिए तत्पर रहती है। गाय के स्तनों में जरा भी दूध जमा हो जाता है तो वह जोर से रम्भाने लगती है, उसे देने के लिए। जब तक वह स्तनों में संचित दुग्धभण्डार को खाली नहीं कर देती, तब तक बेचैनी अनुभव करती है। पेड़ अपने परिपक्व फलों को किसी के माँगे बिना ही धरती पर टपकाते रहते हैं, ताकि आवश्यकता-ग्रस्तों को अनायास ही यह मधुर अनुदान बिना मूल्य मिलता रहे। इसी प्रकार की आध्यात्मिक प्रौढ़ता गृहस्थ साधक के जीवन में आती है, तब वह उदारतापूर्वक अपनी हर चीज (धन ही नहीं, विद्या, ज्ञान, समय, साधन आदि) लुटाने लगता है।

उत्तरोत्तर व्रतग्रहण से जैसे-जैसे मनुष्य का आध्यात्मिक स्तर ऊँचा उठता जाता है, वैसे-वैसे वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की दृष्टि और भावना से इस पृथ्वी को अधिकाधिक नम्र, संयत और सुसंस्कृत बनाने के लिए अपना सर्वस्व देने को तत्पर रहता है। सेवा, दान, करुणा और परोपकार ही उसके प्रिय अभ्यस्त विषय और अभ्यस्त कर्तव्य बन जाते हैं। यह चौथा शिक्षाव्रत प्रतिदिन अभ्यास रूप होने से व्रती श्रावक का अभ्यास इतना परिपक्व हो जाता है कि वह दान, करुणा, परोपकार एवं सेवा नित्य-प्रति करता है। और किसी पर एहसान करने के लिए नहीं, परन्तु अपनी आत्मसंतुष्टि के लिए, अपनी आत्मा को उदार और आत्मौपम्य भावना से अभ्यस्त बनाने के लिए करता है। वह यही सोचता रहता है कि मुझे जो कुछ प्राप्त हुआ है, उससे विश्वभवन को अधिक सुसज्जित कर दूँ, इसी में मेरा कल्याण है। अर्थात् विश्व कल्याण में ही मेरा आत्मकल्याण निहित है। उसकी पसीजती हुई करुणा और सदाशयता उसे इस बात के लिए प्रेरित करती रहती है कि मेरे पास जो कुछ भी बल, बुद्धि, विद्या, सम्पत्ति और साधनसामग्री है, उसका अधिकाधिक भाग आवश्यकता-ग्रस्तों या उच्च साधना-परायण निःस्पृह त्यागीजनों की सेवा में समर्पित कर दूँ, उनके बिना माँगे ही, अपने आत्मानुग्रह के लिए उसका उत्सर्ग कर दूँ, उसका यथायोग्य संविभाग कर दूँ। ऐसी उत्कृष्ट भावना से ओतप्रोत गृहस्थ श्रावक अपने कुटुम्ब को संकीर्णता की परिधि में ही नहीं मानता, वह अपने घर-परिवार को थोड़े-से लोगों में सीमित नहीं करता। वह यह नहीं सोचता कि सिर्फ मेरे बेटे-पोतों को ही मेरे सारे

वैभव का लाभ मिले, वह तो सभी को अपना समझता है। मोहवश अमुक सम्बन्धियों के लिए ही अपना पसीना बहाने और दिन-रात कमाते रहने की संकीर्णता छोड़कर हर जरूरतमंद की, प्रत्येक पिछड़े व्यक्ति की सेवा-सहायता करने में तत्पर हो जाता है।

जो सद्गृहस्थ अपने अन्तःकरण में परमार्थ बुद्धि का विकास कर लेते हैं, परिष्कृत और उदार दृष्टिकोण से जीवन की सार्थकता पर विचार करते हैं, वे अपनी आत्मा में परमार्थ को सक्रिय करने की भावना से प्रेरित होकर आध्यात्मिक स्फूर्ति का अनुभव करते हैं। उनकी समस्त प्रवृत्तियाँ सहजरूप से परमार्थ बुद्धि की अनुगामिनी बन जाती हैं।

तीर्थंकर भगवान् जब आध्यात्मिकता की परिपक्वता पर पहुँचते हैं और उन्हें व्यावहारिक दृष्टि से पूर्ण आध्यात्मिकता की राह—मुनिदीक्षा के रूप में लेनी होती है, तब उससे पूर्व बारह महीनों तक लगातार उदार और मुक्त दान का प्रवाह बहाते हैं। यही परमार्थ परायणता का चिन्ह है।

आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए बारहवाँ व्रत आवश्यक

शारीरिक स्वास्थ्य के लिए जैसे—खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना, एवं व्यायाम आदि करना आवश्यक होता है, इसी प्रकार आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए भी परमार्थ के कार्य करना अत्यावश्यक है। अपनी दिनचर्या में परमार्थ को स्थान दिये बिना आत्मा का निर्मल, निःस्वार्थी एवं निष्कलंक होना सम्भव नहीं। यदि आत्मा कलुषित, कलंकित या अतिस्वार्थी है, तो शरीर कितना ही स्वास्थ्य-सम्पन्न हो, सुन्दर और सशक्त हो, मनुष्य अपूर्णता के दोष से बचा नहीं रह सकता। मनुष्य के पूर्ण स्वरूप की निशानी यह है कि उसकी आत्मा और देह-यानी अन्तर् और बाह्य दोनों स्वस्थ हों, सुन्दर हों। ऐसी अभीष्ट स्थिति तभी सम्भव है, जब मनुष्य दैनिक कार्यों की तरह परमार्थ को भी जीवनक्रम का एक अभिन्न अंग बनाए।

स्वास्थ्य की उन्नति चाहने वालों को संयम-नियम से रहना ही पर्याप्त नहीं, अपितु अंग-प्रत्यंगों की पुष्टि के लिए व्यायाम करने की आवश्यकता भी पूर्ण करनी पड़ती है। व्यायाम और श्रम न करने वाले लोग चाहे जितने संयम-नियम से रहें, वे स्वास्थ्य की अभिवृद्धि का यथेष्ठ लाभ प्राप्त नहीं कर सकेंगे। जो उपयोगिता स्वास्थ्य की उन्नति में व्यायाम की है, वही उपयोगिता आत्मकल्याण का उद्देश्य पूर्ण करने में सेवा या परोपकार की साधना की है। मानवजीवन में सेवा, दान एवं परोपकार को बहुत ही उच्च स्थान दिया गया है। परोपकार से रहित व्यक्ति प्रायः अनुदार, अतिस्वार्थी और निष्ठुर बन जाते हैं। ऐसे लोग आत्मिक दृष्टि से सदा पिछड़े हुए रहते हैं, भले ही वे दिन भर पूजा-पाठ, या भजन-कीर्तन करते हों।

सेवाकार्य के अभ्यास के लिए बारहवाँ व्रत

आध्यात्मिक प्रगति के लिए भजन की आवश्यकता का प्रतिपादन प्रायः सभी भारतीय धर्मों ने किया है। भजन शब्द संस्कृत भाषा के 'भज् सेवायां' धातु से बना

है। भजन का तत्पर्य सेवा-कार्यों से भी है। जितना जप, ध्यान, कीर्तन और पाठ का महत्व है उतना ही महत्व है सेवाकार्यों का। अतिथिसंविभागव्रत भी परमार्थ के अभ्यास का, सेवाकार्य के प्रयत्न का ही व्रत है। इसलिए आत्मिक प्रगति के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को जनसेवा जैसे परमार्थ कार्यों के लिए प्रतिदिन कुछ न कुछ प्रयत्न करते रहना चाहिए। कुछ न कुछ मनोयोग, साधन और समय इसमें लगाते रहना चाहिए। जो लोग इस ओर से विमुख हैं, उनका सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं हो सकता।

आत्मा की उन्नति के लिए सद्विचारों के अनुरूप कोई न कोई व्यावहारिक योजना हम सबके जीवन में सम्मिलित होनी चाहिए, वही अतिथिसंविभाग या यथा-संविभागव्रत है। अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुरूप उसमें से प्रत्येक को कुछ न कुछ ऐसे सत्कार्य करते रहना चाहिए, जिससे सेवाधर्म, परोपकार या परमार्थ का प्रतिदिन नियमित अभ्यास होता रहे। जिस प्रकार नियमित व्यायाम, नियमित भजन तथा नियमित औषधि सेवन की उपयोगिता मानी जाती है, उसी प्रकार नियमित सेवाधर्म को सक्रिय बनाने की व्यवस्था भी आत्मोन्नति की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है।

सेवा, दान, करुणा एवं परमार्थ के कार्यों से तत्काल आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है। सत्कार्य करते समय अन्तरात्माओं में जो सन्तोष होता है, उसका आनन्द सांसारिक सुखों या लाभों की तुलना में बहुत ही उत्कृष्ट श्रेणी का होता है। मनुष्य के हृदय में निहित सद्भावनाओं का प्रमाण उसके द्वारा किये जाने वाले परमार्थ-कार्य ही हैं।

दूसरों को परिलाभ देना ही इस व्रत का उद्देश्य

श्रावक के लिए संसार में दिखाई देने वाला और दूसरों को लाभान्वित करने का कोई व्रत है तो अतिथिसंविभागव्रत ही है, इसी का व्यापक अर्थ समझ कर सेवा, परोपकार आदि परमार्थ करना ही वास्तविक धर्म है। अपने लिए तो सभी जीते हैं, अपने परिवार या अपने माने जाने वालों के लिए भी सब परिश्रम और त्याग करते है, बल्कि कई बार विवश होकर मन से या बिना मन से भी नाते-रिश्तेदारों की सेवा करनी पड़ती है। परन्तु जो व्यक्ति किसी पराये या अपरिचित व्यक्ति को दुःखी या पीड़ित देख कर उसके दुःख को अपना दुःख समझता है और उसे मिटाने के लिए अपनी सुख-सुविधा एवं आराम को भी भूल जाता है। इसके अतिरिक्त जो महात्मा आत्मकल्याण के साथ पर-कल्याण की प्रवृत्ति करते है, त्यागी और निस्पृह हैं, उनको श्रद्धाभाव से, अच्छी भावना से अपने निश्रित वस्तु या अपने लिए बनाई हुई भोजन, पात्र, वस्त्र, औषध आदि बिना किसी बदले की भावना से देना, या उनकी सेवा करना इत्यादि परमार्थ कार्यों में जीवन की सार्थकता है। यह सब बारहवें व्रत के अन्तर्गत है। यही मानवता है, यही आध्यात्मिकता की प्रगति का चिह्न है। खाना-

पीना और अपनी प्रकृति के अनुकूल सुख-सुविधा प्राप्त करना तो पशुपक्षियों को भी आता है। मनुष्य और विशेषतः व्रती श्रावकपुंगव की विशेषता तो यही है कि वह अपनी तरह सदैव दूसरों के हित, स्वास्थ्य, एवं सुख का भी ध्यान रखे, और अवसर आने पर उसके अपने पास जो भी साधन हैं, उनसे दूसरों को भी लाभान्वित करे। इस प्रकार दूसरों को दिया हुआ लाभ या परिलाभ[1] श्रावक की आत्मा को सच्ची शान्ति प्राप्त कराते हैं।

व्यापक अर्थ के अनुसार अतिथिसंविभाग व्रत का उद्देश्य यही है कि श्रावक केवल अपने ही स्वार्थ, अपने ही सुख-दुःख, अपने ही परिवार के पोषण, अपने ही लिए जीने का ध्यान न रखे। वह अध्यात्म दृष्टि से दूसरों के स्वार्थ, सुख-दुःख, अन्य परिवारों के पोषण और दूसरों के लिए जीने का विचार और प्रयत्न करे। यदि मनुष्य अपने ही स्वार्थ का ध्यान रखकर हर तरह से धन-सम्पत्ति, सुख-सामग्री प्राप्त करने और अधिकाधिक संग्रह करने में ही लगा रहे और अन्य मनुष्यों के सुख-दुःख, एवं पोषण से सर्वथा उदासीनता बन जाय तो संसार भर का वैभव पाकर भी वह सुखी और सन्तुष्ट नहीं हो सकता। जब मनुष्य अपने को दूसरे लोगों से सर्वथा अलग-थलग और अकेला समझकर सभी के प्रति स्वार्थभावना ही रखता है तो ऐसी स्थिति में वह उन सभी लोगों की दृष्टि में खटकने लगता है, और वे इसी ताक में रहते हैं कि किसी प्रकार इसे अपने अति स्वार्थ का बदला चुकाया जाय। ऐसी दशा में उन सब लोगों को भी वह अति स्वार्थी व्यक्ति विरोधी या शत्रु समझ कर सदा सशंक रहता है, उसे हरदम खटका रहता है कि कहीं वे उसे पदच्युत न कर दें, उसके प्रति विद्रोह न कर बैठें। ऐसी परस्पर विरोधी, आशंकित एवं आपाधापी की स्थिति में किसी व्यक्ति को सुख-शान्ति मिल सके, यह असम्भव है। ऐसे अतिस्वार्थी और दूसरे लोगों को अपना विरोधी या प्रतिद्वन्द्वी समझने वाले लोग अपने को संसार में सदैव एकाकी ही अनुभव करते हैं। ऐसे लोगों का विपत्ति में कोई सहायक नहीं होता।

एक बनिया बहुत ही स्वार्थी था। वह अपने नौकर ही नहीं, अपने घर वालों के प्रति भी बहुत अविश्वासी और स्वार्थी था। अगर नौकर कभी पाँच मिनट भी देर से आता तो वह उसे डाँटता और उसकी तनख्वाह में से उतने पैसे काट लेता। एक दिन नौकर की लड़की बहुत बीमार थी। रातभर वह और उसकी पत्नी उसकी शुश्रूषा में लगे रहे। बहुत उपचार करने पर भी वह बच न सकी। सबेरा होते-होते

---

१. शास्त्र में जगह-जगह मुनियों को दान देने के लिए 'पडिलाभेमाणे' शब्द का प्रयोग होता है, उसका जैन समाज में संस्कृत रूप 'प्रतिलाभ' प्रचलित होगया है, जो अपभ्रष्ट मालूम होता है। जैसे पडिपुण्ण का प्रतिपूर्ण अपभ्रष्ट रूप है, होना चाहिए परिपूर्ण, वैसे ही पडिलाभ का शुद्ध रूप 'परिलाभ' होना चाहिए।

वह चल बसी। उसका अन्त्येष्टिकार्य करके नौकर बनिये के यहाँ पहुंचा। उसे देखते ही बनिये ने त्यौरियाँ चढ़ाते हुए कहा—"आज इतनी देर कहाँ कर दी ? कहाँ रह गया था अब तक? तुझे नौकरी करनी है या नहीं? यों रोज-रोज देर से आया तो कैसे काम चलेगा ?" नौकर ने रोते-रोते कहा—"सेठजी ! आज मेरी लड़की बहुत बीमार थी। रातभर हम दोनों ने जागकर उसकी सेवा की, लेकिन वह बच न सकी। वह चल बसी। उसकी अन्त्येष्टि क्रिया करके अभी-अभी चला आ रहा हूँ। मैं जानबूझ कर देर से नहीं आया हूँ, सेठजी !" परन्तु सेठ ने उसके दुःख में सहानुभूति दिखाने के बजाय और डांट बताते हुए कहा—"अरे ! तू भी पागल हो गया है। इस संसार में कौन किसका है ? लड़की चली गई तो तू चिन्ता क्यों करता है ? कौन किसकी लड़की है, कौन किसी का पिता है ? यह सब स्वार्थ के रिश्ते-नाते हैं। मैं नहीं जानता। मैं तो तुझे काम के पैसे दूंगा, अगर तू देर से आया है तो मैं तेरे वेतन में से काट लूंगा। मैं तेरी इन बहानेबाजियों को नहीं मानता।"

नौकर को बड़ा दुःख हुआ। उसने मन ही मन ठान लिया कि सेठ को किसी दिन इसका मजा चखाऊंगा। एक दिन बनिया किसी कार्यवश बैलगाड़ी में बैठकर कहीं दूर के गाँव जा रहा था। रास्ता बड़ा भयंकर था। वह जंगलों और झाड़ियों में से होकर उस गाँव को जाता था। अचानक मार्ग में दो लुटेरे मिल गए, उन्होंने सेठ की गाड़ी को रोक लिया और सेठ से कहा—'जो कुछ पास में हो रख दो।' सेठ घबराया। सहसा सेठजी को उनका नौकर आता हुआ दिखाई दिया। सेठ ने उसे पुकारा "भाई ! जल्दी आ तो।" नौकर ने देखा—"आज अच्छा मौका है, इस स्वार्थी और लोभी सेठ को सबक सिखाने का।" उसने भी तपाक् से उत्तर दिया—"सेठजी ! आज मैं आपके काम पर नहीं हूँ। आज मेरी अनुपस्थिति समझ लेना।" बनिया देखता रह गया ? देखते ही देखते दोनों लुटेरों ने बनिये को लूट लिया और वहीं उसका काम तमाम कर दिया।

यह था अतिस्वार्थ और अतिलोभ का परिणाम ! आज संसार में ऐसे अति-स्वार्थियों की कमी नहीं है। वे लोग अपना तो अहित करते ही हैं, साथ ही समाज में भी एक गलत मूल्य छोड़ जाते हैं। उदार व्यक्ति के परिवार में, नई पीढ़ी में भी उदारता के संस्कार कूट-कूट कर भर जाते हैं, परन्तु जो अनुदार एवं कृपण व्यक्ति होते हैं, उनके परिवार के बालकों में बचपन से ही अनुदारता, स्वार्थ एवं कृपणता के संस्कार जम जाते हैं।

समाज का ऋण चुकाने के लिए बारहवाँ व्रत

जिस प्रकार जगत के दूसरे जीव जन्म के कुछ समय बाद ही स्वावलम्बी हो जाते हैं, उस प्रकार मनुष्य नहीं हो पाता। मनुष्य शिशु जन्म के बहुत दिनों बाद अपने पैरों पर खड़े रहने लायक हो पाता है। इस स्वावलम्बन के लिए उसे कम से कम १८-२० वर्ष तक अपने माता-पिता या अभिभावकों पर निर्भर रहना पड़ता है।

इस अवधि में अभिभावकों की कमाई एवं देखभाल पर ही उसे आश्रित रहना पड़ता है।

अपने पैरों पर खड़े होने के बाद भी वह दूसरे प्राणियों की तरह इतना स्वावलम्बी नहीं हो पाता कि जीवन चलाने के लिए उसे किसी की सहायता या सहयोग की आवश्यकता न पड़े। अभिभावकों की आश्रितता से मुक्त होकर उसे समाज पर आश्रित रहना पड़ता है। समाज के सहयोग के अभाव में मनुष्य का सुख-शान्ति-पूर्वक जीवनयापन करना अत्यन्त कठिन है। यही कारण है कि मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा गया है।

मनुष्य को जीवन-निर्वाह के लिए जहाँ विशिष्ट प्रकार का भोजन अपेक्षित है, वहाँ उसे अपने जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षा, सुसंस्कार, चिकित्सा, विपत्ति से रक्षा, आवास, वस्त्र आदि की आवश्यकता रहती है। इनके अभाव में उसके जीवन की रक्षा होनी कठिन है। अतः गृहस्थ श्रावक को अपनी जीवनयात्रा में उपर्युक्त साधनों की पूर्ति समाज से करनी अनिवार्य हो जाती है।

समाज के सहयोग से ही वह अन्न, वस्त्र, आवास आदि साधनों से लेकर आजीविकोपार्जन आदि तक उपलब्ध कर सकता है। जिस धन से इन सब साधनों की उपलब्धि होती है, वह भी तो समाज से ही प्राप्त होता है। इस प्रकार देखा जाता है कि अकेले भोजन से लेकर सुरक्षा तक में प्रत्येक में अनेकानेक लोगों की सहायता लेनी होती है। निष्कर्ष यह है कि सुख-शान्तिपूर्वक जीवनयापन करने के लिए प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से किसी न किसी पर निर्भर रहना ही पड़ता है। इस-लिए मनुष्य पर समाज का अगणित ऋण है। संसार का यह ऋण कितना है? इसका लेखाजोखा लगा सकना असम्भव है। जब ऋण के रूप और परिमाण का ही पता नहीं, तो उसको किस प्रकार के प्रत्युपकार से कितना चुकाया जाए? यह प्रश्न एक समस्या-सा मालूम होता है।

इस ऋण को अदा करने का सीधा और सरल उपाय भगवान महावीर ने बताया है—अतिथिसंविभागव्रत—परमार्थव्रत। इस व्रत से यह स्पष्ट ध्वनित हो जाता है कि इस बात का पता लगाना व्यर्थ समझ कर कि संसार में किसका, कौन-सा और कितना ऋण हम पर हो गया है? किसी भी स्थान पर और किसी भी परिस्थिति में यथाशक्ति कुछ ऐसे कार्य करते रहना चाहिए, जिससे दूसरों की सेवा हो सके, दूसरों का उपकार हो सके, दूसरों को सुख-सुविधा अथवा सन्तोष मिल सके। ऐसे सेवापूर्ण कार्य बारहवें व्रत के माध्यम से श्रावक अपने देश, काल, परिस्थिति एवं शक्ति के अनुसार समझकर कर सकता है।

मनुष्यता का तकाजा और बुद्धिमत्ता इसी में है कि श्रावक की भूमिका पर पहुँचा हुआ मानव उस ऋण को, जोकि समाज या संसार से उसने पूर्वोक्तरूप में प्राप्त किया है, जिसे हर हालत में चुकाना ही पड़ेगा, चुकाने में किसी प्रकार की

आनाकानी न करे, राजी-खुशी से इस बारहवें व्रत के माध्यम से चुका दे। ऐसा करने से संसार में प्रत्युपकार की तथा समाज के प्रति उदारता एवं संविभाग की सुन्दर परम्परा भी चलती रहेगी।

समाज के प्रति दायित्व निभाने का व्रत

समाज के प्रति व्यक्ति का वही दायित्व है, जो अंगोपांगों का सारे शरीर के प्रति है। यदि शरीर के विविध अंगोपांग स्वार्थी बनकर अपने ही अस्तित्व की चिन्ता करने लग जाएँ तो यह निश्चित है कि सारे शरीर के लिए बहुत बड़ा खतरा पैदा हो सकता है। सर्वप्रथम मुख को लीजिए, यदि वह स्वार्थी बनकर अपने अन्दर आए हुए भोजन के ग्रास को अपने तक ही सीमित रख कर उसका स्वाद लेता रहे और जब इच्छा हो, तब बाहर थूक दे तो उसके इस स्वार्थ का कितना भयंकर अनिष्ट परिणाम होगा ? ऐसी स्थिति में मुँह का चबाया हुआ भोजन पेट में नहीं जाएगा तो उसका रस नहीं बनेगा और रस नहीं बनेगा तो रक्त, मांस, मज्जा आदि कहाँ से बनेगा ? इस सारी प्रक्रिया के अवरुद्ध हो जाने से शरीर के दूसरे अवयवों को पोषक तत्व मिलने बन्द हो जाएँगे और तब वे दुर्बल एवं क्षीण होने लगेंगे तथा धीरे-धीरे एक दिन वे पूरी तरह अशक्त एवं अस्वस्थ होकर सदा के लिए निश्चेष्ट एवं निर्जीव हो जाएँगे। पूरा शरीर समाप्त होकर मिट्टी में मिल जाएगा। यह सब अनर्थ सिर्फ एक मुख की स्वार्थपरायणता के कारण घटित होगा।

इसी प्रकार मुख के बदले पेट स्वार्थी बन जाए, वह अपने अन्दर आए हुए भोजन को अपने ही पास जमा करता रहे, उसे पचाकर रसप्रक्रिया को अवसर न दे, अथवा विभिन्न अवयवों को यथायोग्य पोषक तत्व वितरण न करे तो वही पूर्वोक्त अनर्थकारी स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

हाथ, पैर, मन और मस्तिष्क आदि भी यदि इसी प्रकार स्वार्थी बनकर यह सोचने लगें कि हम दूसरों के लिए क्यों श्रम करें ? चुपचाप बैठ कर आराम क्यों न करें ? क्योंकि हमारे श्रम का अधिकांश लाभ दूसरे अंगों को ही मिलता है। ऐसी स्थिति में हाथ, पैर आदि काम नहीं करेंगे और भोजन देने में असहयोग करेंगे, तो जड़मूल से ही शरीर को भोजन नहीं मिलेगा, यदि कदाचित् मिल भी जाय तो हाथ पैर आदि द्वारा पकाने-खाने आदि की प्रक्रिया नहीं चल सकेगी। तब स्थिति यह होगी कि न केवल अन्य अंगों की ही हानि होगी, स्वार्थी हाथ-पैर भी पोषक तत्त्व न मिलने से निश्चेष्ट एवं अशक्त हो जाएँगे। निष्कर्ष यह है कि शरीर का कोई भी अंग यदि दूसरे अंगों के साथ स्वार्थवश असहयोग पर उतर आए तो सारे शरीर का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा और वह स्वार्थी अंग भी फिर जीवित नहीं रह सकेगा।

ठीक यही बात समाज और उसके अंगों के सम्बन्ध में समझ लेनी चाहिए। जो व्यक्ति सामूहिक दृष्टि से न सोचकर केवल अपने ही स्वार्थ, अपने ही सुख-दुःख की चिन्ता में लगे रहते हैं, वे व्यक्तिवादी स्वार्थी सारे समाज के प्रति सहयोग की

भावना को तिलांजलि देकर कृतघ्नता का परिचय देते हैं। जिसने शक्ति, समृद्धि, सम्पन्नता, पद-प्रतिष्ठा के क्षेत्र में समाज की बदौलत उन्नति कर ली है, लेकिन इन सारी उपलब्धियों को अपने तक ही सीमित रखता है, किसी भी रूप में समाज को उसका लाभ नहीं पहुँचाता, समाज के दुःख, विपत्ति और संकट के समय सहयोग नहीं देता, समाज के मार्गदर्शक उत्तमांग रूप साधु-संतों की कोई सेवा नहीं करता, समाज के विपन्न, दीन, दुःखी, दयनीय अंगों की भी कोई सेवा नहीं करता, ऐसे स्वार्थी व्यक्ति को कोई भी विवेकशील व्यक्ति आदर की दृष्टि से नहीं देखेगा। उसकी सारी उपलब्धियाँ, समृद्धियाँ और सफलताएँ निरर्थक और हेय ही मानी जाएँगी।

यदि समाज ऐसे संकीर्ण स्वार्थी तत्वों के साथ सहयोग करना छोड़ दे तो शीघ्र ही उनका अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा। ऐसे संकीर्ण स्वार्थ से दूषित व्यक्ति समाज में विघटन, विद्वेष और संघर्ष पैदा कराने वाले सिद्ध होते हैं। समाज में अविश्वास, सन्देह, भ्रष्टाचार, शोषण, ठगी, संघर्ष आदि जितने भी समाज को रसातल में पहुँचाने वाले अपराध या दोष होते हैं, वे सब ऐसे व्यक्तिवादी स्वार्थी गृहस्थों की संकीर्ण एवं असहयोग भावना से ही जन्म लेते हैं, पनपते, बढ़ते हैं और समाज में अशान्ति फैलाते हैं। वेद में भी ऐसे संकीर्ण स्वार्थियों की भर्त्सना करते हुए कहा है—

'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता,
सत्यं ब्रवीमि वध इति स तस्य।
न अर्यमाणं पुष्यति, नो सखायं,
केवलाघो भवति केवलादी॥'

—स्वार्थपूर्ण संकीर्ण मनोवृत्ति का व्यक्ति अपने पास धन, धान्य आदि पाकर उनका संचय करता है, वह उनका संचय नहीं वरन् सच कहूँ तो, वह उसके अपने वध का ही सचय है। जो न तो अपने मित्रों स्वजनों का पोषण ही करता और न ही सज्जनों का पोषण करता है। ऐसा व्यक्ति केवल अपने ही खाने (उपभोग) का ध्यान रखता है, वह केवल पाप रूप है, चोर है।

सच्चे माने में देखा जाय तो गृहस्थ के पास जो भी वैभव या धन अथवा सुख-साधन आते हैं, वे समाज से ही आते हैं। कहीं आकाश से सहसा नहीं टपक पड़ते। मनुष्य जब पैदा होता है, तब वह अपने साथ कुछ भी नहीं लाता और जब संसार से जाता है, तब भी साथ में कुछ भी नहीं ले जाता। समाज की सम्पत्ति समाज के पास ही छूट जाती है। परिवार भी समाज का ही एक अंग है। जन्म के समय बच्चा नितान्त असमर्थ होता है, उसकी रक्षा प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी न किसी रूप में समाज द्वारा ही की जाती है। समर्थ होकर वह समाज की सहायता से उन्नति करता और समृद्ध बनता है। समाज के द्वारा उपकृत व्यक्ति यदि समाज के दुःख विपत्ति में अथवा समाज के उत्तम त्यागी पुरुषों की सेवा में अपने प्राप्त साधनों का उपयोग या व्यय नहीं करता है, और समाज से प्राप्त साधनों को जबर्दस्ती अपने समझ कर अपने तक

ही सीमित रख कर संकीर्ण स्वार्थपरायण बना रहता है, तो उसे वेद की भाषा में चोर, पापरूप या कृतघ्न कहा जाएगा। इस कृतघ्नता के पाप से बचने के लिए सद्-विवेकी श्रावक को स्वार्थ को नहीं, परमार्थ को प्रश्रय देना चाहिए।

वस्तुतः परमार्थवृत्ति के अभाव में व्यक्ति और समाज दोनों का नाश होने लगता है। व्यक्तिगत लाभ, स्वार्थसिद्धि और निजी-समृद्धि के लिए मनुष्य कितना ही क्यों न करे, वह कितना ही सम्पन्न और शक्तिशाली क्यों न बन जाए, किन्तु दूसरों के लिए त्याग, सेवा, सहयोग, सहानुभूति, प्रेम, सहायता एवं परमार्थ के अभाव में वह न तो समाज, राष्ट्र या विश्व के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है और न ही समाज के प्रति कृतघ्न बनने से वह आत्मिक उन्नति कर सकता है। बल्कि ऐसे निपट स्वार्थी व्यक्ति समाज के लिए कलंकरूप, घातक और विकासावरोधक सिद्ध होते हैं। अतः आत्मगुणों के विकास और आत्मकल्याण के इच्छुक सद्गृहस्थ श्रावक के लिए यह उचित है कि वह स्वार्थी नहीं, परमार्थी बने, समाजहित के कार्यों में सहायक बने।

कई बार कुछ लोग साहसपूर्वक यह कहते सुने जाते हैं कि हमने अपना विकास अपने प्रयत्न एवं पुरुषार्थ के बल पर किया है, समाज ने उनकी कोई मदद नहीं की, बल्कि उन्हें पीछे धकेलने का ही प्रयत्न किया। ऐसे लोग, शायद कुछ ऐसे लोगों को ही समग्र समाज समझने की भूल करते हैं, जिन्होंने किसी कारणवश उन्हें प्रत्यक्ष सहयोग नहीं दिया होता है। सोचने का यह दृष्टिकोण भ्रान्तियुक्त है। कुछ इनेगिने लोग ही समाज नहीं कहलाते। समाज एक विशाल एवं व्यापक संस्था है, जाति, धर्मसंघ, राष्ट्र, प्रान्त आदि से भी ऊपर समग्र मानव-समाज का नम्बर आता है। पूरा समाज जिसका असहयोग करने लगता है, उसका विकास तो दूर रहा, जीना भी दूभर हो जाता है।

श्रावक को ऐसा संकीर्ण विचार कभी नहीं करना चाहिए। क्योंकि श्रावक **'मित्ती मे सव्वभूएसु'**—समस्त प्राणिमात्र के साथ मेरी मैत्री है—इस मंत्र का उपासक होता है। वह संकीर्ण स्वार्थवाद, व्यक्तिवाद एवं पंथवाद, घेरावबाद से ऊपर उठा होता है। उसे अपना दृष्टिकोण बना लेना चाहिए कि व्यक्ति और उसका व्यक्तित्व समाज से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। जिस प्रकार किसी वृक्ष के फल मनुष्यों द्वारा की गई उसकी सेवा और सुरक्षा के ही परिणाम होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य की सारी सफलता भी समाज की कृपा का ही परिणाम होता है यद्यपि समाज के अन्तर्गत उसके माता-पिता और परिवार वाले भी आ जाते हैं, तथापि उन्हें छोड़ भी दिया जाए, तो भी मनुष्य के विकास में समाज का बहुत बड़ा हाथ रहता है। मनुष्य जो कुछ सीखता, पढ़ता-लिखता है, पाता है, बढ़ता है और अनुभव करता है, वह सब समाज से ही तो करता है। जीवन विकास के लिए आवश्यक सभी वस्तुएँ समाज के सामूहिक प्रयत्न से निर्मित होती हैं। अन्न का उत्पादन सभी लोग नहीं करते, पर उपभोग तो सभी लोग करते हैं। अन्न का उत्पादक किसान भी जिन साधनों एवं उपकरणों से कृषिकार्य

करता है, उनका उत्पादन अन्य लोग किया करते हैं। इसी प्रकार वस्त्र, पुस्तकें, मकान, सड़क आदि अन्य जीवनयापन के लिए आवश्यक वस्तुएँ समाज के सम्मिलित प्रयत्न एवं सहयोग का परिणाम होती हैं। जिस सद्गृहस्थ श्रावक को जीवनविकास करने के इतने साधन तथा सहयोग समाज से मिले हैं, क्या वह भूलकर भी ऐसा सोच सकता है कि मैंने अपना विकास अकेले दम पर किया है ?

इसलिए गृहस्थ श्रावक व्यक्तिवादी बनकर असामाजिक न बने। वह दूसरे लोगों का सहयोगी और हितैषी बनकर समाज के प्रति सामाजिक बनकर रहने का अपना दायित्व पूर्ण करे। उस आत्मार्थी को अतिथिसंविभागव्रत के माध्यम से सामाजिक बनकर लोकहित के कार्य भी करते रहना चाहिए।

साधनों का केन्द्रीकरण नहीं, विकेन्द्रीकरण हो

इन सभी बातों का निष्कर्ष यह है कि व्रतधारी श्रावक अपने संकीर्ण स्वार्थ छोड़कर समाज का ऋण अदा करने अथवा समाज के प्रति अपना दायित्व पूर्ण करने हेतु अपने पास प्राप्त साधनों में से यथायोग्य हिस्सा समाज को दे, समाज के विभिन्न वर्ग के लोगों के लिए यथाशक्ति यथायोग्य संविभाग करे। गृहस्थ-श्रावक जो कुछ भी साधन प्राप्त करता है, उसमें अपने परिवारपोषण के अलावा समाज के शिरोमणि, मार्गदर्शक त्यागीवर्ग का भी हिस्सा है, अपने साधर्मी श्रावक का भी हिस्सा है, दीन-दुःखी, निर्धन, विकलांग, क्षुधापीड़ित आदि दयापात्रों का भी हिस्सा है। श्रावक को अवसर आने पर उदारतापूर्वक उनको अपने प्राप्त साधनों में से यथाशक्ति देना चाहिए। ऐसा नहीं कि उनके द्वारा माँगने पर, बार-बार अनुरोध करने, दबाव डालने या भय अथवा लोभ दिखाने पर ही वह उन्हें दे, किन्तु स्वेच्छा से, प्रसन्नतापूर्वक उन-उन पात्रों को उपकृतभाव से देना चाहिए। तभी वह दान, सहयोग, सेवा या परमार्थ धर्मरूप हो सकता है। किसी श्रावक ने किसी स्वार्थ या लोभ से प्रेरित होकर किसी को दिया, या सहयोग दिया, पर दान या सहयोग धर्मकोटि में नहीं माना जा सकता। इसीलिए भगवान् महावीर ने इसे व्रतरूप में स्थान दिया और व्रत श्रावक-धर्म का ही अंग है। वह दान, संविभाग, सेवा या सहयोग व्रतरूप सभी हो सकता है, जब वह किसी स्वार्थ, कामना, प्रसिद्धि, लोभ या भय से प्रेरित होकर न किया गया हो।

पात्र का विचार अतीव आवश्यक

इसीलिए श्रावक के लिए परमार्थ के पुनीतपथरूप इस व्रत पर चलते समय यह अवश्य देखना है कि जीवनयापन के लिए प्राप्त मेरे साधनों का सबसे अच्छा उपयोग कहाँ हो सकेगा ? सर्वोत्तम उपयोगी पात्र कौन-सा है ?

ऐसे व्यक्ति को वह अपने साधन देने में जरूर विचार करेगा, जो व्यक्ति भिक्षाजीवी त्यागी तो नहीं है, किन्तु गृहस्थ है, और वही गृहस्थ जीवनयापन के

साधनों का दूसरे से मुफ्त में लेने का अधिकारी है, जो बिलकुल निर्धन, असहाय, दीन-दुःखी, बाढ़-भूकम्प जैसी महाविपत्ति में फँसा हो, विकलांग हो, विक्षिप्त हो या एकाकी अत्यन्त रुग्ण हो। जो ऐसा तो नहीं है, समर्थ, सशक्त है, वह जीवनयापन के साधन देने का पात्र नहीं है, या जो हिंसक है, ठग, चोर, पापी, अत्याचारी आदि है, वह भी पाप-पोषण की दृष्टि से साधन देने का पात्र नहीं है, बल्कि वह कुपात्र है। कुपात्र को दिया हुआ दान या सहयोग उलटा प्रतिफल लाता है। क्योंकि कुपात्र उस उपलब्ध हुई सहायता का दुरुपयोग करके अवांछनीय कृत्य करता है। इसी कारण सेवा, दान, परोपकार आदि कार्य करने वाले को सर्वप्रथम सुपात्र की तलाश करनी पड़ती है।

हां, वे कुपात्र कहे जाने वाले व्यक्ति भी महामारी, भूकम्प, अग्निकाण्ड, दुर्भिक्ष, दुर्घटना आदि आकस्मिक विपत्ति में फँस जाने पर अनुकम्पापात्र समझे जाते हैं। ऐसे समय उन्हें दया के पात्र समझकर मानवता के नाते अपनी शक्ति के अनुसार सहायता देना कर्तव्य हो जाता है। इसी प्रकार अपात्र समझे जाने वाले गृहस्थ भी पूर्वोक्त प्रकार के आकस्मिक संकटों से ग्रस्त हो जाने पर अनुकम्पापात्र माने जाते हैं।

यही कारण है कि अतिथि-संविभागव्रत की व्याख्या करते समय आचार्यों ने उत्कृष्ट अतिथि, मध्यम अतिथि एवं जघन्य अतिथि; यों तीन भेद करके दान (सेवा, सहयोग या सहायता) के उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य तीन सुपात्र बताए हैं।

उत्कृष्ट सुपात्र अतिथि वह है, जो गृहप्रपंच को त्याग कर संयमपूर्ण त्यागमय निस्पृह जीवनयापन करते हों। ऐसे उत्कृष्ट सुपात्र निर्ग्रन्थ साधु-साध्वीगण ही हो सकते हैं।

बारहवें व्रत की व्याख्या

इसीलिए बारहवें अतिथिसंविभागव्रत का मुख्य अर्थ तो यही किया जाता है, जिसके आने की कोई तिथि, दिन या समय नियत नहीं है, जो बिना ही सूचना के अनायास आ जाता है, उस अतिथि के लिए संविभाग करना। इस अर्थ के अनुसार यहाँ मुख्य रूप से पंचमहाव्रतधारी निर्ग्रन्थ साधु-साध्वियों को ही 'अतिथि' माना गया है। ऐसे अतिथि को श्रद्धाभक्ति एवं बहुमानपूर्वक उसके लिए कल्पनीय, एषणीय ग्राह्य, निर्दोष आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोञ्छन, पीठ, (चौकी), पट्टा, शय्या, संस्तारक, औषध, भैषज आदि जीवन-निर्वाह में सहायक आवश्यक पदार्थों को देकर परिलाभित करना अतिथिसंविभागव्रत माना जाता है।

शास्त्रों में इस व्रत का नाम **'अहासंविभाग'** भी मिलता है। आवश्यकसूत्र के वृत्तिकार उसका अर्थ करते हैं—गृहस्थ श्रावक ने जो अपने लिए आहारादि बनाए हैं, या साधन प्राप्त किये है, उनमें से एषणासमिति (भिक्षा के ४२ दोषों के त्याग रूप

समिति) से युक्त निस्पृह साधु-साध्वियों को कल्पनीय एवं ग्राह्य आहार आदि दान देने के लिए विभाग करना यथासंविभाग है।[1]

जो निःस्पृह त्यागी श्रमण-श्रमणी स्वपरकल्याणसाधना के लिए सांसारिक खटपट का त्याग करके अपने जीवननिर्वाह के लिए यथालाभ सन्तोषपूर्वक महाव्रत-तप-संयम-पालनार्थ गृहस्थों के यहाँ अपने लिए बने हुए या प्राप्त किये हुए साधन—आहार-वस्त्र आदि में से अपने कल्पानुसार एषणासमितिपूर्वक ग्रहण करते हैं। ऐसे साधुओं को अपने कल्प, नियमानुसार उनके जीवननिर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुएँ देता है, मुनि-महात्माओं को उन उपकरणों या साधनों (आहारादि) से प्रतिलाभित करता है, तथा प्रतिलाभित करना अपना कर्तव्य समझकर व्रत (संकल्प) ग्रहण करता है, उसी का नाम अतिथिसंविभागव्रत है।

बारहवें व्रत के चार अंग

अतिथिसंविभागव्रत के माध्यम से दान देते समय चार अंगों का ध्यान रखना अनिवार्य बताया है—(१) विधि, (२) द्रव्य, (३) दाता और (४) पात्र।[2] इन चारों विशेषताओं से युक्त दान ही उत्कृष्ट सुपात्रदान हो सकता है। दान देने से पूर्व दाता के हृदय की भावना को टटोला जाता है कि वह किसी लोभ, भय, स्वार्थ या अन्ध-विश्वास से प्रेरित न हो, अनादर या अवज्ञापूर्वक न दिया जाय, अथवा ४२ दोषों से रहित निर्दोष, कल्पनीय आहार अभ्युत्थान सत्कार आदि विधिपूर्वक दिया जाय तथा जो **द्रव्य** आधाकर्म आदि १६ दोषों से रहित, मुनियों के तप-संयम का सहायक व वर्द्धक हो, वही द्रव्य शुद्ध माना जाता है।

दाता वह शुद्ध कहलाता है, जिसमें किसी स्वार्थ, लोभ, प्रसिद्धि या प्रतिफल की भावना न हो, जिसके हृदय में साधु-सन्तों के प्रति भक्ति-श्रद्धा हो। पात्र वही शुद्ध है, जो घरबार कुटुम्ब, जमीन-जायदाद आदि समस्त छोड़कर तप त्यागमय संयमपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हों, तथा संयम पालन करने हेतु ही दान लेते हों।[3]

इस प्रकार चार अंगों सहित विचारपूर्वक संयमी पुरुषों को दान देना उत्कृष्ट सुपात्रदान है। इस प्रकार के उत्कृष्ट सुपात्रदान का महत्व जैनागमों में कई जगह बताया गया है। ऐसे संयमी पुरुषों का योग मिलने पर उन्हें शुद्ध भाव से दान देना उत्कृष्ट सुपात्रदान है।

---

१ 'यथासिद्धस्य—स्वार्थे निर्वर्तितस्येत्यर्थः अशनादिः समितिसंगतत्वेन पश्चात्कर्मादि दोषपरिहारेण विभजनं साधवे दानद्वारेण विभागकरणं यथासंविभागः।'
—आवश्यकवृत्ति

२ 'विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र विशेषात् तद्विशेषः'। —तत्त्वार्थसूत्र

३ दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेण, पत्तसुद्धेण। —विपाकसूत्र १-१

सुपात्रदान का फल

सुखविपाकसूत्र में सुबाहुकुमार के द्वारा ऐसे उत्कृष्ट सुपात्र दान देने का उल्लेख है। गौतमस्वामी भगवान महावीर से पूछते हैं—"भगवन् ! यह सुबाहुकुमार मुझे इष्ट, कान्त, प्रिय, सौम्य, वल्लभ और सुन्दर प्रतीत होता है। दूसरे मनुष्यों को भी ऐसा ही लगता है। अतः प्रभो ! सुबाहुकुमार को ऐसी ऋद्धि-सिद्धि, मानव सम्पत्ति कैसे प्राप्त हुई ?"

भगवान् महावीर ने सुबाहुकुमार के पूर्वजन्म का वर्णन करते हुए कहा—"गौतम ! सुबाहुकुमार ने अपने पूर्वजन्म में सुदत्त नामक अनगार को मासक्षमण (मासिक उपवास) के पारणे में शुद्ध भाव से भक्ति बहुमानपूर्वक दान दिया था। उसी कारण से सुबाहुकुमार को ऐसी आश्चर्यजनक मानवीय सम्पत्ति प्राप्त हुई है।"

वास्तव में ऐसे उत्कृष्ट सुपात्र मुनि का योग मिलने पर उत्कट भावों से दान देना या दान देने की भावना रखने का शुभ फल शास्त्रों में बताया है। ऐसे निस्पृह-दाता और निस्पृह पात्र दोनों सुगति प्राप्त करते हैं।[1]

अपने उत्कृष्ट रूप पर नगर निवासिनी स्त्रियों को मुग्ध होते तथा उससे अनर्थ होते देखकर बलभद्र मुनि ने यह संकल्प कर लिया कि मुझे ग्राम या नगर में नहीं रहकर अपनी संयम यात्रा जंगल में एकान्त में बितानी है। जिस दिन मासक्षमणव्रत का पारणा होता, उस दिन वे भिक्षापात्र लेकर भिक्षा के लिए निकलते। एक मृग, जो मुनि की यह चर्या देखकर बहुत प्रभावित हो गया था, मुनि को निर्दोष भिक्षा दिलाने के लिए शुद्ध आहार की तलाश में वह उत्साहपूर्वक चल पड़ा। उसने जंगल में लकड़ी चीरते हुए एक बढ़ई तथा उसके साथियों के लिए बनता हुआ भोजन देखा। वह दौड़ता हुआ मुनि के पास आया और अपनी चेष्टा से मुनि को अपने पीछे चलने का संकेत करने लगा।

मुनि उसके संकेत को समझकर उसके पीछे-पीछे चल पड़े। जहाँ बढ़ई के लिए रसोई बन रही थी, वहीं वह मृग मुनि को ले गया। मुनि को आते देखकर बढ़ई के अन्तर् में भी श्रद्धाभक्ति उमड़ी। उसने मुनिवर को निर्दोष आहार ग्रहण करने की प्रार्थना की। मुनि ने निर्दोष शुद्ध आहार समझकर अपने भिक्षापात्र रखे। बढ़ई मुनि के भिक्षापात्र में बड़ी उमंग से आहार दे रहा था, मृग भी उत्कृष्ट भावना से उस निर्दोष भिक्षा का अनुमोदन कर रहा था, मुनि भी शुद्ध भाव से वह आहार ले रहे थे। तभी अचानक जोर की आँधी आई। वह पेड़, जिसके नीचे मुनि खड़े भिक्षा ले रहे थे, टूटकर एकदम गिर पड़ा। उससे मुनि, बढ़ई और मृग तीनों दब गए और वहीं मर गए। तीनों की मृत्यु उच्च भावों में हुई, इस कारण तीनों पंचम देवलोक में गए।

---

१. मुहादाई मुहाजीवी दो वि गच्छंति सुग्गइं। —दशवै० ५।१०।१००

यह है अतिथिसंविभागव्रत के माध्यम से उत्कृष्ट सुपात्र को दान देने या दान दिलाने की भावना करने का सुफल !

उत्कृष्ट सुपात्र न मिलने पर मध्यम व जघन्य सुपात्र को भी

परन्तु एक प्रश्न है कि ऐसे उत्कृष्ट सुपात्र संयमी मुनि का योग तो प्रतिदिन मिलना कठिन है, क्योंकि साधु-साध्वी तो किसी एक गाँव में बिना किसी कारण के चातुर्मास के चार मास सिवाय, शेष काल में २९ दिन से अधिक रुकते नहीं हैं। और भारतवर्ष में अनेक ऐसे क्षेत्र भी हैं, जहाँ साधु-साध्वियों का विचरण और पदार्पण नहीं होता। ऐसी दशा में इस अतिथिसंविभाग व्रत का अभ्यास प्रतिदिन नियमित कैसे हो सकता है ? इस शंका के समाधान हेतु आचार्यों ने बताया कि श्रावक को उत्कृष्ट सुपात्र न मिलने पर मध्यम या जघन्य सुपात्र को भी शुद्धभावना से अपने साधनों का दान देना चाहिए।

भगवतीसूत्र (शतक २, उद्दे० ५) में तुंगिया नगरी के श्रावकों का वर्णन करते हुए बताया है कि उन श्रावकों के घर के द्वार खुले रहते थे, वे बहुत-सा आहार-पानी तैयार कराते थे और बहुत से लोगों को देते थे। बहुत-से दासी-दास, गाय, बकरी आदि पशुओं का पालन होता था। वे श्रावक होकर भी अनुदार या कृपण नहीं थे। कई मध्यम व जघन्य सुपात्रों को भी वे आहार-पानी देते थे। वे समझते थे कि इस प्रकार आहार-पानी का दान मुक्तहस्त से देने पर कदाचित् मुनिवर भी हमारे यहाँ पधार जाएँ।

बारहवें व्रत का श्रेष्ठतम आदर्श तो उत्कृष्ट सुपात्र श्रमण निर्ग्रन्थों को अपने नियमानुसार प्रासुक-ऐषणीय आहारादि देना है। ऐसे निस्पृह महात्माओं को विधिवत् दान देने का फल महान् है। लेकिन व्रत की नियमित आराधना के लिए ऐसे मुनिराजों का योग न मिलने पर मध्यम एवं जघन्य सुपात्रों को भी देना चाहिए। ऐसे उत्कृष्ट सुपात्र का योग तो उन्हीं को मिल सकता है, जिनके घर के द्वार अभंग (खुले) रहते हैं। यानी दान के लिए किसी के वास्ते द्वार बन्द नहीं है। सभी अतिथियों के लिए खुले हैं। भारतीय संस्कृति में अतिथि सत्कार की भावना बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। यहाँ की संस्कृति का महान् सूत्र है—'**अतिथिदेवो भव**' अतिथि तुम्हारे लिए देव हो। अतिथि को देव या अपने सहोदर के समान मान कर उसके साथ वात्सल्य व्यवहार किया जाता था। परन्तु आज लोग इस संस्कृति को भूलते जा रहे हैं।

जो व्यक्ति इस प्रकार की कृपणता धारण कर लेता है कि साधुओं के सिवाय अन्य किसी को देना व्यर्थ है, पाप का कारण है, वे लोग प्रतिदिन अतिथिसंविभाग व्रत का नियमित पालन कैसे कर सकेंगे ? इसलिए जैसे दूसरे पक्षियों के लिए ज्वार के दाने डालने पर कदाचित् उन पक्षियों के साथ-साथ उड़ता-उड़ता राजहंस भी आ जाता है, वैसे ही मध्यम और जघन्य सुपात्रों को देते रहने और अपने द्वार अभंग

रखने से कदाचित् मुनिरूपी राजहंस भी आ सकते हैं। अतः श्रावक मध्यम सुपात्र स्वधर्मी बन्धुओं को माने और जघन्य सुपात्र सम्यक्त्वी या मार्गानुसारी को माने; तथा पूर्वोक्त प्रकार से शुद्ध भावना से उनके ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप धर्म में वृद्धि करने, धर्म-भावना बढ़ाने की दृष्टि से इन दोनों मध्यम-जघन्य सुपात्रों को भी दान दे।

सुपात्र संस्थाओं को दान : एक चिन्तन

जो सुपात्र संस्थाएँ हों, या सार्वजनिक सेवा संस्थाएँ हों, वे भी मध्यम सुपात्र हैं। वे भी अतिथि हैं, एक तरह से। उन संस्थाओं को पोषण देना भी श्रावक का कर्तव्य है। वे संस्थाएँ भी प्रतिदिन श्रावक के द्वार पर माँगने नहीं आतीं, किन्तु कभी साल में एकाध बार आप से अपील करती हैं। उन संस्थाओं को श्रावक की ओर से यथाशक्ति यथायोग्य दान मिलना चाहिए। ऐसी लोकोपकारी सार्वजनिक संस्थाओं से अनेक लोगों की सेवा होती है, उन्हें आवश्यकतानुसार ऐसी संस्थाओं द्वारा सेवा दी जाती है। जैसे चिकित्सालय, धर्मस्थानक, विद्यालय, धर्मशाला, साधर्मी सेवा-संस्था, सार्वजनिक सेवा संस्था आदि संस्थाएँ औषधदान, विद्यादान, धर्म क्रिया करने आदि के लिए उपयुक्त, स्थानदान आदि कई प्रकार से लोकोपयोगी सार्वजनिक सेवा करती हैं। उन्हें तन-मन-धन से यथाशक्ति सहयोग देने में श्रावक को तनिक भी हिचकिचाना नहीं चाहिए। इन संस्थाओं के माध्यम से कई कार्यकर्ताओं जनसेवकों आदि का निर्माण होता है। साथ ही निर्धन, निर्वस्त्र, निःसहाय, अपाहिज, एवं दीन-हीन, विपदग्रस्त लोगों की आवश्यकताओं की भी पूर्ति होती है। उन्हें इन संस्थाओं के माध्यम से नीति-धर्म की प्रेरणाएँ भी प्रायः मिलती रहती हैं। कई संस्थाएँ त्यागी निस्पृह मार्गदर्शक साधु-साध्वियों द्वारा प्रेरित होती हैं। उनके माध्यम से भी अनेक लोगों को आत्मकल्याण का सन्मार्ग मिलता रहता है।

मध्यम और जघन्य सुपात्रों के लिए भी संविभाग

मैं पहले बता चुका हूँ कि उत्कृष्ट सुपात्र के न मिलने पर श्रावक को हाथ पर हाथ धर कर बैठे नहीं रहना चाहिए। उसे अपनी भावना तो उत्कृष्ट सुपात्र को देने की रखनी ही चाहिए और अपनी किसी चीज का उपयोग करने से पहले उन उत्कृष्ट सुपात्रों के योग्य कल्पनीय वस्तु आहार, वस्त्र, औषध आदि वस्तुएँ उन्हें देने की भावना प्रबल रूप से मन ही मन करनी चाहिए।

भगवान् महावीर का एक श्रावक था—जीर्ण सेठ। वह अपने यहाँ आहार निष्पन्न होने के बाद प्रतिदिन ऐसी भावना किया करता था कि भगवान् महावीर मेरे यहाँ आहार के लिए पधारें और इस आहार में से लेकर मुझे प्रतिलाभित करें। वह प्रतिदिन प्रतीक्षा किया करता था, कि प्रभु मेरे यहाँ भिक्षा के लिए पधारें। परन्तु चार मास के बाद जब पारणे का दिन आया तो भगवान् महावीर अनायास ही उसी नगर के निवासी पूर्ण सेठ के यहाँ आहार के लिए पधार गए, हालांकि उसके यहाँ उन्हें रूखा-सूखा आहार मिला, और वह भी तिरस्कारपूर्वक, जो कि स्वयं सेठ ने न

देकर अपनी दासी के द्वारा दिलवाया था। फिर भी भगवान महावीर ने तो समभाव से वह आहार ले लिया, किन्तु उधर जीर्ण सेठ आहार देने की भावना ही करता रहा, आहार न दे सका, इसका पश्चात्ताप उसे हो रहा था। केवल इसी प्रबल भावना के फलस्वरूप उसने महान् पुण्योपार्जन कर लिया।

परन्तु जीर्ण सेठ व्रतधारी था, इसलिए वह अन्य सुपात्रों को भी आहारादि उनकी आवश्यकतानुसार यथायोग्य देता था। वह कृपण नहीं, उदार था। दूसरों की भलाई से सम्बन्धित कार्यों के प्रसंग पर वह आरम्भ-समारम्भ होने या दूसरी किसी बात का बहाना लेकर बचने का प्रयत्न नहीं करता था। बल्कि वह जनहित का भी वैसा ही ध्यान रखता था, जैसा ध्यान अपने कुटुम्ब के हित का रखता था। बल्कि प्राचीन काल के श्रावकों की तरह दूसरों की भलाई के लिए अपने खर्च में कटौती कर लेता था, अपने आपको कष्ट में डाल देता था।

वास्तव में ऐसे ही श्रावक अपना आत्मकल्याण करने के अतिरिक्त अपने धर्म को भी जगत में प्रशंसनीय, देदीप्यमान बना देते हैं। अपने देश का भी सुनाम कराते हैं। ऐसे विवेकी श्रावक शासक और जनता दोनों के आदरणीय बन जाते हैं।

आनन्द श्रमणोपासक का वर्णन आपने सुना होगा। उपासकदशांग में उसका वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

आनन्द श्रावक बहुत से राजा, राजेश्वर, कोतवाल, माडम्बिक, कौटुम्बिक, सेठ, सेनापति, सार्थवाह आदि के कार्य में, कारण में, मन्त्र (परामर्श) में, कुटम्ब-व्यवस्था में, गुप्त विचारों में, रहस्यमय बातों में, किसी बात के बारे में निर्णय करने में, व्यवहार के सम्बन्ध में उससे एक बार ही नहीं, बार-बार पूछा जाता था। वह नगर जनों का मेढ़ीभूत, प्रमाणभूत, आधारभूत, आलम्बनभूत, चक्षुभूत—यानी मार्ग-दर्शक था और समस्त सत्कार्यों में भाग लेता था। अगर आनन्द श्रमणोपासक अनुदार और कृपण होता तो वह समाज और नगर में इतनी प्रतिष्ठा कैसे प्राप्त कर सकता था ?

यही कारण है कि भगवान् महावीर ने अतिथिसंविभागव्रत पालन के माध्यम से श्रावक को उदार, धर्मात्मा और परमार्थ दृष्टि होना बताया है।

भगवान् महावीर का एक प्रतिष्ठित श्रावक था—पूणिया। वह अपने हाथ से सूत की पूनियाँ बनाता था और अपनी आवश्यकतानुसार न्याय-नीतिपूर्वक धनोपार्जन करता था। वह इतना सन्तोषी था कि अधिक संग्रह नहीं करता था, कमाता भी उतना ही था, जितनी उसे जरूरत थी। उसमें एक विशेषता थी कि अतिथिसंविभाग-व्रतधारी होने के कारण वह उत्कृष्ट सुपात्र को दान देने की प्रतिदिन भावना किया करता था, किन्तु उत्कृष्ट सुपात्र का योग मिले या न मिले, उसका नियम था कि मैं प्रतिदिन स्वधर्मी बन्धुओं को भोजन कराऊँगा, चाहे एक को ही कराऊँ। घर में

पति-पत्नी दो प्राणी थे। पूणिया को धर्मपत्नी भी वैसी ही उदार, सहिष्णु और धर्म-परायण मिली थी। दोनों में से एक दिन पूणिया उपवास करता और एक दिन उसकी धर्मपत्नी उपवास करती। वे अपने-अपने भाग का बचा हुआ भोजन उत्कृष्ट सुपात्रों को दे देते, तथा वैसा योग न मिलता, तो वे मध्यम सुपात्रों को तो भोजन अवश्य कराते थे। इस प्रकार पूणिया अतिथिसंविभागव्रत का पालन करता था।

अतः अतिथिसंविभागव्रती को प्रतिक्षण सुपात्रदान देने की भावना जाग्रत रखनी चाहिए। साधु-साध्वियों का योग न मिलने पर भोजन के समय तथा अन्य अवसरों पर अपने स्वधर्मी भाई-बहनों को स्मरण कर लेना चाहिए। अपने गाँव या नगर में या धर्मसंघ में कोई भाई-बहन हो तो उसको यथाशक्ति उचित सहायता देनी चाहिए। अगर भोजन करने से पहले किसी न किसी योग्य सुपात्र को देने का नियम ले लिया जाय तो उस श्रावक का जीवन धर्मध्यान से ओतप्रोत हो सकता है, दूसरों के कल्याण के साथ वह स्वकल्याण भी आसानी से कर सकता है। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने अतिथिसंविभागव्रत की व्यापक व्याख्या करते हुए कहा है—'अतिथियों (उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य) को चार प्रकार का आहार, पात्र, वस्त्र, और मकान देना अतिथिसंविभागव्रत कहलाता है।'[1]

सुपात्रों की श्रेणी के अनुसार यथायोग्य दान

यथासंविभागव्रत से एक और अर्थ अभिव्यक्त होता है कि श्रावक के द्वारा सभी प्रकार के सुपात्रों के लिए यथायोग्य दान या संविभाग करना यथासंविभाग है। उत्कृष्ट सुपात्र के योग्य कौन-सा दान है, मध्यम सुपात्र के योग्य कौन-सा है और जघन्य सुपात्र के योग्य कौन-सा दान है ? इस बात का विवेक किये बिना ही श्रावक सबको धन ही धन दिया करे तो क्या वह यथासंविभाग कहलाएगा ? कभी नहीं। उत्कृष्ट सुपात्र तो धन के त्यागी होते हैं, उन्हें धन की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसीलिए यथासंविभागव्रत के द्वारा यह स्पष्ट सूचित कर दिया है कि श्रावक का कर्तव्य है कि वह सभी प्रकार के अतिथियों—सुपात्रों को दान देने के लिए अपने घर का द्वार खुला रखे और विवेकपूर्वक सबके लिए यथायोग्य संविभाग करे।

अपने धन का यथायोग्य संविभाग भी करे

इसके अतिरिक्त 'यथासंविभागव्रत' का एक और विशिष्ट अर्थ भी निकलता है जिसके अनुसार यह ध्वनित होता है कि श्रावक अत्यन्त वृद्ध हो जाने पर अपने जीते-जी अपनी सम्पत्ति या प्राप्त साधनों का केवल अपने परिवार के लिए ही नहीं, अपने समाज के लिए या किसी सार्वजनिक संस्था के माध्यम से सबके लिए यथायोग्य हिस्सा निकालकर संविभाजन करे। श्रावक यह निश्चित समझ ले कि सम्पत्ति मेरे

---

१ 'दानं चतुर्विधाऽहारपात्राच्छादनसद्मनाम्।
अतिथिभ्योऽतिथिसंविभागव्रतमुदीरितम्॥' —योगशास्त्र ३/८७

साथ परलोक में आने वाली नहीं है तथा परिवार में मेरे पुत्र कमाने लायक हो गए है, तब भी उस सम्पत्ति के प्रति ममत्व रखकर वह सारी की सारी सम्पत्ति अपने लिए या अपने परिवार के लिए संचित करके न रखे, अपितु परिवार निर्वाह के लिए अमुक हिस्सा रखकर बाकी की समस्त सम्पत्ति के यथायोग्य हिस्से करके उचित सार्वजनिक सर्वहितकारी कार्यों में लगा दे।

अमेरिका के धनकुबेर कार्नेगी ने संचित धन को अपने पीछे छोड़ जाने को अपराध बताते हुए कहा है—"कोई आदमी धन कमा कर मर जाय और हरामखोरों के लिए लड़ने और खाने को छोड़ जाय—इससे बड़ा गुनाह और कोई नहीं। मैं कसम खाकर कहता हूँ कि अपनी जिन्दगी में ही मैं अपने सारे धन को परोपकार में लुटा दूँगा।"

आनन्द आदि यथासंविभागव्रती श्रमणोपासकों ने जब देखा कि अब हमारी उम्र पक गई है, वृद्धावस्था आ पहुँची है, पुत्र सयाने और गृहभार सँभालने में कुशल हो गए हैं तो अपने समाज के एवं कुटुम्ब के सभी प्रतिष्ठित व्यक्तियों को बुलाकर उनकी उपस्थिति में अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार सौंपकर तथा अपनी सम्पत्ति का यथोचित वितरण करके निश्चिन्त हो गए और श्रावक प्रतिमा अंगीकार कर ली, अपने आजीविकादि कार्यों से निवृत्त हो गए, एकमात्र धर्माराधना एवं परोपकार के कार्यों—जनसेवा कार्यों में ही अपना जीवन बिताने लगे।

कितना अनूठा और उच्च आदर्श था श्रावकों के जीवन का वह! इस उच्च आदर्श की परम्परा जब गृहस्थ श्रावक अपने जीवितकाल में डाल देते थे, तब उनके पुत्र-पौत्र भी उसी आदर्श का अनुकरण करते थे। कितनी सुन्दर प्रेरणा वे श्रावक अपने पीछे आने वाली पीढ़ी के लिए छोड़ जाते थे। वे जीवन के सन्ध्याकाल में भोगों के कीड़े बनकर आरम्भ और परिग्रह में डूबे नहीं रहते थे, बल्कि गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी यथासंविभाग करके जल-कमलवत् निर्लेप रहते थे। और धर्माराधना एवं आत्मसाधना करते हुए अपना शरीर हँसते-हँसते पण्डितमरणपूर्वक छोड़ देते थे।

निष्कर्ष यह है कि यथासंविभागव्रती को अपने जीवन के सन्ध्याकाल में अपने गार्हस्थ्य एवं व्यवसायादि का समस्त भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंपकर तथा अपनी समस्त सम्पत्ति का परिवार एवं समाज आदि के लिए यथायोग्य संविभाजन कर देना चाहिए। यही इस बारहवें व्रत का आदर्श है।

राजप्रश्नीय सूत्र में वर्णन है कि राजा प्रदेशी ने केशीकुमार श्रमण से प्रतिबोध पाकर श्रावकव्रत अंगीकार करने के बाद यह संकल्प किया था कि "मैं अपने राज्य की समस्त आय के अनुसार अपनी सम्पत्ति के चार विभाग करूँगा। एक भाग राज्य-संचालन कार्य में, एक भाग परिवार निर्वाह के लिए, एक भाग कोष में और एक भाग दानशाला में व्यय किया करूँगा, जिससे श्रमण, माहण आदि पथिकों और अतिथियों को उनके जीवनयापन के लिए आवश्यक वस्तुएँ मिला करें।" इसके बाद प्रदेशी

राजा ने अपने अन्तिम जीवन में सम्पत्ति के इस प्रकार चार विभाग करके धर्माराधना में अपना शेष जीवन लगा दिया। आनन्द, कामदेव, राजा प्रदेशी आदि के जीवन यथासंविभागव्रत के आदर्श उदाहरण हैं।

भारतीय धर्म एवं संस्कृति में पहले से बहुत-से मनीषी अपने जीवन के सन्ध्या-काल में अपनी सम्पत्ति का यथायोग्य विभाजन कर देते थे। कई लोग अपनी सम्पत्ति के उचित वितरण के लिए एक वसीयतनामा समाज के नाम लिख जाते थे।

प्रसिद्ध साहित्यकार एवं दैनिक 'मराठा' के सम्पादक आचार्य प्रह्लाद केशव अत्रे अपने पीछे एक उदार वसीयतनामा लिख गये हैं। अपनी लाखों रुपयों की सम्पत्ति का उचित उपयोग हो, इस इच्छा से प्रेरित होकर अत्रे ने काफी दिनों से विचार कर लिया कि मेरे परिवार के उत्तराधिकारी सदस्यों को तो अपनी सम्पत्ति का वही भाग देना चाहिए, जो उनके लिए आवश्यक हो। जो सम्पत्ति बिना परिश्रम के प्राप्त हो जाती है, जिसमें पसीना नहीं बहाना पड़ता, उसके व्यय के समय भी प्रायः विवेकशीलता से काम नहीं लिया जाता और थोड़े ही समय में लाखों की सम्पत्ति चौपट कर दी जाती है। आचार्य अत्रे के विशाल हृदय एवं व्यापक दृष्टिकोण के कारण उनका परिवार अपने भाई-भतीजे और पत्नी तक ही सीमित न था। वह सम्पूर्ण वसुधा को एक कुटुम्ब मानते थे। अतः उस कुटुम्ब के सदस्यों की सहायता करना प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक कर्तव्य होना चाहिए, इसी भावना ने उन्हें विवश कर दिया कि जीवनभर की संचित पूँजी केवल अपने ही कहे जाने वाले पारिवारिक सदस्यों पर खर्च न की जाय, वरन् उसका बहुत बड़ा भाग उन लोगों पर खर्च किया जाय, जिन्हें सचमुच आवश्यकता है।

आचार्य अत्रे ने अपने वसीयतनामे में स्पष्ट लिखा है—"मुझे कोई भी पैतृक सम्पत्ति प्राप्त नहीं हुई थी। मैंने अपने परिश्रम से ही सारी सम्पत्ति अर्जित की है, जिस पर मेरा अधिकार है। मैंने जो प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी बनाई है, उसमें भी किसी का नाम नहीं है। अतः मैं अपनी सम्पत्ति महाराष्ट्र की जनता को सौंपता हूँ।"

इस प्रकार आचार्य अत्रे ने महाराष्ट्र की जनता हेतु लगभग ५० लाख रुपये का दान दे दिया। श्री एस. ए. डांगे, डी. एस. देसाई, बैंकिंग विशेषज्ञ श्री वी. पी. वरदे तथा अपने निजी मित्र रावसाहब कलके को ट्रस्टी बना दिया। वसीयतनामे में उन्होंने यह इच्छा भी प्रगट की है कि 'मराठा' और 'सांज मराठा' का एक कर्मचारी भी ट्रस्टी रखा जाए, जिसका सेवाकाल दश वर्ष से कम न हो।'

शिक्षा प्रेमी अत्रे ने अपने गाँव के स्कूल के लिए ५ हजार रुपये के दान की तथा पूना विश्वविद्यालय में मराठी लेकर बी. ए. में उच्च अंक प्राप्त करने वाले छात्रों को पाँच हजार रुपये के पुरस्कार की व्यवस्था की है। लाखों रुपयों की सम्पत्ति की देखभाल के लिए प्रत्येक ट्रस्टी को काफी समय देना होगा, यह सोचकर उन्होंने दो ट्रस्टियों को पाँच-पाँच सौ रुपये प्रतिमास वेतन लेने का वसीयत में लिखा है, तथा

अन्य ट्रस्टी मार्ग-व्यय तथा दैनिक भत्ता प्राप्त कर सकते हैं। ट्रस्टीज को एक दैनिक अंग्रेजी पत्र का प्रकाशन शुरू करने का अनुरोध भी किया है।

डा० अत्रे ने वसीयत में अपनी पत्नी को सिर्फ ५०० रुपये मासिक और तीन नौकर रखने की सुविधा दी है। भाई को कुछ रुपये प्रतिमास तथा बहन को भी मासिक वृत्ति देने की व्यवस्था की है। अपनी समृद्ध पुत्रियों को कुछ भी नहीं दिया है।

अपनी पत्नी को अपने निवासस्थान 'शिव-शक्ति' के केवल एक भाग में रहने का अधिकार दिया। कुछ भाग को अतिथिगृह बना दिया, तथा सुभाष हॉल को सांस्कृतिक कार्यक्रमों के लिए सुरक्षित रख दिया।

इस प्रकार उदारमना डॉ० अत्रे ने अपनी सम्पत्ति महाराष्ट्र की जनता के कल्याण हेतु सौंपकर पूँजीपतियों के सम्मुख एक अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत कर दिया है।

वास्तव में, आदर्श श्रावक को भी यथासंविभागव्रत के इसी आदर्श का अनुसरण करना चाहिए।

शंका और समाधान

कई लोगों का यह कहना है कि श्रावक के बारहवें व्रत का पालन पंचमहाव्रती साधु-साध्वियों को आहारादि देने से ही हो सकता है। इसमें महाव्रती साधु-साध्वियों के सिवाय अन्य को दान देने का विधान नहीं है, बल्कि उपासकदशांग सूत्र में अन्यतीर्थिकों को आहारादि देने का निषेध स्पष्टतः प्रतीत होता है।

इसका समाधान यह है कि बारहवें व्रत का एकान्ततः यह उद्देश्य नहीं है। केवल मुनि महात्माओं को दान देना ही इस व्रत का उद्देश्य नहीं, बल्कि श्रावक के जीवन को उदार एवं विशाल बनाना है। जीवन-निर्वाह के लिए भोजन आदि जो आवश्यक साधन हैं, उनमें भी जब श्रावक दूसरे के लिए विभाग करता है, तब ऐसी कौन-सी वस्तु हो सकती है, जिसमें श्रावक अन्य के लिए संविभाग न करे। यह कितना अनर्थकर है उस श्रावक के लिए कि जिसके अभाव में दूसरे व्यक्ति कष्ट पाएँ, टुकुर-टुकुर देखते रहें और वह व्यर्थ ही उन्हें ताले में बंद करके रखे। श्रावक की वृत्ति तो ऐसी होनी चाहिए कि वह दूसरों को कष्ट में, विपत्ति में देखकर उसे अनुकम्पापात्र समझकर जो कुछ भी अपने पास हो, उस पदार्थ से ममता छोड़कर दूसरों को दे दे।

उपासकदशांग सूत्र में जो आनन्द श्रावक के सन्दर्भ में अन्यतीर्थिक लोगों को आहारादि देने का निषेध किया है, वह गुरु-बुद्धि से देने का निषेध है, अनुकम्पा-बुद्धि से या व्यवहार-बुद्धि से देने का निषेध नहीं है। श्रावक इतना अनुदार एवं स्वार्थी नहीं हो सकता कि दूसरे धर्म-सम्प्रदाय के साधु-सन्त या कोई भक्त, गृहस्थ उसके यहाँ आ जाएँ तो वह आहार आदि न दे, किन्तु यहाँ जो आहारादि देने का निषेध है, वह

सिर्फ गुरुबुद्धि से यानी उन्हें गुरु मान कर देने का निषेध है, अन्य बुद्धि से शास्त्र में कहीं भी देने का निषेध नहीं है। यही कारण है कि वहाँ गुरुबुद्धि से वन्दना, आदरसत्कार, बहुमान आदि का निषेध है, शिष्टाचार की दृष्टि से नमस्कार का निषेध नहीं है। शिष्टाचार की दृष्टि से तो श्रावक अपने से बड़े-बूढ़े गाँव के किसी भी धर्म जाति के व्यक्ति या किसी सरकारी अधिकारी, मंत्री आदि को नमस्कार करता है, भोजन भी खिलाता है। झगडूशाह, खेमाशाह, आदि जैन श्रावकों ने तो दुष्काल के समय अपने अन्न के भण्डार सबके लिए खोल दिये थे। वे अपना संग्रह भी सार्वजनिक मानते थे। वे धन के दास नहीं, धन के स्वामी बन कर रहते थे। अतः श्रावक का कर्तव्य है कि उसके पास जो भी साधन हैं, उनका सबके लिए वह यथायोग्य संविभाग करे।

बारहवें व्रत के पाँच अतिचार

शास्त्रकारों ने अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतिचार (दोष) बताए हैं, जिनसे बचना श्रावक के लिए आवश्यक है। वे पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—(१) सचित्त निक्षेपण, (२) सचित्तपिधान, (३) कालातिक्रम (४) परव्यपदेश (५) मात्सर्य।

(१) **सचित्त-निक्षेपण** अतिचार तब होता है, जब श्रावक अपने अविवेक या कृपणता आदि अन्य कारणवश अचित्त वस्तु, जो कि कल्पनीय, एषणीय एवं मुनियों के लिए ग्राह्य है, उसमें सचित्त वस्तु मिला देता है या उस अचित्त वस्तु के निकट सचित्त वस्तु डाल देता है। गृहस्थ श्रावकों की दृष्टि से या जो जघन्य सुपात्र हैं, उनकी दृष्टि से यह अर्थ हो सकता है, खाने-पीने की अचित्त एवं ग्राह्य वस्तु में कीड़े या जीव-जन्तु पड़े हों, फूलण, काई आदि जम गई हो, टालने की दृष्टि से ऐसा किया जाए तो वह अतिचार है।

(२) **सचित्तपिधान** अतिचार तब होता है, जब श्रावक टालमटूल करने की दृष्टि से अचित्त पदार्थ पर सचित्त पदार्थ ढाँक देता है। श्रावक या जघन्य सुपात्र की दृष्टि से इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि ग्राह्य अचित्त आहारादि पर मक्खी-मच्छर आदि सचित्त जीवों को इस प्रकार से भिनभिनाते हुए आच्छादित होने देना कि लेने वाला घृणा करके उस वस्तु को लेने से इन्कार कर दे। या फूलन आदि उठा कर इस प्रकार से ढक देना, ताकि उस बहाने से लेने वाला बिदक कर ले नहीं।

(३) **कालातिक्रम** अतिचार दो-तीन तरह से होता है। श्रावक अतिथि को आहार आदि देने का जो समय है, उसे टाल देता है, अतिथि को आहारादि न देना हो, तब टालमटूल कर देता है कि अभी तो भोजन बना नहीं है, अथवा यह कोई समय है भोजन का ? अब तो भोजन निपट चुका है।

(४) **परव्यपदेश** अतिचार तब होता है, जब श्रावक कृपणता या द्वेष आदि वश अपनी चीज दूसरे की बताकर अतिथि को खाली हाथ लौटा देता है अथवा इसका

एक रूप परोद्देश्य भी होता है, जबकि श्रावक यह संकल्प करता है कि इस दान का फल मेरे भाई, माता-पिता आदि को मिले।

(५) **मात्सर्य** अतिचार तब होता है, जब श्रावक दूसरे को दान देते देख कर होड़ पर उतर आता है, और प्रतिस्पर्धा की भावना से अतिथि को दान देता है, अपने मुँह से बड़ाई भी करता है कि 'वह क्या ऐसी चीज आपको दे सकता है? मैं उससे बढ़कर दानी हूँ।'

ये पाँच अतिचार उत्कृष्ट सुपात्र को देते समय हो सकते हैं, वैसे मध्यम एवं जघन्य सुपात्र व्यक्ति या संस्था को देते समय भी हो सकते हैं। मनुष्य में जब कृपणता लोभवृत्ति या ईर्ष्या-द्वेषवृत्ति जागती है, तब या तो वह स्वयं दान देने में टालमटूल करता है, बहानेबाजी करता है, इससे भी आगे बढ़कर कई लोग दूसरों को दान देने से भी रोक देते हैं, परिवार वालों को या दूसरों को दान देते देखकर कुढ़ते रहते हैं, या दान देकर दुःखी होते हैं, इस प्रकार की मनोवृत्ति से दानान्तराय कर्म का बन्ध हो जाता है और अतिथिसंविभागव्रत भी दूषित या भंग हो जाता है।

इस प्रकार के श्रावक जो अपनी कृपणता और लोभवृत्ति छिपाकर प्रकट में उदार एवं शिष्ट बने रहने के लिए इन्कार तो नहीं करते किन्तु अतिचारों में वर्णित कार्यों का आचरण करते हैं, वे अपने व्रत को तो दूषित करते ही हैं, साथ में माया-चार भी करते हैं।

अतः श्रावक को अत्यन्त उदार एवं व्यापक दृष्टि अपनाकर अपने प्राप्त साधनों का यथायोग्य संविभाग करके इस व्रत की सम्यक् आराधना करनी चाहिए।

☆

7

संलेखना : अन्तिम समय की अमृत-साधना

✡

मृत्यु समग्र जीवन का निचोड़ है। साधक की जीवन भर की साधना की परीक्षा मृत्यु के अवसर पर होती है। मृत्यु यदि समाधिपूर्वक प्रसन्नता से होती है, आत्म-शुद्धिपूर्वक होती है तो समझ लो, साधक इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ, किन्तु यदि अन्तिम समय (मृत्यु बेला) में व्यक्ति हाय-हाय करता है, रोता-बिलखता है, अपनी मानी हुई सजीव या निर्जीव वस्तुओं से वियोग की सम्भावना से चिन्तित, भयभीत, आतंकित एवं व्यथित होकर आर्तनाद करता है, आर्त-ध्यान करता है तो समझिए कि वह साधक अपनी साधना के अभ्यास में कच्चा (अपरिपक्व) होने के कारण अनुत्तीर्ण (फेल) हो गया। उसके चेहरे पर मरने का रंज होता है। वह अपनी मृत्यु के लिए स्वयं के आयुष्य बल को महत्त्व न देकर अन्यान्य निमित्तों को कोसता है। प्रसन्नता के बदले गमगीनी छा जाती है। मृत्यु के समय समाधि के स्थान पर असमाधि, चिन्ता, रंज, बेचैनी, दुःख, शोक, मोह आदि ही प्रायः अधिक होते हैं। आत्मशुद्धि के बजाय काम, कामना, मोह, भय, शोक या क्रोधादि कषाय वगैरह विकारों के कारण आत्मा को और अधिक अशुद्ध बना लेता है। किसी साधक ने जिंदगीभर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना की, सबसे अच्छा व्यवहार रखा, सरलता और सादगी अपनाई, कषायों की मन्दता रही, किन्तु जीवन की सन्ध्या के समय मृत्यु बेला में—इस लोक से विदा होने के समय में बाजी बिगाड़ ली, कषायों की तीव्रता आगई, तृष्णा बढ़ गई, शरीर पर अथवा शरीर से सम्बन्धित स्वजनों, प्रियजनों, प्रिय पदार्थों आदि के प्रति मोह-ममता आ गई, मोहावृत होकर विलाप करने लगा, तो वह अपनी साधना का आराधक नहीं, विराधक है। कई व्यक्तियों के जीवन की बाजी अपने जीवित काल में तो बिगड़ती जाती है। कहीं किसी अप्रिय घटना को लेकर आत्महत्या करने को उद्यत हो जाता है, किसी इष्टजन या प्रिय पदार्थ के वियोग के गम में गले में फाँसी लगाकर मरने को तत्पर हो जाता है। कोई व्यापार या किसी कल-कारखाने में घाटा लग जाने के कारण किसी जलाशय या कुँए में गिरकर या ट्रेन के नीचे कट कर जिंदगी को समाप्त करने की सोचता है। परन्तु ज्यों ही जीवन की सन्ध्या आ घेरती है, मृत्यु की छाया आँखों के सामने आ खड़ी होती है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, सारा शरीर किसी रोग या बुढ़ापे के कारण अत्यन्त जर्जर या अशक्त हो जाता है, तब

एकदम जागृति आती है। धर्म के पूर्व-संस्कारों के कारण उसे अपने जीवन की आलोचना, प्रतिक्रमण, आत्म-निन्दा (पश्चात्ताप), गर्हा आदि करके आत्मशुद्धिपूर्वक आमरण अनशन (संथारा) करने की सुन्दर स्फुरणा उत्पन्न होती है और वह जिंदगी की बिगड़ी हुई बाजी को अन्तिम समय में सुधार लेता है।

चण्डकौशिक सर्प का यही तो हुआ था। वह जिंदगीभर क्रोध, अभिमान और उग्र विष के कारण दूसरों को पीड़ित करता रहा, सताता रहा, स्वयं भी जीवन के खेल को बिगाड़ता रहा, जीवन के खेल में बार-बार हारता रहा, किन्तु जब भगवान् महावीर जैसे क्षमामूर्ति विश्ववत्सल तीर्थंकर का समागम हुआ। चण्डकौशिक ने पहले तो अपनी क्रूरवृत्ति के अनुसार पूर्ववत् उनके अंगूठे में दंश दिया। परन्तु उन्हें अविचल, दृढ़ और निर्भय पाया तो वह विस्मय-विमुग्ध होकर उन्हें टकटकी लगा कर देखने लगा। भगवान महावीर ने उपयुक्त समय जानकर उसे बोध दिया, वह एकदम मोहनिद्रा से जाग उठा। पूर्वजन्म के संस्मरण उसके समक्ष आने लगे, और उसने उसी समय दृढ़संकल्प कर लिया कि "मैं अब कषायों और शरीर को कृश करने की संलेखना क्रिया करके अपनी बाँबी में मुँह डाल लूँगा, किसी को काटूँगा नहीं, बल्कि जो जीव मुझे सताएँगे, काटेंगे, उन्हें भी क्षमा कर दूँगा। समस्त जीवों का मैं अपराधी बना, अब उनसे क्षमा माँगूगा, पुनः अपराध नहीं करूँगा।" बस, सर्प के चोले में, चण्डकौशिक परमक्षमाधारी समभावी साधु-सा बन गया। संलेखना के प्रभाव से समाधिमरणपूर्वक उसने अपना शरीर ममत्वरहित होकर छोड़ा। जिंदगी की हारी हुई बाजी अन्तिम समय में जीत ली।

और यही बात मंखलीपुत्र गोशालक के जीवन में चरितार्थ हुई। वह जीवनभर भगवान महावीर का विरोधी बनकर, साम्प्रदायिक व्यामोह, नाम और प्रतिष्ठा की आसक्ति के चक्र में फँस कर अपनी जिंदगी की बाजी को हारता रहा, हारता रहा, किन्तु अन्तिम समय में उसे हार्दिक स्फुरणा हुई—"तूने यह क्या और किसलिए इतना उखाड़-छाड़ किया ? शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं के लिए ही तो ? आत्मा से इनमें से किसी भी वस्तु का सम्बन्ध नहीं है। आत्मा को तो इनसे कोई लाभ नहीं है, बल्कि शरीर से सम्बद्ध होने के कारण हानि ही हानि है। अतः मुझे अपने जीवन की अन्तिम बाजी को अब हारना नहीं चाहिए।" यह सोचकर गोशालक के मन में भगवान् महावीर के प्रति सद्भावना और श्रद्धा जागी। उसने मन ही मन घोर पश्चात्ताप किया और आत्म-निन्दा करके ही न रह गया, उसने अपने तथाकथित समाज के सामने अपने अपराधों और दोषों को प्रगट (गर्हा) किया, शारीरिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि चलकर उन-उन व्यक्तियों से अपने अपराध के लिए क्षमा माँगता, किन्तु पश्चात्तापपूर्वक हृदय से क्षमायाचना की, और अपने अनुयायियों से कहा कि "मेरा शरीर छूट जाने के बाद इसे बाँध कर इस पर कोड़ों से प्रहार करना, ताकि जनता को मेरे अपराधों और दम्भों का पता लग जाय।" इस प्रकार मंखलीपुत्र गोशालक अन्तिम समय में समाधिमरणपूर्वक इस लोक से विदा हुआ। निष्कर्ष यह

है, गोशालक ने पहले निष्फल हुई जिंदगी अन्तिम समय में सफल बना ली, अपनी बिगड़ी हुई बाजी को सुधार लिया।

एक ओर ज्ञातासूत्र के पृष्ठों पर अंकित नन्दन मणिहार का जीवन हमारे समक्ष है। उसका पूर्वजीवन बहुत ही सुन्दर रहा, श्रावकव्रत धारण करके वह व्रताराधना करता रहा, किन्तु बीच में ही मिथ्यात्व का प्रबल अंधड़ उसके जीवन में आया, और उसी दौरान जब उसने अट्ठम पौषध किया, उसमें उस सुन्दर जीवन को पौषध में अकरणीय संकल्प करके असुन्दर बना दिया। तत्पश्चात् विशाल बावड़ी बनाकर अपने नाम और प्रतिष्ठा के व्यामोह में तथा रुग्ण शरीर के प्रति मोहममत्व में ऐसा फँसा कि अन्तिम समय में अपनी बनाई हुई बावड़ी एवं उसके कारण मिलने वाली गाढ़ प्रतिष्ठा में आसक्त मूर्च्छित होकर जीवन की बाजी हार गया। इतने दान और परोपकार के साथ प्रशंसा की भूलभुलैया में पड़कर तथा शरीर और शरीर से सम्बद्ध पदार्थों के प्रति मोह-ममत्व में फँसकर नन्दन अपना अन्तिम समय न सुधार सका, संलेखना-संथारा करके समस्त मोहमाया से रहित होकर समाधिपूर्वक मृत्यु को अंगीकार न कर सका। इसीलिए तो जीवन की बाजी खो दी।

हाँ तो, मैं कह रहा था कि सारे जीवन का लेखा-जोखा, या आँकड़ा मृत्यु के समय मनुष्य के सामने आ जाता है। वही मनुष्य के जीवन की हार या जीत की अन्तिम बाजी है, वही मानव की सफलता-असफलता की अन्तिम कसौटी है, अपने जीवन में पढ़े हुए अच्छे-बुरे पाठ की अन्तिम परीक्षा मृत्यु के समय हो जाती है।

यों तो प्रत्येक मनुष्य की परीक्षाएँ जीवन में कई बार होती है। एक ही जन्म में मनुष्य के सामने कई बार नाना प्रकार की विपत्तियाँ आती हैं, कई बार जीवन में निराशा का घोर अन्धकार छा जाता है, संकट के काले बादल उमड़-घुमड़ कर आते हैं, आधि-व्याधि-उपाधि के रूप में कई बार कष्टों का समूह आता है, कभी व्यवसाय-सम्बन्धी चिन्तामुक्त स्थिति के, आर्थिक तंगी के या इष्टजन या प्रिय पदार्थ के वियोगजन्य प्रसंग उपस्थित होते हैं। कभी कोई आकस्मिक दुर्घटना हो जाती है, वृद्धावस्था में शरीर एकदम अशक्त या शिथिल हो जाता है, अथवा किसी भयंकर रोग का शिकार हो जाता है। ये सब वेदनाएँ, आपत्तियाँ, संकट, दुःख या निराशाएँ मनुष्य के जीवन की बार-बार परीक्षा लेने के लिए आती हैं। इन सब परीक्षाओं में ज्ञानपूर्वक या अज्ञानपूर्वक, वास्तविक स्थिति का समभावपूर्वक सामना करके या परीक्षा में नकल करने वाले विद्यार्थी की तरह असल का बहाना बनाकर औपचारिक रूप से क्रमशः पास हो जाने पर ही आगे की कक्षा में वह प्रविष्ट हो पाता है। किन्तु मृत्यु रूपी परीक्षा तो अन्तिम परीक्षा है। इस परीक्षा में अगर पिछला पाठ कच्चा हो, पहले की परीक्षा में नकल करके पास हुआ हो, या अज्ञानपूर्वक उस कष्ट या आफत को सहकर आगे बढ़ा हो, तो वह परीक्षार्थी फेल हो जाता

है। इस अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण ही वास्तव में जीवन की सर्वांगीण समग्रकला में उत्तीर्ण एवं पारंगत समझा जाता है।

इस पर से समझा जा सकता है कि मृत्यु की कला में जीवन की कला से भी बढ़कर सावधानी एवं दक्षता प्राप्त करनी होती है। जीवन की कला में जीवन पारंगत न होते हुए भी कई साधक दम्भ, दिखावा करके जनता में जीवन-कला विशेषज्ञ के रूप में प्रसिद्धि पा सकते हैं, किन्तु मृत्यु की कला में सिद्धहस्त होने में दम्भ, दिखावा, चालाकी या नकल चल नहीं सकती, मृत्यु के समय तो सभी प्राणियों की कलई खुल जाती है। इसीलिए आध्यात्मिक जगत् में इस अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण साधक उत्तीर्ण और सफल माना जाता है।

प्रदेशी राजा अपने पूर्वजीवन में बाजी पर बाजी हारता जा रहा था। हत्या, अत्याचार, क्रूरता, आदि उसके जीवन में प्रविष्ट हो गए थे। शासक होने का अभिमान भी था। अतः पूर्वजीवन काल में प्रदेशी राजा की जितनी भी परीक्षाएँ हुईं, उनमें वह फेल ही फेल होता रहा, किन्तु जब श्री केशीकुमार श्रमण के सम्पर्क में आकर उसने जीवन और मरण की कला का पाठ पढ़ा, शरीर की नश्वरता और आत्मा की अजर-अमरता का वास्तविक बोध मिला, वह प्रबुद्ध हो गया। अनासक्त भाव से जीवनयापन करने लगा, जीवन और मरण से निरपेक्ष होकर एवं सांसारिक सुख-भोगों से विरक्त होकर वह अपनी साधना में रत हो गया।

इसी दौरान प्रदेशी राजा की साधना की अन्तिम परीक्षा हुई। रानी सूरिकान्ता ने उसे भोगों में लिपटाने की बहुत कोशिश कर ली, जब वह भोगों के सम्मुख न हुआ तो रानी ने अपने मार्ग में काँटा समझकर भोजन में विष-मिश्रण करके राजा प्रदेशी को समाप्त करने का निश्चय कर लिया। राजा ने जब भोजन का ग्रास मुँह में लिया, तभी वह समझ गया कि यह भोजन विषमिश्रित है। उसने रानी को दोष न देकर अपने पूर्वोपार्जित पापकर्मों को ही इसके लिए उत्तरदायी ठहराया। विष ने अपना काम किया ही। राजा ने विषाक्त भोजन करते ही जीवन का अन्त निकट जानकर संलेखना-संथारा अंगीकार कर लिया। न उन्हें जीवन के प्रति मोह रहा, न मृत्यु के प्रति घृणा या शोक! न किसी प्रकार की सांसारिक सुख-भोगों की स्पृहा रही, न अपने किसी स्वजन सम्बन्धी के प्रति आसक्ति या घृणा (राग-द्वेष) मन में आयी। न अपनी साधना के प्रतिफल के रूप में किसी पदार्थ की इच्छा रही। राजा प्रदेशी मृत्यु के साथ हँसते-हँसते खेल खेलते हुए समाधिमरण पूर्वक इस संसार से विदा हुए। सचमुच, राजा प्रदेशी साधना की इस अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। मृत्यु की कला में सफल हुए।

इस प्रकार कई साधक जीवन के पूर्वार्द्ध में जीवन कला में सिद्धहस्त एवं सफल दिखाई देते हैं, किन्तु जीवन के उत्तरार्द्ध में, मृत्यु के निकट आने पर वे उस परीक्षा में असफल हो जाते हैं, जबकि कई साधक जीवन के पूर्वार्द्ध में जीवन कला

में बिलकुल पिछड़े, अज्ञ और पामर-से दिखाई देते हैं, किन्तु जीवन के उत्तरार्द्ध में वे ही लोग सँभल जाते हैं, अपने पिछले अशुभ जीवन की आलोचना, पश्चात्ताप, गर्हा और प्रायश्चित्त द्वारा, तथा कषाय और शरीर की संलेखना की आग में झोंक कर सौ टंच सोने-सा शुद्ध बना लेते हैं और प्रसन्नतापूर्वक समाधिमरण के सहित मृत्यु का सहर्ष आलिंगन करते हैं। वे मृत्यु को पराजित कर देते हैं, मृत्यु उन्हें पराजित नहीं कर पाती अर्थात् वे अपनी अन्तिम परीक्षा में सफल हो जाते हैं।

जैसे सोने की परीक्षा चार प्रकार से होती है—पहले उसे कसौटी पर कसा जाता है, फिर काटा जाता है, फिर उसे आग की आँच में तपाया जाता है और नरम बनाकर उसे पीटा जाता है। इतनी परीक्षाओं में पारित होने पर ही सोना खरा सोना सिद्ध होता है, वैसे ही साधक की परीक्षा भी चार प्रकार से होती है—विविध प्रकार के संकट उसे कसौटी पर कसते हैं, फिर उसके शरीर और शरीर से सम्बन्धित इष्ट एवं प्रिय सजीव-निर्जीव पदार्थों से सम्बन्ध विच्छेद (वियोग) कराया जाता है, तत्पश्चात् उसकी आत्मा को कषायों और विषयों की आग में, राग-द्वेष-मोह की आँच में तपाया जाता है और अत्यन्त विवश व नम्र (नरम) बनाकर उसे पीड़ित किया जाता है, सांसारिक सुख सामग्री या व्यवसाय में आर्थिक हानि के कारण लुट-पिट जाता है। सच्चा साधक साधना की इन परीक्षाओं के दौरान सावधान होकर चलता है और संलेखना-संथारा करके समभाव-समाधिभावपूर्वक मृत्यु का वरण करता है और उक्त महापरीक्षा में सफल होता है, जबकि जीवन-कला के साथ-साथ मृत्यु की कला से अनभिज्ञ, अकुशल साधक इस महापरीक्षा में असफल होता है।

सचमुच आराधना और विराधना की कसौटी मृत्यु ही है। मृत्यु के पैमाने से आराधक और विराधक को नापा जाता है, मृत्यु के समय ही वास्तव में पता लगता है कि अमुक साधक आराधक है या विराधक। यों तो कहने को सभी लोग अपने-अपने मृत पारिवारिक-जनों या साम्प्रदायिक पुरुषों को आराधक कह देते हैं, परन्तु वे आराधक हुए या विराधक इसकी कसौटी तो मृत्युकाल में ही होती है। तभी पता लगता है कि कौन साधक कितने गहरे पानी में है? मृत्यु किसी सम्प्रदाय, जाति, धर्म, कौम, प्रान्त या राष्ट्र के व्यक्ति की परवाह नहीं करती। वह हर एक के पास आती है और कसौटी करके चली जाती है। उस कसौटी पर जो खरा उतरता है, उसे आराधक कहा जाता है, और जो खरा नहीं उतरता, उसे विराधक। जीवन की सन्ध्या के समय टिमटिमाते हुए जीवन-दीपक के बुझने की बेला में जो साधक अपनी बाजी जीत जाता है, मृत्यु उसे आराधक, और जो इस बाजी को हार जाता है, उसे विराधक करार दे देती है।

जीवितकाल की अन्य कसौटियों की अपेक्षा मृत्युकाल की कसौटी बलवती है। जीवितकाल की कसौटी तो आती है और चली जाती है, जबकि मृत्युकाल की कसौटी अन्तिम है, वह आकर सदा के लिए चली जाती है। वह व्यक्ति के दुर्भाग्य या सौभाग्य

का फैसला करके ही जाती है। जीवितकाल में आने वाली कसौटी विपत्ति आदि के रूप में आती है, उसका असर किसी समय अल्पकाल तक तो किसी समय दीर्घकाल तक जीवन में रहता है। किन्तु आराधक पुरुष यदि जीवितकाल में आने वाली विपत्ति और आपत्ति का परम रहस्य समझ ले तो वह उनसे धर्मसम्पत्ति का लाभ प्राप्त कर सकता है और मृत्यु आने से पहले ही धर्मशिक्षा पाकर पूर्व-तैयारी के रूप में अपनी आध्यात्मिक स्थिति सुदृढ़ बना सकता है। इस अपेक्षा से देखें तो संसार में जितनी भी विडम्बनाएँ, मुसीबतें और आफतें हैं, वे सब साधक की परीक्षा करने आती हैं कि वह ऐसे मौके पर क्या करता है ? कौन-सा कदम उठाता है ? आराधक के लिए ये सब कसौटियां बोधदायक हैं, और वह इनसे बोध प्राप्त कर संसार-सागर पार कर जाता है। बाकी के समस्त विराधक जीव तो देह के प्रति ममत्वबुद्धि रखकर, अपने शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं पर मूच्छित-आसक्त होते हुए ही इस लोक से विदा होते हैं।

मृत्यु साधक के लिए जबर्दस्त कसौटी है, इसका अर्थ यह नहीं है कि मृत्यु के समय ही असातावेदनीय कर्म के उदयवश भयंकर दुःख, वेदना पीड़ा सहन करनी पड़ती है, वैसे भयंकर दुःख आदि तो जीवितकाल में भी असातावेदनीयकर्म के उदय से भोगने पड़ते हैं। परन्तु मृत्यु की घड़ियों में आत्मा कितनी शान्ति और समता रख सकता है ? धर्मभावना का कितना सहारा लेता है ? परमात्मा अथवा शुद्ध आत्म देव को कैसा और कितना स्मरण रखता है ? देहत्याग की कसौटी की बेला में देहात्म-बुद्धि कितनी कम है ? इस कसौटी को ही ज्ञानी पुरुष जबर्दस्त कसौटी कहते हैं। यही सफलता और असफलता का मूलाधार है। जीवन की अन्तिम घड़ियों में जब आत्मा शरीर से विदाई ले रहा हो, तब शरीर में आत्मा का उपयोग छूट जाय, समता और शान्ति सुरक्षित रहे तो समझना चाहिए कि इस (मृत्यु की) कठोर परीक्षा में साधक सफल हुआ है, यदि शरीर छूटते समय आत्मा का उपयोग देह-मोहवश देह में चिपटा रहे तो समझ लो इस परीक्षा में साधक निष्फल हुआ है। ऐसे मरण तो अनेकानेक बार हुए हैं, परन्तु उस समय आत्मा का उपयोग 'पर' में ही लीन रहा, इस कारण जन्म-मरण के अनेक चक्कर लगाने पड़े हैं।

यही कारण है कि इस कठोर अग्निपरीक्षा के समय सच्चा साधक सो नहीं सकता, वह प्रतिक्षण सावधान और जागरूक रहता है। यों तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो जिस रात्रि को जीव माता के गर्भ में आता है, उस दिन से वह क्रमशः अबाध-गति से मृत्यु की ओर प्रयाण करता जाता है।[1] जैनशास्त्रों में १७ प्रकार के मरण बताये गए हैं। उनमें से एक आवीचिमरण है, जिसमें प्रतिक्षण आयुष्य के क्षण घटते जाते

---

१ यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति, गर्भे निवासी नरवीरलोकः।
ततः प्रभृत्यस्खलितप्रयाणः स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति ॥ —हितोपदेश

अर्थात् जीव प्रतिक्षण मरता जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष जहाँ प्रतिक्षण होने वाले इस भावमरण (Moral death) के समय सतर्क होकर इसे ज्ञानबल से रोक लेते हैं, वहाँ अज्ञानी पुरुष इस प्रतिक्षणवर्ती भावमरण के प्रवाह में बह जाता है। इसी तथ्य की ओर अध्यात्मयोगी श्रीमद्राजचन्द्रजी ने अंगुलिनिर्देश किया है—

'क्षण-क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो राची रहो ?'

तात्पर्य यह है कि प्रतिक्षण होने वाले भावमरण से ज्ञानी साधक बच कर रहता है। वह इस भावमरण पर विजय पा लेता है। और प्रतिक्षणवर्ती द्रव्य-मरण के समय भी वह सावधान रहता है। वह उसे कोई भी ऐसा चांस नहीं देता कि द्रव्यमरण उस पर हावी हो जाए, उसे पराजित कर दे।

मृत्यु अवश्यम्भावी, किन्तु अनिश्चित

ज्ञानी सम्यग्दृष्टि यह भलीभाँति समझता है कि जो जन्मा है, उसकी मृत्यु एक दिन निश्चित है। जो सूर्य प्रातः उदित होता है, वह सन्ध्या समय अस्त होता ही है, जो फूल खिलता है, वह अवश्य ही मुर्झाता है। इसी प्रकार मृत्यु का आगमन निश्चित है, उससे भागना या छटकना असम्भव है। किसी की न मरने की कल्पना ही आकाश कुसुमवत् असम्भव है। राजा हो या रंक, धनिक हो या निर्धन, सत्ताधारी हो या सत्ता हीन, पुण्यवान हो या पापी, मृत्यु किसी को भी नहीं छोड़ती। वह किसी की भी वशवर्ती नहीं बनती। वह किसी के साथ रियायत या मैत्री नहीं करती। तात्पर्य यह है कि मृत्यु प्रत्येक प्राणी के लिए अनिवार्य है।

इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि "जिस व्यक्ति की मृत्यु के साथ मैत्री हो, अथवा जो मृत्यु से दूर कहीं भाग कर छूट सकता हो, अथवा जिसे यह निश्चय हो जाय कि मैं कदापि नहीं मरूँगा, वह भले ही सुख से सो सकता है।[1] किन्तु ज्ञानी साधक को तो दृढ़ निश्चय होता है कि ये तीनों बातें असम्भव हैं। ये तीनों बातें कदापि हो नहीं सकतीं।

चाहे तीर्थंकर हो, चक्रवर्ती हो, इन्द्र हो, अहमिन्द्र हो, धनकुबेर हो, या और कोई व्यक्ति हो, मृत्यु किसी के साथ दोस्ती नहीं रखती, न किसी के मुलाहिजे में आती है। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने, डॉक्टरों-वैद्यों ने इसे रोकने और टालने के अनेकानेक प्रयत्न कर लिये, लेकिन मृत्यु किसी के रोके नहीं रुकती। जितना-जितना जिस प्राणी का आयुष्य कर्म बँधा हुआ है, उसके क्षीण होते ही मृत्यु निश्चितरूप से आती है। "कोई प्राणी चाहे पाताल में प्रविष्ट हो जाय, चाहे ब्रह्मलोक में इन्द्र के भवन में, समुद्र के गर्भ में, गहन वन-प्रान्त में, दिशाओं की सीमा पर, पर्वत शिखर पर, अग्नि में, वन में, हिमा-

---

१ जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया॥

—उत्तराध्ययन अ० १४, गा. २७

चल में, अंधेरी गुफा में, किले में, भूमि के गर्भ में कहीं चला जाय या छिप जाय, कोई मदोन्मत्त हाथियों झुंड में ही क्यों न छिप जाय, यह क्रूरकर्मा अतिबलवान काल देहधारियों के जीवन को खा जाता है, किसी को छोड़ता नहीं।"[1]

किन्तु मृत्यु का आगमन जितना निश्चित है, उतना ही मृत्यु का समय अनिश्चित है, अनियत है। मृत्यु कब आ धमकेगी, इसका पता सर्व-साधारण मनुष्यों को नहीं होता, इसीलिए विचारक एवं आराधक साधक अप्रमत्त एवं सतर्क होकर पहले से ही शरीर एवं शरीर सम्बन्धित जड़-चेतन पदार्थों के प्रति मोह-ममता से रहित होने का सतत प्रयत्न करते हैं। वे पहले से ही ज्ञान, ध्यान, समाधि और आत्म-शुद्धि के लिए सावधान हो जाते हैं।

कई लोग कहा करते हैं कि वृद्धावस्था तक तो मृत्यु का कोई खतरा नहीं है, परन्तु यह कोरी भ्रान्ति है। अगर बुढ़ापा आने तक मृत्यु का आगमन न होने की गारंटी होती तो ज्ञानी या विचारवान साधक पहले से मृत्यु से सतर्क न रहते। तीर्थंकर सर्वज्ञ पुरुष निश्चित रूप से न कहते—

'मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता, एवं ताय वियाणह॥"

—'यह सारा संसार मृत्यु से आहत है, वृद्धावस्था से परिवारित है, रात्रि अमोघ (निष्फल) कही है। हे तात! ऐसा समझिए।'

काल पहले से चेतावनी या सूचना दिये बिना अकस्मात् आ धमकता है। ज्ञानी पुरुषों के सिवाय प्रायः इस बात का निश्चित ज्ञान पहले से नहीं होता कि मृत्यु कब, किस दिन और किस घड़ी में आएगी? इसलिए बुढ़ापे या अमुक अवस्था (रुग्णता, अशक्ति आदि) के भरोसे रह निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिए कि अभी तो मृत्यु के आने के कोई लक्षण नहीं हैं। इसीलिए सर्वज्ञ आप्तपुरुष सांसारिक-जनों को पुकार-पुकार कर कहते हैं—

"मृत्यु का कोई विश्वास नहीं है कि वह कब, किस क्षण आ जाय? इसलिए हर समय सावधान रहना चाहिए।" जैसे विद्यार्थी को यह निश्चित पता नहीं होता कि उसकी परीक्षा में कौन-कौन से प्रश्न पूछे जाएँगे? किस विषय से सम्बन्धित सवाल होंगे? इसलिए वह पहले से पाठ्यग्रन्थ को अच्छी तरह याद करके तैयार रहता है, ताकि प्रश्नपत्र मिलते ही सही उत्तर लिख सके, वैसे ही अध्यात्म-साधक को पहले से ही अपनी प्रत्येक तैयारी करके उद्यत रहना चाहिए ताकि अकस्मात् किसी भी क्षण

---

१ पाताले, ब्रह्मलोके सुरपतिभवने, सागरान्तर्वनान्ते;
दिक्चक्रे शैलशृंगे गहन-वन-हिम-ध्वान्तवज्रांसि दुर्गे।
भूगर्भे सन्निविष्टे, समदकरिघटासंकटे बाबलीयान्;
कालोऽयं क्रूरकर्मा कवलयति बलाज्जीवितं देहभाजाम्॥

मृत्यु आ जाए तो वह अपनी जीवनभर की हुई साधना की परीक्षा में उत्तीर्ण हो सके।

मृत्यु : कितनी सुखद, कितनी दुःखद ?

यह तो एक सुनिश्चित तथ्य है कि जो व्यक्ति श्रावकधर्म या साधुधर्म की आराधना करता है, मृत्यु के स्वरूप को, उसकी वास्तविकता को समझता है, वह मृत्यु को दुःखद नहीं कह सकता, क्योंकि वह जानता है कि मृत्यु क्या है ? कर्मयोगी श्रीकृष्ण की भाषा में मृत्यु की परिभाषा देखिये—

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥"

—जैसे मनुष्य जीर्ण (फटे-टूटे) वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्र धारण कर लेता है, वैसे ही प्राणी जीर्ण (रोग या बुढ़ापे से जर्जर बने हुए) शरीरों का त्याग करके दूसरे नये शरीरों को प्राप्त करता है।

कोई व्यक्ति किसी के फटे-पुराने वस्त्रों को फिकवा कर नये वस्त्र पहना दे, उसे क्या आप शत्रु समझेंगे या मित्र ? आप उसे मित्र ही कहेंगे। मृत्यु भी मित्र की तरह प्राणी के पुराने चोले को फिकवाकर नया चोला धारण करवाती है। दूसरी बात यह है कि लोग मृत्यु का नाम सुनते ही कांप उठते हैं, घबरा जाते हैं, अगर कोई मृत्यु के सम्बन्ध में विचार करने को कहता है तो कोई ध्यान नहीं देता। क्या मृत्यु इतनी भयंकर है ?

यद्यपि देहान्त के पहले दुःख का वेदन होता है, किन्तु अकस्मात् मृत्यु होती है, तब दम घुटने से अत्यन्त घबराहट होती है, वह कभी तो प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देती है, कभी अप्रत्यक्ष रहती है। वह घबराहट जब अप्रत्यक्ष होती है, उस समय देह छूटने पर सामान्य व्यक्ति कहने लगते हैं—अन्तिम समय में अमुक भाई को बहुत शान्ति थी। रोगग्रस्त देह की वेदना या पीड़ा प्रत्यक्ष होती है।

परन्तु शरीर छूटने के समय अन्तिम क्षणों में जब आत्मा देह से पृथक् होता है, तब या तो अत्यन्त पीड़ा होगी तो प्रकृति उस व्यक्ति को बेहोश कर देती है। इस बेहोशी के कारण शरीर में अत्यन्त अशक्ति हो जाती है, इन्द्रियाँ भी अत्यन्त शिथिल हो जाती हैं। इसलिए उस समय मरणोन्मुख जीव को दुःख या वेदना का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार का अभिप्राय कुछ वैज्ञानिक और निष्णात डॉक्टरों ने परीक्षण करके दिया है।

इसलिए यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि मृत्यु पीड़ा या दुःख का वेदन मरणोन्मुख जीव को न होने देने के लिए बेहोश कर देता है, यह कितनी बड़ी दयालुता या उपकारिता है मृत्यु की ? अगर मनुष्य रुग्ण या अशक्त होकर शय्या पर

पड़ा-पड़ा वर्षों तक सड़ता रहे, पीड़ित होता रहे, तो ऐसी दशा में दुःख या पीड़ा का अनुभव अत्यधिक होता है, जबकि अकस्मात् मृत्यु आ जाने पर दुःख या पीड़ा का अनुभव नहीं होता, या अत्यन्त कम हो जाता है।

परन्तु अज्ञानी जीव मृत्यु के कल्पित भय से काँपता है, वह मृत्यु के समय अपने शरीर और शरीर से सम्बद्ध परिवार, धन, जमीन-जायदाद, मकान, दूकान, व्यवसाय आदि के प्रति मोह-ममत्व के कारण अत्यन्त दुःखी होता है, विलाप करता है, रोता है, आँसू बहाता है। साथ ही उसकी उस मोहदशाजनित वेदना को हवा देने के लिए उसके सम्बन्धीजन बार-बार मोह में प्रेरित करने वाली बातें याद दिलाते हैं।

इसीलिए ज्ञानी सम्यग्दृष्टि साधक मृत्यु को भयंकर या दुःखदायक न मान कर परम सखा, सुखद एवं उपकारी मानते हैं। और मृत्यु के कल्पित भय से भयभीत नहीं होते या अपने शरीर एवं शरीरसम्बद्ध पदार्थों के प्रति मोहजनित व्यथा से प्रेरित होकर चिन्तित या व्यथित नहीं होते। मृत्यु किसी तरह हावी होकर बाजी न बिगाड़ दे, पराजित न कर दे, इसलिए वे अत्यन्त सावधान एवं सतर्क रहते हैं। जीवन भर की साधना को वे मृत्यु के समय अपराभूत होकर सफल बना लेते हैं।

ज्ञानी साधक यही समझते हैं कि अगर शरीर की मृत्यु न होती तो वे कभी आगे नहीं बढ़ सकते थे। ज्ञानी साधक मृत्यु का काला पर्दा चीर कर उसके पीछे आत्मप्रकाश को देखते हैं, इससे वे निर्भय बन जाते हैं। मृत्यु काल की मध्य दशा अन्धकारतुल्य लगती है, परन्तु ज्ञानी के लिए वह दशा प्रकाश वाली है। पक्षी जैसे अपने पंख फड़फड़ाकर शरीर पर जमी हुई धूल झाड़ देता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष मृत्यु के समय जीवन पर लगी हुई सभी प्रकार की वासना की धूल को झाड़ कर शुद्ध एवं निर्भय हो जाता है।

ज्ञानी साधक शरीर का उपयोग घोड़े की तरह एक वाहन के रूप में करता है। वह देह आदि में आसक्ति से बँधता नहीं। मृत्यु के समय चाहे उसकी आँखें, कान, वगैरह बन्द हो जाते हैं, बाह्य इन्द्रियों का भान नहीं रहता, परन्तु वह अन्तर् में जागृत रहता है और मृत्युकाल में आत्मा की अनन्तगुनी शुद्धि करता है।

एक विवेकी और मृत्यु के अनुभवी व्यक्ति का उदाहरण लीजिए—

एक बार अकस्मात् उसे डबल न्युमोनिया हो गया। डॉक्टरों का इलाज शुरू किया गया। किन्तु जितना-जितना इलाज किया गया, रोग उतना ही अधिक उग्र-स्वरूप में आगे बढ़ता गया। अन्त में एक दिन सन्ध्या समय बाद देह की स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गई। शीघ्र ही डाक्टर को बुलाया गया। डॉक्टर आये। उन्होंने हृदय, फेफड़े और नब्ज आदि की बारीकी से जाँच की और अन्त में धीमे से उसके पिताजी से कहा—"केस अत्यन्त गम्भीर है, रोगी के बचने की आशा कम है। आधे घंटे में शरीर छूट जाएगा।" रोगी डॉक्टर के शब्दों पर कान लगाए बैठा था। ये अफसोस भरे शब्द सुनकर उसे आश्चर्य हुआ, किन्तु मृत्यु का कोई भय न था।

हृदय में शान्ति और स्वस्थता थी। थोड़ी देर बाद कमजोरी अत्यन्त बढ़ गई। हाथ-पैरों में संचालन करने की शक्ति भी न रही। आँख खोलने जितनी भी ताकत न रही। इसके पश्चात् उक्त रोगी को ऐसा अनुभव हुआ, मानो वह एक गहरे कुंए में उतरकर, सारे जगत को विस्मृत करके चैतन्यमय आत्मदेव से सुखद मिलन के लिए प्रयाण कर रहा है। उस समय लेशमात्र भी दुःख, वेदना या घबराहट न थी। सौभाग्य से वह रोगी मृत्यु-पाश से तो बच गया। बाद में एक दिन बातचीत के सिलसिले में उसके पिताजी ने कहा—"बेटा ! तूने तो नया ही जन्म लिया है। तुम्हें जमीन पर उतार लेने की तैयारी हो चुकी थी, क्योंकि नब्ज या हृदय की धड़कन बन्द हो गई थी। प्रभु की असीम कृपा से ही तू बच गया।" यह सुन कर उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ। वह अन्तर्मन में तो जागृत और शान्त था। उसे रह-रह कर यही विचार आता था कि क्या मृत्यु ऐसे ही होती होगी ?

ऐसी मृतप्राय स्थिति से बचे हुए या व्याधिमुक्त हुए व्यक्तियों से बाद में उस समय का अनुभव पूछा जाता है तो उनका उत्तर लगभग मिलता-जुलता ही होता है कि ऐसे मृत्युसंकटापन्न समय में हमें किसी प्रकार की पीड़ा, वेदना या दुःख नहीं होता था।

किसी व्यक्ति के मस्तिष्क की नस टूट जाती है तो वह सहसा बेहोश हो जाता है, और उसी बेहोशी हालत में वह कई घंटों अथवा कई दिनों तक रह कर फिर शरीर छोड़ता है, उस दशा में अन्तकाल का दुःख हो तो भी उसका वेदन उसे नहीं होता। जैसे ऑपरेशन करने से पहले बेहोश करने पर रोगी को दुःख या पीड़ा का भान नहीं होता।

यद्यपि मृत्यु के समय बेभान दशा में मृत्यु हो जाय तो उसे एकान्ततः समाधि-मरण नहीं कहा जा सकता। समाधिमरण तो तब कहा जा सकता है, जब अन्तिम समय में बाहर से भान न होते हुए भी अन्तर्मन में जागृत होता है। उसे प्रतीति-या लक्ष अथवा अनुभव होता है।

सकाममरण एवं अकाममरण

मृत्यु तो सभी जीवों की अवश्यम्भावी है। चाहे वह ज्ञानी हो, चाहे अज्ञानी। परन्तु ज्ञानी मृत्यु की कला जानकर उसे सफल बना लेता है, जबकि अज्ञानी मृत्यु कला से अनभिज्ञ होने के कारण जीवन और मरण दोनों को असफल बना लेता है। उत्तराध्ययन सूत्र में अकाममरण और सकाममरण का बहुत ही सुन्दर विश्लेषण भगवान् महावीर ने किया है। उसी को बालमरण और पण्डितमरण कहते हैं। जो व्यक्ति मृत्यु का कोई विचार ही नहीं करता, यही सोचता है कि मैं अभी बहुत जीऊँगा, मृत्यु इतनी शीघ्र कहाँ आने वाली है ? अभी तो कामभोगों का खूब आस्वादन कर लूँ, मृत्यु आएगी, तब देखा जायगा। किसने परलोक देखा है ? कोई कहने भी तो नहीं आया। अतः हस्तगत काम-भोगों को छोड़ कर परलोक के कामसुखों की आशा करना

व्यर्थ है। इस प्रकार अज्ञानी जीव निःशंक होकर हिंसा, झूठ, चोरी, माया, पैशुन्य, दुर्जनता, ठगी, मद्य-मांस सेवन, स्त्रियों में आसक्ति, अनीति-अन्याय से धन कमाने की वृत्ति आदि में अहर्निश रत रहता है, जब उन अशुभ कर्मों के फलस्वरूप शरीर में व्याधि या कोई विपत्ति उपस्थित होती है तो वह अत्यन्त हायतोबा मचाता है, संताप करता है। मृत्यु जब सामने आकर खड़ी होती है, तब वह अज्ञानी भयभीत होकर रोता-कलपता है, पर अब क्या हो सकता है? क्योंकि पहले उस अज्ञानी ने मृत्यु के विषय में कोई परवाह ही नहीं की। फिर वह पापी जीव एक बार नहीं, बार-बार जन्म-मरण करता रहता है और दुःख पाता रहता है। मृत्यु से पहले किसी प्रकार की तैयारी न करने का यह दुष्परिणाम है।

अब सुनिये सकाममरण वाले व्यक्तियों का हाल। ऐसे महानुभाव साधक पहले से ही अपनी तैयारी कर लेते हैं। वे जानते हैं कि मृत्यु का आना निश्चित है, इसलिए ऐसे कार्य न करूँ, जिससे मृत्यु के समय पछताना पड़े, साथ ही वे अपने स्वीकृत गृहस्थधर्म या मुनिधर्म के आचार-विचार का भलीभाँति पालन करते हैं, व्रतविरुद्ध कोई भी आचरण नहीं करते, क्रमशः शरीर के प्रति मोह ममत्व कम करते हैं। मरणान्त समय में ऐसे शीलवान एवं बहुश्रुत जन-जीवन और मृत्यु में सम रहते हैं। इस कारण मृत्यु से संत्रस्त नहीं होते।

शास्त्र में १७ प्रकार के मरण बताए हैं। वे इस प्रकार हैं[1] **आवीचिमरण**—उत्पन्न होने के बाद से प्रतिक्षण आयुष्य का घटते जाना, (२) **तद्भवमरण**—वर्तमान काल में जो शरीर रूप पर्याय प्राप्त हुई है, उसका अभाव होना, (३) **अवधिमरण**—पिछले भव में आयुष्य बन्ध करके यहाँ उत्पन्न हुआ, उस आयुष्य का यहाँ पूर्ण हो जाना। (४) **आद्यन्तमरण**—सर्वतः और देशतः आयु क्षीण हो तथा दोनों भवों में एक ही प्रकार की मृत्यु हो, वह। (५) **बालमरण**—विष, शस्त्र, अग्नि, जल से या पर्वत से अतिपात इत्यादि प्रकार से आत्महत्या करके मरना, अथवा रत्नत्रय की आराधनारहित अज्ञानतापूर्वक मृत्यु पाना। (६) **पण्डितमरण**—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित समाधिभाव से मृत्यु पाना (७) **बालपण्डितमरण**—सम्यक्त्व सहित श्रावकव्रतों का आचरण करते हुए समाधिभाव से आयुष्य पूर्ण होना। (८) **आसन्न-मरण**—संयम व्रत से भ्रष्ट होकर मृत्यु पाना। (९) **सशल्यमरण**—माया, निदान और मिथ्यादर्शन इन तीनों शल्यों में से किसी भी एक अथवा तीनों शल्यों सहित मृत्यु पाना, (१०) **वशार्तमरण**—इन्द्रियों के वश होकर कषाय, वेदना, या हास्य के वश होकर मृत्यु पाना। (११) **पमाय (प्रमाद) मरण**—प्रमादवश होकर अत्यन्त संकल्प विकल्प युक्त परिणामों से प्राणों का वियोग होना। (१२) **विप्रण्मरण**—संयम-शील व्रतादि का निर्वाह न होने से आत्महत्या करके मरना, (१३) **गृद्धपृष्ठमरण**—

---

१. 'न संतसंति मरणंते सीलवंता बहुस्सुया—उत्तरा० अ० ५, गा० २९

संग्राम में शौर्य धारण करके मृत्यु पाना, (१४) **भक्तप्रत्याख्यानमरण**—यथाविधि तीन आहारों का यावज्जीव प्रत्याख्यान करके मृत्यु पाना, (१५) **इंगितमरण**—संथारा करने के बाद दूसरे से सेवा न कराते हुए मृत्यु पाना। (१६) **पादोपगमनमरण**—आहार और शरीर दोनों का यावज्जीवन त्याग करके अपने बस चलते हलन-चलन किये बिना मृत्यु पाना। (१७) **केवलीमरण**—केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद देहोत्सर्ग होना।

इन समस्त मरणों को सरलता से समझने के लिए दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—समाधिमरण और असमाधिमरण। जहाँ आत्मा, आत्मधर्म, धर्मप्राप्ति के उत्तम साधन या निमित्त रूप सद्गुरुदेव-धर्मभाव में रहकर अन्तिम अवसर पर देहत्याग हो, ऐसी मृत्यु समाधिमरण कहलाती है। उसके अनेक भेद हो सकते हैं। इसके विपरीत जहाँ विषयभोग, स्वजन, कुटुम्ब, धन-सम्पत्ति आदि पदार्थों में—संक्षेप में आत्मभाव से भिन्न किसी भी प्रकार के मोह माया युक्त संसार भाव में रहते हुए शरीर का छूटना असमाधिमरण कहलाता है।

समाधिमरण : चिन्तन, महत्त्व

समाधिमरण की तालीम प्राप्त करने वाला साधक इस प्रकार का चिन्तन करता है—श्री आदिनाथ भगवान् जैसे उत्तम पुरुष भी जिस देह को रख न सके, उस देह में एक विशेषता निहित है, वह यह है कि देह के साथ सम्बन्ध रहे, वहाँ तक व्यक्ति को असंगता, निर्मोहता, अबाध्य अनुभवरूप निजस्वरूपज्ञान प्राप्त करके अन्य समस्त भावों से निवृत्त होना चाहिए। ताकि पुनः जन्ममरण का चक्र न रहे। देहत्याग के समय निर्मोहता, असंगता एवं यथार्थ समरसता जितने अंशों में हो, मोक्ष उतना ही निकट समझना चाहिए। समाधिमरण की श्रेणियाँ ये हैं—(१) देह त्याग के समय निःसंगता आत्मस्वभाव के अनुभव की निर्मलता और निमग्नता, (२) पर-सम्बन्ध की निर्मोहता—परभाव के प्रति परम उदासीनता, तथा स्वभाव के प्रति एकलक्ष हो, वृत्ति हो, भाव हो। (३) अन्तिम समय में यथार्थ समरसता, अर्थात् उदयगत सर्व अवस्था के विषय में स्वरूप को सम्मुख रखकर समताभाव में रहना, पर में उदासीनता। समाधिमरण अगर एक बार भी प्राप्त हो गया तो समझ लो, अनन्त काल का असमाधिमरण टल जाता है। जीव संसार में आधि, व्याधि, उपाधि रूप समस्त दुःखों से मुक्त होकर स्वरूप की शुद्धता पाकर शिव हो जाता है। निजानन्द और स्वरूप शान्ति में सदा-सदा के लिए निमग्न हो जाता है। ऐसा है समाधिमरण का अपूर्व प्रभाव, उसकी अद्भुत असीम और विराट् शक्ति।

असमाधिमरण का गाढ़ परिचय छूटना कठिन

अनादिकाल से जीव विपरीत मार्ग पर चला, सांसारिक सुखों के प्रति ममत्व ने उसे मजबूती से जकड़ लिया उसके मजबूत चंगुल से छूटना अत्यन्त दुष्कर हो गया। जीव ने जहाँ-जहाँ जिस-जिस प्रकार से देह धारण करके जन्म लिया, वहाँ-

वहाँ देहात्मबुद्धि रख कर चला। अन्तिम समय में भी देह, स्त्री, पुत्र आदि तथा समस्त जड़-पदार्थों में ममत्वभाव रखकर देह त्याग करके जीवन असमाधिमरण प्राप्त किया। प्रत्येक बार मृत्यु के समय जीव इसी प्रकार बाजी हारता चला गया। मानव देह की श्रेष्ठता उसकी समझ में नहीं आई।

मृत्यु के निमित्त और समाधि-असमाधि

समाधिमरण प्राप्त करने वाले साधक को मृत्यु के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन, मनन करना चाहिए। सर्वप्रथम उसे यह जानना आवश्यक है कि मृत्यु किन-किन निमित्तों से होती है? मृत्यु होने के बाह्य कारण तो सर्वविदित है—शारीरिक व्याधि से, अकस्मात् (दुर्घटना) से, उपसर्ग से और स्वेच्छा से मृत्यु होती है। शरीर के रोग अनेक प्रकार के हैं। कई रोग ऐसे असाध्य होते हैं, कि उनके चंगुल में फँसने पर एक दिन शरीर अवश्य छूट जाता है। यह रोगजनित मरण है। बुढ़ापे में शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है, इन्द्रियों का बल घट जाता है, शरीर के अंगोपांग शिथिल हो जाते हैं। ऐसे में अत्यन्त दुर्बलता के कारण शरीर छूट जाता है। इन सबके निमित्त से मृत्यु हो तो उसे एकान्ततः समाधिमरण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि समाधिमरण जीव के आन्तरिक मनोव्यापारों पर निर्भर है। आयुष्यबन्ध, गति का निश्चय, योनि का निश्चय भी जीव की अन्तिम समय के परिणामों की धारा पर अवलम्बित है।

इसके बाद आकस्मिक मरणों का नम्बर आता है। ये किसी न किसी कारण से अकस्मात् होते हैं। वे कारण प्रायः ये होते हैं—भूकम्प, बाढ़, हार्टफेल, रेल-मोटर दुर्घटना, बिजली का गिरना, अग्निकाण्ड, विमान दुर्घटना, हत्या आदि। ये मरण प्रायः अस्वाभाविक और अकाल प्राप्त होते हैं, इनसे स्वजनों को बहुत आघात लगता है। ऐसे आकस्मिक मरणों के समय जीव के परिणाम स्थिर तथा सम रहने अत्यन्त कठिन होते हैं। ऐसी दुर्घटनाओं के समय व्यक्ति का उपयोग प्रायः देहभाव में चिपका रहता है अतः मन में आर्तध्यान करते हुए असमाधिपूर्वक ही देहत्याग होता है। ऐसे आकस्मिक मरण के समय कोई विरला ही सम्यग्दृष्टि और दृढ़धर्मी श्रावक या श्रमण देहादि पर ममत्व बुद्धि हटा कर समाधिभाव से मृत्यु का प्रसन्नता-पूर्वक वरण करता है। हृदय का दौरा पड़ने से अथवा हृदयगति बन्द हो जाने से जो मृत्यु होती है, उस समय ज्ञानी साधक ही समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण करता है, अज्ञानी के परिणामों की धारा संक्लिष्ट होने से उसकी मृत्यु को समाधिमरण नहीं कहा जा सकता।

उपसर्ग से मृत्यु होने में देव, मनुष्य या संज्ञी तिर्यंचपञ्चेन्द्रिय जीव निमित्त बनते हैं। पूर्वजन्म या पूर्वकृतवैर के उदय से कोई प्राण-हरण करता है, अथवा किसी कारणवश कष्ट देता है अथवा विपत्तियों की बौछार करता है, वह उपसर्ग कहलाता है। वे उपसर्ग ज्ञानी पर भी आ सकते हैं, अज्ञानी पर भी। भावी तीर्थं-

कर के प्राप्त होने वाले उपसर्ग प्रसंग प्रायः निष्फल हो जाते हैं। भावी केवलज्ञानी के प्रति आए हुए उपसर्ग प्राणघातक हों या न हों, वे तो अन्तकृत् केवली होते हैं, अपने जन्म-मरण का समूल अन्त कर देते हैं। जैसे गजसुकुमार मुनि पर आया हुआ उपसर्ग उनके प्राणों का घातक होने पर भी समाधिमरणपूर्वक होने से उनके लिए मुक्ति एवं समस्त कर्मनाश का कारण बना।

व्यन्तर आदि देवों द्वारा कृत उपसर्ग मनुष्यों को भयभीत एवं आतंकित कर डालता है, ऐसे समय में मृत्यु के प्रसंग पर समाधिभाव रखना बहुत ही कठिन होता है।

मनुष्य के द्वारा मनुष्यों पर कहर बरसाने वाला उपसर्ग भी भयंकर प्राण घातक होता है, लेकिन ऐसे उपसर्ग के समय भी ज्ञानी साधक समाधिपूर्वक मरण का वरण करता है। यक्षाविष्ट अर्जुनमाली के आतंक के समय राजगृह नगरवासी सुदर्शन श्रमणोपासक ने अपने पर उपसर्ग आया जान कर समाधिपूर्वक सागारी आमरण अनशन (संथारा) कर लिया था और अर्जुनमाली का उपसर्ग दूर हो जाने पर उसे पार लिया था। इसी प्रकार ज्ञानी साधक ऐसे उपसर्गों के आने पर घबराता नहीं, बल्कि निश्चल, निश्चिन्त एवं निर्भय होकर देहादि के प्रति ममत्व त्याग करके, अठारह पापस्थान एवं चारों आहारों का त्याग करके सागारी अनशन करता है। यदि उस उपसर्ग में ही उसकी मृत्यु हो जाती है तो वह धर्मपालन करते हुए प्रसन्नता एवं समाधि-पूर्वक मृत्यु का आलिंगन करता है। युद्ध, स्वतंत्रता-संग्राम, डकैती, चोरी, लूटपाट, दंगे आदि के समय, वैरवश होने वाली हत्याओं, धर्मान्धता, और जाति, कौम, प्रान्त या भाषा की असहिष्णुता के कारण होने वाले झगड़ों, धन, भूमि या स्त्री की प्राप्ति के लिए या ऐसे ही अन्य प्रसंग पर होने वाले संघर्ष से जो मरण होते हैं, वे सब मनुष्यकृत उपसर्गजनित मरण होते हैं, और ऐसे मरण प्रायः असमाधिमरण होते हैं। किसी-किसी भाग्यशाली का मरण ही ऐसे प्रसंगों पर समाधि-पूर्वक होता है। जैसे राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी की हत्या के समय अन्तिम समय में उनके मुख से अपने जीवनभर की साधना के सारभूत 'हे राम' शब्द निकले थे। अतः जो व्यक्ति पहले से धर्मिष्ठ एवं साधनाशील होता है, उसी की मृत्यु ऐसे प्राण-घातक उपसर्गों के समय समाधिपूर्वक होती है।

तिर्यञ्चकृत उपसर्ग संज्ञी तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय हिंस्रजीवों (बाघ, भेड़िया, सिंह, साँप, चीता आदि जानवरों) के निमित्त से होता है और उसी उपसर्गवश मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। ऐसे उपसर्ग ज्ञानी-अज्ञानी दोनों पर आते हैं। परन्तु ज्ञानी पुरुष ऐसे उपसर्ग के समय निर्भय, निश्चल, देहात्मबुद्धिरहित, समभाव और समाधिभाव में स्थित होते हैं। उनका मरण समाधिमरण होता है। अज्ञानी जीव ऐसी मृत्यु के प्रसंग पर असावधान होते हैं, उनका ममत्व शरीर और शरीरसम्बद्ध सभी वस्तुओं पर होता है। वे परभाव में आसक्त होकर आर्तध्यान करते हुए देहत्याग करते हैं। अन्तिम समय

में उनमें चित्त की स्थिरता या समाधिभाव रहना बहुत ही दुष्कर है। इसलिए अज्ञानी जीवों का मरण असमाधिमरण होता है।

स्वेच्छा से होने वाले मरण को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) आत्महत्या से होने वाला और (२) संल्लेखना संथारा करके समाधिपूर्वक देह-त्याग से होने वाला।

सांसारिक दुःखों से अत्यन्त पीड़ित होकर, शारीरिक दुःसाध्य व्याधि से व्यथित होकर, किसी स्वजन आदि की मृत्यु या धन-सम्पत्ति के नाश के समाचार सुनकर, राजदण्ड के भय से, या अपकीर्ति के भय से, किसी के द्वारा किये गए मिथ्या दोषारोपण, कौटुम्बिककलेश, मानसिक दुर्बलता या असहिष्णुता के कारण अथवा मनोवांछित इच्छापूर्ति न होने के कारण हृदय में उत्पन्न हुए प्रबल आघात के कारण अथवा ये और इसी प्रकार के अन्य निमित्तों से मनुष्य आत्महत्या करने को तैयार हो जाता है। विशेषतः मृत्युभय, धनहानि या उद्वेगजनित समाचारों के कारण आत्महत्या करने की घटनाएँ प्रायः बहुत ही शीघ्रता से होती है; जबकि पीड़ा आदि के निमित्त से व्यक्ति आत्महत्या करने की तैयारी पहले से किया करता है। उन अशुभ संकल्प-विकल्पों को वह बार-बार मन में घोंटता रहता है, और अन्त में विचारों से अभिभूत हो आत्महत्या के लिए साहस और शक्ति संचित करता हुआ फिर आत्महत्या के निर्णय पर आता है। दो-तीन बार निष्फल प्रयत्न करता है, अन्त में कषायभावों के अतिरेक से चित्त की असमाधि या उन्मत्त दशा में गले में फाँसी लगाकर, विष खाकर, अग्निस्नान करके, पानी में डूबकर, ट्रेन आदि के नीचे कुचलकर, छत पर से नीचे कूद कर या ऐसे ही किसी अन्य प्रकार से अपने शरीर का अन्त करता है। इस पर यह समझना कोई कठिन नहीं है कि उपर्युक्त दोनों प्रकार की आत्महत्याओं के प्रसंग पर जीव में क्रोधादि कषायभाव अत्यन्त तीव्र होता है और जहाँ कषायों की तीव्र आग भभक रही हो, वहाँ समाधिमरण तो होता ही कैसे? बल्कि इस प्रकार के तीव्र कषाय उसके अज्ञातमन के संस्कारों में बद्धमूल हो जाता है।[1] उसके उदय में आने पर जीव फिर अनेक कष्टों से घिर जाता है। इसीलिए तीर्थंकर आदि ज्ञानी पुरुषों ने पूर्वबद्ध अशुभकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुए संकटों, दुःखों, क्लेशों, वेदनाओं और पीड़ाओं को समभावपूर्वक भोग (सह) लेने और उक्त संकटों आदि में निमित्त बनने वालों पर क्षमाभाव धारण कर लेने की उत्तम शिक्षा दी है। जो कर्म उदय में आएँ उन्हें शान्ति से सह लेना ही समाधिमरण का मूलमंत्र है, क्योंकि ऐसे कष्टों के समय आत्महत्या करके जीवन का नाश करने से जीवकर्मों से मुक्त नहीं होता और न ही उसे दुःख से रहित स्थिति प्राप्त होती है। प्रत्युत कषायभाव की तीव्रता से नये चिकने कर्मों का बन्ध होता है, जिनके फल अवश्य ही भोगने पड़ते हैं।

---

१ संल्लिख्यतेऽनया शरीरकषायादीति संलेखना तपोविशेषे। —स्था० २, ठा० २

किसी पुण्यक्षण में किसी विरले मनुष्य को अन्तिम समय में सच्ची सूझबूझ प्राप्त होती है और उसे अपने जीवन में बुरा करने का पश्चात्ताप होता है, उसके फलस्वरूप वह आलोचना, निंदना, गर्हणा और प्रायश्चित्त करके आत्मशुद्धि करता है, प्रभु से क्षमा-प्रार्थना करता है, समस्त जीवों से क्षमायाचना करता है। इस प्रकार आराधक बनकर पूर्व साधना को समीचीनरूपेण सफल करता है। ऐसा होने से नये-नये बँधे हुए कर्म-बन्ध अत्यधिक शिथिल हो जाते हैं और मृत्यु के बाद उसे देवगति प्राप्त होने की संभावना होती है।[1]

संलेखना : क्या, कब, कैसे, कहाँ ?

स्वेच्छा से मरण के दूसरे प्रकार में संलेखना-संथारा आता है। ऐसी संलेखना द्वारा जो मरण होता है, वह स्वेच्छिक समाधिमरण होता है। संलेखना द्वारा मृत्यु का समाधिपूर्वक वरण किया जाता है। संलेखना का अर्थ है—जिस तपोविशेष क्रिया से शरीर, कषाय आदि का संलेखन-अपकर्षण किया जाए; अथवा आगमोक्त विधि से शरीर आदि को कृश करना। आचार्य पूज्यपाद ने संलेखना की परिभाषा बताई है—सम्यक् प्रकार से काया और कषाय का लेखन (कृश) करना संलेखना है। अर्थात् बाह्य संलेखना शरीर की और आभ्यन्तर संलेखना कषायों की करना, तथा उत्तरोत्तर काय और कषाय को पुष्ट करने वाले कारणों को घटाते हुए भलीभाँति लेखन (कृश) करना संलेखना है।[2] आशय यह है कि कदलीघात की तरह एकदम नहीं, किन्तु दुर्भिक्ष आदि के उपस्थित होने पर धर्मरक्षार्थ अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का त्याग करके जीवनमरण की आशा से रहित होकर क्रमशः कृश करते हुए शरीर को छोड़ना संल्लेखना है।

पंचास्तिकाय में द्रव्य-भावसंलेखना का सुन्दर लक्षण दिया गया है कि आत्म-संस्कार के अनन्तर उसके लिए ही क्रोधादिकषायरहित अनन्तज्ञानादिगुणलक्षण परमात्मपदार्थ में स्थित होकर रागादिविकल्पों का कृश करना भावसंलेखना है और उस भावसंलेखना के लिए काय-क्लेश रूप अनुष्ठान करना—अर्थात् भोजनादि का त्याग करके शरीर को कृश करना द्रव्य-संलेखना है। इन दोनों प्रकार का आचरण करना संलेखनाकाल है।[3]

---

१ आगमोक्तविधिना शरीराद्यपकर्षणे। —**प्रवचनसारोद्धार १३५**

२ सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणह्रासनक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना।

३ आत्मसंस्कारानन्तरं तदर्थमेव क्रोधादिकषायरहितानन्तज्ञानादिगुणलक्षणपरमात्मपदार्थे स्थित्वा रागादिविकल्पनां सम्यग्लेखनं तनुकरणं भावसल्लेखना, तदर्थं च कायक्लेशानुष्ठानं द्रव्यसल्लेखना, तदुभयाचरणं सल्लेखनाकालः।

—**पंचास्तिकाय १७३।२५३**

यों तो संलेखना सभी साधकों (श्रावक-साधुवर्ग) के लिए है, परन्तु यों ही स्वस्थ और चलते शरीर की संलेखना नहीं की जाती है। उसके लिए श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों जैन-शास्त्रों में एक विशेष योग्यता, शरीर तथा काल का विधान किया है।

अत्यन्त वृद्धावस्था आ जाय; जिसमें शरीर से चलना-फिरना, यहाँ तक कि अपना नित्य नियम करना भी दुःशक्य हो जाय, कोई दुष्प्रतीकार्य या दुःसाध्य रोग आ जाय, जिसमें जीवन के बचने की कोई आशा न रही हो या आशा क्षीण हो गई हो; इन्द्रिय, शरीर तथा बल का क्षय हो जाय, आवश्यक क्रिया भी न की जा सके, तब संलेखना की जाती है।[१] क्योंकि निष्प्रतीकार देव-तिर्यंच मनुष्यकृत उपसर्ग आ जाय, या दुष्प्रतीकार भयंकर दुर्भिक्ष का संकट उपस्थित हो, अतिशय बुढ़ापा आ जाय, (जिससे अपने व्रत नियम-चारित्र का पालन दुष्कर हो) मृत्युदायक रोग हो तो धर्मार्थ शरीर छोड़ने को ही संलेखना कहते हैं।[२]

अथवा लोभ आदि के वशीभूत हुए अनुकूल शत्रु चारित्र का नाश करने को उद्यत हो जाएँ, हिंसक पशुओं से पूर्ण भयानक वन में दिशा या मार्ग भूल जाने पर आँख, कान व जंघाबल अतीव क्षीण हो जाए तथा इनके अतिरिक्त अन्य ऐसे ही गाढ़ कारणों के होने पर मुनि या गृहस्थ भक्त-प्रत्याख्यान (शरीरत्याग) के योग्य समझे जाते हैं।[३]

स्व-कालपाक द्वारा अथवा उपसर्ग द्वारा निश्चित रूप से आयुक्षय सम्मुख होने पर यानी जिस समय मृत्यु के आगमन की निश्चित सम्भावना हो जाए, अथवा ऐसी कोई परिस्थिति उत्पन्न हो जाये कि मृत्यु को स्वीकार किये बिना कर्तव्य (धर्म) भ्रष्टता से बचने का कोई और उपाय न हो, जिन देहादि विकारों के होने पर शरीर निश्चित रूप में टिक नहीं सकता हो, अथवा उसके कारण उपस्थित हो जाने पर या आयुक्षय का निश्चय हो जाने पर ही साधक सल्लेखना की आराधना में लगता है।

जिस श्रावक-श्राविका, या साधु-साध्वी का चरित्र निर्विघ्न पल रहा है और

---

१ जरारोगेन्द्रिय हानिभिरावश्यक परिक्षये। —राजवार्तिक ७।२२

२ उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः संलेखनामार्या॥
—रत्न० क० श्रा० १२२

३ अण्णम्मि चावि एदारिसंमि आगाढकारणे जोइ।
अरिहो भत्तपइण्णाए होदि विरदो अविरदो वा॥७४॥
—भगवती आराधना

जिसे निर्यापक (सल्लेखनासंथारा कराने वाले) और दुर्भिक्ष, रोग आदि का कोई भय नहीं है, वह साधक भक्तप्रत्याख्यान (संलेखनासंथारा) के अयोग्य है।[१]

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि संलेखना में अन्तिम समय की प्रधानता क्यों रखी गई है? इसका समाधान यह है कि भगवतीसूत्र में तथा भगवतीआराधना आदि में मृत्यु से सम्बद्ध यह सिद्धान्त बताया गया है कि **'जल्लेसे मरइ, तल्लेसे उववज्जइ'** अर्थात् जो जीव जिस लेश्या से परिणत होकर मरण को प्राप्त होता है, वह उत्तरभव में उसी लेश्या का धारक होकर स्वर्गादि में उत्पन्न होता है।[२] जिस साधक ने जीवन भर अपनी आत्मा को (व्रत, चारित्र आदि की) आराधनाओं से सुसंस्कृत किया था, वह अगर मरण के समय संक्लिष्ट परिणाम उत्पन्न होने से संथारे (भक्त-प्रत्याख्यान=आमरण अनशन) पर आरूढ़ होने पर भी वह क्षपक या श्रावक सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है।[3] अथवा पूर्व जीवनकाल में न आराधी हुई रत्नत्रय की आराधना को यदि कोई अन्तिम समय में भी अपना ले तो वह जीव भी उसी प्रकार रत्नत्रय को अकस्मात् प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार अन्धे को खम्भे से टकराने पर नेत्र खुल जाने से भाग्यवश वहाँ से रत्नप्राप्ति हो जाती है। अन्तिम समय में संलेखना से एक लाभ और भी है चिरकाल से आराधन किया हुआ धर्म भी यदि मृत्यु के समय छोड़ दिया जाय या उसकी विराधना की जाय तो वह निष्फल हो जाता है। अतः यदि मृत्यु के समय उस धर्म की आराधना कर ली जाए तो वह चिरकाल से उपार्जित पापों का भी नाश कर देता है।

संलेखना की विधि और अवधि

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार आगमोक्तविधि से शरीर और कषाय आदि को कृश करने (संलेखना) की विधि इस प्रकार है। संलेखना तीन प्रकार की है—जघन्या, मध्यमा और उत्कृष्टा। जघन्या संल्लेखना ६ महीने की होती है, मध्यमा एक वर्ष की और उत्कृष्टा होती है १२ वर्ष की। जो उत्कृष्टा संलेखना[४] है, उसमें चार वर्ष तक उपवास, बेला, तेला, चौला, पचौला आदि विभिन्न तप करे, तप के

---

१ सुचिरमविणिरदिचारं विहरित्ता णाणदंसणचरित्ते।
मरणे विराधयित्ता अणंत संसारिओ दिट्ठो ॥१६२४॥ —**भगवती आराधना**

२ जो जाए परिणमित्ता लेसाए संजुदो कुणइ कालं।
तल्लेसो उववज्जई तल्लेसे चेव सो सग्गे ॥१६२२॥

३ आराद्धोऽपि चिरं धर्मो, विराद्धो मरणे मुधा।
सत्त्वाराद्धस्तत्क्षणेऽहः क्षिपत्यपि चिरार्जितम् ॥१६॥ —**सागारधर्मामृत**

४ चत्तारि विचित्ताइं विगइ निज्जूहियाइं चत्तारि।
संवच्छरे य दोण्णि, एगंतरियं च आयामं ॥१६८२॥
नाइविगिट्ठो य तवो, छम्मासे परिमियं च आयायं।
अवरे वि य छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥१६८३॥

पारणे के दिन श्रावक सचित्ताहारवर्जित आहार करे, साधु उद्गमादि दोषरहित आहार करे। दूसरे चार वर्ष भी इसी प्रकार विभिन्न तपस्या करे, किन्तु पारणे में विगई (विकृति) रहित आहार करे। उसके बाद दूसरे दो वर्ष तक एकान्तर उपवास करके पारणे में आयम्बिल करे। ग्यारहवें वर्ष के पहले के ६ महीने में उपवास बेले से आगे तपश्चरण न करे, पारणे में ऊनोदरी सहित आयंबिल करे। उसके बाद उत्तर के ६ महीने में उत्कृष्ट तप यानी तेले से लेकर अठाई तक करे, पारणे में भरपेट आयंबिल करे। निशीथचूर्णि मे बारहवें वर्ष की संलेखना में उपवास करके आयंबिल से पारणा करे। कुछ आचार्यों का मत है कि बारहवें वर्ष की संलेखना में प्रतिदिन भोजन करते हुए पहले तो क्रमशः एक-एक कौर कम करता जाय, जब एक कौर पर आ जाए, तब उसमें एक-एक सिक्थ (छोटा कण) अन्न कुछ-कुछ दिनों के अनन्तर कम करता जाए, अन्तिम दिन सिर्फ एक सिक्थ अन्न का सेवन करे। कुछ आचार्यों का मत है—१२वें वर्ष के चार मास शेष रहें, तब चार मास तक एक दिन के अन्तर से तेल का कुल्ला मुंह में भरकर उसे श्लेष्म वगैरह के साथ निकाले, राख में डाल दे, और गर्म पानी से मुखशुद्धि करे। इस प्रकार क्रमशः १२ वर्ष की उत्कृष्ट संलेखना-आराधना करके षट्कायिक जीवों की विराधना से रहित निरवद्य स्थान में जाकर पादपोपगमन, भक्तपरिज्ञा या इंगिनी (इंगित) मरण अंगीकार करे। जघन्या और मध्यमा संलेखना की तपोविधि भी इसी प्रकार समय के क्रमानुसार समझ लेनी चाहिए।[1]

दिगम्बर-परम्परा में संलेखना विधि इस प्रकार है—क्रमशः अनशनादि तप को बढ़ाते हुए मुनि (या श्रावक) अपने देह को कृश करके शरीर संलेखना करते हैं। फिर क्रमशः आहार कम करते हुए क्षपक अपना शरीर कृश करते हैं। प्रतिदिन लिये गये नियमानुसार कभी उपवास, कभी वृत्तिपरिसंख्यान, इस क्रम से तपश्चरण करके शरीर कृश करते हैं। नाना प्रकार के रसवर्जित, अल्प, रुक्ष ऐसे आचाम्ल भोजनों से स्वसामर्थ्यानुसार शरीर कृश करता है, अनेक उग्र नियम लेकर संयम की विराधना न करता हुआ शरीर कृश करता है। यदि आयु व देह की शक्ति अभी काफी शेष हो तो शास्त्रोक्त मुनि बारह भिक्षु प्रतिमाओं तथा श्रावक ११ श्रावक प्रतिमा का स्वीकार करके शरीर कृश करता है। उन प्रतिमाओं से क्षपक या श्रावक को कोई पीड़ा नहीं होती।[2]

संलेखना विधि पहले से क्यों ?

कोई कह सकता है, आगम की सारभूत रत्नत्रय परिणति यदि मरणकाल में होती हो तो उससे भिन्न काल में चारित्राराधन व तपश्चरण करने की क्या आवश्यकता है ? इसके समाधान में भगवती आराधना (१८ से २१) में कहा गया है कि

---

१ निशीथ चूर्णि, भगवती आराधना में भी इसी से मिलता-जुलता वर्णन है।

२ देखो भगवती आराधना में २४६ से २४९ गाथा तक।

मरण समय में रत्नत्रय की सिद्धि के लिए सम्यग्दर्शनादि कारणकलाप सामग्री अवश्य प्राप्त कर लेनी चाहिए। अर्थात् उसका सर्वदा अभ्यास करना उचित है। क्योंकि ऐसा करने वाले साधक को मरण समय में सुखपूर्वक (बिना क्लेश के) उस आराधना की सिद्धि हो जाती है। जैसे—राजपुत्र प्रतिदिन शस्त्रविद्या का अभ्यास करता है तभी वह युद्ध के अवसर पर कुशलतापूर्वक अपना जौहर दिखाने में समर्थ हो सकता है; वैसे ही जो साधु या श्रावक भी आराधना के योग्य नित्य अभ्यास करता है, इसी से वह जितेन्द्रिय होता हुआ मृत्यु के समय शुभ ध्यान करने में समर्थ हो सकता है।

इसी संलेखना से सम्बन्धित एक प्रश्न यह भी उठता है कि इस प्रकार पूर्वोक्त श्वेताम्बरीय विधि के अनुसार संलेखना करने की आवश्यकता क्या है ? जब शरीर का त्याग करना हो तब एकदम शरीर त्याग कर दिया जाए तो क्या आपत्ति है ? इसका समाधान वहाँ दिया गया है कि यदि देह और कषायादि की संल्लेखना पहले से नहीं की जाएगी तो एकदम प्राणत्याग करने में साधक को बहुत अटपटा लगेगा, उसको बहुत जोर पड़ेगा, तथा सहसा मांस आदि सप्त धातुओं के क्षीण होने से उसके मन में एकदम देह एवं कषायादि का त्याग करने में संक्लेश या आर्तध्यान होगा। आर्तध्यान करते-करते मरण होगा तो वह समाधिमरण नहीं, असमाधिमरण होगा। शास्त्रोक्त विधिपूर्वक संल्लेखना करने से धीरे-धीरे धातुओं के क्षय होने से संसारवृक्ष के बीजरूप आर्तध्यान की सम्भावना नहीं रहती।[1]

संलेखना की जो प्रक्रिया मैंने पहले बताई है, उसमें दिनों, महीनों और वर्षों का समय लग जाता है। इस कारण एकदम प्राणत्याग करने में जो संक्लेश अपने को और दूसरों को होता है, वह इस प्रक्रिया में नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह क्रिया मरण का ही नहीं, जीवन का भी उपाय है। क्योंकि इस प्रकार का भोजनत्याग या अत्यल्प कणमात्र भोजन ग्रहण कभी-कभी असाध्य बीमारियों तक को दूर कर देता है। अगर भोजनत्याग से रोग शान्त हो जाए तो जघन्य या मध्यम संलेखना तक पहुँचकर ही विराम ले लेना चाहिए, क्योंकि जिन कारणों को देखकर संलेखना की थी, वे कारण अब न रहे तो हठपूर्वक उत्कृष्ट संल्लेखना को चलाने का कोई औचित्य नहीं रहता। इस प्रकार के संशोधन से संलेखना की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है।

कुछ लोग यह कह सकते हैं कि यदि स्वास्थ्य सुधरने पर जघन्य या मध्यम संलेखना तक की आराधना करके ही उसे बन्द कर दिया जाए तो संलेखना एक प्रकार की उपवास चिकित्सा कहलाई। श्रावक या साधु के लिए व्रतों के प्रकरण में इसका विधान करने की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में यों कहा जा सकता है कि उपवास-चिकित्सा और संलेखना में अन्तर है। चिकित्सा में जीवन की पूरी आशा

१ निशीथचूर्णि

और चेष्टा रहती है, जबकि संलेखना तभी की जाती है, जब जीवन की न तो कोई आशा रहती है और न चेष्टा की जाती है। अकस्मात् कोई ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाए कि उपवास वगैरह तपश्चरण से निराशा में आशा उदय हो जाए तो जबर्दस्ती प्राणत्याग करने (जल्दी मरने) की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि संल्लेखना आत्महत्या नहीं है, अपितु आई हुई मौत के सामने वीरतापूर्वक आत्मसमर्पण करना है। इसमें साधक शान्ति और आनन्द से समाधिपूर्वक प्राणत्याग करता है। मृत्यु से पहले जो उसे व्रतादि आराधन करना चाहिए, कर जाता है। मरण निश्चित है, किन्तु मरण-काल अनिश्चित है, इसलिए दीर्घकाल या अल्पकाल की पूर्वतैयारी के बिना समाधि-मरण का अपूर्वलाभ प्राप्त होना असम्भव है। अनादिकाल से देहात्मबुद्धि और वासना, परपदार्थों तथा उनके भावों में गाढ़ आसक्ति, मोह या द्वेषपूर्वक विषमता, घृणा आदि एकदम मिट जाए, ऐसा होना सुलभ नहीं है। इसलिए उस प्रकार के दोषों की क्षीणता या निवृत्ति के लिए पूर्वतैयारी के रूप में अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। वह अभ्यास धर्मश्रद्धा और धर्मरुचि पूर्वसंस्कार जागृत होने से, उपशमस्वरूप ज्ञानी पुरुषों के वचनामृत के श्रवण या वाचन के उपकारी निमित्त से, या ज्ञानी पुरुषों के समागम के लाभ से या संसार के दुःखरंग से उत्पन्न होती है।

संलेखना की भावना भी भवनाशिनी

एकमात्र संलेखना मेरे धर्मरूपी धन को मेरे साथ चलने में समर्थ है, इस प्रकार भक्तिभावपूर्वक मरणान्त संलेखना की निरन्तर भावना करनी चाहिए। 'मैं मरणान्त (मरणकाल) में अवश्य ही शास्त्रोक्त विधि से समाधिमरण प्राप्त करूँगा,' इस प्रकार की भावनारूप परिणति करके मरणकाल प्राप्त होने से पहले ही यह संल्लेखना व्रत पालना चाहिए। यदि कोई दुर्निवार्य प्रतिरोधी कर्म उदय में न आए तो सम्यक् प्रकार से पूर्वभावित रत्नत्रय के कारण साधक अन्तकाल में अवश्य ही आराधक होता है। जिस व्यक्ति ने संलेखना (संथारा) करने के लिए तीर्थक्षेत्र या निर्यापक की ओर गमन कर दिया है, वह यदि मार्ग में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाए तो उस भावना के कारण आराधक ही गिना जाता है, क्योंकि भावना भवनाशिनी है।

मरण समय में (संल्लेखना न होने से) रत्नत्रय की विराधना होने से विराधक साधक को दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। परन्तु शिक्षा, दीक्षा आदिकाल में विराधना हो गई हो तो भी मरण समय में संलेखना से रत्नत्रय की प्राप्ति हो जाने पर संसार का नाश हो जाता है।

चूँकि संलेखनाव्रत वर्तमान शरीर का अन्त होने तक लिया जाता है, इसलिए इसे मारणान्तिक संलेखना कहा जाता है। संलेखनाव्रत को व्रती गृहस्थ भी श्रद्धापूर्वक स्वीकार करके उसका पूर्णरूप से पालन करते हैं, इसीलिए उन्हें इस व्रत का आराधक कहा है।

समाधिमरण : संलेखना से या अन्य उपायों से ?

जैनधर्म में जैसे संल्लेखना उपवासादि तप द्वारा प्राणोत्सर्ग का विधान है, वैसे ही अन्य धर्मों में भी जल में डूबने (जलसमाधि), पर्वत से गिरने (झंपापात) तथा भैरव जप कमल-पूजा या विषपान करके अथवा अपने इष्ट देव-देवी के सामने अपना सिर काट कर समर्पण करके, आत्मबलि के रूप या अन्य अनेकों प्रकार से प्राणोत्सर्ग करने का विधान है। संलेखना में तो उपवासादि तप द्वारा धीरे-धीरे शरीर को कृश करके छोड़ने का विधान है, जबकि प्राणोत्सर्ग के इन उपायों में झटपट मृत्यु हो जाती है, कोई अधिक देर नहीं लगती, तब इन उपायों का समर्थन जैनधर्म ने क्यों नहीं किया ? इस ज्वलन्त प्रश्न का उत्तर यह है कि जैनधर्म में स्वेच्छा से जिस प्राणोत्सर्ग का विधान है, वह है समाधिमरण। वह भी विशेष परिस्थिति में, जबकि शरीर संसार के लिए भारभूत हो जाय, या प्राकृतिक अथवा परप्राणिकृत ऐसी विपत्तियाँ आ जाएँ कि वह न तो अपना ही कल्याण कर सके और न जगत् का ही तब समाधिमरण का मार्ग स्वीकार करना उचित है। परन्तु पहाड़ से गिरने, विषपान करने, या देव-देवी के सामने आत्मबलि करने, जलसमाधि लेने आदि में समाधिभाव प्रायः नहीं रहता, आर्तध्यान ही देखा गया है। मरने की ये प्रथाएँ, जो भूतकाल में प्रचलित थीं, कुछ तो धर्म के नाम पर चलती थीं, कुछ सांसारिक कारणों से अथवा देवी-देवों को प्रसन्न करने के निमित्त से प्रचलित थीं। इनकी नींव प्रायः अन्धश्रद्धा पर टिकी हुई है, इनसे जीवन में अभीष्ट धर्म-आराधना या चारित्र-रक्षा की कोई उपयोगिता सिद्ध नहीं होती। किसी देवता को खुश करने के लिहाज से मर जाना अन्धश्रद्धा का भयंकर परिणाम है। अमुक स्थान पर मरने से या अमुक का नाम लेकर मरने से स्वर्ग या मोक्ष मिल जाएगा, इस प्रकार की अन्धवासना से प्राण त्याग करने का कोई फल नहीं है, ये एक प्रकार से आत्महत्याएँ ही हैं। फिर जैन-उपासना का ध्येय उसके तत्त्वज्ञान के अनुसार परार्पण या परप्रसन्नता नहीं है, अपितु आत्मसंशुद्धिमात्र है, जो किसी देव को खुश करने हेतु प्राणोत्सर्ग से या मूढतापूर्वक जीवन का अन्त कर देने से नहीं होती। जैन-धर्म ने इस तरह से किये जाने वाले प्राणनाशों का निषेध किया है, जो किसी ऐहिक या पारलौकिक सम्पत्ति की इच्छा से, कामिनी की कामना से या अन्य लौकिक अभ्युदय की वांछा से प्रमाद या आसक्तिपूर्वक धर्मबुद्धि या आत्मवध किये जाते हैं। जैनधर्म आत्मवध को हिंसा मानता है, क्योंकि उसके पीछे कोई न कोई आसक्तिभाव प्रेरक तत्त्व हैं।

संलेखना या संथारे द्वारा यद्यपि अनशन आदि तप द्वारा अन्त में स्वेच्छा से स्वयं विचारपूर्वक प्राणत्याग (शरीर का त्याग) किया जाता है, तथापि यह आत्महत्या नहीं है। क्योंकि इसमें हिंसा का लक्षण घटित नहीं होता। हिंसा का लक्षण है—प्रमत्त योगों से प्राणों का विनाश करना। जो विचारपूर्वक संलेखना करता है, उसमें राग-द्वेष-मोह आदि तथा कषाय के आवेगरूप परिणाम का अभाव होने से प्रमत्तयोग नहीं होता। बल्कि निर्मोहत्व और वीतरागत्व की सिद्धि की भावना में से यह व्रत

उत्पन्न होता है और इस भावना की सिद्धि के कारण ही यह पूर्ण बनता है। इसलिए यह स्व-हिंसा नहीं है।

आत्महत्या तो किसी कषायावेश का परिणाम होता है, जबकि संलेखना त्याग और दया का परिणाम है। जहाँ अपने जीवन की कोई उपयोगिता न रह गई हो, दूसरों को व्यर्थ कष्ट उठाना पड़ता हो, दूसरों से सेवा लेनी पड़ती हो, उस समय उपवास आदि द्वारा शरीर छोड़ना दूसरों पर दया है।

अतः संलेखना-संथारा करने में आत्मघात का दोष सम्भव नहीं है। यदि मरणान्त अनशन (संथारा) भी किसी ऐहिक-पारलौकिक सम्पत्ति या पदार्थ की इच्छा से, कामिनी की कामना से या अन्य लौकिक अभ्युदय की इच्छा से आसक्तिपूर्वक किया जाए या भय अथवा लोभ से किया जाए तो वह भी हिंसा हो सकता है। परन्तु जैनधर्म राग-द्वेष मोहादि से युक्त होकर मरने की आज्ञा नहीं देता। अतः जो पुरुष विष, शस्त्र, गलपाश, अग्निप्रवेश, कूपपतन आदि प्रयोगों द्वारा प्राणनाश करता है, वह आत्महत्या करता है। ईशोपनिषद् में स्पष्ट कहा है—

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचात्महनो जनाः॥

—जो आत्मघातीजन हैं, वे अत्यन्त अन्धकार से तमसाच्छन्न असूर्य लोक में जाकर अनेक दुःख भोगते हैं।

संलेखना-संथारा दोनों में थोड़ा-सा अन्तर है, कार्यकारण भाव का। संलेखना की परिणति संथारे में होती है। जब संलेखना के द्वारा शरीर एवं कषायादि-कृश कर लिए जाते हैं, तब सहज ही संथारा ग्रहण करने में कोई दिक्कत नहीं होती। संथारा समाधिमरण की अन्तिम-प्रक्रिया है। यह कभी-कभी संलेखना किये बिना ही अकस्मात् मृत्यु का अवसर प्राप्त होने पर कर लिया जाता है। समाधिपूर्वकमरण दोनों ही प्रकार की प्रक्रिया में अभीष्ट है। जब देह और आध्यात्मिक सद्गुण संयम (व्रतादि)—इनमें से एक की ही पसन्दगी करने का विषम समय उपस्थित हो, तब धर्मप्राण व्यक्ति देहरक्षा की परवाह नहीं करता। वह सिर्फ देह की समाधिपूर्वक बलि देकर भी अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति की रक्षा कर लेगा। जैसे कोई सती शील रक्षा का अन्य उपाय न देखकर प्राणत्याग के द्वारा भी सतीत्व (शील) रक्षा कर लेती है, परन्तु उस अवस्था में वह व्यक्ति समत्व रखेगा, न किसी पर रुष्ट या भयभीत होगा, न किसी सुविधा पर तुष्ट। देह और चारित्र दोनों में से किसी एक की रक्षा का सवाल आए, वहाँ वह चारित्र को बचाएगा, देह को नहीं। जहाँ तक बस चलेगा, वह दोनों की रक्षा करने का प्रयत्न करेगा। शास्त्र में एक उपमा देते हुए बताया है कि जैसे कोई व्यक्ति अपना सारा घर जलता देखकर कोशिश करने पर भी उसे बचा न सके तो वह क्या करता है? आखिर वह सबको जलता छोड़कर अपने को बचा लेगा। यही स्थिति आराधक साधक की है। वह प्राणान्त अनशन से देहरूप

घर का नाश करके भी दिव्य जीवनरूप अपनी आत्मा को रागादि में जलने से बचा लेता है। वह व्यर्थ ही देहनाश कदापि न करेगा। बल्कि देहरक्षा संयम के निमित्त कर्तव्य मानी गयी है।

मरण किसी को भी इष्ट नहीं है। जैसे नाना प्रकार की विक्रय वस्तुओं के लेन-देन एवं संचय में लगे हुए किसी व्यापारी को अपने घर का नाश इष्ट नहीं है, फिर भी परिस्थितिवश उसके विनाश का कारण उपस्थित होने पर वह यथाशक्ति उन्हें टालता है, यदि इतने पर भी वे दूर न हो सकें तो जिससे विक्रय-वस्तुओं का नाश न हो ऐसा प्रयत्न करता है, उसी प्रकार पण्य (माल) स्थानीय व्रत और शील के संचय में जुटा हुआ गृहस्थ श्रावक भी उनके आधारभूत आयु आदि प्राणों का पतन नहीं चाहता। परन्तु यदि उनके विनाश के कारण उपस्थित हो जाएँ तो, जिस प्रकार अपने गुणों में बाधा न आए, इस प्रकार से उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है। इतने पर भी वे दूर न हों तो, जिससे अपने गुणों का नाश न हो, इस प्रकार प्रयत्न करता है। अतः संलेखना-संस्तारक से आत्मघात नामक दोष कैसे हो सकता है।

निष्कर्ष यह है कि संलेखनापूर्वक समाधिमरण (संथारा) में आध्यात्मिक वीरता है। यदि कृत सत्प्रतिज्ञाओं के भंग करने का अवसर आता है तो वह संयम वीर श्रावक या साधु उस प्रतिज्ञा भंग को सह नहीं सकता। वह प्रतिज्ञा भंग की अपेक्षा प्रतिज्ञा पालन (धर्म-पालन) करते हुए प्रसन्नतापूर्वक मरण का स्वीकार करता है। इसमें स्थूल जीवन के लोभ से आध्यात्मिक गुणों से च्युत होकर मृत्यु से पलायन करने की कायरता नहीं है, और न स्थूल जीवन की निराशा से ऊबकर मृत्युमुख में पड़ने की आत्मवध कहलाने वाली मूढ़ता है। ऐसा व्यक्ति मृत्यु से जितना निर्भय रहता है, उतना ही उसके लिए तत्पर रहता है। वह जीवन-प्रिय होता है, जीवन-मोही नहीं। संलेखना मरण को आमन्त्रित करने की विधि नहीं है, पर अपने आप आने वाली मृत्यु के स्वागत के लिए निर्भयतापूर्वक तैयारी है। उसी के बाद संथारे का भी अवसर आ सकता है। जैनाचार्य स्पष्ट कहते हैं—

"मरणपडियारभूया, एसा एवं च ण मरणनिमित्ता।
जह गंडच्छेयकिरिया, णो आय विराहणारूपा॥"

—समाधिमरण की यह क्रिया मरण के निमित्त से नहीं, किन्तु मरण के प्रतिकार के लिए है। जैसे फोड़े के नश्तर लगाना आत्म विराधना-रूप नहीं होता।

इसी प्रकार संलेखना के द्वारा समाधिमरण प्राप्त करने में न किसी भय को स्थान है, न दबाव और प्रलोभन को। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—

"मारणान्तिक संलेखनां जोषिता"

श्रावक देह एवं विषम कषायों के प्रति मोह-ममत्व के त्याग (संन्यास) में प्रीति होने पर संलेखना का सेवन करता है। प्रीति के बिना बलपूर्वक संलेखना नहीं

कराई जाती। अतः श्रावक मरण के अन्त समय में होने वाली संलेखना को प्रीतिपूर्वक सेवन करने वाला होता है।

गृहस्थ श्रावक या गृहत्यागी साधु जो प्रीतिपूर्वक संलेखना को स्वीकार करता है, वह अपने को कृतकृत्य समझता है, अपने जन्म को सफल मानता है, उस शुभ (समाधि) मरण से अपने को धन्य मानता है।

संलेखनामरण (संथारा) के प्रकार

संलेखना द्वारा समाधिपूर्वक मरण के तीन प्रकार हैं—भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण एवं प्रायोपगमन (पादपोपगमन)।

इन तीनों में खास अन्तर समझ लेना चाहिए। भोजन का क्रमशः त्याग करके शरीर को कृश करने की अपेक्षा तीनों समान हैं। अन्तर है—शरीर के प्रति उपेक्षा भाव में। जिस समाधिमरण में अपने और दूसरे दोनों के द्वारा किए गए उपकार की अपेक्षा रहती है, उसे भक्तप्रत्याख्यान (संन्यास) समाधिमरण कहते हैं। जिसमें अपने द्वारा किये गए उपकार की अपेक्षा रहती है, किन्तु दूसरे के द्वारा किये गए वैयावृत्य आदि उपकार की अपेक्षा नहीं रहती, वह इंगिनी समाधिमरण है, तथा जो अपने और पर के उपकार की अपेक्षा से रहित समाधिमरण है, उसे प्रायोपगमन कहते हैं।

इस काल में भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण ही उपयुक्त है। अन्य दोनों मरण वज्रऋषभ आदि उत्कृष्ट संहननों की अपेक्षा रखते हैं, जो इस काल और इस क्षेत्र में दुष्कर हैं।

भक्तप्रत्याख्यान (संथारा) की विधि

गृहस्थ श्रावक के लिए संलेखना-संथारा की विधि श्वेताम्बर शास्त्रों में संक्षेप में इस प्रकार बताई गई है—

सर्वप्रथम एक निरवद्य शुद्ध स्थान में अपना आसन जमाए। तत्पश्चात् वह दर्भ, घास, पराल आदि में से किसी एक का संथारा (बिछौना) बिछाए। फिर उस पर पूर्व या उत्तर दिशा में मुँह करके बैठे। उसके पश्चात्—"**अह भंते ! अपच्छिम मारणंतियसंलेहणा-झूसणां आराहणाए आरोहेमि**"—"हे भगवन् ! अब मैं अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन एवं आराधना करता हूँ।"[1] उसके बाद

---

१ संलेखना संथारा का प्रचलित पाठ—

अह भंते ! अपच्छिम मारणांतिय संलेहणा-झूसणा आराहणाए आरोहेमि।
—पौषधशाला का प्रमार्जन करके उच्चार-प्रस्रवण भूमि का प्रतिलेखन करके, गमनागमन का प्रतिक्रमण करके दर्भादि का संथारा (बिछौना) बिछाकर, उस संथारे पर आरोहण कर पूर्व तथा उत्तर दिशा में मुख करके पल्यंकादि आसन

नमस्कार मन्त्र, तीन बार वन्दना, इच्छाकारेणं, तस्स उत्तरी० लोगस्स उसके पश्चात् ऊपर का पाठ बोलकर तीर्थंकर भगवान की साक्षी से इस व्रत का ग्रहण करे, फिर निवेदन करे कि "भगवन् ! मैं अभी से सागारी या आगाररहित संथारा—भक्तप्रत्याख्यान करता हूँ—चारों आहार का त्याग करता हूँ। १८ पापस्थानों का त्याग करता हूँ। इस मनोज्ञ, इष्ट, कान्त प्रिय, विश्वसनीय, आदेय, अनुमत, बहुमत, भाण्डकरण्डक समान, शीत-उष्ण, क्षुधा-पिपासा, आदि मिटाकर सदा जतन किया हुआ, हत्यारे चोरादि से डाँस-मच्छर आदि से रक्षा किया हुआ, व्याधि, पित्त, कफ, वात सान्निपातिक आदि से भी बचाया हुआ विविध प्रकार से स्पर्शों से सुरक्षित, श्वासोच्छ्वास की सुरक्षा-प्राप्त इस शरीर पर मैंने जो अब तक मोह-ममत्व किया था, उसे अब मैं अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक त्यागता हूँ, मुझे कोई भी चिन्ता न होगी। क्योंकि अब यह

से बैठकर दोनों करयल (हाथ) संपरिग्गहियं (जोड़कर) सिरसावत्त (मस्तक से लगाकर) मस्तक पर अंजलि करके दो बार यों बोले—नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं····से 'जाव संपत्ताणं' यों कहकर प्रथम प्रणिपात में सिद्ध भगवन्तों को वन्दना-नमस्कार करके 'नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं····जावं ठाणं संपाविउकामाणं, यों बोलकर २० विहरमान तीर्थंकरों को वन्दना नमस्कार करके अपने धर्माचार्यजी महाराज को नमस्कार करके साधु-साध्वी प्रमुख चारों तीर्थों से क्षमापना करके, समस्त जीव राशि से क्षमायाचना करके पहले जो व्रत ग्रहण किये थे, उनमें जो अतिचार दोष लगे हों उन सब की आलोचना प्रतिक्रमण, निन्दना, गर्हणा, करके निःशल्य होकर—

सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि, सव्वं मुसावायं पच्चक्खामि, सव्वं अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, सव्वं मेहुणं पच्चक्खामि, सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामि, सव्वं कोहं माणं जाव सव्वं मिच्छादंसण सल्लं, सव्वं अकरणिज्जं पच्चक्खामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, करंत पि अन्नं न समणुजाणामि, मणसा, वयसा, कायसा।

यों अठारह पापस्थानकों का प्रत्याख्यान करके—

सव्वं असणं पाणं खाइमं साइमं चउव्विहंपि आहारं पच्चक्खामि जावज्जीवाए।

यों चारों आहारों का प्रत्याख्यान करके

जं पि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं पियं मणुन्नं मणामं छिज्जं विसासियं समयं अणुमयं बहुमेयं भंडकरंडसमाणं रयणकरंडगभूयं, माणंसियं, माणं उण्हं, माणं खुहा माणं पिवासा, माणं बाला, माणं चोरा, माणं दंसा, माणं मसगा, माणं वाइयं, पित्तियं समीयं, सन्निवाइयं विविहा रोगायंका, परिसहोवसग्गा फासा फुसंतु।

एवं पियणं चरिमेहि उस्सासनिस्सासेहिं वोसिरामि तिकट्टु।

यों शरीर का व्युत्सर्ग करके कालं अणवकंखमाणे विहरामि।"

—श्रावक प्रतिक्रमण

शरीर धर्मपालन करने में समर्थ न रहा, बोझरूप हो गया, आतंकित या अत्यन्त जीर्ण, अशक्त हो गया।"

इस प्रकार शरीर (ममत्व) का व्युत्सर्ग करके दो बार नमोत्थुणं के पाठ से विधिवत् तीर्थंकरों और सिद्धों की स्तुति एवं प्रणिपात करे।

इसके बाद सदा सतर्क एवं सावधान रहे। यदि श्रावक संलेखना कर रहा हो तो यह ध्यान रखे कि परिणामों की विशुद्धि के बिना उत्कट तप करने से काय संलेखना तो हो जाएगी, कषाय संलेखना नहीं। शरीर की संलेखना निरतिचार करते हुए भी जिस साधक के अन्तरंग में रागद्वेषादि रूप भाव परिग्रह का निवास है, जो कषायों को कृश नहीं करता, वह व्यर्थ ही अपने शरीर को कृश करके दण्ड देता है। क्योंकि कषायों को कृश करने के लिए ही शरीर को कृश करना है।

समर्थ श्रावकों के लिए दिगम्बर परम्परा में भक्तप्रत्याख्यान की सामान्य विधि यह है कि संलेखना धारक श्रावक शीत-उष्ण में हर्ष-विषाद न करे, आसक्ति, मोह, वैर, परिग्रह को छोड़ कर शुद्ध होता हुआ प्रिय वचनों से अपने परिजनों और नौकर-चाकरों से क्षमा करावे, स्वयं भी सबको क्षमा करे छल-कपट एवं शल्य से रहित होकर कृत-कारित-अनुमोदित रूप से समस्त पापों की आलोचना करके मरणपर्यन्त रहने वाले समस्त महाव्रतों को धारण करे। शोक, भय, विषाद, राग, कालुष्य और अरति का त्याग करके तथा अपने बल और उत्साह को प्रगट करके संसार के दुःख रूपी संताप को नष्ट करने वाले अमृत रूप शास्त्रों के श्रवण से मन को प्रसन्न करे। क्रमशः आहार का त्याग कर दूध या छाछ को बढ़ाए, फिर दूध आदि को भी छोड़कर कांजी और गर्म जल को बढ़ाए। तत्पश्चात् उष्ण जलपान का भी त्याग करके और शक्त्यनुसार उपवास करके पंच नमस्कार मन्त्र को मन में धारण करता हुआ शरीर को छोड़े।[1]

असमर्थ श्रावकों के लिए भक्तप्रत्याख्यान की सामान्य विधि इस प्रकार है—

सर्वप्रथम राग-द्वेष मोहादि का त्याग, समता धारण, परिजनों आदि से क्षमापना आदि कर लेनी चाहिए। वस्त्रमात्र परिग्रह को रखकर अवशिष्ट समस्त परिग्रह का त्याग करके अपने ही घर या जिनालय (पौषधशाला) में रहकर जो श्रावक गुरु के समीप मन-वचन-काया से अपनी भलीभाँति आलोचना करके पान के सिवाय शेष तीनों प्रकार के आहार का त्याग करता है, उसे उपासकाध्ययनसूत्र में संलेखना नामक चौथा शिक्षाव्रत कहा गया है।

व्याधि आदि की अपेक्षा से समाधि में निश्चल होने के लिए वह क्षपक गुरु

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार १२४ से १२८; चारित्रसार ४८।२; सागार धर्मामृत ८।५७,६४ से ६७।

की आज्ञानुसार केवल पानी पीने का आगार रख सकता है। जब मृत्यु समय निकट आ जाए तथा शरीर की शक्ति क्षीण हो जाए, तब उसे जल का भी त्याग कर देना चाहिए।

इसी प्रकार सागारी संथारा भी किसी उपसर्ग, आतंक, असाध्य व्याधि आदि के उपस्थित होने पर मृत्यु की अनिश्चित अवस्था में अथवा प्रतिदिन रात को सोते समय किया जाता है। मूलाचार में बताया है कि जीवित रहने में सन्देह होने की स्थिति में ऐसा संकल्प करे कि इस देश में, इस काल में मेरा जीवन बच गया तो जब तक उपसर्ग रहेगा, तब तक मेरे आहारादि का त्याग है। उपसर्ग दूर होने पर यदि जीवित रहा तो पारणा करूंगा अन्यथा नहीं। एक दोहे के द्वारा भी सागारी संथारा ग्रहण किया जाता है—

'आहार, शरीर, उपधि, पच्चखूं पाप अठार।
मरण पाऊं तो वोसिरे, जीऊं तो आगार॥'

परन्तु जहाँ निश्चय हो जाए कि इस उपसर्ग आदि में मैं जी नहीं सकूंगा, वहाँ ऐसा त्याग करे कि "मैं बाह्य-आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह को तथा मन-वचन-काया से पापक्रियाओं को छोड़ता हूँ। जो कुछ मेरे पास बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह है, उसे तथा चारों प्रकार के आहारों को तथा अपने शरीर को आजीवन छोड़ता हूँ।"

संलेखना-संथारा में समत्व, ध्यान, त्याग

पहले जो क्रम बताया गया था, उस क्रम से संस्तारारूढ़ क्षपक (साधक) प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, विनय, स्वाध्याय एवं अनुप्रेक्षा, इनमें एकाग्र होकर कर्मक्षय करता है। तथा समस्त परिषहों को अव्याकुलतापूर्वक सहने वाला क्षपक शरीर, वसति, गण (परिवार) परिचारक इन सब वस्तुओं में ममत्वरहित हो जाता है। राग-द्वेषों को छोड़कर समताभाव में तत्पर हो जाता है। मित्र, बन्धु, माता-पिता, गुरु, शिष्य, साधर्मिक आदि पर संथारा लेने से पूर्व जो रागद्वेष उत्पन्न हुए थे, उन सबका त्याग करता है। इष्ट-अनिष्ट शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रूप विषयों में, इहलोक और परलोक में, जीवित और मरण में, सम्मान और अपमान में क्षपक समभाव धारण करता है। ये राग-द्वेष रत्नत्रय, उत्तम ध्यान और समाधिमरण का नाश करते हैं। इसलिए क्षपक इन सबको अपने हृदय से दूर करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों पर समताभाव धारण कर वह क्षपक अन्तःकरण को निर्मल बनाता है। उसमें मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओं को स्थान देता है। कषायों के साथ युद्ध करते समय क्षपक को ध्यान शस्त्रसम उपयोगी होता है। जैसे शस्त्र से रहित वीर पुरुष युद्ध में शत्रु का नाश नहीं कर सकता, वैसे ही ध्यान के बिना कर्मशत्रु को क्षपक जीत नहीं सकता।

संलेखना-संथारा में कुछ विशिष्ट भावनाएँ

समाधिमरण की मूल नींव है—सम्यक् आत्मश्रद्धा—देह और आत्मा की भिन्नता रूप श्रद्धा, अथवा सम्यक् धर्मश्रद्धा।

जितना भी बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह है, वह सब राग-द्वेष को पैदा करने वाला है। कन्दर्पी, कैल्विषकी, आभियोगिकी, आसुरी और सम्मोहनी इन संक्लिष्ट कुत्सित पाँच भावनाओं का त्याग करके, तप, श्रुताभ्यास, निर्भयता, एकत्व, धृतिबल इन पाँच प्रकार की असंक्लिष्ट भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए।

मृत्यु महोत्सव-भावना

मृत्यु-वेला को महोत्सव मानकर जो अन्तरात्मा समाधिपूर्वक मृत्यु का स्वीकार करता है, वह इस प्रकार की भावना करता है—'वीतराग प्रभो ! मुक्तिमार्ग में प्रवृत्त मुझे आत्मपरिणाम की स्थिरता रूप समाधि और आत्मदर्शन-ज्ञान-रमणतारूप बोधि—जो परलोक यात्री के पाथेय हैं, उन्हें दें, जिससे मैं मुक्तिपुरी की ओर निर्विघ्न पहुँच सकूँ।[1] हे भव्य आत्मन् ! सैकड़ों कृमियों से व्याप्त जर्जरित देहपिंजर टूट जाए तो मुझे जरा भी डरना नहीं है। तू तो इस जड़ शरीर से पृथक् ज्ञानमूर्ति अविनाशी आत्मा है। हे ज्ञानी आत्मन् ! मृत्यु रूप महान् उत्सव प्राप्त हुआ है, उसमें अब भय-भीत क्यों होते हो ? क्योंकि देही (आत्मा) अपने स्वभावमयस्वरूप में स्थिर होकर दूसरी देह पाने के लिए गमन कर रहा है, इसमें भय का क्या कारण है ? अगर मृत्यु द्वारा सत्कर्मों का फल—स्वर्ग सुख आदि मिलते हैं तो सत्साधक को मृत्यु का भय कैसे हो सकता है ? गर्भ में आया, तभी से मेरा आत्मा कर्मरूपी शत्रु के द्वारा देहरूपी पींजरे में कैदी की तरह डाल दिया गया और आधि-व्याधि आदि से पीड़ित होकर दुःखी हो रहा है। उसे इस दुःखद स्थिति में से मृत्यु रूपी राजा के बिना कौन छुड़ा सकता है। आत्मदर्शी महान् आत्मा इस मृत्यु नामक मित्र की कृपा से सर्वदुःखप्रदायक देहपिण्ड को छोड़ कर देहभाव का सर्वथा त्याग करके आत्म-भाव के सतत अभ्यास से शाश्वत सुख-सम्पत्ति को प्राप्त करता है। मृत्यु रूपी कल्पवृक्ष को पाकर भी यदि उससे आत्मार्थ नहीं साधा, समाधि प्राप्त न की तो फिर जीव संसार रूपी गहरे कीचड़ में फंस जाएगा, तब अधोगतियों में आत्मा के उद्धार के लिए क्या कर सकेगा ?

जो मृत्यु अज्ञानी को तापरूप प्रतीत होता है, वही ज्ञानी को अमृत-मोक्ष प्राप्ति कराने वाला सुखरूप होता है। जैसे कच्चा घड़ा अग्नि का ताप सहकर पक कर जल धारण करने में समर्थ होता है, वैसे ही मृत्युरूप अग्नितप को जो समता से सह लेता है, वह अमृत रूप मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ होता है। दीर्घकाल तक पंचमहाव्रत का पालन आदि अनेक शुभ क्रियाओं की विडम्बना से जो फल संत पाते हैं, वही फल

---

१. मृत्यु महोत्सव

मृत्यु के समय समाधि (शान्ति) रखने से सामान्य साधक सुखपूर्वक सहज ही प्राप्त कर लेता है।

मृत्यु के प्रताप से जीर्ण हुए शरीर आदि सब छूट कर नवीन शरीर आदि मिलते हैं, उस मृत्यु को भला सन्त आनन्द का कारण क्यों नहीं मानेंगे ? ऐसी मृत्यु सातावेदनीय के उदय के समान ज्ञानी पुरुषों के लिए हर्षप्रद ही होती है। आत्मा को देह से भिन्न जानने-मानने वाला समझता है कि जो उत्पन्न होता है, वह मरता है। जड़ देहपिण्ड पैदा हुआ है तो नष्ट भी होता है। मैं तो देहादि से भिन्न शुद्ध चैतन्य स्वरूप अविनाशी आत्मा हूँ। मैं उत्पन्न नहीं हुआ तो मेरा नाश भी नहीं होता। अतः इस देह को छोड़ कर अन्य गति में गमन करने में मेरे स्वरूप का नाश तो है ही नहीं फिर मैं मृत्यु का भय क्यों रखूँ ? जिन जीवों का चित्त संसार में आसक्त है, उन्हें ही मृत्यु डरा सकती है, जो अपने चिदानन्द स्वरूप के ज्ञान सहित हैं, वे तो संसार से वैराग्य युक्त हैं, इसलिए मृत्यु उनके लिए आनन्ददायक होती है, अर्थात् मृत्यु महोत्सव रूप होती है।

साधकों को मृत्यु के समय जो रोगादि दुःख उत्पन्न होते हैं, मैं मानता हूँ, वे सारे शरीर पर होने वाले मोह का नाश करने और शान्ति से पूर्ण मोक्ष सुख की प्राप्ति के लिए होते हैं। तप के संताप को सहन करने का व्रत पालन का एवं श्रुत के पठन का कोई फल हो तो वह समाधि यानी अपनी आत्मा का सावधानीपूर्वक देह त्याग करना है। अतिपरिचय से अवज्ञा होती है, इस लोकोक्ति के अनुसार जिसका अतिशय परिचय हो जाता है, उसके साथ लम्बे अर्से बाद अप्रीति हो जाती है, नई वस्तु के संग में प्रगति होती है। इस शरीर के साथ चिरकाल तक तुझे परिचय रहा है। अतः आत्मन् ! तुझे इसके प्रति अप्रीति क्यों नहीं होती ? और नये पर्याय (शरीर) के लाभ से भय क्यों करता है ?

संल्लेखना के पांच अतिचार

जैनशास्त्रों में संलेखना (संथारा) के पाँच अतिचार[1] बताए हैं—

(१) **इहलोगासंसप्पओगे**
(२) **परलोगासंसप्पओगे**
(३) **जीवियासंसप्पओगे**
(४) **मरणासंसप्पओगे**
(५) **कामभोगासंसप्पओगे**

इस लोक में जो सजीव या निर्जीव इष्ट पदार्थ हैं, उनकी मोह, ममत्व, आसक्ति की दृष्टि से बार-बार आकांक्षा करना—यह प्रथम अतिचार है। संलेखना संथारा ग्रहण करने के बाद साधक को इस लोक की सभी वस्तुएँ परभाव समझ कर अपने से

१ "जीवितमरणाशंसामित्रानुराग-सुखानुबन्ध-निदानकरणानि" —तत्त्वार्थसूत्र

भिन्न माननी चाहिए। उनका चिन्तन करना त्याग की हुई वस्तु को पुनः भोगना है। मन से भी इष्ट-अनिष्ट वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। जैसे आकाश में विश्व का प्रवेश नहीं है, सर्वभाव की वासना से आकाश रहित है, वैसे ही सम्यग्-दृष्टि साधक को आत्मा सर्वद्रव्यों से भिन्न तथा समस्त अन्य पर्यायों से रहित समझना चाहिए। इस विश्व के सभी पदार्थों का प्रकाशक आत्मा स्वयं विश्वरूप नहीं होता, वह सदा सर्वदा चैतन्यरूप ही रहता है। इसी प्रकार विश्व में जीव अभिन्नता मानता है, यही भ्रान्ति है। इसे ही दूसरे शब्दों में 'मित्रानुराग' नामक अतिचार कहा। अपने इष्टमित्र, स्वजनों के प्रति मोह करना वास्तव में संलेखना साधक के लिए अभीष्ट नहीं है। दूसरा अतिचार है—**परलोकाशंसाप्रयोग**। कई साधकों को इस लोक की तो कोई चिन्ता नहीं होती। वे इस लोक से तो विरक्त हो चुके होते हैं, परन्तु परलोक की चिन्ता उन्हें सताती रहती है। परलोक में सुख मिलेगा या नहीं? कौन-सी गति मिलेगी? मेरी धर्मकरणी का या तपश्चर्या का फल परलोक में मिलेगा या नहीं? इस प्रकार की चिन्ता संलेखना की साधना को दूषित कर देती है। उसे इहलोक-परलोक की चिन्ता छोड़कर आत्म-लोक में ही सिर्फ रमण-विचरण करना चाहिए। इस अतिचार का नाम 'सुखानुबन्ध' मिलता है। जिसका तात्पर्य भी परलोक के सुख की लालसा से है। इस दोष को संल्लेखना साधक को पास नहीं फटकने देना चाहिए।

तीसरा अतिचार है—**जीविताशंसा**। संलेखना साधना के समय लोगों की खूब वाहवाही, प्रशंसा मिल रही हो, जय-जयकार के नारे लग रहे हों, उस समय मन यशकीर्ति, प्रशंसा और प्रसिद्धि से गुदगुदाने लगे, और यह सोचने लगे कि आयुष्य के क्षण कुछ और बढ़ जाते, जीवन कुछ और लम्बा हो जाता तो अच्छा रहता। आह! कितनी मनभावनी लग रही है, मुझे अपनी प्रशंसा। इस प्रकार की दीर्घकाल जीवित रहने की आकांक्षा भी संलेखना में दूषण है।

चौथा अतिचार है—**मरणाशंसा**। जिंदगी कष्टमय, पीड़ा से परिपूर्ण हो और लंबी होती जा रही हो। उस समय संलेखना का साधक यह सोचे कि मेरी जिंदगी झटपट समाप्त हो जाय, शीघ्र ही मौत आ जाय तो कितना अच्छा हो! इस प्रकार मृत्यु की वांछा करना भी दोष है। संलेखना के साधक को **'जीवियं नाभिकंखेज्जा, मरणं नावि पत्थए'** इस स्वर्ण सूत्र को लेकर चलना चाहिए।

पाँचवा अतिचार है—**कामभोगाशंसाप्रयोग**। मन ही मन नाना प्रकार के कामभोगों की अभिलाषा रखना, आत्मचिन्तन आत्मस्वरूप में रमण को छोड़कर रात-दिन काममोग के चिन्तन में ही डूबा रहना, उसके लिए नाना संकल्प विकल्प करना, निदान (नियाणा) करना कि मेरी तपस्या, धर्मकरणी या चारित्रपालन का कुछ फल हो तो मुझे अमुक-अमुक भोग मिलें, मेरी अमुक कामना पूर्ण हो। यह निदान सचमुच सौदेबाजी है। और अपने जीवन की बाजी को हारना है। संलेखना साधक

के लिए यह बहुत बड़ा दोष है। इसी को तत्त्वार्थसूत्र आदि में निदान नामक अतिचार कहा है।

इन पाँचों अतिचारों से संलेखना के साधक श्रावक को बचना चाहिए और एकमात्र परमात्मा या आत्मा के ही विशुद्ध चिन्तन में लगना चाहिए। इसीलिए कहा है—

'अप्पा खलु संथारो हवइ विसुद्ध चरित्तम्मि।'

विशुद्ध चारित्र में स्थित विशुद्ध आत्मा ही संथारा है। यही जन्म-जन्म के बन्धनों को काटने वाला है, सारी साधनाओं का सार है।

उपसंहार

इस प्रकार आपके समक्ष श्रावक जीवन के आदर्श, संयम-नियम, विधि-विधान का एक जीवंत चित्र इन प्रवचनों में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। सर्वप्रथम पाँच अणुव्रतों की क्रमिक साधना के द्वारा जीवन को पवित्र तथा संयम बद्ध बनाने का अभ्यास प्रारम्भ होता है। उसके बाद जीवन में त्याग-नियम की अभिवृद्धि करते हुए अधिक से अधिक मर्यादा, अधिक से अधिक वैराग्य व आत्मानुशासन की साधना में पारंगत होते हुए श्रावक जीवन की अंतिम साधना संलेखना तक पहुँचता है। संलेखना जीवन की अंतिम साधना है, जीवन की समस्त साधना का अंतिम सार है, एक प्रकार से साधना के मंदिर पर अंतिम स्वर्ण कलश है। इस भूमिका पर पहुँच कर साधक-जीवन की लालसा व मृत्यु की विभीषिका से मुक्त होकर धैर्य जागरण में लीन हो जाता है और अपने भीतर में सुप्त परम चैतन्य ज्योति का दर्शन करता हुआ प्रसन्नता व आल्हादपूर्वक देह त्यागता है। वह जीवन की सभी चिन्ताओं को भरकर कृतकृत्यता अनुभव करता हुआ अगली यात्रा के लिए प्रस्थान करता है।

श्रावक जीवन की इस आदर्श विधि व मर्यादा का अध्ययन अनुशीलन करें व जीवन में अपनायें इसी आशा के साथ—ॐ शान्तिः। ☆